ध्वन्यालोकः

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः
सम्पूर्णेन हिन्दीभाषानुवादेन तारावती-
समाख्यया व्याख्यया परिगतः

व्याख्यालेखकः—

डा० रामसागर त्रिपाठी

एम० ए०, पीएच०.डी०, आचार्यः

प्रथम उद्योतः

प्रकाशकः—

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली : : वाराणसी : : पटना

प्रकाशक—
श्री सुन्दरलाल जैन
© मोतीलाल बनारसीदास
पो० ब० ७५, नेपालीखपरा
वाराणसी

मुद्रक—
सोमारूराम
गौरीशंकर प्रेस,
वाराणसी।

प्रथम संस्करण १९६३ ई०

सब प्रकार की पुस्तकें निम्नलिखित स्थानों से प्राप्त करें—
१. मोतीलाल बनारसीदास, बँगलोरोड, जवाहर नगर, दिल्ली–६
२. मोतीलाल बनारसीदास, पो० ब० ७५, नेपालीखपरा, वाराणसी
३. मोतीलाल बनारसीदास, माहेश्वरी मार्केट, बांकीपुर, पटना

समर्पण

वत्सलता-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी जननी
श्रीमती फूलमती देवी की
दिवङ्गत आत्मा के परितोष के निमित्त
यह अभिनव तारावती
सादर समर्पित है।

प्राक्कथन

'ध्वन्यालोक' काव्यशास्त्र का एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है जो एक ओर अतीत के शास्त्रीय सिद्धान्तो को आलोकित कर उन्हे यथास्थान विन्यस्त करता है और दूसरी ओर समस्त परवर्ती साहित्य-शास्त्र पर अपनी प्रकाशरश्मियां विकीर्ण करता है। यह युगान्तरकारी रचना है; आलोचनाशास्त्र को नवीन दिशा प्रदान करता है और शास्त्रीयतत्त्वों को एक व्यवस्थितरूप देता है। लक्ष्य ग्रन्थो की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नही है। इस ग्रन्थरत्न मे भारतीय साहित्य-शास्त्र का यह मूलभूत सिद्धान्त पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुआ है कि दृश्यमान जगत् परोक्ष सत्ता का परिचायक है और इसका उपयोग केवल इतना ही है कि उसमे हमे प्रतीयमान परोक्ष सत्ता का प्रतिभास प्राप्त हो जाता है। अतः जीवन का आनन्द प्राप्त करने के लिये हमें दृश्यमान जगत् में ही सन्तुष्ट न रहकर उस परोक्ष सत्ता का अनुशीलन करना चाहिये। यही वह तत्त्व है जो हृदय को मुक्तावस्था की ओर उन्मुख करता है। इस प्रकार यदि हम भारतीय साहित्य को ठीक रूप मे हृदयङ्गम करना चाहते हैं तो ध्वन्यालोक का आश्रय अपरिहार्य हो जाता है। साहित्यशास्त्र में तो इसका उतना ही महत्व है जितना व्याकरण में पाणिनि का और वेदान्त मे वेदान्त सूत्रो का। इस ग्रन्थ के महत्त्व का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि दुर्दम आलोचक पण्डितराज ने भी सम्मानपूर्वक इसके लेखक को आलङ्कारिकसरणि का व्यवस्थापक माना है।

इस ग्रन्थरत्न की रचना विक्रम नवम शताब्दी के उत्तरार्ध में आचार्य आनन्द-वर्धन ने की थी। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कल्हण ने राजतरङ्गिणी मे लिखा है कि काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभारत्नो में आनन्दवर्धन भी एक थे। यह मान्यता दूसरे प्रमाणो से भी सिद्ध हो जाती है। ध्वन्यालोक में कालिदास, पुण्डरीक, वाण, भट्टोद्भट, भामह, मनोरथ, सर्वसेन, सातवाहन, अमरुक और धर्मकीर्ति का नाम आया है तथा मधुमथन विजय, रत्नावली, तापसवत्सराज, हर्ष-चरित, रामाभ्युदय इत्यादि लक्ष्यग्रन्थो का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ मे

वामन का भी उल्लेख किया है। वामन ने अपने काव्यालङ्कार सूत्र में शिशुपालवध उत्तर रामचरित तथा कादम्बरी से उदाहरण दिये हैं। इससे सिद्ध होता है कि वामनाचार्य का समय अष्टमशती का उत्तरार्ध अथवा नवमशताब्दी का पूर्वार्ध है। लोचन इत्यादि ग्रन्थों को देखने से यह तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि नवम-शताब्दी के अन्तिम चरण मे भट्टनायक ने हृदयदर्पण मे ध्वन्यालोक का खण्डन किया था। इससे सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन का समय वामन (नवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) और भट्टनायक (नवी शताब्दी का अन्तिम चरण) के बीच में अर्थात् नवम शताब्दी के मध्यभाग मे है। यही समय अवन्तिवर्मा के राज्यकाल का है। अतः राजतरङ्गिणी का वह कथन सत्य सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन काश्मीरी राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे।

ध्वन्यालोक के दो भाग हैं—एक कारिकाभाग और दूसरा व्याख्याभाग। व्याख्या में परिकर श्लोक, संग्रह श्लोक और संक्षेप श्लोकों का उपादान किया गया है। व्याख्या भाग के तीन नाम प्राप्त होते हैं—ध्वन्यालोक, सहृदयालोक और काव्यालोक।

साहित्य-पर्यालोचको मे इस बात मे पर्याप्त मतभेद है कि कारिकाकार और व्याख्याकार एक ही है या पृथक्-पृथक्। कतिपय विद्वानो का मत है कि आनन्द वर्धन ही कारिकाकार है। इसमे एक तो प्रमाण यह है कि कारिकाकार ने मङ्गला-चरण नहीं किया। इससे प्रकट होता है कि आलोक का मङ्गलश्लोक ही ध्वनि कारिकाओ का भी मङ्गलाचरण है और इससे सिद्ध होता है कि आलोककार ही ध्वनिकार भी है। दूसरी बात यह है कि ध्वनि तथा आलोक दोनो मे विषय भेद कही नही पाया जाता। तीसरी बात यह है कि आनन्दवर्धन के समसामयिक अथवा इनसे तत्काल बाद मे काव्यक्षेत्र मे अवतीर्ण होनेवाले आचार्य ध्वनि तथा आलोक की एकता का संकेत देते हैं। महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में दोनो का एक रूप में ही खण्डन किया है। महिमभट्ट काश्मीर के रहनेवाले थे और आनन्दवर्धन के लगभग समसामयिक थे। अतः उनकी सम्मति उपेक्षणीय नहीं हो सकती। जल्हण की सूक्तिमुक्तावली मे एक श्लोक दिया गया है जिसमें आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार माना गया है। राजशेखर ने भी इस पद्य को उद्धृत किया है। इसका आशय यह है कि जल्हण और राजशेखर के मत मे कारिकाकार और वृत्तिकार दोनो एक ही हैं। इसी प्रकार हेमेन्द्र, क्षेमेन्द्र, जयरथ, विश्वनाथ, गोविन्द और कुमार स्वामी इत्यादि आचार्यो ने आनन्दवर्धन को ही कारिकाकार माना है। अतएव परवर्ती परम्परा कारिकाकार और वृत्तिकार का अभेद मानने के पक्ष में ही है।

दूसरी ओर कहा जाता है कि आरम्भिक मङ्गलाचरण पर प्रथम संख्या का न होना ही इस बात का परिचायक है कि आनन्दवर्धन केवल वृत्तिकार हैं। यदि उन्होंने कारिकायें बनाई होती तो मङ्गलाचरण वृत्ति के प्रारम्भ में नहीं अपितु कारिकाओ के प्रारम्भ में किया होता। इसके अतिरिक्त यद्यपि कारिकाओं के प्रारम्भ में इष्टदेवता-नमस्कारात्मक मङ्गल नही है तथापि प्रतिज्ञारूप वस्तु निर्देशात्मक मङ्गल तो विद्यमान है ही। कारिका तथा वृत्ति दोनो के विषयों की एकरूपता भी केवल इतना ही सिद्ध करती है कि दोनों आचार्यो का मत एक ही था। दोनों के एक व्यक्तित्व का परिचय कदापि नही मिलता। दूसरी बात यह भी है कि वृत्तिकार ने अनेक ऐसे विषयो का समावेश कर दिया है जिनका संकेत भी ध्वनिकारिकाओं में नहीं पाया जाता। इससे इनके व्यक्तित्व के पृथक्त्व का स्वभावत. अवभास हो जाता है।

जिन आचार्यो ने दोनों की एकता का संकेत दिया है उनमे कुछ तो केवल इतना कहते हैं कि आनन्दवर्धन ध्वनि के स्थापक थे। इसका आशय यह कदापि नही होता कि आनन्दवर्धन ही कारिकाकार भी थे। महिमभट्ट ने दोनों का समान खण्डन किया है इसका भी यही आशय है कि दोनों का मत एक ही था और एक के खण्डन से दूसरे का खण्डन स्वतः हो जाता है। कुछ लोग भ्रान्त भी हैं। अतः इस आधार पर कि कुछ लोगो ने दोनो की एकता का प्रतिपादन किया है यह कभी नहीं कहा जा सकता कि आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार भी थे।

ज्ञात होता है कि जो कारिकाये आनन्दवर्धन को प्राप्त हुई थीं उनकी विचार-धारा न तो व्यवस्थित थी न पूर्ण। उन कारिकाओ को आधार बनाकर आनन्द-वर्धन ने एक पूर्ण, व्यवस्थित, समन्वयमूलक और निर्णायक काव्य सिद्धान्त स्थापित किया। वृत्ति-ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण बन गया है कि परवर्ती आचार्यो ने असन्दिग्ध रूप में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिप्रवर्तक मान लिया तथा कारिकाकार सर्वथा विस्मरणावृत हो गये। यही कारण है कि अनेक परवर्ती ग्रन्थों में आनन्दवर्धन को ही ध्वनिकार कहा गया है और कारिकाये आनन्दवर्धन के नाम पर तथा वृत्ति-ग्रन्थ ध्वनिकार के नाम पर उद्धृत किया हुआ पाया जाता है।

प्रथम कारिका का विवेचन और विश्लेषण करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनिकार कोई भिन्न व्यक्ति थे और उन्होने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर की थी जिसका परिचय आनन्दवर्धन को नही था। लोचनकार ने ध्वनिकार और वृत्तिकार के पृथक्त्व का अनेकशः निर्देश किया है। इन्होने कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकार और वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकार शब्द

का प्रयोग किया है। केवल इतना ही नहीं अपितु इन्होने कारिकाओ से व्यतिरिक्त अर्थ का भी यथास्थान वृत्तिग्रन्थ के मौलिक चिन्तन के रूप में निर्देश किया है तथा इसमें कर्तृभेद का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। एक तो अभिनव गुप्त अधिक प्रबुद्ध चिन्तक हैं और आनन्दवर्धन की परम्परा से परिचित भी अधिक हैं। अतः अन्य आचार्यो की अपेक्षा उनका कथन अधिक मान्य है। इससे व्यक्त होता है कि ये दोनो व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् थे।

यदि इन दोनो की सत्ता पृथक् मानी जावे तो ध्वनिकार के अतिरिक्त कारिकाकार का कोई दूसरा नाम उपलब्ध नही होता और न उनके समय के विषय में ही कुछ कहा जा सकता है। सामान्यतया ज्ञात होता है कि ध्वनिकार दण्डी भामह उद्भट इत्यादि से अर्वाचीन और वृत्तिकार से प्राचीन आचार्य होगे जिन्होने प्राचीन परम्परा पर आधारित ध्वनिसिद्धान्त की कारिकाओं का निर्माण किया और वृत्तिकार आनन्दवर्धन ने उसकी व्याख्या की ध्वन्यालोक के अन्तिम पद्य और अभिनव गुप्त के प्रथम पद्य मे सहृदय शब्द के आ जाने से तथा ध्वन्यालोक के पुराने नाम सहृदयालोक के आधार पर कुछ लोगों ने ध्वनिकार का नाम सहृदय होने का अनुमान लगाया है। किन्तु सहृदय सामान्यतया काव्य-परिशीलक को कहते हैं। अतः यह शब्द व्यक्तिपरक नही माना जा सकता।

आनन्दवर्धन के जीवनवृत्त-विषयक कतिपय संकेत भी यत्र-तत्र प्राप्त होते है। इनके पिता का नाम भट्टनोण था जो कि काश्मीर के एक ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुये थे। इन्होने अनेक शास्त्रो का अध्ययन किया और व्याकरण को ये सभी शास्त्रो का मूर्धन्य मानते थे। इनके बनाये हुये ५ ग्रन्थ सुने जाते हैं—(१) ध्वन्यालोक (२) देवीशतक (३) विषमबाणलीला (४) अर्जुनचरित (५) धर्मोत्तमा नाम की एक विवृति। इन ग्रन्थों में ध्वन्यालोक ही इनकी कीर्ति का बीज है। देवीशतक काव्यमाला मे प्रकाशित किया गया है। विषमबाणलीला और अर्जुनचरित कही उपलब्ध नहीं होते। ध्वन्यालोक में ही इन ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है। विनिश्चय टीका की धर्मोत्तर नाम की विवृत्ति का उल्लेख लोचनकार ने तृतीय उद्योत के अन्त में किया है।

ध्वन्यालोक मे ४ उद्योत हैं—प्रथम उद्योत मे ध्वनि विरोधी सम्भावित पक्षो का उल्लेख कर उनपर पूरा विचार किया गया है। इसी प्रसङ्ग मे ध्वनि का स्वरूप बतलाया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि ही काव्य का एकमात्र प्रयोजक तत्त्व है तथा उसका अन्तर्भाव और कही नही हो सकता। द्वितीय उद्योत मे व्यङ्ग्यार्थ की दृष्टि से ध्वनिभेदो का निरूपण किया गया है और

इसी प्रसङ्ग में रस का स्वरूप तथा रसवत् इत्यादि अलंकारो से रसध्वनि के भेद इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है तथा विरोधी सिद्धान्तो का पूर्णरूप से खण्डन किया गया है। इसी उद्योत में गुणों का निरूपण भी किया गया है। तृतीय उद्योत सबसे बड़ा है। इसमें 'व्यञ्जक' की दृष्टि से ध्वनिभेद किये गये हैं। इसी प्रसङ्ग मे रीतियों और वृत्तियों का विवेचन किया गया है और भाट्ट, प्राभाकर, तार्किक, वेदान्ती इत्यादि के सिद्धान्त मे भी ध्वनि की आवश्यकता दिखलाई गई है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनिसिद्धान्त की व्यापकता तथा उसके महत्त्व पर विचार किया है और यह दिखलाया है कि यदि प्रतिभा विद्यमान हो तो ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य इन सिद्धान्तों का आश्रय लेने से काव्यार्थ की परिसमाप्ति नही हो सकती। ध्वनि का आश्रय लेने से परिचित काव्यार्थ भी उसी प्रकार नवीन प्रतीत होने लगता है जैसे मधुमास में पुराने भी वृक्ष नये से जान पड़ते हैं। इसी उद्योत मे यह सिद्ध किया गया है कि महाप्रबन्धो में भी अङ्गी के रूप में एक ही रस की व्यञ्जना होती है जैसे महाभारत में शान्त रस की व्यञ्जना होती है।

ध्वन्यालोक की एक प्राचीन टीका चन्द्रिका का उल्लेख लोचन मे किया गया है तथा लोचन टीका से ही चन्द्रिकाकार और अभिनवगुप्त का सगोत्र होना भी सिद्ध होता है। किन्तु यह टीका उपलब्ध नही होती। ध्वन्यालोक पर प्राचीनतम प्रामाणिक टीका लोचन ही है जो कि अभिनवगुप्तपादाचार्य की लिखी हुई है। श्री अभिनवगुप्त एक महान् दार्शनिक विद्वान् थे। अतः इन्होने साहित्यशास्त्र मे ग्रन्थ लिखकर उसे दार्शनिक स्वरूप दे दिया। यह इतनी महत्त्वपूर्ण तथा सशक्त टीका है कि हम इसे साहित्यशास्त्र का महाभाष्य भलीभांति कह सकते है। जहां ध्वन्यालोक के दुरूह स्थानो को पूर्णरूप से स्पष्ट कर यह टीका अपने नाम को सार्थक करती है वहां दूसरी ओर अपनी स्वतन्त्र विचारधारा की दृष्टि से पर्याप्तरूप में मौलिक भी है।

अभिनवगुप्त काश्मीर के एक बहुत बड़े शैव थे। कहा जाता है कि आज भी काश्मीर के अनेक ब्राह्मण परिवारो में इनकी मूर्ति बनाकर पूजा की जाती है और इनके नाम पर व्रत रक्खा जाता है। इनके जीवनवृत्त का हमे इन्हीके ग्रन्थो मे परिचय प्राप्त होता है। ये वाराहगुप्त के पौत्र तथा चुखुल के पुत्र थे। इनके बड़े भाई का नाम था मनोरथ जो स्वयं एक कवि थे। अभिनवगुप्त ने तीन गुरुओ से शिक्षा पाई थी। लोचन टीका मे इन्होने अपने गुरु का नाम लिखा है महेन्द्रराज। इन्होने ध्वन्यालोक इन्ही गुरु महेन्द्रराज के पास पढ़ा था और स्थान-स्थान पर लोचन टीका मे बड़े गौरव के साथ इन्होने अपने गुरु का स्मरण किया है तथा

लिखा है कि अमुक सन्दर्भ का अर्थ हमारे गुरु ने इस प्रकार बतलाया था। इनके दूसरे विद्यागुरु थे भट्टतौत जिनका उसी रूप में इन्होंने नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती में स्मरण किया है शैवदर्शन के इनके गुरु लक्ष्मणगुप्त थे। दर्शन तथा तन्त्रशास्त्र पर इनके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। किन्तु साहित्यशास्त्र पर इनके केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं एक है ध्वन्यालोक की व्याख्या लोचन और दूसरा है भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती, जो कि उच्छिन्नरूप मे ही प्राप्त होती है। कहा जाता है कि इनके गुरु भट्टतौत ने काव्य-कौतुक नाम का एक ग्रन्थ लिखा था जिस पर इन्होंने एक विवरण लिखा। यह ग्रन्थ उपलब्ध नही होता।

लोचन-व्याख्या जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही अधिक क्लिष्ट भी है। इस पर कोई भी प्रामाणिक व्याख्या अब तक उपलब्ध नही होती। बालप्रिया एक साधारण टीका है जिसमे अधिकतर प्रतीकयोजना ही की गई है। लोचन जैसे महान् ग्रन्थ के लिये प्रतीकयोजनामात्र पर्याप्त नही हो सकती। चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय से ध्वन्यालोक की दीधिति नाम की एक व्याख्या प्रकाशित हुई है। इसमे प्रतिज्ञा को गई थी कि लोचन का ही सार सरल भाषा में मौलिकता के साथ प्रकट किया जावेगा। किन्तु यह टीका मौलिक अधिक है। अनेक स्थानो पर लोचन का प्रतिफलन इस रचना में हुआ अवश्य है फिर भी इस टीका के सहारे लोचन को ठीक रूप मे समझ सकना सर्वथा असम्भव है। ध्वन्यालोक की एक दूसरी आनन्ददीपिका नामक व्याख्या श्री आचार्य विश्वेश्वरजी ने हिन्दी मे लिखी थी। यह अधिकतर ध्वन्यालोक का ही अनुवाद था। यद्यपि इसमें स्थान-स्थान पर लोचन के अंशो का भी उपादान किया गया है। किन्तु प्रत्यक्ष व्याख्या न होने के कारण इससे लोचन को पूर्णरूप से समझने की आशा ही नही की जा सकती।

प्रस्तुत ग्रन्थ लोचन को ठीक रूप मे समझाने के लिये लिखा गया है। लेखक को सफलता कहाँ तक मिली है इसका निर्णय तो सहृदय पाठक ही करेंगे किन्तु इतना कहा जा सकता है कि लेखक का प्रथम प्रयास अवलोकनीय अवश्य है। इस व्याख्या मे जहाँ इस बात पर ध्यान रक्खा गया है कि लोचन का आशय पूर्णतः प्रकट हो जावे वहाँ इस बात की भी चेष्टा की गई है कि पाठको को इसमे मौलिक रचना जैसा-आनन्द प्राप्त हो। यह व्याख्या एक ओर उन संस्कृतज्ञो के लिये लाभकर होगी जो लोचन का मन्तव्य समझना चाहते है और दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के वे विद्वान् भी इसमे रुचि ले सकेंगे जो एक सहस्र वर्ष पूर्व की साहित्यशास्त्रीय अवस्था का पर्यवेक्षण करना चाहते है।

अन्त मे नामकरण पर भी प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य में नामकरण में बड़ी कलात्मकता पाई जाती है। केवल काव्यग्रन्थों मे ही नही व्याकरण और दर्शन जैसे नीरस विषयो के ग्रन्थो में भी नामकरण बड़ी ही कलात्मकता के साथ किये गये हैं। उदाहरण के लिये भट्टोजि दीक्षित ने कौमुदी की रचना की। किन्तु कौमुदी तो सहृदय रसिकों को जलानेवाली ही होती है। कौमुदी का वास्तविक आनन्द तो वही ले सकता है जिसको अपनी प्रेयसी का वियोग पीड़ित न कर रहा हो। अतः दीक्षित जी ने स्वयं ही 'मनोरमा' प्रदान कर दी। हरि दीक्षित ने देखा कि यह नंगी मनोरमा सहृदयो को क्या आकर्षित कर सकेगी? अतः उन्होने उस मनोरमा को शब्दरत्न पहिरा दिया। किन्तु नागेश के भक्त हृदय को लौकिक मनोरमा के साथ कौमुदीविहार की बात उचित नही जंची और उन्होंने मनोरमा मे भगवती पार्वती के दर्शन कर उनका संयोग इन्दु-शेखर (शब्देन्दुशेखर) अर्थात् भगवान् शंकर से करा दिया।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सम्बन्धिनी वृत्ति का नाम आलोक रक्खा था। उसपर चन्द्रिका नाम की व्याख्या लिखी गई। अभिनव गुप्त ने देखा कि आलोक और चन्द्रिका का अभेद सम्बन्ध तो उपयुक्त हो सकता है; चन्द्रिका के द्वारा आलोक का आनन्द लेना समझ में नहीं आता। आलोक का आनन्द तो लोचन के द्वारा ही लिया जा सकता है। अतः उन्होने अपनी टीका का नाम लोचन रक्खा।

मुझे भी अपनी पत्नी के नाम में लोचन की व्याख्या का सुन्दर तथा उपयुक्त नाम प्राप्त हो गया। संस्कृत व्याकरण के अनुसार तारा शब्द से मतुप् प्रत्यय होकर तारावत् शब्द बनता है। यदि इस शब्द का नपुंसक लिङ्ग का द्विवचन बनाया जावे तो 'तारावती' बनेगा। लोचन भी दो होते हैं। अतएव तारावती शब्द द्विवचनान्त 'लोचने' का विशेषण हो जावेगा और इस शब्द का अर्थ हो जावेगा 'सुन्दर तथा प्रशस्त पुतलियों वाले दो नेत्र।' दूसरी ओर स्त्रीलिङ्ग के एकवचन मे 'तारावती' शब्द निष्पन्न होकर व्याख्या का विशेषण हो जावेगा। इसी आधार पर प्रारम्भ मे दो श्लोक रक्खे गये है।—

नैव तारावती यावल्लोचने लभते सुधीः।
नालोकं तावदीहेत वीक्षितुं श्रुतवानपि॥
व्याख्या तारावती सेयं चंद्रिकाच्छायहारिणी।
श्यामेवास्मान् रसज्ञांश्च रञ्जयेल्लब्धलोचनान्॥

अर्थात् 'जिस प्रकार अविकल पुतलियोंवाले नेत्रों को जबतक बुद्धिमान् व्यक्ति प्राप्त नही करता तबतक वह यह सुनकर भी कि यहां प्रकाश विद्यमान है उस

प्रकाश का आनन्द नही ले सकता उसी प्रकार जबतक सहृदय तारावती व्याख्या के साथ लोचन का अध्ययन नही करता तबतक वह शास्त्रज्ञ होते हुये भी ध्वन्यालोक का आशय ठीक रूप मे समझ नही सकता। यह तारावती व्याख्या चन्द्रिका नामक टीका के सौन्दर्य का अपहरण करनेवाली है। जिन लोगो ने लोचन टीका प्राप्त कर ली है उन्हे तथा हमें यह ऐसी ही आनन्द देनेवाली हो जैसे चांदनी की सुन्दरता से शोभित होनेवाली अथवा चांदिनी के सौन्दर्य को पराभूत करनेवाली कोई श्यामा (षोडशी) आखवालो को आनन्द देती है अथवा तारावती (नक्षत्रो से भरी हुई) चन्द्रिका की चमक से शून्य श्यामा (काली रात) सहृदयो को आनन्द देती है।

अन्त मे मै डा० नगेन्द्र जी के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी प्रेरणा से प्रस्तुत रचना सम्भव हो सकी है।

बसन्त पञ्चमी
संवत् २०१९

रामसागर त्रिपाठी

विषय-सूची

———

* श्रीभारत्यै नमः *

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

(लोचन—तारावती—सहितः)

प्रथम उद्योतः

(लोचनम्)

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च ।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत् सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते ॥

[जो (सरस्वती का तत्त्व) कारणांश के विना (ही) अपूर्व वस्तु की रचना और विस्तार किया करता है; पाषाणवत् नीरस जगत् को अपने रस की अधिकता से सारमय वना देता है; क्रमशः प्रतिभा और अभिव्यक्ति के प्रसार से उस जगत् को रमणीय वना देता है वह कवियो और सहृदयों मे भलीभाति पूर्ण रूप से स्फुरित होने वाला सरस्वती का तत्त्व विजयशील हो रहा है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप मे वर्तमान है ॥ १ ॥]

तारावती

आनन्दाद्वैतसव्यग्रं दिशन्मार्गमनश्वरम् ।
प्रथयन्ती जगन्मुक्तं भारती सा श्रियेऽस्तु नः ॥ १ ॥

सर्वशास्त्रप्रदं भद्रं नत्वा श्रीचन्द्रशेखरम्* ।
ध्वन्यालोकावलोकार्थं कुर्मस्तारावतीमिमाम् ॥ २ ॥

नैव तारावती यावल्लोचने लभते सुधीः ।
नालोकं तावदीहेत वीक्षितु श्रुतवानपि ॥ ३ ॥

व्याख्या तारावती सेयं चन्द्रिकाच्छायहारिणी ।
श्यामेवास्मान् रसज्ञांश्च रञ्जयेल्लब्धलोचनान् ॥ ४ ॥

परोक्षसत्ता की अनुभूति और अन्तस्तत्त्व की सम्पन्न एकता भारतीय विचारसाधना के मेरुदण्ड है । दृश्यमान जगत् के पीछे ऐसी शक्ति अन्तर्निहित है जो चेतन विश्व की समस्त गतिविधियो पर नियन्त्रण रखती है और उसी की प्रेरणामयी सदिच्छा मानवजीवन को सञ्चालित किया करती है । इसी लिये दुर्गा-सप्तशती मे अन्तःकरण मे विद्यमान अनेक भावों के रूप मे उसके दर्शन किये गये

---

* श्रिया चन्द्रन्ति, श्रियं चन्द्रयन्ति वेति श्रीचन्द्राः । चदेरक् । तेषु शेखरम् विष्णुं शोभासम्पन्नं भगवन्तं शिव तदाख्यं गुरुं च ।

तारावती

है। ज्ञान तो उस सत्ता का प्रत्यक्ष रूप है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। यही कारण है ऋषियों की कृति वेदमन्त्र उस महातत्त्व का निश्श्वसित माने गये। केवल इतना ही नहीं, शतपथ ब्राह्मण में तो साधारण श्लोक को भी ईश्वरीय निश्श्वसित ही माना गया है—'अस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वोऽङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि, अस्यैवैतानि सर्वाणि निश्श्वसितानि'। अत एव यह स्वाभाविक ही है कि ग्रन्थरचना जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य में उस महाशक्ति का अनुशीलन किया जावे। इसी उद्देश्य से ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करने की परिपाटी प्रतिष्ठित है। मङ्गलाचरण के अनेक रूप हैं—(१) उस महाशक्ति को प्रणतिपूर्वक सहायता के लिये प्रेरित करना। इसे इष्टदेवतानमस्कारात्मक मङ्गल कहते हैं। (२) परिशीलकों की मङ्गलाशंसा करते हुये उनसे अपनी एकता स्थापित करना। इसे आशीर्वादात्मक मङ्गल कहते है। (३) पराशक्तिसम्पन्न किसी वस्तु का निर्देश कर परमात्मा की व्यापकता की ओर ध्यान दिलाना। यह वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल कहा जाता है। (४) प्राचीन आचार्य 'वृद्धि' 'सिद्ध' इत्यादि माङ्गलिक शब्दों के प्रयोगमात्र को ही मङ्गलाचरण मानते थे (५) कहीं कहीं केवल 'अथ' शब्द का प्रयोग ही मङ्गलाचरणपरक माना गया है। मङ्गलाचरण के प्रयोजन के विषय में मतभेद है। कुछ लोग मङ्गलाचरण का उद्देश्य विघ्नविघात मानते हैं; दूसरे लोग ग्रन्थसमाप्ति को ही मङ्गलाचरण के प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं। कतिपय आचार्य विघ्नविघातपूर्वक ग्रन्थसमाप्ति को मङ्गलाचरण का, प्रयोजन मानकर दोनों मतों का सामञ्जस्य स्थापित करते हैं। मङ्गलाचरण अपने मङ्गल के लिये भी किया जाता है और शिष्यों को मङ्गलाचरण की परम्परा बनाये रखने का उपदेश देने के लिये भी। जिन ग्रन्थों में मङ्गलाचरण होते हुये भी ग्रन्थसमाप्ति नहीं होती उनमें विघ्नबाहुल्य की कल्पना कर ली जाती है और जिन नास्तिकों के ग्रन्थों में मङ्गलाचरण न होते हुये भी ग्रन्थसमाप्ति देखी जाती है उनमें जन्मान्तरीय मङ्गलाचरण की कल्पना कर आस्तिकता का निर्वाह किया जाता है।

आचार्य श्री अभिनवगुप्त 'काव्यालोक' ग्रन्थ की 'लोचन' नामक व्याख्या करने के मन्तव्य से ऐसे इष्टदेवता को प्रणाम कर रहे हैं जिसका स्मरण ग्रन्थ के विषय के अनुकूल है :—

'भगवती सरस्वती का तत्त्व विजयशील हो रहा है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। यह सरस्वती का तत्त्व ऐसे शोभनतर विश्व की रचना करता है जिसकी तुलना ब्रह्मा जी का बनाया हुआ यह दृश्यमान जगत् कभी नहीं कर

तारावती

सकता। इस काव्यजगत् की सभी वस्तुयें अपूर्व होती है। (ब्रह्माजी का बनाया हुआ जगत् नियमों से आबद्ध तथा परवश होता है, जबकि काव्य-जगत् सर्वत्र स्वतन्त्र तथा नियमो से सर्वथा विनिर्मुक्त होता है। दृश्य जगत् मे रात्रि मे सूर्य और दिन मे चन्द्र प्रकाशित नही हो सकते जब कि काव्यजगत् मे राजा का प्रताप-सूर्य तथा सुन्दरी का मुखचन्द्र रात दिन एक सा प्रकाशित रहता है। काव्यजगत् के लिये ये नियम सर्वथा अकिञ्चित्कर है। ब्रह्मा की सृष्टि कवि की सृष्टि का सतत अनुकरण करने की चेष्टा करती है, किन्तु वहाँ तक कभी नहीं पहुँच सकती। ब्रह्मा की सृष्टि मे न राम जैसे आदर्श पुरुष होते हैं और न सीता जैसी पतिपरायणा महिलायें। यही काव्यसृष्टि की अपूर्वता है।) भारती काव्यजगत् के समस्त पदार्थों को विना ही किसी कारण के अंश के उत्पन्न करती हैं। (दृश्य जगत् में जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते है उनमे समवायि असमवायि और निमित्त कारणो का सहयोग और सहकार अपेक्षित होता है। किन्तु काव्य जगत् मे कमल (नायिका के मुख कमल) की उत्पत्ति विना ही जल के हो सकती है। भारती केवल नवीन जगत् की रचना ही नहीं करती अपि तु दृश्य जगत् के विभिन्न पदार्थो को भी आत्मसात् करती है।) वैसे तो संसार पाषाणवत् नीरस है किन्तु जब कवि उसमे अपना रस भर देता है तब वे ही नीरस और निस्सार पदार्थ सरस तथा सारवान् प्रतीत होने लगते है। (विभाव इत्यादि के रूप मे काव्यजगत् मे सन्निविष्ट होकर तुच्छ से तुच्छ वस्तु महत्त्वपूर्ण हो जाती है और नीरस से नीरस वस्तु सरस बन जाती है।) इस सरस्वती-तत्त्व के दो भाग है एक प्रख्या अर्थात् कविप्रतिभा और दूसरा उपाख्या अर्थात् वर्णन करने की शक्ति। (इन्हे ही हम आधुनिक भाषा मे अनुभूति और अभिव्यक्ति के नाम से अभिहित कर सकते हैं।) पहले प्रख्या और फिर उपाख्या इस क्रम से जब सरस्वती के तत्त्व का प्रसार होता है तब काव्यजगत् बड़ा ही मनोरम हो जाता है और उससे सारा काव्यजगत् जगमगा उठता है। इस तत्त्व के दो छोर हैं एक है कवि और दूसरा सहृदय। (कवि का काम है निर्माण करना और सहृदय का काम है विचार करना।) इन्ही दो मे उसकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार सरस्वती-तत्त्व सर्वोत्कृष्ट रूप मे विद्यमान हो रहा है। यहाँ पर सरस्वती-तत्त्व का अर्थ ध्वनिकाव्य भी हो सकता हैं। यह तत्त्व भी चैतन्य प्रकाशात्मक होने के कारण अप्रकाशित का प्रकाशन करता है और प्रकाशित को मनोरम बनाता है। अतः यह आत्मरूप है। विजयी कहने से नमस्कार व्यक्त होता है। अपूर्व वस्तु-निर्माण मे कल्पना-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है और ग्राव प्रख्य जगत्

लोचनम्

भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम् ।
यत्किञ्चिदप्यनुरणन् स्फुटयामि काव्यालोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य ॥

[भट्ट इन्दुराज के चरणकमलों में जिसने अधिवास किया है। (और इसी कारण) जिसका शास्त्र हृद्य हो गया है इस प्रकार का अभिनवगुप्तपाद की अभिधा (नाम) वाला मैं अपने लोचन की नियोजना के द्वारा अत्यन्त स्वल्प भी अनुरणित (प्रतिध्वनित) करते हुये लोगो के सामने काव्यालोक (नामक ग्रन्थ) को स्फुट कर रहा हू।]

तारावती

के सारमय बनाने मे बिम्बवाद का साम्य लक्षित किया जा सकता है। इस प्रकार मङ्गलाचरण मे ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय भी बतला दिया गया है।

अब लोचनकार अपना परिचय दे रहे है—"मैंने भट्ट इन्दुराज नामक अपने गुरु के चरणकमलों के निकट निवास किया है। (अर्थात् मैं निरन्तर अपने गुरु के चरणकमलो की सेवा शुश्रूषा करता रहा हूँ और गुरु के चरणकमलों के निकट बैठकर मैंने समस्त शास्त्रो का भलीभाँति अध्ययन किया है।) इस प्रकार सभी शास्त्र मेरे हृदय मे विराजमान हो गये है और वे शास्त्र श्रोताओ के हृदयों के लिये रुचिकर तथा आनन्ददायक है। (जिस प्रकार कमलो मे किसी वस्तु को बसा देने से उसमे सुगन्ध आने लगती है, उसी प्रकार गुरु के चरणकमलो में लोचनकार का शास्त्र वासित होकर सुरभि को विखेरने लगा है।) मेरा नाम अभिनवगुप्तपाद है। (कहा जाता है कि शास्त्रार्थ मे अधिक प्रचण्ड होने के कारण इनसे इनके सहपाठी डरते थे और इनका नाम बाल-वलभी-भुजङ्गम रख दिया था। इन्होंने उस उपाधि को नम्रतापूर्वक स्वीकार कर लिया और भुजङ्गम का पर्याय गुप्तपाद अपने नाम के साथ जोड़ लिया।) मै अपने 'लोचन' की नियोजना के द्वारा यत्किञ्चित् अनुरणित करते हुये काव्यालोक को लोगो के सामने स्फुट कर रहा हूँ। ('लोचननियोजना' के कई अर्थ हो सकते है—(१) मन लगाकर (२) ज्ञान के योग के द्वारा (३) लोचन व्याख्या के द्वारा (४) नेत्र गड़ा कर। जैसे किसी वस्तु को नेत्र गड़ा कर ढूढ़ा जाता है वैसे ही लोचन को संयुक्त कर मै काव्यालोक को स्पष्ट कर रहा हूँ। 'अनुरणन' का अर्थ यह है कि जिस प्रकार घण्टा बजने के बाद उससे एक प्रतिध्वनि निकलती है और वह बिल्कुल घण्टानाद के समान ही होती है उसी प्रकार मैं जो कुछ कहूँगा वह सब ध्वन्यालोक की प्रतिध्वनिमात्र होगी। मैं अपनी ओर से कुछ नही कहूँगा। 'यत्किञ्चित्' का

ध्वन्यालोकः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

[(अनु०) स्वेच्छा से ही केसरी का रूप धारण करने वाले तथा मधु (दानव) मथन भगवान् विष्णु के नख, जो कि अपनी निर्मल छाया (कान्ति) से इन्दु को आयास में डालने वाले हैं तथा शरणागतो के दुःख और दैन्य को काटने वाले हैं, आप सब व्याख्याताओ और श्रोताओ की रक्षा करे ।]

लोचनम्

स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतृणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षणफलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसाम्मुख्यं करोति वृत्तिकारः—स्वेच्छेति ।

[वृत्तिकार (आनन्दवर्धन) स्वय निरन्तर परमेश्वर-नमस्कार की सम्पत्ति से कृतार्थ हुआ भी व्याख्याताओं तथा श्रोताओं के अभीष्ट व्याख्याफल को सुनने की पूर्ति के लिये समुचित आशीर्वाद प्रकट करने के द्वारा परमेश्वर के साम्मुख्य (का सम्पादन) कर रहा है—'स्वेच्छा' इत्यादि श्लोक के द्वारा ।]

तारावती

अर्थ यह है कि ध्वन्यालोक की पूरी व्याख्या तो सम्भव नहीं है। यदि मैं उसका कुछ भाग हो स्पष्ट कर सका तो मैं अपने को धन्य समझूगा। (आनन्दवर्धन ने ध्वनि की टीका का नाम 'काव्यालोक' ही रक्खा था। बाद मे ध्वनि की कारिकाओं को मिलाकर उसे ध्वन्यालोक कहने लगे।)

उत्तम पुरुष के क्रिया में प्रयोग करने से ही 'अहम्' का अर्थ आसकता है। फिर भी 'अहम्' का पृथक् प्रयोग किया गया है। इससे ध्वनित होता है कि—'मैं अपने प्रौढ पाण्डित्य के कारण इस ग्रन्थ की व्याख्या करने का सर्वथा अधिकारी हूँ।' 'स्फुट कर रहा हूँ' कहने का आशय यह है कि टीकाकारो ने आज तक इस ग्रन्थ की यथाश्रुत व्याख्या ही की है इसे स्पष्ट नही कर पाया। यह कार्य मैं करूँगा।

अब आलोककार के मङ्गलाचरण पर विचार किया जा रहा है। मङ्गलाचरण पर विचार दो दृष्टिकोणों से हो सकता है—ग्रन्थकार के दृष्टिकोण से तथा व्याख्याओ और श्रोताओं के दृष्टिकोण से। (ग्रन्थकार स्वयं तो विना बीच में रुके हुये निरन्तर ही परमात्मा को नमस्कार करते रहते हैं; उस नमस्कार की

लोचनम्

(४) मधुरिपोर्नखाः वो युष्मान् व्याख्यातृश्रोतृंस्त्रायन्ताम्, तेषामेव सम्बोधनयोग्यत्वात्. सम्बोधनसारो हि युष्मदर्थः, त्राणं चाभीष्टलाभं प्रति सहायकाचरणम्, तच्च तत्प्रतिद्वन्द्विविघ्नापसरणादिना भवतीति इयदत्र त्राणं विवक्षितम्, नित्योद्योगिनश्च

[मधुरिपु के नख तुम सब लोगो की अर्थात् व्याख्याताओ और श्रोताओं की रक्षा करे, क्योकि सम्बोधन के योग्य वही है। और निस्सन्देह युष्मद् (वः) के अर्थ का सार ही है सम्बोधन। त्राण का अर्थ है अभीष्ट लाभ के प्रति सहायक का आचरण और वह अपने विरोधी विघ्न इत्यादि के अपसारण इत्यादि के द्वारा होता है; अतः इतना ही त्राण कहना यहाँ पर अभीष्ट है। नित्य उद्योग मे लगे हुये

तारावती

सम्पत्ति से वे कृतार्थ हो गये है। (अत एव ग्रन्थकार को अपने दृष्टिकोण से मङ्गलाचरण की कोई आवश्यकता नही।) तथापि व्याख्याताओ और श्रोताओं को आशीर्वाद इसीलिये दे रहे है कि व्याख्याकार तो विघ्नरहित होकर अभीष्ट व्याख्या करने का फल प्राप्त कर सके और श्रोता लोग विघ्नरहित होकर सुनने का फल प्राप्त कर सकें। इसीलिये उचित आशीर्वाद को प्रकट करते हुये ग्रन्थकार ने इस मङ्गलाचरण मे व्याख्याताओ और श्रोताओ के लिये परमेश्वर की अनुकूलता सम्पादित की है।

'मधुमथन भगवान् विष्णु के नख तुह्मारी सबकी अर्थात् व्याख्याताओं और श्रोताओ की रक्षा करे। (यहाँ पर 'तुह्मारी' शब्द का अर्थ 'व्याख्याता और श्रोता' इसलिये लिया गया है कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ उन्हीं को सम्बोधित करके तो बनाया है।) क्यो कि वे ही सम्बोधन के योग्य है। (यहा पर यह पूछा जा सकता है कि मङ्गलाचरण मे सम्बोधन का प्रयोग कहाँ है ? इसका उत्तर यह है कि) 'वः' शब्द युष्मद् शब्द का रूप है। युष्मद् के अर्थ का सार ही है सम्बोधन। जिसको सम्बोधित नही किया जाता उसके लिये युष्मद् शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता।

रक्षा करने का आशय यह है कि उद्देश्य की सिद्धि के लिये सहायता की जावे। सहायता की जा सकती है अभीष्ट-लाभ के विरोधी विघ्नो के दूर करने इत्यादि के द्वारा। यह तभी सम्भव है जब कि आवश्यक उपकरण प्रदान कर दिये जावे। यही त्राण का अर्थ है। भगवान् विष्णु जिस प्रकार निरन्तर ही नृसिंह मधु इत्यादि दानवों का संहार कर संसार के त्राण मे लगे रहते है उसी प्रकार भक्तो के मार्ग मे आने वाले विघ्नो का संहार भी निरन्तर ही किया करते हैं।

लोचनम्

भगवतोऽसम्मोहाध्यवसाययोगित्वेनोत्साहप्रतीतेर्वीररसो ध्वन्यते । नखानां प्रहरणत्वेन प्रहरणेन च रक्षणे कर्तव्ये नखानामव्यतिरिक्तत्वेन करणत्वात् सातिशयशक्तिता कर्तृत्वेन सूचिता, ध्वनितश्च परमेश्वरस्य व्यतिरिक्तकरणापेक्षाविरहः, मधुरिपोरित्यनेन तस्य सदैव जगत्त्रासापसारणोद्यम उक्तः। कीदृशस्य मधुरिपोः ? स्वेच्छया केसरिणः। स्वेच्छया मधुरिपोः न तु कर्मपारतन्त्र्येण, नाप्यन्यदीयेच्छया, अपि तु विशिष्टदानव-हननोचिततथाविधेच्छापरिग्रहौचित्यादेव स्वीकृतनृसिंहरूपस्येत्यर्थः । कीदृशाः

भगवान् के सम्मोहरहित अध्यवसाय में लगे रहने के कारण उत्साह की प्रतीति होने से वीर रस ध्वनित होता है। नखो के प्रहार का उपकरण होने से और प्रहार द्वारा रक्षा किये जाने में नखों के भिन्न न होने से करण होने के कारण कर्तृत्व के द्वारा (अर्थात् प्रहार में नख करण होते है तथापि कर्ता में प्रयोग किया गया है इसलिये) सातिशयशक्तित्व की सूचना मिलती है और ध्वनित होता हैं भगवान् का व्यतिरिक्त करण की अपेक्षा का अभाव । 'मधुरिपु' इस शब्द के द्वारा उन (भगवान्) का सदैव संसार के त्रासापसारण का उद्यम कहा गया है। किस प्रकार के मधुरिपु का ? जो स्वेच्छा से ही केसरी बने न कि कर्मपारतन्त्र्य से और नहीं दूसरे की इच्छा से अपि तु विशिष्ट दानव के मारने के योग्य उस प्रकार की इच्छा के ग्रहण करने मे उचित होने के कारण नृसिंह रूप को जिन्होंने स्वयं स्वीकार किया; (यहाॅ पर) यह अर्थ है ।]

तारावती

भगवान् अपनी इस क्रिया मे न कभी सम्मोह में पड़ते है और न उनके अध्यवसाय में किसी प्रकार की कमी आती है। इस प्रकार भगवान् का उत्साह व्यक्त होता है। शास्त्र का नियम है कि विभाव इत्यादि रस के चारों अङ्गों में यदि एक भी व्यक्त हो जावे तो शीघ्र ही दूसरे अंगो का भी आक्षेप कर लिया जाता है। यहाॅ पर वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की व्यञ्जना हुई है। अतः उसके आलम्बन मधु इत्यादि राक्षस, उनके साहस शौर्य इत्यादि उद्दीपन, उनकी अवहेलना इत्यादि अनुभाव और गर्व इत्यादि सञ्चारी भावों का भी शीघ्र ही समावेश हो जाता है और इनसे पुष्ट होकर उत्साह स्थायी भाव से पानकरसन्याय से वीर रस की ध्वनि होती है।

नखों से प्रहार किया जाता है और प्रहार के द्वारा रक्षा की जाती है। इस प्रकार रक्षण क्रिया मे नख शरीरान्तर्वर्ती करण हैं। किन्तु उनका प्रयोग कर्ता कारक में किया गया है। इस प्रकार इनकी शक्ति की अधिकता ध्वनित होती है।

(लोचनम्)

नखाः ? अपन्नानामार्ति ये छिन्दन्तिः नखानां हि छेदकत्वमुचितम् ; आर्तेः पुनश्छेद्यत्वम् नखान्प्रत्यसम्भावनीयमपि तदीयानां नखानां स्वेच्छानिर्माणौचित्यात् सम्भाव्यत एवेति भावः। अथवा त्रिजगत्कण्टको हिरण्यकशिपुर्विश्वस्योत्क्लेशकर इति स एव वस्तुतः प्रपन्नानां भगवदेकशरणानां जनानामार्तिकारित्वान्मूर्तैवार्तिस्तं विनाशयद्भिरार्तिरवोच्छिन्ना भवतीति परमेश्वरस्य तस्यामप्यवस्थायां परमकारुणिकत्वमुक्तम्। किञ्च ते नखाः स्वच्छेन स्वच्छतागुणेन

[किस प्रकार के नख ? जो कि शरणागतों की दीनता को काट डालते हैं; निस्सन्देह नखो का (दूसरी वस्तु को) काट डालना उचित हैः किन्तु नखों के प्रति दीनता का छेद्यत्व (अर्थात दीनता का नखो के द्वारा काटा जा सकना) असम्भव है तथापि भगवान् के नाखूनो के स्वेच्छानिर्माण के औचित्य के कारण सम्भावना की ही जा सकती है। अथवा तीनो लोको का कण्टक हिरण्यकशिपु विश्व का उत्क्लेश (उत्पीडन) करनेवाला है, अतः वही वस्तुतः शरणागतों अर्थात् एकमात्र भगवान् की शरण मे आये हुओ के अन्दर आर्ति उत्पन्न करने के कारण आर्ति का साक्षात् मूर्तरूप ही हैः उसको नष्ट करने वाले नाखूनों से आर्ति ही उच्छिन्न हो गई, इस प्रकार उस अवस्था मे भी परमेश्वर की परम कारुणिकता बतलाई गई है। और भी वे नाखून स्वच्छ से अर्थात् स्वच्छतागुण से अथवा

तारावती

'भगवान् विष्णु नखों से भक्तों की आर्ति का उन्मूलन नहीं करते अपि तु नख स्वयं ही भक्तों के दुःखो को काट डालते है।' यहाँ नखों की सातिशय-शक्ति है। यहाँ पर कारक के द्वारा वस्तुध्वनि होती है। करण दो प्रकार के होते हैं, एक आभ्यन्तर दूसरा बाह्य। जैसे प्रहरण क्रिया मे खड्ग इत्यादि बाह्य करण है और हस्त इत्यादि आभ्यन्तर करण है। अतएव इससे एक ध्वनि और निकलती है कि भगवान् को व्यतिरिक्त करण की कोई अपेक्षा नहीं। भक्तों के कष्ट काटने मे उनके नख ही पर्याप्त है। 'मधुरिपु' शब्द से ध्वनि निकलती है कि 'भगवान् ससार के त्रास का अपनोदन करने मे सदा प्रयत्नशील रहते है।'

भगवान् ने नृसिंह रूप न तो कर्म को परतन्त्रता से ही धारण किया और न किसी दूसरे की इच्छा से। किन्तु देवताओं से भी अवध्य महान् दानवों के संहार के लिए उपयुक्त नृसिंहरूप को अपनी इच्छा से ही स्वीकार किया। 'इच्छा' शब्द से भगवान् के कर्मपारतन्त्र्य का अभाव ध्वनित होता है और 'स्व' शब्द से दूसरे की इच्छा का अभाव ध्वनित होता है। ये सब वस्तुध्वनि है।

काटने का काम नखो का है ही, किन्तु दुखो को काट सकना नखो के लिये असम्भव है। किन्तु भगवान् ने स्वेच्छा से ही नृसिंहरूप धारण किया है।

लोचनम्

नैर्मल्येन। स्वच्छमृदुप्रभृतयो हि मुख्यतया भाववृत्तय एव. स्वच्छायया च वक्रहृद्यरूपयाऽऽकृत्याऽऽयासितः खेदित इन्दुर्यैः, अत्रार्थशक्तिमूलेन ध्वनिना वालचन्द्रत्वं ध्वन्यते। आयासने तत्संनिधौ चन्द्रस्य विच्छायत्वप्रतीतिर्हृद्यत्वप्रतीतिश्च ध्वन्यते। आयासकारित्वं च नखानां सुप्रसिद्धम्। नरहरिनखानां तच्च लोकोत्तरेण रूपेण प्रतिपादितम्। किञ्च तदीयां स्वच्छतां कुटिलिमानं चावलोक्य वालचन्द्रः स्वात्मनि खेदमनुभवति तुल्येऽपि स्वच्छकुटिलाकारयोगेऽमी प्रपन्नार्तिनिवारणकुशलाः न त्वहमिति व्यतिरेकालंकारोऽपि ध्वनितः; किञ्चाहं पूर्वमेक एवासाधारणवैशद्यहृद्याकारयोगात् समस्तजनाभिलषणीयताभाजनमभवम्, अद्य पुनरेवंविधा नखाः, दशवालचन्द्राकाराः सन्तापार्तिच्छेदनकुशलाश्चेति तानेव लोको वालेन्दुबहुमानेन पश्यति, न तु मामित्याकलयन्वालेन्दुरविरतायासमनुभवतीवेत्युत्प्रेक्षापह्नुतिध्वनिरपि, एवं वस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोकेऽस्मद्गुरुभिर्व्याख्यातः।

निर्मलता से—क्योंकि स्वच्छ मृदु इत्यादि शब्द मुख्य रूप मे भाववाचक (स्वच्छता इत्यादि धर्म के वाचक) ही होते है—तथा अपनी छाया अर्थात् वक्र तथा हृदय आकृति के द्वारा आयासित कर दिया हैं अर्थात् खेद मे डाल दिया है जिन्होंने; यहाँ पर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि से वालचन्द्रत्व ध्वनित होता है; आयासित करने से उन नखों के निकट चन्द्र की कान्तिहीनता की प्रतीति तथा अहृद्यत्वप्रतीति ध्वनित होती है और नाखूनों का आयासकारित्व सुप्रसिद्ध है; और वह आयसकारित्व नरहरि के नाखूनो का विशेष रूप मे प्रतिपादित किया गया है; और भी उनकी स्वच्छता और कुटिलता को देखकर वालचन्द्र अपनी आत्मा मे खेद का अनुभव करता है। 'स्वच्छ तथा कुटिल आकार के योग के समान होने पर भी ये नख शरणागतों के दुःख निवारण मे कुशल है, मैं तो नहीं हूँ' यह व्यतिरेकालङ्कार भी यहाँ पर ध्वनित किया गया है। और भी 'मैं पहले अकेला ही असाधारण निर्मलता तथा हृद्य को प्रिय आकार के योग से सभी लोगों की अभिलाषा की योग्यता का पात्र था, फिर आज ये इस प्रकार के वालचन्द्राकार तथा सन्तप्तों के आर्तिविच्छेदन मे कुशल दस नाखून है, इसलिये इन्हे ही लोक वालेन्दु से अधिक सम्मान के द्वारा देखेगा, मुझे नहीं' यह समझते हुये वालचन्द्र निरन्तर मानों आयास का अनुभव करता है यह उत्प्रेक्षा और अपह्नुति ध्वनि भी होती हैं। इस प्रकार वस्तु, अलङ्कार और रस के भेद से तीन प्रकार की ध्वनि की व्याख्या इस श्लोक मे हमारे गुरुजनों के द्वारा की गई है।]

तारावती

अतएव सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण नखो का आर्तिच्छेदन उपपन्न हो जाता है अथवा नखों का आर्तिकृन्तन असम्भव है अतः अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है और आर्ति शब्द की लक्षणा हिरण्यकशिपु में हो जाती है। इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि हिरण्यकशिपु बेरोक-टोक सभी व्यक्तियों का सबसे अधिक दुःख-दायक है। (हिरण्यकशिपु दुःख देने वाला नही, किन्तु साक्षात दुःख की मूर्ति ही है।) यही लक्षणा का प्रयोजन है। हिरण्यकशिपु के मारे जाने से शरणागतों की पीडा भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार यहाँ पर अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि है। साराश यह है कि हिरण्यकशिपु तीनो लोकों का कण्टक है और संसार का उत्क्लेश करने वाला है। अतएव एकमात्र भगवान् के आधीन रहने वाले व्यक्तियों को पीडा देने के कारण वह वास्तव मे पीडा की मूर्ति है। उसको नष्ट कर भगवान् ने मानों पीडा ही नष्ट कर दी। उस अवस्था मे भी भगवान् की परमकारुणिकता व्यक्त होती है।

[आयास होना चेतनधर्म है। अतएव आयास का हो सकना इन्दु मे सम्भव नही। इस प्रकार तात्पर्यानुपपत्ति होने के कारण अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है और आयास की लक्षणा असौन्दर्य मे हो जाती है। भगवान् के नख इतने स्वच्छ तथा इतने मनोहर है कि उनके सामने चन्द्र की शोभा भी फीकी पड जाती है। यही इसका लक्ष्यार्थ है। लक्षणा का प्रयोजन है असौन्दर्य की अधिकता, जो कि व्यञ्जनावृत्ति से प्राप्त होती है। आयास के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर अत्यत तिरस्कृत वाच्य अविवक्षित वाच्यध्वनि है।]

यहाँ पर स्वच्छ का अर्थ है स्वच्छता। क्योंकि स्वच्छ मृदु इत्यादि शब्द मुख्य रूपमे धर्मवाचक ही हुआ करते है। एक ओर नखो मे स्वच्छता का गुण विद्यमान है और दूसरी ओर उनकी छाया (आकृति) वक्र तथा हृद्य होने के कारण चन्द्र मे आयास का उत्पादन करती है। नखो की शोभा के कारण चन्द्र के आयासित होने से अर्थशक्ति के द्वारा ध्वनित होता है कि यहा पर बालचन्द्र (द्वितीया के चन्द्रमा) से मन्तव्य है। आयासित होने से नखों के सामने बालचन्द्र की मलिनता तथा अहृद्यता ध्वनित होती है। नखों का आयासकत्व प्रसिद्ध है और वह भगवान् के नखो मे विशेष रूप से दिखलाया गया है। दूसरी बात यह है कि नखो की स्वच्छता तथा कुटिलता देखकर बालचन्द्र अपने अन्दर खेद का अनुभव करता है कि 'स्वच्छता तथा कुटिलता तो दोनों में समान है; परन्तु भगवान् के नख शरणागतो की आर्ति के कृन्तन मे समर्थ है; मुझ मे यह शक्ति विद्यमान नही है।' इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त

तारावती

चन्द्रमा समझता है कि 'अभी तक अपनी असाधारण निर्मलता तथा हृदयग्राही आकृति के योग से समस्त व्यक्तियो की अभिलाषा का पात्र मैं ही था अब तो तो इस प्रकार के बालचन्द्राकार १० नाखून विद्यमान हैं और ये सन्ताप को नष्ट करने मे भी कुशल हैं (जब कि मैं वियोगियो को सन्ताप देने वाला हूं।) अतएव अब तो लोक इन्ही को बालेन्दु के योग्य महान् सम्मान के साथ देखेगा; मुझे कोई कही मानेगा' मानो यह समझते हुये बालचन्द्र निरन्तर आयास का अनुभव करता है। इस प्रकार यह उत्प्रेक्षा भी हो गई। 'ये नख नही है किन्तु १० बालचन्द्र है' इस अपह्नुति की भी व्यञ्जना होती है। (यहाॅ पर 'नख नही किन्तु बालचन्द्र' इस अपह्नुति के कारण 'मानो चन्द्र को कष्ट होता है' यह उत्प्रेक्षा होती है। अतएव इन दोनो का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। इन दोनों में एक व्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर नही हो सकता, क्योकि दोनो अलङ्कार एक दूसरे के निरपेक्ष नही है। यहाॅ पर चन्द्र मे आयास का सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतएव सम्बन्धातिशयोक्ति अलङ्कार भी यहाॅ पर हो सकता है।) इस प्रकार हमारे गुरु (सम्भवतः भट्टेन्दुराज) ने इस श्लोक मे वस्तु अलङ्कार और रस तीनो ध्वनियों की व्याख्या की है।

[लोचनकार ने यहाॅ पर उत्प्रेक्षा तथा अपह्नुति ये दो अलङ्कार दिखलाये हैं। इस पर **दीधितिकार** ने लिखा है—'कुछ लोगों ने यहाॅ पर उत्प्रेक्षा और अपह्नुति की प्रतीति का प्रतिपादन किया है। इस विषय में हम कुछ कहना नहीं चाहते क्योकि हमे इन महानुभावों के महत्व का ध्यान रखना ही है। हाॅ इतना कहा जा सकता है कि प्रतीयमान उत्प्रेक्षा और अपह्नुति भी वही पर स्वीकृत की जा सकती हैं जहाॅ पर उत्प्रेक्षा की सामग्री प्रकृतधर्मिक अप्रकृत सम्भावना तथा अपह्नुति की सामग्री प्रकृत के निराकरण के साथ अप्रकृत की स्थापना विद्य-मान हो। सहृदयों को इतना तो समझना ही चाहिये कि कष्टकल्पना विच्छित्ति को जन्म देने वाली नहीं होती।' इस पर मेरा निवेदन है कि यहाॅ पर उत्प्रेक्षा और अप-ह्नुति वाच्य नहीं हैं, किन्तु व्यङ्ग्य हैं। 'आयासित' शब्द ही दोनो सामग्रियोंको जुटा देने के लिये पर्याप्त है। चन्द्र मे आयासितत्व धर्म की सम्भावना के कारण उत्प्रेक्षा का बीज तो विद्यमान है ही—आयासित होने का कारण यह है कि चन्द्र यह समझता है कि अब लोग नखों को बालचन्द्र कहा करेंगे मुझे नही। यही अपह्नुति का बीज है इसमें कोई कष्टकल्पना नही।

यहाँ पर लेखक की भगवद्विषयक रति अङ्गी है और अभिव्यज्यमान वीर रस उसका अङ्ग है। इस प्रकार वीर रस अपराङ्ग गुणीभूत का उदाहरण हो गया

तारावती

है। बालप्रियाकार ने लिखा है कि 'यहाँ पर वीर रस ही अङ्गी है क्योंकि ग्रन्थकार भगवान् से तन्मयभाव को प्राप्त हो ही चुका है। उसने केवल भक्तों को आशीर्वाद दिया है। अतः लेखक की भगवद्विषयक रति व्यक्त नहीं होती। ग्रन्थकार की भगवान् से तन्मयता इसी बात से सिद्ध है कि उसने सूत्र बनाने से पहले मङ्गलाचरण नहीं किया और उसने अपूर्व प्रस्थान की रचना कर दी जो कि भगवत्-शक्ति से ही सम्भव थी।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि एक तो यह बात सिद्ध नहीं है कि सूत्रकार तथा आलोककार दोनों एक ही व्यक्ति हैं। दूसरी बात यह है कि ग्रन्थों में मङ्गलाचरण व्यावहारिक दृष्टि से ही किया जाता है जिससे उसकी परम्परा बनी रहे और शिष्यों को उसका उपदेश प्राप्त हो जावे। जिन ग्रन्थों में मङ्गलाचरण नहीं भी होता है उनमें भी ग्रन्थ से बहिर्भूत मङ्गलाचरण की कल्पना की ही जाती है। अतएव सूत्रों के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण न करने से मङ्गलाचरण का अभाव सिद्ध नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ग्रन्थकार ने केवल आशीर्वाद दिया है; उसमें भगवान् की भक्ति नहीं है। भगवान् से भक्तों की रक्षा करने की प्रार्थना स्वयं कविगत भक्ति की परिचायक है। अतः यहाँ पर वीर रस अङ्गमात्र है। अङ्गीभाव ध्वनि ही है।

'निज', 'स्व', 'आत्म' इत्यादि शब्दों का अन्वय प्रधान क्रिया से ही होता है—यहाँ 'स्वेच्छा' शब्द प्रधान क्रिया से अन्वित न होकर 'केसरी' इस संज्ञा शब्द से अन्वित हुआ है। अतएव यहाँ पर अभवन्मतसम्बन्ध नामक दोष प्रतीत होने लगता है। किन्तु 'स्वेच्छा' शब्द के विशेष रूप से व्यञ्जक होने के कारण इस दोष का निराकरण हो जाता है। यद्यपि छाया शब्द का समास होने पर उसमें नपुंसक लिङ्ग हो जाता है तथापि यह नियम वहीं पर लागू होता है जहाँ पर छाया शब्द का अर्थ आतप का अभाव हो। अन्यत्र 'विभाषासेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' इस सूत्र से विकल्प होता है। यद्यपि यहाँ पर ह्रस्व होकर 'आयासित' के 'आ' से दीर्घ होने पर भी काम चल सकता है तथापि यह समाधान मानना ठीक नहीं। क्योंकि 'स्वच्छाया' इस अभिनवगुप्त की व्याख्या से उसकी सङ्गति नहीं बैठती। अभिनवगुप्त ने स्वच्छ शब्द को धर्मपरक (स्वच्छतावाचक) मानकर स्वच्छाया से उसका द्वन्द्वसमास माना है। किन्तु दीधितिकार के अनुसार 'स्वच्छ' शब्द धर्मिपरक भी माना जा सकता है और इस प्रकार वह स्वच्छाया का विशेषण हो जावेगा। यद्यपि अभिनवगुप्त की व्याख्या में धर्मिपरक को धर्मपरक मानने की कष्टकल्पना करनी पडती है तथापि द्वन्द्व मानने में निर्मलता गुण का प्रत्यायन विशेष रूप से हो जाता है। यह आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण है और व्याख्याताओं तथा

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

[अनु०] [काव्यतत्त्वेत्ता विद्वान् पहले से ही यह व्याख्या करते आये हैं कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है'। कतिपय विद्वानों ने उस ध्वनि का सर्वथा अभाव बतलाया हैं। दूसरे आचार्य कहते है कि वह ध्वनि लक्षणागम्य है। कुछ लोगो ने कहा है कि ध्वनि का तत्त्व कभी वाणी का विषय हो ही नहीं सकता। इस प्रकार के वैमत्य होने के कारण सहृदय मनस्तोष के उद्देश्य से हम उस ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते है।]

लोचनम्

अथ प्राधान्येनाभिधेयस्वरूपमभिदधदप्रधानतया प्रयोजनप्रयोजनं तत्सम्बद्धं प्रयोजनं च सामर्थ्यात् प्रकटयन्नादिवाक्यमाह—काव्यस्यात्मेति।

[अब प्रधानतया अभिधेय स्वरूप का अभिधान करते हुये अप्रधानतया प्रयो-जनप्रयोजन और उससे सम्बद्ध प्रयोजन को सामर्थ्य से प्रकट करते हुये आदि वाक्य को कह रहे है (व्याख्या कर रहे हैं)—काव्यस्यात्मा इत्यादि।]

तारावती

श्रोताओं को अभीष्टव्याख्याश्रवणफलप्राप्ति के लिये आशीर्वाद दिया गया है। इसमे आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार ग्रन्थकार का निरन्तर भजन-पूजन अभिव्यक्त होता है। यहाँ पर कुछ लोगो का बतलाया हुआ एकरोप मानना ठीक नहीं क्योकि एक तो वह अगतिकगति है, दूसरे उससे ग्रन्थकार की सतत परमात्म-भक्ति सिद्ध नहीं हो पाती। एक बात यह भी है कि यहाँ पर अभिधावृत्ति से आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण है और व्यञ्जनावृत्ति से इष्टदेवतानमस्कारात्मक मङ्गल भी कहा जा सकता है।]

अब प्रधानतया वक्तव्य वस्तु का स्वरूप बतलाते हुये अप्रधान रूप मे प्रयोजन के प्रयोजन और उससे सम्बन्धित प्रयोजन को अर्थसामर्थ्य से प्रकट करते हुये इस प्रथम सूत्र का कथन किया जा रहा है।

[ग्रन्थ का विषय है ध्वनि का स्वरूप। प्रयोजन है सहृदयों को ध्वनि के स्वरूप का ज्ञान करा देना। उस प्रयोजन का प्रयोजन है सहृदयों का मनस्तोष। 'हम ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं' इस वाक्य के अर्थ के द्वारा ग्रन्थ का विषय

तारावती

बतलाया गया है। 'सहृदयमनस्तोष के लिये' इस पद के अर्थ के द्वारा प्रयोजन का प्रयोजन बतलाया गया है। स्वरूपज्ञानरूप प्रयोजन का अर्थसामर्थ्य से आक्षेप कर लिया जाता है। इस प्रकार वाक्यार्थ होने के कारण विषय का उल्लेख प्रधान है। पदार्थगम्य होने के कारण प्रयोजनप्रयोजन प्रीति और आक्षेपगम्य होने के कारण प्रयोजन ज्ञान दोनों ही अप्रधान हैं। सहृदयजन इस निबन्ध के अधिकारी हैं और विद्वानों के विवेचन प्रस्तुत रचना से सम्बद्ध हैं। 'बुधैः' (विद्वानों के द्वारा) पद में बहुवचन के प्रयोग से व्यक्त होता है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन एक ने नहीं किन्तु अनेक विद्वानों ने किया है। अनेक विद्वान् जिस सिद्धान्त का निरन्तर प्रतिपादन करते आये हों उसका न तो प्रतिषेध ही सम्भव है और न उसकी उपेक्षा ही की जा सकती है। अतएव उसका निरूपण नितान्त आवश्यक है। यही प्रस्तुत रचना का अनुबन्धचतुष्टय है।

ध्वनिकार का व्यक्तित्व सर्वथा रहस्यमय है। श्रीडे तथा काणे महोदय इन्हें वृत्तिकार आनन्दवर्धन से पृथक् मानते हैं और डा० शङ्करन ने इन्हें आनन्दवर्धन से अभिन्न माना है। संस्कृत साहित्य जगत् में अपनी ही लिखी हुई पुस्तक पर स्वयं वृत्ति अथवा टीका लिखने की एक प्रवृत्ति रही है। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण पर विचार करने से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन ही ध्वनिकार नहीं हैं। आनन्दवर्धन ने पिछले समय से चली आती हुई ध्वनिसम्बन्धिनी कारिकाओं की व्याख्या मात्र की है। पहली बात तो यह है कि आनन्दवर्धन ने जो मङ्गलाचरण किया है उसपर कारिका की प्रथम संख्या नहीं डाली गई है। प्रथम संख्या उपक्रम के पद्य पर डाली गई है। दूसरी बात यह है कि अभिनवगुप्त मङ्गलाचरण लिखने वाले को स्पष्ट ही वृत्तिकार कहते हैं और इस प्रकार कारिकाकार से उनके पृथक्त्व की ओर सङ्केत करते हैं। 'सहृदयानां मनसि आनन्दो लभतां प्रतिष्ठाम्' इस सन्दर्भ की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने आनन्द का अर्थ आनन्दवर्धन किया है। यदि ध्वनिकार तथा आलोककार का व्यक्तित्व एक ही होता तो आनन्द का श्लेष व्याख्यात्मक गद्य में नहीं किन्तु मूलपद्य में लाया गया होता, क्योंकि ऐसी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ पद्य के ही अनुकूल हैं। इससे भी प्रकट होता है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन से भिन्न कोई दूसरे व्यक्ति हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि कारिकाकार उक्त पद्य में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' इस बात का एक ने नहीं किन्तु अनेक विद्वानों ने प्रतिपादन किया है। यहाँ पर ध्वनिकार ने आम्नात शब्द का प्रयोग किया है जो कि अभ्यासार्थक भौवादिक धातु 'म्ना' का निष्ठाप्रत्ययान्त रूप है और उसके पहले 'आ' उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। इस

तारावती

प्रकार इस शब्द का अर्थ होता है—'विद्वानों ने सभी दिशाओं में पर्याप्त विचार करने के बाद ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसके बाद ध्वनि की एक परम्परा सी चल दी जिसका अनुकरण अनेक परवर्ती आचार्यों ने किया और यह सिद्धान्त पर्याप्त मात्रा में परम्परागत रूप में अभ्यस्त हो गया था।' केवल इतने से ही ध्वनिकार को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने इस शब्द पर और अधिक बल देने के लिये 'सम्' उपसर्ग और जोड़ दिया जिसका अर्थ हो गया कि इस सिद्धान्त का मन्थन भी पर्याप्त मात्रा में हुआ था। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनिकार को किसी ऐसी परम्परा का ज्ञान था जिसमें ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना जाता था। दूसरी ओर आनन्दवर्धन ने लिखा है कि इसके पहले इस विषय में कोई पुस्तक नहीं लिखी गई और ध्वनिविरोधी सिद्धान्तों का सम्भावनामात्र से उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन उक्त परम्परा से अपरिचित थे। 'समाम्नातपूर्वः' में 'पूर्व' शब्द भी ध्यान देने योग्य है। 'पूर्व' शब्द से ज्ञात होता है कि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन पहले किया जाता रहा था, किन्तु ध्वनिकार के समय तक आते आते उस सिद्धान्त का प्रायः लोप हो चुका था। इस प्रकार इस प्रकरण की पर्यालोचना करने पर प्रकट होता है कि आनन्दवर्धन से भिन्न ध्वनिकार कोई दूसरे व्यक्ति हैं; इनकी कारिकायें आनन्द-वर्धन को हस्तगत हुई थीं। उन्हीं की व्याख्या आलोक में की गई।

'सहृदयमनःप्रीतये' में तथा अन्यत्र 'सहृदय' शब्द का प्रायिक प्रयोग देखकर कुछ लोगों ने कल्पना की है कि सम्भवतः ध्वनिकार का नाम सहृदय था। किन्तु 'सहृदय' शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ नहीं जान पड़ता; अपि तु काव्यरसिकों का यह विशेषण ही कहा जा सकता है।

जिस परम्परा द्वारा ध्वनिसम्प्रदाय प्राचीनकाल में समाम्नात किया गया था उसका साहित्यजगत् में अभी तक अनुसन्धान नहीं किया जा सका। आनन्दवर्धन ने आचार्यों द्वारा जिसके किञ्चित् स्पर्श की बात कही है उसका अनुसन्धान किया जा सकता है। आनन्दवर्धन से पहले आलोचनाजगत् में तीन सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुके थे—काव्य के क्षेत्र में अलंकार तथा रीतिसम्प्रदाय और नाट्य के क्षेत्र में रससम्प्रदाय।

अलंकारसम्प्रदाय का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ भामह का 'काव्यालङ्कार' है। इस ग्रन्थ के व्यवस्थित प्रतिपादन को देखते हुये कहा जा सकता है कि यह किसी पूर्व-वर्तिनी परम्परा पर आधारित है। भामह के मत से काव्यत्व के निमित्त अलङ्कार-

तारावती

प्रयोग मे एक प्रकार का उक्तिवैचित्र्य अपेक्षित होता है जिसका सम्पादन कवि-प्रतिभा से किया जाता हैं। भामह के मत में उक्तिवैचित्र्य ही काव्य का प्राण है और उक्तिवैचित्र्य का प्राण है वक्रोक्ति। भामह ने कहा है :—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

अर्थात् काव्य मे सर्वत्र वक्रोक्ति की सत्ता पाई जाती है; इस वक्रोक्ति के द्वारा अर्थ विभावित किया जाता है। कवि को वक्रोक्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि कोई भी अलङ्कार वक्रोक्ति के विना नहीं हो सकता। परवर्ती आचार्यों ने रुद्रट के अनुकरण पर पहेली-बुझौवल वाले एक विशेष प्रकार के अलङ्कार को ही वक्रोक्ति माना और आजके साहित्यशास्त्र मे रुद्रट की वक्रोक्ति ही मानी जाती है। किन्तु भामह की वक्रोक्ति इससे भिन्न है। वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुये भामह ने लिखा है :—

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।

अर्थात् अर्थ और शब्द की विलक्षणता ही भामह के मत मे वक्रोक्ति है। किसी बात को घुमा फिरा कर कहने से विलक्षणता आ जाती है जिसको भामह काव्य का जीवन मानते है। स्पष्ट ही है कि यहाँ पर भामह ध्वनि की सीमा तक पहुच गये हैं। भामह की यही वक्रोक्ति आगे चलकर कुन्तक के वक्रोक्तिसम्प्रदाय के प्रवर्तन मे कारण हुई और यही ध्वनिसम्प्रदाय की भी बीज कही जा सकती है।

अलङ्कार का निरूपण करने वाले दूसरे आचार्य है दण्डी। इन्होंने अपने 'काव्यदर्पण' मे अतिशयोक्ति को अलङ्कारों का मूल माना है। यह अतिशयोक्ति भी शब्दभेद से भामह की वक्रोक्ति ही है। आनन्दवर्धन ने 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः' मे 'सैषा' का अर्थ किया है 'यह वह अतिशयोक्ति' और 'वक्रोक्ति' का अर्थ किया है 'सामान्य अलङ्कार'। अतः भामह और दण्डी दोनो के ऐकमत्य की स्थापना की जा सकती है। इस प्रकार भामह के समान ही दण्डी मे भी ध्वनिसिद्धान्त का बीज अन्तर्निहित है।

अलङ्कारसम्प्रदाय के दूसरे महत्वपूर्ण आचार्य है उद्भट और रुद्रट। उद्भट ने भामह का ही अनुकरण किया है। रुद्रट इस सम्प्रदाय के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अन्तिम आचार्य है। इन्होंने विवेचन के साथ अलङ्कारों के वर्गीकरण का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन आचार्यों के विवेचन मे कतिपय अलङ्कार तो स्पष्ट ही व्यञ्जनामूलक हैं। दूसरे अलङ्कारों के मूल मे भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति विद्यमान रहती है। अतएव उनकी ध्वनिप्रवणता सिद्ध हो जाती है।

तारावती

रीति सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं वामन। इस सम्प्रदाय का प्रथम सङ्केत दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है। दण्डी ने काव्यत्व का प्रमुख साधन माना है मार्ग, जो कि रीति का ही दूसरा पर्याय है। परन्तु वामन की अपेक्षा दण्डी की मान्यता में यह अन्तर है कि वामन ने रीति को गुण पर आश्रित बतलाया है और अलङ्कार को रीति का अनित्य सम्बन्धी बतलाया है। इसके प्रतिकूल दण्डी ने गुण और अलङ्कार दोनो से रीति का समान सम्बन्ध स्वीकार किया है। अलङ्कारों को वामन काव्यत्व के निमित्त अनिवार्य साधन नहीं स्वीकार करते: पर उसको काव्य का शोभासम्बन्धी मात्र मानते हैं। वामन के मत मे प्रत्येक अर्थालङ्कार मे उपमा गर्भित रहती है। इसीलिए इन्होंने अर्थालङ्कार समूह को उपमाप्रपञ्च—इस सामान्य नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः रीतियों का व्यवस्थापन वर्ण्य विषय के अनुसार होता है और कोई विशिष्ट रीति वर्ण्य विषय को जितना अधिक प्रकट कर सकती है उतनी ही वह महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। जब तक पद सङ्घटना के द्वारा रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति न हो तब तक वह कभी काव्यत्व की प्रयोजिका नहीं हो सकती। इस प्रकार रीति सम्प्रदाय भी ध्वनि सम्प्रदायका स्पर्श अवश्य करता है। वामन का प्रत्येक अर्थालङ्कार में उपमा को सन्निहित मानना भी अलङ्कार—व्यञ्जना का परिचायक है।

रस सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है भरत मुनि का नाट्य शास्त्र। इसकी प्रधानता नाट्य मे ही मानी जाती है। इसीलिये कहीं-कहीं नाट्य रस शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। काव्य मे रस की सत्ता प्रारम्भ से ही मानी जाती रही थी। किन्तु आनन्द वर्धन से पहले काव्य में रस सर्वदा गौण स्थान का अधिकारी रहा था। भामह ने रसवत् इत्यादि अलङ्कारों मे रस भाव इत्यादि का समावेश करने की चेष्टा की। दण्डी, उद्भट, रुद्रट और वामन ने भी उन्हीं का पदानुसरण किया; किन्तु उत्तरोत्तर रस को महत्त्व प्राप्त होता गया। दण्डी ने 'रसभावनिरन्तरम्' कह कर काव्य मे रस की अपरिहार्यता की ओर कुछ-कुछ सङ्केत किया था। वामन ने दण्डी की अपेक्षा इसको अधिक महत्त्व प्रदान किया। उन्होंने इसका अन्तर्भाव कान्ति गुण मे कर 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' यह कान्ति गुण की परिभाषा की। इस प्रकार काव्य मे इसकी अपरिहार्यता और अधिक बढ़ गई। उद्भट ने रसका अधिक सूक्ष्म विवेचन किया। रसको अलङ्कारों की दासता से मुक्त करने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इन्होंने अलङ्कार, रीति, रस और ध्वनि सम्प्रदाय के सङ्गम स्थल पर खड़े होकर विरोधी सिद्धान्तों को मिलाने का स्तुत्य प्रयास किया। यदि विचार पूर्वक देखा जाये तो इसके मूल मे यह व्यञ्जना-वृत्ति सर्वाधिक रूप में

ध्वन्यालोकः

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आ समन्तात् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति।

[(अनु०) बुध शब्द का अर्थ है काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान्। (क्योंकि काव्य शास्त्र में उन्हीं की सम्मति महत्त्वपूर्ण हो सकती है।) इन विद्वानों के द्वारा ध्वनि इस संज्ञावाली जो काव्य की आत्मा परम्परा से पहले ही समाम्नात की गई थी अर्थात् (सम् सम्यक्) भली प्रकार (आ-समन्तात्) चारों ओर से सभी दिशाओं में विचार करके प्रकट की गई थी, वह ध्वनि यद्यपि सहृदय जनों के मनमें प्रकाशमान हो रही है फिर भी दूसरे लोगों ने (असहृदय व्यक्तियों ने) उसका अभाव बतलाया था। उसका अभाव बतलानेवालों के ये (अग्रिम प्रकरण में वर्णन किये हुये) विकल्प सम्भव हो सकते हैं।]

लोचनम्

काव्यात्मशब्दसन्निधानाद्बुधशब्दोऽत्र काव्यात्मावबोधनिमित्तक इत्यभिप्रायेण विवृणोति-काव्यतत्त्वविद्भिरिति। आत्मशब्दस्य तत्त्वशब्देनार्थं विवृण्वानः सारत्वमपरशब्द-

काव्यात्म शब्द के सन्निकट होने से बुध शब्द यहाँ पर काव्यावबोध निमित्तक है (अर्थात् बुध शब्द से यहाँ पर काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् ही अभिप्रेत है) इस अभिप्राय से विवरण दे रहे हैं (व्याख्या कर रहे हैं) बुध अर्थात् काव्य-तत्त्व वेत्ता विद्वानों के द्वारा। आत्मशब्द के अर्थ को तत्त्व शब्द के द्वारा

तारावती

विद्यमान है। भरत ने प्रारम्भ में ही रसनिष्पत्ति शब्दका प्रयोग किया था जिस का आशय यह है कि रस वाच्य नहीं होते किन्तु विभावादि विभिन्न उपकरणों के द्वारा उनकी निष्पत्ति होती है। इस प्रकार अलङ्कार, रीति तथा रस तीनों पूर्ववर्ती सम्प्रदायों ने ध्वनि सम्प्रदाय की सीमा का स्पर्श अवश्य किया था यद्यपि सिद्धान्त के रूप में ध्वनि सम्प्रदाय का प्रारम्भ नहीं हुआ था।

प्रस्तुत कारिका पर विचार करने से अवगत होता है कि ध्वनिकार के समय में ध्वनि सिद्धान्त विद्वन्मण्डली में चर्चा का विषय बना हुआ था और जिस प्रकार पिछले दिनों में छायावाद को नवीन सिद्धान्त मानकर प्रायः उसका प्रतिवाद ही किया जाता था तथा उसकी हँसी उड़ाई जाती थी उसी प्रकार ध्वनि सिद्धान्त को भी विरोधियों के विरोध का पर्याप्त सामना करना पड़ा था। ध्वनि विरोध का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उस समय के लक्षण-ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में इस सिद्धान्त को जानबूझ कर सन्निविष्ट नहीं किया; मानों यह

लोचनम्

चलक्षण्यकारित्वं च दर्शयति इति शब्दः। स्वरूपपरत्वं ध्वनिशब्दस्याचष्टे, तदर्थस्य विवादास्पदीभूततया निश्चयाभावेनार्थत्वायोगात्। एतद्विवृणोति-संज्ञित इति। वस्तुतस्तु

प्रकट करते हुये सारवत्ता तथा दूसरे शब्दप्रतिपाद्य शास्त्रों से विलक्षण-कारिता दिखला रहे है। 'इति' शब्द ध्वनि शब्द की स्वरूपपरता को बतला रहा है। क्योकि उसका अर्थ विवादास्पद होने से निश्चय न हो सकने के कारण यहाँ पर (ध्वनि की) अर्थवत्ता का योग नहीं हो सकता। इसी का विवरण दे रहे है—'संज्ञितः' यह शब्द। वास्तव में वह

तारावती

सिद्धान्त इस योग्य था ही नही कि उन आचार्यों के ग्रन्थों मे स्थान पा सकता। ध्वनिकार ने विरोधियो के समस्त प्रतिवादो की मीमासा कर ध्वनि विरोध को तीन श्रेणियो मे विभक्त किया-एक तो वे लोग है जो ध्वनि की सत्ता ही स्वीकार करना नहीं चाहते। दूसरे वे लोग है जो ध्वनि को लक्षणा के अन्दर सन्निविष्ट करत है और तीसरे वे लोग है जो ध्वनि की सत्ता स्वीकार तो करते है किन्तु उसका लक्षण बना सकना असम्भव बतलाते है। ध्वनिकार ने अभाववाद और अशक्यवक्तव्यवाद के लिये परोक्ष भूत का प्रयोग किया है और लक्षणा वाद के लिय वर्तमान काल का। इसका आशय यह है कि अभाववादी तथा अशक्यवक्तव्यवादी ध्वनिकार के समय मे अतीत की कथा बन गये थे। ध्वनिकार ने उनके विषय में केवल सुना था; ऐसे लोगों का प्रत्यक्ष नहीं किया था। लक्षणा मे ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले लोग ध्वनिकार के समय में ही विद्यमान थे।

प्रस्तुत सूत्र मे बुध शब्द के साथ काव्यात्म शब्द का उपादान किया गया है। इस काव्यात्म शब्दका निकटता के कारण बुध शब्द का प्रयोग भी काव्यात्मा को जानने वाले विद्वानों के लिये ही हुआ है। इसी अभिप्राय से मूल में 'बुध' का अर्थ किया गया है काव्यतत्त्ववेत्ता। यहाँ पर 'काव्यात्मा' शब्द के 'आत्मा' शब्द का अर्थ किया गया है 'तत्त्व'। तत्त्व शब्द का अर्थ है जिसका स्वरूप कभी बाधित न हो। इस प्रकार ध्वनि की साररूपता तथा दूसरे शब्दों से उसकी विल-क्षणता व्यक्त की गई है। [आशय यह है कि यहाँ पर ध्वनि को 'काव्यात्मा' कहा है। आत्मा का अर्थ है 'आत्मा के समान'। यहाँ पर ध्वनि और आत्मा मे साधर्म्य यही है कि जिस प्रकार आत्मा के स्वरूप का बाध नहीं होता उसी प्रकार ध्वनि के स्वरूप का भी बाध नही हो सकता। अतएव जिस प्रकार प्राणिजगत् मे आत्मा सारभूत पदार्थ है और उसकी विशेषता शब्द से व्यक्त नही की जा सकती उसी प्रकार काव्य में ध्वनि सारभूत पदार्थ है और उसकी विशेषता शब्देतर संवेद्य नहीं हो सकती।]

लोचनम्

न तत्सञ्ज्ञामात्रेणोक्तम्, अपि त्वस्त्येव ध्वनिशब्दवाच्यं प्रत्युत सारभूतम्। नह्यन्यथा बुधास्तादृशमामनेयुरित्यभिप्रायेण विवृणोति-सहृदयेत्यादिना। एवं तु युक्ततरम्। इतिशब्दो

संज्ञामात्र से ही नहीं कहा गया है; अपितु ध्वनिशब्दका वाच्य है ही प्रत्युत वह सबका सारभूत है। अन्यथा बुध लोग वैसी वस्तु को आम्नात नही करते-इस अभिप्राय से विवरण दे रहे है–'तस्य सहृदय' इत्यादि के द्वारा। यह तो अधिक उचित है—'इति'

तारावती

अभियुक्तों ने कहा है कि 'इतिलोकेऽर्थपदार्थकस्य शब्दपदार्थकत्वकृत्' अर्थात् सामान्य तथा किसी वाक्य के अन्दर आने वाले शब्दो का अर्थ अभिप्रेत होता है; किन्तु जिन शब्दों के बाद 'इति' शब्द जोड़ दिया जाता है उन शब्दों का अर्थ नहीं लिया जाता अपितु शब्दपरता ही उनमे अभिप्रेत होती है। यहाँ पर 'ध्वनि-रिति' शब्द मे ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग किया गया है जो कि ध्वनि शब्द की स्वरूपपरता को बतलाता है आशय यह है कि ध्वनि का अर्थ विवादास्पद है अतएव निश्चय न होने के कारण अर्थ का उपादान नहीं हो सकता। अतएव स्वरूपपरता को व्यक्त करने के लिये इति शब्द लिखा गया है। इसी अभिप्राय से आलोक मे 'ध्वनिरिति संज्ञितः' यह अर्थ किया गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ पर ध्वनि शब्द का प्रयोग केवल संज्ञा के लिए ही नहीं किया गया है किन्तु उसका वाच्यार्थ भी अभिप्रेत है क्योकि ध्वनि शब्द का वाच्यार्थ विद्यमान है ही और इतना ही नहीं अपितु वही तत्त्व समस्त वाङ्मय का सार है। नहीं तो विद्वान् लोग उस प्रकार के (सारहीन) तत्त्व को प्रकाशित करते ही नहीं। इसीलिये मूलकार ने ध्वनि का विशेषण दिया 'सहृदय व्यक्तियों मे प्रकाशमान'। [यहाँ पर लोचनकार ने आलोक की व्याख्या मे दो परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तो की स्थापना की है—(१) 'ध्वनिरिति' मे इति के कारण ध्वनि शब्द स्वरूपपरक है और ध्वनि शब्द विवाद का विषय है; क्योंकि अनिश्चय के कारण अर्थपरता सम्भव नहीं। (२) ध्वनि शब्द का वाच्यार्थ ही विवाद का विषय है क्योंकि वह न केवल निश्चित है अपितु समस्त वाङ्मय का सारभूत है। इस विरोध के निराकरण के लिये लोचनकार ने ग्रन्थ की सङ्गति इस प्रकार बिठाई है।] इति शब्द का क्रम बदल कर अन्वय इस प्रकार कर लिया जाना चाहिये कि वह शब्द वाक्यार्थ का द्योतक हो जावे—'ध्वनिलक्षण अर्थ जो कि काव्य की आत्मा के रूप मे माना गया है।' इस प्रकार की वाक्यरचना से उसमे अर्थपरता आ जावेगी और विरोध जाता रहेगा। यदि उसकी शब्दपरता स्वीकार की जावेगी तो अर्थ हो जावेगा

लोचनम्

भिन्नक्रमो वाक्यार्थपरामर्शकः, ध्वनिलक्षणोऽर्थः काव्यस्यात्मेति यः समाम्नात इति। शब्दपदार्थकत्वे हि ध्वनिसंज्ञितोऽर्थ इति का सङ्गतिः।, एवं हि ध्वनिशब्दः काव्यस्यात्मेत्युक्तं भवेत्, गवित्ययमाहेति यथा। न च विप्रतिपत्तिस्थानमसदेव,—प्रत्युत सत्येव धर्मिणि धर्ममात्रकृता विप्रतिपत्तिरित्यलमप्रस्तुतेन भूयसा सहृदयजनोद्वेजनेन। बुधस्यै-

शब्द भिन्नक्रम वाला (होकर) वाक्यार्थ का परामर्शक हो जाता है। ध्वनि लक्षणवाला अर्थ काव्य की आत्मा (होता है।) 'यह' जो कहा गया है यह (अर्थ इस वाक्य का हो जाता है।) निस्सन्देह यदि पदार्थ शब्द माना जावेगा (अर्थात् यदि 'ध्वनिरिति' का अर्थ ध्वनि शब्द किया जावेगा) तो ध्वनि संज्ञावाला अर्थ यह कहने पर (ग्रन्थ की) सङ्गति ही क्या होगी ? इस प्रकार निस्सन्देह ध्वनि शब्द काव्य की आत्मा होता है यह कहा हुआ हो जावेगा जैसे 'गवित्ययमाह' मे होता है। विप्रतिपत्ति का स्थान केवल असत्य ही नहीं होता अपितु धर्मी के होने पर ही धर्म मात्र के लिये उत्पन्न हुई विप्रतिपत्ति ही होती है—इस प्रकार के सहृदयजनों को उद्विग्न करने वाले बहुत अधिक अप्रस्तुत (विस्तार) की आवश्यकता नहीं है।

तारावती

'ध्वनि सज्ञा' इस अर्थ के मानने पर ग्रन्थ की सङ्गति ही क्या होगी ? इस प्रकार तो 'ध्वनि शब्द काव्य की आत्मा है यह अर्थ हो जावेगा जैसे अनुकरण में 'गवित्ययमाह' मे 'गो शब्द का यह अर्थ हो जाता है। यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि यदि ध्वनि के वाच्यार्थ की सत्ता स्वीकार कर ली जावे तो विप्रतिपत्ति ही किस बात की होगी ? इसका उत्तर यह है कि विप्रतिपत्ति केवल उसी विषय मे नहीं होती जिसकी सत्ता विद्यमान नही; अपितु धर्मी के होने पर भी धर्म मात्र मे भी विप्रतिपत्ति हो जाती है। इतना पर्याप्त है। अधिक अप्रासङ्गिक कथन के द्वारा सहृदयों को उद्विग्न करना ठीक नहीं। [यहाँ पर लोचनकार ने निष्कर्ष यही निकाला है कि यहाँ 'इति' शब्द का क्रम बदल कर ध्वनि शब्द की अर्थपरता ही अभिप्रेत होती है। ध्वनि तत्त्व विद्यमान है ही फिर उसमे विप्रतिपत्ति कैसी ? इस प्रश्न का उत्तर लोचनकार ने यह दिया है कि असत् वस्तु के विषय मे ही विप्रतिपत्ति नहीं होती सत् वस्तु मे भी धर्म मात्र मे विप्रतिपत्ति हो सकती है। जैसे शब्द की सत्ता मे ही उसके नित्यत्व-अनित्यत्व के विषय मे विप्रतिपत्ति होती है। प्रस्तुत प्रकरण में भी ध्वनितत्त्व के विद्यमान होने पर ही विप्रतिपत्ति होती है कि उसको गुण अलङ्कार इत्यादि मे सन्निविष्ट किया जावे या उसकी पृथक् सत्ता ही स्वीकार कर उसे काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार किया जावे। यह है लोचन का सार। किन्तु वास्तविकता यह है कि ध्वनि

लोचनम्

कस्य तथाभिधान स्यात्, नतु भूयसां तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे-परम्परयेति। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः। न च बुधाः भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः। एतत्त्वादरेणो-

किसी एक बुध (विद्वान्) का उस प्रकार का कथन प्रामादिक भी हो सकता है; किन्तु बहुतो की वह बात (प्रामादिक मानना) उचित नहीं है। इसीलिये बुधैः में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। वही व्याख्या कर रहे हैं। परम्परा के द्वारा इत्यादि। अभिप्राय यह है कि उन्होंने विशिष्ट पुस्तक मे विनाही सन्निवेश किये हुये अविच्छिन्न प्रवाहके द्वारा यह बात कही है। बहुत से बुध अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश नहीं करते; इसका उपदेश आदर के साथ दिया गया

तारावती

की शब्दपरता भी यहाँ पर असङ्गत नहीं है। भारतीय साहित्य शास्त्र मे काव्य के लिये उपादेय उपकरणों पर कभी विवाद नहीं किया गया; विवाद केवल नामकरण का रहा है। काव्य मे वाच्यार्थ-व्यतिरिक्त अर्थ भी अभिप्रेत होता है इसमे किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। विवाद का विषय केवल यही है कि वाच्यार्थ व्यतिरिक्त गम्यमान अर्थ को ध्वनि संज्ञा प्रदान की जानी चाहिये या उसका अन्तर्भाव कहीं अन्यत्र कर दिया जाना चाहिये। इसीलिये ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग कर उसकी स्वरूपपरता प्रतिपादित की गई है।

सम्भवतः लोचन की इस व्याख्या को देख कर ही महिमभट्ट ने प्रस्तुत वाक्य-रचना पर आक्षेप किया है तथा लिखा है कि—यहाँ पर प्रक्रम-भेद नामक दोष है। इनके मत मे 'इति' शब्द का प्रयोग 'काव्यस्यात्मेति' इस प्रकार होना चाहिए। क्योंकि दूसरे चरण मे जो 'तस्य' का प्रयोग किया गया है और जो अभाववाद, भाक्तत्ववाद और अशक्यवक्तव्यत्ववाद की स्थापना की गई है उसका ध्वनि से ही सम्बन्ध होना चाहिए। ध्वनि के ही अभाव इत्यादि की स्थापना करनी है। किन्तु ध्वनि के बाद इति शब्द का प्रयोग कर दिया गया है जिससे उसके पदार्थत्व का विपर्यास हो जाता है; दूसरा ध्वनि शब्द यहाँ पर है नही। इससे 'तस्य' का ठीक अन्वय बन ही नहीं पाता। किन्तु इस आक्षेप का उत्तर अभिनवगुप्त की व्याख्या में पहले से ही विद्यमान था अतः इस पर विशेष विचार अनपेक्षित है।

बुध शब्द मे बहुवचन से व्यक्त होता है कि अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यदि केवल किसी एक विद्वान् ने ही प्रतिपादन किया होता तो उसका प्रामादिक हो सकना भी सम्भव हो सकता था। किन्तु बहुतो का प्रामादिक हो सकना सङ्गत नहीं कहा जा सकता। परम्परा शब्द से व्यक्त होता

लोचनम्

पदिष्टम्। तदाह–सम्यगाम्नातपूर्व इति। पूर्वग्रहणेनेयं प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च–सम्यगासमन्ताद् म्नातः प्रकटित इत्यनेन। तस्येति। यस्याधिगमाय प्रत्युत प्रयतनीयं का तत्राभावसम्भावना। अतः किं कुर्मः, अपारं मौर्ख्यमभाववादिनामिति-भावः। न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुताः किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते; अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुपपन्नत्वादेव। तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्, बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्या-

है। वही बात कह रहे हैं समाम्नातपूर्व यह। पूर्वशब्द के उपादान से यह कहा है कि यही पहले है इसकी सम्भावना यहाँ पर नहीं की जाती। व्याख्या भी 'सम्यक् आसमन्तात् म्नातः प्रकटितः' इन शब्दों के द्वारा की है। 'तस्य जगदुः''—जिस की प्राप्ति के लिये प्रत्युत प्रयत्न करना चाहिये वहाँ अभाव की सम्भावना भी क्या हो सकती है? इसलिये हम क्या करें। आशय यह है कि अभाववादियों की मूर्खता अपार है।

हमलोगों के द्वारा अभाव वादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके उनमें दोष दिखलाये जावेंगे। इसीलिये परोक्षत्व (का प्रयोग किया गया है।) भविष्य की वस्तु में दोष दिखलाना उचित है नहीं क्योंकि वह अभी उप-पन्न ही नहीं हुई। यदि कहो कि वह बुद्धि में आरोपित कर दूषित की जा रही है तो बुद्धि में आरोपित होने के कारण ही उसमें भविष्यत्व की हानि हो जाती है।

तारावती

है कि यद्यपि किसी विशिष्ट पुस्तक में इस सिद्धान्त का समावेश नहीं किया गया फिर भी विद्वान् लोग निरन्तर इसका प्रतिपादन करते आये हैं और उनका प्रवाह अविच्छिन्न बना रहा। बहुत से विद्वान् अनादरणीय वस्तु का आदर से उपदेश कभी नहीं करते इसका तो आदर से उपदेश किया गया है। यही बात 'समाम्नात-पूर्वः' शब्द से व्यक्त होती है। 'पूर्व' शब्द के उपादान का आशय यही है कि यह सिद्धान्त इसी समय पहलीवार नहीं लिखा जा रहा है। इसीलिये आलोक में व्याख्या की गई है–ठीक रूप में चारों ओर से यह सिद्धान्त प्रकट किया गया है। 'तस्य' (उसका) का आशय यह है कि जिसके प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये उसका भी लोग अभाव बतलाते हैं। उसके अभाव की सम्भावना ही क्या हो सकती है। तस्य, शब्द इस प्रकार की कण्ठध्वनि से उच्चरित हुआ है कि उससे व्यक्त होता है कि लेखक (ध्वनिकार) को महान् आश्चर्य है कि लोग उसका भी अभाव बतलाते है। 'उसका' पर जोर देने से व्यक्त होता है कि 'हम क्या करें; अभाववादियों की बहुत बडी मूर्खता है।'

लोचनम्

कस्य तथाभिधान स्यात्, नतु भूयसां तद्युक्तम्। तेन बुधैरिति बहुवचनम्। तदेव व्याचष्टे-परम्परयेति। अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तं विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्रायः। न च बुधाः भूयांसोऽनादरणीयं वस्त्वादरेणोपदिशेयुः। एतत्त्वादरेणो-

किसी एक बुध (विद्वान्) का उस प्रकार का कथन प्रामादिक भी हो सकता है; किन्तु बहुतो की वह बात (प्रामादिक मानना) उचित नहीं है। इसीलिये बुधैः में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। वही व्याख्या कर रहे हैं। परम्परा के द्वारा इत्यादि। अभिप्राय यह है कि उन्होंने विशिष्ट पुस्तक में बिनाही सन्निवेश किये हुये अविच्छिन्न प्रवाहके द्वारा यह बात कही है। बहुत से बुध अनादरणीय वस्तु का आदर के साथ उपदेश नहीं करते; इसका उपदेश आदर के साथ दिया गया

तारावती

की शब्दपरता भी यहाँ पर असङ्गत नहीं है। भारतीय साहित्य शास्त्र में काव्य के लिये उपादेय उपकरणों पर कभी विवाद नहीं किया गया; विवाद केवल नामकरण का रहा है। काव्य मे वाच्यार्थ-व्यतिरिक्त अर्थ भी अभिप्रेत होता है इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। विवाद का विषय केवल यही है कि वाच्यार्थ व्यतिरिक्त गम्यमान अर्थ को ध्वनि संज्ञा प्रदान की जानी चाहिये या उसका अन्तर्भाव कहीं अन्यत्र कर दिया जाना चाहिये। इसीलिये ध्वनि शब्द के बाद इति शब्द का प्रयोग कर उसकी स्वरूपपरता प्रतिपादित की गई है।

सम्भवतः लोचन की इस व्याख्या को देख कर ही महिमभट्ट ने प्रस्तुत वाक्य-रचना पर आक्षेप किया है तथा लिखा है कि—यहाँ पर प्रक्रम-भेद नामक दोष है। इनके मत मे 'इति' शब्द का प्रयोग 'काव्यस्यात्मेति' इस प्रकार होना चाहिए। क्योकि दूसरे चरण मे जो 'तस्य' का प्रयोग किया गया है और जो अभाववाद, भाक्तत्ववाद और अशक्यवक्तव्यत्ववाद की स्थापना की गई है उसका ध्वनि से ही सम्बन्ध होना चाहिए। ध्वनि के ही अभाव इत्यादि की स्थापना करनी है। किन्तु ध्वनि के बाद इति शब्द का प्रयोग कर दिया गया है जिससे उसके पदार्थत्व का विपर्यास हो जाता है; दूसरा ध्वनि शब्द यहाँ पर है नहीं। इससे 'तस्य' का ठीक अन्वय बन ही नहीं पाता। किन्तु इस आक्षेप का उत्तर अभिनवगुप्त की व्याख्या मे पहले से ही विद्यमान था अतः इस पर विशेष विचार अनपेक्षित है।

बुध शब्द में बहुवचन से व्यक्त होता है कि अनेक विद्वानों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यदि केवल किसी एक विद्वान् ने ही प्रतिपादन किया होता तो उसका प्रामादिक हो सकना भी सम्भव हो सकता था। किन्तु बहुतों का प्रामादिक हो सकना सङ्गत नहीं कहा जा सकता। परम्परा शब्द से व्यक्त होता

लोचनम्

पदिष्टम्। तदाह—सम्यगाम्नातपूर्व इति। पूर्वग्रहणेनेयं प्रथमता नात्र सम्भाव्यत इत्याह, व्याचष्टे च—सम्यगासमन्ताद् म्नातः प्रकटित इत्यनेन। तस्येति। यस्याधिगमाय प्रत्युत प्रयतनीयं का तत्राभावसम्भावना। अतः किं कुर्मः, अपारं मौर्ख्यमभाववादिनामिति-भावः। न चास्माभिरभाववादिनां विकल्पाः श्रुता किन्तु सम्भाव्य दूषयिष्यन्ते, अतः परोक्षत्वम्। न च भविष्यद्वस्तु दूषयितुं युक्तम्, अनुपपन्नत्वादेव। तदपि बुद्ध्यारोपितं दूष्यत इति चेत्, बुद्ध्यारोपितत्वादेव भविष्यत्त्वहानिः। अतो भूतकालोन्मेषात् पारोक्ष्या-

है। वही बात कह रहे हैं समाम्नातपूर्व यह। पूर्वशब्द के उपादान से यह कहा है कि यही पहले है इसकी सम्भावना यहाँ पर नहीं की जाती। व्याख्या भी 'सम्यक् आसमन्तात् म्नातः प्रकटितः' इन शब्दों के द्वारा की है। 'तस्य जगदुः"—जिस की प्राप्ति के लिये प्रत्युत प्रयत्न करना चाहिये वहाँ अभाव की सम्भावना भी क्या हो सकती है? इसलिये हम क्या करें। आशय यह है कि अभाववादियों की मूर्खता अपार है।

हमलोगों के द्वारा अभाव वादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके उनमें दोष दिखलाये जावेंगे। इसीलिये परोक्षत्व (का प्रयोग किया गया है।) भविष्य की वस्तु मे दोष दिखलाना उचित है नहीं क्योंकि वह अभी उपपन्न ही नहीं हुई। यदि कहो कि वह बुद्धि मे आरोपित कर दूषित की जा रही है तो बुद्धि मे आरोपित होने के कारण ही उसमे भविष्यत्व की हानि हो जाती है।

तारावती

है कि यद्यपि किसी विशिष्ट पुस्तक मे इस सिद्धान्त का समावेश नहीं किया गया फिर भी विद्वान् लोग निरन्तर इसका प्रतिपादन करते आये है और उनका प्रवाह अविच्छिन्न बना रहा। बहुत से विद्वान् अनादरणीय वस्तु का आदर से उपदेश कभी नहीं करते इसका तो आदर से उपदेश किया गया है। यही बात 'समाम्नात-पूर्वः' शब्द से व्यक्त होती है। 'पूर्व' शब्द के उपादान का आशय यही है कि यह सिद्धान्त इसी समय पहलीबार नहीं लिखा जा रहा है। इसीलिये आलोक मे व्याख्या की गई है—ठीक रूप मे चारों ओर से यह सिद्धान्त प्रकट किया गया है। 'तस्य' (उसका) का आशय यह है कि जिसके प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये उसका भी लोग अभाव बतलाते हैं। उसके अभाव की सम्भावना ही क्या हो सकती है। तस्य, शब्द इस प्रकार की कण्ठध्वनि से उच्चरित हुआ है कि उससे व्यक्त होता है कि लेखक (ध्वनिकार) को महान् आश्चर्य है कि लोग उसका भी अभाव बतलाते हैं। 'उसका' पर जोर देने से व्यक्त होता है कि 'हम क्या करें; अभाववादियों की बहुत बडी मूर्खता है।'

लोचनम्

द्विशिष्टाद्यतनत्वप्रतिभानाभावाच्च लिटा प्रयोगः कृतः जगदुरिति। तद्व्याख्यानायैव संभाव्यदूषणं प्रकटयिष्यति। सम्भावनापि नेयमसम्भवतो युक्ता, अपितु सम्भवत एव। अन्यथा सम्भावनानामपर्यवसाने स्याद् दूषणानां च। अतः सम्भावनामभिधास्यमाणां समर्थयितुं पूर्वं सम्भवन्तीत्याह। सम्भाव्यन्त इति तूच्यमाने पुनरुक्तार्थमेव स्यात्। न च सम्भवस्यापि सम्भावना, अपितु वर्तमानतैव स्फुटेति वर्तमानेनैव निर्देशः। ननु च सम्भवद्वस्तुमूलया सम्भावनया यत्संभावितं तद् दूषयितुमशक्यमित्याह-विकल्पा इति। न तु वस्तु सम्भवति तादृक् इति इयं सम्भावना, अपितु विकल्पा एव। ते च तत्त्वाववोधवन्ध्यतया

इसलिये भूतकाल के उन्मेष से, परोक्ष होने से, और विशिष्टरूपसे अद्यतनत्व का प्रतिभास न होने से लिट् (लकार) के द्वारा प्रयोग किया गया है—'जगदुः' यह। उस (लिट् लकार) की व्याख्या करने के लिये ही सम्भावना करके दोषों को प्रकट करेंगे। असम्भव की यह सम्भावना भी उचित नहीं है। अपितु सम्भव की ही (सम्भावना उचित है)। अन्यथा सम्भावनाओं और दूषणों का पर्यवसान कभी हो ही नसके। इसलिये जिस सम्भावना को आगे चलकर कहेंगे उसका समर्थन करने के लिये पहले ही 'सम्भवन्ति' यह कहा है। यदि सम्भाव्यन्ते 'सम्भावनाकी जाती है' यह कहा गया होता तो पुनरुक्तार्थ ही हो जाता। सम्भव की भी सम्भावना हो सकती है ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु उसका वर्तमान होना ही स्फुट है अतः वर्तमान के द्वारा ही निर्देश किया गया है। सम्भव वस्तु मूलक सम्भावना के द्वारा जो वस्तु सम्भावित की गई हो उसको दूषित करना अशक्य है यह आशङ्का करके उत्तर दे रहे हैं—विकल्पा' इति। वस्तु तो उस प्रकार की सम्भव ही नहीं है जिससे यह सम्भावना की गई है अपितु (ये) विकल्प ही है।

तारावती

'जगदुः' क्रिया में अनद्यतन परोक्षभूत का प्रयोग किया गया है। इस क्रिया में परोक्ष भूत का अर्थ यह है कि अभाववादियों के विकल्प सुने नहीं गये हैं किन्तु सम्भावना करके ही उनका खण्डन किया जावेगा। भूतकाल के प्रयोग का आशय यह है कि भविष्य वस्तु का खण्डन किया ही नहीं जा सकता। पहले वस्तु को हृदय में स्थापित कर लिया जाता है फिर उस पर विचार किया जाता है। हृदय में स्थापित कर लेने से भूतकाल आ गया और अद्यतन का प्रतिभास होता नहीं है। इसीलिये भूतानद्यतन परोक्ष का प्रयोग किया गया है। आशय यह है कि उस ध्वनि की व्याख्या करने के लिये ही पक्षों की सम्भावना कर उनका खण्डन किया जावेगा। [वस्तुतः परोक्ष भूत का प्रयोग केवल सम्भावना का ही द्योतक नहीं किन्तु किसी पुरानी परम्परा की ओर भी इङ्गित करता है जिसका ज्ञान ध्वनि-

लोचनम्

स्फुरेयुरपि । अतएव आचक्षीरन् इत्यादयोऽत्र सम्भावनाविषयाः लिङ् प्रयोगाः अतीत-परमार्थे पर्यवस्यन्ति ।

और वे तत्त्वज्ञान में वन्ध्य (कुण्ठित) होने के कारण स्फुरित भी हो सकें इसीलिये 'आचक्षीरन्' इत्यादि सम्भावना विषयक लिङ्लकार के प्रयोग अतीत के तात्पर्यार्थ में पर्यवसित होते हैं (आशय यह है कि जिन अभाव पक्षों की कल्पना की गई है वे केवल सम्भावित पक्ष ही हैं सम्भव नहीं हैं: जिनकी बुद्धि तत्त्व ज्ञान में कुण्ठित है उन्हीं के मस्तिष्क में वे स्फुरित हो सकते हैं। इसी बात को प्रकट करने के लिये आचक्षीरन् इत्यादि शब्दों में लिङ्लकार का प्रयोग किया गया है जिसका तात्पर्यार्थ होता है भूतकाल ।) जैसे—

तारावती

कार को था; आनन्द वर्धन तथा अभिनव गुप्तको नही था ।] 'सम्भवन्ति' इस क्रिया के प्रयोग का आशय यह है कि असम्भव का सम्भावना नहीं की जा सकती; अन्यथा न तो सम्भावनाओं का ही अन्त आ सकता है और न दोषों की परिसमाप्ति ही हो सकती है । इसीलिये जिन सम्भावित पक्षों का अग्रिम पृष्ठों में निरूपण किया जायेगा उनके लिये पहले ही 'सम्भवन्ति' इस क्रिया का निर्देश किया गया है । यद्यपि यहाँ पर 'सम्भाव्यन्ते' इस कर्मवाच्य क्रिया का भी प्रयोग किया जा सकता था किन्तु अगले प्रकरण में 'आचक्षीरन्' इत्यादि क्रियाओं में लिङ्लकार का प्रयोग किया जायेगा । उस लिङ्लकार से कर्मवाच्य क्रिया की पुनरुक्ति ही होती । इसीलिये कर्तृवाच्य का प्रयोग किया गया है कर्मवाच्य का नहीं । 'सम्भवन्ति' में वर्तमान काल के प्रयोग का आशय यह है कि जो वस्तु सम्भव है वह केवल सम्भावना का ही विषय नहीं होती किन्तु वर्तमानता तो उसमें रहती ही है ।

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि सम्भावना के मूल में सम्भव वस्तु हो तो उसका प्रतिषेध किस प्रकार किया जा सकेगा । इसी प्रश्न का उत्तर देने के मन्तव्य से आलोककार ने विकल्प शब्द का प्रयोग किया है । इस शब्द का अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु की सम्भावना की गई है वह सर्वथा सम्भव नहीं है । क्योंकि है तो यह सम्भावना ही । फिर इसके लिये 'सम्भवन्ति' इस क्रिया का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि तत्त्व ज्ञान की दिशा में जिनकी बुद्धि कुण्ठित रहती है उनके मस्तिष्क में ये पक्ष स्फुटित हो सकते हैं। इसीलिये 'आचक्षीरन्' इत्यादि क्रियाओं में लिङ् का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ सम्भावना होता है और जिसका पर्यवसान 'अतीत' रूप तात्पर्यार्थ में होता है । [जिस प्रकार 'जगदुः' में बुद्ध युपारूढ होने के कारण भूतकाल का प्रयोग किया गया है उसी प्रकार

लोचनम्

यद्विनामास्य कायस्य यदन्तस्तद्बहिर्भवेत् ।
दण्डमादाय लोकोऽयं शुनः काकांश्च वारयेत् ॥

इत्यत्र । यद्येवं कायस्य दृष्टता स्यात्तदैवमवलोक्येतेतिभूतप्राणतैव । यदि न स्यात्ततः किं स्यादित्यत्रापि, किं वृत्तं यदि पूर्ववन्नभवनस्य सम्भावनेत्यलमप्रकृतेन

'शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर होवे तो यह संसार दण्ड लेकर कुत्तो कौओं से इस को बचाता फिरे ।'

यहाँ पर । 'यदि शरीर का इस प्रकार देखा जाना होवे तो इस प्रकार का दिखलाई पड़े' इस वाक्य के अर्थ का प्राण भूत काल ही है । 'यदि न हो तो क्या हो' यहाँ पर भी । (इसका अर्थ यही है कि) क्या हुआ यदि पहले के समान होने की सम्भावना नहीं हुई' इस प्रकार के अप्रासङ्गिक बहुत कहने की

तारावती

लिङ् का पर्यवसान भी भूतकाल मे ही होता है ।] जैसे 'इस शरीर के अन्दर जो कुछ है यदि वह बाहर भी होता तो यह ससार दण्ड लेकर कुत्ते कौओं को भगाया करता ।' यहाँ पर 'यदि इस प्रकार का शरीर दृष्टिगत हुआ करता तो इस प्रकार की घटना दिखलाई पड़ती' इस वाक्य का पर्यवसान भूतकाल में ही होता है । [केवल विधि वाक्यों में ही नहीं निषेध वाक्यों मे भी सम्भावनार्थक लिङ् का तात्पर्य अतीत मे ही हुआ करता है । जैसे] 'यदि ऐसा नही होता तो क्या होता' यहाँ पर भी अर्थका पर्यवसान अतीत में ही होता है । यदि पहले कहीं बात समान होने की सम्भावना नहीं हुई तो क्या हुआ ? [अर्थात् यदि शरीर का अन्दर जैसा बाहर नहीं हुआ तो वह बात नहीं हुई कुत्ते कौओं से शरीर की रक्षा नहीं करनी पडी । इस प्रकार निषेध वाक्य मे भी सम्भावनार्थक लिङ् का प्रयोग भूतके अर्थ मे ही पर्यवसित होता है ।] अब और अधिक अप्रासङ्गिक वर्णन की आवश्यकता नहीं । [यहाँ पर विकल्प शब्द के प्रयोग के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जिन पक्षों की सम्भावना की जा रही है वे पक्ष परमार्थतः सम्भव नहीं है: केवल तत्त्व ज्ञान से विमुख व्यक्ति ही उनको सम्भव मान सकते हैं । सत्य जैसे प्रतीत होने वाले किन्तु वस्तुतः असत्य प्रमाणों और युक्तियों के बल पर विरुद्ध कल्पना कर लेना विकल्प कहलाता है पातञ्जल दर्शन में विकल्प शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जहाँ वस्तु की सत्ता न हो किन्तु शब्दज्ञान मात्र से जिसकी प्रतीति हो जाती हो उसे विकल्प कहते हैं । भर्तृहरिने वाक्यपदीय में लिखा है—'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' अर्थात् जहाँ अर्थ (वस्तु) की सत्ता बिलकुल न हो किन्तु शब्द का प्रयोग कर दिया जावे तो

लोचनम्

बहुना। तत्र समयापेक्षणेन शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति कृत्वा वाच्यव्यतिरिक्तं नास्ति व्यङ्ग्यम्, सदपि वा तदभिधावृत्त्याक्षिप्तं शब्दावगतार्थबलाकृष्टत्वाद्भाक्तम्, तदनाक्षिप्तमपि वा न वक्तुं शक्यं कुमारीष्विव भर्तृसुखमतद्विद्सु इति त्रय एवैते प्रधान विप्रतिपत्तिप्रकाराः।

आवश्यकता नहीं। उसमें सङ्केत की अपेक्षा से (करते हुये) शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है' यह मानकर वाच्य से भिन्न व्यङ्ग्य नहीं होता, अथवा होते हुये भी अभिधावृत्ति के द्वारा आक्षिप्त (होकर) शब्द के अवगत अर्थ के बल पर आकृष्ट किया हुआ भाक्त प्रयोग ही है। उसके द्वारा आक्षिप्त न होकर के भी कहा नहीं जा सकता जिस प्रकार उस बात को न जानने वाली कुमारियों में प्रियतम का सुख (नहीं कहा जा सकता) इस प्रकार विप्रतिपत्ति के ये तीन प्रधान प्रकार है।

तारावती

उससे एक प्रकार का ज्ञान स्फुटित अवश्य हो जायगा। वैयाकरणों के मत में बौद्ध पदार्थ ही शाब्दबोध का विषय होता है। इस समस्त प्रकरण का आशय यही है कि अग्रिम पृष्ठो में जिन ध्वनि विरोधी पक्षों की उद्भावना की जावेगी, वे वस्तुतः विद्यमान नहीं है अपितु असत् पक्षों को ही बुद्धिगम्य बनाया गया है।]
संक्षेप में जिन ध्वनि विरोधी पक्षों की उद्भावना की जा सकती है वे ये हैं, (१) वही शब्द अर्थ का प्रतिपादन कर सकता है जिसका सङ्केत ग्रहण हो गया हो। सङ्केतित अर्थ को वाक्यार्थ कहते है; अतः वाच्यार्थ से भिन्न कोई व्यङ्ग्यार्थ हो ही नहीं सकता। २—यदि वाच्यार्थ से भिन्न कोई भी अर्थ सम्भव है तो वह वाच्यार्थ के बल पर आकृष्ट किया हुआ उसका सहयोगी अर्थ ही हो सकता है। उसका समावेश लक्ष्यार्थ मे हो जावेगा उसके लिये अलग से व्यञ्जना वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं। ३—यदि कोई ऐसा भी अर्थ सम्भव है जिसका किसी प्रकार का सम्बन्ध वाच्यार्थ से नहीं है और वह वाच्यार्थ से आक्षिप्त नहीं किया जा सकता तो जैसे पुरुषसहवास का आनन्द न जानने वाली कुमारिकाओं को उस सुख का परिचय नही दिया जा सकता उसी प्रकार इस ध्वनितत्त्वका निर्वचन भी सर्वथा असम्भव है। बस, विरोध के यही तीन प्रकार है। [प्रथम पक्ष को अभाववाद की संज्ञा प्रदान की जा सकती है जो कि विपर्ययमूलक है क्योंकि विरोधी ज्ञान पर आधारित है। दूसरे पक्षको भाक्तवाद कहा जा सकता है जो कि सन्देह मूलक है। तीसरा पक्ष अशक्यवक्तव्यत्ववाद के नाम से अभिहित किया जा सकता है जो कि अज्ञातमूलक है।]

रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व की विमर्शिनी टीका में जयरथ ने १२ ध्वनि

लोचनम्

तत्राभावविकल्पस्य त्रयः प्रकाराः—शब्दार्थगुणालङ्काराणामेव शब्दार्थशोभाकारित्वाल्लोकशास्त्रातिरिक्तसुन्दरशब्दार्थरूपस्य काव्यस्य न शोभाहेतुः कश्चिदन्योऽस्ति योऽस्माभिर्न गणित इत्येकः प्रकारः। यो वा न गणितः स शोभाकार्येव न भवतीति द्वितीयः। अथ शोभाकारी भवति तर्ह्यस्मदुक्त एव गुणे वालङ्कारे वान्तर्भवति, नामान्तरकरणे तु कियदिदं पाण्डित्यम्, अथाप्युक्तेषु गुणेष्वलङ्कारेषु वा नान्तर्भावः, तथापि किञ्चिद्विशेषलेशमाश्रित्य नामान्तरकरणमुपमाविच्छित्तिप्रकाराणामसंख्यत्वात्। तथापि गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वाभाव एव। तावन्मात्रेण च किं कृतम्? अन्यस्यापि वैचित्र्यस्य शक्योत्प्रेक्ष्यत्वात्। चिरन्तनैर्हि भरतमुनिप्रभृतिभिर्यमकोपमे एव शब्दार्थालङ्कारत्वेनेष्टे। तत्प्रपञ्चदिक्प्रदर्शनं त्वन्यैरलङ्कारकारैः कृतम्। तद्यथा 'कर्मण्यण्' इत्यत्र कुम्भकारादुदाहरणं श्रुत्वा स्वयं नगरकारादिशब्दा उत्प्रेक्ष्यन्ते। तावता क आत्मनि बहुमानः। एवं प्रकृतेऽपीति तृतीयः प्रकारः। एवमेकस्त्रिधा विकल्पः, अन्यौ च द्वाविति पञ्च विकल्पाः इति तात्पर्यार्थः।

उनमे अभाव विकल्प के तीन प्रकार है–शब्द, अर्थ गुण और अलङ्कारो के ही शब्द और अर्थ के शोभाकारक (धर्म) होने के कारण लोक और शास्त्र से भिन्न सुन्दर शब्दार्थ से बने हुये काव्य का शोभा हेतु कोई अन्य (धर्म) है ही नही जो हम लोगो के द्वारा न गिना गया हो-यह एक प्रकार है; अथवा जो न गिना गया हो वह शोभाकारी ही नही होता यह दूसरा है, यदि शोभाकारी होता है तो हमारे कहे हुये गुण अथवा अलङ्कार मे अन्तर्भाव हो जाता है, दूसरे नाम रखने मे तो यह कितना पाण्डित्य है। और भी यदि कहे हुये गुणों और अलङ्कारों मे अन्तर्भाव नहीं होता तथापि कुछ विशेषताका अंश लेकर दूसरा नाम रक्खा जाता है क्योकि उपमा विच्छित्ति के अनेक प्रकार होते हैं। तथापि गुणो और अलङ्कारो से व्यतिरिक्तत्व का अभाव ही है। केवल उतने से ही क्या किया गया ? और भी वैचित्र्य की उत्प्रेक्षा की जा सकती है। निस्सन्देह चिरन्तन भरतमुनि इत्यादिकों ने यमक और उपमा ही शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के रूप मे इष्ट (बतलाये हैं)। उनके प्रपञ्च की दिशा का प्रदर्शन अन्य अलङ्कारकारो ने कर दिया। वह इस प्रकार—'कर्मण्यण्' यहाँ पर 'कुम्भकार' इत्यादि उदाहरणो को सुनकर स्वयं नगरकार इत्यादि शब्दो की उत्प्रेक्षा की जा सकती है। उतने से अपने विषय मे बहुत अधिक सम्मान देने का क्या अवसर ? इसी प्रकार प्रकृत विषय मे भी यह तीसरा प्रकार है। इस प्रकार एक तो तीन प्रकार का विकल्प है; अन्य दो प्रकार, इस प्रकार पाँच विकल्प होते हैं, यही तात्पर्यार्थ है।

तारावती

विरोधों का उल्लेख किया है। किन्तु उनका इन्हीं तीन प्रकारों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः ध्वनि के मुख्य विरोधी पक्ष ये तीन ही हैं।

प्रथम पक्ष अभाववाद के तीन प्रकार है—(१) लोक और शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण करने वाले शब्द और अर्थ ही काव्यका स्वरूप हैं। शब्द और अर्थ में शोभा का आधान करने वाले धर्म शब्द गुण, अर्थ गुण, शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार ही हैं। इनके अतिरिक्त शोभाधायक कोई अन्य धर्म है ही नहीं जिसकी गणना हम न कर चुके हों। यह पहला प्रकार है। (२) जिसका साहित्य शास्त्र में अब तक विचार नहीं किया गया वह धर्म शोभाधायक हो ही नहीं सकता। यह दूसरा प्रकार है। (३) यदि शोभाधायक धर्मान्तर प्राप्त भी हो जाय तो उसका अन्तर्भाव हमारे कहे हुये गुणों और अलङ्कार में ही हो जावेगा। यह दूसरा नाम रख देने में ही आपका कौनसा पाण्डित्य है। यदि कहो कि उक्त गुणों और अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता तो भी विशेषता के किसी अंश को लेकर दूसरा नाम रक्खा जा सकता है। उपमा में विच्छित्ति के इतने प्रकार हैं कि उनकी संख्या ही नियत नहीं की जा सकती। ऐसी दशा में भी (अर्थात् उपमा इत्यादि किसी अलङ्कार के प्रकार के अन्दर ही उस ध्वनि को सन्निविष्ट कर देने पर भी) ध्वनि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न सिद्ध नहीं होती। दूसरा नाम रख देने से ही क्या हो जावेगा? ध्वनि ही नहीं और भी-अनेक विचित्रताओं की कल्पना की जा सकती है। भरतमुनि इत्यादि आचार्यों ने शब्दालङ्कार के रूप में यमक और अर्थालङ्कार के रूप में उपमा को ही अभीष्ट बतलाया था। अन्य अलङ्कारकारों ने उन्हीं दो अलङ्कारों की दिशा में उन्हीं के प्रपञ्च के रूप में अलङ्कारों की इतनी अधिक संख्या बढ़ा दी। [जिस प्रकार अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव शब्दालङ्कार यमक और अर्थालङ्कार उपमा में ही कर दिया। उसी प्रकार ध्वनि इत्यादि किसी भी नवीन कल्पना का समावेश भी उन्हीं में हो सकता है। नया नाम करण करने की क्या आवश्यकता? यदि भविष्य में भी कोई नया नाम प्रकट होता है तो उसका भी समावेश इन्हीं दो में हो जावेगा।] यह ऐसे ही समझना चाहिये जैसे व्याकरण की सामान्य विधियों के अनेक विशेष रूप होते हैं और सबका समाहार उसी सामान्य विधि में हो जाता है। जैसे 'कर्मण्यण्' सूत्र से कुम्भकारः बनता है। उसीसे नगरकारः भी बन सकता है। उसमें कोई नवीनता नहीं मानी जाती।

इस प्रकार अभाववाद के तीन पक्ष तथा लक्षणावाद पक्ष और अशक्यवक्तव्यत्व पक्ष, ये पाच पक्ष ध्वनि-विरोधियों के सम्भव हैं। अगले प्रकरण में इन्हींपर क्रमशः विचार किया जा रहा है।

ध्वन्यालोकः

तत्र केचिदाचक्षीरन्—शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्। तत्र च शब्दगताश्चारुत्व-हेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुप-नागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति।

[(अ०) प्रथम पक्ष—सम्भवतः यहाँ पर कुछ लोग यह कहे कि 'इसमे तो कोई सन्देह हो ही नही सकता कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर है। इनमे शब्द गत चारुता मे हेतु अनुप्रास इत्यादि प्रसिद्ध ही है। अर्थगत चारुता मे हेतु उपमा इत्यादि भी प्रसिद्ध ही है। वर्ण सङ्घटना धर्म जो माधुर्य इत्यादि है उनकी भी प्रतीति होती है। कुछ लोगो के द्वारा प्रकाशित की हुई उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ भी सुनने मे आई है किन्तु वे उपर्युक्त अलङ्कारादिकों से पृथक् नही कही जा सकती। उनका भी समावेश अलङ्कारादिको मे हो जाता है। वैदर्भी इत्यादि रीतियो के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। अर्थात् वे भी अलङ्कारादिको से पृथक् नही कही जा सकती। फिर उन सबसे भिन्न ध्वनि नाम की यह कौन सी नई बला है।

लोचनम्

तानेव क्रमेणाह—शब्दार्थशरीर तावदित्यादिना। तावद्ग्रहणेन न कस्या-प्यत्र विप्रतिपत्तिरिति दर्शयति। तत्र शब्दार्थौ न तावद्ध्वनिः, यतः संज्ञामात्रेण हि को गुणः ? अथ शब्दार्थयोश्चारुत्वं स ध्वनिः। तथापि द्विविधं चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठं

उन्हीं को क्रमशः कहते है—शब्दार्थशरीरं तावत् इत्यादि के द्वारा। 'तावत्' शब्द के उपादान से यह दिखलाते है कि इस विषय मे किसी की विप्रतिपत्ति नही है। उसमे—शब्द और अर्थ तो ध्वनि नही है क्यो कि केवल संज्ञा मे ही क्या गुण है ? (अर्थात् शब्द और अर्थ का ही दूसरा नाम (ध्वनि) रख देना व्यर्थ है। यदि शब्द और अर्थ की (जो) चारुता है। वह ध्वनि है, तथापि दो प्रकार की चारुता होती है—स्वरूप मात्र मे रहने वाली और सङ्घटना मे रहने वाली। उनमें

तारावती

मूल मे 'तावत्' शब्द का प्रयोग किया गया है—'शब्दार्थशरीरं 'तावत्' काव्यम्' तावत् शब्द का अर्थ है निश्चय ही (देखे शब्द कल्पद्रुम कोश) तावत् शब्द के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीरादि है इस विषय में किसी को भी विरोध नही है। अधिकतर विद्वानो ने शब्द और अर्थ के साहित्य को ही काव्य कहा है—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (भामह) 'शब्दार्थौ

लोचनम्

सङ्घटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारुत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः सङ्घटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां चारुत्वं स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः। सङ्घटनापर्यवसितं त्वर्थगुणेभ्य इति न गुणाव्यतिरिक्तो ध्वनिः कश्चित्। सङ्घटनाधर्मा इति। शब्दार्थयोरितिशेषः। यद्गुणालङ्कारव्यतिरिक्तं तच्चारुत्वकारि न भवति नित्यानित्यदोषा असाधुदुःश्रवादय इव। चारुत्वहेतुश्च ध्वनिः, तन्न तद्व्यतिरिक्त इदं व्यतिरेकी हेतुः।

शब्दों के स्वरूपमात्र से उत्पन्न होने वाली चारुता शब्दालङ्कारों से और सङ्घटनाश्रित शब्दगुणों से, इसी प्रकार अर्थ की स्वरूपमात्र मे रहने वाली चारुता उपमा इत्यादि से और सङ्घटना पर्यवसित तो अर्थगुणों से (गतार्थ हो जाती) इस प्रकार गुणों और अलङ्कारोंसे भिन्न ध्वनि कोई होती नहीं 'सङ्घटना धर्मा इति' शब्द और अर्थ के, यह शेष है। (अर्थात् शब्द और अर्थ के सङ्घटना धर्म भी प्रतीत होते हैं।) जो गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त होता है वह नित्यानित्य दोष असाधु 'दुःश्रव' इत्यादि के समान चारुता को उत्पन्न करने वाला नहीं होता। और ध्वनि चारुता हेतु होती है अतः उससे व्यतिरिक्त नहीं होती, यह व्यतिरेकी हेतु है।

तारावती

सहितौ। वक्रकविव्यापारशालिनि' इत्यादि (कुन्तक) 'तददोषौ शब्दार्थौ' (मम्मट) इत्यादि। जिन आचार्यों ने केवल शब्दगत काव्य माना है उन्होंने भी अर्थ के साहचर्य की अनिवार्यता प्रतिपादित की है जैसे—शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' (दण्डी) 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (पण्डितराज) इत्यादि) [अब प्रश्न यह है कि आप शब्द और अर्थ को ध्वनि कहते हैं या उनकी किसी विशेषता को] आप शब्द और अर्थ को ध्वनि नहीं कह सकते। क्योंकि शब्द और अर्थ का एक नया नाम देदेने से क्या लाभ? अतएव शब्द और अर्थ की विशेषता (सुन्दरता) को ही ध्वनि कहना पड़ेगा। सुन्दरता दो प्रकार की होती है (१) स्वरूप में रहने वाली सुन्दरता और सङ्घटन मे रहने वाली सुन्दरता। उनमें शब्दों के स्वरूपमात्र से होने वाली सुन्दरता शब्दालङ्कारों से और सङ्घटनाश्रित रमणीयता शब्द गुणों से गतार्थ हो जाती है। इसी प्रकार अर्थों की स्वरूपमात्र गत रमणीयता उपमा इत्यादिकों से और सङ्घटना पर्यवसितरमणीयता अर्थ गुणों से गतार्थ हो जाती है। गुण और अलङ्कारों के भेदक तत्त्व का प्रश्न भी साहित्य शास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रायः सभी प्राचीन आचार्यों ने गुणों और अलङ्कारों का पृथक् पृथक् उल्लेख किया था। किन्तु इस बात पर प्रकाश नहीं डाला था कि इनका परस्पर भेदक तत्त्व क्या है? सर्वप्रथम

लोचनम्

ननु वृत्तयो रीतयश्च यथा गुणालङ्कारव्यतिरिक्ताश्चारुत्वहेतवश्च तथा ध्वनिरपि तद्व्यतिरिक्तश्च चारुत्वहेतुश्च भविष्यतीत्यभिप्रायो व्यतिरिक इत्यनेनाभिप्रायेणाह-तदनतिरिक्तवृत्तय इति । नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम् । तथा ह्यनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्वमध्यमत्वस्वरूपविवेचनाय वर्गत्रयसम्पादनार्थं तिस्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः । वर्तन्तेऽनुप्रासभेदाः आस्विति यदाहुः—

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥

पृथक्पृथगिति । परुषानुप्रासा नागरिका । मसृणानुप्रासा उपनागरिका, ललिता । नागरिकया विदग्धया उपमितेति कृत्वा । मध्यमकोमलपरुषेत्यर्थः । अतएव वैदग्ध्यविहीनस्वभावा सुकुमारपरुषग्राम्यवनितासादृश्यादियं वृत्तिर्ग्राम्येति । तत्र तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव । न तु वैशेषिकवज्जाति-र्विवक्षिता येनजातौ जातिमतो वर्तमानत्वं स्यात्, तदनुग्रहस्त्वाह तत्र वर्तमानत्वम् ।

(प्रश्न) रीतियाँ और वृत्तियाँ भी जैसे गुणालङ्कार व्यतिरिक्त होती हैं और चारुत्व हेतु भी होती हैं, उसी प्रकार ध्वनि भी उनसे व्यतिरिक्त (होते हुये) चारुत्व हेतु हो जावेगी इस प्रकार व्यतिरिक (व्यतिरेकी हेतु) सिद्ध है। इस अभिप्राय से कहा गया है—तदनतिरिक्तवृत्तयः इति। वृत्तियों और रीतियों का तद्व्यतिरिक्तत्व (शब्द, अर्थ, शब्द सौन्दर्य, अर्थ सौन्दर्य, शब्द सङ्घटना सौन्दर्य, अर्थ सङ्घटना सौन्दर्य इनसे भिन्नत्व सिद्ध नही ही है। वह इस प्रकार-दीप्त कोमल, और मध्यम वर्णनीय (वर्ण्य विषय) के उपयोगी होने के कारण परुषत्व ललितत्व तथा मध्यमत्व के स्वरूप विवेचन के लिये तीन वर्ग बनाने के लिये तीन अनुप्रास जातियों को वृत्ति कहा है—वर्तमान रहते हैं अनुप्रास भेद जिन में, यह (वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति है।) जैसा कहते हैं—

'इन तीनों वृत्तियों मे समान रूप वाले व्यञ्जनों के न्यास को कवि लोग सदा पृथक् पृथक् अनुप्रास (कहने की) इच्छा करते हैं।'

पृथक् पृथक् (का अर्थ यह है)—परुष अनुप्रास वाली वृत्ति को नागरिका कहते है। कोमल अनुप्रास वाली वृत्ति को उपनागरिका या ललिता कहते है। नागरिका विदग्धा से इसकी उपमा दी गई है इस आधार पर। मध्यम (वह होता है जो) न कोमल हो न परुष यह अर्थ है। अतएव वैदग्ध्य विहीन स्वभाव वाली अकोमल और अपरुष ग्राम्य वनिता के सादृश्यसे यह वृत्ति ग्राम्या इस (नामवाली होती है)। उनमे तृतीय (ग्राम्या वृत्ति) कोमलानुप्रास (कहलाती है)। इस प्रकार वृत्तिया अनुप्रास जाति वाली ही है। यहाँ पर वृत्तिया वैशेषिक के समान कही जाना अभीष्ट नहीं है जिससे जाति मे जाति का वर्तमानत्व न हो; उन पर अनुग्रह करना ही वर्तमानत्व है।

तारावती

वामन ने अलङ्कारों से गुणों के भेदक तत्त्व की व्याख्या की। उन्होंने लिखा है कि 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः' तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' उन्होंने दूसरा भेदकतत्त्व बतलाया नित्यता और अनित्यता का। गुण नित्य धर्म होते हैं और अलङ्कार अनित्य। भट्टोद्भट को यह मत ठीक नहीं जँचा। उन्होंने लिखा है कि लोक में तो शौर्य इत्यादि गुण समवाय वृत्ति (नित्य सम्बन्ध) से रहते हैं और अलङ्कार हार इत्यादि संयोग वृत्ति (अनित्य सम्बन्ध) से रहते हैं, यह कहा जा सकता है किन्तु काव्य में गुणों और अलङ्कारों का भेद केवल भेडाचाल है। ठीक रूप में ध्वनिवादियों ने ही गुणों और अलङ्कारों के भेद की स्थापना की। ध्वनिवादियों का कहना है कि रस काव्य का जीवन है। जिस प्रकार शौर्य इत्यादि गुण आत्मा के ही धर्म होते हैं उसी प्रकार काव्य के ओज इत्यादि भी रसके ही प्रत्यक्ष धर्म होते हैं। कोमल सङ्घटना कोमल रसों के लिए अनिवार्य होती है और कठोर सङ्घटना कठोर रसों के लिए अनिवार्य होती है। इसके प्रतिकूल अलङ्कार अङ्गभूत शब्द और अर्थ का उपकार करते हुए उस अङ्गी आत्मा भूत रस का उपकार करते हैं। (दे० काव्य प्रकाश उ० ८) इन गुण और अलङ्कारों से भिन्न ध्वनि नाम की कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। मूल में जो सङ्घटना धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है उसका आशय है शब्द और अर्थ के सङ्घटना धर्म [यहाँ पर अनुमान प्रमाण से साध्य सिद्धि की गई है। ध्वनि पक्ष है; गुण और अलङ्कार से भिन्न न होना साध्य है: चारुता में कारण होना हेतु है। अनुमान प्रयोग इसप्रकार होगा—ध्वनि गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती, क्योंकि चारुता में हेतु होती है। जो जो चारुता में हेतु होते हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते।] यहाँ पर व्यतिरेकी हेतु के द्वारा साध्य सिद्धि होगी। [अन्वय व्याप्ति इस प्रकार की बनती है—'जो पदार्थ चारुता में हेतु होते हैं वे गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होते, इसका कोई उदाहरण मिल ही नहीं सकता क्योंकि ऐसा कोई चारुता-हेतु होता ही नहीं जो गुण और अलङ्कारों से भिन्न हो। अतएव व्यतिरेकी हेतु से साध्य सिद्धि करनी पड़ेगी।] व्यतिरेक व्याप्ति इस प्रकार बनेगी—'जो पदार्थ गुण और अलङ्कारों से भिन्न होते हैं वे चारुता-हेतु नहीं हो सकते।' जैसे नित्य दोष 'असाधु' इत्यादि अनित्य दोष 'दुःश्रव' इत्यादि गुण और अलङ्कारों से भिन्न होने के कारण चारुता-हेतु नहीं होते। ध्वनि भी चारुता-हेतु है अतएव वह गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती। इसी को व्यतिरेकी हेतु कहते हैं।

[यहाँ पर ध्वनि-विरोधी ने व्यतिरेकी हेतु के द्वारा ध्वनि का अन्तर्भाव गुण और अलङ्कारों में सिद्ध किया था। पूर्व पक्षी उसमें हेतु दोष दिखला रहा है।

तारावती

वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण और अलङ्कारों से भिन्न भी होती हैं और चारुता हेतु भी होती हैं। इसी प्रकार ध्वनि भी गुणालङ्कार अतिरिक्त भी हो सकती है और चारुता-हेतु भी हो सकती है। इस प्रकार ऊपर दिखलाया हुआ व्यतिरेकी हेतु असिद्ध हो जाता है। [तर्क शास्त्रमे हेतु दोषों को हेत्वाभास कहते हैं। हेतु यदि साध्य से भिन्न स्थानों मे पाया जावे तो वहाँ पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। ऊपर के अनुमान मे हेतु है—रमणीयता में कारण होना। यह हेतु साध्य गुण और अलङ्कारों से भिन्न वृत्तियों और रीतियों में भी मिल जाता है। अतएव यहाँ पर अनैकान्तिक हेत्वाभास होने से साध्य असिद्ध हो जाता है। वस्तुतः यहाँ पर आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी दिखलाये जा सकते हैं। आश्रयासिद्ध वहाँ पर होता है जहाँ पक्ष का नितान्त अभाव हो। ध्वनि विरोधी के मत में ध्वनिका सर्वथा अभाव होता ही है। स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास वहाँ पर होता है जहाँ पक्ष में हेतु का अभाव हो। ध्वनि विरोधी के मत मे ध्वनि में चारुता होती ही नहीं अतएव यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। किन्तु प्रस्तुत तर्क ध्वनिवादी की ओर से उपस्थित किया गया है। अतएव अनैकान्तिक हेत्वाभास ही यहाँ पर समझा जाना चाहिये। आशय यह है कि जिस प्रकार वृत्तियाँ और रीतियाँ गुणालङ्कार व्यतिरिक्त होते हुये भी चारुता हेतु हो सकती हैं उसी प्रकार ध्वनि भी गुणालङ्कार व्यतिरिक्त होते हुये भी चारुता-हेतु हो सकती है। अग्रिम प्रकरण मे इसी हेत्वाभास पर विचार किया जा रहा है।] वृत्तियों और रीतियों का गुण और अलङ्कारों से भिन्न होना सिद्ध नहीं है। दीप्त, कोमल और मध्यम विषयों में उपयोगी होने के कारण अनुप्रास के ही कठोर, कोमल और मध्यम इन तीन स्वरूपों की विवेचना करने के मन्तव्य से तीन वर्ग कर लिये गये है। यही तीन वृत्तियाँ हैं जो कि अनुप्रास की ही आश्रित जातियाँ हैं। वृत्ति शब्द 'वृतु वर्तने' धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर बनता है, जिसका अर्थ है वर्तमान होना अर्थात् जिनमें अनुप्रास के भेद वर्तमान हों उन्हे वृत्ति कहते हैं। जैसा कि उद्भट ने लिखा है—'कवि लोग सर्वदा इन तीनों वृत्तियों मे पृथक् पृथक् ऐसे अनुप्रास की इच्छा करते है जिसमे समान रूपवाले व्यञ्जनो का प्रयोग किया जाता है।'

पृथक् पृथक् का अर्थ है—अनुप्रास का प्रयोग तीन प्रकार का होता है—(१) जहाँ पर अनुप्रास मे परुष वर्णों का प्रयोग होता है उसे परुषा या नागरिका वृत्ति कहते हैं। (२) जहाँ पर कोमल वर्णों का प्रयोग होता है उसे उपनागरिका वृत्ति कहते हैं। उपनागरिका शब्द का अर्थ है नगर निवासिनी ललना के समान

लोचनम्

यथाह कश्चित्—लोकोत्तरे हि गाम्भीर्ये वर्तन्ते पृथिवीभुजः। इति।

तस्माद्वृत्तयोऽनुप्रासादिभ्योऽनतिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिकव्यापाराः। अतएव व्यापारभेदाभावान्न पृथगनुमेयस्वरूपा अपीति वृत्तिशब्दस्य व्यापारवाचिनोऽभिप्रायः। अनतिरिक्त-

जैसा कि किसी ने कहा है—'पृथ्वी का भोग करने वाले (राजा लोग) लोकोत्तर गाम्भीर्य मे वर्तमान रहते हैं!'

अतएव वृत्तियाँ अनुप्रास इत्यादि से अभिन्न वृत्तिवाली हैं। अर्थात् उनका कार्य अधिक नहीं है। अतएव व्यापार भेद के न होने से उनका स्वरूप पृथक् अनुमान करने के योग्य नहीं है इस प्रकार वृत्ति शब्द से व्यापारवाची का

तारावती

वैदग्ध्य पूर्ण। जिस प्रकार नागरिक ललना अपने हाव-भाव के द्वारा आकर्षण करती है उसी प्रकार उपनागरिका वृत्ति अपनी मधुरता अथवा कोमलता से जन समूह के मन को आकर्षित करती है। (३) जहाँ पर न अधिक कठोर वर्णों का प्रयोग हो और न अधिक कोमल वर्णों का ही प्रयोग हो उसे मध्यमा अथवा ग्राम्यावृत्ति कहते हैं। जिस प्रकार ग्राम वनिता में किसी प्रकार का वैदग्ध्य-नहीं होता। न उसमे सौकुमार्य ही होता है और न पारुष्य ही। इसी साम्यके आधार पर इस वृत्ति को ग्राम्या वृत्ति कहते हैं। तृतीय वृत्ति ग्राम्या की एक रूढ़िसंज्ञा कोमला-नुप्रास भी है जिसका कि भट्टोद्भट इत्यादि आचार्योंने प्रयोग किया है। वस्तुतः इसमे कोमल अनुप्रास होने का नियम नहीं है। यह केवल नाम पड गया है। इस प्रकार वृत्तियाँ अनुप्रास की जातिवाली ही होती हैं उनसे भिन्न नहीं (भामह ने अनुप्रास के दो भेद किये थे-ग्राम्यानुप्रास और अनुप्रास। सम्भवतः अनुप्रास से उनका अभि-प्राय उपनागरिकानुप्रास से था। उद्भट ने वृत्तियों की संख्या तीन कर दी ग्राम्या उपनागरिका और परुषा। इनका विशेष परिचय उद्भट ने काव्यालङ्कार सार संग्रह में दिया है) यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वृत्तियाँ भी जाति वाचक होती हैं और अनुप्रास की भी जाति कही जाती है। वैशेषिकों का मत है कि जाति में जाति नहीं रहती फिर वृत्तियों में अनुप्रास जाति कैसे रह सकती है? इसका उत्तर यहाँ पर वृत्तियो में अनुप्रास का वर्तमानत्व अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से ही माना जाता है।

जैसा कि किसीने कहा है—'राजा लोग लोकोत्तर गाम्भीर्य में वर्तमान रहते हैं। पर वर्तमान होने का यह आशय है कि राजा लोगों पर गाम्भीर्य का अनुग्रह होता है जिससे उनमे सभी कार्यों के निर्वाह की शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार अनुग्राह्या-नुग्राहक भाव से ही वृत्तियों में अनुप्रास का वर्तमानत्व होता है। अनुग्राह्या

लोचनम्

त्वादेव वृत्तिव्यवहारो भामहादिभिर्न कृतः। उद्भटादिभिः प्रयुक्तेऽपि तस्मिन्नार्थः कश्चिदधिको हृदयपथमवतीर्ण इत्यभिप्रायेणाह—गताः श्रवणगोचरमिति। रीतयश्चेति। तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि गताः श्रवणगोचरमितिसम्बन्धः। तच्छब्देनात्र माधुर्यादयो गुणाः, तेषाञ्च समुचितवृत्त्यर्पणे यदन्योऽन्यमेलनक्षमत्वेन पानक इव गुडमरिचादिरसानां सङ्घातरूपतागमनं दीप्तललितमध्यमवर्णनीयविषयं गौडीयवैदर्भपाञ्चालदेशहेवाकप्राचुर्यदृशा तदेव त्रिविधं रीतिरित्युक्तम्। जातिश्च जातिमतो नान्या समुदायश्च समुदायमतो नान्य इति

अभिप्राय है। अतिरिक्त न होने के कारण ही वृत्ति का व्यवहार भामह इत्यादि ने नहीं किया है! उद्भट इत्यादि के द्वारा प्रयुक्त भी उसमे कोई अधिक अर्थ हृदय पथ मे अवतीर्ण नहीं हुआ, इस अभिप्राय से कहते हैं—श्रवण-गोचरता को प्राप्त हुई हैं यह। रीतयश्च इति। (रीतियाँ भी) उनसे अभिन्न वृत्तिवाली श्रवण गोचर हुई हैं यह सम्बन्ध (योजना) है। तत् शब्द से यहाँ पर माधुर्य इत्यादि गुण (लिये जाते हैं।) और उनके समुचित वृत्ति मे अर्पण करने पर जो एक दूसरे से मेलन की क्षमता के कारण गुड मरिच इत्यादि रसों के पानक के समान सङ्घात रूप मे आना है (तथा जो) दीप्त ललित और मध्यम वर्ण्य विषय वाला है गौडीय, वैदर्भ और पाञ्चाल के स्वभाव की प्रचुरता की दृष्टि से वही तीन प्रकार की रीतियाँ होती हैं यह कहा गया है। जाति जातिमान् से भिन्न नहीं होती और समुदाय समुदायी से भिन्न नही होता। इस प्रकार रीतियाँ और

तारावती

नुग्राहक भाव का आशय है—रसाभिव्यञ्जन के सामर्थ्य का आधान करना। आशय वह है कि वृत्तियो का व्यापार अनुप्रासादि से अधिक नही होता। [अनुप्रास का कार्य भी रसाभिव्यञ्जन करना और उसमे सहायक होना है और वृत्तियो का व्यापार भी यही है।] अतएव अनुप्रास के बिना वृत्तियो के स्वरूप का अनुमान ही नही हो सकता और नहीं अनुप्रास से भिन्न वृत्तियों के स्वरूप का अभिधान ही किया जा सकता है। यही कारण है कि भामह इत्यादि ने वृत्ति का व्यवहार किया ही नही। उद्भट इत्यादि ने वृत्तियो का व्यवहार किया है। किन्तु उनमें कोई नवीनता नही दिखला पाई। इसीलिये आलोककार ने 'सुनने मे आई है' कह कर अपनी अरुचि प्रकट की है।

यही दशा वैदर्भी इत्यादि रीतियो की भी है। वे भी गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं कही जा सकती किन्तु सुनने मे आई है। 'उनसे अतिरिक्त नहीं होती' मे 'उनसे' शब्द का वृत्तियो के प्रसङ्ग मे अर्थ है 'अलङ्कारो से' और रीतियों के प्रसङ्ग मे अर्थ है 'गुणों से'। रीतियाँ माधुर्य इत्यादि गुणो से पृथक् नहीं

लोचनम्

वृत्तिरीतयो न गुणालङ्कारव्यतिरिक्ता इति स्थित एवासौ व्यतिरेकी हेतुः। तदाह—तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिरिति। नैष चारुत्वस्थानं शब्दार्थरूपत्वाभावात्। नापि चारुत्वहेतुः गुणालङ्कारव्यतिरिक्तत्वादिति। तेनाखण्डबुद्धिसमास्वाद्यमपि काव्यमपोद्धारबुद्ध्या यदि विभज्यते तथाप्यत्र ध्वनिशब्दवाच्यो न कश्चिदतिरिक्तोऽर्थो लभ्यत इति नाम शब्देनाह।

वृत्तियाँ गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त नहीं होतीं। इस प्रकार यह व्यतिरेकी हेतु स्थित ही है। वही कह रहे हैं—उनसे व्यतिरिक्त यह कौन सी ध्वनि है? यह चारुता का स्थान नहीं है क्योंकि इसका स्वरूप शब्द और अर्थ नहीं हैं। नहीं ही यह चारुत्व मे हेतु है, क्योंकि गुणों और अलङ्कारों से भिन्न है। अतएव अखण्ड बुद्धि से आस्वादन करने योग्य भी काव्य यदि अपोद्धार (विभाजन) की बुद्धिसे विभक्त किया जाता है तथापि यहाँ पर ध्वनि शब्द वाच्य कोई अतिरिक्त अर्थ नहीं प्राप्त होता यह नामशब्द के द्वारा कहा है।

तारावती

होतीं। [क्षरणार्थक दिवादिधातु 'री' से संज्ञा मे क्तिन् प्रत्यय होकर 'रीति' शब्द निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ होता है प्रवाह। काव्य के जिस तत्त्व में प्रवाह पर विचार किया जाता है उसे रीति कहते हैं। प्रारम्भ मे दण्डी ने काव्य के दो मार्ग बतलाये थे—वैदर्भमार्ग और गौड मार्ग। दोनों प्रदेशों मे काव्य के पृथक् पृथक् आदर्श थे जिनका दण्डी ने विस्तार से वर्णन किया है। आगे चलकर वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मान लिया, वैदर्भी तथा गौडी रीतियो मे पाञ्चाली का समावेश और कर दिया। इस प्रकार वामन ने तीन रीतियाँ मानी हैं। जिस प्रकार वृत्तियो का समावेश अनुप्रास में हो जाता है उसी प्रकार रीतियों का समावेश माधुर्यादि गुणों मे हो जाता है।] जिस प्रकार गुड़ मिर्च इत्यादि मिलाकर पानक रस तैय्यार किया जाता है और मिलने की योग्यता होने के कारण सभी वस्तुओं का सङ्घात रूपमे एकीकरण हो जाता है उसी प्रकार जब माधुर्य इत्यादि गुणों का समुचित वृत्ति मे मिलन होता है और उनका एक सङ्घात रूप बन जाता है तब उन्हे रीति कहने लगते हैं। इस प्रकार दीप्त, कोमल और मध्यम वर्णनीय विषय के अनुसार गौड विदर्भ और पाञ्चाल देश के कवियों के स्वभाव की प्रचुरता के आधार पर रीति तीन प्रकार की बतलाई गई है। [वामन ने लिखा है—'रीति काव्य की आत्मा होती है। विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं। विशिष्ट का अर्थ है जिस पद रचना की आत्मा गुण हो।' रीति तीन प्रकार की होती है गौडी वैदर्भी और पाञ्चाली। गौडी रीति मे ओज कान्ति गुण होते हैं, पाञ्चाली रीति मे माधुर्य और सौकुमार्य होता है, वैदर्भी में

लोचनम्

ननु माभूदसौ शब्दार्थस्वभावः, माच भूच्चारुत्वहेतुः, तेन गुणालङ्कारव्यतिरिक्तोऽसौ स्यादित्याशङ्क्य द्वितीयमभाववादप्रकारमाह अन्य इति। भवत्वेवम्। तथापि नास्त्येव ध्वनिर्यादृशस्त्वलिलक्षयिषितः। काव्यस्य ह्यसौ कश्चिद्वक्तव्यः। न चासौ नृत्तगीतवाद्यस्थानीयः काव्यस्य कश्चित्। कवनीयं काव्यं, तस्य भावश्च काव्यत्वम्। न च नृत्तगीतादि कवनीयमित्युच्यते।

(पक्षान्तर) निस्सन्देह यह शब्द और अर्थ के स्वभाव वाला न हो और वह चारुता मे भी हेतु न हो इससे यह गुणालङ्कार व्यतिरिक्त हो जावे यह आशङ्का करके द्वितीय अभाववाद के प्रकार को कह रहे हैं—अन्य इति। ऐसा हो जावे तथापि नही हो है ध्वनि जैसी कि तुम लक्षित करना चाहते हो। काव्य की यह कोई (सम्बन्धित) कही जानी चाहिये। काव्य की यह कोई नृत्य गीत वाद्य स्थानीय तो है नही। कवनीय को काव्य कहते हैं। उसकी भाववाचक संज्ञा है काव्यत्व। नृत्य गीत इत्यादि कवनीय होते हैं यह नहीं कहा जाता।

तारावती

दोनो का समन्वय होता है। आनन्द वर्धन से पहले वही तीन रीतियाँ काव्य शास्त्र में प्रतिष्ठित थीं। विश्वनाथ ने लाटी रीति का समावेश कर इनकी संख्या चार कर दी और भोजराज ने मागधी और अवन्तिका इन दो और रीतियो को मिलाकर कुलसंख्या ६ करदी। इन सब रीतियों का गुणों मे ही समावेश हो जाता है।] जातिमान् से जाति पृथक् नहीं होती और अवयव से अवयवी भिन्न नहीं होता। इस प्रकार वृत्तियाँ और रीतियाँ गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं होती। अतएव उक्त व्यतिरेकी हेतु मे कोई दोष नहीं आता। इसीलिये आलोककार ने लिखा है कि 'उनसे भिन्न ध्वनि यह क्या वस्तु है? यहाँ पर 'ध्वनिर्नाम' इस वाक्य मे नाम शब्द का अर्थ यह है कि ध्वनि न तो चारुता का स्थान है क्योंकि वह शब्द और अर्थ से भिन्न है और न चारुता मे हेतु है क्योंकि गुण और अलङ्कार से भिन्न है। अतएव यद्यपि काव्य का आस्वादन अखण्ड बुद्धि के द्वारा ही किया जाता है तथापि यदि आस्वादन के उपकरणों को पृथक् दिखलाया जावे तो ध्वनि शब्द वाच्य कोई अतिरिक्त तत्त्व प्राप्त ही नही होता। यही नाम शब्द का अर्थ है।

प्रथम पक्ष मे यह सिद्ध किया गया है कि ध्वनि न तो शब्द और अर्थ के स्वभाव वाली (उनका ही स्वरूप) होती है और न उनकी चारुता मे हेतु होती है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि ध्वनि गुण और अलङ्कारों मे सन्निविष्ट नही की जा सकती, उनसे भिन्न होती है। उनसे भिन्न होते हुये भी ध्वनि काव्य मे रमणीयता का आधान कर सकती है। इसी अरुचि को लेकर द्वितीय अभाववाद की

ध्वन्यालोकः

अन्ये ब्रूयुः—नास्त्येव ध्वनिः । प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः, सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तं प्रस्थानव्यतिरेकिणो मार्गस्य तत्सम्भवति । न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते ।

दूसरा पक्ष—सम्भवतः दूसरे लोग यह कहें कि ध्वनि है ही नहीं, क्योंकि काव्य का ऐसा कोई प्रकार काव्य की सीमा मे सन्निविष्ट नहीं हो सकता जो कि प्रसिद्ध स्थान (गुण, अलङ्कार, रीति, वृत्ति) से भिन्न हो । सहृदयो को आनन्द देनेवाले शब्द और अर्थ से युक्त होना ही काव्य का लक्षण है । उक्त प्रस्थान से भिन्न और कोई मार्ग है ही नहीं जिसमे यह लक्षण घट जाता हो । ध्वनि सिद्धान्त के अन्दर आने वाले (उसे स्वीकार करने वाले) कतिपय सहृदयो की कल्पना करके ध्वनि मे यदि काव्य व्यवहार प्रवर्तित भी किया जावे तो भी वह सभी विद्वानो के मन को ग्रहण नही कर सकता अर्थात् ऐसा सिद्धान्त सभी को मान्य नहीं हो सकता ।

लोचनम्

प्रसिद्धेति । प्रसिद्धं प्रस्थानं शब्दार्थौतद्गुणालङ्काराश्चेति, प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत्प्रस्थानम् । काव्यप्रकारस्येति । काव्यप्रकारत्वेन तव स मार्गोऽभिप्रेतः,

प्रसिद्धेति । प्रसिद्ध प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कार । प्रस्थान करते है अर्थात् जिस मार्ग से-परम्परा से व्यवहार करते है उसे प्रस्थान कहते है । काव्यप्रकारस्येति । वह मार्ग काव्य के प्रकार के रूप मे तुम्हे अभिप्रेत

तारावती

अवतारणा की गई है । इस पक्षवालो का आशय यह है कि कोई व्यक्ति ध्वनि को शब्द अर्थ और उनके चारुता हेतुओ से पृथक् मान भी ले तब जैसी ध्वनि को आपलक्षित कराना चाहते है वैसी सिद्ध नहीं हो सकती । ध्वनि सिद्धान्तवादियों का कथन है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है । यदि ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करना है तो काव्य से इसका कोई न कोई सम्बन्ध बतलाना ही पडेगा । जिस प्रकार नाटक मे नृत्य गीत इत्यादि के द्वारा रस सृष्टि मे सहायता ली जाती है किन्तु काव्य से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार यदि ध्वनि नाम का कोई ऐसा पदार्थ है जो नृत्य गीत इत्यादि के समान ही काव्य का उपकारी होता है तो उसका काव्य से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । काव्य उसे ही कहते हैं जो कविता का विषय हो सके काव्य शब्द 'कवृ वर्णे' धातु से बना है जिसका अर्थ है शब्दो के द्वारा सौन्दर्य के साथ किसी विषय को निबद्ध करना नृत्य गीत इत्यादि काव्य का विषय हो ही

लोचनम्

'काव्यस्यात्मा' इत्युक्तत्वात्। ननु कस्मात्तत्काव्यं न भवतीत्याह—सहृदयेति। मार्गस्येति नृत्तगीताक्षिनिकोचनादिप्रायस्येत्यर्थः। तदिति। सहृदयेत्यादि काव्यलक्षणमित्यर्थः।

ननु ये तादृशमपूर्वं काव्यरूपतया जानन्ति त एव सहृदयाः। तदभिमतत्वं च नाम काव्यलक्षणमुक्तप्रस्थानातिरेकिण एव भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति। यथा हि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्रावियमाणः सकलदेहाच्छादकः सुकुमारश्चित्रतन्तु-

है, क्योकि 'काव्य की आत्मा' यह कहा गया है। वह काव्य क्यो नहीं होता इसका उत्तर दे रहे है—सहृदयेति। मार्गस्येति। अर्थात् नृत्त गीत अक्षिनिकोचन इत्यादि के तुल्य। तदिति। सहृदयहृदयाह्लादक शब्द और अर्थ से युक्त होना काव्य का लक्षण है।

(प्रश्न) जो उस प्रकार के अपूर्व (ध्वनि तत्त्व) को काव्य के रूप मे जानते है वे ही सहृदय है—उनका अभिमत होना ही काव्यलक्षण (मे प्रयोजक) है (और वह उक्त प्रस्थान से भिन्न के लिये ही होगा) यह शङ्का कर के कह रहे हैं—नचेति। निस्सन्देह जैसे 'खड्गलक्षण करूँगा' यह कह कर 'आतान वितान योग्य स्वरूप वाला, तह किया जानेवाला, समस्त देह को रखने वाला, सुकुमार, विचित्र

तारावती

नहीं सकते। अतः इन्हे काव्य मे सन्निविष्ट करना उचित नहीं। इसी प्रकार ध्वनि भी काव्य का विषय नहीं हो सकती। अतः उसे भी काव्य से संबद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रस्थान शब्द प्र उपसर्ग 'स्था' धातु से संज्ञा अर्थमे ल्युट् प्रत्यय होकर बना हैं जिसका अर्थ होता है—ऐसा मार्ग जो परम्परा से प्रतिष्ठित हो चुका हो अर्थात् जिस मार्ग से परम्परागत रूप मे व्यवहार होता चला आ रहा हो। यह प्रतिष्ठित प्रस्थान है शब्द और अर्थ तथा उनसे सम्बन्धित गुण और अलङ्कार। आशय यह है कि तुम ध्वनि को काव्य की आत्मा कहते हो। अतएव काव्य के प्रकार के रूप में तुम्हे वही मार्ग अभीष्ट है और वह हो नहीं सकता क्योकि सहृदयो के हृदयों को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ तथा उनके गुण और अलङ्कारो को ही काव्य कहते हैं; परम्परागत रूप मे इन्हें ही काव्य के मार्ग के रूप मे स्वीकार किया जाता रहा है। इनसे भिन्न यदि ध्वनि नाम का कोई मार्ग काव्य शोभा के आधान में सहायक होता है तो वह नृत्य, गीत, अक्षिनिकोचन इत्यादि अभिनय के समान काव्य सम्बद्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि सहृदयो को आनन्द देने वाले शब्द और अर्थ से युक्त होना रूप लक्षण उनमे नहीं घटता।

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि सहृदयों को अभिमत होना ही काव्य

लोचनम्

ंविरचितः संवर्तनविवर्तनसहिष्णुरच्छेदकः सुच्छेद्य उत्कृष्टःखड्ग इति ब्रुवाणः परैः पटः खल्वेवंविधो भवति न खड्ग इत्युक्त्या पर्यनुयुज्यमान एवं ब्रूयात् ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति तादृगेवैतत् । प्रसिद्धं हि लक्षणं भवति न कल्पितमितिभावः । तदाह सकलविद्वद्दिति । विद्वांसोऽपि हि तत्समयज्ञा एव भविष्यन्तीति शङ्कां सकलशब्देन निराकरोति । एवं हि कृतेऽपि न किञ्चित्कृतं स्यादुन्मत्तता परं प्रकटितेति भावः ।

तन्तुओं से बनाया हुआ, समेटने और फैलाने को सहन करने वाला, न काटनेवाला किन्तु भली भाति कट जानेवाला उत्कृष्ट खड्ग होता है' यह कहते हुए दूसरों के यह कह कर आक्षेप किये जाने पर कि 'इस प्रकार का वस्त्र होता है खड्ग नहीं- यह कहे कि मेरा अभिमत तो इसी प्रकार का खड्ग है । यह वैसा ही है । आशय यह है कि प्रसिद्ध ही लक्ष्य होता है कल्पित नहीं । यही कह रहे हैं—सकल विद्वद्दिति । विद्वान् भी निस्सन्देह उस (ध्वनि) के सङ्केत को जानने वाले होंगे इस शङ्का का निराकरण सकल शब्द से किया है । (अर्थात् कुछ ऐसे भी विद्वान् मिल जावेंगे जो कि ध्वनि को मानते हों । किन्तु सबके न मानने से ध्वनि सिद्ध नहीं हो सकती ।) ऐसा किये जाने पर भी कुछ किया हुआ नहीं होगा किन्तु तुम्हारी उन्मत्तता ही प्रकटित होगी, यह भाव है ।

तारावती

का लक्षण है और सहृदय वे ही होते हैं जो पहले व्याख्यान की हुई ध्वनि को ही काव्य का स्वरूप मानते हैं । इस प्रकार का काव्य लक्षण उक्त प्रस्थान से अतिरिक्त मार्ग में ही लागू होता है । इसका उत्तर यह है कि यदि कोई विद्वान् 'खड्ग का लक्षण करूंगा' यह प्रतिज्ञा करके कहने लगे कि 'जो लम्बा चौड़ा हो, तह किया हो, देह को ढकने वाला हो, सुकुमार हो, रंग विरंगे तन्तुओं वाला हो, फैलाया समेटा जा सके उसे खड्ग कहते हैं ।' दूसरे व्यक्ति के यह कहने पर कि 'ऐसा खड्ग नहीं ऐसा तो वस्त्र होता है' वह आग्रह करता ही चला जावे कि मैं तो उसे खड्ग ही कहूंगा' तो उस समय उसकी बात मानने को कोई उद्यत न होगा । इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति आग्रह करता ही चला जावे कि 'मैं तो काव्य को आत्मा को ध्वनि ही कहूँगा' तो दूसरे लोग उसकी इस बात को स्वीकार करने के लिये कभी उद्यत न होंगे । लक्ष्य कभी कल्पित नहीं होता वह सर्वदा प्रसिद्ध ही होता है । जो लोग प्रसिद्ध लक्ष्य की ठीक रूप में व्याख्या कर सकें वे ही उस विषय के पूर्ण विद्वान् कहे जा सकते हैं, वे ऐसी व्याख्या को कभी स्वीकार नहीं कर सकते । यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि कुछ विद्वान् ऐसे भी निकल आवेंगे जो

लोचनम्

यस्त्वत्राभिप्रायं व्याचष्टे—जीवितभूतो हि ध्वनिस्तावत्तवाभिमतः, जीवितं च नाम प्रसिद्धप्रस्थानातिरिक्तमलङ्कारकारैरनुक्तत्वात्तच्च न काव्यमितिलोके प्रसिद्धमिति। तस्येयं-सर्वं स्ववचनविरुद्धम्। यदि हि तत्काव्यस्यानुप्राणकं तेनाङ्गीकृतं पूर्वपक्षवादिना तच्चिरन्तनैरनुक्तमिति प्रत्युत लक्षणार्हमेव भवति। तस्मात् प्राक्तन एवात्राभिप्रायः।

जिसने यहाँ पर अभिप्राय की व्याख्या की है—जीवन के रूप में ध्वनि तुम्हें अभीष्ट है और जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से अतिरिक्त ही होता है क्योंकि उसको अलङ्कारकारो ने कहा नहीं है और वह काव्य नहीं हो सकता यह। उसका यह सब अपने ही वचन के विरुद्ध है। यदि निस्सन्देह उस पूर्वपक्षवादी ने उसे (ध्वनि को) काव्य का लक्षण मान लिया तो उसको प्राचीनों ने नहीं कहा है अतः प्रत्युत (आपके तर्क के विरुद्ध) वह लक्षण के योग्य ही (सिद्ध) होता है। अतएव पहले बतलाया हुआ ही यहाँ पर अभिप्राय है।

तारावती

ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानेंगे। इसका उत्तर यह है कि कुछ लोगों के मान लेने से ही ध्वनि प्रतिष्ठित नही हो सकती। सभी विद्वान् उसे स्वीकार नहीं कर सकते। यही आलोककार के सकल शब्द का आशय है। ऐसी दशा मे कुछ लोगो की मान्यता से कोई लाभ नहीं होगा अपितु ऐसे लोगों की उन्मत्तता ही प्रकट होगी। [यहाँ पर अनुमान से साध्य सिद्धि की प्रक्रिया यह होगी—ध्वनि काव्य नही हो सकती, (प्रतिज्ञा) क्यों कि यह शब्द और अर्थ से व्यतिरिक्त है, (हेतु) जो कुछ शब्द और अर्थ से व्यतिरिक्त होता है वह काव्य नहीं हो सकता जैसे नृत्य गीत इत्यादि काव्य नहीं होते (उदाहरण) ध्वनि भी उसी प्रकार की होती है (उपनय) अतएव वह भी उसी प्रकार काव्य नहीं हो सकती (निगमन)। अनुमान की दूसरी प्रक्रिया यह होगी—ध्वनि काव्य सम्बद्ध नहीं होती (प्रतिज्ञा) क्योकि गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त होती है (हेतु), जो वस्तुये गुण और अलङ्कार से भिन्न होती है वे काव्य नहीं हो सकती जैसे नृत्य गीत इत्यादि (उदाहरण), यह ध्वनि भी उसी प्रकार की (गुणालङ्कार व्यतिरिक्त) है (उपनय), अतः यह भी वैसी ही (काव्य के क्षेत्र से बाहर) है। (निगमन)

किसी आचार्य ने यहाँ पर कहा है—'ध्वनि काव्य-जीवन के रूप मे तुम्हें अभीष्ट है, किन्तु जीवन प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरिक्त होता है—क्योंकि अलङ्कारकारो ने उसका अभिधान नहीं किया है अतः वह ध्वन्यात्मक जीवन काव्य से भिन्न है यह बात लोक मे प्रसिद्ध है।' किन्तु उनका यह सब अपने ही कथन के विरुद्ध है। यदि काव्य मे प्राण प्रतिष्ठा करनेवाली ध्वनि अङ्गीकार कर ही ली

ध्वन्यालोकः

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः—न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्।

किञ्च वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते।

तीसरा पक्ष—फिर सम्भवतः दूसरे लोग उसके अभाव को दूसरे ही रूप में कहे। (वे कह सकते हैं कि) ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सम्भव नहीं है। यह ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करती। अतएव उसका उक्त रमणीयता हेतुओं मे ही अन्तर्भाव कर दिया जाना चाहिये। अथवा उसी में से किसी एक का नाम ध्वनि रख दिया जावे तो अपूर्व नाम रख देने से ही उस पर बहुत कम कहना शेष रह जावेगा।

दूसरी बात यह है कि वाणी के अनन्त विकल्प हो सकते हैं। अतएव ऐसा कोई सूक्ष्म भेद सम्भव भी हो सकता है जिसका परिगणन प्रसिद्ध काव्यलक्षणकार आचार्यों ने न किया हो, किन्तु फिर भी झूठी सहृदयत्व की भावना को लेकर वास्तविकता की ओर से अपनी आखें मूंदकर जो ये लोग ध्वनि ध्वनि चिल्लाते हुये नाचते फिरते हैं उसमें मुझे कोई औचित्य दिखलाई नहीं पड़ता। महात्मा आचार्यों ने सहस्रों की संख्या में अलङ्कारों के प्रकार प्रकाशित किये हैं तथा भविष्य में भी प्रकाशित किये जावेंगे। इनकी यह दशा सुनाई नहीं पड़ती।

लोचनम्

ननु भवत्वसौ चारुत्वहेतुः, शब्दार्थगुणालङ्कारान्तर्भूतश्च तथापि ध्वनिरित्यमुया भाषया जीवितमित्यसौ न केनचिदुक्त इत्यभिप्रायमाशङ्क्य तृतीयाभाववादमुपन्यस्यति—पुनरपर इति। कामनीयकमिति। कमनीयस्य धर्मं। चारुत्वहेतुतेति यावत्।

(प्रश्न) निस्सन्देह यह चारुत्व हेतु होवे और शब्द अर्थ गुण और अलङ्कारों के अन्तर्भूत भी (होवे) तथापि 'ध्वनि' इस प्रकार की उस भाषा के द्वारा 'जीवन है' यह किसी के द्वारा नहीं कहा गया इस अभिप्राय की आशङ्का करके (उत्तर के रूप मे) तृतीय अभाववाद को उपन्यस्त कर रहे हैं—पुनरपरे इति। कामनीयकमिति। कमनीय के कर्म को कामनीयक कहते हैं। आशय यह है कि चारुता की वृद्धि उत्पन्न करने मे कारण।

लोचनम्

ननुविच्छित्तीनामसंख्यत्वात् काचित्तादृशी विच्छित्तिरस्माभिर्दृष्टा या नानुप्रासादौ-नापि माधुर्यादावुक्तलक्षणेऽन्तर्भवेदित्याशङ्क्याभ्युपगमपूर्वकं परिहरति-वाग्विकल्पानामिति।

(प्रश्न) निस्सन्देह विच्छित्तियों के असंख्य होने के कारण कोई ऐसी विच्छित्ति हम लोगों के द्वारा देखी गई, जो न अनुप्रास इत्यादि में नहीं माधुर्य इत्यादि उक्त लक्षण में अन्तर्भूत हो सके, यह आशङ्का कर स्वीकृति के साथ उसका उत्तर दे रहे

तारावती

गई और अलङ्कार शास्त्र के आचार्यों ने उसका लक्षण किया भी नहीं तो उसका लक्षण करना ही चाहिये। इस प्रकार यह पूर्व पक्ष नहीं हो सकता। अतएव पहले कहा हुआ अभिप्राय ही ठीक है। [प्रथम और द्वितीय पक्षों में इतना ही भेद है कि प्रथम पक्ष में कहा गया था शब्द अर्थ गुण और अलङ्कार से भिन्न काव्यशोभाधायक कोई वस्तु है ही नहीं। इस पक्ष में कहा गया है कि 'यदि इनसे भिन्न ध्वनि नाम की कोई वस्तु मान भी ली जावे तो भी काव्य से उसका कोई सम्बन्ध सिद्ध ही नहीं हो सकता। वह धर्म शोभाधायक नहीं हो सकता।

यहाँ पर ध्वनिवादियों का यह अभिप्राय बतलाया जा सकता है कि 'ध्वनि रमणीय में कारण हो सकती है और वह शब्द, अर्थ तथा गुण और अलङ्कार में अन्तर्भूत भी की जा सकती है तथापि किसी ने भी ध्वनि शब्द का उच्चारण कर उसे काव्य का जीवन नहीं बतलाया है; अतएव उसका प्रकथन करना ही चाहिये। इसी अरुचि को लेकर तृतीय पक्ष की अवतारणा की है। [इस पक्ष का सारांश यह है कि यदि ध्वनि को चारुता-हेतु मान भी लें और वह शब्द अर्थ गुण और अलङ्कारों के अन्तर्गत भी सिद्ध हो जावे तो भी ध्वनि नाम की कोई अपूर्व वस्तु सिद्ध नहीं हो सकती। ध्वनि भी चारुता हेतुओं में एक है; अतएव उपर्युक्त चारुता हेतुओं में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया जाना उचित प्रतीत होता है। चारुता-हेतु तो वे ही हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। यह सारा विवाद उन्हीं में से एक का नाम रख देने के कारण खड़ा किया जा रहा है।] यहाँ पर कामनीयक शब्द का प्रयोग किया गया है। 'कमनीय' शब्द से वुञ् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है यदि यह प्रत्यय यहाँ पर 'भाव' अर्थ में माना जावेगा तो इसका अर्थ हो जावेगा 'रमणीयता'! अतएव यहाँ पर यह प्रत्यय 'कर्म' अर्थ में माना जाना चाहिये जिस से इस शब्द का अर्थ हो जावेगा 'रमणीय का कर्म' अर्थात् रमणीयता की वृद्धि उत्पन्न करने में कारण गुण और अलङ्कार।

(प्रश्न) विच्छित्ति के प्रकारों की संख्या नियत नहीं की जा सकती। अतएव हमें विच्छित्ति का कोई ऐसा प्रकार दिखलाई पड़ा जिसका अन्तर्भाव न तो उक्त

लोचनम्

वक्तीतिवाक् शब्दः । उच्यत इति वागर्थः । उच्यतेऽनयेति वागभिधाव्यापारः । तत्र शब्दार्थवैचित्र्यप्रकारोऽनन्तः । अभिधावैचित्र्यप्रकारोऽप्यसंख्येयः । प्रकारलेश इति । स हि चारुत्वहेतुर्गुणो वाऽलङ्कारो वा । स च सामान्यलक्षणेन सङ्गृहीत एवो यदाहुः—'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' इति । तथा—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृतिः' इति । ध्वनिर्ध्वनिरिति । वीप्सया सम्भ्रमं सूचयन्ननादरं दर्शयति—नृत्यत इति । तल्लक्षणकृद्भिस्तद्युक्तकाव्यविधायिभिस्तच्छ्रवणाद्भुतचमत्कारैश्च प्रतिपत्तृभिरितिशेषः । ध्वनिशब्दे कोऽत्यादर इति भावः । एषा दशेति । स्वयं दर्पः परैश्च स्तूयमानतेत्यर्थः । वाग्विकल्पाः वाक्प्रवृत्तिहेतुप्रतिभाव्यापारा इति वा ।

है—वाग्विकल्पानामिति । वाक् शब्द का (व्युत्पत्तिलभ्य) अर्थ है जो कहे अर्थात् शब्द, जो कहा जावे वह वाक् अर्थात् अर्थ, जिसके द्वारा कहा जावे वह वाक् अर्थात् अभिधा व्यापार । उनमें शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का प्रकार भी संख्यातीत है । प्रकार लेश इति । निस्सन्देह वह चारुत्व में हेतु गुण या अलङ्कार (हो सकता है ।) और वह सामान्य लक्षण के द्वारा सङ्गृहीत ही हो गया । जैसा कि कहा है—'काव्य शोभा के करनेवाले धर्म गुण होते हैं; उसकी अतिशयता में हेतु तो अलङ्कार होते हैं, यह, तथा 'वक्र अभिधेय और शब्द की उक्ति वाणी के अलङ्कार (की संज्ञा) के रूप में अभीष्ट है यह । ध्वनिर्ध्वनिरिति । वीप्सा (दो बार कथन) के द्वारा सम्भ्रम को सूचित करते हुये अनादर दिखला रहे हैं—नृत्यत इति ।

उसका लक्षण करनेवाले, उससे युक्त काव्य की रचना करने वाले तथा उससे अद्भुत चमत्कार वाले सहृदयों के द्वारा यह इतना (वाक्य में) शेष रह गया । आशय यह है कि ध्वनि शब्द में कौन बहुत अधिक आदर है ? एषा दशेति । अर्थ यह है कि स्वयं दर्प और दूसरों के द्वारा प्रशंसा किया जाना । वाग्विकल्पा इति । अथवा वाणी की प्रवृत्ति में हेतु प्रतिभा व्यापार के प्रकार ।

तारावती

लक्षण वाले अनुप्रास इत्यादि में ही हो सकता है और न माधुर्य इत्यादि में ही । अतएव ध्वनि नाम का पृथक् पदार्थ मानना ही चाहिये । इस प्रश्न का उत्तर पूर्व पक्ष की बात मानते हुये मूल में 'वाग्विकल्पानाम्‌⋯एषा दशा श्रूयते' इन शब्दों में दिया गया है । यहाँ पर 'वाक्' शब्द का प्रयोग किया गया है । यह शब्द 'वच्' धातु से क्विप् प्रत्यय हो कर बनता है । इस शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है—(१) कर्ता अर्थ में वक्तीतिवाक् अर्थात् जो अर्थ को कहे उस 'शब्द'

तारावती

को वाक् कहते हैं। (२) कर्म अर्थ में—'उच्यते इति वाक्' अर्थात् जो कहा जावे उसे 'वाक्' कहते हैं। इस व्युत्पत्ति से अर्थ का बोध हो जाता है और (३) करण के अर्थ में 'उच्यते अनया इति वाक्' अर्थात् जिस व्यापार के द्वारा अर्थ कहा जावे वह 'अभिधा व्यापार'। इस प्रकार यहाँ पर यह आशय निकलता है कि शब्द की विचित्रता भी अनन्त प्रकार की होती है: अर्थ की विचित्रता भी अनन्त प्रकार की होती है और अभिधा व्यापार की विचित्रताओं का भी परिसंख्यान नहीं किया जा सकता। मूल के प्रकार लेश शब्दका आशय यह है कि शब्द और अर्थकी विचित्रतायें अनन्त हैं—इस प्रकार यदि यह मान भी लिया जावे कि कोई ऐसा प्रकार सम्भव है जिसको काव्य के प्रसिद्ध लक्षणकार आचार्यों ने नहीं दिखलाया है तो भी उसका संग्रह सामान्य लक्षण के द्वारा हो ही जाता है। सामान्यलक्षण ये हैं—'काव्य शोभा कारक धर्मों को गुण कहते हैं और उसमें विशेषता का आधान करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहते हैं।' वक्रता पूर्ण (चमत्कार कारण) शब्द और अर्थ को अलङ्कार कहते हैं।' 'ध्वनि ध्वनि कह कर नाचते फिरते हैं' इस वाक्य में दोबार 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया गया है इससे सम्भ्रम व्यक्त होता है। 'नृत्यन्ति' शब्द से ध्वनिवादियों का ध्वनिसिद्धान्तविषयक आदर व्यक्त होता है। ये नाचने वाले हैं लक्षणकार आचार्य, ध्वनि सिद्धान्त को मान कर काव्य रचना करने वाले कवि और उसको सुनकर चमत्कृत होने वाले सहृदय। आशय यह है कि ध्वनि सिद्धान्त को आदर देने का कोई कारण नहीं। 'अन्य अलङ्कारों की यह दशा नहीं सुनी जाती' इस वाक्य में 'यह दशा' का अर्थ है कि अन्य अलङ्कारों के प्रवर्तक न तो स्वयं दर्प करते हैं और न दूसरे लोग ही उनकी प्रशंसा करते हैं। वाग्विकल्प शब्द का एक अर्थ यह भी हो सकता है—प्रतिभा के व्यापार अनेक प्रकार के होते हैं जिनसे वाणी प्रवृत्त हुआ करती है। (राजशेखर ने काव्य मीमांसा में यह पद्य उद्धृत किया है—

> आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनगृहीतसारोऽपि।
> अद्याप्यभिन्नमुद्रो विभाति वाचां परिस्पन्दः॥

अर्थात् यद्यपि संसार के प्रारम्भ से लेकर उदार कवि प्रतिदिन सार ग्रहण करते चले आए हैं और फिर भी वाणी के परिस्पन्द की मुद्रा अबतक भङ्ग नहीं हुई। आशय यह है जहाँ इतने अलङ्कार बढ़ते चले जा रहे हैं वहाँ ध्वनि नाम का एक अलङ्कार और सही उसके लिए इतना शोर मचाने की क्या आवश्यकता।

ध्वन्यालोके

✓ तस्मात्प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्। तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनः प्रह्लादि सालङ्कृति।
व्युत्पन्नैरचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्॥
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो-
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

अतएव ध्वनि सर्वथा प्रवादमात्र है। उसमे अधिक पीसने योग्य कोई भी तत्त्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता। यही बात एक दूसरे कवि ने इन प्रकार कही है:—

जिसमे न तो अलङ्कार से युक्त मन को प्रसन्न करनेवाली कोई वस्तु है, जो न विचित्र वचनों द्वारा रची गई है और न जिसमें वक्रोक्ति है जड़ लोग उसी काव्य को प्रेम से ध्वनि युक्त कर कह प्रशंसा करते हैं। नहीं पता यदि कोई पुण्यात्मा उनसे उसका स्वरूप पूछ दे तो वे क्या कहेंगे।

लोचनम्

तस्मात्प्रवादमात्रमिति। सर्वेषामभाववादिनां साधारण उपसंहारः। यतः शोभाहेतुत्वे गुणालङ्कारेभ्यो न व्यतिरिक्तः, यतश्च व्यतिरिक्तत्वेन शोभाहेतुः, यतश्च शोभाहेतुत्वेऽपि नादरास्पदं तस्मादित्यर्थः। न चेयमभावसम्भावना निर्मूलैव दूषितेत्याह—तथा चान्येनेति। ग्रन्थकृत्समानकालभाविना मनोरथनाम्ना कविना। यतो न सालङ्कृति अतो न मनःप्रह्लादि। अनेनार्थालङ्काराणामभाव उक्तः। व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैरिति शब्दालङ्काराणाम्। वक्रोक्तिः उत्कृष्टा सङ्घटना तच्छून्यमिति शब्दार्थगुणानाम्। वक्रोक्तिशून्यशब्देन सामान्यलक्षणाभावेन सर्वालङ्काराभाव उक्त इति केचित्। तैः पुनरुक्तत्वं न

तस्मात्प्रवादमात्रमिति। सभी अभाववादियों का यह साधारण उपसंहार है। क्योंकि शोभा हेतु होनेपर गुणों और अलङ्कारों से व्यतिरिक्त नहीं है, और क्योंकि व्यतिरिक्त होने पर शोभा हेतु नहीं है और क्योकि शोभा हेतु होने पर भी आदरास्पद नही है इसलिये—यह आशय है। नहीं ही यह अभाव सम्भावना निर्मूल ही दूषित की गई है यह कह रहे है—तथा चान्येनेति। ग्रन्थकार के समान काल मे होने वाले मनोरथ नाम के कवि के द्वारा। क्योंकि अलङ्कार से युक्त नही है इसलिये मनको आह्लाद देनेवाली नही है। इससे अर्थालङ्कारों का अभाव बतलाया गया है। 'व्युत्पन्न वचनों के द्वारा रचना नहीं की गई' इससे शब्दालङ्कारों का (अभाव बतलाया गया।) वक्रोक्ति उत्कृष्ट सङ्घटन (को कहते है।) उससे शून्य का अर्थ है शब्द और अर्थ गुणों से शून्य। वक्रोक्ति शून्य शब्द से सामान्यलक्षण के अभाव से सभी अलङ्कारों का अभाव कहा गया है यह कुछ लोग कहते हैं। उन्होंने तो

तारावती

'अतएव ध्वनि प्रवादमात्र है' यह समस्त अभाववादियों का सामान्य उपसंहार है। चाहे प्रथम पक्ष के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि गुण और अलङ्कारों से भिन्न कोई तत्त्व है ही नही अतः चाहे द्वितीय पक्ष के अनुसार यह मानें कि यदि ध्वनि गुण और अलङ्कारो से भिन्न है तो वह शोभा हेतु नहीं हो सकती, चाहे तृतीय पक्ष के अनुसार यह माने कि यदि ध्वनि को शोभा हेतु मान भी लें तो भी (अन्य नवीन अलङ्कारो के समान) उसके अधिक आदर का कोई कारण नहीं, इन तीनों ही पक्षों मे ध्वनि प्रवाद मात्र सिद्ध होती है। यद्यपि इसे अभाव वादों की सम्भावना मात्र की गई हैं तथापि यह सम्भावना सर्वथा निर्मूल नहीं।

इसीलिये यहाँ पर एक पद्य का उद्धरण दिया गया है जो कि आलोककार के समसामयिक मनोरथ नामक कवि का बनाया हुआ है। 'जिसमे कोई अलङ्कार युक्त, मन को प्रसन्न करने वाली वस्तु नही है' इस वाक्य मे 'अलङ्कार युक्त' हेतु है—क्योंकि उनमे अलङ्कार नही होते अतः वे मन को आनन्द देने वाले भी नही होते। इससे उस प्रकार के काव्य मे अर्थालङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। 'विचित्र शब्दो से रचना नहीं की गई' से शब्दालङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। वक्रोक्ति शब्द का अर्थ है उत्कृष्ट सङ्घटना, वक्रोक्तिशून्य शब्द का अर्थ है शब्द और अर्थ गुणों से रहित। कुछ लोगों का मत है कि यहाँ पर 'वक्रोक्ति शून्य' शब्द से सभी प्रकार के अलङ्कारों का अभाव व्यक्त होता है। क्योकि वक्रोक्ति अलङ्कारों का सामान्य लक्षण है और उस सामान्य लक्षण से रहित होने का आशय है सभी प्रकार के अलङ्कारों से रहित होना। इस विषय में मुझे केवल इतना ही कहना है कि अलङ्कारों के अभाव की बात तो पहले ही 'सालङ्कृति' इत्यादि शब्दो के द्वारा ही कह दी गई, वक्रोक्ति शून्य शब्द का भी वही अर्थ करने पर केवल पुनरुक्ति ही होगी इसका कोई समाधान नहीं किया गया। 'ध्वनि की प्रेम पूर्वक प्रशंसा करते हैं' इस वाक्य मे प्रेम पूर्वक शब्द का अर्थ है एक दूसरे की देखा-देखी! क्योंकि लोक की भेडचाल होती है और जो सिद्धान्त लोक मे प्रचलित हो जाता है उसके प्रति लोगो में स्वतः प्रेम उत्पन्न हो जाता है। 'किसी विद्वान् के द्वारा पूछे जाने पर वे उसका स्वरूप क्या बतलावेंगे' इस वाक्य मे 'विद्वान्' शब्द का अर्थ यह हैं कि मूर्खों के पूछने पर तो चाहे जो कुछ बतलाया जा सकता है, उन्हे भ्रूभङ्ग और कटाक्ष इत्यादि के द्वारा उत्तर देकर ही शान्त किया जा सकता है और उसका मनमाना स्वरूप बतलाया जा सकता है।

यह पद्य मनोरथ कवि का बतलाया गया है मनोरथ कवि का उल्लेख राज—

ध्वन्यालोकः

भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।

(अनु०) अन्य लोग उसे भाक्त कहते हैं। अर्थात् अन्य लोग ध्वनिसंज्ञावाली उस काव्य की आत्मा को गुणवृत्ति कहा करते हैं।

लोचनम्

परिहृतमेवेत्यलम्। प्रीत्येति गतानुगतिकानुरागेणेत्यर्थः। सुमतिनेति। जडेन पृष्टो भ्रूभङ्गकटाक्षादिभिरेवोत्तरं ददत्तत्स्वरूपं काममाचक्षीतेति भावः।

एवमेतेऽभावविकल्पाः शृङ्खलाक्रमेणागताः नत्वन्योन्यासम्बद्धा एव। तथाहि तृतीयाभावप्रकारनिरूपणोपक्रमे पुनः शब्दस्यायमेवाभिप्रायः। उपसंहारैक्यं च सङ्गच्छते।

अभाववादस्य सम्भावनाप्राणत्वेन भूतत्वमुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेष्वित्यभिप्रायेण भाक्तमाहुरिति नित्यप्रवर्तमानापेक्षयाभिधानम्।

फिर पुनरुक्तत्व दोप का भी निराकरण नहीं कर पाया (उनके खण्डन के लिये) इतना कहना ही पर्याप्त है। प्रीत्येति। भेड़चाल के अनुराग से यह अर्थ है। सुमतिनेति। मूर्ख के द्वारा पूछे जाने पर भ्रूभङ्ग कटाक्ष इत्यादि के द्वारा ही उत्तर देते हुये उस के स्वरूप को मनमाने ढग से कहदे (किन्तु विद्वानों के द्वारा पूछे जाने पर क्या करेगा?) यह भाव है।

इस प्रकार ये अभाव विकल्प शृङ्खलाक्रम से आये हैं; एक दूसरे से असम्बद्ध ही नहीं हैं। वह इस प्रकार कि-तृतीय अभाव प्रकार के निरूपण के उपक्रम में पुनः शब्द का यही अभिप्राय है, उपसहार की एकता भी (शृङ्खलाक्रम को मानने से) असङ्गत हो जाती है।

अभाववाद का प्राण है सम्भावना। अतः उसमें भूतकाल कहा गया है। भाक्तवाद तो पुस्तकों मे विच्छेदन रहित (रूप मे आया) है इस अभिप्राय से 'भाक्तमाहुः' इस नित्यप्रवृत्त वर्तमान की अपेक्षा करते हुये अभिधान किया गया है।

तारावती

तरङ्गिणी में जयापीड के राज्यकाल के प्रसङ्ग मे किया गया है। यदि ये वही जयापीड हैं तो यह सिद्ध हो जाता है। कि आनन्दवर्धन के पहले ही ध्वनिकारिकायें लिखी जा चुकीं थीं। सम्भव है कि अभिनव गुप्त का ग्रन्थकार से अभिप्राय ध्वनिकार से ही हो अथवा ये कोई अन्य मनोरथ कवि हो।

इस प्रकार ये अभाववाद के तीन पक्ष हैं। ये तीनों पक्ष शृङ्खला क्रमसे आये हैं; एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं हैं। इसीलिये तृतीय अभाववाद के उपक्रम मे 'पुनः' शब्द का प्रयोग किया गया है और तीनो वादो का एक ही उपसंहार किया गया है।

तारावती

अब लक्षणावाद को लीजिये। पहले बतलाया जा चुका है कि कारिका में अभाववाद और अशक्यवक्तव्यत्ववाद के लिये 'जगदुः' और 'ऊचुः' इन शब्दों से परोक्ष भूत का प्रयोग किया गया है तथा लक्षण पक्ष के लिये 'आहुः' इस वर्तमान काल का प्रयोग किया है। अभाववाद और अशक्यवक्तव्यवाद का उल्लेख किसी विशेष पुस्तक में नहीं मिलता। अतएव सम्भावना मात्र से ही उन पक्षों का उन्नयन कर लिया गया है। यही उन पक्षों के साथ परोक्ष भूत के प्रयोग का रहस्य है। किन्तु लक्षणा पक्ष अविच्छिन्न रूप में विभिन्न पुस्तकों में मिलता है। इसलिये उसके साथ वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है। अर्थात् वाद में भूतकाल के साथ सम्भावना व्यक्त होती है। लक्षणा पक्ष के साथ वर्तमान काल का प्रयोग उसके अविच्छिन्न प्रवाह को करता है।

[यहाँ पर संक्षेप में लक्षणा की प्रक्रिया पर विचार कर लेना आवश्यक है। जब हम वाक्य में किसी शब्द का प्रयोग करते हैं तब सर्व प्रथम उसके सङ्केतित अर्थ की उपस्थिति होती है। जैसे 'गङ्गा में घर' इस वाक्य के प्रयोग करने पर यहाँ 'गङ्गा' का अर्थ 'प्रवाह' उपस्थित होता है। फिर अन्वय अथवा तात्पर्य अनुपपन्न हो जाता है क्योंकि प्रवाह में घर बनाया ही नहीं जा सकता। अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति के कारण जब वाक्य अप्रमाणित हो जाता है और वक्ता का तात्पर्य किसी अन्य अर्थ (तट) में प्रतीत होता है तब उस तट अर्थ में लक्षणा कही जाती है। वास्तव में अन्वयानुपपत्ति लक्षणा का बीज नहीं है। क्योंकि यदि अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज मानी जावे तो 'घर' शब्द में 'मगर' की लक्षणा कर लेने से भी वाक्य की अनुपपत्ति जाती रहती है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये। लक्ष्यार्थ बोध के पहले शक्यार्थोपस्थिति आवश्यक तथा अनिवार्य है; क्योंकि शक्यार्थोपस्थिति के अभाव में तात्पर्यानुपपत्ति हो ही नहीं सकती। यह लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) अजहत्स्वार्था या उपादान लक्षणा-जिस लक्षणामें लक्ष्यार्थ की प्रतीतिके साथ शक्यार्थ की प्रतीति भी होती रहती है। जैसे 'छाते जा रहे हैं' 'भाले आ रहे हैं' 'कौओं से दही बचाओ' इन वाक्यों में छाता और भालों का आना जाना असम्भव है। अतएव छाता का अर्थ छाता लिये हुये पुरुष और भाला का अर्थ भाला लिये हुये पुरुष हो जाता है। पुरुषों के साथ छाता और भाला का आना जाना भी उपपन्न ही है। इसीलिये इस प्रकार की लक्षणा को अजहत्स्वार्था कहते हैं। इसी प्रकार कौओं से दही बचाओ इस वाक्य में 'कौआ' शब्द का लक्ष्यार्थ है—'दही को नष्ट कर देने वाला कोई पशु'। इन पशुओं के साथ कौआ का भी परित्याग नहीं होता।

तारावती

अतएव यह अजहत्स्वार्था लक्षणा है (२) दूसरे प्रकार को लक्षणा होती है जहत्स्वार्था या लक्षणलक्षणा। इसमे शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है। जैसे 'गङ्गा मे घर' 'कुर्सियाँ शोर मचा रही हैं' इत्यादि वाक्यों में गङ्गा और कुर्सी इन शब्दों के अर्थों का सर्वथा परित्याग हो जाता है और उनसे 'तट' तथा 'कुर्सियों पर बैठे आदमी' यह लक्ष्यार्थ निकल आता है। यही लक्षणा की संक्षिप्त प्रक्रिया है। इसका क्रम इस प्रकार है—सर्व प्रथम शक्यार्थोपस्थिति, फिर तात्पर्यानुपपत्ति और बाद में शक्यार्थ सम्बद्ध लक्ष्यार्थ की उपस्थिति। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि लक्ष्यार्थ सर्वदा शक्यार्थ सम्बद्ध होता है।

लक्षणा के विषय मे दो बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है—(१) किन सम्बन्धों से शक्यार्थ के स्थान पर लक्ष्यार्थ का बोध होता है? और (२) मुख्य शब्द का परित्याग कर लक्षक शब्द के प्रयोग में क्या कारण है? शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध मे महर्षि गौतम ने लिखा है—

'सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणबालकराजसक्तुचन्दनगङ्गाशकटान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः।'

(न्या० २–२–६३)

इसका आशय यह है कि सहचरण इत्यादि १० सम्बन्धों से जो पद जिस अर्थ मे शक्त नहीं होता है उस पद का उस अर्थ मे भी प्रयोग कर दिया जाता है। ये १० सम्बन्ध निम्नलिखित हैं:—

(१) सहचरण-जैसे 'छड़िया जा रही है' 'छाते आ रहे हैं;' यहाँ पर पुरुषों के साथ छाते और छड़ी भी जाते आते है। इसी सम्बन्ध से पुरुषों पर छड़ियो और छातों का आरोप कर दिया गया है। (२) स्थान (बैठना) जैसे 'कुर्सियाँ शोर मचा रही हैं' यहाँ पुरुषों पर कुर्सियो का आरोप किया गया है क्योंकि पुरुषो का कुर्सियों पर बैठने का सम्बन्ध है। (३) तादर्थ्य अर्थात् किसी निमित्त किसी वस्तु का होना। जैसे चटाई बनाने के लिये रक्खे हुये खस के लिये कोई चटाई शब्द का प्रयोग करे। (४) वृत्त या व्यवहार-जैसे 'यह राजा यम है' यहाँ पर व्यवहार की समानता के कारण राजा में यम का आरोप किया गया है। (५) मान या तौल का सम्बन्ध जैसे 'एक सेर चावल' यहाँ पर सेर पर चावलों का आरोप इसलिये किया गया क्योंकि चावल सेर से तोले गये हैं। (६) धारण करने का सम्बन्ध जैसे 'पर्वत जल रहा है' यहाँ पर वनों पर पर्वत का आरोप किया गया है क्योंकि पर्वत वनों को धारण करते है। (७) सामीप्य सम्बन्ध-जैसे 'गङ्गा में घर' यहाँ पर तटके लिये गङ्गा शब्द का प्रयोग इसी लिये हुआ है क्योंकि तट गङ्गा के समीप है। (८)

तारावती

योग या सम्मिलनका सम्बन्ध-जैसे कृष्ण एक गुण है। किन्तु योग के कारण कृष्ण गुण का आरोप 'साटक' मे कर लिया जाता है और लोग 'काली साडी' कहने लगते हैं। यहाँ पर साडी पर कृष्ण गुण का आरोप योग के कारण हुआ है। (६) साधन का सम्बन्ध-जैसे 'अन्न प्राण है' अन्न प्राण का साधन है; इसीलिये अन्न पर प्राणो का आरोप कर लिया जाता है। (१०) आधिपत्य सम्बन्ध-जैसे राजा के किसी नौकर के अभिमानी होने पर लोग कहते है 'हटो राजा साहब आ रहे हैं।'

उक्त समस्त सम्बन्धो को दो प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—सादृश्य सम्बन्ध और तद्भिन्न सम्बन्ध। किसी मूर्ख मनुष्य को बैल कहना सादृश्य सम्बन्ध है क्योकि जडता मन्दता इत्यादि गुणो के सादृश्य के आधार पर ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया जाता है। गुणो पर आधारित होने के कारण इस प्रकार की लक्षणा को गौणी लक्षणा कहते है। भिन्न सम्बन्धो मे होनेवाली लक्षणा शुद्धा कहलाती है। इस प्रकार सम्बन्ध की दृष्टि से लक्षणा दो प्रकार की मानी जाती है।

अब विचार करना है कि मुख्य शब्द के स्थान पर अमुख्य का प्रयोग होता क्यो है? आचार्यो ने इसके दो कारण बतलाये है (१) परम्परा और (२) कोई प्रयोजन। कुछ शब्दो का प्रयोग अमुख्य अर्थ मे स्वभावतः होने लगता है। जैसे 'मण्डप' (मॉड पीने वाला) का प्रयोग वितान के अर्थ मे; 'कुण्डल' (कुण्ड को ग्रहण करने वाला) का प्रयोग कर्णाभरण के अर्थ मे तथा 'कुशल' (कुशो को बीनने वाला) का प्रयोग दक्ष के अर्थ मे। इन शब्दो के प्रयोग मे न तो इनके मूल अर्थ की प्रतीति होती है और न प्रयोग के कारण का ही पता चलता है। इन शब्दो का शक्यार्थ के समान प्रयोग होता है। इस प्रकार की लक्षणा को निरूढा लक्षणा कहते है।

दूसरे प्रकार की लक्षणा प्रयोजनवती कहलाती है, क्योकि इन शब्दों का प्रयोग विशेष प्रयोजन को लेकर हुआ करता है। जैसे यदि एक गांव के अनेक व्यक्ति किसी स्थान पर चले जावे और उनको देख कर जो व्यक्ति यह कहने लगे 'आज अमुक गॉव यहीं उपस्थित है।' यहॉ पर गॉव के व्यक्तियो के लिये 'गॉव' शब्द का प्रयोग संख्या की अधिकता को व्यक्त करने के मतव्य से किया गया है। 'गाव के बहुत से लोग' इन शब्दो से संख्या की अधिकता इतने विशद रूप में प्रतीत नही होती जितनी व्यक्तियों के लिये ग्राम शब्द के प्रयोग से होती है। अतएव सख्या की अधिकता की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है। इसी प्रकार 'घी जीवन है' इत्यादि उदाहरणो मे समझना चाहिये।]

लोचनम्

भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिर्धर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादिः। तत आगतो भाक्तो लाक्षणिकोऽर्थः। यदाहु :—

अभिधेयेन सामीप्यात्सारूप्यात्समवायतः।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः। तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधानिमित्तप्रयोजनमितित्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति।

भाक्त का अर्थ यह है—भजन किया जाता है या पदार्थ के द्वारा सेवन किया जाता है अर्थात प्रसिद्ध के रूप मे उत्प्रेक्षित किया जाता है उसे भक्ति कहते है अर्थात् अभिधेय से सामीप्य इत्यादि धर्म, उससे (भक्ति से) आया हुआ भाक्त होता है अर्थात् लाक्षणिक अर्थ। जैसा कि कहते है—

'अभिधेय के साथ सामीप्य से, सारूप्य से, समवाय से, वैपरीत्य से और क्रियायोग से लक्षणा ५ प्रकार की मानी गई है।'

गुण समुदाय मे रहनेवाले (गुण समुदाय के बोधक) शब्द का तैक्ष्ण्य इत्यादि जो अर्थ भाग होता है उसे भक्ति कहते है, उससे प्राप्त हुये गौण अर्थ को भाक्त कहते है। प्रतिपादनीय सामीप्य तैक्ष्ण्य इत्यादि मे श्रद्धा की अधिकता को भक्ति कहते है। उसको प्रयोजन के रूप मे मानकर उससे प्राप्त होनेवाला (अर्थ) भाक्त (होता है) इस प्रकार गौण और लाक्षणिक (दोनो भाक्त कहलाते है।) और मुख्य अर्थ का भङ्ग (भी) भक्ति कहलाता है। इस प्रकार मुख्यार्थबाध, निमित्त और प्रयोजन इन तीन का होना उपचार बीज है यह कहा हुआ हो जाता है।

तारावती

लक्षणा के लिये भक्ति शब्द का भी प्रयोग होता है। इसी भक्ति शब्द से भाक्त शब्द बना है। भक्ति की व्युत्पत्ति कई प्रकार की हो सकती है। (१) 'भज सेवायाम्' धातु से कर्म अर्थ मे क्तिन् प्रत्यय होकर 'जिसका भजन या सेवन किया जावे' यह व्युत्पत्ति होगी अर्थात् भक्ति सामीप्य इत्यादि ऐसे धर्मो को कहते है जो कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति के निमित्त के रूप मे प्रसिद्ध हो चुके है और लक्ष्यार्थ अपने बोध के लिये जिनका सहारा लेता है अथवा वक्ता या बोद्धा लक्ष्यार्थ की प्रतीति के लिये जिन सामीप्य इत्यादि निमित्त रूप मे प्रसिद्ध धर्मो की पर्यालोचना किया करता है उन प्रसिद्ध सामीप्य इत्यादि धर्मो को भक्ति कहते है तथा उनसे प्राप्त होने वाला अर्थ भाक्त अर्थात लाक्षणिक अर्थ कहलाता है। अभियुक्तों का कहना है—

लोचनम्

काव्यात्मानं गुणवृत्तिरिति । सामानाधिकरण्यस्यायं भावः—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये ध्वनिभेदे 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादावुपचारोऽस्ति, तथापि न तदात्मैव ध्वनिः, तद्व्यतिरेकेणापि भावात्। विवक्षितान्यपरवाच्यप्रभेदादौ अविवक्षितवाच्येऽप्युपचार एव

काव्यात्मान गुणवृत्तिरिति। ('तं भाक्तम्' तथा 'तं ध्वनिसंज्ञितं' में) सामानाधिकरण्य का यह भाव है—यद्यपि अविवक्षित वाच्य नामक ध्वनि भेद 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि में उपचार है तथापि तदात्मा ही ध्वनि नहीं होती क्योंकि उसके अभाव में भी हो जाती है। विवक्षितान्यपरवाच्य नामक उपभेद इत्यादि

तारावती

(१) अभिधेय से सामीप्य सारूप्य समवाय वैपरीत्य और क्रियायोग इन ५ सम्बन्धों में किसी एक से सम्बन्धित होने के कारण लक्षणा ५ प्रकार की होती है। (२) शब्द का व्यवहार गुणों के समुदाय में होता है अर्थात् शब्द स्वसम्बन्ध गुणों का प्रतिपादन किया करता है। अतः शब्द का तीक्ष्णता इत्यादि जो अर्थ भाग है उसे भक्ति कहते हैं क्योंकि उस अर्थ भाग का सेवन किया जाता है। इस प्रकार गुणों के प्रतिपादन के कारण जो 'गौण' अर्थ निकलता है उसे भाक्त कहते हैं (३) भक्ति शब्द का अर्थ श्रद्धा की अधिकता भी है, अर्थात् बोधनीय अर्थ सामीप्य तीक्ष्णता इत्यादि के प्रति श्रद्धा की अधिकता। [जैसे 'बच्चा अग्नि है' में बच्चे की तेजस्विता का कथन करने में वक्ता की विशेष श्रद्धा है। यहाँ पर सामीप्य शब्द का प्रयोग प्रभाववश हो गया है;क्योंकि सामीप्य इत्यादि तो निमित्त हैं बोधनीय प्रयोजन नहीं हो सकते।] इस भक्ति को प्रयोजन के रूप में लेकर जो अर्थ होता है उसे भाक्त कहते है। इस प्रकार गौण और लाक्षणिक दोनों अर्थ भाक्त कहलाते हैं। (४) भक्ति, भञ्ज धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर भी बनता है जिसका अर्थ होता है भङ्ग करना या तोड़ना। लक्षणा में मुख्य अर्थ का भङ्ग किया जाता है इसीलिये इसे भाक्त कहते हैं। इस प्रकार लक्षणा के तीनो तत्त्व मुख्य अर्थ का भङ्ग; निमित्त और प्रयोजन-इस भाक्त शब्द से प्रतीतिगोचर हो जाते हैं। यही तीन लक्षणा के बीज हैं जिनसे उपचरित प्रयोग हुआ करता है।

'तं भाक्तम्' 'ध्वन्यात्मानं गुणवृत्तिरिति' इन शब्दो में सामानाधिकरण्य का प्रयोग किसी विशेष मन्तव्य से हुआ है। दो पदों का सामानाधिकरण्य सदा एक धर्मी का बोधक होता है। पक्ष का आशय यह है कि ध्वनि और गुणवृत्ति दोनों एक दूसरे से अभिन्न हुआ करते हैं। ध्वनिवादी का कहना है कि ध्वनि गुणवृत्ति पर भी आधारित होती है तथापि गुणवृत्ति ही ध्वनि नहीं होती। यद्यपि अविवक्षित वाच्य नाम ध्वनि भेद में 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' इत्यादि स्थानो पर लक्षणा का सहारा

ध्वन्यालोकः

यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।

(अनु०) यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उच्चारण कर न तो गुणवृत्ति को ही प्रकाशित किया है और न और ही कोई प्रकार बतलाया है। तथापि अमुख्य वृत्ति से काव्यों में व्यवहार दिखलाते हुये उसका-ध्वनि वर्ग का-कुछ स्पर्श अवश्य किया था जिसको परवर्ती आचार्यों ने नहीं लक्षित कर पाया तथा उन्होंने भी लक्षण नहीं बनाया था। यही कल्पितकर कहा गया है 'उसे कुछ लोग ध्वनि बतलाते हैं।'

लोचनम्

न ध्वनिरिति वक्ष्यामः। तथा च वक्ष्यति :—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।
अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्नचासौ लक्ष्यते तया॥ इति॥
कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्॥ इति च॥

गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च। तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्ति-र्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्याऽभि-धाव्यापारः। एतदुक्तं भवति ध्वनतीति वा, ध्वन्यत इति वा ध्वननमिति वा यदि ध्वनिः, तथाप्युपचरितशब्दार्थव्यापारातिरिक्तो नासौ कश्चित्। मुख्यार्थे ह्यभिधैवेति पारिशेष्याद-मुख्य एव ध्वनिः, तृतीयराश्यभावात्।

अविवक्षित वाच्य में भी उपचार ही होता है ध्वनि नहीं यह हम आगे चलकर कहेंगे। उसी प्रकार (ध्वनिकार भी) कहेंगे--

'रूप भेद होने के कारण यह ध्वनि भक्ति से एकरूपता को धारण नहीं करती। अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण यह उसके द्वारा लक्षित भी नहीं होती। किसी एक ध्वनि भेद का वह उपलक्षण (भले ही) हो जावे।' यह भी।

(गुण वृत्ति शब्द के अर्थ बतलाये जा रहे हैं) गुण का अर्थ है सामीप्य इत्यादि धर्म तथा तैक्ष्ण्य इत्यादि उपायों से जिस (शब्द) की अर्थान्तर में वृत्ति हो अथवा उन उपायों से शब्द की जिसमें (अर्थ में) वृत्ति हो उसे गुण वृत्ति कहते हैं अर्थात् शब्द अथवा अर्थ। अथवा गुणों के द्वारा वर्तमान होना गुण वृत्ति कहलाता है अर्थात् अमुख्य अभिधा व्यापार। यह बात कही गई है—चाहे ध्वनित करने वाले शब्द को ध्वनि कहे चाहे ध्वनित होने वाले अर्थ को ध्वनि कहे, चाहे ध्वनन व्यापार को ध्वनि कहे, उपचरित (गुण वृत्ति) शब्द के अर्थ व्यापार से भिन्न यह कोई वस्तु नहीं है। मुख्य अर्थ में अभिधा ही होती है; अतः परिशेष रहने से अमुख्य में ही ध्वनि होती है क्यों कि कोई तृतीय राशि होती ही नहीं।

लोचनम्

ननु केनैतदुक्तं ध्वनिर्गुणवृत्तिरित्याशङ्क्याह—यद्यपि चेति। अन्यो वेति। गुणालङ्कार

यह किसने कहा कि ध्वनि गुण वृत्ति होती है? यह शङ्का करके कह रहे हैं—'यद्यपि च' इत्यादि। अन्यो वा इति। अर्थात् गुण और अलङ्कार का

तारावती

लिया जाता है तथापि लक्षणा ही ध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि विवक्षितान्यपर-वाच्य इत्यादि ध्वनि भेदो मे विना ही लक्षणा के ध्वनि हो जाती है। अविवक्षित-वाच्य मे लक्षणा होती है किन्तु केवल ध्वनि ही नही होती यह बात आगे चलकर बतलाई जावेगी। दे० प्र० उद्योत की १४ वी तथा १६ वीं कारिका 'भक्त्या······लक्ष्यते तथा' और 'कस्य चित् · ·········उपलक्षणम्'।

[आलङ्कारिक लोग दो प्रकार की लक्षणा मानते है शुद्धा और गौणी। किन्तु मीमासक लोग गौणी वृत्ति को लक्षणा से पृथक् मानते हैं। ऊपर दिखलाया जा चुका है कि भक्ति शब्द से जहाँ लक्षणा के तीनों बीज गतार्थ हो जाते हे वहाँ गुण वृत्ति का समावेश भी भक्ति शब्द मे हो जाता है। जो लोग ध्वनि का लक्षणा में सन्निवेश करते है उनका मन्तव्य यह है कि जहाँ कहीं शब्द वाच्यार्थ व्यतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उस सबका समावेश भक्ति लक्षणा या गुणवृत्ति में ही हो जाता है। दूसरी बात यह है कि ध्वनि की समस्त विशेषतायें गुणवृत्ति शब्द में भी विद्यमान हैं।] गुणवृत्ति शब्द के तीन अर्थ हो सकते है—(१) गुण शब्द का अर्थ है सामीप्य इत्यादि तथा तीक्ष्णता इत्यादि धर्म। इन उपायो से जिस शब्द की दूसरे अर्थ मे वृत्ति या व्यवहार हो उस शब्द को गुणवृत्ति कहते हैं अर्थात् लक्षक शब्द। (२) उन उपायो से जिस अर्थान्तर मे शब्द का व्यवहार हो वह लक्ष्यार्थ अथवा। (३) गुण के द्वारा वर्तन करना या व्यवहार करना अर्थात् अमुख्य अभिधा (लक्षणा) व्यापार। इसी प्रकार ध्वनि शब्द के भी तीन अर्थ हो सकते हैं —(१) जो ध्वनित हो अर्थात् शब्द; (२) जो ध्वनित किया जावे अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ और (३) जिस प्रक्रिया के द्वारा ध्वनित किया जावे अर्थात् व्यञ्जना व्यापार। इस प्रकार ध्वनि और गुण वृत्ति इन दोनों शब्दो से एक से अर्थ ही निकलते हैं और ध्वनि शब्द के तीनों अर्थ गुणवृत्ति शब्द से भी गतार्थ हो जाते है। आशय यह है कि शब्द के दो ही व्यापार होते हैं मुख्य और अमुख्य। मुख्य व्यापार के लिये अभिधा वृत्ति का नाम लिया जाता है और अमुख्य व्यापार अथवा उपचरित शब्दार्थ को गुणवृत्ति के नाम से अभिहित किया जाता है। तीसरी राशि होती ही नहीं। अतएव अमुख्य व्यापार पर आधारित ध्वनि को

लोचनम्

प्रकार इतियावत्। दर्शयतेति—भट्टोद्भटवामनादिना। भामहेनोक्तम्—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' इति। अभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति। वामनोऽपि 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति। मनाक् स्पृष्ट इति। तैस्तावद्ध्वनिदिगुन्मीलिता यथालिखितपाठकैस्तु स्वरूपविवेकं कर्तुमशक्नुवद्भिस्तत्स्वरूपविवेको न कृतः, प्रत्युतोपालभ्यते, अभग्ननारिकेलवत् यथाश्रुततद्ग्रन्थोद्ग्रहणमात्रेणेति। अत एवाह—परिकल्प्यैवमुक्तमिति। यद्येवं न योज्यते तदा ध्वनिमार्गः स्पृष्ट इति पूर्वपक्षाभिधानं विरुध्यते।

प्रकार। दर्शयता इति। अर्थात् भट्टोद्भटवामन इत्यादि के द्वारा। भामह के द्वारा कहा गया—'शब्द छन्द अभिधानार्थ ·· · ··(काव्य हेतु हैं)' ऐसा यहाँ पर शब्द से अभिधानभेद की व्याख्या करने के लिये भट्टोद्भट ने कहा—शब्दों का अभिधान अर्थात् अभिधा व्यापार मुख्य तथा गुण वृत्त। वामन ने भी कहा—'सादृश्य से लक्षणा वक्रोक्ति होती है।' मनाक् स्पृष्ट इति। उन्होने तो ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया था। जैसा लिखा वैसा पढने वालो ने तो स्वरूप विवेक करने मे असमर्थ होकर उसके स्वरूप का विवेक नही किया; प्रत्युत (वे लोग) विना टूटे नारियल के फल के समान यथाश्रुत ग्रन्थ को ग्रहण करने के ही द्वारा उपालम्भ दे रहे है। इसीलिये कहते हैं—'परिकल्पित करके इस प्रकार कहा है' यह। यदि इस प्रकारकी योजना न की जावे तो ध्वनिमार्ग का स्पर्श किया गया है यह पूर्वपक्ष का कहना विरुद्ध हो जाता है।

तारावती

भी गुणवृत्ति मे ही सन्निविष्ट किया जा सकता है। ध्वनि गुणवृत्ति से पृथक् नहीं कही जा सकती। यही भक्ति अथवा लक्षणा पक्ष है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी ने ध्वनिको गुणवृत्ति वृत्ति का नाम दिया है या नही? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ध्वनि शब्द का उल्लेख कर किसी भी आचार्य ने गुणवृत्ति या गुण और अलङ्कार का कोई दूसरा प्रकार प्रकाशित नही किया है तथापि काव्य मे अमुख्य वृत्ति से व्यवहार करते हुये भट्टोद्भट वामन इत्यादि आचार्यों ने ध्वनि मार्ग का स्पर्श अवश्य किया था। भामह ने काव्य हेतुओ का परिगणन कराते हुये लिखा था 'शब्द, छन्द, अभिधान, इतिहासाश्रित कथा, लोक युक्ति और कला ये काव्य के हेतु होते है। (१—९) इस कारिका मे शब्द और अभिधान दोनो शब्दो का पृथक् पृथक् उपादान हुआ है। अतएव इन दोनो शब्दो के भेद की व्याख्या करते हुये भट्टोद्भट ने लिखा—

ध्वन्यालोकः

केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः

(अनु०) कुछ लोगों की बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार है कि वे ध्वनि के तत्त्व को वाणी की शक्ति से परे सहृदयहृदयसंवेद्यमान ही बतलाते हैं।

लोचनम्

शालीनबुद्धय इति अप्रगल्भमतय इत्यर्थः। एते च त्रय उत्तरोत्तरं भव्यबुद्धयः। प्राच्या हि विपर्यस्ता एव सर्वथा। मध्यमास्तु तद्रूपं जानाना अपि सन्देहेनापह्नुवते।

शालीन बुद्धय इति। अर्थात् अप्रगल्भ मतिवाले। ये तीनों उत्तरोत्तर भव्य बुद्धि वाले हैं। पहले के लोग (अभाववादी) सर्वथा विपर्यस्त ही हैं अर्थात् विपर्यय ज्ञान से युक्त हैं और वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ हैं। बीच के लोग उसके रूप को जानते हुये भी सन्देह से उसे छिपाते हैं। अन्तिम लोग न

तारावती

'अभिधान' शब्द का अर्थ है शब्दों का अभिधा व्यापार। वह दो प्रकार का होता है मुख्य तथा गुणवृत्ति।' वामन ने भी लिखा था—'सादृश्य से होनेवाली लक्षणा को वक्रोक्ति कहते हैं।' इस प्रकार भामह ने अभिधान शब्द के द्वारा, भट्टोद्भट ने गुणवृत्ति शब्द के द्वारा और वामन ने लक्षणा शब्द के द्वारा उस ध्वनि मार्ग का कुछ स्पर्श अवश्य किया था। उन्होंने केवल ध्वनि की दिशा का उन्मीलन किया था। किन्तु व्याख्याता लोगों ने जैसा पढ़ा था उसको वैसे का वैसा ही अर्थ कर दिया। वे उसके स्वरूप का विवेक करने में असमर्थ थे अतएव उन्होंने उसको स्वतन्त्र नहीं समझ पाया। अब वे ही लोग उसे उपालम्भ दे रहे हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति नारियल की बाहरी कठोरता को ही नारियल की वास्तविकता समझ जावे उसे तोड़कर उसके आन्तरिक-वास्तविक स्वाद को जानने की चेष्टा न करे। यही दशा उन व्याख्याताओं की हुई जिन्होंने जैसा सुना था वैसा ही ग्रहण कर लिया उसके रहस्य को जानने की चेष्टा नहीं की। आशय यह है कि पुराने आचार्यों ने इस बात की ओर सङ्केत किया था कि ध्वनि और लक्षणा एक ही तत्त्व है। व्याख्याताओं की असावधानता के कारण उसकी ठीक व्याख्या नहीं हो सकी। इस सन्दर्भ की ऐसी ही योजना करनी चाहिये; नहीं तो पूर्व पक्ष के प्रकरण में 'ध्वनि' के स्पर्श की बात कहना ठीक नहीं होगा।

पाँचवाँ पक्ष अशक्यवक्तव्यत्ववादियों का है जिनकी बुद्धि लक्षण करने में इतनी सुकुमार है कि वे कहते हैं उस ध्वनि का लक्षण बन ही नहीं सकता। सुकुमार का आशय है—'उनकी बुद्धि प्रगल्भ नहीं।'

ध्वन्यालोकः

तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।

(अनु०) अतएव इस प्रकार के मतभेद के होते हुये सहृदयों की आत्मा को आनन्द देने के उद्देश्य से हम उसके स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं।

लोचनम्

अन्त्यास्त्वनपह्नवाना अपि लक्षयितुं न जानत इति क्रमेण विपर्यासलन्देहाज्ञानप्राधान्यमेतेषाम्। तेनेति। एकैकोऽप्ययं विप्रतिपत्तिरूपो वाक्यार्थो निरूपणे हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्येकवचनम्। एवंविधासु विमतिष्विति निर्धारणे सप्तमी। आसु मध्ये एकोऽपि यो विमतिप्रकारस्तेनैव हेतुना तत्स्वरूपं ब्रूम इति। ध्वनिस्वरूपमभिधेयम्। अभिधानाभिधेयलक्षणो ध्वनिशास्त्रयोर्व्युत्पाद्यव्युत्पादकभावः सम्बन्धः। विमतिनिवृत्त्या तत्स्वरूपज्ञानं प्रयोजनम्। शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधकभावः सम्बन्ध इत्युक्तम्।

छिपाते हुये भी लक्षित करना नहीं जानते इस क्रम से इनके विपर्यास, सन्देह और अज्ञान की प्रधानता है। तेनेति। यह एक भी विप्रतिपत्तिरूप वाक्यार्थ निरूपण में हेतुता को प्राप्त हो जाता है इसलिये एक वचन का प्रयोग किया गया है।

'इस प्रकार की विमतियों में' इसमें निर्धारण में सप्तमी है। इनके बीच में एक भी जो विमति का प्रकार है उसी हेतु से हम उसका स्वरूप कह रहे हैं। ध्वनिरूप अभिधेय (विषय) है; ध्वनि और शास्त्र का अभिधानाभिधेय नामक (तथा) वक्ता श्रोता का व्युत्पाद्य-व्युत्पादक भाव सम्बन्ध है; विमति निवृत्ति के द्वारा उसके स्वरूप का ज्ञान प्रयोजन है, शास्त्र और प्रयोजनका साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है, यह कहा गया है।

तारावती

(अशक्य वक्तव्य वादियों का मत निम्नलिखित पद्य से भी व्यक्त होता है:—

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरङ्गैः स्फुटरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः॥

अर्थात् कवि का अभिप्राय शब्द से गोचर नहीं होता; केवल आर्द्र पदों से ही स्फुटित होता है। जो व्यक्ति उस अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त कर मौन हो जाते है और उनके रोमाञ्च ही उस आनन्द को कहा करते है हम उन्हें हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं।)

ध्वनि विरोधी यही उपर्युक्त ५ पक्ष हैं। उत्तरोत्तर पक्ष वालों की बुद्धि अधिक अच्छी है इनसे अभाववादी सबसे अधिक निकृष्ट कोटि के हैं। क्योंकि अभाववादियों को ध्वनि सिद्धान्त का ज्ञान ही नहीं है। अभाववादियों में सबसे अधिक

तारावती

निकृष्ट कोटि के वे लोग है जो ध्वनि को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। उनसे अच्छे वे लोग है जो ध्वनि को मानते तो है किन्तु उसको काव्य से असम्बद्ध बतलाते है। उनसे भी अच्छे वे लोग है जो ध्वनि को काव्य से सम्बद्ध तो मानते है किन्तु उसका अन्तर्भाव अन्यत्र करना चाहते है। किन्तु ये समस्त अभाववादी निम्नकोटि मे आते हैं यह पक्ष विपर्ययमूलक है। वादी मध्यम श्रेणी के हैं। क्योकि वे ध्वनिको समझते तो है किन्तु उसका अन्तर्भाव ऐसे स्थान पर कर देते हैं जहाँ उसका अन्तर्भाव सम्भव नही है यह पक्ष सन्देह मूलक है। अशक्यवक्तव्यत्व-वादी उसका अन्तर्भाव कहीं नहीं करना चाहते किन्तु उनको लक्षण बनाना नही आता। अतः वे पूर्वोक्त दोनों पक्षों से अच्छे है। यह पक्ष अज्ञान प्रधान है। यहाँ पर 'तेन' इस शब्द मे 'तत्' शब्द का तृतीया का एक वचन है। 'तत्' शब्द से पूर्वोक्त तीनो वादों का सङ्कलन हो जाता है। तृतीया से हेतुता सिद्ध होती है और एक वचन मे सिद्ध होता है कि विरोधियों का प्रत्येक वाक्यार्थ पृथक् पृथक् ध्वनि निरूपण मे हेतु है। आशय यह है कि 'ध्वनि का स्वरूप बतलाता हूँ' इस वाक्य का तीनो वाक्यो के साथ सम्बन्ध होता है। 'कुछ लोग ध्वनि का अभाव बतलाते है इसलिये हम उसके स्वरूप का विवेचन करते है' 'कुछ लोग उसे लक्षणा वृत्ति के अन्दर सन्निविष्ट करते है इसलिये हम उसका स्वरूप बतलाते है।' इस प्रकार इस वाक्यार्थ का तीनो के साथ सम्बन्ध होगा।

'इस प्रकार की विमतियो मे' इसमे निर्धारण (बहुतो मे एक इस अर्थ मे) मे सप्तमी है। इन विमतियो मे जो एक भी प्रकार है उसके कारण ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की जा रही है। यहाँ पर ध्वनि का स्वरूप विषय है। सहृदय अधिकारी है। वैमत्य के निराकरण के साथ ध्वनिस्वरूपज्ञान प्रयोजन है। शास्त्र और प्रयोजन का साधक-साध्यभाव सम्बन्ध है। शास्त्र साधक है प्रयोजन साध्य अथवा ध्वनि और शास्त्र का अभिधायकाभिधेय भाव सम्बन्ध है। ध्वनि अभिधेय है और शास्त्र अभिधायक है। इसी प्रकार वक्ता और श्रोता का व्युत्पादक व्युत्पाद्य भाव सम्बन्ध है। वक्ता व्युत्पादक है और श्रोता व्युत्पाद्य, यही आलोककार का अनुबन्ध चतुष्टय है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का श्रोताओं के दृष्टि कोण से प्रयोजन है—विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप को समझ लेना। उस प्रयोजन का प्रयोजन है सहृदयमनः-प्रीति। इसी भाग की व्याख्या करने के लिये आलोककारने 'तस्य हि .... आनन्दो लभता प्रतिष्ठाम्, यह भाग लिखा है। इसका अन्वय इस प्रकार होगा— 'ध्वनेः स्वरूपं लक्षयता मनसि आनन्दो लभता प्रतिष्ठाम्'! आनन्द का अर्थ है

ध्वन्यालोकः

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलकविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिना बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथच रामायण-महाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥ १ ॥

(अनु०) उस ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्य में उपनिषद्भूत प्रधान तत्त्व है तथा यह तत्त्व अत्यन्त रमणीय है। यद्यपि आचार्य लोग प्राचीन काल से ही काव्य लक्षण करते चले आये है। किन्तु उस ध्वनि का उन्मूलन कभी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म बुद्धि ने भी नही कर पाया। रामायण महाभारत प्रभृति लक्ष्य ग्रन्थो मे प्रसिद्ध व्यवहार वाली उस ध्वनि का लक्षण बनाकर जो लोग निरूपण करना चाहते हैं उन सहृदयो के हृदयो मे आनन्द पूर्ण प्रतिष्ठा तथा स्थिरता को प्राप्त होवे।

लोचनम्

अथ श्रोतृगतप्रयोजनप्रयोजनप्रतिपादकं 'सहृदयमनःप्रीतये' इति भागं व्याख्यातुमाह-तस्य हीति। विमतिपदपतितस्येत्यर्थः। ध्वनेःस्वरूपं लक्षयतां सम्बन्धिनि मनसि आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः प्रतिष्ठां परैर्विपर्यासाद्युपहतैरनुन्मूल्यमानत्वेन स्थेमानं लभतामिति प्रयोजनं सम्पादयितुं तत्स्वरूपं प्रकाश्यत इति सङ्गतिः।

अब श्रोता के अन्दर रहने वाले प्रयोजन प्रयोजन के प्रतिपादक 'सहृदयमनः प्रीतये' इस भाग की व्याख्या के लिये कह रहे है—'तस्य हि इति' अर्थात् विमति के पद में पडे हुये (ध्वनिस्वरूप) का ध्वनि के स्वरूप को लक्षित करने वालो के सम्बन्धी मन मे आनन्द (प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जावे।) आनन्द ऐसा, जिसकी आत्मा है दुःखों से छुटकारा तथा सुख की उपलब्धि तथा जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार है। प्रतिष्ठा का अर्थ है विपर्यास इत्यादि से उपहत (व्यक्तियो) के द्वारा उन्मूलन न हो सकने के कारण स्थिरता। (आनन्द प्रतिष्ठा को) प्राप्त हो जावे इस प्रयोजन के सम्पादन के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है, यह सङ्गति है।

तारावती

निर्वृत्ति संज्ञकतत्व जिसका दूसरा पर्याय चमत्कार भी हो सकता है। 'प्रतिष्ठा को प्राप्त हो' का आशय यह है—ऐसी स्थिरता को प्राप्त हो जावे जिसका उन्मूलन विपर्यास इत्यादि के द्वारा उपहत बुद्धि वाले (अभाववादी इत्यादि) न कर सकें। 'प्राप्त हो' का आशय यह है कि प्रयोजन को पूरा करने के लिये उसका स्वरूप प्रकाशित किया जा रहा है।

लोचनम्

प्रयोजन च नाम तत्सम्पादकवस्तुप्रयोक्तृताप्राणतयैव तथाभवतीत्याशयेन प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूम इत्येकवाक्यतया व्याख्येयम्। तत्स्वरूपशब्दं व्याचक्षाणः सङ्क्षेपेण तावत्पूर्वोदितेति विकल्पपञ्चकोद्धरणं सूचयति—सकलेत्यादिना। सकलशब्देन सत्कविशब्देन च प्रकारलेशे-कस्मिंश्चिदिति निराकरोति। अतिरमणीयमिति भाक्ताद्व्यतिरेकमाह। 'नहि सिंहो वटुः' 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र रम्यता काचित्। उपनिषद्भूतशब्देन तु अपूर्वसमाख्यामात्रकरण इत्यादि निराकृतम्। अणीयसीभिरित्यादिना गुणालङ्कारानन्तर्भूतत्वं सूचयति। अथ-चेत्यादिना 'तत्समयान्तःपातिन' इत्यादिना यत् सामयिकत्वं शङ्कितं तन्निरवकाशी-करोति। रामायणमहाभारतशब्देनादिकवेः प्रभृति सर्वैरेव सूरिभिरस्यादरः कृत इति दर्शयति। 'लक्षयतां'मित्यनेन 'वाचां' स्थितमविषये इति परास्यति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति। तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयतामित्यर्थः। सहृदयानामिति। येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी-भवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। यथोक्तम् —

प्रयोजन तो उसके द्वारा सम्पादनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करना ही प्राण होने से वैसा (ठीक रूप से प्रयोजन) होता है इस आशय से 'प्रीति के लिये उसका स्वरूप बतला रहे है' इसके साथ एकवाक्यता के द्वारा व्याख्या की जानी चाहिये। उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुये सङ्क्षेप में पहले बतलाये हुये पाचों विकल्पो का उद्धार सूचित कर रहे है—सकलेत्यादि। 'सकल शब्द सत्कवि शब्द के द्वारा—कोई प्रकार लेश सम्भव भी हो' इसका निराकरण कर रहे है। 'अत्यन्त रमणीय' इससे 'भाक्त' (लाक्षणिक) से पृथक्त्व कहते है। 'वटु सिंह है' 'गङ्गा मे घर' इन मे कोई रमणीयता नही ही है। 'उपनिषद्भूत' इस शब्द के द्वारा 'अपूर्वनाममात्र का रखना' इस का निराकरण कर दिया। 'अत्यन्त अणु भी ' इत्यादि के द्वारा गुण और अलङ्कार मे अन्तर्भाव नही हो सकता यह सूचित करते है। 'अथवा रामायण प्रभृति ' इत्यादि के द्वारा जो इसके होने की शङ्का की गई थी उसका निराकरण करते है। 'रामायण महाभारत' इत्यादि शब्दो के द्वारा 'आदि कवि से लेकर सभी कवियो ने इसका आदर किया है' यह दिखलाते है। 'लक्षित करने वाले' इसके द्वारा 'वाणी के विषय मे स्थित नही है' इसको परास्त करते है। जिसके द्वारा लक्षित किया जावे उसे लक्ष कहते है अर्थात् लक्षण। लक्ष से निरूपित करते है (उसको कहेगे) लक्षित करते हैं। उन सबका अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करनेवालो का। सहृदयानामिति। काव्यानुशी-लन के अभ्यास से जिनके विशद हुये मनोमुकुर मे वर्णनीय से तन्मय होने की योग्यता होती है वे अपने हृदय से संवाद (वर्णनीय वस्तु से एकीकरण) को प्राप्त होने वाले सहृदय होते है। जैसा कि कहा है—

तारावती

'तेन तत्स्वरूपं ब्रूमः' इस वाक्य से यह अर्थ आ जाता है कि विमति की निवृत्ति के साथ ध्वनि के स्वरूप का निर्वचन करना प्रस्तुत रचना का प्रयोजन है। किन्तु यह प्रयोजन मुख्य नहीं है अपितु मुख्य प्रयोजन प्रीति ही है। स्वरूप ज्ञान रूप प्रयोजन प्रीति का अङ्ग मात्र है। इन दोनों प्रयोजनों की यहाँ पर एक वाक्यता हो जाती है। प्रपूर्वक युज् धातु से ल्युट् होकर प्रयोजन शब्द निष्पन्न हुआ है। 'प्रयुङ्क्ते' 'प्रयोजयतीति वा प्रयोजनम्।' अर्थात् जो प्रयुक्त करे या प्रयोजित करे उसे प्रयोजन कहते हैं! आशय यह है कि प्रयोजन का प्राण ही यह है कि विवेचनीय वस्तु के प्रति प्रयुक्त करे या प्रेरित करे। जिसके कारण परिशीलक किसी विवेचनीय वस्तु के परिशीलन की ओर उन्मुख होता है उसे ही प्रयोजन कहते हैं। पाठक ध्वनि स्वरूप ज्ञान के लिये प्रस्तुत रचना के अध्ययन में प्रवृत्त होगा और प्रीति के लिये स्वरूप ज्ञान में प्रवृत्त होगा। यही इन दोनों की एक वाक्यता है।

यहाँ पर आलोककार ने स्वरूप शब्द की विस्तृत व्याख्या करते हुये ध्वनि विरोधी पाचों सिद्धान्तों का निराकरण करने पर एक सूक्ष्म दृष्टिपात किया है। वह ध्वनि समस्त सत्कवियों के काव्य में उपनिबद्धतप्रधान तत्त्व है—अतः यह कोई नहीं कह सकता कि वह थोड़े से विचारकों द्वारा प्रचलित अलङ्कारों का ही नया प्रकार कल्पित कर लिया गया है। 'यह तत्त्व अत्यन्त रमणीय है' इससे लक्षणा-पक्ष का व्यवच्छेद हो जाता है। 'गङ्गा में घर' 'बालक सिंह' इत्यादि लक्षणा मूलक वाक्यों में कोई रमणीयता नहीं होती जबकि ध्वनिकाव्य अत्यन्त रमणीय हुआ करता है। 'एक नया नाम रखदेने से क्या लाभ?' इस कथन का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'वह तत्त्व समस्तसत्काव्यों का उपनिबद्धन है। कुछ लोग कहते थे कि 'उस ध्वनि काव्य का अन्तर्भाव गुण अथवा अलङ्कार में कर दिया जाना चाहिये।' इन्हीं लोगों का प्रतिवाद करने के लिये आचार्य ने लिखा है—कि 'उसका निराकरण सूक्ष्म से सूक्ष्म कवि बुद्धि ने भी कभी नहीं कर पाया।

कतिपय आचार्यों ने यह कह कर उसे सामयिक बतलाया था कि 'कतिपय सहृदयों के मान लेने मात्र से ध्वनि का स्वरूप स्थिरता को प्राप्त नहीं हो सकता।' इन लोगों का निराकरण करने के लिये कहा गया है—'रामायण महाभारत प्रभृति समस्त सत्काव्यों में उसका आदर किया गया है और आदि कवि तक ने उसकी प्रतिष्ठा की है। अतएव ध्वनि केवल कतिपय सहृदयों की मान्यता का विषय नहीं है।' पाँचवा पक्ष यह था कि 'वह ध्वनि वाणी का विषय नहीं हो सकती। इसपक्ष का निराकरण करने के लिये ही कहा गया है कि 'कतिपय आचार्य

लोचनम्

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ इति ॥

'जो अर्थ हृदय से संवाद रखने वाला होता है उसकी भावनाएँ (निरन्तर-चर्वणा) रस चर्वणा-रसोद्भव मे हेतु होती है। अग्नि के द्वारा शुष्क काष्ठ के समान उसके द्वारा शरीर व्याप्त कर लिया जाता है।''

तारावती

उसका निरूपण लक्षण के द्वारा करना चाहते हैं'। 'लक्ष' धातु से घञ् प्रत्यय हो कर लक्ष बनता है। 'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षो लक्षणम्।' अर्थात् जिसके द्वारा लक्षित किया जावे उसे लक्ष कहते है अर्थात् लक्षण। इस लक्ष की णिच् प्रत्यय द्वारा क्रिया बनाई गई है। लक्ष या लक्षण के द्वारा किसी तत्त्व का निरूपण करना 'लक्ष-क्रिया का अर्थ है। उसका शतृ प्रत्ययान्त रूप बना है 'लक्षयताम्' अर्थात् लक्षण के द्वारा निरूपण करने वाले।

['लक्षयता 'की उक्त व्याख्या पर श्री महादेव शास्त्री ने दिव्याञ्जन टिप्पणी मे लिखा है—'यहाँ पर करण मे घञ् दुर्लभ है क्योकि ल्युट् प्रत्यय के द्वारा उस का बाध हो जाता है। किन्तु महाभाष्यकार ने 'उपदेशेऽजनुनासिक' इससूत्र के उपदेश शब्द की व्युत्पत्ति मे करण मे घञ् माना है। उसी आधार पर लक्ष धातु से बाहुलक का आश्रय लेकर करण में घञ् किया जा सकता है। मुझे तो ऐसा मालूम पडता है कि 'लक्षयता' का सीधा अर्थ 'निरूपयता' कर दिया जाना चाहिये निरूपण का अर्थ ही है लक्षण के द्वारा लक्ष्य का बोध। इस प्रकार धात्वर्थ के द्वारा ही लक्षण इत्यादि से निरूपण सङ्गृहीत हो जाता है फिर अगतिक गति और बाहुलक का आश्रय लेकर करण घञन्त के द्वारा व्युत्पादन का प्रयत्न क्यों करना चाहिये यह बुद्धिमानो के विचार का विषय है। 'किन्तु यहाँ पर अगतिक गति का आश्रय व्यर्थ नहीं है। सामान्य अर्थ के द्वारा लक्षण का सङ्ग्रह अगतिक गति है। यहाँ पर ग्रन्थकार विशेष रूप से इस बात पर बल देना चाहता है कि ध्वनि सिद्धान्त का अब तक लक्षण नही बनाया गया। किन्तु उसका लक्षण बनाने की कामना से लोगो को है। ग्रन्थकार का यह अभिप्राय सामान्य अर्थ के द्वारा सिद्ध नही हो सकता। इसीलिये बाहुलक तथा अगतिक गति का आश्रय लिया गया है।]

इस प्रबन्ध के सहृदय अधिकारी है। काव्यानुशीलन से जिनके मनोमुकुर विशद हो गये है उनका वर्णनीय विषय से तन्मयता प्राप्त कर लेना ही सहृदयता का एक मात्र लक्षण है; जैसा कि कहा गया है—'जिस अर्थ मे हृदय को तन्मय कर देने की शक्ति होती है उसकी भावना अथवा निरन्तर चर्वणा ही चर्वणा प्राण

लोचन

आनन्द इति । रसचर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति । तेन यदुक्तम्—

ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनाश्रयः ।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्येंऽशत्वं न रूपता ॥ इति ।

तदपहस्तितं भवति । तथा ह्यभिधाभावनारसचर्वणात्मकेऽपि त्र्यंशे काव्ये रसचर्वणा तावज्जीवितभूतेति भवतोऽप्यविवादोऽस्ति । यथोक्तं त्वयैव—

काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक् । इति ।

'आनन्द इति' । रसचर्वणात्मक (आनन्द) की प्रधानता दिखलाते हुये रसध्वनि का ही सर्वत्र मुख्यभूत आत्मत्व दिखला रहे हैं । इससे जो यह कहा था—

'और जो ध्वनि नाम का भी व्यञ्जनात्मक व्यापार (बतलाया गया है) उसके (अभिधा और भावना दो) भेद सिद्ध हो जाने पर भी काव्य में अंशत्व ही होगा (काव्य) रूपता नहीं होगी ।'

वह निराकृत हो जाता है। वह इस प्रकार कि अभिधा भावना और रस आत्मावाले तीन अंशो से युक्त काव्य मे रसचर्वणा जीवनरूप मे स्थित है, इस विषय मे आपको भी विवाद नहीं है । जैसा कि आपने ही कहा है—

'काव्य मे सभी रस लेनेवाले होते हैं न ज्ञानार्जन करनेवाले और न (उचित कार्यों मे) नियुक्त होनेवाले ।'

तारावती

रस की अभिव्यक्ति मे हेतु होता है । जिस प्रकार सूखे काठ मे अग्नि व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार हृदय को एकाकार रूप में परिणत कर वह अर्थ सारे शरीर पर प्रभाव डाला करता है । इसी कारण रसचर्वणा के अवसर पर रोमाञ्चादि शारीरिक विकारों का अनुभव होता है ।

यहाँ पर आनन्द शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ मे हुआ है । रस की चर्वणा ही आनन्द की आत्मा अथवा स्वरूप है । आनन्द शब्द के प्रयोग के द्वारा यही दिखलाया गया है कि प्रधानता रसध्वनि की ही होती है और सर्वत्र रसध्वनि ही मुख्य आत्मा मानी जा सकती है । अतएव भट्ट नायक ने जो कहा था कि 'ध्वनि नाम का जो दूसरा व्यञ्जनात्मक व्यापार है यदि वह अभिधा और व्यञ्जना से भिन्न एक नया प्रकार मान भी लिया जावे तो भी वह अंश ही होगा काव्य का स्वरूप कभी नहीं हो सकता ।' इसका निराकरण स्वतः हो जाता है । वह इस प्रकार—रस, अलङ्कार और वस्तु भेद से ध्वनि तीन प्रकार की बतलाई गई है, उनमें रस-चर्वणा ही काव्य का जीवन होती है इस विषय मे तो भट्ट

लोचन

तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्यभिप्रायेणांशमात्रत्वमिति सिद्धसाधनम्। रसध्वन्यभिप्रायेण तु स्वाभ्युपगमप्रसिद्धिसंवेदनविरुद्धमिति। तत्र कवेस्तावत्कीर्त्यापि प्रीतिरेव सम्पाद्या। यदाह—'कीर्तिं स्वर्गफलामाहुः' इत्यादि। श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिप्रीती यद्यपि स्तः, यथोक्तम्—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ इति॥

तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो मित्रसम्मितेभ्यश्चेतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति प्रधान्येनानन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं फलम्।

इसलिये वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि के अभिप्राय से (यदि) अंशत्वमात्र (मानो) तो सिद्ध बात का ही सिद्ध करना है। रसध्वनि के अभिप्राय से तो अपने सिद्धान्त, प्रसिद्धि और संवेदन के विरुद्ध है। उसमें कवि की कीर्ति से भी प्रीति ही सम्पादन करने योग्य होती है। जैसाकि कहा है–'कीर्ति को स्वर्ग-फलवाली कहते हैं' जैसा कि कहा गया है—

'साधु काव्य का सेवन करना धर्म अर्थ काम और मोक्ष में तथा कलाओं में विचक्षणता कीर्ति और प्रीति को करता है।'

तथापि उसमें प्रीति ही प्रधान है! नहीं तो व्युत्पत्ति में हेतु प्रभुसम्मित वेद इत्यादि से तथा मित्रसम्मित इतिहास इत्यादि से व्युत्पत्ति में हेतु काव्य रूप की जायासम्मित लक्षणवाली विशेषता ही क्या रहे। इसप्रकार प्रधानतया आनन्द ही यहाँ पर कहा गया है। चतुर्वर्ग व्युत्पत्ति का भी आनन्द ही पार्यन्तिक (अन्तिम) मुख्य फल है।

तारावती

नायक को भी विवाद नहीं है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—'काव्य में न तो ज्ञान ही प्रधान है और न उपदेश ही। उसमें एकमात्र रस की प्रधानता है। यदि ध्वनि को अंश मानने से भट्ट नायक का अभिप्राय यह है कि वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनियाँ अंश होती हैं तो जो कुछ हमने कहा है उसी को वे भी सिद्ध कर रहे हैं। यदि उनका अभिप्राय रस ध्वनि को अंश मानने से है तो वे स्वयं अपने स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध जा रहे हैं, प्रसिद्धि के भी विरुद्ध हैं और सहृदयों के स्वसंवेदनसिद्ध तत्त्व के भी विरुद्ध है।

लोचन

आनन्द इति च ग्रन्थकृतो नाम। तेन स आनन्दवर्धनाचार्य एतच्छास्त्रद्वारेण सहृदयहृदयेषु प्रतिष्ठां देवतायतनादिवदनश्वरीं स्थितिं गच्छत्विति भावः। यथोक्तम्—

आनन्द इति। आनन्द यह ग्रन्थकार का नाम है। इससे वे आनन्दवर्धनाचार्य इस शास्त्र के द्वारा सहृदयों के हृदयों मे प्रतिष्ठा अर्थात् देवमन्दिर के समान न नष्ट होनेवाली स्थिति को प्राप्त होवे, यह भाव है। जैसा कहा गया है--

तारावती

आनन्द शब्द से काव्य के प्रयोजन पर भी प्रकाश पड़ता है। यद्यपि आचार्यों ने काव्य के अनेक प्रयोजन माने हैं तथापि उनमें आनन्द की ही प्रधानता है। कवि के दृष्टिकोण से काव्य के प्रयोजन कीर्ति और प्रीति है। कीर्ति के द्वारा भी प्रीति का ही सम्पादन होता है, जैसा कि कहा गया है—'कीर्ति का फल स्वर्ग है।' स्वर्ग आनन्द का ही दूसरा नाम है। श्रोता के दृष्टिकोण से व्युत्पत्ति और प्रीति ये दो फल काव्य के प्रयोजन कहे जाते है। जैसा कि कहा गया है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा कलाओं मे निपुणता कीर्ति और प्रीति ये फल सत्काव्य के आस्वादन से उत्पन्न होते है।' तथापि इनमें प्रीति ही प्रधान है क्योंकि विचक्षणता काव्य का मुख्य नहीं किन्तु गौण प्रयोजन है। उपदेश तीन प्रकार के होते है (१) प्रभुसम्मित उपदेश—जैसे वेदशास्त्रों का उपदेश राजाज्ञा के समान अनिवार्य होता है। उसके न मानने पर प्रायश्चित्त रूप दण्ड सहन करना पडता है। (२) मित्रसम्मित उपदेश—जैसे दर्शन या इतिहास पुराण इत्यादि का उपदेश जिसका मित्र की सम्मति के समान किसी समय खण्डन किया जा सकता है (३) कान्तासम्मित उपदेश—यही काव्य का उपदेश होता है। जिसमे प्रणयिनी के प्रणय की भाँति सर्वदा आनन्द की ही प्रधानता होती है। उससे पड़नेवाला प्रभाव यद्यपि गौण होता है फिर भी स्थायी तथा अनिवार्य होता है। राजाज्ञा के प्रतिकूल आन्दोलन किया जा सकता है, मित्रो की सम्मति ठुकराई जा सकती है किन्तु आनन्दानुभूति के साथ प्रणयिनी जो प्रभाव जमा देती है उसके पालन मे एक प्रकार की बाध्यता सी आ जाती है। इसी प्रकार वेद-शास्त्रादि के उपदेश ठुकराये जा सकते है किन्तु काव्यानुशीलन से पड़े हुए प्रभाव का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। चारों वर्गों की व्युत्पत्ति का भी अन्तिम लक्ष्य आनन्द ही है। आचार्य कुन्तक ने तो इसे काव्यरसास्वाद से भी बढ़कर बतलाया है—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

लोचन

भवति । न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात् । तदाह–सहृदयश्लाघ्य इति । स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते ।

मात्र से ही काव्य का नाम नहीं पड़ जाता क्योंकि लौकिक-वैदिक वाक्यो मे वह बात नहीं होती । यही कह रहे हैं—सहृदयश्लाघ्य इति । वह एक ही अर्थ दो शाखाओ के रूप में विवेकियो के द्वारा विभाग बुद्धि से विभक्त किया गया है ।

तारावती

दूसरी कारिका मे अर्थ के दो भेद किये गये हैं—वाच्य और प्रतीयमान । यहाॅ पर प्रश्न उठता है कि प्रतिज्ञा तो यह की थी कि 'ध्वनि का स्वरूप कह रहे है ।' किन्तु दो भेदो मे वाच्य को भी सम्मिलित किया है । इस ग्रन्थ की सङ्गति कैसे बैठती है ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए आलोककार ने अवतरण लिखा है कि 'वहाॅ पर यह कारिका ध्वनि सिद्धान्त के लक्षण की भूमिका है ।' 'वहाॅ पर' का आशय है उक्त अभिधेय और प्रयोजन के होते हुए । भूमिका शब्द का अर्थ है भूमि के समान । ध्वनि एक प्रासाद है, जिस प्रकार नवीन प्रासाद का निर्माण करने के लिए पहले भूमि तैय्यार की जाती है, उसी प्रकार ध्वनिरूपी प्रासाद के लिए भूमिका के रूप मे निर्विवाद सिद्ध वाच्यार्थ का अभिधान किया गया है । क्योकि अर्थ का अधिक भाग प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के आधार पर ही प्रतीतिगोचर होता है । वाच्यार्थ के समकक्ष प्रतीयमान अर्थ को गिनाने का आशय यह है कि जिस प्रकार वाच्यार्थ का अपलाप नहीं किया जा सकता उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ का भी अपलाप नहीं हो सकता । कारिका मे स्मृतौ शब्द आया है—इसका अर्थ यह है कि मनु इत्यादि धर्मशास्त्रकारो ने जिस प्रकार स्मृतियाॅ लिखी है उसीप्रकार सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो भेदो का प्रकथन पुराने आचार्यों ने किया है । इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि 'ध्वनि पहले समाम्नात की जा चुकी है ।'

'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं' इसमे शरीर शब्द कथन से ही यह सिद्ध होता है कि इस शरीर में कोई न कोई आत्मा अवश्य होनी चाहिए । तभी काव्य जीवित कहा जा सकेगा । शब्द आत्मा नहीं हो सकता क्योकि उसको तो शरीर स्थानीय ही माना जा चुका है और जिसप्रकार सभी व्यक्ति शरीर के स्थूलत्व तथा कृशत्व का भी श्रावण प्रत्यक्ष कर सकते है । अतएव शब्द भिन्न ही कोई आत्मा होनी चाहिए । अर्थ दो प्रकार का होता है—एक अर्थ ऐसा होता है कि उसमे ऐसी कोई विशेषता नहीं होती जो सहृदयों को आकर्षित कर सके और दूसरा अर्थ ऐसा होता है जिसकी प्रशंसा सहृदय लोग स्वयं करने लगते

लोचन

तथाहि तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते ? तद्भवितव्यं तत्र केनचिद्विशेषेण । यो विशेषः, स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते । वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे । अत एव अर्थ इत्येकतयोपक्रम्य सहृदयश्लाघ्य इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ भेदावंशावित्युक्तम्, न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति ।

वह इस प्रकार—अर्थरूपता के समान होते हुये भी क्या कारण है कि किसी की ही सहृदय लोग श्लाघा करते है । तो उसमें कुछ विशेष होना चाहिये । जो विशेष है वह प्रतीयमान भाग विशेष होने के कारण ज्ञानियों के द्वारा आत्मा के रूप मे व्यवस्थापित किया जाता है । वाच्यार्थ सम्मिलन से विमोहित हृदयवालों के द्वारा तो उसके पृथक् होने मे विप्रतिपत्ति उठाई जाती है जैसे चार्वाकों के द्वारा आत्मा के पृथक् होने में (आपत्ति उठाई जाती है ।) इसीलिये उपक्रम मे 'अर्थ' यह एक वचन के रूप में कहकर 'सहृदयश्लाघ्य' इस विशेषण के द्वारा हेतु कह कर अपोद्धार (विभाग) की वृद्धि से उसके दो भेद अर्थात् अंश होते हैं यह कहा, यह नहीं कहा कि काव्य की दोनों आत्मा होती हैं ।

तारावती

है । इन दोनों मे प्रथम प्रकार का साधारण अर्थ काव्य का शरीर-स्थानीय ही माना जाता है और द्वितीय प्रकार का अर्थ काव्य की आत्मा होता है । शब्द के समान अर्थ सर्वजनसंवेद्य नहीं होता । दूसरी बात यह है कि अर्थ की सत्तामात्र से ही 'काव्य' संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि लौकिक और वैदिक वाक्यों मे अर्थ तो होता है किन्तु उन्हें हम काव्य नहीं कहते । यही बात इन शब्दों में कही गई है कि 'सहृदयश्लाघ्य अर्थ को काव्यात्मा की संज्ञा प्राप्त होती हैं ।' एक ही अर्थ को दो शाखाओं में विभक्त कर लिया जाता है । वह इस प्रकार—यद्यपि काव्यार्थ और लौकिक अर्थ मे इस बात मे समानता है कि दोनों को 'अर्थ' की संज्ञा प्राप्त होती है तथापि इसका क्या कारण है कि सहृदय लोग काव्यार्थ की तो प्रशंसा करते हैं लौकिक अर्थ की प्रशंसा नहीं करते । अतएव काव्यार्थ मे लौकिक अर्थ की अपेक्षा कोई न कोई विशेषता माननी ही पड़ेगी । जो विशेषता होती है वही प्रतीयमान भाग कहलाता है । विशेषता में हेतु होने के कारण विद्वान् लोग प्रतीयमान अर्थ को ही आत्मा के रूप में व्यवस्थापित करते हैं । किन्तु उसमे वाच्यार्थ का मिश्रण रहता है जिसमें व्यामोह मे पड़कर दोनों अर्थों की एकता समझकर कतिपय असहृदय व्यक्ति प्रतीयमान अर्थ को मानने का विरोध करते हैं । जैसे चार्वाक लोग शरीर से पृथक्

तारावती

आत्मा को मानने मे विप्रतिपत्ति करते है। इसलिए 'अर्थः' इस शब्द मे एक-वचन का निर्देश किया है और उसका विशेषण दिया है 'सहृदयश्लाघ्य'। यह विशेषण काव्यार्थ की विशेषता के हेतु को अभिव्यक्त करता है। भेद शब्द का अर्थ है अंश। दोनों अर्थों के सम्मिश्रण के कारण एकता की बुद्धि से एक वचन का प्रयोग कर दिया गया है और विभागबुद्धि से दो अंश बतला दिये गये हैं। यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि दोनों अर्थ—वाच्य और प्रतीयमान काव्य की आत्मा होते है।

यहाँ पर टीकाकारों ने प्रायः एक शङ्का उठाई है कि ध्वनिकार ने प्रतिज्ञा तो ध्वनि-विवेचन के लिए की थी, बीच मे वाच्यार्थ का वर्णन क्यों करने लगे? इस सन्दर्भ से विश्वनाथ जैसे आचार्य को भी भ्रम हो गया और उन्होंने लिखा है कि जब ध्वनि सदा प्रतीयमान नहीं होती है तब उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद कर देना स्ववचोव्याघात है। अभिनव गुप्त ने इस सम्भावित आक्षेप का उत्तर यह दिया है कि 'यह ध्वनि-विवेचन की भूमिकामात्र है।' इसका आशय यह है कि केवल अर्थ की सत्ता ही काव्यसंज्ञा-प्रवर्तिका नहीं होती। लौकिक वैदिक वाक्यो में अर्थ होते हुए भी उन्हे काव्यसंज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। किसी भी वाक्य को काव्य संज्ञा तभी प्राप्त हो सकती है जब उसमे किसी प्रकार की रमणीयता हो। अर्थ का यही रमणीयता-प्रयोजक अंश प्रतीयमान अर्थ कहा जाता है। इस अर्थ में वाच्यार्थ का भी मिश्रण रहता है। अतएव भूमिका के रूप मे वाच्यार्थ का उल्लेख मात्र किया गया है। पूरे सन्दर्भ का आशय यही है कि रमणीयता केवल प्रतीयमान अर्थ मे होती है।

यद्यपि महान् आचार्यो पर कटाक्षनिक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता तथापि इस व्याख्या से न तो पूर्वापर ग्रन्थ की सङ्गति बैठती है और न विश्वनाथ के आक्षेप का उत्तर ही हो पाता है। यहाँ पर सहृदयश्लाघनीय अर्थ को काव्य की आत्मा कहा गया है और उसी आत्मा के दो भेद किये गये है वाच्य और प्रतीयमान। अतएव यह नही कहा जा सकता कि रमणीयता वाच्यार्थ मे नही होती। मेरी समझ मे इस ग्रन्थ की सङ्गति इस प्रकार लगना अधिक युक्तियुक्त होगा—'सहृदय-श्लाघनीय अर्थ ही काव्य की आत्मा है, प्राचीन आचार्यो ने इस आत्मा की जिस रूप मे व्याख्या की है उसका विवेचन करने से ज्ञात होता है कि यह आत्मा दोनो रूपों मे मानी जाती रही है वाच्य भी और प्रतीयमान भी।' यहाँ पर 'स्मृतौ' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार धार्मिक व्याख्या देनेवाले आचार्य किसी विषय मे वैकल्पिक पक्षो की व्यवस्था देते हैं

ध्वन्यालोकः

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।

(अनु०) जिस प्रकार शरीर में आत्मा की सत्ता होती है उसी प्रकार ललित और उचित सन्निवेश के कारण सुन्दर प्रतीत होनेवाले काव्य में भी सहृदयश्लाघनीय जो अर्थ साररूप में स्थित होता है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो अर्थ हुआ करते हैं।

लोचन

कारिकाभागगतं काव्यशब्दं व्याकर्तुमाह—काव्यस्य हीति। ललितशब्देन गुणालङ्कारानुग्रहमाह। उचितशब्देन रसविषयमेवौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेर्जीवितत्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्रोद्घोष्यत इतिभावः योऽर्थ इति यदानुवदन् परेणाप्येतत्तावदभ्युपगतमिति दर्शयति तस्येत्यादिना तदभ्युपगम एव द्व्यंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति। तेन यदुक्तम्—'चारुत्वहेतुत्वाद्गुणालङ्कार–व्यतिरिक्तो न ध्वनिः' इति, तत्र ध्वनेरात्मस्वरूपत्वाद्धेतुरसिद्ध इति दर्शितम्।

कारिका भाग में आये हुये काव्य शब्द की व्याख्या करने के लिये कहते हैं—काव्यस्य हीति। ललित शब्द के द्वारा गुण और अलङ्कार का अनुग्रह बतलाया है। उचित शब्द से औचित्य रस-विषयक ही होता है यह दिखलाते हुये रस ध्वनि का जीवित होना सूचित करते हैं। आशय यह है कि उस (जीवितभूत रस) के अभाव में किस को लेकर यह औचित्य सर्वत्र उद्घोषित किया जाता है। 'योऽर्थः' में 'यत्' शब्द से अनुवाद करते हुये दूसरे लोगों के द्वारा यह स्वीकार ही किया गया है यह दिखलाते है। 'तस्य' इत्यदि के द्वारा उस (प्रतीयमान) का मानना दो अंशों के होने पर ही उपपन्न होता है यह दिखलाते हैं। इससे जो यह कहा था—'चारुत्व-हेतु होने के कारण गुण और अलङ्कार से व्यतिरिक्त ध्वनि नहीं है' ध्वनि के आत्मस्वरूप होने के कारण उसमे हेतु असिद्ध है यह दिखला दिया।

तारावती

उसी प्रकार साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने जो व्यवस्था दी है उससे सिद्ध होता है कि पुराने आचार्य काव्य की आत्मा के रूप मे स्थित अर्थ को दोनों रूपों मे मानते थे।' 'उभौ' शब्द का द्विवचन और 'वाच्यप्रतीयमानाख्यौ' का द्वन्द्व भी इसी आशय की ओर इङ्गित करते है। अग्रिम कारिका मे भी यही बात कही गई है। 'उपमा' इत्यादि प्रकार किसी के मत मे काव्य की आत्मा है ही। यहाँ पर उनका उल्लेख ध्वनि की भूमिका के रूप में ही किया गया है। इससे पुरानी परम्परा से प्रस्तुत रचना का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

लोचन

न ह्यात्मा चारुत्वहेतुर्देहस्येति भवति । अथाप्येवं स्यात्तथापि वाच्येऽनैकान्तिको हेतुः । न ह्यलङ्कार्य एवालङ्कारः, गुणी एव गुणः । एतदर्थमपि वाच्यांशोपक्षेपः । अतएव वक्ष्यति–'वाच्यः प्रसिद्ध' इति ॥ २ ॥

आत्मा देह का चारुत्व हेतु होता है यह निस्सन्देह नहीं होता । यदि ऐसा हो भी तथापि वाच्य में अनैकान्तिक हेतु आ जाता है । अलङ्कार्य ही अलङ्कार नहीं होता । गुणी ही गुण नहीं होता । इसके लिये भी वाच्यांश का उपक्षेप (किया गया) । इसीलिये कहेंगे—'वाच्य जो प्रसिद्ध है ।' इत्यादि ॥ २ ॥

तारावती

कारिका भाग में आये हुए काव्य शब्द की व्याख्या करने के लिये कहा गया है कि काव्य का सन्निवेश ललित और उचित होता है । अतएव काव्य मे रमणीयता आ जाती है । ललित शब्द का आशय है–काव्य मे गुण और अलङ्कार की सहायता से चारुता आती है । उचित शब्द का आशय है रसविषयक औचित्य । इससे सिद्ध होता है कि काव्य का जीवन रसध्वनि ही है । यदि रसध्वनि को काव्य का जीवन नहीं माना जावेगा तो सर्वत्र औचित्य की जो यह घोषणा की जाती है उसका क्या मन्तव्य होगा? (क्षेमेन्द्र की 'औचित्य विचार चर्चा' औचित्य-सम्प्रदाय का एकमात्र ग्रन्थ है । किन्तु तृतीय उद्योत मे आनन्दवर्धन ने औचित्य का बडे ही विस्तार से समर्थन किया है ।उसका कहना है कि औचित्य सिद्धान्त का एकमात्र आधार रस ही है । शब्द और अर्थ का औचित्य भी रसपर्यवसायी ही है । वस्तुतः क्षेमेन्द्र भी औचित्य की आत्मरूपता का प्रतिपादन करते-करते रसप्रवण औचित्य पर ही आ गये हैं ।

(कुर्वन् सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः ।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः ॥)

'जो वाच्य अर्थ है' इस वाक्य मे 'जो' शब्द का अर्थ है कि 'वाच्यार्थ को विरोधी भी मानते हैं ।' 'उसके दो भेद होते है' इस वाक्य मे 'उस' शब्द का अभिप्राय यह है कि दो अशो के होने पर ही उसकी सत्ता सिद्ध होती है । जब सुन्दर अर्थ को काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार करलिया तब 'चारुत्व हेतु होने के कारण ध्वनि गुणालङ्कार-व्यतिरिक्त नहीं होती' इस कथन मे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है । क्योकि आत्मा कभी भी शरीर की चारुता मे हेतु नहीं होती । यदि दुर्जनतोषन्याय से आत्मा को चारुत्वहेतु मान भी लिया जावे तो भी हेतु मे व्यभिचार तो आ ही जावेगा । कारण यह है कि जो स्वयं अलङ्कार्य है वह अलङ्कार कैसे हो सकता है ? जो स्वयं गुणी है वह गुण कैसे हो सकता है ? यदि हम

ध्वन्यालोकः

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः,
काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।
ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथायोगम्

(अनु०) उनमें जो वाच्य अर्थ प्रसिद्ध है । दूसरे (उद्भट इत्यादि) आचार्यों ने उपमा इत्यादि भेदों के द्वारा बहुत प्रकार से उसकी व्याख्या कर दी है । [दूसरे आचार्यों से अभिप्राय काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों से है ।] अतएव यहाँ पर उसका विस्तार नहीं किया जा रहा है । केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुवाद मात्र किया जा रहा है ।

लोचन

तत्रेति । द्व्यंशत्वे सत्यपीत्यर्थः । प्रसिद्ध इति । वनितावदनोद्यानेन्दूदयादिर्लौकिक एवेत्यर्थः । 'उपमादिभिः प्रकारैः स व्याकृतो बहुधे'ति सङ्गतिः । अन्यैरिति कारिकाभागं काव्येत्यादिना व्याचष्टे । 'ततो नेह प्रतन्यत' इति विशेषाभ्यनुज्ञेति दर्शयति-केवलमित्यादिना ॥ ३ ॥

तत्रेति । अर्थात् दो अंशों के होने पर भी । प्रसिद्ध इति । अर्थात् वनिता-वदन, उद्यान, चन्द्रोदय इत्यादि लौकिक ही उद्दीपन । इसकी सङ्गति इस प्रकार होगी—'उपमा इत्यादि प्रकारों से उसकी बहुधा व्याख्या की गई है ।' 'अन्यैः' इस कारिकाभाग की 'काव्यलक्ष्मविधायिभिः' इसके द्वारा व्याख्या की गई है । 'इसलिये यहाँ विस्तार नहीं किया जा रहा है' इस विशेष के प्रतिषेध के द्वारा शेष भाग की अनुमति दिखलाई जा रही है—केवल इत्यादि के द्वारा ॥ ३ ॥

तारावती

प्रतीयमान अर्थ को ही गुण और अलङ्कार मान लेंगे तो गुणी और अलाङ्कार्य कौन होगा ? ॥ २ ॥

तीसरी कारिका के 'तत्र' शब्द का अर्थ है 'यद्यपि सहृदयश्लाघ्य अर्थ के दो अंश हैं तथापि वाच्यार्थ प्रसिद्ध है ।' 'प्रसिद्ध' का अर्थ है—'वाच्यार्थ रमणीमुख-कमल, उद्यान, चन्द्रोदय इत्यादि के रूप में लौकिक ही हुआ करता है ।' यहाँ पर सङ्गति इस प्रकार बिठाई जानी चाहिये—'उपमा इत्यादि प्रकारों से उसकी बहुत प्रकार से व्याख्या कर दी गई है । उपमा ही सभी अलङ्कारों में प्रधान है । इसी लिए किसी किसी आचार्यों ने अलङ्कारों को उपमाप्रपञ्च कहा है । अप्पयदीक्षित ने लिखा है:—

लोचन

रजताद्यपि नात्यन्तमसद्भाति। अनेन सत्वप्रयुक्तं तद्भानमिति भानात्सत्त्वमवगम्यते। तेन यद्भाति तदस्ति तथेत्युक्तं भवति। तेनायं प्रयोगार्थः—प्रसिद्धं वाच्यं धर्मि, प्रतीयमानेन व्यतिरिक्तेन तद्वत्। तथा भासमानत्वात्, लावण्योपेताङ्गनाङ्गवत्। प्रसिद्धशब्दस्य सर्वप्रतीतत्वमलङ्कृतत्वं चार्थः। यत्तदिति सर्वनामसमुदायश्चमत्कारसारताप्रकटीकरणार्थमव्यपदेश्यत्वमन्योन्यसंवलनाकृतं चाव्यतिरेकभ्रमं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्दर्शयति। एतच्च किमपीत्यादिना व्याचष्टे। लावण्यं हि नामावयवसंस्थानाभिव्यङ्ग्यमवयवव्यतिरिक्तं धर्मान्तरमेव। नचावयवानामेव निर्दोषता वा भूषणायोगो वा लावण्यम्, पृथङ्निर्वर्ण्यमानकाणादिदोषशून्यशरीरावयवयोगिन्यामप्यलङ्कृतायामपि लावण्यशून्येयमिति, अतथाभूतायामपि कस्याञ्चिल्लावण्यामृतचन्द्रिकेयमिति सहृदयानां व्यवहारात्।

रजत इत्यादि भी अत्यन्त असत् शोभित नहीं होते। इससे सत्ता से प्रेरित ही भान होता है इसलिये भान से सत्ता अवगत होती है। इससे यह कहा हुआ हो जाता है कि जो प्रतीत होता है वह उस प्रकार का होता (अवश्य) है। इससे प्रयोग का अर्थ (रूप) यह होगा—प्रसिद्ध वाच्य धर्मी, (पक्ष) अतिरिक्त प्रतीयमान के द्वारा उससे युक्त होता है, (साध्य) क्योंकि वैसा प्रतीत होता है (हेतु) लावण्य से उपेत अङ्गना के अङ्ग के समान (उदाहरण) प्रसिद्ध शब्द का अर्थ है सब को प्रतीत होना या अलंकृत होना। (कारिका मे) 'यत्तत्' यह सर्वमय समुदाय, दृष्टान्त (लावण्य) और दार्ष्टन्तिक (प्रतीयमान अर्थ) दोनो मे चमत्कारसारता को प्रकट करने के लिये किसी संज्ञा के द्वारा अभिहित किये जाने की अयोग्यता और एक दूसरे से मिलने के कारण (आकृति तथा लावण्य और वाच्य तथा प्रतीयमान दोनों के अत्यन्त मिले होने के कारण) उनके अभेद के भ्रम के अभाव को भी दिखलाता है। इसकी व्याख्या निर्माण इत्यादि शब्दों से की गई है। अवयव संस्थान के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला अवयव से भिन्न दूसरा धर्म ही लावण्य (होता है)। यह नहीं कहना चाहिये कि अवयवो की निर्दोषता ही या भूषणयोग ही लावण्य (कहा जाता है)। क्योकि पृथक् रूप मे दृश्यमान काणत्व दोष इत्यादि से शून्य शरीरावयवोंवाली तथा अलङ्कारों से सजी हुई होने पर भी 'यह लावण्यशून्य है' ऐसा तथा उस प्रकार की न होते हुए भी किसी मे 'यह लावण्यामृत चन्द्रिका है' ऐसा सहृदयों का व्यवहार होता है।

तारावती

चतुर्थ कारिका मे प्रतीयमान वस्तु की सत्ता का प्रतिपादन दृष्टान्त द्वारा किया गया है। इस कारिका का आशय यह है कि जिस प्रकार नायिकाओं के मुख, नाक, कान, इत्यादि अनेक अवयव होते हैं किन्तु लावण्य नामक कोई अवयव नहीं

ध्वन्यालोकः

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलङ्कारा रसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम्।

(अनु०) यह आगे चलकर दिखलाया जावेगा कि वह प्रतीयमान अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वस्तुमात्र, अलङ्कार और रस इत्यादि अनेक भेदों में विभक्त होता है। इन समस्त भेदों में प्रतीयमान अर्थ से सर्वथा भिन्न हुआ करता है।

लोचन

ननु लावण्यं तावद्व्यतिरिक्तं प्रथितम्। प्रतीयमानं किं तदित्येव न जानीमः, दूरे तु व्यतिरेकप्रथेति। तथाभासमानत्वमसिद्धो हेतुरित्याशङ्क्य सह्यर्थ इत्यादिना स्वरूपं तस्या-

यहाँ पर 'लावण्य तो व्यतिरिक्त (तत्त्व के रूप में) प्रसिद्ध है, वह प्रतीयमान क्या वस्तु है यही हम नहीं जानते, व्यतिरेक की प्रसिद्धि तो दूर की बात रही, उस प्रकार से भासमान होना यह हेतु असिद्ध है' यह शङ्का करके 'सह्यर्थः.........'

तारावती

होता, फिर भी वह सभी अवयवों से स्फुरित होने वाला प्रधानतत्त्व है। उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ किसी शब्द का सङ्केतित अर्थ नहीं होता किन्तु सभी शब्दों के सङ्घात से स्फुरित करता है।

इस कारिका मे पुनः शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की विशेषता प्रकट करता है। अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न भी है और सारभूत भी है। महाकवि तथा वाणी इन दोनो शब्दों मे बहुवचन का प्रयोग विषय की व्यापकता को सिद्ध करता है। आशय यह है कि प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी मे सर्वत्र विद्यमान रहता है। महाकवित्व की संज्ञा भी उन्हीं को प्राप्त होती है जिनको परमात्मा की कृपा से ऐसी प्रतिभा प्राप्त हुई हो कि वे अग्रिम प्रकरण मे बतलाये हुये प्रतीयमान अर्थ से अनुप्राणित काव्य रचना करने में निपुण हों। 'विभाति' शब्द का अर्थ है 'जो इस प्रकार का होता है उसी की शोभा होती है। सर्वथा असत् वस्तु का भान उपपन्न ही नहीं होता। शुक्ति में भी रजत का भान तभी होता है जब कि पृथक् सत्ता विद्यमान होती है। अविद्यमान वन्ध्यापुत्र अथवा आकाश-कुसुम का भान होता ही नहीं। इसप्रकार सत्ता से भान होता है और भान से सत्ता सिद्ध होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जो तत्व शोभित होता है वह उसी प्रकार का है भी। इसकी अनुमान प्रक्रिया इस प्रकार होगी—प्रसिद्ध वाच्य (पक्ष), स्वव्यतिरिक्त प्रतीयमान से युक्त होता है (साध्य), क्योंकि उसका भान होता है (हेतु), जिस प्रकार लावण्य से युक्त अङ्गनाओं के अङ्ग (उदा-

लोचन

भिधत्ते । सर्वेषु चेत्यादिना च व्यतिरेकप्रथां साधयिष्यति । तत्र प्रतीयमानस्य तावद् द्वौ भेदौ—लौकिकः काव्यव्यापारैक गोचरश्चेति । लौकिको यः स्वशब्दवाच्यतां कदाचिदधिशेते । स च विधिनिषेधाद्यनेकप्रकारो वस्तुशब्देनोच्यते । सोऽपि द्विविधः—यः पूर्वं क्वापि वाक्यार्थेऽलङ्कारभावमुपमादिरूपतामन्वभूत्, इदानीं त्वनलङ्काररूप एवान्यत्र गुणीभावात् । स पूर्वप्रत्यभिज्ञानबलादलङ्कारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन । तद्रूपताभावेन तूपलक्षितं वस्तुमात्रमुच्यते । मात्रग्रहणेन हि रूपान्तरं निराकृतम् । यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्द-

इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा उसका स्वरूप बतलाते हैं । 'सर्वेषु च ......' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा व्यतिरेक प्रसिद्धि को सिद्ध करेंगे । उनमें प्रतीयमान के तो दो भेद हैं—लौकिक तथा केवल काव्यक्रिया में गोचर होनेवाला । जो लौकिक (अर्थ) कभी स्वशब्दवाच्यता में भी विश्रान्त होता है वह विधि-निषेध इत्यादि अनेक प्रकार का वस्तु शब्द के द्वारा कहा जाता है । वह भी दो प्रकार का होता है—जिसने पहले कभी वाक्य के अर्थ में उपमा इत्यादि रूप अलङ्कार-भाव का अनुभव किया था (किन्तु) इस समय अलङ्कार से भिन्न रूपवाला ही है, क्योंकि वह दूसरे के प्रति गौण नहीं है, वह पहले की पहिचान के बल पर अलङ्कार ध्वनि के नाम से पुकारा जाता है जैसे ब्राह्मण संन्यासी । उस रूप (अलङ्कार-रूप) के अभाव के द्वारा उपलक्षित (व्यङ्ग्य) वस्तुमात्र कहलाता है । (वस्तुमात्र में) मात्र ग्रहण से दूसरे रूप के होने का निराकरण कर दिया गया । और जो स्वप्न में भी स्वशब्द वाच्य नहीं होता और न लौकिक व्यवहार में सम्मिलित होता है किन्तु शब्द के

तारावती

हरण) । प्रसिद्ध शब्द का अर्थ है सभी को ज्ञात तथा अलंकृत । यत् और तत् इन दो सर्वनामों का समूह दृष्टान्त (अङ्गनाओं का लावण्य) और दार्ष्टान्तिक (प्रतीयमान अर्थ) दोनों में एक तो यह प्रकट करना है कि इन दोनों का सार होता है चमत्कृत करना, दूसरे उनका पृथक् रूप में प्रकथन नहीं किया जा सकता है । (अर्थात् न तो लावण्य को ही पृथक् वस्तु के रूप में दिखलाया जा सकता है और न रसध्वनि की ही पृथक् सत्ता का निर्वचन किया जा सकता है ।) तीसरे अङ्ग और लावण्य तथा वाच्य और प्रतीयमान के अभेद का भ्रम भी 'यत्तत्' शब्द से दूर हो जाता है । इसी 'यत्तत्' शब्द की व्याख्या आलोक में 'किमपि' शब्द से की गई है । अवयव संस्थान से अभिव्यक्त होनेवाला अवयवों से भिन्न एक दूसरा ही धर्म लावण्य कहा जाता है ।

लोचन

समर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति, स एव मुख्यतयात्मेति।

द्वारा समर्पित किये जानेवाले तथा हृदय से मेल खाने के कारण सुन्दर प्रतीत होने वाले विभाव और अनुभाव के योग्य, हृदय मे पहले से ही विनिविष्ट रति इत्यादि के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा सुकुमार आत्मचेतना के आनन्दमय चर्वणव्यापार के द्वारा जिसके स्वरूप का अस्वादन होता है उसे रस कहते हैं। केवल काव्य व्यापार में ही आनेवाला वह (भेद) रसध्वनि ही कहा जाता है। वही मुख्य रूप में आत्मा है।

तारावती

यहाँ पर कहा जा सकता है कि लावण्य कोई और तत्व नहीं केवल अवयवों की निर्दोषता और आभूषित होना ही लावण्य है। इसका उत्तर यह है कि अङ्गनाओं में मुख कान नाक इत्यादि सभी अवयव होते हैं और वे निरन्तर अविकल रूप में बने भी रहते हैं। किन्तु उनकी सत्ता ही सहृदय जनों के आकर्पण में कारण नहीं होती। प्रायः देखा जाता है कि कुछ अङ्गनाओं की ओर अधिक आकर्पण होता है और कुछ की ओर उतना नहीं होता। एक ही ललना की किसी विशेष आयु में दर्शक उसकी ओर विशेप रूप से आकृष्ट होते हैं और दूसरे अवसरों पर उतने नहीं होते। कभी कभी यदि कोई स्त्री कानी हो या उसके किसी अंग में कोई और विकार हो किन्तु फिर भी वह सहृदयों के आकर्पण का केन्द्र बन जाती है किन्तु दूसरी स्त्री जिसके सब अङ्ग अविकल हों उतनी चित्ताकर्पक नहीं होती। इस सबका यही कारण है कि जिन रमणियों मे लावण्य नामक यौवनजन्य चमक उपस्थित होती है और उनकी प्रत्येक प्रकार की चाल से भी प्रकट होती है तथा अङ्गों में भी लक्षित की जा सकती है, वे ही स्त्रियां आकर्पण करने में समर्थ होती हैं फिर चाहे उनके किसी विशेप अङ्ग में किसी प्रकार का दोष ही क्यों न उपस्थित हो। इसके प्रतिकूल उसी यौवनजन्य लावण्य नामक चमक के अभाव में समस्त अङ्गों के अविकल होते हुए भी दूसरी स्त्रियाँ उस प्रकार का आकर्पण नहीं कर सकतीं। वह लावण्य समस्त अङ्गों मे निवास करनेवाला अतिरिक्त तत्त्व होता है; जिसे हम किसी अङ्ग में सन्निविष्ट नहीं कर सकते। इसी प्रकार शब्दों का एक वाच्यार्थ होता है। कभी-कभी हमे किसी वाक्य या प्रबन्ध में सुन्दरता का अनुभव होता है और दूसरे वाक्य मे उसी प्रकार के वाच्यार्थ के होते हुए भी हमे तद्वत् सौन्दर्य का भान नहीं होता। कभी-कभी किसी वाक्य में एक सहृदय व्यक्ति

तारावती

को रमणीयता का बोध होता है किन्तु दूसरा व्यक्ति उस रमणीयता के अनुभव से सर्वथा वञ्चित ही रह जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सहृदयों में सुप्रसिद्ध वाच्यार्थव्यतिरिक्त एक प्रतीयमान अर्थ भी अङ्गनाओं के लावण्य के समान होता है जिसे न तो हम सुप्रसिद्ध अलङ्कारों में सन्निविष्ट कर सकते हैं और न प्रकट होने वाले अवयवों में ही उसका समावेश हो सकता है। (यही अर्थसौन्दर्य काव्य की आत्मा है।)

(प्रश्न) अङ्ग संस्थान से पृथक् लावण्य एक प्रसिद्ध वस्तु है, किन्तु प्रतीयमान क्या वस्तु है यही हमें ज्ञात नहीं। जब उसे हम जानते ही नहीं तब वाच्यार्थ से उसका पृथग्भाव तो दूर की बात रही। अतएव भासमानत्व हेतु स्वरूपतः असिद्ध है और उससे प्रतीयमान की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये उक्त प्रकरण में प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का बतलाया गया है और 'सभी प्रकारों में वह वाच्यार्थ से भिन्न होता है' यह प्रतीयमान अर्थ की पृथक्ता सिद्ध करने के लिये कहा गया है।

प्रतीयमान के दो भेद होते हैं–(१) लौकिक और (२) काव्यमात्रगोचर। लौकिक प्रतीयमान उसे कहते हैं जो कभी स्वशब्दवाच्यता को सहन कर सके। उसके विधि-निषेध इत्यादि अनेक प्रकार हैं; उन सब को वस्तु शब्द से अभिहित किया जाता है। इस लौकिक प्रतीयमान के दो भेद होते हैं (१) जो पहले किसी वाक्यार्थ में उपमा इत्यादि के रूप में अलङ्कारभाव का अनुभव कर चुका हो, किन्तु इस समय किसी के प्रति गौण न होने के कारण अपनी अलङ्काररूपता को छोड़ चुका हो। पहले वह अलङ्कार था इसीलिये उसे अलङ्कारध्वनि की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसमें भूतपूर्व गति का आश्रय उसी प्रकार लिया जाता है जिस प्रकार कोई ब्राह्मण संन्यासधर्म को स्वीकार करलेने के उपरान्त अपने ब्राह्मणत्व को छोड़ देने पर भी भूतपूर्व गति से ब्राह्मण-संन्यासी कहा जाता है। (२) जो कभी अलङ्काररूपता को न प्राप्त हुआ हो। इसको वस्तुमात्रध्वनि कहते है। मात्र शब्द से दूसरे भेद (अलङ्कारध्वनि) का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार लौकिक प्रतीयमान की व्याख्या हो चुकी। कुछ ऐसे प्रतीयमान अर्थ होते है जो स्वप्न मे भी कभी भी स्वशब्दवाच्य नहीं हो सकते और न कभी लोकव्यवहार में ही आ सकते है–किन्तु उनका स्वरूप केवल आनन्दमय होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण मे लौकिक अनुभव से उद्भूत रति इत्यादि भावनायें पहले से ही निरन्तर विद्यमान रहती हैं। जिस समय हम अभिनय देखते हैं या काव्यगत शब्दों का श्रवण करते हैं तो उनके द्वारा हमे ऐसे विभाव अनुभाव इत्यादि का अनुभव होने

लोचन

यदूचे भट्टनायकेन—'अंशत्वं न रूपता' इति, तद्वस्त्वलङ्कारध्वन्योरेव यदि नामोपालम्भः, रसध्वनिस्तु तेनैवात्मतयाङ्गीकृतः रसचर्वणात्मनस्तृतीयस्यांशस्याभिधाभावनांशद्वयोत्तीर्णत्वेन निर्णयात्। वस्त्वलङ्कारध्वन्यो रसध्वनिपर्यन्तत्वमेवेति वयमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत्। वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तमिति भेदत्रयव्यापकं सामान्यलक्षणम्। यद्यपि हि ध्वननं शब्दस्यैव व्यापारः, तथाप्यर्थसामर्थ्यस्य सहकारिणः सर्वत्रानपायाद्वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्वम्। शब्दशक्तिमूलानुरणनव्यङ्ग्ये ऽप्यर्थसामर्थ्यादेव प्रतीयमानावगतिः, शब्दशक्तिः केवलमवान्तरसहकारिणीति वक्ष्यामः।

भट्ट नायक के द्वारा जो यह कहा गया कि '(ध्वनि) अंश होती है रूप नहीं' यदि वह उपालम्भ वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों के लिये ही है (तो कोई बात नहीं) क्योंकि रसध्वनि को तो उन्होंने ही आत्मा के रूप मे अङ्गीकृत कर लिया, रसचर्वणात्मक तृतीय अंश का अभिधा और भावना इन दोनों अंशों से उत्तीर्ण (पृथक् तथा परे) होने के रूप में निर्णय किया गया है। वस्तु तथा अलङ्कार ध्वनियों की रसध्वनिपर्यन्तता तो हम ही विभिन्न स्थानों पर कहेंगे। बस, अधिक कहने की क्या आवश्यकता। 'वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व' यह तीनों भेदों में व्यापक सामान्य लक्षण है। यद्यपि ध्वनन यह शब्द का ही व्यापार है तथापि अर्थसामर्थ्य का सर्वत्र अपाय न होने के कारण (सहयोग होने के कारण) वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व (माना जाता है) शब्दशक्तिमूलानुरणन व्यङ्ग्य में भी अर्थसामर्थ्य से ही प्रतीयमान की अवगति होती है, शब्दशक्ति केवल अवान्तरसहकारिणी है यह हम कहेंगे।

तारावती

लगता है जो हृदय के अनुकूल होने के कारण बड़े ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। उस समय हमारी रति इत्यादि सहज वासनायें उद्बुद्ध हो जाती हैं। उस समय काव्यपरिशीलक के सुकुमार अन्तःकरण में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होने लगता है। इसी आनन्द को रस कहते हैं। यही काव्यव्यापारमात्रगोचर रसध्वनि है। इसी को केवल ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है और यही मुख्य होकर काव्य की आत्मा का रूप धारण करता है।

भट्ट नायक ने जो यह कहा है कि 'ध्वनि काव्य का अंश होती है, उसका स्वरूप नहीं होती' उसका अभिप्राय वस्तुध्वनि और अलङ्कार ध्वनि की अंशरूपता का प्रतिपादन करने से ही है। रसध्वनि को तो आत्मा के रूप मे उन्होंने ही स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने ही यह निर्णय कर दिया कि रसचर्वणात्मक तृतीय अंश उनके माने हुये अभिधा और भावना नामक दो अंशों का अतिक्रमण

ध्वन्यालोकः

तथा ह्याद्यस्तावत्प्रभेदो वाच्याद्दूरं विभेदवान्। स हि कदाचिद्वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः। यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो स सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥

(अनु०) वाच्यार्थ से व्यंङ्ग्यार्थ के भेद को समझने के लिये सर्वप्रथम पहला भेद (वस्तुध्वनि) को लीजिये। इस भेद में तो व्यङ्ग्यार्थ वाच्य से बहुत ही भिन्न होता है यदि वाच्यवस्तु विधिपरक हो तो व्यङ्ग्यवस्तु निषेधपरक हो सकती है। जैसे :—

'हे धार्मिक ! अब तुम विश्वस्त होकर भ्रमण किया करो। गोदावरी तट पर स्थित कुञ्ज में रहने वाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला।'

लोचन

दूरं विभेदवानिति। विधिनिषेधौ विरुद्धाविति न कस्यचिदपि विमतिः। एतदर्थं प्रथमं तावेवोदाहरति—

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः सः शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥

दूरं विभेदवानिति। 'विधि और निषेध विरुद्ध होते हैं' इस विषय मे किसी की असहमति नहीं है। इस अर्थ का पहले ही उदाहरण दे रहे हैं :—भ्रम धार्मिक इति।

तारावती

करके स्थित होता है और इस बात को हम भी सिद्ध करेंगे कि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि, रसध्वनिपर्यवसायी ही होती हैं। वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होना तीनों भेदो मे समानरूप से लागू होता है। यद्यपि ध्वनित करना शब्द का ही व्यापार है तथापि सहकारी अर्थसामर्थ्य की सत्ता सर्वत्र विद्यमान रहती है; अतएव वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तत्व सर्वत्र आ जाता है। आगे चलकर बतलाया जावेगा कि शब्दशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य मे भी अर्थशक्ति से ही प्रतीयमान की प्रतीति होती है। शब्दशक्ति तो केवल अवान्तर सहकारिणी हो जाती है।

('प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इस कारिका का उद्धरण देकर आचार्य कुन्तक ने लिखा है—'इस दृष्टान्त से वाच्य वाचक रूप प्रसिद्धावयवव्यतिरिक्तत्व के द्वारा प्रतीयमान अर्थ की सत्ता ही सिद्ध की जा सकती है। ललनाओं का लावण्य सकललोक-लोचनसंवेद्य होता है किन्तु प्रतीयमान अर्थ सहृदय-संवेद्य ही होता है। अतः दोनो की तुलना कैसी ? केवल बन्धसौन्दर्य ही लावण्यस्थानीय हो सकता है क्योंकि

लोचन

कस्याश्चित्सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमानं धार्मिकसञ्चरणान्तरायदोषात्तद्व-लुप्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परित्रातुमियमुक्तिः। तत्र स्वतःसिद्धमपि भ्रमणं श्वभयेनापोदितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावरूपः, न तु नियोगः प्रैषादि-रूपोऽत्र विधिः, अतिसर्गप्राप्तकालयोर्ह्ययं लोट्। तत्र भावतदभावयोर्विरोधाद्द्वयोस्तावन्न युगपद्वाच्यता, न क्रमेण, विरम्य व्यापाराभावात्। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादि-नाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात्।

किसी (नायिका) के जीवितसर्वस्व के रूप मे स्थित संकेतस्थान के धार्मिक-सञ्चरण रूप अन्तराय (विघ्न) के दोष से और उसके द्वारा हरे हुए पल्लव तथा कुसुम इत्यादि के शोभारहित कर देने से रक्षा करने के लिए यह उक्ति है। उसमे स्वतःसिद्ध भी भ्रमण कुत्ते के भय से प्रतिषिद्ध कर दिया गया था इस प्रकार यह निषेध के अभावरूप प्रतिप्रसवात्मक विधि है, भेजने (लगाने-नियुक्त करने) इत्यादि के रूप में यहाँ पर विधि नहीं है। यहाँ पर अतिसर्ग (इच्छानुकूल प्रवृत्ति) तथा प्राप्तकाल मे लोट् लकार हुई है। उनमें भाव तथा उसके अभाव मे परस्पर विरोध होने के कारण दोनो एक साथ वाच्य नहीं हो सकते। क्रमशः भी नहीं क्योंकि रुक रुक-कर व्यापार नहीं होता। क्योंकि अभिधा विशेष्य को प्राप्त नही होती (यदि वह विशेषण मे अपनी शक्ति खो चुकी हो) इत्यादि के द्वारा अभिधा व्यापार का रुककर कार्य करना असम्भव बतलाया गया है।

तारावती

वही श्रवणमात्र से ही अव्युत्पन्न लोगों को भी आनन्द देता है। प्रतीयमान की तुलना तो नायिकाओं के उस सौभाग्य से ही की जा सकती है जो कि केवल उपभोगपरायण नायकों के लिए ही संवेद्य होता है।' इस विषय में यही कहा जा सकता है कि ललना-लावण्य का आस्वादन सर्वजनसंवेद्य होता है यह एक विचित्र सी बात है। क्या लावण्य-जन्य आह्लाद के लिए किसी योग्यता की अपेक्षा नहीं होती ? वैसे रसव्यञ्जना को ध्वनिसिद्धान्त का प्राणभूत मानकर और बन्धच्छायाजन्य आल्हाद को रसध्वनि में सन्निविष्ट कर ध्वनिवादियों ने इसका स्वयं उत्तर दे दिया है।)

पहले वस्तुध्वनि को लीजिये। इसमे प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से बहुत भिन्न होता है। इसमे तो किसी को अनुपपत्ति हो ही नहीं सकती कि विधि और निषेध एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं। अतएव पहले इसी का उदाहरण दिया जाता है कि वाच्यार्थ विधिपरक होता है और प्रतीयमान निषेधपरक। हाल की एक प्राकृत गाथा को लीजिए:—कोई नायिका अपने प्रियतम से गोदावरी के तट पर स्थित

तारावती

कुञ्जों में मिला करती है। वहाँ पर कोई भक्त मनुष्य भ्रमण करने के लिये जाया करता है जिससे उस नायिका की प्रेमलीला में भी विघ्न पड़ता है और उसके द्वारा कल्पित किये हुये पल्लवास्तरण इत्यादि अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। वह धार्मिक भक्त गोदावरी तट पर निवास करनेवाले एक कुत्ते से प्रायः भयभीत रहा करता है। नायिका चाहती है कि यदि वह धार्मिक गोदावरी तट पर घूमने न जाया करे तो उसकी (नायिका की) प्रेमलीला के निर्विघ्न समाप्त होने में सहायता मिलेगी। वह धार्मिक से कह रही है—'हे धार्मिक अब तुम विश्वस्त होकर भ्रमण किया करो, गोदावरी तट पर स्थित कुञ्ज में रहनेवाले उस उद्धत सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला।' यहाँ पर वाच्यार्थ तो यह है कि अब तुम निस्सङ्कोच और निर्भय होकर घूम सकते हो; अब तुम्हे कुत्ते का कोई भय नहीं रहा। किन्तु प्रतीयमान अर्थ यह निकलता है कि 'अभीतक तो वहाँ पर कुत्ता ही रहता था अब वहाँ पर सिंह आ गया है। इसलिये कभी भूल करके भी वहाँ मत जाना। नहीं तो तुम्हें सिंह मार डालेगा। इस प्रकार वाच्यार्थ विधिपरक है और प्रतीयमान अर्थ निषेधपरक।

'भ्रम' इस क्रिया मे लोट् लकार का प्रयोग किया गया है। 'लोट्' विधि इत्यादि कई अर्थों मे प्रयुक्त होता है जिनका समाहार इन तीन अर्थों में किया जा सकता है—(१) प्रवर्तना—किसी व्यक्ति का दूसरे को किसी कार्य में प्रवृत्त करना (२) अतिसर्ग—यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य में पहले से ही प्रवृत्त हो और उसे उस प्रवृत्ति से अलग करने का कहीं से कोई कारण उपस्थित हो गया हो तो उसको पुनः उस कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देना। (३) प्राप्तकाल। यहाँ पर भ्रमण तो पहले ही हो रहा है। अतएव 'प्रेषण' इत्यादि के समान प्रथम अर्थ में यह विधि नहीं हो सकती। कुत्ते के भय से भ्रमण में व्याघात उपस्थित होने वाला था उसी का प्रतिप्रसव यह विधान है। अतएव यहाँ पर अतिसर्ग और प्राप्तकाल इन दो अर्थों मे विधि है। आशय यह है कि यहाँ पर प्रवर्तनारूप अपूर्व विधान नहीं किया जा रहा है अतएव निषेध के अभाव द्वारा प्रवृत्त करते हुए कामचार (स्वेच्छा विचरण) की अनुमति दी जा रही है।

यहाँ पर यह विचार करना है कि ये दो अर्थ निकलते किस प्रकार हैं? दोनो अर्थ एक साथ निकल नहीं सकते क्योंकि दोनों का परस्पर विरोध है। विधि के बाद निषेधरूप अर्थ अभिधावृत्ति के द्वारा नहीं निकल सकता क्योंकि नियम है कि अभिधा की क्रिया रुककर नहीं होती। कहा भी गया है कि 'जब अभिधा की शक्ति विशेषण मे क्षीण हो जाती है तब वह विशेष्य का प्रत्यायन नहीं करा सकती।' इस कथन से सिद्ध होता है कि अभिधा का व्यापार रुक-रुक कर होना असंभव है।

लोचन

ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूपमुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूतनिषेधप्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एव सोऽर्थः। एवमनेनोक्तमिति हि व्यवहारः। तन्न वाच्यातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति।

नैतत्, त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद्व्य-

(प्रश्न) यहाँ पर तात्पर्यशक्ति विवक्षा के रूप में (कथन की इच्छा के रूप मे) पर्यवसित नहीं हुई है (वक्ता जो कुछ कहना चाहता है उस अर्थ की पूर्त्ति नहीं हुई है) विवक्षा से दृप्त, धार्मिक, तथा 'तत्' इत्यादि पदो के अर्थो का अन्वय न लग सकना रूप मुख्यार्थबाध के बल से विरोधनिमित्तक-विपरीत लक्षणा के बल पर वाक्यार्थता को प्राप्त निषेधप्रतीति को अभिहितान्वयवाद को दृष्टि से (उत्पन्न) कर देता है, इस प्रकार वह अर्थ शब्दशक्तिमूलक है। 'इस प्रकार इसने कहा' यह निस्सन्देह व्यवहार होता है, अतः वाच्य से भिन्न अन्य अर्थ नहीं होता।

(उत्तर) यह बात नहीं है। निस्सन्देह यहाँ पर तीन व्यापार प्रतीतिगोचर होते हैं—सामान्य आत्मावाले पदार्थों मे अभिधा व्यापार, (क्योंकि) सकेत की अपेक्षा करते हुए अर्थावगमन की शक्ति को अभिधा कहते है। संकेत उतने ही अंश मे होता है विशेष अंश मे नहीं क्योकि उससे आनन्त्य दोष होगा और

तारावती

यहाँ पर यह बात कही जा सकती है कि तात्पर्यवृत्ति का पर्यवसान भ्रमण-विधि मे नहीं होता। यहाँ पर शब्द कुछ ऐसे रूप में प्रयुक्त किये गये है कि उनसे भ्रमण का विधान हो ही नहीं सकता। १—'धार्मिक' का अर्थ है 'तुम एक महात्मा व्यक्ति हो, तुममे इतनी शक्ति आई ही कहाँ से कि तुम शेर का सामना कर सको। २—उस 'उद्धतसिंह ने' में 'उस' सर्वनाम का अर्थ है कि सिंह के होने मे कोई सन्देह नहीं है, उसका होना सर्वत्र प्रसिद्ध है और श्रुति-परम्परा से तुमने भी अवश्य सुना ही होगा। ३—उद्धत का अर्थ है वह सिंह ऐसा-वैसा नहीं है, वह बड़ा ही भयानक है। इस प्रकार इन शब्दों के प्रयोग से भ्रमण-विधान मे विरोध उपस्थित होता है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद मे विपरीतलक्षणा से वाक्य का अर्थ ही निषेधपरक हो जाता है। अतएव निषेधपरक अर्थ शब्दशक्ति के द्वारा ही निकलता है। इसलिए व्यवहार में यही कहा जाता है कि उसने ऐसा कहा। यह कोई नहीं कहता कि इसने ऐसा ध्वनित किया। अतएव वह अर्थ वाच्य ही है उससे भिन्न नहीं।

लोचन

भिचाराच्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्तिः परस्परान्विते, 'सामान्यान्यन्यथासिद्धे विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्। तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां 'भ्रमे' ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयेत, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्। नहि 'गङ्गायां घोषः' 'सिंहो वटुः' इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्, तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद्भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित् क्षतिः। अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्येति न विपरीतलक्षणाया अवसरः।

एक का व्यभिचार दोष भी होगा। इसके बाद विशेषरूप वाक्यार्थ में परस्परान्वित में तात्पर्यशक्ति होती है। क्योंकि यह न्याय है कि सामान्य अन्यथासिद्ध न होने के कारण विशेष का अवगमन कराते हैं। उसमें द्वितीय कक्ष्या में 'भ्रमण करो' इस विधि के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता। क्योंकि (द्वितीय कक्ष्या में) अन्वयमात्र की प्रतिपत्ति होती है। 'गंगा में घर' 'सिंह ब्रह्मचारी' इनमें जिस प्रकार अन्वय होते ही प्रतिहत कर दिया जाता है क्योंकि (शब्दों में अन्वित होने की) योग्यता नहीं है उसी प्रकार 'तुम्हारे भ्रमण का निषेध करनेवाला वह कुत्ता सिंह के द्वारा मारा गया। इसलिये इस समय भ्रमण-निषेध का कारण न होने से तुम्हारा भ्रमण उचित है' इस अन्वय में कोई क्षति आती है। अतएव मुख्यार्थबाध की यहाँ पर शङ्का नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार यहाँ पर विपरीतलक्षणा का अवसर नहीं है।

तारावती

—अभिहितान्वयवाद और उसमें व्यञ्जना की आवश्यकता—

उक्त मत की आलोचना करने के पहले तात्पर्य वृत्ति के विषय में संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इस विषय मे दो मत हैं। एक है कुमारिलभट्ट के अनुयायियों का जिसको अभिहितान्वयवाद कहते हैं और दूसरा है प्राभाकर गुरु और उनके अनुयायियों का, जिसको अन्विताभिधानवाद कहते हैं। भट्ट सम्प्रदाय का सिद्धान्त इस प्रकार है :—

वाक्यार्थज्ञान तथा वाक्यार्थपूर्ति मे तीन हेतु होते हैं—१. आकाक्षा—वाक्यार्थज्ञान के लिए दो शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध की आवश्यकता। इस आकांक्षा के विना दो शब्द एकवाक्य नहीं बना सकते। जैसे गाय घोड़ा आदमी हाथी इत्यादि शब्द एक वाक्य नहीं बन सकते क्योंकि इन शब्दों मे परस्पर आकाक्षा नहीं है। २. योग्यता—शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध मे बाध का न होना, जैसे 'आग से सींचता है' इन शब्दों का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि इनमे

तारावती

मिलने की योग्यता नहीं है। ३. सन्निधि निकटवर्तिता—इसके अभाव में शब्दों में आपस में सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे एक पहर के व्यवधान से कहे हुए दो शब्दों में आपस मे अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि उनमे आपस में सन्निधि नहीं है।

इन तीनों हेतुओं के द्वारा जब कतिपय शब्द परस्पर अन्वित होकर एक विशिष्ट अर्थ को सम्पन्न किया करते हैं तब उस शब्दसमूह को वाक्य कहते हैं। उस वाक्य में दो प्रकार का अर्थ होता है—एक पदार्थ और दूसरा वाक्यार्थ। पदार्थ की प्रतीति अभिधावृत्ति के द्वारा होती है और वाक्यार्थ की प्रतीति तात्पर्य-वृत्ति के द्वारा। इसको इस प्रकार समझिये—अभिधा सामान्य रूप से सङ्केत ग्रहण के आधीन शब्दों के अर्थ का बोध कराती है। समस्त वाक्यों का संकेतग्रहण हो ही नहीं सकता। क्योंकि वाक्य अनन्त होते हैं, यदि वाक्य मे शक्ति मानी जावेगी तो अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार अभिधावृत्ति से वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता क्योंकि उसमें आनन्त्य दोष होगा। यदि एक वाक्य में संकेतग्रहण से शक्ति मानी जावे और दूसरे वाक्यों में आये हुये उन शब्दों का बोध उसी आधार पर स्वीकार करें तो यह नियम जाता रहेगा कि जिसमें संकेत ग्रहण के कारण शक्तिग्रह होता है उसी का बोध भी हुआ करता है। यह व्यभिचार दोप होगा। उदाहरण के लिये 'गाय लाओ' और 'गाय ले जाओ' इन दोनों वाक्यों में पृथक्-पृथक् सङ्केत स्वीकार करने पर आनन्त्य दोष होगा। यदि केवल प्रथम वाक्यों मे सङ्केत स्वीकार करें तो यह नियम जाता रहेगा कि जिसमें सङ्केतग्रहण होता है उसीके अर्थ का बोध हुआ करता है। यह व्यभिचार (नियमातिक्रमण) है। अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि अभिधावृत्ति से केवल पदार्थबोध होता है। वाक्यार्थबोध अभिधावृत्ति के द्वारा नहीं हो सकता। इस प्रकार वाक्यार्थबोध के लिए तात्पर्य नामक पृथक् वृत्ति माननी पड़ेगी। जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य में 'गाय' का अर्थ है 'गाय' और 'लाओ' का अर्थ है आनयनानुकूल व्यापार की विधि। गाय में आनयनानुकूलव्यापार-निरूपितकर्मत्व किसी शब्द का अर्थ नहीं। अतएव उसी को वाक्यार्थ कहते हैं और उसकी प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से होती है। वह तात्पर्य पदसान्निध्य रूप प्रत्यायन वाक्य का अर्थ ही होता है। कहा भी गया है—'जब विशेष अर्थ दूसरी प्रकार से सिद्ध नहीं होता तब सामान्य अर्थ ही विशेष के कारण हो जाता है।' इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधा और तात्पर्य ये दो वृत्तियाँ वाक्यार्थ में कारण होती हैं। वाक्यार्थ के पर्यवसित हो जाने पर एक तीसरी वृत्ति और मानी जाती है और वह है लक्षणा। वाक्यार्थबोध के बाद जब तात्पर्यानुपपत्ति के कारण वाच्यार्थ का बाध हो जाता है तब उससे सम्बन्ध

लोचन

भवतु वासौ । तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवति । तथाहि—मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः । बाधा च विरोधप्रतीतिरेव । नचात्र पदार्थानां स्वात्मनि विरोधः । परस्परं विरोध इतिचेत्—सोऽयं तर्ह्यन्वये विरोधः प्रत्येयः । नचाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः ।

अथवा यह हो भी । तथापि द्वितीय स्थान में यह संक्रान्त नहीं हो सकता । वह इस प्रकार—मुख्यार्थबाध मे लक्षणा की कल्पना की जाती है । विरोध की प्रतीति का होना ही बाधा है । पदार्थों का अपनी आत्मा में विरोध नहीं होता । यदि कहो कि एक दूसरे से विरोध होता है—तो यह विरोध अन्वय में ही समझा जाना चाहिये । जबतक अन्वय प्रतिपन्न न हो जावे तब तक विरोध की प्रतीति हो ही नहीं सकती । अन्वय की प्रतीति अभिधाशक्ति से नहीं हो सकती क्योंकि पदार्थ प्रतिपत्ति मे उपक्षीण उस (अभिधा) का रुककर व्यापार [दुबारा कार्य] नहीं हो सकता । इस प्रकार तात्पर्यशक्ति से ही अन्वय की प्रतिपत्ति (होती है)।

तारावती

रखनेवाला दूसरा अर्थ ले लिया जाता है । इस तीसरी कोटि को लक्षणा कहते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिहितान्वयवाद में तीन कोटियाँ होती हैं—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा । अभिधा से पदार्थबोध होता है, तात्पर्यवृत्ति से अन्वयरूप वाक्यार्थबोध होता है । पद से अभिधा द्वारा पदार्थोपस्थिति तो सर्वत्र होती है किन्तु तात्पर्यवृत्ति का वहीं पर अवसर होता है जहाँ वाक्यार्थबोध के आकांक्षा इत्यादि कारण उपस्थित हों । कुछ ऐसे भी वाक्य होते हैं जहाँ पदार्थोपस्थिति हो जाती है किन्तु जैसे ही तात्पर्यवृत्ति से अन्वयार्थ बोध होने लगता है वैसे ही वाक्यार्थबोध के कारणो के अभाव मे वह वृत्ति वहीं पर समाप्त हो जाती है और यदि लक्षणा के कारण उपस्थित हों तो लक्षणा का समावेश हो जाता है । उदाहरण के लिये 'गङ्गा मे घर' 'बालक सिंह' इत्यादि वाक्यों में 'गङ्गा' 'घर' 'बालक' 'सिंह' इन सभी शब्दों का अर्थ उपस्थित होता है । किन्तु जब तात्पर्यवृत्ति से इन्हें मिलाने लगते हैं तब तत्काल ज्ञात हो जाता है कि इनमें योग्यता का अभाव है । ऐसे स्थानों पर अन्वय होते होते प्रतिहत हो जाता है । किन्तु यह बात 'तुम्हारे भ्रमण मे विघ्न डालनेवाले कुत्ते को शेर ने मार डाला । अतएव भ्रमण-निषेधक कारण के अभाव मे तुम्हारा भ्रमण उचित

लोचन

नन्वेवम् 'अङ्गुल्यग्रे कविवरशतम्' इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात् । किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तदवगमकारिणो वाक्यस्याप्रामाण्यम् । 'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत्तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति ।

(पूर्वपक्ष) निस्सन्देह इस प्रकार तो 'अंगुली के अग्रभाग में १०० श्रेष्ठ कवि हैं' यहाँ पर भी अन्वयप्रतीति हो जावेगी । (उ० प०) क्या अन्वय प्रतीति नहीं होती ? जिस प्रकार दशदाडिमानि षडपूपा इत्यादि (अनन्वित) वाक्य में नहीं हुआ करती है । किन्तु प्रतिपन्न हुआ भी वह अन्वय 'शुक्ति मे रजत' के समान दूसरे प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से बाधित हो जाता है अतः उसके अवगम करानेवाले वाक्य की प्रामाणिकता जाती रहती है । 'सिंहो बालकः' में द्वितीय कक्ष्या में निविष्ट तात्पर्यशक्ति के द्वारा समर्पित अन्वय के बाध के उल्लसित होनेपर (प्रतीति गोचर होनेपर) बाद में अभिधा तथा तात्पर्य इन दोनों शक्तियों से व्यतिरिक्त लक्षणा नाम की तृतीयशक्ति ही, जो कि बाधक को व्यर्थ बनाने में निपुण है, समुल्लसित हो जाती है ।

तारावती

है ।' इस वाक्य मे नहीं होती । यहाँ पर शब्दों में मिलने की योग्यता का अभाव नहीं है । अतएव यहाँ पर न तो मुख्यार्थबाध होता है और न विपरीतलक्षणा की आशंका की जा सकती है ।

अथवा किसी न किसी प्रकार बाध स्वीकार भी कर लिया जावे तथापि निषेधपरक अर्थ द्वितीय कोटि (तात्पर्यवृत्ति) गम्य नहीं हो सकता । इस को इस प्रकार समझिये—लक्षणा की कल्पना वहीं पर की जा सकती है जहाँ मुख्यार्थबाध हो । बाध वहीं पर होता है जहाँ विरोध की प्रतीति हो । यह प्रतीति दो प्रकार की हो सकती है—शब्दों की अन्तरात्मा का विरोध तथा अन्वय का विरोध । प्रस्तुत वाक्य 'कुत्ता सिंह द्वारा मारा गया, तुम स्वच्छन्द भ्रमण करो' मे शब्दों की अन्तरात्मा विरुद्ध नहीं है, इसमे तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता । अतएव अन्वय में ही विरोध मानना पड़ेगा । अन्वय मे विरोध की प्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक अन्वय प्रतिपन्न न हो जावे । अन्वय की प्रतिपत्ति अभिधावृत्ति से हो ही नहीं सकती क्योंकि अभिधावृत्ति पदार्थोपस्थापन में ही प्रक्षीण हो जाती है और उसकी क्रिया रुक रुक कर हो ही नहीं सकती । अतएव तात्पर्यवृत्ति से

लोचन

नन्वेवं 'सिंहो वटुः' इत्यत्रापि काव्यरूपता स्यात्, ध्वननलक्षणस्यात्मनोऽत्रापि समनन्तरं वक्ष्यमाणतयाभावात्। ननु घटेऽपि जीवव्यवहारः स्यात्, आत्मनो विभुत्वेन तत्रापि भावात्। शरीरस्य खलु विशिष्टाधिष्ठानयुक्तस्य सत्यात्मनि जीवव्य-

(पू० प०) इस प्रकार तो निस्सन्देह 'सिंह-ब्रह्मचारी' में भी काव्यरूपता आ जावेगी। क्योंकि अभी शीघ्र ही कहीजानेवाली ध्वननरूप आत्मा की सत्ता तो वहाँपर विद्यमान है ही। (उ० प०) निस्सन्देह घड़े मे भी जीव का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि व्यापक होने के कारण आत्मा की सत्ता तो वहाँपर भी है ही। यदि कहो कि विशेष प्रकार के अधिष्ठान से युक्त शरीर के आत्मा होनेपर ही जीव

तारावती

ही अन्वय की प्रतिपत्ति माननी होगी। आशय यह है कि लक्षणास्थल में भी 'बालक सिंह है' इत्यादि वाक्यों में आकांक्षा तात्पर्य से ही सिंह और बालक के मुख्यार्थ का अन्वय हो सकता है, जिसका स्वरूप है सिंह और बालक के तादात्म्य की प्रतीति। इस अन्वय के प्रतिपन्न हो जाने पर ही विरोध की प्रतीति होती है।

(प्रश्न) बाधित स्थान में भी अन्वय अङ्गीकार करने पर 'अङ्गुलि के अग्र-भाग में सौ श्रेष्ठ कवि विद्यमान हैं' इस वाक्य में भी अन्वय की प्रतीति माननी पड़ेगी। (उत्तर) जब साकांक्षता और पदार्थोपस्थिति विद्यमान है तब अन्वय के प्रतीत न होने का क्या कारण है? निराकाक्ष पदों मे अन्वय की प्रतीति नहीं होती, जैसे महाभाष्य के निम्नलिखित उदाहरण मे अन्वय प्रतिपन्न नहीं होताः—

'दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डम्, अजाजिनम्, पललपिण्डः, अधरोरुकम्, एतत्कुमार्याः, स्फैय्यकृतस्य पिता प्रतिशीन इति।'

जिस प्रकार महाभाष्य के इस उदाहरण मे निराकांक्ष पदों का सङ्कलन मात्र होने से अन्वय प्रतिपन्न नहीं होता वैसा पदसङ्कलन प्रस्तुत स्थान पर नहीं है। अतएव अन्वय तो प्रतिपन्न हो ही जावेगा। किन्तु उस अन्वय के प्रतिपन्न होने पर भी प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों से उसका उसीप्रकार बाध हो जाता है जिसप्रकार शुक्ति मे रजतज्ञान का बाध हुआ करता है। अतएव उसका अवगम करानेवाला वाक्य अप्रामाणिक हो जाता है। (प्रश्न) यदि ऐसा है तो फिर 'बालक शेर है' यह वाक्य भी अप्रामाणिक हो जावेगा? (उत्तर) 'बालक शेर है' इस वाक्य में पहले पदार्थोपस्थिति होती है फिर द्वितीय कक्ष्या मे तात्पर्यवृत्ति से अन्वय का बोध हो जाता है, फिर अन्वय की बाधकता सामने आती है। इसके बाद उस बाधकता को व्यर्थ करने में समर्थ लक्षणा नाम की एक तीसरी वृत्ति स्फुरित होने लगती है जो उक्त वाक्य की अप्रामाणिकता का निराकरण कर देती है।

लोचन

वहारः न यस्य कस्यचिदितिचेत् गुणालङ्कारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननाख्यात्मनि काव्यरूपताव्यवहारः । नचात्मनोऽसारता काचिदिति च समानम् । न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणा व्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी । चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः । तथाहि त्रितयसन्निधौ लक्षणा प्रवर्तत इति तावद्भवन्त एव वदन्ति । तत्र मुख्यार्थबाधा तावत् प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला । निमित्तं च यदभिधीयते सामीप्यादि तदपि प्रमाणान्तर गम्यमेव ।

का व्यवहार होता है जिस किसी के लिये नहीं होता तो (काव्य के विषय में भी) गुण और अलङ्कार के औचित्य से सुन्दर प्रतीत होनेवाले शब्द-अर्थरूप शरीर के ध्वनन नामक आत्मतत्त्व के होनेपर ही काव्यरूपता का व्यवहार होता है । (इससे) आत्मा की कोई असारता नहीं होती यह दोनों ओर समान है । इसप्रकार भक्ति ही ध्वनि है यह नहीं कहा जा सकता (क्योंकि) निस्सन्देह भक्ति लक्षणा-व्यापार को कहते हैं जो तृतीय कक्ष्या में निविष्ट होनेवाला है; ध्वननव्यापार चौथी कक्ष्या में होता है । वह इसप्रकार—तीन के निकट होनेपर लक्षणा प्रवृत्त होती है यह तो आप ही कहते हैं । उसमें मुख्यार्थबाध तो प्रत्यक्ष इत्यादि दूसरे प्रमाणों को ही मूल मान कर चलता है । सामीप्य इत्यादि जो निमित्त बतलाये जाते हैं वे भी दूसरे प्रमाणों से ही अवगत किये जाने योग्य होते हैं ।

तारावती

(प्रश्न) प्रयोजनवती लक्षणा मे प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिए व्यञ्जना वृत्ति तो आप मानते ही हैं । 'बालक सिंह है' इस वाक्य मे भी बालक के शौर्याधिक रूप प्रयोजन की प्रतिप्रत्ति व्यञ्जनावृत्ति से ही होती है । अतएव ध्वनन रूप आत्मा की सत्ता मे यह वाक्य भी काव्य क्यों नहीं माना जाता ?

(उत्तर) आत्मा भी तो व्यापक है । अतएव वह घट मे भी विद्यमान है, फिर घट मे जीवव्यवहार क्यों नहीं होता ? जैसे घट मे जीवव्यवहार नहीं होता उसी प्रकार "बालक सिंह है" इस वाक्य मे ध्वनन व्यापार के होते हुए भी काव्यव्यवहार नहीं होता । सम्भवतः आप इसका उत्तर यह दे कि जीव-का व्यवहार वहीं पर होता है जहाँ पर कर-चरण इत्यादि विशिष्ट अवयवों का संयोग हो । इसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि जहाँ पर गुणों और अलङ्कारों के औचित्य के साथ काव्य का सुन्दर शब्द और अर्थरूपी शरीर विद्यमान होता है, साथ ही ध्वननव्यापाररूपी काव्य की आत्मा भी विद्यमान होती है वहीं पर काव्य का व्यवहार होता है । इस दृष्टान्त से इस आक्षेप का भी उत्तर हो जाता है कि यदि ध्वनन को काव्य की आत्मा माना जावेगा तो 'बालक सिंह है' इत्यादि स्थानों पर ध्वनि की

लोचन

यत्त्विदं घोषस्यातिपवित्रत्वशीतलत्वसेव्यत्वादिकं प्रयोजनमशब्दान्तरवाच्यं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नम्, वटोर्वा पराक्रमातिशयशालित्वं तत्र शब्दस्य न तावन्न व्यापारः। तथा हि—तत्सामीप्यात्तद्धर्मत्वानुमानमनैकान्तिकम्, सिंहशब्दवाच्यत्वं

जो यह घोष की अत्यन्त पवित्रता, शीतलता, सेव्यता इत्यादि दूसरे शब्दों से न कहाजानेयोग्य और दूसरे प्रमाणो से प्रतिपन्न न होनेवाला प्रयोजन है अथवा 'वटु' की अत्यन्त पराक्रमशीलता है, उसमें शब्द का कोई व्यापार नहीं होता, ऐसा नहीं कहा जासकता। वह इसप्रकार—उसके समीप होने से उसके धर्मत्व का अनुमान अनैकान्तिक (हेत्वाभास से युक्त) है। वटु का सिंहशब्दवाच्यत्व

तारावती

सत्ता और काव्यत्व के अभाव में आत्मा की असारता सिद्ध हो जावेगी। जिस प्रकार घट में व्यापक आत्मा के होते हुए भी चेतनाशून्यता के कारण आत्मा की असारता नहीं मानी जाती उसी प्रकार उक्त स्थल पर भी ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्य के अभाव के कारण आत्मा की असारता नहीं मानी जा सकती।

अब विचार करना है कि तृतीय कोटि लक्षणा में ध्वनि का अन्तर्भाव हो सकता है या नहीं? इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर यही है कि भक्ति या लक्षणा-व्यापार तृतीय कक्ष्या मे सन्निविष्ट हो जाता है और ध्वननव्यापार चतुर्थी कक्ष्या मे होता है। अतएव ध्वननव्यापार और लक्षणा एक ही नहीं हो सकते। इसको इसप्रकार समझिये—सभी लक्षणावादी इस बात को स्वीकार करते ही हैं कि लक्षणा मे तीन बातें मुख्य रूप से होनी चाहिये—(१) मुख्यार्थबाध (२) मुख्यार्थ-सम्बन्ध और (३) रूढिप्रयोजनान्यतर। उदाहरण के लिए कोई कहे कि 'मैं गंगा में झोपड़ी डालकर रहूँगा'। यहाँ पर गङ्गा शब्द का अर्थ है प्रवाह। प्रवाह में झोपड़ी डाली ही नहीं जा सकती, अतः मुख्यार्थबाध हो जाता है। मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा अर्थ तट ले लिया जाता है और पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है—'मे गगा के तट पर झोपड़ी डालकर रहूँगा।' गङ्गातट शब्द के स्थान पर गंगा शब्द के प्रयोग करने से गंगागत शीतलत्व पावनत्व और सेवनीयत्व की प्रतीति होती है। इस प्रकार इस पूरे वाक्य का अर्थ होगा—'मैं गंगा के तट पर झोपड़ी डालकर रहूँगा जो बड़ा ही शीतल, बड़ा ही पवित्र और अपने गुणों के कारण सर्वथा सेवन के योग्य है तथा जहाँ संसार के झन्झट बिल्कुल नहीं हैं। यहाँ पर शीतलत्व पावनत्व की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है क्योंकि यह अर्थ गंगा-तट शब्द से नहीं निकल सकता।

तारावती

अब यहाँ पर देखना यह है कि ये तीनों शर्तें पूरी किस प्रकार होती हैं तथा इनमें क्या क्या प्रमाण हैं ? लक्षणा की पहली शर्त है मुख्यार्थबाध, यह तो प्रत्यक्ष इत्यादि प्रमाणों पर ही आधारित होती है। उदाहरण के लिए गंगा के प्रवाह में झोपड़ी बनसकना प्रत्यक्षतः बाधित है। दूसरी शर्त है शक्यार्थसम्बन्ध। ये सम्बन्ध सामीप्य सादृश्य इत्यादि कई प्रकार के हो सकते हैं। ये सामीप्य इत्यादि सम्बन्ध भी प्रत्यक्षादि किसी दूसरे प्रमाण से ही सिद्ध हो जाते हैं।

प्रयोजनवती लक्षणा की तीसरी शर्त है प्रयोजन की प्रतिपत्ति। उदाहरण के लिये 'गङ्गा में झोपड़ी' इस वाक्य में झोपड़ी की अत्यन्त पवित्रता अत्यन्त शीतलता तथा अत्यन्त सेवनीयता और 'बालक सिंह है' इस वाक्य में बालक के पराक्रम का आधिक्य, इन प्रयोजनों की प्रतिपत्ति होती है। आप यह नहीं कह सकते कि इन प्रयोजनों की प्रतिपत्ति शब्दव्यापार पर आधारित नहीं है। क्योंकि इन प्रयोजनों की प्रतिपत्ति मे यदि शब्दव्यापार कारण नहीं है तो या तो अनुमान कारण हो सकता है या स्मृति कारण हो सकती है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—'तट, गङ्गागत अत्यन्त पवित्रत्वादि गुणोंवाला है, क्योंकि गङ्गा के समीप है, जैसे मुनिजन इत्यादि।' यहाँ पर व्याप्ति यह होगी—'जो गंगा के निकट होता है वह पवित्र होता है। जैसे मुनिजन गंगा के निकट होने से पवित्र होते हैं।' किन्तु यह व्याप्ति अव्याप्त है, क्योंकि गंगा के निकट खोपड़ी हड्डी इत्यादि भी पड़ी रहती हैं किन्तु वे पवित्र नहीं मानी जा सकतीं। अतएव हेतु मे अनैकान्तिकता आ जाती है जिससे साध्यसिद्धि में सव्यभिचार हेत्वाभास उपस्थित होकर उसे अप्रामाणिक बना देता है। इसी प्रकार 'ब्रह्मचारी शेर है' इस वाक्य में शेर की वीरता के प्रत्यायन के लिए हमें अनुमान की यह प्रक्रिया अपनानी पडेगी—'वटु सिंहधर्मवाला है, क्योंकि सिंहशब्दवाच्य है, जो जो सिंहशब्दवाच्य होते हैं वे वे सिंहधर्मवाले भी होते हैं जैसे वास्तविक सिंह, उसी प्रकार ब्रह्मचारी भी है, अतएव वह भी सिंहधर्मवाला है।' इस अनुमान की प्रक्रिया में स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। वटु पक्ष है और सिंहशब्दवाच्यता हेतु है। अनुमान की प्रक्रिया मे यह अनिवार्य नियम है कि हेतु का पक्ष में रहना प्रत्यक्ष इत्यादि दूसरे प्रमाणों से सिद्ध होना चाहिये। किन्तु यहाँ पर ब्रह्मचारी का सिंहशब्दवाच्य होना प्रत्यक्ष रूप मे असिद्ध हो जाता है। अतएव यह अनुमान ठीक नहीं कहा जा सकता। इन दोनों स्थानों के लिए अनुमान की एक दूसरी प्रक्रिया भी हो सकती है—एक इस प्रकार की व्याप्ति बनाई जावे जहाँ पर लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ उनके धर्म का योग अवश्य हो जाता है। इस व्याप्ति

तारावती

से साध्यसिद्धि हो सकती है किन्तु व्याप्तिग्रह के लिए कोई दूसरा प्रमाण बतलाना पड़ेगा। क्योंकि बार-बार किन्हीं विशेष उदाहरणों को देखकर ही व्याप्तिग्रह होता है। जब यहाँ पर कोई प्रमाण ही नहीं तब न तो व्याप्तिग्रह हो सकेगा और न साध्यसिद्धि ही होगी। इस प्रकार प्रयोजन की प्रतिपत्ति अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकती। अब स्मृति को लीजिये—स्मृति उसी की होती है जिसका पहले अनुभव किया जा चुका है। यहाँ पर कोई नियामक कभी नहीं है कि शब्दप्रयोग में उसके धर्म की स्मृति हो जाती है। दूसरी बात यह है कि धर्म तो बहुत से होते हैं उनमे यह कैसे निश्चय किया जावेगा कि अमुक स्थल पर अमुक धर्म का ही स्मरण होगा? इस प्रकार प्रयोजन की प्रतिपत्ति न तो अनुमानगम्य हो सकती है और न स्मृतिगम्य। अतः मानना ही पड़ेगा कि शब्द का ही कोई व्यापार यहाँ पर कारण होता है जिससे प्रयोजनप्रतिपत्ति हो जाती है।

शब्द के अपने केवल तीन ही व्यापार माने गये हैं—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा। अभिधावृत्ति से प्रयोजन की प्रतिपत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि अभिधा वहीं पर होती है जहाँ पर संकेतग्रहण हो चुका हो। शीतलता पावनता इत्यादि धर्मों मे संकेतग्रहण हुआ ही नहीं है। अतएव ये धर्म अभिधावृत्तिगम्य नहीं हो सकते। तात्पर्यवृत्ति से भी काम नहीं चल सकता। क्योंकि उसका कार्य अन्वयप्रतीतिकाल मे ही समाप्त हो जाता है। अब हमे यह देखना है कि प्रयोजनप्रतिपत्ति लक्षणा से हो सकती है या नहीं? लक्षणा के लिए ३ शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है—शक्यार्थबाध, शक्यार्थसम्बन्ध और रूढिप्रयोजनान्यतर। जिस प्रकार झोपड़ी के साथ अन्वय होने पर प्रवाह अर्थ बाधित हो जाता है उसी प्रकार यदि 'गंगातट पर झोपडी' यह अर्थ भी बाधित हो जावे तो लक्षणा का अवसर हो सकता है। किन्तु लक्ष्यार्थ में इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतएव लक्षणा की पहली शर्त समाप्त हो गई। लक्षणा की दूसरी शर्त है शक्यार्थसम्बन्ध। एक तो तट शक्यार्थ ही नहीं है दूसरे उसका शीतत्व इत्यादि से लक्षणा के लिये परिगणित सम्बन्धों मे कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इसप्रकार दूसरी शर्त भी पूरी नहीं हुई। तीसरी शर्त है रूढिप्रयोजनान्यतरत्व। रूढि तो यहाँ पर है ही नहीं। प्रयोजन भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए दूसरा प्रयोजन माना जावेगा तो उस दूसरे प्रयोजन का भी कोई दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जावेगा जो मूल को ही नष्ट करनेवाला होगा। अतएव यहाँ पर कोई दूसरा प्रयोजन भी नहीं माना जा सकता। [काव्यप्रकाशकार ने यहाँ पर

लोचन

च वटोरसिद्धम् । अथ यत्र यत्रैवंशब्दप्रयोगस्तत्र तत्र तद्धर्मयोग इत्यनुमानम्, तस्यापि व्याप्तिग्रहकाले मौलिकं प्रमाणान्तरं वाच्यम्, न चास्ति । न च स्मृतिरियम्, अननुभूते तदयोगात्, नियमाप्रतिपत्तेर्वक्तुरेतद्विवक्षितमित्यध्यवसायाभावप्रसङ्गाच्चेत्यस्ति तावदत्र शब्दस्यैव व्यापारः । व्यापारश्च नाभिधात्मा समयाभावात् । न तात्पर्यात्मा तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात् । न लक्षणात्मा उक्तादेव हेतोः स्खलितगतित्वाभावात् । तत्रापि हि स्खलद्गतित्वे पुनर्मुख्यार्थबाधा निमित्तं प्रयोजनमित्यनवस्था स्यात् । अत एव यत् केनचिल्लक्षितलक्षणेति नाम कृतं तद्व्यसनमात्रम् । तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः । यद्वक्ष्यति—

असिद्ध है । अब यदि अनुमान (व्याप्ति) का रूप यह बनाते हो कि जहाँ-जहाँ इस प्रकार के शब्द का प्रयोग होता है वहाँ-वहाँ उसके धर्म का योग हो जाता है उसके भी व्याप्तिग्रहण-काल में कोई दूसरा मौलिक प्रमाण कहना चाहिये, वह है नहीं। यह स्मृति भी नहीं है। क्योंकि जिसका अनुभव नहीं किया उसमें वह हो ही नहीं सकती तथा किसी नियम के प्रतिपन्न न होने के कारण वक्ता की विवक्षा इसी अर्थ में है इस अध्यवसाय (निश्चय) का अभाव भी प्रसक्त हो जावेगा । अतः यहाँपर शब्द का ही व्यापार (मानना पड़ेगा) । अभिधानामक व्यापार हो नहीं सकता, क्योंकि अन्वयप्रतीति में ही उसका परिक्षय हो जाता है । लक्षणात्मक भी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त हेतुओं से ही शब्द के स्खलद्गति न होने के कारण अर्थात् बाध न होने के कारण । उसके भी स्खलद्गति मानने पर फिर मुख्यार्थबाध निमित्त तथा प्रयोजन इस प्रकार अनवस्था हो जावेगी । अतएव जो किसी ने लक्षितलक्षणा यह नामकरण किया था वह व्यसनमात्र है । अतएव अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से व्यतिरिक्त यह चौथा व्यापार समझा जाना चाहिये जो ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन इत्यादि सहोदरों (पर्यायवाचक शब्दों) के नाम के द्वारा निरूपित किया गया है । जैसा कि कहेंगे:—

तारावती

एक सम्भावना और बतलाई है—उन्होंने लिखा है कि 'प्रयोजनविशिष्टलक्ष्यार्थ' मे ही लक्षणा मानी जा सकती है । इस सम्भावना का उन्होंने यह कहकर खण्डन किया है कि लक्ष्यार्थ तो लक्षणा का विषय है और प्रयोजन उसका फल है । विषय और फल ये दोनों कभी एक हो ही नहीं सकते । उदाहरण के लिये ज्ञान का विषय और होता है और फल और । जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है घट और इसके फल के विषय में दो मत हैं—प्रथम मत है मीमांसकों का जो यह

लोचन

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दोनैव स्खलद्गतिः॥ इति।

तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः। तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः। मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः। तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः, स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन् प्रधानभूतः काव्यात्मेत्याशयेन निषेधप्रमुखतया च प्रयोजनविषयोपि निषेधविषय इत्युक्तम्। अभ्युपगममात्रेण चैतदुक्तम्। न त्वत्र लक्षणा, अत्यन्ततिरस्कारान्यसंक्रमणयोरभावात्। नह्यर्थशक्तिमूलेऽस्याः व्यापारः। सहकारिभेदाच्च शक्तिभेदः स्पष्ट एव, यथा तस्यैव शब्दस्य व्याप्तिस्मृत्यादिसहकृतस्य विवक्षावगतावनुमापकत्वव्यापारः। एवमभिहितान्वयवादिनामिदमनपह्नवनीयम्।

'जिस फल के उद्देश्य से मुख्यवृत्ति का परित्याग कर गुणवृत्ति से अर्थदर्शन किया जाता है उसमें शब्द की गति स्खलित नहीं होती।

इससे सङ्केत की अपेक्षा करते हुए वाच्य के अवगमन की शक्ति को अभिधाशक्ति कहते है। मुख्यार्थबाध इत्यादि सहकारियो की अपेक्षा करते हुये अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति लक्षणाशक्ति (होती है।) उन तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थावगमन रूप मूल से उत्पन्न (तथा) उस (अभिधेय इत्यादि अर्थ) के प्रतिभास अर्थात् निरन्तर प्रतीति से पवित्र की हुई (अर्थात् संस्कारनामक अतिशयता से सम्पादित की हुई) परिशीलक (सहृदय) की प्रतिभा की सहायता से अर्थद्योतन की शक्ति को ध्वननव्यापार कहते है और वह पहले सम्पन्न हुये तीनो व्यापारों को दबाकर प्रधान होकर काव्य की आत्मा हुआ करता है। इस आशय से प्रयोजन विषय होने हुये भी निषेधमुख से प्रवृत्त होने के कारण निषेधविषय होता है यह कहा गया है। यह बात (विरोधी के असत्य पक्ष की) स्वीकृति मात्र के द्वारा कही गई है। वस्तुतः यहाॅ पर लक्षणा होती ही नहीं क्योंकि यहाॅ पर न तो वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होता है और न अन्यसक्रमण ही होता है। इस (लक्षणा) का व्यापार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि मे नहीं होता। सहकारी के भेद से शक्तिभेद स्पष्ट ही है, जैसे व्याप्ति स्मृति इत्यादि से सहकृत उसी शब्द की विवक्षा की अवगति मे अनुमापकत्व व्यापार माना जाता है—अक्ष (इन्द्रिय) इत्यादि से सहकृत (उसी शब्द का) सविकल्पकत्व इत्यादि व्यापार माना जाता है। इसी प्रकार अभिहितान्वयवादियों के दृष्टिकोण से इसका निराकरण नहीं हो सकता।

तारावती

मानते हैं जि प्रत्यक्षज्ञान का फल है किसी वस्तु का प्रकट हो जाना। घटज्ञान के बाद 'घड़ा जान लिया गया' इस प्रत्यय के कारण घट में जो ज्ञातता अथवा प्रकटता उत्पन्न हो जाती है वही प्रत्यक्षज्ञान का फल है। मीमांसक लोग ज्ञेयधर्म ज्ञातता या प्रकटता को ही ज्ञान का फल मानते है। दूसरा मत है नैय्यायिकों का जिनका मत है कि 'मैं घटको जानता हूँ' इस प्रकार के प्रत्यय से जो अनुव्यवसाय या संविति होती है वही प्रत्यक्षज्ञान का फल है। इस प्रकार नैय्यायिक लोग ज्ञातृ-धर्म को ज्ञान का फल बतलाते हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्ष के विषय और उसके फल दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं उसीप्रकार लक्षणाजन्य ज्ञान में भी उसके विषय तट की अपेक्षा उसके फल शीतत्व-पावनत्व इत्यादि में भेद अवश्य होना चाहिये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार गङ्गाशब्द से लक्षणावृत्ति-के द्वारा तट की अवगति हो जाती है उसी प्रकार लक्षणा से ही प्रयोजन की अवगति किसी प्रकार नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें लक्षणा की कोई शर्त मिलती ही नहीं। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिए होनेवाली लक्षणालक्षित लक्षणा कही जाती है, यह उनका व्यञ्जना को खण्डन करने के लिए दुराग्रहमात्र है, उसमें सार कुछ भी नहीं। इससे सिद्ध होता है कि प्रयोजन-प्रतिपत्ति न तो अनुमान से हो सकती है न स्मृति से और न अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीनों वृत्तियों में किसी से उसका बोध हो सकता है। अतएव उक्त तीनों वृत्तियों से भिन्न एक चौथी वृत्ति या शब्दव्यापार अवश्य मानना पड़ेगा फिर आप उसे ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रत्यायन, अवगमन इत्यादि पर्यायों में चाहे जो कोई नाम दे सकते है। लक्षणा के द्वारा प्रयोजन की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती यह बात आगे चलकर 'मुख्या वृत्तिं परित्यज्य' इस कारिका की व्याख्या के अवसर पर अधिक विशद रूप में समझाई जावेगी।

इसप्रकार शब्द की चार वृत्तियाँ सिद्ध हुईं—(१) वाच्यार्थ का अवगमन कराने-वाली सङ्केतसापेक्षिणी वृत्ति अभिधा कहलाती है। (२) अभिधा के द्वारा सङ्केतित अर्थ के प्रकट कर दिये जाने के बाद अन्वयरूप कुछ ऐसा अंश शेष अवश्य रह जाता है जो कि अभिधा के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव वाक्यार्थपूर्ति में सहायक होकर जो वृत्ति अर्थबोध में कारण होती है उसे तात्पर्यवृत्ति कहते हैं। (३) शक्यार्थबाध, शक्यार्थसम्बन्ध और रूढिप्रयोजनान्यतर इन तीन सहकारियों की अपेक्षा करते हुये जो शक्ति दूसरे सम्बन्धित अर्थ का बोध कराती है वह लक्षणा कही जाती है। (४) अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीन वृत्तियों से जिस अर्थ का अवबोध होता है उसी से एक अन्य भी अर्थ स्फुटित होने लगता है जिसके बार-बार अनुसन्धान से परिशीलन करनेवालों की प्रतिभा पवित्र हो जाती है। इस

तारावती

प्रकार प्रतिभा को पवित्र करने में समर्थ वृत्ति ध्वनन या व्यञ्जन व्यापार के नाम से अभिहित की जाती है। जब यह वृत्ति शेष तीनों वृत्तियों को दबाकर प्रधान पदपर आसीन हो जाती है तब उसे ध्वनि कहते है। यही ध्वनि काव्य की आत्मा है। (प्रश्न) ऊपर लक्षणा का जो विवेचन किया गया है उससे सिद्ध होता है कि 'भ्रमधार्मिक ······सिंहेन' मे भ्रमण का निषेध लक्ष्यार्थ है और संकेतस्थान की रक्षा इत्यादि उस लक्षणा के प्रयोजन हैं जिनका अवगम व्यञ्जना से होता है। फिर आलोककार ने यह कैसे लिख दिया कि प्रतिषेधरूप अर्थ व्यञ्जनाव्यापारगम्य है? (उत्तर) निषेध अर्थ प्रमुख है और उसी के द्वारा संकेतस्थान की सुरक्षा व्यक्त होती है। इसीलिये निषेध अर्थ का होना कह दिया गया है। यह उत्तर तो इस बात को मान कर दिया गया है कि प्रस्तुत स्थान पर लक्षणा होती है। वस्तुतः यहाँ पर लक्षणा होती ही नहीं, क्योंकि लक्षणा के हेतु यहाँ पर मिलते ही नहीं। न तो शक्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार होता है। और न उसका अन्य अर्थ में संक्रमण ही होता है। यहाॅ पर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि है जिसमे लक्षणा मानी ही नहीं जा सकती। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकार के ज्ञानों मे कुछ सहकारी कारण अवश्य अपेक्षित होते है। उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। इन दोनों प्रकार के प्रत्यक्षज्ञानों मे सहकारी हेतु होते है इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, जिनके वैशेषिक दर्शन मे ६ भेद किये गये हैं। इसी प्रकार अनुमिति मे भी व्याप्ति, स्मृति तथा पक्षधर्मता का ज्ञान और परामर्श कारण होते है। जो लोग शब्दशक्ति को भी अनुमानगम्य मानते हैं उनके मत मे अर्थबोधन के लिये प्रयुक्त शब्द मे व्याप्ति स्मृति इत्यादि के सहकार से ही अनुमापकत्व का व्यवहार होता है। अनुमान की प्रक्रिया यह होगी—वक्ता यह बात कहना चाहता है, क्योंकि उसने इस शब्द का प्रयोग किया है; जहाॅ-जहाॅ पर इस शब्द का प्रयोग होता है वहाॅ यह अर्थ अभीष्ट होता है। जैसे अमुक स्थान पर इस शब्द का प्रयोग किया गया था वहाॅ पर यही अर्थ अभीष्ट था, वैसा ही यहाँ पर है—अतएव यहाँ पर भी अमुक अर्थ ही अभीष्ट है। इसी प्रकार उपमान मे सादृश्यज्ञान इत्यादि कारण होते हैं। शाब्द प्रमाण मे अभिधास्थल पर संकेतज्ञान तथा तात्पर्यवृत्ति कारण होती है और लक्षणास्थल पर शक्यार्थबाध इत्यादि कारण होते हैं। व्यञ्जनावृत्ति मे भी कतिपय सहकारी अपेक्षित होते है जिनका परिगणन आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित कारिकाओं मे किया है:—

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्॥
योऽन्यस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

तारावती

लक्षणा में शक्यार्थबाध इत्यादि सहकारी होते हैं और व्यञ्जना में वक्ता बोद्धव्य इत्यादि सहकारी होते हैं। इस प्रकार सहकारी भेद के कारण वृत्तिभेद मानना भी आवश्यक है। अतएव अभिहितान्वयवाद में व्यञ्जनावृत्ति का अपलाप किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

—अन्विताभिधानवाद और व्यञ्जनावृत्ति—

ऊपर अभिहितान्वयवाद के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति की अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। अब अन्विताभिधानवाद के अनुसार भी व्यञ्जना की अनिवार्यता दिखलानी है। इसके लिये सर्वप्रथम अन्विताभिधानवाद का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर गुरु के अनुयायी इस तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि वाक्यार्थ वाच्य के द्वारा ही प्रकट हो जाता है अतः अभिधावृत्ति के अन्दर ही तात्पर्यवृत्ति का भी समावेश हो जाता है। इन लोगों की शक्तिग्रहण की प्रक्रिया इस प्रकार है:—

'बालक को शक्तिग्रह सर्वप्रथम अन्वित मे ही होता है। जब कोई वृद्ध किसी युवक को 'गाय लाओ' यह आदेश देता है और युवक उसकी आज्ञा से गाय ले आता है, जब यह क्रिया कई बार होती है तब बालक 'गाय लाओ' इस वाक्य का और गाय ले आने की क्रिया का सम्बन्ध समझ लेता है। इसप्रकार सबसे पहले बालक को शक्तिग्रह वाक्य मे ही होता है। इसके बाद जब वही वृद्ध के 'गाय ले जाओ' 'अश्व लाओ' इत्यादि वाक्यों को सुनता है और उनकी क्रियाओं को देखता है तथा वाक्य के भिन्न-भिन्न शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोगों पर ध्यान देता है तब वह शब्दों के अवापोद्वाप (निर्गम-प्रवेश) के द्वारा शब्दों की शक्ति को समझ लेता है। उस समय वह शब्दों की जिस शक्ति को समझता है उसमें अन्वयांश विद्यमान रहता है। इस प्रकार कारकपदों का क्रिया के साथ और क्रिया पदों का कारक के साथ सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है। बाद में जब शुद्ध शब्दों का ज्ञान होता है तब इस अन्वयांशमिश्रित शक्ति से अन्वयांश को पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अभिधावृत्ति के द्वारा ही अन्वयांश में शक्ति प्रतीत हो जाती है और तात्पर्यवृत्ति के पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस मत के अनुसार 'गाय लाओ' इस वाक्य के 'लाओ' शब्द का अर्थ होगा—'दूसरे शब्द से अन्वित आनयन क्रिया'। इसी अर्थ मे इसका संकेत है। गवानयन में इसका संकेत नहीं है फिर भी गवानयन का बोध होता ही है। इस प्रकार संकेतग्रहण हुआ 'अन्यपदार्थान्वित आनयन क्रिया' इस अर्थ में और बोध हुआ गवानयन का। जिस प्रकार घड़ा एक वस्तु है। वस्तु शब्द से हमें घडे का बोध भले ही हो जावे किन्तु वस्तु शब्द का अर्थ तो घड़ा नहीं हो जावेगा। इसीप्रकार आनयन पद से गवानयन का बोध भले ही हो जावे

लोचन

योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोसाविति कुतः ? भिन्नविपयत्वात्। अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिः निषिद्धः। असजातीये चास्मन्नय एव।

जो अन्विताभिधानवादी भी 'यत्परक शब्द होता है वह शब्द का अर्थ हुआ करता है' यह हृदय मे ग्रहण कर के शर के समान दीर्घ-दीर्घ अभिधाव्यापार को ही चाहता है उसका यदि दीर्घ व्यापार होता है तो 'यह एक है' यह कहा ही कैसे जा सकता है ? क्योकि उसका विषय भिन्न होता है। यदि यह अनेक होता है तो तद्विषयक सहकारियों के भेद से इसका असजातीय होना ही ठीक है और सजातीय कार्य मे पदार्थ के विद्वानों ने शब्द बुद्धि और कर्म का रुक-रुक कर व्यापार मना कर दिया है। असाजातीय होनेपर हमारी ही नीति (गतार्थ हो जाती है।)

तारावती

किन्तु आनयन पद का अर्थ गवानयन कभी नहीं हो सकता। ऐसी दशा मे जब एक शब्द का अर्थ भी वाच्य नहीं हो सकता तब व्यङ्ग्यार्थ जो अतिविशेष है और जो वाच्यार्थ से भी सर्वथा भिन्न होता है उसका समावेश अभिधावृत्ति मे हो सकेगा, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। 'लाओ' शब्द का वाच्यार्थ गवानयन नहीं हो सकता, इसका कारण यह है कि न्यायशास्त्र के अनुसार किसी शब्द से उसके सामान्यरूप का परिज्ञान हो जाता है। जैसे धूम को देखकर धूमत्व का ज्ञान हो जाता है। बाद मे धूमत्व का ज्ञान होने के कारण किसी ऐसे धुये को देखकर जिसको कभी न देखा हो, यह ज्ञान हो जाता है कि यह धुऑ है। इसे सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति कहते है। यहॉ 'लाओ' शब्द सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से अन्य-पदार्थान्वित आनयन क्रिया का ही बोधक होगा गवानयन का नहीं।

अभिहितान्वयवाद मे शब्द का अर्थ अन्वयाश से रहित नही होता है और अन्विताभिधानवाद मे सामान्य रूप से किसी भी दूसरे शब्द से अन्वित ही उसका अर्थ होता है। इस प्रकार 'विशेप शब्द के साथ भी अन्वित' अर्थ वाच्य नहीं हो सकता। अतएव दोनों ही अर्थों मे व्यङ्ग्यार्थ कभी वच्यकोटि में नहीं आ सकता।

अन्विताभिधानवादी भट्ट लोल्लट के अनुयायी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः तथा 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' ये युक्तियाँ देकर व्यञ्जनावृत्ति को अभिधा मे सन्निविष्ट करते हैं। उनके कथन का आशय यह है–'यह शब्दशक्ति का व्यापार भी बाण के समान अधिक-अधिक हो जाता है। जिस प्रकार बलवान

लोचन

अथ योऽसौ चतुर्थ कक्षानिविष्टोऽर्थः, स एव झटितिवाक्येनाभिधीयत इत्येवंविधं दीर्घदीर्घत्वं विवक्षितम्, तर्हि तत्र सङ्केताकरणात्कथं साक्षात्प्रतिपत्तिः ? निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्सङ्केतानपेक्ष एवेति चेत्—पश्यत श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।

अब यदि यह जो चौथी कक्षा मे निविष्ट अर्थ है वह शीघ्र ही वाक्य के द्वारा अभिहित कर दिया जाता है, इस प्रकार का दीर्घत्व विवक्षित है तो वहाँ पर सङ्केत न करने से साक्षात् प्रतिपत्ति किस प्रकार होती है ? यदि यह मानों कि निमित्तो मे सङ्केत होता है और यह नैमित्तिक अर्थ सङ्केत की अपेक्षा नहीं करता तो इस श्रोत्रिय की उक्तिकुशलता तो देखो। निस्सन्देह जो यह पर्यन्त (अन्तिम) कक्षाभागी पहले ही प्रतीतिपथ मे अवतीर्ण होनेवाला अर्थ (व्यंग्यार्थ) है उसके बाद मे होनेवाले पदार्थावगम निमित्त बन जाते है यह तो निस्सन्देह ऐसा ही है कि मीमांसक का प्रपौत्र के प्रति नैमित्तिकत्व बतला दिया गया है।

तारावती

के द्वारा छोडा हुआ बाण अपने वेगनामक व्यापार के द्वारा शत्रु के कवच को भी काटता है, उसके मर्मस्थान को भी विदीर्ण करता है और उसका प्राणहरण भी करता है। उसीप्रकार महाकवि का प्रयोग किया हुआ शब्द भी अभिधा नामक व्यापार के द्वारा पदार्थ की भी उपस्थिति करता है, अन्वयबोध भी कराता है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी कराता है। आशय यह है कि 'एक अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्दशक्ति का तबतक विराम नहीं होता जबतक विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती।' इनका कहना है कि शब्द का वही अर्थ होता है जिस अर्थ मे वक्ता का तात्पर्य हो। इसपर मुझे (श्री अभिनव गुप्त को) यह पूछना है कि यदि शब्द का ही दीर्घ-दीर्घतर व्यापार होता जाता है तो सब व्यापारों को हम एक ही व्यापार कैसे कह सकते हैं? क्योंकि समस्त व्यापारो मे उनके विषय बदलते जाते हैं। विषय भी भिन्न होते हैं और सहकारी भिन्न होते ही हैं। (अभिधा का सहकारी संकेतग्रहण होता है, लक्षणा के सहकारी शक्यार्थबाध इत्यादि होते हैं और व्यञ्जना के सहकारी वक्तृवैशिष्ट्य इत्यादि होते हैं।) इस अवस्था मे विभिन्न व्यापार असजातीय ही मानने पडेगे। कारण यह है कि शब्दतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने नियम बना दिया है कि शब्द, बुद्धि और कर्मों का सजातीय कार्य मे रुक-रुक कर व्यापार कभी

लोचन

अथोच्यते—पूर्वं तत्र सङ्केतग्रहणसंस्कृतस्य तस्य तथा प्रतिपत्तिर्भवतीत्यमुया वस्तुस्थित्या निमित्तत्वं पदार्थानाम्, तर्हि तदनुसरणोपयोगि न किञ्चिदप्युक्तं स्यात्। न चापि प्राक्पदार्थेषु सङ्केतग्रहणं वृत्तम्, अन्वितानामेव सर्वदा प्रयोगात्। अवापोद्वापाभ्यां तथाभाव इति चेत्—सङ्केतः पदार्थमात्रः इत्यभ्युपगमे पाश्चात्त्यैव विशेषप्रतीतिः।

यदि कहा जावे—पहले वहाँ पर सङ्केतग्रहण से संस्कृत (व्यक्ति) की प्रतिपत्ति उस प्रकार की हो जाती है इस वस्तुस्थिति से पदार्थों का निमित्तत्व बन जाता है तो उस (पार्यन्तिक अर्थ) के अनुसरण में उपयोगी कुछ भी कहा हुआ नहीं होगा। यह भी नहीं कि पहले पदार्थों में सङ्केतग्रहण हो चुका है क्योंकि अन्विता का ही सर्वदा प्रयोग होता है। अवाप और उद्वाप (शब्दों के प्रवेश और निर्गम) के द्वारा वह तत्त्व (पृथक्-पृथक् पदार्थों मे सङ्केतग्रहण) हो जाता है, यदि यह कहो तो सङ्केत पदार्थमात्र में ही होता है यह मानने पर (निषेधरूप) विशेष प्रतिपत्ति बाद में ही होगी।

तारावती

नहीं होता, व्यापारों की असजातीयता स्वीकार कर लेने पर हमारा ही सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि शब्द की पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना के नाम से अभिहित की जाती हैं।

(पूर्वपक्ष) यहाँ पर दीर्घ-दीर्घतर व्यापार का आशय यह है कि अभिधा तात्पर्य और लक्षणा के बाद जो यह चौथी कक्षा मे निविष्ट व्यङ्ग्यार्थ होता है उसी की वाक्य के द्वारा एकदम प्रतीति हो जाती है। (उत्तर) अभिधा से उसी की प्रतीति होती है जिसमे संकेतग्रहण हुआ हो। जब व्यङ्ग्यार्थ मे संकेतग्रहण हुआ ही नहीं तब अभिधा के द्वारा उसकी प्रतीति हो ही कैसे सकती है ?

(पूर्वपक्ष) वाक्य को सुनते ही उसका अन्तिम अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) प्रतीतिगोचर हो जाता है। उस व्यङ्ग्यार्थ मे निमित्त शक्यार्थ होता है और व्यङ्ग्यार्थ नैमित्तिक होता है। व्यङ्ग्यार्थ की एकदम प्रतीति हो जाने के बाद विशेषरूप से ध्यान देने पर शक्यार्थ की भी प्रतीति होती है। संकेतग्रहण शक्यार्थ मे होता है जो कि व्यङ्ग्यार्थ मे निमित्त होता है। उसी आधार पर नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थ का भी बोध हो जाता है और इसमें संकेतग्रहण की आवश्यकता नहीं पड़ती। (उत्तर) इन महापण्डित महोदय की उक्तिकुशलता को तो देखो ! अन्तिम कक्षा को प्राप्त होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ तो पहले प्रतीतिगोचर होता है और उसमे निमित्त होता है बाद में प्रतीत होनेवाला पदार्थबोध ! अर्थात् कार्य पहले

लोचन

अथोच्यते—दृष्टैव झटिति तात्पर्यप्रतिपत्तिः किमत्र कुर्म इति। तदिदं वयमपि न नाङ्गीकुर्मः। यद्वक्ष्यामः—

तद्वत्सचेतसां योऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां झटित्येवावभासते॥ इति॥

किन्तु सातिशयानुशीलनाभ्यासात्तत्र सम्भाव्यमानोऽपि क्रमः सजातीयतद्विकल्पपरम्परानुदयादभ्यस्तविषयव्याप्तिसमयस्मृतिक्रमवन्न संवेद्यत इति।

यदि कहो कि शीघ्र तात्पर्य प्रतिपत्ति देखी ही है इस विषय में हम क्या करें। तो इसको तो हम भी स्वीकार नहीं करते हैं यह बात नहीं है। जैसा कि हम कहेंगे—'उसी प्रकार वाच्यार्थ से विमुख आत्मावाले सहृदयों की तत्त्वावभासिनी बुद्धि मे वह अर्थ शीघ्र ही अवभासित हो जाता है।' किन्तु अत्यन्त अनुशीलन के अभ्यास के कारण वहाँपर सम्भावित होते हुये भी क्रम सजातीय पदार्थ विकल्प परम्परा के उदय न होने के कारण विषय की व्याप्ति के समान अथवा समयस्मृति के क्रम के समान संवेदनागोचर नहीं होता।

तारावती

होता है और कारण बाद में। आशय यह है कि मीमांसक का परपोता मीमांसक को जन्म देनेवाला होता है !

यहाँ पर आप यह कह सकते हैं कि संकेतग्रहण तो पहले ही हो चुका था। बुद्धि पहले ही संकेतग्रहण से संस्कृत रहती है। बाद मे वाक्य सुनने पर व्यङ्गयार्थबोध हो जाता है और पदार्थ तथा व्यङ्गयार्थ का निमित्त-नैमित्तिक भाव बन जाता है। किन्तु इस अवस्था मे व्यङ्गयार्थबोध के लिये आप किस प्रक्रिया का आश्रय लेंगे ? व्यङ्गयार्थ में संकेतग्रहण तो हुआ नहीं फिर आप अभिधावृत्ति के आधार पर उसकी प्रतीति कैसे मान सकते है ? दूसरी बात यह है कि संकेतग्रहण आपके मत मे पहले हो ही नहीं सकता क्योंकि आप तो अन्वित मे ही शक्ति मानते हैं। यदि आप यह माने कि संकेतग्रहण अन्वित मे ही होता है, किन्तु शब्दों के अवाप-उद्वाप (प्रवेश-निर्गम) के आधार पर संकेतग्रहण पदार्थ मात्र मे भी हो सकता है तो इस पर मेरा निवेदन यह है कि ऐसी अवस्था मे विशेष अर्थ की प्रतीति तो बाद मे ही होगी। अभिहितान्वयवादियों के समान आपको भी तात्पर्यवृत्ति इत्यादि की कल्पना करनी ही पडेगी। ऐसी दशा में अन्विताभिधानवाद का आपका सिद्धान्त ही उच्छिन्न हो जावेगा।

यहाँ पर आप कह सकते हैं कि पदार्थ-व्यङ्गयार्थ का निमित्त-नैमित्तिक भाव बने या न बने किन्तु वाक्य बोलते ही एकदम जो तात्पर्यार्थ की प्रतीति होने लगती है

लोचन

निमित्तनैमित्तिकभावश्चावश्यमाश्रयणीयः, अन्यथा गौणलाक्षणिकयोर्मुख्याद्भेदः, 'श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणषट्कस्य पारदौर्बल्यम्' इत्यादि प्रक्रियाविघातः, निमित्ततावैचित्र्येणैवास्याः समर्थितत्वात्। निमित्ततावैचित्र्ये चाभ्युपगते किमपरमस्मास्वसूयया।

निमित्त-नैमित्तिक का आश्रय तो अवश्य ही लिया जाना चाहिये। अन्यथा गौण लाक्षणिक में मुख्य से भेद (सिद्ध नहीं होता) और 'श्रुति लिंग इत्यादि छः प्रमाणों मे पारदौर्बल्य' इस प्रक्रिया का विघात (हो जाता है।) क्योंकि निमित्तताके वैचित्र्य से ही इसका समर्थन होता है। निमित्ततावैचित्र्य के मानलेने पर हमारे प्रति असूया से क्या दूसरा लाभ (आपको प्राप्त होगा। अर्थात् आपने तो हमारी वात ही मान ली।)

तारावती

उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? इस पर मेरा निवेदन यह है कि इस बात को तो हम भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति एकदम हो जाती है। ध्वनिकार ने स्वयं कहा है:—

'सहृदयों की अन्तरात्माये वाक्य के वाच्यार्थ से सर्वथा विमुख होती है। उनकी तत्त्वावभासिनी बुद्धि मे वाच्यार्थज्ञान के विना ही व्यङ्ग्यार्थ एकदम स्फुरित होने लगता है।' किन्तु इस कथन का अभिप्राय यही है कि जिन लोगों ने काव्य इत्यादि का अत्यन्त अनुशीलन किया है उनको अभ्यासवश एकदम व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति मे अङ्गभूत पदार्थबोध इत्यादि क्रम की सम्भावना रहते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार धुआँ को देखकर एकदम आग का बोध हो जाता है और व्याप्तिग्रह, लिङ्गपरामर्श इत्यादि क्रम की संभावना होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। अथवा गाय इत्यादि पदार्थों के देखते ही उनका बोध हो जाता है—संकेतग्रहण, संकेतस्मृति इत्यादि क्रम के होते हुए भी उसकी प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार प्रतीत न होते हुए भी निमित्त-नैमित्तिक भाव तो मानना ही पड़ेगा।

[काव्यप्रकाशकारने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' तथा 'सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो व्यापारः' इन दोनों वाक्यो की विशेषरूप से आलोचना की है। यहाँ पर काव्यप्रकाशकार की आलोचना का सार दे देना अप्रासङ्गिक न होगा।

काव्यप्रकाशकार का कहना है कि जो लोग मीमासकों के 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इस वाक्य का आश्रय लेकर व्यञ्जनाव्यापार का निषेध करने की चेष्टा करते है वे लोग मीमासकों की इस तात्पर्यार्थविपयक वाणी के तात्पर्य को विलकुल नही समझते और इस प्रकार वे लोग भी सर्वथा देवो के प्यारे (पशु) ही है। वस्तुतः

तारावती

मीमांसकों की इस युक्ति का तात्पर्य यह है कि जब वाक्य के अन्दर विद्यमान पदों की उपस्थिति होती है तब उनमे कुछ शब्द तो सिद्ध होते हैं और कुछ साध्य। साध्यों का ही विधान किया जाता है और उन्हीं मे वक्ता का तात्पर्य होता है। उसी के बोध के लिये वाक्य का प्रयोग किया जाता है। वही अर्थ ऐसा होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव अज्ञात अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अंश मे प्रामाणिक का निर्वाह होता है जो अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव अज्ञात अर्थ को प्रकट करने के कारण उसी अंश में प्रामाणिकता का निर्वाह होता हैं जैसा कि कहा भी गया है 'भूत (सिद्ध) और भव्य (साध्य) दोनों के उच्चारण मे सिद्ध शब्द का साधारण अर्थ है कारक और साध्य शब्द का साधारण अर्थ है क्रिया। जब कारकपदो का क्रियापद के साथ अन्वय होता है तब कारकपदार्थ प्रधान क्रिया को पूरा करनेवाली अपनी क्रिया के सम्बन्ध से साध्य बन जाते हैं। जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य मे 'गाय' कारक शब्द है और 'लाओ' क्रिया शब्द। कारक शब्द गाय यद्यपि स्वतः सिद्ध शब्द है किन्तु लाना क्रिया की पूर्णता के लिये गाय के चलने की क्रिया अभीष्ट हो जाती है। अपनी क्रिया से प्रधान क्रिया को पूर्णता प्रदान करने के कारण गाय यह सिद्ध शब्द भी साध्य बन जाता है। इसी प्रकार 'घड़ा लाओं' इस वाक्य मे भी 'लाना' रूप प्रधान क्रिया की पूर्ति के लिए सिद्ध शब्द 'घड़ा' की पूर्वदेश त्याग और अन्यदेशसंयोग रूप क्रिया की अपेक्षा होती है। अतः घड़ा शब्द भी साध्यकोटि मे आ जाता है। इसप्रकार जब सभी शब्द साध्य हो गये तब जिस प्रकार तृणों की राशि मे पड़ी हुई आग उन्हीं तृणों को जलाती है जो जले नहीं होते, उसी प्रकार वाक्य के प्रयोग में भी जितनी बात हमे किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात होती है उसका विधान नहीं होता और जो वस्तु अप्राप्त (अज्ञात) होती है उसी का विधान होता है। उदाहरण के लिये श्येनयाग के प्रकरण में एक वाक्य आया है—'लालपगडीवाले ऋत्विज इधर-उधर सञ्चरण कर रहे हैं।' यहाँ पर चार तत्त्व हैं—लाली, पगड़ी, ऋत्विज और सञ्चरण क्रिया। श्येनयाग में ज्योतिष्टोम का अतिदेश (समानता) प्रतिपादित है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण मे लिखा है कि 'पगड़ीवाले ऋत्विज इधर-उधर विचर रहे है।' इस वाक्य से पगड़ी, ऋत्विज और विचरण तो प्राप्त ही हो जाते हैं। अतएव इन तीन बातों के ज्योतिष्टोम प्रकरण के प्रमाण से सिद्ध हो जाने पर श्येनयाग मे केवल पगडी की लाली ही विधेय रह जाती है। इसी प्रकार 'दही से हवन करता है' इस वाक्य में तीन पदार्थ हैं—दही, करणकारक और हवनक्रिया। इनमे हवन तो प्रकरण से ही सिद्ध है। साधनद्रव्य होने के कारण दही का भी

तारावती

आक्षेप कर ही लिया जाता है। अतएव यहाँ पर केवल करण कारक ही विधेय रह जाता है क्योंकि वही अप्राप्त है।

कहीं कहीं दो विधियाँ होती हैं, कहीं कहीं तीन और कहीं कहीं इससे भी अधिक विधियाँ होती हैं। जैसे 'लाल कपड़ा बुनो' यहाँ पर लाली, कपड़ा और बुनना ये तीन शब्द हैं। यदि पहले से मालूम है कि कपड़ा बुनना है तो केवल लाली ही विधेय होगी। यदि पहले से इतना मालूम है कि कुछ बुनना है, यह पता नही कि क्या बुनना है तो लाली और कपड़ा ये दो विधेय होंगे। यदि पहले से कुछ भी नहीं ज्ञात है तो लाली, कपड़ा और बुनना ये तीनों विधेय होंगे। इसी प्रकार 'स्नान और भोजन किये हुये ब्राह्मण को ले आओ' इस वाक्य में यदि पहले से कुछ भी मालूम नहीं है तो स्नान भोजन ब्राह्मण और आनयन ये चार विधेय होंगे। यदि इतना मालूम है कि ब्राह्मण को लाना है तो उसका स्नान और भोजन ही विधेय होगा। यदि इतना मालूम है कि ब्राह्मण स्नान किये बैठा है तो केवल उसका भोजन करना ही विधेय होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो विधेय होता है उसी मे तात्पर्य माना जाता है। अतएव जो उच्चरित शब्द है किसी वृत्ति के द्वारा उसी के अर्थ मे तात्पर्य हो सकता है। इस प्रकार 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का यही आशय है कि वाक्य में विद्यमान अनेक पदार्थों मे वक्ता का तात्पर्य जिस अर्थ मे होता है वही उसका अर्थ माना जाता है। न तो प्रतीत होनेवाला सभी कुछ तात्पर्यार्थ ही होता है और न व्यङ्गयार्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में ही हो सकता है। यदि जो कुछ भी जिस किसी भी सम्बन्ध से प्रतीत हो उसी मे तात्पर्य माना जावे तो 'पहला मनुष्य दौड़ रहा है' इसका तात्पर्य दूसरे मनुष्य मे भी माना जाने लगेगा। क्योंकि दूसरे के बिना पहला शब्द का कोई आशय ही नहीं है। तात्पर्यार्थ शब्दोपात्त अर्थ मे होता है और व्यङ्गयार्थ उससे पृथक् रहता है। अतएव व्यङ्गयार्थ का समावेश तात्पर्यार्थ में नहीं हो सकता और न अभिधावृत्ति के द्वारा वह गतार्थ ही हो सकता है।

(प्रश्न) 'विष खालो और इसके घर मे मत खाना' इसका तात्पर्य यह है कि इसके घर मे नहीं खाना चाहिये। यही वाक्यार्थ है। 'विष खालो' का यह शब्दोपात्त अर्थ हो ही नहीं सकता और तात्पर्य इस अर्थ मे माना ही जाता है। जब शब्दोपात्त अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ मे तात्पर्य माना ही जा सकता है और उसमे अभिधावृत्ति से काम चल जाता है तब केवल इसी आधार पर कि व्यङ्गयार्थ शब्दोपात्त नहीं है उसे तात्पर्यार्थ के अन्तर्गत क्यो नहीं माना जा सकता? (उत्तर)

तारावती

'विष खालो और इसके घर में मत खाना' इन दोनों के बीच में 'और' यह संयोजक अव्यय रक्खा है। यह दोनों वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध करता है। दो आख्यात (पूर्णक्रियासम्पन्न) वाक्यों का परस्पर अङ्गाङ्गीभाव हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार समान होने के कारण दो गुणों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार जबतक कोई प्रबल युक्ति न उपस्थित हो तबतक दो पूर्ण क्रियाओं का भी परस्पर अङ्गाङ्गीभाव नहीं हो सकता। न तो इन दोनों वाक्यों का कर्तृत्व कर्मत्व इत्यादि के रूप में अन्वय हो सकता है। 'विष खालो' यह एक मित्र की सम्मति है जो सर्वथा असम्भव है। अतएव इसका बाध हो जाता है और उसका लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'इसके घर मे भोजन करना विषभक्षण की अपेक्षा भी अधिक हानिकर है'। इसप्रकार यह लक्ष्यार्थपरक वाक्य अङ्ग मान लिया जाता है और 'किसी भी प्रकार इसके घर मे भोजन न करना चाहिये' इस वाक्य के हेतु के रूप मे आ जाता है। इस प्रकार यहाँ पर शब्दोपात्त अर्थ मे ही तात्पर्य है यह बात सिद्ध हो गई। लक्षणा वहाँ पर होती है जहाँ पर वाक्य अपने अर्थ मे सङ्गत न हो और उसकी सङ्गति के लिये तत्सम्बद्ध दूसरा अर्थ लिया जावे। व्यञ्जना इससे भिन्न होती है। व्यञ्जना वहीं पर हो सकती है जहाँ वाक्य का स्वतन्त्र अर्थ पूरा हो जावे और दूसरा अर्थ प्रतीत होने लगे।]

—अभिधा और व्यञ्जना का भेद—

ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि अभिधा और व्यञ्जना मे निमित्त-नैमित्तिक भाव होता है। अभिधा निमित्त होती है और व्यञ्जना नैमित्तिक। निमित्त और नैमित्तिक का तादात्म्य कभी हो ही नहीं सकता। अतएव ये दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होती हैं यह विवाद का विषय रह ही नहीं जाता। यह निमित्त-नैमित्तिक भाव तो मानना ही पडेगा। नहीं तो निम्न-लिखित स्थानों की सङ्गति नहीं बैठ सकती:—

(अ) गौण और मुख्य मे भी भेद सिद्ध नहीं होगा। मुख्य (शक्यार्थ) के बाध मे ही लक्षणा हो सकती है। इस प्रकार शक्यार्थ निमित्त होता है और लक्ष्यार्थ नैमित्तिक होता है। यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव नहीं माना जावेगा तो न तो शक्यार्थबाध का ही प्रश्न पैदा होगा और न मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का भेद ही हो सकेगा।

(आ) भगवान् जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में लिखा है कि श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इनमें अर्थ विप्रकर्ष के कारण क्रमशः पर को दुर्बलता आती जाती है। यह विनियोजक सूत्र है और विनियोजकों के शक्ति

तारावती

तारतम्य पर विचार करता है । विनियोजक ६ होते हैं-(१) श्रुति-श्रवण मात्र से ही विना किसी अपेक्षा के अर्थ को प्रकट करने की शक्ति (२) लिङ्ग-किसी शब्द की विशेष अर्थद्योतक शक्ति (३) वाक्य-परस्पर आकांक्षा के कारण किसी एक अर्थ मे पर्यवसित होनेवाले पदो को वाक्य कहते हैं । यह ऐसे स्थान पर विनियोजक होता है जहाँ पर किसी दूसरे प्रमाण से वाक्य का कोई एक अंश किसी एक अश मे विनियुक्त हो गया हो तथा उसके दूसरे अंश विनियोग-रहित ही रह जावे । तब एकवाक्यता होने के कारण उसके दूसरे अंश भी उसी अर्थ में विनियुक्त हो जाते हैं जिसमे उस वाक्य का कोई अंश विनियुक्त हुआ रहता है । (४) प्रकरण-परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं । जैसे एक विधान है कि 'दर्श और पूर्णमास नामक यज्ञों के द्वारा स्वर्ग के लिए अपूर्वता का सम्पादन करना चाहिये' । यहाॅ पर यह आकाक्षा उत्पन्न होती है कि स्वर्ग की अपूर्वता का सम्पादन कैसे किया जाता है । दूसरी ओर प्रयाज इत्यादि की विधि बतलायी गई है किन्तु उनका फल नहीं बतलाया गया है । दर्श और पूर्णमास मे विधि की आकांक्षा है और फल बतलाया गया है तथा प्रयाजादिकों मे फल की आकांक्षा है और विधि बतलाई गई है । इस प्रकार प्रकरण से प्रयाजादियों की दर्शपूर्णमासाङ्गता सिद्ध हो जाती है । (५) स्थान-अर्थात् समान देश मे होना । इसी को क्रम कहते हैं । यह देश की समानता दोनों प्रकार की हो सकती है, पाठ की भी और अनुष्ठान की भी । (६) समाख्या-अर्थात् यौगिक शक्ति । रूढ़िशक्ति का समावेश लिङ्ग मे हो जाता है और यौगिक शक्ति समाख्या मे आती है । इन्ही ६ तत्त्वों के द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि किस मन्त्र का विनियोग किस स्थान पर होगा ? यदि इनमे परस्पर विरोध हो तो पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल माना जाता है । क्योंकि पर की उपस्थिति पूर्व की अपेक्षा विलम्ब से होती है । जैसे श्रुति के द्वारा तो शब्द सुनते ही अर्थ की उपस्थिति हो जाती है किन्तु लिङ्ग के द्वारा अर्थोपस्थापन में छानबीन करनी पड़ती है । उदाहरण के लिये अग्निहोत्र के प्रकरण मे एक ऋचा पढ़ी गई है-'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।' अर्थात् 'हे इन्द्र तुम कभी भी घातक नहीं होते हो किन्तु हवि देनेवाले के प्रति प्रसन्न होते हो ।' इसके बाद लिखा है-'ऐन्द्रीऋक् के द्वारा गार्हपत्य का उपस्थान करता है' यहाँ पर शब्द श्रुति से तो यह ज्ञात होता है कि इस ऋचा के द्वारा गार्हपत्य की पूजा की जानी चाहिये । किन्तु इन्द्र की स्तुतिरूप लिङ्ग से यह निष्कर्ष निकलता है कि इससे इन्द्र की पूजा होनी चाहिये । इस प्रकार यहाॅ पर श्रुति और लिंग का विरोध है । लिंग दुर्बल है क्योंकि श्रुति के बाद पढ़ा गया है । अतः उक्त ऋचा से गार्ह-

तारावती

पत्य की पूजा की जावेगी इन्द्र की नहीं। (विस्तृत व्याख्या के लिये देखें शाबर भाष्य) अभिधा और व्यञ्जना का निमित्त-नैमित्तिक भाव मान लेने पर ही इस सूत्र की संगति बैठती है। यदि शब्द श्रुति के बाद जितनी भी उपस्थिति हों सबमे अभिधा व्यापार ही माना जावे तो उपस्थिति में न तो पौर्वापर्य हो सकता है और न उनमें एक की अपेक्षा दूसरा बलवान् ही कहा जा सकता है। अतएव इस सूत्र की संगति के लिये निमित्तनैमित्तिक भाव मानना चाहिये। निमित्ततावैचिञ्य के मान लेने पर हमारे प्रति असूया करने से और क्या लाभ हो सकता है?

इस विषय मे काव्यप्रकाश मे विस्तार पूर्वक विचार किया गया है जिसका सार यह है--

ध्वनि विरोधी—उक्त सूत्र की संगति के लिये व्यञ्जनावृत्ति के मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। जिस प्रकार एक महावाक्य मे छोटे-छोटे कई वाक्यखण्डो मे किसी एक के अर्थ के पूर्ण हो जाने पर भी अभिधा तब तक विश्रान्त नहीं होती जब तक उस पूरे महावाक्य का अर्थ पूरा नहीं हो जाता, उसी प्रकार श्रुति इत्यादि विनियोजक भी अर्थबोध मे सहकारीमात्र होते है। जैमिनि सूत्र का आशय यह है कि जिन सहकारियो की पहले उपस्थिति होती है वे सहकारी परवर्तियों की अपेक्षा अधिक बलवान् होते है। इस प्रकार जैमिनि सूत्र की सगति भी बैठ जाती है और व्यञ्जना की आवश्यकता भी नहीं पड़ती।

(इ) ध्वनिवादी–यदि आप केवल अभिधावृत्ति को मानेंगे तो 'कुरु रुचिम्' इन शब्दों को उलट देने से 'रुचिङ्कुरु' यह हो जाने पर काव्यान्तर्वर्ती अश्लीलत्व दोष किस प्रकार बन सकेगा? चिङ्कुशब्द लाटी भाषा मे स्त्री की योनि के अन्तर्वर्ती अंकुर के लिये प्रयुक्त होता है। अन्विताभिधानवादियों के मत मे अन्वित मे ही शक्ति मानी जाती है चिङ्कु शब्द यहाँ पर किसी से भी अन्वित नहीं है। अतएव यहॉ पर उसका प्रतीयमान असभ्य अर्थ अश्लीलत्व दोष की सीमा मे आ ही नहीं सकता। अतः काव्य मे उसके परित्याग की आवश्यता ही नहीं रह जाती। व्यञ्जना वृत्ति के मानने से ही यहाँ दोष की व्यवस्था की जा सकती है, अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है।

ध्वनि विरोधी—उक्त तर्क समीचीन नहीं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि अनुभव की हुई शक्ति अन्वित मे स्मारक होती है। चिङ्कु शब्द की शक्ति का असभ्य अर्थ मे अनुभव किया जा चुका है। अतएव वह उसी अर्थ को स्मरण करा देगी और दोष की व्यवस्था हो जावेगी। उसके लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं।

(ई) ध्वनिवादी-यदि वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यंग-व्यञ्जकभाव अंगीकृत नहीं

तारावती

किया जावेगा तो यह व्यवस्था किसी प्रकार भी नहीं बन सकेगी कि व्याकरणलक्षण-हीन असाधुत्व इत्यादि नित्य दोष होते हैं और कष्टत्व श्रुतिकटुत्व इत्यादि अनित्य दोष होते हैं। साहित्यशास्त्र में कुछ दोष तो नित्य माने जाते हैं और कुछ अनित्य। उदाहरण के लिये व्याकरण के नियम की अवहेलना एक ऐसा दोष है जो सर्वत्र दोष ही रहता है। इसके प्रतिकूल कुछ दोष सार्वत्रिक नहीं होते। जैसे श्रुतिकटु दोष शृंगाररस में तो बुरा मालूम पड़ता है किन्तु रौद्ररस में गुण हो जाता है। ऐसे दोष अनित्य दोष कहलाते हैं। नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था तो तभी बनेगी जब व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार किया जावेगा। केवल अभिधावृत्ति के मानने पर वही दोष माना जावेगा जो वाक्यार्थव्यवच्छेदक होगा और ऐसे सभी तत्त्व सर्वत्र दोष ही माने जावेंगे। इसके प्रतिकूल व्यञ्जनावृत्ति के मानने पर दोषों की नित्यानित्यत्व व्यवस्था संगत हो जावेगी। क्योंकि व्यञ्जना के अधीन एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं। एक शब्द किसी व्यंग्यार्थ को पुष्ट कर सकता है दूसरे को अपुष्ट। अतः व्यञ्जनावृत्ति का मानना अनिवार्य है।

(उ) साहित्य शास्त्र का नियम है कि कहीं पर कोई शब्द उचित मालूम पड़ता है और दूसरे स्थान पर उसी अर्थ मे उसका पर्यायवाचक ही अच्छा मालूम पड़ता है। जैसे स्त्री के पर्यायवाचक तन्वी, ललना, कामिनी इत्यादि अनेक शब्द है। 'तन्वी' शब्द वियोगावस्था के अनुकूल है, 'ललना' संयोगकाल मे ही उचित प्रतीत होता है और 'कामिनी' शब्द यौवनागमजन्य मदन-विकार की अवस्था में ही अच्छा मालूम पड़ता है। 'कपाली' और 'पिनाकी' ये दोनों शङ्कर जी के पर्यायवाचक शब्द हैं। जब ब्रह्मचारी शङ्करजी की निन्दा करते हुए पार्वतीजी को शङ्करजी से विरक्त करना चाहता है उस समय घृणा की व्यञ्जना के कारण कपाली शब्द का प्रयोग ही उचित है। इसके प्रतिकूल जब कामदेव शङ्कर का सामना करने की दम भरता है उस समय वीरता की व्यञ्जना करने के कारण 'पिनाकी' शब्द ही समीचीन है। यदि केवल अभिधावृत्ति ही मानी जावेगी तो दोनो शब्दों का अभिधेयार्थ तो एक ही होगा फिर यह विभाग-व्यवस्था कैसे बन सकेगी? अतः व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी ही चाहिये।

(ऊ) वस्तुतः वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ मे निम्नलिखित बातों मे भेद होता है:—

(१) स्वरूप भेद—कहीं वाच्यार्थ विधिपरक होता है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक, कही वाच्यार्थ निषेधपरक होता है और व्यंग्यार्थ विधिपरक। कहीं वाच्यार्थ निश्चयपरक होता है और व्यंग्यार्थ अनिश्चयपरक, कही वाच्यार्थ अनिश्चयपरक होता है और व्यंग्यार्थ निश्चय परक, कहीं वाच्यार्थ निन्दापरक होता है और

तारावती

व्यंग्यार्थ प्रशंसापरक। इसप्रकार दोनों में स्वरूप-भेद होता है। (इनके उदाहरण मूल में दिये गये हैं)

(२) काल-भेद—वाच्यार्थ सदा कारण होता है और व्यंग्यार्थ कार्य। कारण कार्य से सर्वदा पहले आता है। अतएव वाच्यार्थ पहले आता है व्यंग्यार्थ वाद मे। यह काल-भेद है।

(३) आश्रय-भेद—वाच्यार्थ का आश्रय केवल वाक्य या शब्द होता है। किन्तु व्यंग्यार्थ का आश्रय वाक्य शब्द पद पदांश वर्ण रचना इत्यादि कोई भी हो सकता है।

(४) निमित्त-भेद—वाच्यार्थ मे निमित्त केवल व्याकरण कोश इत्यादि शब्दानुशासन का ज्ञान होता है किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति में निमित्त शब्दानुशासन ज्ञान भी होता है और प्रकरण इत्यादि का ज्ञान, प्रतिभा की निर्मलता इत्यादि भी होते हैं। इस प्रकार इन दोनों में निमित्त-भेद है।

(उ) कार्य अथवा प्रभाव-भेद—वाच्यार्थ का ज्ञान ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को हो सकता है जिसे शब्दानुशासनज्ञान हो। किन्तु व्यंग्यार्थ का ज्ञान केवल सहृदयों को ही हो सकता है। दूसरी वात यह है कि वाच्यार्थ केवल प्रतीति का उत्पादक होता है जब कि व्यंग्यार्थ चमत्कार को भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार दोनों में प्रभाव-भेद भी विद्यमान है।

(ऊ) संख्या-भेद—वाच्यार्थ सभी समझनेवालों के लिये केवल एक प्रकार का होता है किन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण इत्यादि के सहकार से अनेक प्रकार का हो जाता है। उदाहरण के लिये एक वाक्य है 'सूर्य अस्त हो गया।' इसके प्रतिकूल प्रतीयमान अर्थ नाना परिस्थितियो मे नाना प्रकार का हो जावेगा। हमे व्यंग्यार्थ करने मे इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि अमुक वाक्य किस प्रकरण में कहा गया? कहनेवाला किस प्रकार का व्यक्ति है? सुननेवाले में क्या विशेषता है? इन सबकी विशेषताओं से व्यंग्यार्थ अनेक प्रकार का हो जावेगा। 'सूर्य अस्त हो गया' यह वाक्य (१) यदि युद्धकाल में राजा द्वारा अपने सेनापतियों से कहा गया तो इसका अर्थ होगा—आक्रमण करने का यही अवसर है। (२) यदि दूती नायिका से कहेगी तो इसका अर्थ होगा—'अभिसार मे शीघ्रता करो।' (३) यदि दूती वासकसज्जा से कहेगी तो इसका अर्थ होगा कि 'तुम्हारा प्रियतम आने ही वाला है'। (४) यदि कोई मजदूर अपने साथी से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब हम लोग काम बन्द करे।' (५) यदि नौकर ब्राह्मण से कहेगा तो इसका अर्थ होगा—'अब सन्ध्योपासन का समय हो गया'। (६) यदि कार्यवश बाहर जानेवाले प्रियव्यक्ति से यह वाक्य कहा जावेगा तो इसका अर्थ होगा—'दूर मत जाना'। (७) यदि कोई

तारावती

गृहस्थ किसी पशुचरानेवाले से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब जानवरों को घर ले जाओ'। (८) दिन में यात्रा करनेवाला या धूप में काम करनेवाला यदि अपने बन्धुओं से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब धूप तेज नहीं रही'। (९) यदि दूकानदार नौकरों से कहेगा तो इसका अर्थ होगा–'अब बिक्री की वस्तुओं को समेट लो'। (१०) यदि प्रोषितपतिका यह वाक्य अपनी सखी से कहेगी तो इसका अर्थ होगा–'प्रियतम अब भी नहीं आया, अब वियोग मेरे लिये असह्य हो रहा है'। इस प्रकार वाच्यार्थ केवल एक होता है और व्यंग्यार्थ अनेक, यह संख्या-भेद है।

(ए) विषयभेद—वाच्यार्थ सभी विषयों के प्रति एक होता है किन्तु व्यंग्यार्थ विषयों के अनुसार परिवर्तित होता जाता है। उदाहरण के लिये यदि कोई सखी नायिका के परकीय सुरत को छिपाने के लिये कोई बहाना बनाती है तो उस वाक्य का वाच्यार्थ सभी व्यक्तियों के विषय मे एक सा ही होगा, किन्तु व्यंग्यार्थ विषयभेद से भिन्न हो जावेगा। नायिका के विषय में उसका व्यंग्यार्थ और होगा, नायक के विषय में और होगा, उपपति के विषय मे और होगा, इसी प्रकार पड़ोसी सपत्नी इत्यादि प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार उसका व्यंग्यार्थ बदल जावेगा। इसका उदाहरण 'कस्य वा न भवेद्रोषो' इस पद्य के रूप में दिया जावेगा। इस प्रकार इन दोनों का विषयभेद होता है।

यदि इतने भेद होते हुये भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ एक ही माने जावेंगे तो फिर नील-पीत का भेद भी प्रतिपादित नहीं किया जा सकेगा। वैसे तो समस्त दर्शनों का सार ही अभेदवाद है, द्वैतबुद्धि का निवारण ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। किन्तु अभेद में भेद का देखना ही व्यवहार का एकमात्र कारण होता है। वृद्धों ने कहा है–'एक दूसरे के भेद या भेदहेतुओं में कारण यही है कि उन पर विरुद्ध धर्मों का अध्यास कर दिया जावे और उनकी उत्पत्ति विभिन्न कारणों से हो। विरुद्ध धर्मों का अध्यास और विरुद्ध कारणों से उत्पत्ति ये दोनों हेतु वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ मे विद्यमान है यह विस्तार के साथ दिखलाया जा चुका है। अतः दोनों का पृथक्-पृथक् मानना अनिवार्य है।

जिस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद होता है उसी प्रकार वाचक शब्द और व्यञ्जक शब्द मे भी भेद होता है। वाचक शब्दों को संकेतग्रह की अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जक को ऐसी कोई अपेक्षा नहीं होती। व्यञ्जना केवल एक शब्द से ही नहीं होती–किन्तु पदांश, वर्ण अथवा केवल मात्रा से भी हो सकती है जिसका कोई अर्थ ही नहीं होता। जिस व्यक्ति ने संकेतग्रहण न किया हो वह भी व्यंग्यार्थ के ग्रहण कर लेने मे समर्थ हो जाता है। कभी-कभी तो शब्द के अभाव में भी

तारावती

केवल चेष्टा ही व्यञ्जक हो जाती है । इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी एक दूसरे से भिन्न हैं तथा वाचक शब्द और व्यञ्जक शब्द भी भिन्न ही हैं । असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीक्षा किये विना वाच्यार्थ ही काव्यानन्द का पोषक हो जाता है । इसके बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता । यदि व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार नहीं की जावेगी तो बाद में प्रतीत होनेवाले व्यंग्यार्थ में किस वृत्ति का सहारा लिया जावेगा । ऐसे स्थान पर अभिधा से काम नहीं चल सकता, क्योंकि आपके सिद्धान्त के अनुसार अभिधा विधेय में ही होती है और विधेय तो वाच्यार्थ ही हो गया। इस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति का किसी भी प्रकार अभिधा में समावेश नहीं किया जा सकता ।

—लक्षणा और व्यञ्जना का भेद—

कुछ विद्वान् लक्षणा को तो अभिधा से भिन्न मानते हैं किन्तु व्यञ्जनावृत्ति को अङ्गीकार करना नहीं चाहते । वे लोग व्यञ्जना का अन्तर्भाव लक्षणा मे करते हैं । इनका कहना है कि व्यञ्जना के भेदक धर्म केवल चार हैं । (१) व्यङ्ग्यार्थ एक नहीं किन्तु अनेक प्रकार का होता है । (२) वह ध्वनि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य इत्यादि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है । (३) उसकी प्रतीति शब्द और अर्थ दोनों के आधीन होती है । वह प्रकरण इत्यादि की अपेक्षा रखता है । यही सब बातें लक्षणा में भी पाई जाती हैं । (१) लक्ष्यार्थ भी एक नहीं अनेक प्रकार का होता है । उदाहरण के लिये राम शब्द को ले लीजिये—'मैं राम हूँ सब कुछ सह रहा हूँ' में राम का लक्ष्यार्थ होगा—'मैं तो दुःख सहने के लिये ही उत्पन्न हुआ हूँ । मेरे भाग्य मे सुख कहाँ ?' इसी प्रकार सीता-परित्याग के अवसर पर 'हे प्रिये ! अपने जीवन का मोह रखनेवाले 'राम ने' प्रेम के निर्वाह के लिये उचित कार्य नहीं किया ।' यहाँ पर राम का लक्ष्यार्थ होगा—'मैं सीता-परित्याग जैसे निर्दय कर्म का करनेवाला हूँ । मुझ जैसा कृतघ्न तथा प्रेम का झूठा आडम्बर भरनेवाला दूसरा नहीं हो सकता । इसी प्रकार 'यह राम हैं जो भुवन मे महती ख्याति प्राप्ति कर चुके है ।' यहाँ पर 'राम' शब्द का लक्ष्यार्थ होगा—'खरदूषण जैसे महान् वीरों का वध करनेवाले महापराक्रमी राम ।' इस प्रकार एक ही राम शब्द के अनेक अर्थ हो गये और व्यञ्जना का प्रथम धर्म अनेक अर्थों का प्रतिपादन करना लक्षणा में भी मिल गया । (२) व्यञ्जना के समान लक्षणा में भी अर्थान्तर संक्रमण इत्यादि हो सकते हैं । (३) व्यञ्जना के समान लक्षणा भी शब्द और अर्थ दोनों के अधीन होती है । क्योंकि मुख्यार्थ भी मुख्यार्थबाध में निमित्त होता ही

तारावती

है। (४) व्यञ्जना के समान ही लक्षणा में भी प्रकरण इत्यादि अपेक्षित होते ही हैं। कारण यह है कि तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा की एक बहुत बडी शर्त है और तात्पर्यानुपपत्तिज्ञान के लिये प्रकरणज्ञान नितान्त अपेक्षित होता है। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि व्यञ्जना के समस्त धर्म लक्षणा मे मिल जाते हैं और इस बात की आवश्यकता नहीं रह जाती कि लक्षणा से पृथक् व्यञ्जना नाम की नई वृत्ति मानी जावे। जब कोई वैधर्म्य है ही नहीं तब व्यञ्जना नाम की नई वस्तु मानने की आवश्यकता ही क्या है। यह समझ मे नहीं आता।

अब आइये उक्त तर्कों की कुछ आलोचना कर लें—(१) यह तो माना ही जा सकता है कि लक्ष्यार्थ नानाप्रकार के होते हैं। किन्तु यह अनेकरूपता व्यंग्यार्थ की अनेकरूपता के समान नहीं होती, प्रत्युत वाच्यार्थ की अनेकरूपता के समान होती है। जैसे किसी एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु किसी एक वाक्य में संयोग इत्यादि के द्वारा उन अर्थों का नियन्त्रण हो जाता है और उस शब्द का उस वाक्य मे नियत अर्थ ही माना जाता है। उसीप्रकार किसी एक वाक्य मे लक्ष्यार्थ भी नियत ही होता है। एक ही वाक्य मे कई एक अनिश्चित अर्थ नहीं हो सकते। जिस अर्थ का वाच्यार्थ से कोई सम्बन्ध ही न हो ऐसे अर्थ मे लक्षणा की ही नहीं जा सकती। उदाहरण के लिये—'गङ्गा मे अहीर का घर' इस वाक्य मे निश्चित रूप से गङ्गा का लक्ष्यार्थ तट ही हो सकता है क्योंकि निश्चित रूप से गङ्गा शब्द का तट से ही सम्बन्ध है। इसके प्रतिकूल व्यंग्यार्थ एक ही वाक्य में सैकड़ों हो सकते है जैसा कि 'सूर्य अस्त हो गया' के विभिन्न व्यंग्यार्थों की व्याख्या में दिखलाया जा चुका है। यह भी कोई नियम नहीं है कि व्यङ्ग्यार्थ कोई ऐसा ही अर्थ हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित हो। प्रकरण इत्यादि के सहकार से व्यङ्ग्यार्थ ऐसा भी हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित हो, ऐसा भी हो सकता है जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध निश्चित न हो और ऐसा भी हो सकता है जहाँ वाच्यार्थ के साथ सम्बन्धपरम्परा के कारण प्रतीत होनेवाले अर्थ की भी परम्परा स्थापित की जा सके, अर्थात् जहाँ एक सम्बन्ध से एक अर्थ की प्रतीति हो और सम्बद्ध अर्थ से सम्बन्ध होने के कारण दूसरा और फिर तीसरा अर्थ इत्यादि प्रतीत हों। यही इन दोनों की अनेकार्थता में भेद है। इसीलिये हम लक्ष्यार्थ मे व्यंग्यार्थ का समावेश नहीं कर सकते।

यहाँ पर कोई भी व्यक्ति यह तर्क कर सकता है कि लक्षणा को ही क्यों न नियत और अनियत दोनों विषयों मे मान लिया जावे ? केवल इतने के लिये एक पृथक् वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता ? इस पर मेरा निवेदन है कि लक्षणा और

तारावती

व्यञ्जना में केवल इतना ही भेद नहीं होता, अपितु इसके अतिरिक्त भी कई अन्य बातों में भेद होता है। लक्षणा में नियमानुकूल मुख्यार्थबाध अवश्य होता है किन्तु व्यञ्जना मे ऐसा नहीं होता। आचार्यों ने व्यञ्जना के दो भेद किये है (१) अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलक ध्वनि और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलक ध्वनि। प्रथम प्रकार मे मुख्यार्थबाध होता है किन्तु द्वितीय प्रकार मे मुख्यार्थबाध की अपेक्षा नहीं होती। लक्षणा के दो भेद किये जाते हैं—निरूढा और प्रयोजनवती। पहले बतलाया जा चुका है कि प्रयोजनवती लक्षणा मे प्रयोजन की प्रतिपत्ति विना व्यञ्जना के नहीं हो सकती। उसके लिये व्यञ्जना का मानना अनिवार्य है। अतएव लक्षणा में व्यञ्जना का समावेश कथमपि सम्भव नहीं है।

अभिधा के समान ही व्यञ्जना मे भी मुख्यार्थबाध इत्यादि तीन हेतुओ की आवश्यकता नहीं होती। लक्षणामूलक व्यञ्जना मे लक्षणा के पीछे व्यञ्जना चलती है। पहले लक्षणा हो जाती है फिर प्रयोजनप्रतिपत्ति के लिये व्यञ्जना का आश्रय लिया जाता है। निमित्त और प्रयोजन कभी एक नहीं हो सकते। व्यञ्जना सर्वदा लक्षणा के पीछे ही चले ऐसा भी नहीं होता। क्योंकि अभिधामूलक व्यञ्जना मे लक्षणा होती ही नहीं। यह भी नही कहा जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा अभिधा और लक्षणा दो में एक के पीछे चलती है। क्योंकि व्यञ्जना अर्थ की अपेक्षा से रहित वर्णमात्र मे भी हो जाती है। कोमल, कठोर इत्यादि वर्णा से माधुर्य ओज इत्यादि गुणों की व्यञ्जना होती है और उससे रसादि की व्यञ्जना हो जाती है। यह भी नियम नहीं बनाया जा सकता कि व्यञ्जना सर्वदा शब्द के द्वारा ही होती है। प्रायः लोग कहा करते है कि नायिका ने अपने नेत्र के इशारे से ही अपना मनोभाव सूचित कर दिया। यह सूचना केवल व्यञ्जनावृत्ति से ही हो सकती है। लक्षणा ऐसे स्थान पर हो ही नहीं सकती। संक्षेप में लक्षणा और व्यञ्जना में निम्नलिखित छः बातों मे भेद होता है—

(१) व्यञ्जना के अर्थ अनन्त हो सकते है किन्तु लक्षणाजन्य अर्थ सीमित होते हैं।

(२) लक्ष्यार्थ सर्वदा शक्यार्थ से सम्बन्धित ही होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के लिये ऐसा कोई नियम नहीं।

(३) लक्षणा में शक्यार्थबाध होता है किन्तु व्यञ्जना में नहीं।

(४) प्रयोजनवती लक्षणा में व्यञ्जना लक्षणा के पीछे रहती है।

(५) अभिधा के समान व्यञ्जना में भी विशेष प्रकार के संकेतग्रह की अपेक्षा होती है किन्तु व्यञ्जना मे नहीं होती।

तारावती

(६) व्यञ्जना लक्षणा में भी होती है, अभिधा में भी होती है, वर्णमात्र में भी होती है और संकेतमात्र में भी होती है। लक्षणा का इतना विस्तार नहीं होता।

—धनिक की तात्पर्यवृत्ति और व्यञ्जना—

दशरूपककार धनञ्जय और अवलोक टीकाकार धनिक ने ध्वनिसिद्धान्त का अन्तर्भाव तात्पर्यवृत्ति मे ही करने की चेष्टा की है। उनके कथन का सार इस प्रकार है:—'लौकिक वाक्यों में कहीं तो क्रिया सुनाई पड़ती है और कहीं नहीं सुनाई पड़ती। जैसे 'गाय लाओ' इस वाक्य मे 'लाओ' यह क्रिया सुनाई पड़ती है किन्तु 'दरवाजा दरवाजा' इस वाक्य में 'बन्द करो' इस क्रिया का अर्थ ले लिया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि चाहे क्रिया का उपादान वाच्यवृत्ति में हुआ हो अथवा उसका उपादान प्रकरण इत्यादि का सहारा लेकर बुद्धि में ही कर लिया गया हो, प्रत्येक अवस्था मे उपचय को प्राप्त कराई हुई क्रिया ही वाक्य का अर्थ होती है। इसी प्रकार काव्यों मे कहीं तो स्थायीभाव का साक्षात् उपादान होता है, जैसे 'नवोढा प्रियतमा मेरे हृदय मे प्रेम उत्पन्न कर रही है।' यहाँ पर प्रेम का साक्षात् उपादान किया गया है। कहीं कही उसका साक्षात् उपादान नहीं होता, निश्चित रूप से केवल विभाव इत्यादि का उपादान ही होता है। किन्तु स्थायीभाव के अभाव मे विभाव इत्यादि हो ही नहीं सकते। अतएव प्रकरण इत्यादि का आश्रय लेकर किसी भावक के चित्त में सञ्चरणशील होकर, भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट किये हुए अपने-अपने विभाव अनुभाव और सञ्चारीभावों के द्वारा संस्कार-परम्परा से वह स्थायीभाव अत्यन्त प्रौढ हो जाता है। इसप्रकार वह स्थायीभाव ही वाक्यार्थ होता है।

'यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि शब्दो के अर्थ को मिलाकर ही वाक्यार्थ बनता है। जो रति इत्यादि स्थायीभाव किसी शब्द का अर्थ नहीं हैं वे वाक्य का अर्थ कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान सदा कार्य मे होता है। इसको इस प्रकार समझिये—'चाहे कोई वाक्य पौरुषेय हो चाहे अपौरुषेय, सभी वाक्य कार्यपरक होते हैं। यदि वाक्यों को कार्यपरक न माना जावे तो उन वाक्यो का प्रयोग ही व्यर्थ हो जावेगा और वे वाक्य पागलों की बकवासमात्र रह जावेगे। अब यह प्रश्न होता है कि काव्य के शब्दों मे प्रयोक्ता (कवि) और प्रयोज्य (रसिक) की प्रवृत्ति क्यों होती है? जब काव्य के शब्द होते हैं तब अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है और जब काव्य के शब्द नहीं होते तब अलौकिक आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध हो जाता है कि अलौकिक आनन्द की प्राप्ति ही काव्य-

तारावती

वाक्यों का कार्य होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि काव्य की अभिधा शक्ति भिन्न भिन्न रसों से आकृष्ट होकर उन रसों के लिये अपेक्षित विभाव इत्यादि का प्रतिपादन करती है और अन्त मे उनका पर्यवसान रस में हुआ करता है। विभाव इत्यादि पदार्थ होते हैं और रस वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार लौकिक वाक्य तो क्रियापरक होते हैं किन्तु काव्यवाक्य रसपरक ही होते हैं। यही इन दोनों का अन्तर है।

'कुछ लोगो का कहना है कि यदि वाक्यार्थ स्वमात्रविश्रान्त हो जावे तब बाद मे जो अर्थ निकलता है वह ध्वनि होती है। यदि वाक्यार्थ की परिसमाप्ति के पहले ही दूसरा अर्थ निकलता है तो वह तत्परक होकर तात्पर्य होता है।' इस पर मेरा निवेदन यह है कि जबतक पूर्ण अर्थ नहीं निकल आता तबतक वाक्यार्थ की विश्रान्ति असम्भव है। 'तात्पर्य की विश्रान्ति किसी नियत अर्थ तक ही होती है, शेष अर्थ व्यङ्ग्य होता है' इसमे नियम कौन बनावेगा ? तात्पर्य तराजू पर तौला हुआ तो होता नहीं कि इतना ही हो सकता है। उसका प्रसार वहाँतक होता है जहाँतक पूर्ण कार्यपरता सिद्ध न हो जावे। वस्तुतः 'हे धार्मिक स्वच्छन्द होकर घूमो' इस वाक्य मे श्रोता की आकाक्षापूर्ति विधिपरक अर्थ मे हो जाती है, इसीलिये आप निषेधपरक अर्थ को व्यङ्ग्य कहते हैं। इसके प्रतिकूल वक्ता की इच्छापूर्ति निषेधपरक अर्थ में होती है, अतएव निषेध भी वाक्यार्थ माना जाना चाहिये।' यह है धनञ्जय तथा धनिक के मत का सार।

इस पर मेरा निवेदन यह है कि यह पहले दिखलाया जा चुका है कि ध्वनि केवल वाक्य में ही नहीं होती किन्तु पद मे भी होती है, शब्द मे भी होती है और पदांश में भी होती है। इसके अतिरिक्त ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उच्चारण विल्कुल नहीं होता। यदि रंगमञ्च पर कोई विदूषक अपनी विचित्र आकृति के प्रभाव से समस्त दर्शकों को हँसा दे तो विना शब्द के ही वहाँ पर हास्यध्वनि हो जावेगी। ऐसे स्थानों का निर्वाह आप तात्पर्यवृत्ति के द्वारा नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि तात्पर्यवृत्ति एक पारिभाषिक शब्द है। उसका परम्परागत अर्थ ही लेना होगा। अभिहितान्वयवादी अन्वित मे शक्ति नही मानते। उनके मन में शक्ति के द्वारा केवल पदार्थोपस्थिति हो सकती है। अन्वयाश के लिये उन्हें पृथक् ही तात्पर्यवृत्ति माननी पड़ती है। जब तात्पर्य शब्द उक्त अर्थ मे रूढ हो चुका तब उसे आप मनमाने स्थान पर प्रयुक्त नहीं कर सकते। आपका तात्पर्यवृत्ति व्यञ्जना के बहुत निकट है। अतएव उसके लिये आपको तात्पर्य से भिन्न ही कोई वृत्ति माननी पड़ेगी और वही है व्यञ्जनावृत्ति।

तारावती

—महिमभट्ट का अनुमितिवाद और व्यञ्जना—

नैय्यायिक महिम भट्टने अपने व्यक्तिविवेक ग्रन्थ में व्यञ्जना की अनुमान में गतार्थता दिखलाई है। काव्यप्रकाशकार ने उनके सिद्धान्त का सार इस प्रकार दिया है—'ऐसे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती जिसका सम्बन्ध वाच्यार्थ से न हो। यदि असम्बद्धार्थ भी प्रतीति का विषय हो जावे तो चाहे जिस शब्द से चाहे जो अर्थ निकलने लगे। अतएव मानना पड़ेगा कि व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा वाच्यसम्बद्ध अर्थ ही प्रतीतिगोचर होता है। अतएव इसकी एक व्याप्ति बन जाती है–'जहाँ जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ वाच्य का सम्बन्ध अवश्य होता है' यह है अन्वयव्याप्ति। 'जहाँ जहाँ वाच्य का सम्बन्ध नहीं होता वहाँ व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती' यह है व्यतिरेकव्याप्ति। स्वार्थानुमान में तीन शर्तें होती है–(१) सपक्ष मे रहना, (२) विपक्ष मे न रहना, (३) पक्ष में विद्यमान होना। तीनों शर्तें प्रस्तुत व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव के विषय मे लागू हो जाती हैं। वाच्य का सम्बन्ध लिंग (हेतु) है और व्यङ्ग्यार्थप्रतीति लिंगी (साध्य) है। व्याप्ति के साथ पक्षधर्मता के ज्ञान से जो लिङ्गपरामर्श होता है उसी आधार पर वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। यही है अनुमान की प्रक्रिया। जब अनुमान द्वारा ही व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव गतार्थ हो जाता है तब उसके लिये व्यञ्जना नामक एक पृथक् वृत्ति मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस बात को ठीक रूप मे समझने के लिये ध्वनिवादियों के प्रसिद्ध उदाहरण 'भ्रम धार्मिक .....' इत्यादि पद्य को ले लीजिये–यहाँ पर कुत्ते की निवृत्ति गोदावरी के तट पर सिंह की उपलब्धि के कारण अभ्रमण का अनुमान कराती है। उसको इस प्रकार समझिये–यहाँ पर व्याप्ति इस प्रकार होगी–'भीरुव्यक्ति का जितना भी भ्रमण है वह भय के समस्त कारणों की निवृत्ति के साथ होता है।' यह है अन्वय-व्याप्ति। यहाँ पर भीरुभ्रमण साध्य है और भय के कारणों का अभाव हेतु है। इसकी व्यतिरेकव्याप्ति इस प्रकार होगी–'जहाँ भय के कारणों के अभाव का ज्ञान नहीं होता वहाँ भीरुभ्रमण भी नहीं होता।' अर्थात् जहाँ भय के कारण विद्यमान होते है वहाँ भ्रमण नहीं होता। गोदावरी के तट पर सिंह का भय विद्यमान है, अतएव वहाँ पर भ्रमण नहीं हो सकता। यहाँ पर गोदावरीतट पक्ष है। भय का कारण सिंह हेतु है, अभ्रमण साध्य है, घर उदाहरण है। (घर में भय का कारण नहीं है, अतएव भ्रमण किया जाता है।) इस प्रकार यहाँ पर अनुमान प्रमाण से भ्रमण का अभाव सिद्ध हो जाता है, उसके लिये व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता नहीं पड़ती। महिम भट्ट ने वस्तुव्यञ्जना के दूसरे उदाहरणों मे भी अनुमान से प्रक्रिया दिखलाई है।

तारावती

यह तो हुई वस्तुव्यञ्जना की बात । रसव्यञ्जना के विषय में भी यही कहा जा सकता है । इसमें विभाव इत्यादि हेतु होते हैं और रस साध्य । उदाहरण के लिये राम का सीता के प्रति अनुराग व्यक्त होता है । उसमें अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी—'राम सीताविषयक रति से युक्त हैं, क्योंकि उनमें स्थित कटाक्ष इत्यादि अपूर्व मात्रा में विद्यमान हैं, जहाँ स्मित-कटाक्षादि अपूर्व मात्रा में विद्यमान होते हैं वहाँ रमणीविषयक रति विद्यमान होती है, जैसे दुष्यन्त की रति शकुन्तला के प्रति, उसीप्रकार राम में भी ये चेष्टायें हैं, अतएव राम भी सीता-विषयक रतिमान् हैं । यह साध्यसिद्धि अन्वयव्याप्ति के द्वारा हुई है । व्यतिरेक-व्याप्ति से साध्यसिद्धि इस प्रकार होगी—'जहाँ रमणीविषयक रति नहीं होती वहाँ अपूर्व स्मित कटाक्षादि भी नहीं होते । जैसे लक्ष्मण में रमणीविषयक रति नहीं है अतः उनमें कटाक्षादि भी नहीं हैं । इस प्रकार सर्वत्र अनुमान से ही काम चल सकता है, व्यञ्जनावृत्ति मानना व्यर्थ है ।'

ऊपर महिम भट्ट के सिद्धान्त का सार दिया गया है । इस पर ध्वनिवादी का कहना है कि—'आपने साध्यसिद्धि के लिये जो हेतु दिये हैं वे हेत्वाभासमात्र हैं । 'भ्रम धार्मिक·······' में आप कहते हैं कि भ्रमण और भय हेतुओं के अभाव में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है । इसपर मेरा प्रश्न यह है कि गाथा की नायिका जिस व्यक्ति को सिंह की बात कहकर भ्रमण से रोकना चाहती है वह भीरु है या वीर है ? ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे भीरु व्यक्ति को भय के स्थानों पर भी भ्रमण करना पड़े । गुरु की आज्ञा, स्वामी की आज्ञा, प्रेयसी का प्रेम इत्यादि ऐसे कारण हैं जिनसे भय के स्थान पर भी भीरु व्यक्ति भ्रमण करता हुआ पाया जा सकता है । अतएव जहाँ भी भीरुभ्रमण होता है वहाँ भय का कारण सन्निहित नहीं होता, इस व्याप्ति में हेतु की अनैकान्तिकता के कारण सव्यभिचार हेत्वाभास हो गया । यदि निषेध्य व्यक्ति वीर है तो यहाँ पर विरुद्ध हेत्वाभास हो जावेगा । विरुद्ध हेत्वाभास वहाँ पर होता है जहाँ हेतु साध्य के अभाव को सिद्ध करे । यहाँ पर अभ्रमण साध्य है, उसका अभाव इस आधार पर सिद्ध किया जा सकता है कि जहाँकहीं शेर इत्यादि जीव होते हैं वहाँ वीर व्यक्ति उसका वध करने के लिये भ्रमण किया ही करते हैं । यह तो हो ही सकता है कि कुत्ते के स्पर्श भय से अथवा उसके मारने में यश न होने के कारण वीर व्यक्ति कुत्ते से डरे, किन्तु जहाँ उसे सिंह का ज्ञान हो जावे वहाँ वह निर्भय होकर घूमा करे । ऐसी दशा में भय का कारण अभ्रमण में हेतु हो ही नहीं सकता । अनुमान के लिये पक्ष-धर्मता का निश्चित होना सबसे बड़ी शर्त है । जब तक यह पूर्ण रूप से निश्चित

लोचन

येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वैयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकं ग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।

और उन लोगों को भी जो अविभक्त स्फोट, वाक्य, तथा उसका (अविभक्त) अर्थ मानते हैं, उन्हें भी अविद्या के मार्ग में (व्यवहार-मार्ग मे) आने पर इस समस्त प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। उसको उत्तीर्ण करलेने पर (व्यवहार-मार्ग को छोड देने पर) सभी कुछ ब्रह्माद्वैत ही है यह बात तत्त्वालोक ग्रन्थ की रचना करनेवाले हमारे शास्त्रकार ने नहीं जान पाई थी यह बात नहीं है। बस अधिक कहने की क्या आवश्यकता ?

तारावती

नहीं होगा कि पर्वत से धुँआ उठ रहा है तब तक उसके आधार पर पर्वत मे आग सिद्ध हो ही नहीं सकती। यदि हेतु को ही सिद्ध करने की आवश्यकता पडे तो असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। यहाँ पर गोदावरी के तट पर सिंह का होना हेतु है। किन्तु यह स्वयं सिद्ध नहीं है कि वहाँ पर सिंह है भी या नहीं है, सिंह का होना एक कुलटा के वचनों से सिद्ध होता है। कुलटा के वचनों का प्रमाण ही क्या ? इस प्रकार यहाँ पर अर्थ से निश्चित सम्बन्ध न होने के कारण असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है और साध्य सिद्धि हो ही नहीं सकती अतएव अनुमान से उक्त उदाहरण गतार्थ नहीं हो सकता।

अब रसप्रक्रिया को ले लीजिये। कटाक्ष इत्यादि से राम के रतिभाव का अनुमान तो हो सकता है। किन्तु यहाँ पर राम के रतिभाव का प्रश्न नहीं है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि राम के रतिभाव से सहृदय परिशीलकों के हृदयों में जो कौतूहल मिश्रित आनन्द उत्पन्न हो जाता है उसकी व्याख्या किस प्रकार की जावे ? निश्चित ही है कि उसकी प्रतीति अनुमान से हो ही नहीं सकती, उसके लिये व्यञ्जनावृत्ति माननी ही पडेगी। इस प्रकार महिम भट्ट का सिद्धान्त सर्वथा निस्सार सिद्ध हो जाता है।

—वेदान्तियों और वैय्याकरणों का अखण्डतावाद और व्यञ्जना—

जो लोग यह कहते है कि अखण्ड स्फोट ही वाचक होता है और वही वाच्य होता है, उन्हे भी व्यवहार मार्ग में आकर इस समस्त प्रक्रिया का आश्रय लेना ही पडेगा। व्यवहार मार्ग का अतिक्रमण कर परमार्थ सत्ता को ही स्वीकार करनेवालों के लिये तो सभी कुछ परमात्मा से अद्वैत ब्रह्ममात्र ही है, यह बात हमारे शास्त्रकार, तत्त्वालोक ग्रंथ की रचना करनेवाले आनन्दवर्धनाचार्य को ज्ञात न हो यह बात नहीं है।

तारावती

[अखण्डतावादी दो हैं—एक तो वेदान्ती, दूसरे वैय्याकरण । इनके मत का सार निम्नलिखित है:—

वेदान्ती लोग 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर अखण्ड ब्रह्म की सत्ता मानकर बाह्य सृष्टि का निषेध करते है । उसीप्रकार अखण्ड बुद्धि के द्वारा ग्रहण करने योग्य परब्रह्मात्मक वाक्यार्थ को ही वाच्य मानते है और इस प्रकार की बुद्धि मे निमित्त वाक्य को ही वाच्य मानते हैं । इन लोगों का आशय यह है कि क्रिया-कारक भाव तब तक सम्भव नहीं है जब तक धर्म और धर्मीका भाव अङ्गीकृत न कर लिया जावे । धर्म-धर्मी भाव संसार के मिथ्या होने से असम्भव है । ब्रह्म सभी प्रकार के धर्मो से रहित है और ब्रह्म की सत्ता ही सत्य है । अतएव पद-पदार्थ विभाग के बिना ही अखण्ड महावाक्य ही अखण्ड ब्रह्म का बोधक होता है । इस प्रकार वाक्यगम्य व्यङ्ग्यार्थ में भी वाक्य की ही शक्ति होती है । अतएव वेदन्तियो के मत मे व्यञ्जना वृत्ति समीचीन नहीं कही जा सकती । इनके मत मे वाक्य से भी अभिधेय, लक्ष्य, व्यङ्ग्य या व्यङ्ग्य से भी बढ़ कर जितना भी अर्थ निकलता है उस समस्त अर्थ मे वाक्य की ही शक्ति होती है । वाच्य लक्ष्य व्यङ्ग्य इत्यादि विभेद वेदान्त मत के प्रतिकूल है ।

वेदान्तियों से ही मिलताजुलता वैय्याकरणों का भी मत है । वैय्याकरण अखण्ड स्फोट को ही वाच्य मानते है । उनके मत में शब्द के दो भाग होते हैं ध्वनि और स्फोट । ध्वनि हमे सुनाई देती है किन्तु उसका वाच्य स्फोट हुआ करता है । भेद ध्वनि में होता है स्फोट मे नही । नाभि से चलने वाली वायु मुख-गह्वर से बाहर निकल कर ध्वनि उत्पन्न किया करती हैं । 'क' 'ख' 'ग' इत्यादि भेद मुख गह्वर में ही होता है, इसके पहले सभी वर्ण अखण्ड तथा एकरूप होते हैं । यह दशा स्फोटावस्था की होती है । नागेश भट्ट ने मञ्जूषा मे लिखा है—'तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यो लोके तेनैवार्थबोधात्तेनैवार्थसमाप्तेश्च' अर्थात् लोक मे वाक्य-स्फोट मुख्य होता है क्योंकि वाक्य से ही अर्थबोध होता है और वाक्य से ही अर्थ की समाप्ति होती है । जिस प्रकार घट शब्द मे चार वर्ण है—'घ्' 'अ' 'ट्' 'अ' इन चारों वर्णों का पृथक्-पृथक् कोई अर्थ नही, उसी प्रकार 'रामः घटम् आनयति' में पृथक्-पृथक् शब्दों का कोई अर्थ नही । समस्त अखण्ड वाक्य ही सार्थक होता है, वाक्यान्तर्गत शब्द सर्वथा निरर्थक होते है । इसीलिये वैय्याकरण अक्षरो में विकार नहीं मानते । इत्यादि शब्द में 'इ' के लिये 'य' नहीं होता किन्तु 'इति + आदि' इस समूह के स्थान पर 'इत्यादि' यह पूरा समूह हो जाता है । इसीलिये

तारावती

वैय्याकरण 'सर्वं सर्वार्थवाचकाः' का सिद्धान्त मानते हैं। इनका कहना है कि प्रत्येक वाक्य प्रत्येक अर्थ का वाचक हो सकता है। इसप्रकार इनके भी मत मे अभिधा इत्यादि भेद मानना ठीक नहीं।

उक्त अखण्डतावादियों के सिद्धान्त के विषय में मुझे यह कहना है कि वेदान्ती लोग अखण्ड ब्रह्म को मानते हुए भी व्यवहारदशा मे वस्तुसत्ता मानते ही हैं। अविद्यावश सासारिक पदार्थों का भान होता है जिससे व्यवहार चलता रहता है। इस व्यवहारदशा के लिये उन्हे भी पद-पदार्थकल्पना करनी ही पडती है। इसीलिये कहा गया है—'अनवयवमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकपदवर्ण-विभागमस्या लिङ्गम्।' अर्थात् वाक्य सर्वथा अनवयव ही होता है। उसमें अविद्या के कारण पद तथा वर्ण की कल्पना कर ली जाती है और वे असत्य पद तथा वर्ण ही व्यवहार दशा मे उस वाक्य मे कारण होते हैं। इसीलिये प्रसिद्ध है कि 'व्यवहारे भट्टनयः' व्यवहार दशा में कुमारिल भट्ट की नीति का अनुसरण किया जाता है। भट्टमत मे व्यञ्जना की क्यो आवश्यकता है यह पहले ही बतलाया जा चुका है।

वैय्याकरणो के मत मे भी समस्त वाक्यों के समस्त अर्थ बतला देना असम्भव है। अतएव पदो और वर्णों की कल्पना कर ली जाती है। प्रक्रिया दशा मे उन्हे भी वाक्य को शब्दो मे और शब्दो को वर्णों में तोड़ना पड़ता है। अन्यथा व्यवहार का निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसी दशा में उन्हे भी अभिधा इत्यादि वृत्तियाँ माननी पड़ेंगी और व्यञ्जना का वे भी अपलाप नहीं कर सकते। भर्तृहरि ने कहा है—'प्रकृति प्रत्यय या पद इत्यादि जितने भी विभाग हैं या उनको सिद्ध करने के जितने भी उपाय है वे सब शिक्षणीय बालकों का उपलालन मात्र हैं। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति असत्य मार्ग मे रहकर सत्य को प्राप्त कर लेता है।' आशय यह है कि जिस प्रकार खेल मे बच्चे विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनाया करते हैं अथवा उन्हें शिक्षा देने के लिये गङ्गा इत्यादि की आकृतियाँ बना कर समझा दिया जाता है, बाद मे वे वास्तविक गङ्गा इत्यादि का ज्ञान प्राप्त कर लेते है। इसी प्रकार प्यार के साथ बालको को शिक्षा देने के लिये पद वर्ण विभाग की कल्पना कर ली जाती है और उनको सिद्ध करने के लिये प्रकृति-प्रत्यय इत्यादि अनेक उपाय काम मे लाये जाते है। इस प्रकार असत्य मार्ग पर चलकर वे सत्य मार्ग अर्थात् वाक्यस्फोट तक पहुँच जाते है। अतएव प्रक्रिया दशा में वैय्याकरणो को भी व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी ही पड़ेगी। वे उसका कथमपि निषेध नहीं कर सकते।

लोचन

यत्तु भट्टनायकेनोक्तम्—इह दृप्तसिंहादिपदप्रयोगे च धार्मिकपदप्रयोगे च भयानकरसावेशकृतैव निषेधावगतिः। तदीयभीरुत्वीरत्वप्रकृतिनियमावगममन्तरेणैकान्ततो निषेधावगत्यभावादिति तन्न केवलार्थसामर्थ्यं निषेधावगतेर्निमित्तमिति।

जो कि भट्ट नायक के द्वारा कहा गया है—'यहाँ पर दृप्तसिंह इत्यादि शब्द के प्रयोग में तथा धार्मिक इत्यादि शब्द के प्रयोग में भयानक रस के आवेश से उद्भूत निषेध की ही प्रतीति होती है। उसके भीरु या वीर स्वभाव के नियम के बिना जाने हुये एकान्ततः निषेध की अवगति हो ही नहीं सकती; अतएव केवल अर्थ सामर्थ्य ही निषेधावगति में निमित्त नही है।' यहाँ पर

तारावती

—दूसरे प्रमाण तथा व्यञ्जना—

ऊपर दिखलाया जा चुका है कि शब्द की विभिन्न वृत्तियाँ, अनुमान प्रमाण तथा अखण्डतावाद व्यञ्जना को आत्मसात् नहीं कर सकते। इसीप्रकार दूसरे प्रमाणों से भी व्यञ्जना गतार्थ नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष ज्ञान मे इन्द्रियाँ करण होती हैं और जो ज्ञान इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में न तो सिंह ही सन्निहित है जिससे उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष हो सके और न नायिका अपने मुख से ही कहती है कि—'हे महात्मन्! अब तुम गोदावरी तट पर भ्रमण करने मत जाया करो क्योंकि तुम्हारे वहाँ जाने से हम लोगों की प्रेमलीला में विघ्न पडता है।' इस प्रकार यहाँ पर श्रावण प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता। उपमान प्रमाण मे सादृश्य ज्ञान करण होता है। यहाँ पर सादृश्य ज्ञान है ही नहीं। इस प्रकार नायिका का उद्देश्य उपमान प्रमाण का विषय भी नहीं हो सकता। रस वस्तु तथा अलङ्कार की अभिव्यक्ति अर्थापत्तिजन्य भी नहीं कही जा सकती। अर्थापत्ति वहीं पर होती है जहाँ पर अर्थ अनुपपन्न हो रहा हो। जैसे 'स्थूल देवदत्त दिन में नहीं खाता' बिना भोजन के स्थूलता उपपन्न हो ही नहीं सकती। इसीलिये अर्थापत्ति से रात्रि भोजन का बोध हो जाता है। यदि यहाँ पर भी बिना रस इत्यादि की प्रतीति के वाक्य अनुपपन्न हो तब तो अर्थापत्ति हो सकती है। किन्तु अर्थ यहाँ पर अनुपपन्न नहीं होता। इसीलिये व्यञ्जना अर्थापत्ति का विषय नहीं हो सकती। रसादि की प्रतीति काल्पनिक भी नहीं हो सकती। यदि रस काल्पनिक हो तो कल्पना करनेवालों को तो आस्वादन हो, एक नीति से सभी सहृदयों को एकसा रसास्वादन कभी न हो। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति केवल व्यञ्जनाजन्य हो सकती है उसका समावेश न तो शब्द की किसी दूसरी वृत्ति मे हो सकता है और न वह दूसरे प्रमाणों से ही गतार्थ हो सकती है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण मे भ्रमणनिषेध के लिये व्यञ्जनावृत्ति अनिवार्य हो जाती है]।

लोचन

सत्रोच्यते—केनोक्तमेतत्- 'वक्तृप्रतिपत्तृविशेषावगमविरहेण शब्दगतध्वननव्यापारविरहेण च निषेधावगतिः' इति। प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं ह्यस्माभिर्द्योतनस्य प्राणत्वेनोक्तम्। भयानकरसावेशश्च न निवार्यते, तस्य भयमात्रोत्पत्त्यभ्युपगमात्। प्रतिपत्तुश्च रसावेशो रसाभिव्यक्त्यैव। रसश्च व्यङ्ग्य एव, तस्य च शब्दवाच्यत्वं तेनापि नोपगतमिति व्यङ्ग्यत्वमेव। प्रतिपत्तुरपि रसावेशो न नियतः, नह्यसौ नियमेन भीरुधार्मिकसब्रह्मचारी सहृदयः।

कहा जा रहा है—यह किसने कहा कि वक्ता तथा प्रतिपत्ता की विशेषता के ज्ञान के विना ही तथा शब्दगत ध्वननव्यापार के अभाव में ही निषेध की अवगति होती है। प्रतिपत्ता की प्रतिभा के सहकार का होना हम लोगों ने द्योतन के प्राण के रूप में कहा है। भयानक रस के आवेश का भी निवारण नही किया जा रहा है क्योंकि उस (धार्मिक) की भयमात्र की उत्पत्ति मान ली गई है। प्रतिपत्ता का रसाभिनिवेश रस की अभिव्यक्ति के द्वारा ही होता है और रस व्यङ्ग्य ही होता है। उसकी शब्दवाच्यता तो उनके द्वारा भी स्वीकृत नहीं की गई है। अतः व्यंग्यत्व ही है। प्रतिपत्ता का रसावेश नियत नहीं है। यह सहृदय नियमतः भीरु धार्मिक के सदृश ही नहीं है।

तारावती

भट्ट नायक ने प्रस्तुत पद्य—'भ्रम धार्मिक'......' इत्यादि का उदाहरण देकर लिखा है-'यहाँ पर सिंह के लिये उद्धत विशेषण दिया गया है और व्यक्ति धार्मिक सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। इन दोनों शब्दों के आधार पर भयानक रस की प्रतीति होती है और उसीसे निषेध का बोध होता है। जबतक यह न मालूम पड जावे कि भ्रमणशील व्यक्ति वीरप्रकृतिवाला है या डरपोक है तबतक निषेध की प्रतीति हो ही नहीं सकती। अतएव केवल अर्थ सामर्थ्य को निषेधप्रतीति का कारण मानना सर्वथा असङ्गत है।' इस पर निवेदन है कि यह तो हम भी नहीं कहते कि वक्ता और श्रोता को विशेषताज्ञान और शब्द के ध्वननव्यापार के अभाव में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। हम तो रसास्वादन करनेवाले सहृदय की प्रतिभा को व्यञ्जना का प्रमाण मानते हैं। हमे प्रस्तुत उदाहरण मे भयानक रस के अङ्गीकार करने मे भी कोई आपत्ति नहीं। किन्तु यह भयानकता केवल सम्बोध्य (धार्मिक) के हृदय मे भय का सञ्चार कर सकती है, रसरूपता को धारण नहीं कर सकती। भय की रसरूपता तभी स्वीकार की जा सकती है जब कि परिशीलकों को उसका आस्वादन हो। रसास्वादन तभी हो सकता है जब कि रस अभिव्यक्त हो। यह तो भट्टनायक ने भी नहीं माना कि रस, कभी भी शब्दवाच्य हो सकता है। अतएव मानना ही पड़ेगा कि रस सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है। यहाँ पर

लोचन

अथ तद्विशेषोऽपि सहकारी कल्प्यते, तर्हि वक्तृप्रतिपत्तृप्रतिभानुप्राणितो ध्वननव्यापारः किं न सह्यते। किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्। यदाह—'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इति। अथ रसस्यैवेयता प्राधान्यमुक्तम्, तत्को न सहते। अथ वस्तुमात्रध्वनेरेतदुदाहरणं न युक्तमित्युच्यते तथापि काव्योदाहरणत्वादुद्वावप्यत्र ध्वनी स्तः को दोषः?

यदि उसकी विशेषता भी सहकारी मानी जावे तो वक्ता और प्रतिपत्ता की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार ही सहन क्यों नहीं करलिया जाता। दूसरी बात यह है कि वस्तुध्वनि में दोष दिखलाते हुये उसके अनुग्राहक के रूप में रसध्वनि का समर्थन कर दिया गया, यह ध्वनि का बहुत ही अच्छा ध्वंस हुआ। जैसा कि कहा गया है—'देव का क्रोध भी वरदान के समान है।' यदि इस (कथन) से रस की ही प्रधानता बतलाई गई है तो उसे कौन नहीं सहता। यदि 'वस्तुमात्रध्वनि का यह उदाहरण उचित नहीं है' यह कहा जाता है तथापि काव्य का उदाहरण होने के कारण यहाँ पर दोनों ही ध्वनियाँ हों; क्या दोष है?

तारावती

सहृदय के लिये रसानुवेश निश्चित नहीं है, क्योंकि सहृदय व्यक्ति भीरु धार्मिक के समान यह तो नहीं समझता कि उसे भी कहीं शेर मिल जावेगा।

यहाँ पर आप कह सकते हैं कि सहृदय की विशेषता भी भयानक रसाभिव्यक्ति मे सहकारी कारण होती है अर्थात् जहाँपर धार्मिक के समान सहृदय व्यक्ति भी भीरु प्रकृति का होता है वहीं पर भयानकरसाभिव्यक्ति हो सकती है। इस पर मेरा निवेदन यह है कि इतनी कल्पनायें और इतना सरदर्द मोल लेने से तो यही अच्छा है कि वक्ता श्रोता तथा सहृदय की प्रतिभा से अनुप्राणित ध्वननव्यापार को ही आप क्यों नही मान लेते? दूसरी बात यह है कि आपने वस्तुध्वनि का तो खण्डन किया, किन्तु उसकी सहायिका रसध्वनि को आपने स्वीकार कर लिया। यह आपका ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन बड़ा ही अच्छा रहा। ठीक ही कहा गया है कि आपका तो क्रोध भी हमारे लिये वरदान ही सिद्ध हुआ। यदि कहो कि यहाँपर रस की प्रधानता है, तो इसमे भी मेरी कोई हानि नही। आप यहाँ पर कह सकते है कि 'मुझे आपत्ति केवल यह है कि यह उदाहरण एकमात्र वस्तुध्वनि का नहीं हो सकता। इसपर मेरा निवेदन है कि यहाँ पर दोनों ही ध्वनियाँ स्वीकार की जा सकती हैं। क्योंकि यह पद्य तो काव्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया जा सकता है अतएव दोनों ध्वनियों को मानने में क्या दोष? यह आप की इच्छा है कि आप इसे वस्तु या रस किसी भी ध्वनि के उदाहरण के रूप में उद्धृत करे।

लोचन

यदि तु रसानुवेधेन विना न तुष्यति, तत् भयानकरसानुवेधो नात्र सहृदयहृदयदर्पण-मध्यास्ते, अपितु उक्तनीत्या सम्भोगाभिलाषविभावसङ्केतस्थानोचितविशिष्टकाद्यनुभाव-शबलनोदितश्रृङ्गाररसानुवेधः । रसस्यालौकिकत्वात्तावन्मात्रादेव चानवगमात्प्रथमं निर्विवादसिद्धविविक्तविधिनिषेधप्रदर्शनाभिप्रायेण चैतद्वस्तुध्वनेरुदाहरणं दत्तम् ।

यस्तु ध्वनिव्याख्यानोद्यतस्तात्पर्यशक्तिमेव विवक्षासूचकत्वमेव वा ध्वनन-मवोचत्, स नास्माकं हृदयमावर्जयति । यदाहुः 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' इति । तदेतदग्रे यथायथं प्रतनिष्याम इत्यास्तां तावत् । भ्रमेति—अतिसृष्टोऽसि प्राप्तस्ते भ्रमणकालः ।

और यदि रसानुवेध के बिना सन्तोष न होता हो तो भयानक रसानुवेध सहृदय-हृदय-दर्पण में आरूढ़ नहीं होता अपितु उक्त नीति से सम्भोगाभिलाषरूप विभाव, संकेतस्थान के योग्य विशिष्ट काकु इत्यादि अनुभाव के एकत्रीभूत सम्मिश्रण से उत्पन्न श्रृङ्गार रसानुवेध ही (मानना उचित है)। रस के अलौकिक होने के कारण केवल उतने से ही अवगम न हो सकने से निर्विवाद सिद्ध तथा (परस्पर) भेदपरक विधि-निषेध के प्रदर्शन के अभिप्राय से यह वस्तुध्वनि का उदाहरण दे दिया गया है ।

और जिसने ध्वनिव्याख्यान के लिये उद्यत होकर तात्पर्यशक्ति को ही अथवा विवक्षासूचकत्व को ही ध्वननव्यापार कहा वह मेरे हृदय को अपने अनुकूल नहीं बना रहा। जैसा कि कहा है—'लोक भिन्नरुचियों वाला होता है ।' तो इसको आगे यथा स्थान ठीक-ठीक विस्तारपूर्वक बतलावेगे । और अधिक विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं । भ्रमेति । तुम्हें अनुमति दे दी गई है; तुम्हारे भ्रमण का समय

तारावती

यदि आपको रसानुवेध के बिना सन्तोष न हो तो भी यहाँ पर सहृदयों के आस्वादन में भयानक रसानुवेध कारण नहीं होता । किन्तु सम्भोग की अभिलाषा को व्यक्त करनेवाला संकेतस्थान यहाँ पर उद्दीपन विभाव है और उसी के अनुसार विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि अनुभाव है। इसके सम्मिश्रण से पुष्ट होकर रतिस्थायी-भाव ही श्रृंगाररूपमें परिणत होकर आस्वादन में कारण होता है । रस अलौकिक होता है और केवल उन्ही शब्दों के आधार पर उसका अवगमन नहीं हो सकता, इसीलिये इस पद्य को रस के उदाहरण के रूप मे न रखकर विधि के स्थान पर निषेधरूप निर्विवाद सिद्ध वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप मे रक्खा गया है ।

ध्वनि की व्याख्या करने के लिये उद्यत एक महाशय ने लिखा है–'या तो तात्पर्य-शक्ति को ध्वनि कहते है या विवक्षित अर्थ के अनुमान लगाने को ।' यह व्याख्या मुझे रुचिकर प्रतीत नहीं होती । कालिदास ने कहा है कि 'लोगों की रुचियाँ भिन्न प्रकार की होती है' । इस सबकी क्रमशः विस्तारपूर्वक व्याख्या की जावेगी ।

लोचन

धार्मिकेति । कुसुमाद्युपकरणार्थं युक्तं ते भ्रमणम् । विश्रब्ध इति । शङ्काकारण-वैकल्यात् । स इति । यस्ते भयप्रकम्पामङ्गलतिकामकृत । अद्येति । दिष्ट्या वर्धस इत्यर्थः । मारित इति । पुनरस्यानुत्थानम् । तेनेति । यः पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति । पूर्वमेव हि तद्रक्षायै तत्तथोपश्राविततोऽसौ, स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनान्निस्सरतीति प्रसिद्ध गोदावरीतीरपरिसरानुसरण-मपि तावत्कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहनप्रवेशशङ्कयेतिभावः ।

आ गया है । धार्मिकेति । कुसुम इत्यादि के उपकरणों के लिये तुम्हारा भ्रमण उचित है । 'विश्रब्ध' यह शङ्का के कारणों के अभाव के कारण (कहा गया है) । वह अर्थात् जो तुम्हारी अङ्गलतिका को भय से प्रकम्पित कर देता था । 'आज' अर्थात् सौभाग्य से तुम आप्तकाम हो गये हो । 'मारडाला है' अर्थात् इसका पुनः उत्थान नहीं (सम्भावित है) । 'उसके द्वारा' अर्थात् जो पहले श्रुतिपरम्परा से तुमने भी सुना है कि गोदावरी के तट पर वन में रहता है । पहले ही उस (संकेतस्थान) की रक्षा के लिये इस धार्मिक को उस सिंह के निवास की बात उस नायिका द्वारा सुना दी गई थी; वह इस समय तो दृप्त होने के कारण उस वन से निकलता है अतः प्रसिद्ध गोदावरी के तट के विस्तार मे तुम्हारा घूमना भी कथा-शेष हो गया है, उस लतागहन के प्रवेश की शङ्का की ही क्या बात ?

तारावती

यहाँपर 'भ्रम' का वाच्यार्थ है—मैं तुम्हें स्वच्छन्दविचरण की अनुमति दे रही हूँ, अब तुम्हारे भ्रमण का समय आ गया है (व्यंग्यार्थ है तुम्हें वहाँ नहीं जाना चाहिये) 'धार्मिक' सम्बोधन का वाच्यार्थ है धर्म करनेवाले अर्थात् कुश-समिधा इत्यादि पूजनसामग्री के लिये तुम्हें वहाँ जाना ही है (व्यंग्यार्थ—तुम धर्म करना जानते हो, तुम्हें इस प्रकार के भय का सामना नहीं करना चाहिये।) 'विश्रब्ध' का वाच्यार्थ है-तुम्हारे भय और आशंका का कारण कुत्ता नष्ट हो गया अब तुम आश्वस्त रहो । (व्यंग्यार्थ है अभीतक तुम कुत्ते से ही डरते थे अब वहाँ शेर आ गया है; अब तुम्हें आश्वस्त बिल्कुल नहीं रहना चाहिये ।) 'सः' का वाच्यार्थ है जिस कुत्ते के कारण तुम्हारी अंकलता काँपने लगती थी । (व्यंग्यार्थ है—जब उस तुच्छ कुत्ते का ही तुम सामना नहीं कर पाते थे तब सिंह के सामने जानेपर तुम्हारी क्या दशा हो जावेगी।) 'अद्य' का वाच्य अर्थ है आज तुम भाग्यशाली हो जो कि तुम्हारा भय का कारण दूर हो गया । (व्यंग्यार्थ है—शेर ने आज ही तो कुत्ते को मारा है; अभी वह यहीं है; कहीं दूर नहीं गया।) 'मारितः' का वाच्य अर्थ है मार डाला गया और व्यंग्यार्थ है शेर भोजन की तालाश में आता ही है पुनः नहीं आवेगा यह

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

(अनु०) कहीं-कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेधपरक होता है और व्यंग्यार्थ विधिपरक । जैसे:—'हे पथिक ! दिन थोडा ही शेष रह गया है। अतएव भलीभाँति देखलो; यहाँ पर मेरी सास निद्रासागर मे डूबी पड़ी रहती है । और इस स्थान पर मैं सोती हूँ । तुम रात में अन्धे हो जाते हो (तुम्हें रतौंधी आती है)। कहीं हम लोगों की चारपाई पर न आ गिरना ।

लोचन

अत्ता इति ।

श्वश्रूरत्र शेते अथवा निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः ॥

मह इति निपातोऽनेकार्थवृत्तिरत्रावयोरित्यर्थे न तु ममेति । एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । काञ्चित्प्रोषितपतिकां तरुणी मवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः सम्पन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः । न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रवृत्तप्रवर्तनास्वभावः सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव रात्र्यन्धेति समुचितसमयसम्भाव्यमानविकाराकुलितत्वं ध्वनितम् । भावतदभावयोश्च साक्षाद्विरोधाद्वाच्याद्व्यङ्ग्यस्य स्फुटमेवान्यत्वम् ।

अत्ता इति। श्वश्रू इत्यादि छायानुवाद है। 'मह' यह निपात बहुवचन के अर्थ का द्योतक है, यहाँ पर 'हम दोनों के' इस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है 'मम' (मेरे) इस अर्थ मे नही । ऐसे तो विशेषरूप से एकवचन का प्रयोग ही शङ्का पैदा करनेवाला हो जावेगा, अतः प्रच्छन्न अभ्युपगम नही हो सकेगा । किसी प्रोषितपतिका तरुणी को देखकर पथिक प्रवृद्ध कामाङ्कुरवाला हो गया (तथा) इस निषेध के द्वारा उसको स्वीकृति दे दी गई; इस प्रकार यहाँ पर विधि निषेध का अभावरूप ही है निमन्त्रण-रूप अप्रवृत्त को प्रवर्तित करने के स्वभाववाली नहीं है, क्योंकि उससे (नायिका के) सौभाग्याभिमान का खण्डन प्रसक्त हो जाता है। अतएव 'रात्र्यन्ध' कहकर समुचित समय पर विकार की आकुलता की सम्भावना ध्वनित कर दी गई । सत्ता तथा उसके अभाव में साक्षात् विरोध होने के कारण वाच्य से व्यङ्ग्य स्पष्ट ही अन्य है ।

तारावती

निश्चित नहीं है । 'तेन' 'उस' सिंह का संकेतवाचक विशेषण है । इसका व्यंग्यार्थ है–'नायिका ने सखी इत्यादि के द्वारा पहले ही उस सिंह के गोदावरी तट पर कुंज

तारावती

में निवास की सूचना भेज दी थी। अब वह स्वयं कह रही है कि सिंह के गोदावरी तट पर निवास की बात तो तुम सुन ही चुके हो। अब तक वह सिंह कुञ्ज में ही रहता था, अब ऐसा उद्धत हो गया है कि दिन में भी निकल कर पशुवध किया करता है। अतएव तुम्हारे लता-वन में प्रवेश की शंका तो दूर रही तुम्हारा गोदावरी परिसर पर भ्रमण करना भी कथाशेष हो गया है। इस प्रकार वाच्यार्थ विधिपरक है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक।

अब दूसरा उदाहरण लीजिये—कोई पथिक कहीं रात्रि मे विश्राम करना चाहता है। अकस्मात् उसकी दृष्टि किसी नवयुवती पर पड़ती है। युवती प्रोषितपतिका है। (उसका नवयौवन तथा प्रोषिता होना दोनों बातें पथिक के अनुकूल हैं।) अतः वह कामोन्मत्त हो जाता है। युवती पथिक की कामना को समझकर कह रही है कि 'हे पथिक दिन में तुम मेरे और सास के सोने के स्थान को देख लो। रात में कहीं हम लोगों की चारपाई पर न आ जाना।' यह वाच्यार्थ है।

यहाँ पर 'मह' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। मह शब्द दो प्रकार से बन सकता है— एक तो बहुवचनान्त अव्यय है जिसका अर्थ होता है 'हम सब' या 'हम दोनों' और दूसरा एकवचनान्त 'मम' का छाया रूप है जिसका अर्थ होता है 'मेरी।' यदि नायिका विशेषरूप से एकवचन का प्रयोग करके कहती कि 'मेरी चारपाई पर मत आ जाना, तो लोगों को शंका हो सकती थी। अतएव उसने छिपाकर कहा कि 'हम दोनों की चारपाई पर मत आ जाना।' इससे लोगो की शका का अवसर नही रहा। अतएव यहाँ पर 'आवयोः' 'हम दोनों की' के अर्थ में अव्यय ही मानना चाहिये। एक वचन का रूप नही। नायिका तरुणी भी है और प्रोषितपतिका भी है। अतएव पथिक के हृदय मे दर्शनमात्र से जो कामाङ्कुर उत्पन्न हो गया था अनुकूल परिस्थिति के कारण उसका बढ़ जाना स्वाभाविक ही था और नायिका ने चारपाई पर आने का निषेध करते हुये उसकी कामवासना को तृप्त करने की अनुमति दे दी। इस प्रकार यहाँ पर निषेधाभाव रूप विधि व्यंग्य है। कुछ लोग पथिक की ओर से कामप्रवृत्ति की व्याख्या न कर नायिका के द्वारा ही सम्भोग के आमन्त्रण के रूप में इस पद्य की व्याख्या करते है। नायिका की ओर से प्रस्तावित होने के कारण उसके सौभाग्याभिमान के खण्डन हो जाने की सम्भावना से यह व्याख्या समीचीन नही कही जा सकती। इसीलिये 'रात्र्यन्ध' यह सम्बोधन किया गया है जिसका व्यंग्यार्थ है—रात ही सम्भोग का उचित अवसर होता है और उस समय तुम और अधिक कामान्ध हो जाओगे। इस प्रकार यहाँ विधि और निषेध का साक्षात् विरोध होने के कारण स्पष्ट ही है कि व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

लोचन

यत्त्वाह भट्टनायकः 'अहमित्यभिनयविशेषेणात्मदशावेदनाच्छाब्दमेतदपीति'। तत्राहमितिशब्दस्य तावन्नायं साक्षादर्थः। काक्वादिसहायस्य च तावति ध्वननमेव व्यापार इति ध्वनेर्भूषणमेतत्। अत्तेति प्रयत्नेनानिभृतसम्भोगपरिहारः। अथ यद्यपि भवान् मदनशरासारदीर्यमाणहृदय उपेक्षितं न युक्तः, तथापि किंकरोमि पापदिवसकोऽयमनुचितत्वात्कुत्सितोऽयमित्यर्थः। प्राकृते पुंनपुंसकयोरनियमः। न च सर्वथा त्वामुपेक्षे, यतोऽत्रैवाहं तत्प्रलोकय नान्यऽतोहं गच्छामि, तदन्योन्यवदनावलोकनविनोदेन दिनं तावदतिवाहयाव इत्यर्थः। प्रतिपन्नमात्रायां न रात्रावन्धीभूतो मदीयायां शय्यायां मा श्लिषः, अपि तु निभृतनिभृतमेवात्तामिधाननिकटकण्टकनिद्रान्वेषणपूर्वकमितीयदत्र ध्वन्यते।

जो कि भट्ट नायक ने कहा है—'अहम्' इस अभिनयविशेष से आत्मदशा का आवेदन करदेने के कारण यह भी शाब्दिक कथन ही है। वहाँ 'अहम्' इस शब्द का यह साक्षात् अर्थ तो है नहीं। काकु इत्यादि की सहायता से तो उस अर्थ मे ध्वनन ही व्यापार होगा, इस प्रकार यह ध्वनि का भूषण है। 'अत्ता' यह कथन प्रयत्नपूर्वक अनिभृत सम्भोग का परिहार करने के लिये किया गया है। यद्यपि आप कामवाणों की वर्षा से विदीर्ण हृदयवाले उपेक्षा के योग्य नहीं हैं तथापि क्या करूँ यह पापी तुच्छदिवस (अभी विद्यमान है), अर्थ यह है कि अनुचित होने के कारण यह कुत्सित है। प्राकृत मे पुंलिंग और नपुंसकलिंग का नियम नहीं होता। 'मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ क्योंकि मैं यहीं हूँ इसलिये देखलो मैं दूसरे स्थान पर नहीं जा रही हूँ; अतएव एक दूसरे के वदनावलोकन के विनोद से तबतक हम दिन बिता लें' यह अर्थ है। रात्रि के आते ही अन्धेहोकर मेरी चारपाई का आलिंगन मत करना अपितु छिप छिपकर सासनामक निकटस्थित कण्टक की निद्रा का ज्ञान करते हुये (आना) यह ध्वनित होता है।

तारावती

भट्ट नायक ने लिखा है—'मैं यहाँ पर सोती हूँ' इस वाक्य मे 'मैं' शब्द का उच्चारण नायिका ने ऐसी कण्ठध्वनि और ऐसी चेष्टाओं के साथ किया है कि उसकी सम्भोग की कामना और प्रेरणा उसी 'मैं' शब्द से प्रकट हो गई। अतः यहाँ पर अभिधावृत्ति से ही विधिपरक अर्थ निकल आता है इसके लिये व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं।' इसके उत्तर मे मेरा निवेदन है कि 'अहम्' शब्द का यह साक्षात् अर्थ तो है नहीं जिसमे अभिधा मानी जा सके, 'काकु' या कण्ठध्वनि को हम भी व्यञ्जना का सहकारी मानते ही है। काकु से व्यक्त होनेवाला अर्थ व्यञ्जनाव्यापारजन्य ही होता है यह तो ध्वनि का भूषण है।

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वच्च मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं।
मा तुज्ज वि तीअ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु ॥

(अनु०) कहीं वाच्य विधिरूप होता है और व्यङ्ग्य विधि-निषेध दोनों से भिन्न। जैसे—'तुम उसी मेरी सौत के पास जाओ । मुझे अकेले ही गहरी श्वासें लेना और रोना पड़े । उस (अपनी प्रियतमा) के वियोग में तुम्हें भी क्यों दाक्षिण्य के दण्डके रूप में निश्श्वास और रोदन का कष्ट सहना पड़े ।'

तारावती

यहाँ पर 'सास' के निर्देश का आशय यह है कि सास की उपस्थिति में स्वच्छन्द विहार नहीं हो सकता । जब रात मे वह सो भी जावे तब भी तुम्हें आशंकित होकर ही सुरत में प्रवृत्त होना चाहिये । 'दिवसकम्' मे निन्दा अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है । इसका आशय यह है—'यद्यपि मैं जानती हूँ कि तुम्हारा हृदय कामदेव के बाणों से अत्यन्त विदीर्ण हो गया है और तुम्हारी उपेक्षा करना ठीक नहीं है, फिर भी क्या करूँ यह पापी दिन मुझे तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं करने देता । यह इसका कार्य अनुचित है। अतएव यह निन्दनीय है। इसी निंदा को व्यक्त करने के लिये यहाँ पर 'क' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। दिवस शब्द पुंलिङ्ग भी है और नपुंसकलिङ्ग भी। किन्तु इसका प्रयोग पुल्लिङ्ग में ही होता है, अतः नपुसक लिङ्ग मे इसका प्रयोग अप्रयुक्तत्व दोष से दूषित है । किन्तु प्राकृत में पुलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग का नियम नहीं है । यहाँ पर व्यंग्यार्थ यह है–'मैं सर्वथा तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर रही हूँ । भलीभाँति देख लो, मैं यहीं सोऊँगी, कहीं अन्यत्र नहीं जाऊँगी; हम दोनों एक दूसरे के मुखकमल को देखने का आनन्द लेते हुए दिन बिता डालें । हाँ एक बात और है–जैसे ही रात हो जावे वैसे ही कामवेग से अन्धे होकर मेरी चारपाई पर मत आ जाना किन्तु ध्यान रखना कि यह सास नाम का काँटा हमारे मार्ग मे है । अतः धैर्यपूर्वक पहले निश्चय कर लेना कि वस्तुतः मेरी सास सो गई; तभी मेरे पास आना ।'

महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक मे कई एक हेतुओं की कल्पना करके उनमें दोष दिखलाए हैं । उनसे यही सिद्ध होता है कि इस उदाहरण का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता । वस्तुतः ध्वनि वहीं पर होती है जहाँ किसी बात को तर्क से न सिद्ध किया जा सके । यदि उस कुलटा की सम्भोगेच्छा तर्क से ही सिद्ध की जा सके तो उसके छिपाकर कहने का महत्त्व ही क्या रह जाय । अतएव यह ध्वनि का ही विषय है अनुमान का नहीं ।

लोचन

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥

अत्र व्रजेति विधिः । न प्रमादादेव नायिकान्तरसङ्गमनं तव, अपितु गाढानुरागात्, येनान्यादृङ्मुखरागः गोत्रस्खलनादि च, केवलं पूर्वकृतानुपालनात्मना दाक्षिण्येनैकरूपत्वाभिमानेनैव त्वमत्र स्थितः तत्सर्वथा शठोऽसीति गाढमन्युरूपोऽयं खण्डितनायिकाभिप्रायोऽत्र प्रतीयते । न चासौ व्रज्याभावरूपो निषेधः, नापि विध्यन्तरमेवान्यनिषेधाभावः ।

यहाँ पर 'जाओ' यह विधि है । केवल प्रमाद से ही तुम्हारा दूसरी नायिका से साथ नही हुआ अपितु गाढानुराग से, जिससे दूसरे प्रकार का मुखराग और गोत्रस्खलनादि (दृष्टिगत हो रहे हैं) । केवल पूर्वकृत अनुपालनरूप दाक्षिण्य से अर्थात् एकरूपत्व के अभिमान से ही तुम यहाँ पर स्थित हुए हो, अतः तुम सर्वथा शठ हो यह गाढमन्युरूप खण्डिता नायिका का अभिप्राय प्रतीत होता है । यह गमनाभावरूप निषेध नही है और न ही अन्य निषेध के अभावरूप विधि है ।

तारावती

ऊपर दो उदाहरण दिये गये हैं—एक मे वाच्य विधिपरक है और व्यंग्य निषेधपरक, दूसरे में वाच्य निषेधपरक है और व्यंग्य विधिपरक । अब तीसरा उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें वाच्य विधिपरक है और व्यंग्य न विधिपरक न निषेधपरक:—

नायिका के साथ नायक बैठा हुआ है । अकस्मात् नायक गोत्रस्खलन कर बैठता है जिससे उसके मुखपर अनुराग रेखा दौड जाती है और वह गहरी श्वास भी लेता है । नायिका इस विकृति को लक्षित कर कहती है कि 'तुम उसी अपनी प्रियतमा के पास जाओ, मुझे ही रोना और गहरी श्वास लेना पडे; तुम्हें इस दाक्षिण्य का दण्ड क्यों भोगना पड़े ।' यहाँ पर वाच्यार्थ है—'मैं अकेली दुःखी रहूँ, तुम सुखी रहो; अतएव तुम उसी अपनी प्रियतमा के पास जाओ ।' व्यंग्यार्थ है— तुम सर्वदा कहा करते हो कि अन्य नायिका से तुम्हारा सम्पर्क सयोगवश ही हो गया; वस्तुतः तुम उससे प्रेम नहीं करते हो । किन्तु आज तुम्हारे मुखराग और गोत्रस्खलन इत्यादि को देखकर मैं समझ गई कि तुम मुझसे वास्तविक प्रेम नही करते । तुम्हारा वास्तविक प्रेम तो मेरी सौत से है । तुम मेरे पास पहले के अपने वादों को पूरा करने के लिये केवल दाक्षिण्य के दिखावे के हेतु ही आते हो । तुम सर्वथा शठ-नायक हो ।' इस प्रकार यहाँ पर खण्डिता के गाढमन्युरूप अभिप्राय की व्यञ्जना

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा :—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्राविलुत्ततमणिवहे।
अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे॥

(अनु०) कहीं वाच्य निषेधपरक होता है और व्यंग्य विधि-निषेध दोनों से भिन्न। जैसे—'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम कृपा करके जाने से रुक जाओ, क्योंकि तुम्हारे मुखचन्द्र की चाँदनी से अन्धकार का समूह विलुप्त हो रहा है और हे हताशे! तुम अन्य अभिसारिकाओं के अभिसार में भी विघ्न कर रही हो।'

लोचन

दे इति निपातः प्रार्थनायाम्। आ इति तावच्छब्दार्थे। तेनायमर्थः—

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥

अत्र व्यवसितादूगमनान्निवर्तस्वेति प्रतीतेर्निषेधो वाच्यः। गृहागता नायिका गोत्रस्खलनाद्यपराधिनि नायके सति ततः प्रतिगन्तुं प्रवृत्ता। नायकेन चाटूपक्रमपूर्वकं निवर्त्यते। न केवलं स्वात्मनो मम च निर्वृतिविघ्नं करोषि, तावदन्यासामपि, ततस्तव न कदाचन सुखलवलाभोऽपि भविष्यतीत्यत एव हताशासीति वल्लभाभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः।

'दे' यह प्रार्थनार्थक निपात है 'आ' यह तावत् शब्दार्थक निपात है। इससे यह अर्थ निकलता है—'प्रार्थये' इत्यादि।

यहाँ पर 'अनुष्ठित गमन से निवृत्त हो जाओ' इस प्रतीति के कारण निषेध वाच्य है। घर में आई हुई नायिका नायक के गोत्रस्खलन इत्यादि अपराध के होने पर वहाँ से लौट जाने को उद्यत हो गई। नायक के द्वारा चाटुकारिता के उपक्रम के साथ रोकी जा रही है। केवल अपनी ही और मेरी ही शान्ति में विघ्न नहीं करती हो। किन्तु दूसरों की भी (शान्ति में विघ्न डालती हो) इससे कभी भी तुम्हें सुख के अंश की भी प्राप्ति नहीं होगी, इससे तुम हत आशा वाली हो यह वल्लभ के अभिप्राय रूप चाटुकारिता की विशेषता अभिव्यक्त होती है।

तारावती

होती है। जब कि वाच्यार्थ विधिपरक है तब व्यंग्यार्थ खण्डिता का मन्यु न तो जाने का निषेध करता है जिससे निषेधपरक कहा जावे और न दूसरी किसी बात का विधान करता है। अतः यह विधि-निषेध दोनों से भिन्न है।

उक्त परिस्थिति के प्रतिकूल कहीं कहीं वाच्य निषेधपरक होता है और व्यंग्य विधि-निषेध दोनों से भिन्न। इसका उदाहरण है 'दे...... वि हआसे।' 'दे' यह

लोचन

यदि वा सख्योपदिश्यमानापि तदवधीरणया गच्छन्ती सख्योच्यते—न केवलमात्मनो विघ्नं करोषि, लाघवादबहुमानास्पदमात्मानं कुर्वती, अतएव हताशा, यावद्वदनचन्द्रिकाप्रकाशितमार्गतयान्यासामप्यभिसारिकाणां विघ्नं करोषीति सख्यभिप्रायरूपश्चाटुविशेषो व्यङ्ग्यः। अत्र तु व्याख्यानद्वयेऽपि व्यवसितात्प्रतीपगमनात्प्रियतमगृहगमनाच्च निवर्तस्वेति पुनरपि वाच्य एव विश्रान्तेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदस्य प्रेयोरसवदलङ्कारस्योदाहरणमिदं स्यात् न ध्वनेः।

तेनायमत्र भावः—काचिद्रभसात्प्रियतममभिसरन्ती तद्गृहाभिमुखमागच्छता तेनैव हृदयवल्लभेनैवमुपश्लोक्यतेऽप्रत्यभिज्ञानच्छलेन, अत एवात्मप्रत्यभिज्ञापनार्थमेव नर्मवचनं हताश इति। अन्यासां च विघ्नं करोषि तव चेप्सितलाभो भविष्यतीति का प्रत्याशा। अत एव मदीयं वा गृहमागच्छ त्वदीयं वा गच्छावेत्युभयत्रापि तात्पर्यादनुभयरूपो वल्लभाभिप्रायश्चाटूक्यात्मा व्यङ्ग्य इत्येव व्यवतिष्ठते। अन्ये तु 'तटस्थानां सहृदयानामभिसारिकां प्रतीयमुक्तिः' इत्याहुः। तत्र हताशे इत्यामन्त्रणाद्युक्तमयुक्तं वेति सहृदया एव प्रमाणम्।

अथवा सखी के द्वारा उपदेश दी हुई भी उसका अपमान करके जाती हुई (नायिका) सखी के द्वारा इस प्रकार कही जा रही है—लघुता से अपने को बहुमानरहित बनाते हुए केवल अपना ही विघ्न नहीं कर रही हो (तथा) इसी कारण हत आशावाली बन रही हो प्रत्युत वदनचन्द्रिका से राजमार्ग को प्रकाशित करदेने के कारण अन्य अभिसारिकाओं का भी विघ्न कर रही हो, यह सखी का अभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यक्त होता है। यहाँ पर इन दोनों व्याख्यानों में अनुष्ठित किये हुये विरुद्ध गमन से और प्रियतम के गृहगमन से निवृत्त हो जाओ इस प्रकार फिर भी वाच्य में ही विश्रान्ति होने के कारण गुणीभूतव्यङ्ग्य भेद प्रेयोऽलङ्कार अथवा रसवदलङ्कार का यह उदाहरण हो जावेगा ध्वनि का नहीं।

अतएव यहाँ पर यह भाव है—कोई शीघ्रतापूर्वक प्रियतम के घर जाती हुई उसके घर की ओर आनेवाले उसी हृदयवल्लभ के द्वारा न पहिचानने के बहाने इस प्रकार प्रशंसा की जा रही है। इसलिये अपना परिचय देने के लिये ही 'हताशे' यह नर्मवचन है। औरों का भी विघ्न करती हो और तुम्हारा भी ईप्सित लाभ हो जावेगा इसकी भी क्या प्रत्याशा? चाहे मेरे घर को आओ या तुम्हारे घर को हम दोनों चले, इस प्रकार दोनों ओर भी तात्पर्य होने से चाटुकारितारूप वल्लभ का अभिप्राय जो कि अनुभयरूप (विधिनिषेधरूप रहित) है व्यक्त होता है। यही सिद्धान्त यहाँ पर स्थिर होता है। दूसरे लोग तो—तटस्थ सहृदयो की यह अभिसारिका के प्रति उक्ति है यह कहते है। उसमे 'हताशे' यह सम्बोधन उचित है या अनुचित इसमे सहृदय ही प्रमाण हैं।

तारावती

निपात संज्ञक अव्यय है जिसका अर्थ होता है प्रार्थना। 'आ' का अर्थ है 'तावत्' जिससे पूरे वाक्य का अर्थ हो जाता है—'मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि तुम मत जाओ क्योंकि तुम अपने मुखचन्द्र के प्रकाश से अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न डालोगी और तुम्हारी भी आशा पूरी न हो सकेगी।' इस पद्य के सन्दर्भ की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। निम्नलिखित व्याख्याओं पर लोचनकार ने विचार किया है :—

(१) नायिका नायक के घर आई है और सहवास में प्रवृत्त हो गयी है। इसी अवसर पर संयोगवश नायक गोत्रस्खलन का अपराध कर बैठता है जिससे नायिका रुष्ट होकर जाने को उद्यत हो जाती है। तब नायक उक्त शब्द कहता है, जिसका व्यंग्यार्थ यह है—'तुम जैसी विश्वसुन्दरी को छोड़कर मैं दूसरी नायिका से प्रेम कैसे कर सकता हूँ ? यदि तुम मुझे छोड़कर जाओगी तो मैं अत्यन्त पीड़ित हो जाऊँगा और तुम्हें भी पछताना पड़ेगा। तुम्हारी भी आशा पूरी नहीं हो सकेगी और दूसरों का भी विघ्न करोगी। इस प्रकार यहाँ पर प्रियतम की चाटुकारिता व्यंग्य है और 'हताशे' इस सम्बोधन के द्वारा भविष्य में पछताने की बात कहकर नायिका को आगाह किया गया है।

उक्त व्यंग्यार्थ मे दोष यह है कि इस अर्थ मे मुख्य अर्थ नायिका को रोकना ही है जो कि वाच्य है। व्यंग्यार्थ नायक की चाटुकारिता उक्त वाच्यार्थ का अङ्ग बन गई है। अतएव यह उदाहरण अपराङ्ग गुणीभूतव्यंग्य का हो जाता है ध्वनि का उदाहरण नहीं हो पाता। यदि नायक का अनुराग व्यंग्य माना जावे तो भी वह रोकनारूप वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर रसवत् अलङ्कार हो जावेगा, वस्तुध्वनि का उदाहरण नहीं रहेगा।

(२) उक्त परिस्थिति मे ही प्रियतम के गोत्रस्खलनादि से रुष्ट होकर नायिका अभिसार स्थान से चले जाने को उद्यत हो जाती है। तब नायिका की सखी एक ओर 'हताशे' इस सम्बोधन के द्वारा नायिका को आगाह करती है कि तुम बाद मे पछताओगी क्योंकि लघुता के कारण तुम्हारा सारा सम्मान जाता रहेगा।

दूसरी ओर चाटुकारिता के द्वारा नायिका पर यह प्रभाव जमाना चाहती है कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है; यदि तुम यहाँ से जाओगी तो तुम्हारे मुख की चाँदनी चारों ओर छिटक जावेगी यहाँ तक कि दूसरी अभिसारिकाओं का जाना भी रुक जावेगा। अतः तुम जैसी चन्द्रसुन्दरी को छोड़कर नायक किसी और नायिका को चाहेगा इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। गोत्रस्खलन इत्यादि की बात सांयोगिक है उसपर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिये। इस व्याख्या में भी उपर्युक्त दोष ही है कि इसका पर्यवसान 'लौट चलो' के वाच्यार्थ के साथ ही होकर

तारावती

इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य बना देता है और नायिका के प्रति सखी का अनुराग भावव्यञ्जना के अन्तर्गत आकर तथा वाच्यार्थ का अङ्ग बनकर प्रेय अलङ्कार का रूपधारण कर लेता है। अतः यह व्याख्या भी मान्य नहीं।

(३) अतः यहाँ पर यह व्याख्या ठीक होगी—कोई नायिका नायक के पास द्रुतगति से जा रही है और उसका हृदयवल्लभ भी उसी के घर की ओर आ रहा है। नायक मानों न पहचानते हुये तथा अपनी निकटवर्तिता का परिचय देते हुये यह शब्द कह रहा है कि—अभिसारिकायें कालीरात मे ही अपने प्रियतमों से मिलने जा सकती है। तुम्हारे इस प्रकार अभिसार करने से अन्धकार दूर हो जाता है और अभिसारिकाओं के मनोरथ मे विघ्न पडता है। इसका पाप तुम पर पड़ेगा और तुम्हारी भी आशायें पूर्ण नहीं हो सकतीं। अतः तुम अभिसार का विचार छोड़कर लौट चलो।' यह है वाच्यार्थ। इसका व्यङ्ग्यार्थ यह है—कि नायक नायिका की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करना चाहता है। वह नायिका को अपना परिचय देकर यह प्रकट करना चाहता है कि मैं भी तुम्हारे घर जा रहा हूँ; अब तुम चाहो तो मेरे घर चलो या अपने घर लौट चलो। यह अच्छा ही हुआ कि तुम मुझे मार्ग मे मिल गई और मैंने तुम्हे पहिचान लिया। अन्यथा हम दोनों को अपने अपने गन्तव्यस्थानपर पहुँच कर निराश ही होना पड़ता। यहाँ पर वाच्य निषेधपरक है और व्यङ्ग्य चाटुकारितापरक जो न विधि है और न निषेध।

(४) कुछ लोगों ने यह उक्ति तटस्थों की बतलाई है। किन्तु उस अर्थ मे 'हताशे' इस सम्बोधन का औचित्य क्या होगा ? इसका निर्णय मैं सहृदयों पर ही छोड़ता हूँ।

ऊपर के चारो उदाहरणों में एक ही विषय (संबोध्य व्यक्ति) के प्रति वाच्य और व्यङ्ग्य का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। प्रथम उदाहरण मे धार्मिक व्यक्ति के प्रति प्रमाणविधि वाच्य और निषेधविधि व्यंग्य है। द्वितीय उदाहरण में पथिक के प्रति शय्या पर आने का निषेध वाच्य और विधिव्यंग्य है; तृतीय उदाहरण मे नायक के प्रति गमनविधि वाच्य और 'मैं रहस्य को समझ गई हूँ' यह खण्डिताकोप व्यंग्य है। चतुर्थ उदाहरण मे अभिसारिका के प्रति अभिसारनिषेध वाच्य और प्रियतम की चाटुकारिता व्यंग्य है। इन सब उदाहरणों में एक ही व्यक्ति अभिधावृत्ति से एक अर्थ समझता है और व्यञ्जनावृत्ति से दूसरा। अतएव यहाँ पर वाच्य और व्यंग्य का स्वरूपभेद दिखलाया गया है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि विषयभेद से भी वाच्य और व्यंग्य का भेद हो सकता है। विषयभेद का आशय यह है कि वाच्यार्थ तो सभी श्रोताओ के प्रति एक ही होगा किन्तु व्यंग्यार्थ श्रोताओ

ध्वन्यालोकः

क्वचिद्वाच्याद्विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्स वण होई रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम्।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्णिम्॥

(अनु०) कहीं विषयभेद से भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद की व्यवस्था की जा सकती है। जैसे—'अपनी प्रियतमा के व्रणपूर्ण अधर को देखकर किसको क्रोध उत्पन्न नहीं होगा? तुम्हारा स्वभाव ही कुटिल है, तुम मेरा मना करना तो कभी मानती ही नहीं। मैंने तुम्हें मना किया था कि इस फूल को मत सूंघो क्योंकि इसमें भौंरा बैठा है। तुमने नहीं मानी और वह फूल तुमने सूंघ ही लिया। अब इस समय उसका दुष्परिणाम तुम्हें सहना ही पड़ेगा।'

लोचन

एवं वाच्यव्यङ्ग्ययोर्धार्मिकपान्थप्रियतमाभिसारिकाविषयैक्येऽपि स्वरूपभेदाद्भेद इति प्रतिपादितम्। अधुना तु विषयभेदादपि व्यङ्ग्यस्य वाच्याद्भेद इत्याह—क्वचिद्वाच्यादिति। व्यवस्थापित इति। विषयभेदोऽपि विचित्ररूपो व्यवतिष्ठमानः सहृदयैर्व्यवस्थापयितुं शक्यत इत्यर्थः।

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राणशीले वारितवामे सहस्वेदानीम्॥

इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य में धार्मिक, मान्य, प्रियतमा और अभिसारिका इनकी विषय की एकता होने पर भी स्वरूपभेद के कारण भेद माना जाता है यह प्रतिपादित कर दिया। अब तो विषयभेद से भी व्यङ्ग्य का वाच्य से भेद होता है यह कह रहे है—कहीं कहीं वाच्य से इत्यादि व्यवस्था किया गया है तक। आशय यह है कि अवस्थित होनेवाला विचित्ररूपवाला विषयभेद भी सहृदयों के द्वारा व्यवस्थापित किया जा सकता है।

तारावती

की योग्यता के अनुसार बदलता जावेगा। इसीलिये मूल में लिखा है कि कहीं कहीं वाच्य से विभिन्न विषय के रूप में 'व्यवस्था' की जा सकती है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि 'व्यवस्था की जा सकने' का आशय तो यह है कि स्वयं उनमें सत्य नहीं होता; केवल कल्पना ही की जा सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है वे विभिन्न अर्थ स्वतः व्यवस्थित होने की क्षमता रखते हैं; इसीलिये सहृदय लोग उन्हें व्यवस्थापित कर देने में समर्थ हो जाते हैं। उदाहरण :—

कोई नायिका किसी उपपति से सम्भोग कराकर लौटी है; उपपति ने उसके अधर पर दन्तक्षत का चिह्न बना दिया है। नायिका का पति निकट आ गया है

लोचन

कस्य वेति । अनीर्ष्यालोरपि भवति रोषो दृष्ट्वैव, अकृत्वाऽपि कुतश्चिदेवापूर्वतया प्रियायाः सव्रणमधरमवलोक्य । सभ्रमरपद्माघ्राणशीले शीलं हि कथञ्चिदपि वारयितुं न शक्यम् । वारिते वारणायां, वामे तदनङ्गीकारिणि । सहस्वेदानीमुपालम्भपरम्परामित्यर्थः । अत्रायं भावः—काचिदविनीता कुतश्चित् खण्डिताधरा निश्चिततत्सविधसन्निधाने तद्भर्तरि तमनवलोकमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते । सहस्वेदानीमिति वाच्यसविनयवतीविषयम् । भर्तृविषयं तु अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम् । सहस्वेत्यपि च तद्विषयं व्यङ्ग्यम् । तस्यां च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायां तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेशिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम् । तत्सपत्न्यां च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायां सौभाग्यातिशयख्यापनं प्रियाया इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम् । सपत्नीमध्ये इयता खलीकृतास्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तम्, प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभस्वेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम् । अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं

कस्य वेति । अनीर्ष्यालु को भी देख करके ही रोष होता है, स्वयं न करके कहीं से (किसी विशेष कारण से प्रकट हुए) प्रियतमा के व्रणपूर्ण अधर को देखकर पहले न देखी हुई विशेषता के होने के कारण (क्रोध हो ही जाता है ।) 'सभ्रमरपद्माघ्राणशीले'—शील का वारण कभी नहीं हो सकता । वारित अर्थात्—निषेध करने मे वामा अर्थात् उसको अङ्गीकार न करनेवाली । 'इस समय सहो' अर्थात् उपालम्भपरम्परा को । यहाँ पर भाव यह है—कोई अविनीता कहीं से खण्डित अधरवाली उसके पति के किसी निकटवर्ती प्रदेश में सन्निहित होने का निश्चय कर मानो उसको न देखती हुई किसी विदग्ध सखी के द्वारा उस (नायिका) की निन्दा के परिहार के लिए इस प्रकार कही जा रही है । 'इस समय सहो' यह वाच्य अविनयवाली के विषय मे है । पति के विषय में तो 'अपराध नहीं है' यह निवेद्यमान तत्त्व ही व्यङ्ग्य है । 'सहन करो' यह भी उसी के विषय में व्यङ्ग्य है (अर्थात् नायिका अपराधिनी नहीं है अतः तुम क्रोध को सहन करो ।) नायिका के प्रियतम के द्वारा प्रगाढ रूप में उपालम्भ दिये जाने पर उसकी बुराई की आशका करनेवाले पड़ोसी लोगों के विषय में अविनय प्रच्छादन के द्वारा विश्वास दिलाना व्यंग्य है । उसकी सौत के उस उपालम्भ तथा उसके अविनय के कारण होने पर 'प्रिया' इस शब्द के बलपर उसके सौभाग्य की अधिकता का प्रख्यापन सपत्नी के विषय मे व्यङ्ग्य है । 'सपत्नियों के मध्य में मैं इतने से खल बना दी गई हूँ यह लघुता अपने अन्दर ग्रहण करना उचित नहीं है, प्रत्युत यह बहुमान है । 'सहो' अर्थात् 'शोभित हो इस समय' यह सखी के विषय मे सौभाग्यप्रख्यापन व्यंग्य है । 'आज यह तुम्हारी प्रच्छन्नानुरागिणी हृदय-

लोचन

रक्षिता, पुनः प्रकटरदनदंशनविधिर्नविधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसम्बोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति। तदेतदुक्तं व्यवस्थापितशब्देन।

वल्लभा इस प्रकार रक्षित कर ली गई, पुनः प्रकट-दन्तक्षत का कार्य नहीं करना चाहिये।' यह उसके चौर्यकामुक के विषय मे सम्बोधन व्यंग्य है। 'इस प्रकार मैंने यह छिपा लिया' यह अपने वैदग्ध्य का ख्यापन तटस्थ विदग्ध लोगों के विषय मे व्यङ्ग्य है। वह यह व्यवस्थापित शब्द के द्वारा कहा गया है।

तारावती

और अधरक्षत को देखकर उसने क्रोध किया है। इस बात को सखी जान गई है किन्तु यह प्रकट करते हुये कि मानों वह जान ही नहीं पाया वह नायिका, नायक, उपपति, सपत्नी इत्यादि सबको सुनाकर ये शब्द कहती है कि 'कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी प्रियतमा के अधर व्रणपूर्ण देखकर क्रुद्ध न हो जावे, तुम्हारा स्वभाव ही भ्रमरयुक्त पुष्प सूँघने का है, तुम मना करने पर मानती नहीं अब सहन करो।' यहाँ पर 'कौन' शब्द का अर्थ है—कोई भी व्यक्ति कितना ही ईर्ष्यारहित क्यों न हो किन्तु यदि उसने स्वयं अपनी प्रियतमा का अधरक्षत न किया हो और अपूर्व अधरक्षत उसे अपनी प्रिया के अधर पर दिखलाई पड़ जावे तो उसे क्रोध होना स्वाभाविक है। 'सभ्रमरपद्माघ्राणशीले' मे शील शब्द का आशय यह है कि जो स्वभाव पड़ जाता है वह टाला नहीं जा सकता। तुम प्रायः भ्रमरयुक्त फूल सूँघा करती हो, आज संयोगवश भौंरे ने काट खाया। 'वारितवामे' का अर्थ है कि तुम कभी मना करना तो मानती ही नहीं। यहाँ पर वाच्यार्थ का विषय केवल पुंश्चली नायिका है। किन्तु इसका व्यङ्ग्यार्थ विभिन्न व्यक्तियों के प्रति विभिन्न प्रकार का होगा—(१) नायक के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'इसका अधरक्षत भ्रमर के काटने से हुआ है, अतः तुम्हें अन्यथा शङ्का कर नायिका पर क्रोध नहीं करना चाहिये। (२) प्रियतम के द्वारा गाढ उपालम्भ देने पर जब पड़ोसियों को नायिका के अपराध की आशङ्का होने लगती है तब उनके प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'नायिका आचारातिक्रमण की अपराधिनी नहीं है, भ्रमर दंश को देखकर पति को क्रोध आ गया है। (३) पति के उपालम्भ और नायिका के अपराध को देखकर जब सपत्नियाँ हर्षित होने लगती है तब उनके प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'नायिका नायक की प्रियतमा ही है, भ्रमर द्वारा किये गये अधर क्षत को देखकर क्रोध आ जाना स्वाभाविक ही है। वास्तविकता के प्रकाश मे आ जाने पर पति का क्रोध शान्त हो जावेगा। इस क्षणिक रोष को देखकर तुम्हें हर्षित नहीं

ध्वन्यालोकः

अन्ये चैवंप्रकारा वाच्याद्विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति। तेषां दिङ्मात्रमेतत्प्रदर्शितम्। द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते। तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव।

('अनु०) इसी भाँति और भी बहुत से प्रतीयमान के प्रकार हैं जो वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ के भेद के उदाहरण के रूप में दिखलाये जा सकते हैं। यहाँ पर मैंने उनका दिग्दर्शनमात्र कराया है। ध्वनि का दूसरा भेद है अलङ्कारध्वनि, यह वाच्यार्थ से भिन्न होती है इस बात की विस्तृत विवेचना आगे चलकर की जावेगी। तीसरा रस इत्यादि नामवाला भेद तो वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है; वह कभी भी साक्षात् स्वशब्दवाच्य नहीं हो सकता और न शब्द की क्रिया ही उसका प्रत्यायन करा सकती है। अतएव रसादिध्वनि भी वाच्य से भिन्न ही होती है।

लोचन

अग्र इति। द्वितीयोद्योते 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयप्रभेदवर्णनावसरे। यथा हि विधिनिषेधतदनुभयात्मना रूपेण सङ्कलय्य वस्तुध्वनिः संक्षेपेण सुवचः, तथा नालङ्कारध्वनिः, अलङ्काराणां भूय-

'आगे दिखलाया जावेगा' अर्थात् द्वितीय उद्योत में 'असंलक्ष्यक्रमव्यग्यः क्रमेणोद्योतितः परः' इस विवक्षितान्यपरवाच्य नामक द्वितीय प्रभेद के वर्णन के अवसर पर जिस प्रकार विधिनिषेध तथा अनुभय आत्मा के रूप में संकलित करके वस्तुध्वनि का संक्षेप में सुविधापूर्वक विवेचन किया जा सकता है उस प्रकार अलंकारध्वनि का नहीं हो सकता क्योंकि अलङ्कारों की संख्या बहुत अधिक है। इसलिये

तारावती

होना चाहिये। यह व्यञ्जना 'प्रियायाः' इस शब्द के बल पर निकलती है। (४) नायिका के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'तुम्हारे अधरक्षत को देखकर पति को क्रोध आ गया है, तुम उसकी प्रियतमा नहीं होती तो उसे क्रोध ही नहीं आता। अतः सौतों के बीच अपने इस अपमान को देखकर तुम्हे अपने अन्दर लघुता का भाव नहीं लाना चाहिये। अब मैंने बनाली है और तुम्हारे प्रति पति का कोप भी जाता रहेगा।' यहाँ पर सहस्व का अर्थ है 'शोभित हो'। इस प्रकार नायिका के सौभाग्य का ख्यापन यहाँ पर व्यङ्ग्य है। (५) उपपति के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'तुमसे प्रच्छन्न प्रेम करनेवाली तुम्हारी हृदयवल्लभा को आज तो मैंने उसके पति के क्रोध से बचा लिया। किन्तु भविष्य मे तुम्हे सतर्क रहना चाहिये और कभी

लोचन

म्त्वात्। तत एवोक्तम्—स प्रपञ्चमिति। तृतीयस्त्विति। तु शब्दो व्यतिरेके। वस्त्वलङ्कारावपि शब्दाभिधेयत्वमध्यासाते तावत्। रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापारादृते

कहा है—सप्रपञ्च (आगे चलकर दिखावेंगे)। तृतीयस्त्विति। 'तु' शब्द व्यतिरेक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वस्तु और अलंकार भी शब्दाभिधेयता को अङ्गीकृत कर लेते हैं। रस भाव रसाभास भावाभास भावप्रशम कभी भी अभिहित नहीं हो सकते तथा वे आस्वाद्यमानता को ही प्राण बनाकर शोभित होते हैं। उसमें ध्वनन-

तारावती

स्पष्ट दन्तक्षत की ऐसी बात नहीं करनी चाहिये। यहाँ पर उपपति के विषय में चौर्य कामुकता व्यक्त होती है। (६) निकटवर्ती रसिकसमाज के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'देखो मैं कितनी निपुण हूँ। ऐसी बातों का बनाना तो मेरे बायें हाथ का खेल है। इस प्रकार विषयभेद से व्यङ्ग्यार्थभेद की व्यवस्था कई रूपों में की जा सकती है। विषयभेद भी स्वरूपभेद के समान अनेक प्रकार का हो सकता है। प्रस्तुत पद्य उदाहरण मात्र है। दूसरे प्रकार भी इसी भाँति समझ लिये जाने चाहिये। इसीलिये मूल में व्यवस्थित शब्द का प्रयोग किया गया है। (हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में कई एक अन्य भी उदाहरण दिये हैं—जैसे—विधि में दूसरी विधि, निषेध में दूसरा निषेध, अविधिनिषेध में विधि, अविधिनिषेध में निषेध, विधिनिषेध में दूसरी विधि, विधिनिषेध में दूसरा निषेध इत्यादि। इन सबके उदाहरण वहीं देखे जाने चाहिए। सारांश यही है कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हुआ करते हैं। महिम भट्ट ने ध्वन्यालोक के प्रायः सभी उदाहरणों को या तो असङ्गत बतलाया है या उनका समावेश अनुमान में करने की चेष्टा की है। किन्तु उनके बतलाये हुए अधिकतर हेतु हेत्वाभास की कोटि में आ जाते हैं अतः अप्रामाणिक हैं।)

व्यङ्ग्यार्थ तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अलङ्कार और रस। वस्तुव्यङ्ग्य वाच्य से भिन्न होता है इसपर प्रकाश डाला जा चुका। अलङ्कार व्यञ्जना और अभिधा का भेद द्वितीय उद्योत की 'असंलक्ष्यक्रमोद्योतः' (२-४) इस कारिका की व्याख्या के अवसर पर विस्तारपूर्वक समझाया जावेगा। विधि और निषेध का सङ्कलन करके वस्तुध्वनि का संक्षेप में कथन करना सम्भव था। अतः उसका दिग्दर्शन करा दिया गया। बहुलता के कारण अलङ्कारों का सङ्कलन कर सकना यहाँ पर सम्भव नहीं है। अतएव यथास्थान द्वितीय उद्योत में विवक्षितान्यपरवाच्य के द्वितीय भेद के वर्णन के अवसर पर उनका निरूपण किया जावेगा।

ध्वन्यालोकः

तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनां प्रतीतिप्रसङ्गः। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत् तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते न तु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। नहि केवलश्रृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयं कथञ्चित्; इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते।

(अनु०) इसको इस प्रकार समझिए—रस इत्यादि की वाच्यता दो ही प्रकार से हो सकती है—या तो रस इत्यादि शब्द के द्वारा निवेदित किये गये हों या विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा उनका प्रत्यायन कराया गया हो। यदि प्रथम पक्ष (रसादि का स्वशब्दवाच्य होना) माना जावेगा तो जहाँ पर रस इत्यादि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया होगा वहाँ पर रस इत्यादि की प्रतीति हो ही नहीं सकेगी। इसके प्रतिकूल रस इत्यादि के प्रतिपादन के अवसर पर सर्वत्र रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता। जहाँ कहीं रस इत्यादि शब्दो का प्रयोग किया भी जाता है वहाँ भी उनकी प्रतीति रसादि के प्रतिपादन के द्वारा ही हुआ करती है। रसादि शब्दों का प्रयोग केवल अनुवादक होता है। उन शब्दों के द्वारा रस इत्यादि की प्रतीति होती ही नहीं। क्योंकि दूसरे विषयो मे जहाँ विभाव इत्यादि का अभाव होता है, केवल रस इत्यादि शब्दों का ही प्रयोग होता है वह रसास्वादन देखा ही नहीं जाता। केवल श्रृङ्गार इत्यादि शब्दों के होने पर और विभाव इत्यादि का प्रतिपादन न होने पर काव्य मे थोडी भी रसवत्ता प्रतीत होती हुई देखी ही नहीं जाती। अब चूँकि जहाँ पर रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं होता केवल विशिष्ट विभाव इत्यादि का ही प्रयोग होता है वहाॅ रस इत्यादि की प्रतीति हो जाती है और जहाँ पर केवल रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ पर रस इत्यादि की प्रतीति नहीं होती अतएव अन्वयतिरेक से यह सिद्ध होता है कि रस इत्यादि का सर्वदा वाच्यसामर्थ्य से आक्षेप ही होता है, रस इत्यादि किसी प्रकार भी वाच्य नहीं हो सकते। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि तीसरा प्रभेद रस इत्यादि भी वाच्य से भिन्न ही होता है। यह बात आगे चलकर दिखलाई जावेगी कि (साथ न होते हुए भी रस इत्यादि की प्रतीति वाच्य के साथ होती हुई सी क्यों जान पड़ती है। यह आगे दिखलाया जावेगा कि इसकी प्रतीति वाच्य के साथ की जैसी होती है।

लोचन

नास्ति कल्पनान्तरम् । स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात् । औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या-भावः, अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः । यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव, 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः' इति वचनात् । तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः । तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ। तदसौ शृङ्गाराभास एव । तदङ्ग' भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्तायाः हृदयमाह्लादयति यतो विशेषेण. अत एव तत्सङ्गृहीतोऽपि पृथग्गणितोऽसौ । यथा—

व्यापार को छोड कर शब्द की गति के स्खलित न होने के कारण मुख्यार्थबाध इत्यादि लक्षणानिबंधन की आशङ्का की ही नहीं जा सकती । औचित्य के साथ प्रवृत्त होने पर स्थायिनी चित्त-वृत्ति की आस्वादनीयता होने पर रस होता है, व्यभिचारिणी के आस्वादनीय होने पर भाव होता है, अनौचित्य के साथ प्रवृत्त होने पर रसाभास और भावाभास होते हैं । जैसे रावण की सीता मे रति (आस्वादनीय होकर रसाभास हो गई है) । यद्यपि वहाँ पर हास्यरसरूपता ही है क्योकि कहा गया है कि शृङ्गार से हास्य होता है । तथापि सामाजिको की यह बाद की स्थिति है तन्मय होने की दशा मे तो रति की ही आस्वादनीयता होती है, इसप्रकार 'दूराकर्षण मोहमन्त्र के समान उस (सीता) के नाम के कर्णगोचर होने पर' इत्यादि मे पौर्वापर्य के विवेक की अवधीरणा से शृङ्गारता ही शोभित होती है । अतः यह शृङ्गाराभास ही है । उसका अङ्ग भावाभास होता है । क्योंकि रस-व्यञ्जना के लिये प्रारम्भ की हुई चित्तवृत्ति का प्रशम ही विशेप रूप से हृदय को आह्लादित करता है इसीलिये उसके द्वारा संग्रहीत भी यह भावप्रशम पृथक् गिना गया है । जैसे—

तारावती

तीसरा भेद है रसव्यञ्जना । वस्तु तथा अलङ्कार की अपेक्षा रसव्यञ्जना मे एक अन्तर है । वस्तु तथा अलङ्कार मे कभी-कभी अभिधेय होने की क्षमता होती है, किन्तु रस कभी भी वाच्य नही हो सकता, वह सर्वदा व्यङ्ग्य ही होता है । रस इत्यादि का प्राण ही है आस्वादन किया जाना । जबतक किसी तत्त्व मे आस्वादनीयता नही आती तबतक उसे रस की संज्ञा दी ही नही जा सकती । इस आस्वादनीयता की तभी ठीक-ठीक व्याख्या की जा सकती है जब कि ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जावे । (अभिधा का यहां प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि 'आनन्द आ रहा है' यह कहने से या सुनने से किसी को आनन्द नही आ

लोचन

एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम्॥

'एक ही शय्या पर पराङ्मुख होने के कारण उत्तरकालिककार्यरहित होकर सन्ताप का अनुभव करते हुये, एक-दूसरे के हृदय में अनुनय के स्थित रहते हुये भी गौरव की रक्षा करते हुये, दम्पति के धीरे से अपाङ्गवलन के कारण चक्षुओं के मिलजाने से हास और शीघ्रता के साथ कण्ठग्रह की सम्पन्नतापूर्वक मान-कलह नष्ट हो गया।

तारावती

जाता। विभिन्न वर्णनों और अभिनयों से आनन्दानुभूति असम्भव होती है जो कि ध्वनि का ही रूप है।) अभिधेयार्थ का बाध नहीं होता इसलिए यहाँ पर लक्षणा नहीं हो सकती।

रसध्वनि में रसध्वनि, भावध्वनि, रसाभासध्वनि, भावाभासध्वनि, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता ये सभी भेद सम्मिलित हैं। स्थायिनी चित्त-वृत्ति जब औचित्यप्रवृत्ति के साथ आस्वादरूपता को धारण करती है तब उसे रसध्वनि कहते हैं, जब व्यभिचारिणी चित्तवृत्ति आस्वादरूप हो जाती है तब उसे भावध्वनि कहते हैं। जब वही चित्तवृत्तियाँ अनौचित्य-प्रवृत्त होती हैं तब क्रमशः रसाभास और भावाभास ध्वनियाँ होती हैं। जैसे राम का सीता के प्रति प्रेम रसध्वनि कहा जावेगा और रावण का सीता के प्रति प्रेम रसाभास कहलावेगा। यद्यपि इस प्रकार का रसाभाससम्बन्धी प्रेम हास्य ही कहा जावेगा। क्योंकि कहा गया है कि 'शृङ्गार से हास्य उत्पन्न होता है।' किन्तु रसाभास का ज्ञान तो सामाजिकों को बाद में होगा। रस की उस दशा में जब पाठक तन्मय हो जाता है उसके आस्वाद में रति ही कारण होती है। जब हम रावण के मुख से ऐसे शब्द सुनते हैं कि—'उस सीता के नाम में एक जादू है जो ऐसा मालूम पड़ता है मानों आकर्षण का मोहनमन्त्र हो' इत्यादि वाक्यों को सुनने से चित्तवृत्ति रति इत्यादि भावों में ऐसी तन्मय हो जाती है कि विभाव (नायक और नायिका) का ध्यान ही नहीं रहता, जिससे औचित्य-अनौचित्य का निर्णय किया जा सके। उस समय विभाव अनुभाव इत्यादि का विचार सर्वथा लुप्त हो जाता है और रसास्वादन ही प्रत्यक्ष रह जाता है। बाद में जब विभाव इत्यादि पर विचार किया जाता है और यह ज्ञात होता है कि यह रति तो सीता के प्रति रावण की है तब उस शृङ्गार के प्रति हास्य का उदय होता है। शृङ्गार के प्रति हास्यचर्वणा ही

लोचन

इत्यत्रेर्ष्यारोषात्मनो मानस्य प्रशमः । न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्यतो यथा हर्षो जायते तथा । नापि लक्षणया । अपि तु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद्विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति । तदाह—प्रकाशत इति । तेन तत्र शब्दस्य ध्वननमेव व्यापारोऽर्थसहकृतस्येति । विभावाद्यर्थोऽपि न पुत्रजन्महर्षन्यायेन तां चित्तवृत्तिं जनयतीति जननातिरिक्तोऽर्थस्यापि व्यापारो ध्वननमेवोच्यते । स्वशब्देति । शृङ्गारादिना शब्देनाभिधाव्यापार-

यहाँ पर ईर्ष्यारोषात्मक मान का प्रशम हो गया है । यह रस इत्यादि अर्थ 'तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' इससे जैसा हर्ष होता है वैसा नहीं है । लक्षणा के द्वारा भी नहीं । अपितु सहृदय के हृदयसंवाद के बल पर विभाव और अनुभाव की प्रतीति में तन्मयता के आजाने से आस्वादगोचर होते हुये ही रस्यमानता को ही एकमात्र प्राण के रूप में रखनेवाला सिद्ध स्वभाव सुख इत्यादि से विलक्षण स्फुरित होता है । यही कहते हैं—प्रकाशित होता है । इससे वहाँ पर अर्थ सहकृत शब्द का ध्वनन ही व्यापार होता है । विभावादि अर्थ भी पुत्रजन्महर्ष न्याय से उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता है इसप्रकार अर्थ का भी जननातिरिक्त व्यापार ध्वनन ही कहा जाता है । **स्वशब्देति** । अर्थात् शृङ्गार इत्यादि शब्द से अभिधा व्यापार

तारावती

शृङ्गाराभास के नाम से पुकारी जाती है । जो व्यभिचारीभाव रसाभास का अङ्ग होता है उसे भावाभास कहते हैं । भावध्वनि में ही भावप्रशम का भी समावेश हो सकता था, किन्तु यहाँ पर पृथक् परिगणन किया गया है। इसका कारण यह है कि कभी-कभी जब चित्तवृत्ति आस्वादरूपता को धारण करने लगती है उस समय भाव नहीं भाव-प्रशम ही हृदय को आनन्द देने में कारण होता है । जैसे—

'नायक और नायिका ने एक दूसरे से मान किया है, दोनों एक ही चारपाई पर लेटे हैं, दोनो ने एक दूसरे की ओर से करवट बदल रक्खी है, लेटने के बाद के सारे कार्य बन्द है, दोनों के चित्तों मे सन्ताप है, हृदय मे एकदूसरे से अनुनय करने की इच्छा होते हुए भी अपने-अपने गौरव की रक्षा करते हैं इसी समय दोनो के अपाङ्ग इशारे मे घूमे और दोनो की आँखे मिल गईं, दोनों को हँसी आ गई, दोनों चटपट एक-दूसरे के गले में चिपट गये और उनका प्रणयरोष का कलह समाप्त हो गया ।'

यहाँ पर ईर्ष्या और रोष आस्वादन मे निमित्त नहीं है किन्तु उनका प्रशम ही निमित्त है । (इसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता के विषय में भी समझना चाहिये । यह है रसध्वनि के विस्तार का संक्षिप्त परिचय ।)

लोचन

वशादेव निवेदितत्वेन। विभावादीति। तात्पर्यशक्त्येत्यर्थः। तत्र स्वशब्दस्यान्वयव्यतिरेकौ रस्यमानतासारं रसं प्रति निराकुर्वन् ध्वननस्यैव ताविति दर्शयति—न च सर्वत्रेति।

वश ही निवेदित होने के कारण। विभावादि। अर्थात् तात्पर्य शक्ति से। वहाँ पर रस्यमानतासार (रस) के प्रति स्वशब्द के अन्वय-व्यतिरेक का निराकरण करते हुये ध्वनन के ही वे दोनों (अन्वय-व्यतिरेक) होते है यह दिखला रहे हैं—न च सर्वत्रेति।

तारावती

इस रसास्वादन से उत्पन्न होनेवाला आनन्द अभिधावृत्ति से संगृहीत नही हो सकता। अभिधावृत्ति के द्वारा भी आनन्द उत्पन्न हुआ करता है और वह इस प्रकार का हुआ करता है जैसा कि 'हे ब्राह्मण! तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ।' यह कहने से ब्राह्मण को होता है। रसास्वादन का आनन्द उससे विलक्षण होता है क्योकि उसमे अपने-पराये का भाव तिरोहित हो जाता है। बाध इत्यादि के न होने से लक्षणा भी नही हो सकती। किन्तु जिस समय हम काव्य में किसी अवलम्बन के प्रति उत्पन्न होनेवाले आश्रयगत किसी भाव का परिशीलन करते है और प्रकृतिवर्णन तथा आलम्बनगत चेष्टा इत्यादि की उद्दीपन के रूप मे और आश्रयगत चेष्टाओ की अनुभाव के रूप मे प्रतीति करते है उस समय मे वह आश्रयगत भाव अपने हृदय से मेल खाता हुआ सा मालूम पडता है। उस समय हमारा अन्तःकरण उस भाव से तन्मय हो जाता है। हमे भी उस समय उस भाव मे आनन्द की प्रतीति होने लगती है। इसी आनन्द का नाम रस है। आस्वादन करना ही इसका एक मात्र प्राण है। यह रस लौकिक सुखादि से इस अर्थ मे भिन्न होता है कि लौकिक सुख साध्य होते है किन्तु यह स्वयं सिद्ध स्वप्रकाशानन्दस्वरूप होता है। यह उत्पन्न नहीं होता किन्तु स्वयं स्फुरित होता है। इसीलिये मूल मे कहा गया है वह प्रकाशित होता है।

उपर्युक्त विधि से यह तृतीय रसध्वनि वाक्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होकर स्वयं प्रकाशित हुआ करती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि रसादि की प्रतीति मे अर्थ सहकार के साथ शब्द का ध्वननव्यापार ही हुआ करता है। विभाव इत्यादि वाच्यार्थ भी रसादिरूप चित्तवृत्ति को उस प्रकार उत्पन्न नही किया करते जिस प्रकार पुत्रजन्म के समाचार से आनन्दात्मक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। अतएव रसानुभूति मे अर्थ का भी ध्वननव्यापार ही होता है। रस की वाच्यता दो ही रूपो मे हो सकती है या तो रस, शृगार, रति इत्यादि शब्दो का प्रयोग करके या विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा तात्पर्यशक्ति से। यदि हम रस को शब्दवाच्य

लोचन

यथा भट्टेन्दुराजस्य—

यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निःस्थेमनी लोचने।
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्॥
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निविडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः।
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥

इत्यत्रानुभावविभावावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त्या तद्विभावानुभावोचित-चित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थो रसात्मा स्फुरत्येवाभिलाप-चिन्तौत्सुक्यनिद्राधृतिग्लान्यालस्यश्रमस्मृतिवितर्कादिशब्दाभावेऽपि। एवं व्यतिरेका-

जैसे भट्टेन्दुराज का—'बीच बीच मे रुक-रुक कर होनेवाले दृष्टिपातो मे जो कि नेत्र अस्थिरता को प्राप्त हो जाते है, काटी हुई कमलिनी की नाल के समान जो कि उसके सारे अङ्ग सूखते चले जा रहे है; दूर्वाकाण्ड को भी तिरस्कृत करनेवाली घनी पीलिमा जो कि उसके कपोलों पर व्याप्त है, यौवन को प्राप्त कृष्ण के प्रति यौवनवती वनिताओ की बस यही वेषस्थिति है।

यहाँ पर अनुभाव विभाव के बोधन के बाद ही तन्मय होने की युक्ति से उस विभाव और अनुभाव के योग्य चित्तवृत्ति की वासना से अनुरञ्जित अपनी संवेदना-मयी आनन्दचर्वणा का विषयभूत अर्थ ही रस की आत्मावाला स्फुरित होता है, यद्यपि यहाँ पर अभिलाष, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क इत्यादि किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इसप्रकार व्यतिरेक

तारावती

मानेगे तो रस इत्यादि शब्द और रसानुभूति मे अन्वय-व्यतिरेक मानना पडेगा। 'जहाँ रसास्वादन होता है वहाँ शृङ्गार इत्यादि शब्द अवश्य होते है' यह अन्वय है और 'जहाँ शृङ्गार इत्यादि शब्द नहीं होते वहाँ रसानुभूति भी नही होती' यह व्यतिरेक है। किन्तु ऐसा होता नहीं है।

[यदि कोई व्यक्ति रङ्गमञ्च पर आकर कह दे 'मै क्रोध मे भरा हूँ' 'मै रति से युक्त हूँ' 'मुझे लज्जा आ रही है' और क्रोध—रति-लज्जा—इत्यादि के अनुभावों का अभिनय करे तो सहृदयो को कथमपि रसास्वादन नहीं हो सकेगा। इसके प्रतिकूल होता यह है कि रस इत्यादि शब्दो के न होने पर भी केवल अनुभावों का ही वर्णन कर देने से रसास्वादन हो जाता है।]

जैसे भट्टेन्दुराज का निम्नलिखित उदाहरण—'कृष्ण का यौवन प्रारम्भ हो रहा है और उधर युवतियाँ भी भरे हुये यौवन से आप्यायित है। अतः कृष्ण को देखकर यौवनवती वनिताओ का रग-ढंग ही बदल जाता है। बीच बीच मे रुक-

लोचन

भावं प्रदर्श्यान्वयाभावं दर्शयति---यत्रापीति। तदिति स्वशब्दनिवेदितत्वम्। प्रतिपादनमुखेनेति। शब्दप्रयुक्तया विभावादिप्रतिपत्त्येत्यर्थः। सा केवलमिति। तथाहि—

यातें द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्दत्तझम्पानतां
कालिन्दीतटरूढवञ्जुललतामालिङ्ग्य सोत्कण्ठया।
तद्गीतं गुरुवाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया
येनान्तर्जलचारिभिर्जलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥

इत्यत्र विभावानुभावावम्लानतया प्रतीयेते। उत्कण्ठा च चर्वणागोचरं प्रतिपद्यत एव। सोत्कण्ठाशब्दः केवलं सिद्धं साधयति, उत्कमित्यनेन तूक्तानुभावानुकर्षणं कर्तु का अभाव दिखलाकर अन्वय का अभाव दिखला रहे हैं यत्रापीति। 'तत्' का अर्थ है स्वशब्दनिवेदितत्व। प्रतिपादनमुखेनेति। अर्थात् शब्द के द्वारा प्रयुक्त की हुई विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के द्वारा। सा केवलमिति। वह इसप्रकार— "जब मधुमथन भगवान् कृष्ण द्वारका चले गये तब यमुना तट पर उगी हुई और विहरणकाल मे भगवान् कृष्ण के द्वारा खींचे जाने के कारण झुकी हुई वंजुललता का आलिङ्गनकर उत्कण्ठा से भरी हुई राधा ने वाप्पप्रवाह के कारण गद्गद कण्ठ से तारस्वर मे ऐसा गाना गाया कि स्थलचारियों का तो कहना ही क्या जल के अन्दर निवास करनेवाले जीवों ने भी उत्सुकता-वश कूजना प्रारम्भ कर दिया।"

यहाँ पर विभाव और अनुभाव अम्लान रूप में प्रतीत हो रहे हैं, और उत्कण्ठा चर्वणागोचरता को प्राप्त होती ही है। 'सोत्कण्ठ' शब्द केवल सिद्ध को ही सिद्ध कर रहा है। 'उत्क' इस शब्द के द्वारा उक्त अनुभावों का आकर्पण करने के लिये

तारावती

रुक कर वे कृष्ण को देख लेती हैं जिससे उनके नेत्र अस्थिर हो जाते हैं। जैसे— काटी हुई कमलिनी सूखती जाती है वैसे ही उन वनिताओं के अङ्ग भी सूखते चले जा रहे है। उनके कपोलों पर कृशताजन्य पीलिमा भी फैल रही है जो कि सूखी हुई घास की पीलिमा को भी लज्जित करनेवाली है।'

यहाँ पर कृष्ण आलम्बन हैं, वनितायें आश्रय है, चञ्चल नेत्रों से रुक-रुक कर देखना इत्यादि अनुभाव है, कृष्ण का यौवन उद्दीपन विभाव है। इन विभाव और अनुभावो के बोध हो जाने के बाद चित्तवृत्ति मे जो तन्मयता आ जाती है और चित्तवृत्ति अनुभाव और विभाव के योग्य जिस वासना से अनुरञ्जित हो जाती है उसके द्वारा स्वप्रकाशनन्द चिन्मय रस का स्फुरण होने लगता है। यद्यपि यहाँ पर भी अभिलाप, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, धृति, ग्लानि, आलस्य, श्रम, स्मृति, वितर्क इत्यादि शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु इन सबकी प्रतीति विभाव और अनुभाव के बल पर ही हो जाती है।

लोचन

सोत्कण्ठा शब्दः प्रयुक्त इत्यनुवादोऽपि नानर्थकः, पुनरनुभावप्रतिपादने हि पुनरुक्तिर-तन्मयीभावो वा। न तु तत्कृतेत्यत्र हेतुमाह विषयान्तर इति। यद्विश्रम्य इत्यादौ। न हि यदभावेऽपि यद्भवति तत्कृतं तदितिभावः। अदर्शनमेव दृढयति—नहीति। केवलशब्दार्थं स्फुटयति—विभावादिति। काव्य इति। तव मते काव्यरूपतया प्रसज्यमान इत्यर्थः। मनागपीति।

ही सोत्कण्ठा शब्द का प्रयोग किया गया है। इसप्रकार अनुवाद भी निरर्थक नहीं है। 'पुनः अनुभाव के द्वारा प्रतिपादन करने में पुनरुक्ति अथवा अतन्मयीभाव उसके द्वारा नहीं होता' इस विषय मे हेतु बतला रहे है—'विषयान्तरे' इत्यादि। 'यद्विश्रम्य' इत्यादि स्थानो पर। जिसके अभाव में भी जो हो जाता है वह उसका बनाया हुआ नहीं कहा जा सकता। न देखे जाने को ही दृढ कर रहे है—'न हि' इत्यादि। केवल शब्द को स्पष्ट कर रहे है विभाव इत्यादि। काव्य इति। अर्थात् तुम्हारे मत मे काव्य के रूप में जो तत्त्व प्रसक्त होता है। 'मनागपीति'।

तारावती

इस प्रकार यहाँ पर व्यतिरेकव्याप्ति 'जहाँ शृङ्गार इत्यादि शब्द नही होते वहाँ रसानुभूति नहीं होती' मे दोष दिखला दिया गया कि उक्त पद्य मे शृङ्गार इत्यादि शब्दो के न होने पर भी रसानुभूति हो जाती है, अब अन्वयव्याप्ति का अभाव दिखलाया जा रहा है—काव्य मे कही कहीं रस, शृङ्गार इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। वहाँ पर भी उनकी प्रतीति विशेषरूप से विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा ही होती है, शब्दों का प्रयोग तो केवल उन भावो का अनुवाद करने के लिये ही होता है। जैसे—

'जब मधुमथन भगवान् कृष्ण द्वारका को चले गये तब यमुनातट पर उगी हुई और विहरणकाल मे भगवान् कृष्ण के द्वारा खींचे जाने के कारण झुकी हुई वञ्जुललता का आलिङ्गनकर उत्कण्ठा से भरी हुई राधा ने वाष्पप्रवाह के कारण गद्गद कण्ठ से तारस्वर में ऐसा गाना गाया कि स्थलचारियो का तो कहना ही क्या जल के अन्दर निवास करनेवाले जीवो ने भी उत्सुकतावश कूजना प्रारम्भ कर दिया।'

यहाँ पर कृष्ण आलम्बन हैं, राधा आश्रय है, विहरण काल मे झुकी हुई वञ्जुल लता उद्दीपन है, वाष्पप्रवाह, गद्गद कण्ठ, तारस्वर मे गायन अनुभाव है। इन विभाव और अनुभावो की प्रतीति मे किसी प्रकार की मलिनता नहीं है। इनके द्वारा रतिभाव की प्रतीति होती है। यहाँ पर औत्सुक्य सञ्चारीभाव का प्रत्यायन अनुभावो के द्वारा ही होता है। 'उत्कण्ठा से भरी हुई' यह विशेषण अनुभावों के

लोचन

शृङ्गारहास्यकरुणवीररौद्रभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

इत्यत्र । एवं स्वशब्देन सह रसादेर्व्यतिरेकान्वयाभावमुपपत्त्या प्रदर्श्य तथैवोपसंहरति—यतश्चेत्यादिना कथञ्चिदित्यन्तेन । अभिधेयमेव सामर्थ्यं सहकारिशक्तिरूपं

'शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स और अद्भुत संज्ञा-वाले ये आठ रस नाट्य मे माने गये है ।'

यहाँ पर । इसप्रकार स्वशब्द के साथ रस इत्यादि का व्यतिरेकभाव और अन्वयाभाव को उपपत्ति के द्वारा दिखलाकर उसी प्रकार उपसंहार दिखलाते है—'यतश्च' से लेकर 'कथञ्चित्' यहाँ तक। ('अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्व' शब्द के दो अर्थ हो सकते है—कर्मधारय के आधार पर और तत्पुरुष के आधार पर । एक के द्वारा शब्द आता है और दूसरे के द्वारा अर्थ) अभिधेय ही है सहकारिशक्तिरूप

तारावती

बलपर प्रकट की हुई उत्कण्ठा का अनुवादक मात्र है । यहाँ पर अनुवाद व्यर्थ नही कहा जा सकता क्योकि अनुभावो का प्रयोग तो उत्कण्ठा का आस्वादन कराने के लिये किया गया है और 'सोत्कण्ठ' तथा 'उक्त' शब्दो का प्रयोग राधा की उत्कण्ठा से जलचरो की उत्कण्ठा की सङ्गति भिड़ाने के लिये किया गया है । यदि अनुभावों का अनुवाद करने के लिये सोत्कण्ठ तथा उक्त शब्दो का प्रयोग न किया गया होता तो जलचरों के लिए पृथक् अनुभाव लिखने पडते जिससे एक तो पुनरुक्ति होती दूसरे तन्मयता उत्पन्न नही हो सकती थी । शब्द के द्वारा अनुवाद करने पर यह दोष उत्पन्न नहीं होता ।

जहाँ पर अनुभावो के द्वारा भी किसी भाव की अभिव्यक्ति हो और तद्वाचक शब्द का उपादान भी कर दिया गया हो, उस अभिव्यक्ति मे अनुभाव ही कारण होते है शब्दजन्य आनन्दानुभूति नहीं हो सकती । 'शब्द केवल अनुवादक होते है' इसमे यही प्रमाण है कि अन्य स्थानों पर भावजन्य आनन्दानुभूति तो होती है किन्तु वहाँ पर शब्द का उपादान नही होता । जैसे 'यद्विश्रम्य विलोकितेषु ' इत्यादि पिछले उदाहरण मे । इसके प्रतिकूल जहाँ पर विभाव इत्यादि के द्वारा प्रतिपादन न किया गया हो केवल शृङ्गार इत्यादि शब्दो का उपादान हो वहाँ पर रसवत्ता की बिल्कुल प्रतीति नही होती । जैसे 'शृङ्गार हास्य करुण.....' इत्यादि भरत मुनि की कारिका मे सभी रसो का नाम गिनाया गया है किन्तु रसानुभूति किसी को नही होती । जिसके अभाव मे कोई वस्तु उत्पन्न हो जावे तो वह उस वस्तु मे कारण नही माना जा सकता ।

लोचन

विभावादिकं रसध्वनने शब्दस्य कर्तव्ये अभिधेयस्य च पुत्रजन्महर्षभिन्नयोगक्षेमतया जननव्यतिरिक्ते दिवाभोजनाभावविशिष्टपीनत्वानुभूतरात्रिभोजनविलक्षणतया चानुमानव्यतिरिक्ते ध्वनने कर्तव्ये सामर्थ्यं शक्तिः विशिष्टसमुचितो वाचक साकल्यमिति द्वयोरपि शब्दार्थयोर्ध्वननं व्यापारः। एवं द्वौ पक्षावुपक्रम्याद्यो दूषितः द्वितीयस्तु कथञ्चिद्दूषितः कथञ्चिदङ्गीकृतः। जननानुमानव्यापाराभिप्रायेण दूषित., ध्वननाभिप्रायेणाङ्गीकृतः।

सामर्थ्य अर्थात् शब्द के रसध्वनन करने मे विभाव इत्यादि। अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ का सामर्थ्य अर्थात् पुत्रजन्मजन्य हर्ष से भिन्न स्वभाव होने के कारण जननव्यतिरिक्त और दिन मे भोजन न करने की विशेषता से युक्त पीनत्व के द्वारा अनुमान लगाये हुये रात्रिभोजन से विलक्षण होने के कारण अनुमान से व्यतिरिक्त, ध्वनन करने मे सामर्थ्य अर्थात् शक्ति अर्थात् विशेषताओ से युक्त वाचकसाकल्य। इस प्रकार शब्द और अर्थ इन दोनो का ही व्यापार ध्वनन होता है। इसप्रकार दो पक्षों का उपक्रम करके प्रथम का खण्डन कर दिया; द्वितीय किसीप्रकार दूषित कर दिया और किसीप्रकार अङ्गीकृत कर लिया। जनन और अनुमान के अभिप्राय से खण्डन कर दिया और ध्वनन के अभिप्राय से अङ्गीकृत करलिया।

तारावती

यहाँ पर अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध किया गया है कि रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग रसास्वादन मे निमित्त नहीं होता अपितु विभाव अनुभाव के द्वारा उनका आक्षेप ही रसास्वादन मे निमित्त होता है। अन्वय का अर्थ है सत्ता और व्यतिरेक का अर्थ है अभाव। जहाँ कही रस इत्यादि शब्दो का प्रयोग होता है वहीं रसास्वादन होता है यह अन्वय है और जहाँ कही रस इत्यादि शब्दो का प्रयोग नहीं होता वहाँ रसास्वादन भी नही हो सकता यह व्यतिरेक है। किन्तु ये दोनो बातें यहाँ पर ठीक नहीं घटतीं। ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि रसास्वादन रस इत्यादि शब्दों के प्रयोग होने पर भी नहीं होता और इन शब्दो के प्रयोग न होने पर भी हो जाता है। अतएव रसास्वादन मे रस इत्यादि शब्दों का प्रयोग कारण नहीं हो सकता। अब दूसरी बात लीजिये—जहाँ कहीं अनुभाव इत्यादि के द्वारा आक्षेप होता है वहीं रसास्वादन हो सकता है, जहाँ इस प्रकार का आक्षेप नहीं होता वहाँ रसास्वादन हो नहीं सकता ये दोनो बातें ठीक है। अतएव रस वाच्य नहीं स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त ही होते हैं।

स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार की हो सकती है—
(१) समानाधिकरण तत्पुरुष अर्थात् अभिधेय या वाच्यार्थ ही वह शक्ति है जिसके

लोचन

यस्त्वत्रापि तात्पर्यशक्तिमेव ध्वननं मन्यते, स न वस्तुतत्त्ववेदी। विभावानुभावप्रतिपादके हि वाक्ये तात्पर्यशक्तिर्भेदे संसर्गे वा पर्यवस्येत, न तु रस्यमानतासारे रसे इत्यलं बहुना। इतिशब्दो हेत्वर्थे। 'इत्यपि हेतोस्तृतीयोऽपि प्रकारो वाच्याद्भिन्न एवेति सम्बन्धः। सहेवेति। इवशब्देन विद्यमानोऽपि क्रमो न संलक्ष्यत इति दर्शयति अग्रे इति। द्वितीयोद्योते ॥ ४ ॥

जो यहाँ पर भी तात्पर्यशक्ति को ही ध्वनन मानता है वह वस्तुतत्त्व को नहीं समझता। विभाव और अनुभाव के प्रतिपादक वाक्य मे निस्सन्देह तात्पर्यशक्ति भेद में या संसर्ग मे पर्यवसित होगी, आस्वादन ही जिसका सार है इस प्रकार के रस मे पर्यवसित नहीं होगी। अधिक कहने की क्या आवश्यकता! इति शब्द हेतु के अर्थ मे आया है। यहाँ पर सम्बन्ध इस प्रकार का है—'इस हेतु से भी तृतीय भी प्रकार वाच्य से भिन्न ही होता है।' 'सहेवेति'। 'इव' शब्द से विद्यमान भी क्रम लक्षित नही हो रहा है यह बात दिखला रहे हैं—आगे चलकर। अर्थात् द्वितीय उद्योत मे।

तारावती

बल पर शब्द रस का आक्षेप करता है। आशय यह है कि शब्द की शक्ति होती है अभिधेय या वाच्यार्थ। रस के प्रसङ्ग में वाच्यार्थ होता है विभाव इत्यादि। इन विभावादिकों का आश्रय लेकर शब्दप्रयोग—रसाभिव्यञ्जन मे निमित्त होता है, इस प्रकार समानाधिकरणमूलक व्युत्पत्ति से रसाभिव्यञ्जन मे वाच्यार्थ की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। (२) वैयधिकरण तत्पुरुष—अभिधेय की सामर्थ्य—वाच्यार्थ की शक्ति है गुण और अलङ्कारों से युक्त तथा रस के अनुकूल वाचकसमुदाय। यह अभिधेय सामर्थ्य रस इत्यादि का ध्वनन किया करता है। इस व्युत्पत्ति से रसाभिव्यञ्जन में शब्दसहकारिता की व्याख्या हो जाती है। यह ध्वननव्यापार रस इत्यादि का जनक नहीं होता जैसा कि पुत्रजन्म का समाचार पिता के हृदय में हर्ष का जनक हुआ करता है; और न रस इत्यादि का अनुमान ही कराता है जैसा कि दिन मे भोजन न करने पर भी स्थूल होना रात्रिभोजन का अनुमान कराया करता है। अतएव ध्वननव्यापार शब्द और अर्थ दोनो का हो सकता है। यहाँ पर रस की वाच्यता के दो पक्ष उठाये गये थे—(१) रस शब्दों के द्वारा वाच्य हो सकता है, (२) रस विभाव इत्यादि के प्रतिपादन के द्वारा वाच्य हो सकता है। प्रथम पक्ष का खण्डन कर दिया और द्वितीय पक्ष का एक रूप मे खण्डन कर दिया और एक रूप मे स्वीकार कर लिया। विभाव अनुभाव इत्यादि रस के जनक या अनुमापक होते

ध्वन्यालोकः

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ५ ॥

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः तथा चादिकवेः वाल्मीकेः निहतसहचरविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः। शोको हि करुणस्थायिभावः। प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणप्राधान्यात्।

(अनु०) 'वही अर्थ काव्य की आत्मा है' इसमें यही प्रमाण है कि प्राचीन काल में क्रौञ्च के जोड़े के परस्पर वियोग से उत्पन्न हुआ आदिकवि का शोक ही श्लोक के रूप में परिणत हो गया ॥ ५ ॥

विविध वाच्यवाचकरचनाप्रपञ्च से सुन्दरता को प्राप्त काव्य का वही (प्रतीयमान) अर्थ सारभूत है उसमें यह प्रमाण है कि मारे हुए सहचर के वियोग से कातर क्रौञ्ची के आक्रन्द से उत्पन्न हुआ आदिकवि वाल्मीकि का शोक ही श्लोकरूप में परिणत हुआ। निस्सन्देह शोक करुणा का स्थायीभाव है। प्रतीयमान के अन्य भेदों को देखने पर भी रस, भाव के द्वारा ही उपलक्षण किया गया है क्योंकि प्रधानता उसी की है।

लोचन

एवं 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम्। अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति—काव्यस्यात्मेति। स एवेति। प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरितिमन्तव्यम्। इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा। वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मेति' सामान्येनोक्तः। शोक इति। क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसेनोत्थितो यः शोकः स्थायि-

इस प्रकार 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इतने से ध्वनिस्वरूप की व्याख्या कर दी। इस समय इतिहास के रूप में भी काव्यात्मत्व दिखला रहे हैं—काव्यस्यात्मेति। 'वही' इस शब्द के द्वारा समस्त प्रतीयमान के प्रक्रान्त होते हुये भी इतिहास के बल पर और प्रकरणागत वृत्तिग्रन्थ के अर्थ के बल पर तृतीय रसध्वनि ही समझी जानी चाहिये। इससे रस ही वास्तव में आत्मा है; वस्तु तथा अलङ्कारध्वनि तो रस के प्रति ही पर्यवसित होती है इसप्रकार वाच्य की अपेक्षा वे दोनों उत्कृष्ट होती हैं इस अभिप्राय में सामान्य रूप में कह दिया गया है कि ध्वनि काव्य की आत्मा है। शोक इति। क्रौञ्च के द्वन्द्ववियोग से अर्थात् सहचरीहनन से उत्पन्न साहचर्यध्वंस से उठा हुआ जो शोक स्थायीभाव (वह) निरपेक्ष भाव

तारावती

है इस अंश में खण्डन कर दिया और ध्वनन करते हैं इस रूप में स्वीकार कर लिया। [प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उद्भट ने रसास्वादन के ५ प्रकार माने थे—स्वशब्दवाच्यत्व, स्थायी, सञ्चारी, विभाव या अभिनय के द्वारा कथन। इस प्रकार यह स्वशब्दवाच्यता ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिकूल है। इसका उत्तर कुन्तक ने बडे ही मनोरञ्जक ढङ्ग से दिया है। उन्होंने लिखा है कि—हमने तो कभी रस की स्वशब्दवाच्यता सुनी नहीं। यह तो बड़ा अच्छा है घी इत्यादि शब्दो का नाम लिया और स्वाद आ गया और सुखार्थी लोग त्रैलोक्य राज्य, सुख, समृद्धि सम्पत्ति इत्यादि को केवल इन शब्दो का उच्चारण करते ही प्राप्त कर लेगे। उद्भट ने कुमारसम्भव के उदाहरणो से जो स्वशब्दवाच्यता दिखलाई है उसका भी उत्तर दे दिया गया कि ऐसे स्थानो पर भी रसानुभूति विभावानुभाव इत्यादि के द्वारा ही होती है। स्वशब्द अनुवादक मात्र ही हो सकते है।]

कुछ लोगो ने लिखा है कि 'अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्त' का अर्थ है तात्पर्यशक्ति। तात्पर्यशक्ति ही ध्वननव्यापार है।' यह व्याख्या करनेवाले वस्तुतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है। विभाव अनुभाव इत्यादि के प्रतिपादक वाक्य मे तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान या तो भेद मे हो जाता है या संसर्ग मे। (जैसे 'गाम् आनय' इस वाक्य मे तात्पर्यवृत्ति या तो अन्य क्रियाओ और कर्मो से भेद बतलाती है या आनयन क्रिया के प्रति गो का कर्मत्व बतलाती है।) यह वृत्ति रस को अनुभूतिगम्य नहीं बना सकती जिसका सार आस्वादन करना ही है। इतना पर्याप्त है अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता? मूल मे 'इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद्भिन्न एव' इस वाक्य मे 'इति' का अर्थ है हेतु। इसप्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—'उक्त कारणो से तृतीय भेद रसध्वनि भी वाच्य से भिन्न ही होती है। 'वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिः' इस वाक्य मे 'इव' शब्द का अर्थ है—'असंल्लक्ष्यक्रमव्यंग्य मे विद्यमान भी क्रम लक्षित नहो होता इस बात का विवेचन दूसरे उद्योत मे किया जावेगा ॥४॥

चौथी कारिका मे ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की गई। अब इतिहास के बहाने से भी यह सिद्ध किया जा रहा है कि वह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। यद्यपि यहाँ पर प्रकरण प्रतीयमानमात्र का है तथापि आदिकवि के शोकरूप इतिहास के दृष्टान्त से तथा वृत्तिकार आनन्दवर्धन की व्याख्या के आधार पर 'स एव' का अर्थ रसध्वनि ही ठहरता है। अतएव वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है यही अर्थ समझना चाहिये। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि वहीं पर काव्यरूपता को धारण करती है जहाँ पर व रसध्वनिपर्यवसायी होती है। वस्तुध्वनि और

लोचन

भावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवच्चित्तवृत्तिनिःष्यन्दस्वभाववाग्विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादितिनयेनाकृतकतयैवावेशवशात्समुचितशब्दछन्दोवृत्तादिनियन्त्रित-श्लोकरूपतां प्राप्तः ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ इति ।

के कारण विप्रलम्भशृङ्गारोचित रतिस्थायीभाव से भिन्न ही है । वही उस प्रकार के विभाव तथा उससे उठे हुये आक्रन्द इत्यादि अनुभाव की चर्वणा के द्वारा हृदय संवाद तथा तन्मय होने के क्रम से आस्वाद्यमानता को प्राप्त होकर लौकिक शोक से भिन्न करुण रसरूप को, जिसका कि सार अपने चित्त की द्रुति का समास्वादन ही है, प्राप्त होकर रस से भरे हुये घडे के छलकने के समान और चित्तवृत्ति के प्रवाह स्वभाववाले वाग्विलाप इत्यादि के समान सङ्केत की अपेक्षा न करते हुये चित्तवृत्ति के व्यञ्जक होने के कारण इस नीति से विना ही वनावट के अर्थात् विना ही बुद्धिपूर्वक विचार किये हुये आवेशवश (वह शोक) समुचित शब्द छन्द वृत्त इत्यादि से नियमित होकर श्लोकरूपता को प्राप्त हो गया ।

'हे निषाद ! शाश्वत वर्षों मे तुम प्रतिष्ठा को न प्राप्त हो जो कि क्रौञ्च मिथुन में काममोहित एक को तुमने मार डाला है ।'

तारावती

अलङ्कारध्वनि भी वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है अतः सामान्य रूप से ध्वनि को काव्य की आत्मा कह दिया गया है ।

[कारिका नं० ४ में 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव……' लिखकर वाच्यार्थव्यतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थ का परिचय दिया गया था· इसमे वस्तु, अलङ्कार तथा रस ये तीनो प्रकार की ध्वनियाँ आ जाती थीं । उसी व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनिकार ने प्रस्तुत कारिका मे काव्य की आत्मा वतलाया । केवल प्रमाण या उदाहरण के रूप में शोक की श्लोकत्वपरिणति का उल्लेख किया जिसका अर्थ रसध्वनिपरक हो सकता था । किन्तु कारिका और उसके प्रकरण से स्पष्ट प्रकट होता है कि ध्वनिकार तीनों प्रकार की ध्वनियो को काव्य की आत्मा मानते है । आनन्दवर्धन ने इस कारिका की व्याख्या उपलक्षणपरक की । उनका आशय यह है कि 'ध्वनिकार ने उदाहरण के रूप में जो शोक की श्लोकत्वपरिणति दिखलाई है उसका अर्थ यह नहीं है कि रस-

तारावती

ध्वनि ही काव्य की आत्मा होती है। रसध्वनि तो उपलक्षणमात्र है। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि भी रसध्वनि के समान ही काव्य की आत्मा हो सकती हैं।' इसके प्रतिकूल अभिनव गुप्त ने रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ध्वनिसमुदाय के दो वर्ग हैं—एक ओर तो वे लोग हैं जो ध्वनिमात्र को काव्य की आत्मा मानते हैं और दूसरे वे लोग है जो केवल रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्षपाती है। आनन्दवर्धन प्रथम वर्ग में हैं और अभिनवगुप्त द्वितीय वर्ग मे किन्तु दोनो मे अधिक भेद नहीं है। स्वयं आनन्दवर्धन ने अनेक स्थानों पर रसध्वनि की प्रधानता प्रतिपादित की है।

जब क्रौञ्ची के सहचर का वध करदिया गया और उनका परस्पर साहचर्य भङ्ग हो जाने के कारण उन्हे जो शोक हुआ उसे हम विप्रलम्भ के स्थायीभाव रति का सञ्चारीभाव शोक नही कह सकते। कारण यह हैं कि जबतक पुनः सम्मिलन की आशा रहती है तभीतक हम उसे रतिस्थायी मे सन्निविष्ट कर सकते है। सहचर की हत्या के बाद आलम्बन के विच्छिन्न हो जाने से वह शोक रति की सीमा के बाहर हो गया। अतः वह शोक स्थायीभाव था। कविवर वाल्मीकि जी के चित्त मे वासनारूप मे जो शोक विद्यमान था उसे रस की उपयुक्त सामग्री प्राप्त हो गई। मृत क्रौञ्च आलम्बन था और उसके वियोग से कातर क्रौञ्ची आश्रय थी। क्रौञ्चीका आक्रन्द इत्यादि अनुभाव था और विषाद इत्यादि सञ्चारीभाव थे। इनकी सहायता से अनुभावो के आस्वादन के द्वारा क्रौञ्च के शोक के साथ वाल्मीकि जी का शोक एकरूपता को प्राप्त हो गया और क्रमशः तन्मय हो गया। वह शोक लौकिक शोक से भिन्न था, उसका आस्वादन केवल चित्त की प्रवणशीलता के द्वारा ही किया जा सकता था। जिस प्रकार घडे के अधिक भर जाने से रस छलकने लगता है अथवा जिस प्रकार चित्त के भावनाविभोर हो जाने से विलाप प्रलाप इत्यादि होने लगते है क्योकि चित्तवृत्ति का स्वभाव ही उच्चलित होना होता है; प्रलाप करनेवाला विचारपूर्वक अपने दुःख को प्रकट करनेवाले शब्दो का प्रयोग नहीं करता और न उस प्रलाप का वाच्यार्थ ही किसी प्रकार का भाव होता है; किन्तु उस प्रलाप के द्वारा असङ्केतित होते हुये भी उस भावना की अभिव्यक्ति हो जाती है, उसी प्रकार शोक की भावना के अधिक भर जाने पर आवेश के कारण उचित शब्द और वृत्त से नियन्त्रित होकर कविवर वाल्मीकि की चित्तवृत्ति श्लोकरूप मे परिणत हो गई। इस रचना मे विचारपूर्वक शब्दो का प्रयोग नही किया गया था, भावनाविभोर होने के कारण उनका प्रस्फुटन स्वतः हो गया था। यद्यपि उस रचना मे कोई शब्द शोकवाचक नही था तथापि वह

लोचन

न तु मुनेः शोक इति मन्तव्यम्। एवं हि सति दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत्। न च दुःखसन्तप्तस्यैषा दशेति। एवं चर्वणोचितशोकस्थायिभावात्मककरुणरससमुच्चलनस्वभावत्वात्स एव काव्यस्यात्मा सारभूतस्वभावोऽपरशब्दवैलक्षण्यकारकः।

एतदेवोक्तं हृदयदर्पणे—'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्।' इति। अगम इतिच्छान्दसेनाडागमेन। स एवेत्येवकारेणेदमाह—नान्य आत्मेति। तेन यदाह भट्टनायकः—

शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्॥

इति तदपास्तम्। व्यापारो हि यदि ध्वननात्मा रसनास्वभावस्तन्नापूर्वमुक्तम्। अथाभिधैव व्यापारस्तथाप्यस्याः प्राधान्यतेत्यावेदितं प्राक्।

मुनिका शोक है यह नहीं समझना चाहिये। ऐसा होने पर उसके दुःख से वह भी दुःखी हुये इस हेतु को लेकर रस का आत्मा होना निरवकाश हो जावेगा। दुःखसंतप्त की यह दशा नहीं होती। इस प्रकार चर्वणा के योग्य शोकस्थायिभावात्मक करुण रस के उच्चलन का स्वभाव होने के कारण वही काव्य की आत्मा अर्थात् सारभूत स्वभाव सा है तथा (उसका यह स्वभाव ही) दूसरे शब्द (बोधों) से विलक्षणता करनेवाला है।

यही हृदयदर्पण मे कहा गया है—'जबतक यह इसके द्वारा पूर्ण नही होता तबतक उसका वमन नहीं करता।' 'अगमः' यह वैदिक 'अट्' के आगम के द्वारा बना है।' 'वही' इस 'ही' के द्वारा यह कहते है कि और आत्मा नहीं है।' इससे जोकि भट्टनायक ने कहा है।

शब्द की प्रधानता का आश्रय लेकर पृथक् शास्त्र को जानते हैं; अर्थतत्त्व से युक्त को तो आख्यान कहते है; इन दोनो के गौण हो जाने पर तथा, व्यापार की प्रधानता होने पर काव्यबुद्धि हो जाती है।

इसका निराकरण हो गया; यदि व्यापार ध्वननात्मक आस्वादन स्वभाववाला है तो कोई नई बात नहीं कही। यदि अभिधा ही व्यापार है तथापि इसकी प्रधानता नही होतो यह पहले ही बतला चुके।

तारावती

श्लोक शोक को अभिव्यक्त कर रहा था। श्लोक का अर्थ यह था—'हे निषाद! आनेवाले शाश्वत वर्षों मे तुम प्रतिष्ठा को मत प्राप्त हो, जो कि क्रौञ्च के जोडे मे काममोहित एक को तुमने मार डाला है'। यहाँ पर यह नहीं समझना चाहिये कि

तारावती

कविवर वाल्मीकि जी को शोक हुआ। यदि ऐसा समझा जावेगा तो यह बात जाती रहेगी कि रस ही काव्य की आत्मा है। शोकाभिभूत व्यक्ति की यह दशा नहीं होती अर्थात् वह न तो शाप ही देने लगता है और न श्लोक ही बनाने लगता है। आस्वाद के अनुकूल स्थायीभावात्मक शोक ही करुण रस होता है और उसका स्वभाव ही होता है उच्छलित होना। वह शोक ही काव्य की आत्मा होता है अर्थात् वह स्वभावतः काव्य का सारभूत तत्त्व होता है। उसका सारभूत तत्त्व होना भी उसे अन्य शब्दज्ञानों से पृथक् करनेवाला होता है। आशय यह है कि जब चित्त इस प्रकार की भावना से भर जाता है तब वह रुक नहीं सकता और कविता के रूप में प्रवाहित होने लगता है। इसीलिये हृदयदर्पणकार ने कहा है—'जब तक कोई व्यक्ति किसी भाव से पूर्ण रूप से भर नहीं जाता तब तक पद्य के रूप में वह उसे उद्गीर्ण नहीं कर सकता।' 'अगमः' में अट् का आगम छान्दस है।

[पाणिनि व्याकरण में 'न माङ्योगे' सूत्र से 'मा' के योग में अट् नहीं होता, किन्तु यहाँ पर अट् का आगम कर दिया गया है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार प्राचीन ऋषियों के अन्तः करण में वेदमन्त्रों का स्वतः आविर्भाव हो जाया करता था उसी प्रकार कविवर वाल्मीकि के अन्तःकरण में इस छन्द का स्वतः प्रकाश हो गया। इस प्रकार इस छन्द का महत्त्व वेदमन्त्र से कम नहीं है। वेदमन्त्र व्याकरण के शासन में पूर्णरूप से नहीं रहते, उनमें जैसी विधि देखी जाती है उसी को सिद्ध कर लिया जाता है। इसीप्रकार यहाँ पर भी व्याकरण के अनुशासन का अतिक्रमण करके अट् का आगम कर दिया गया है। यद्यपि यहाँ पर योगविभाग के द्वारा हे अम! अर्थात् लक्ष्मीरहित इस सम्बोधन को मानकर के भी काम चल सकता है तथापि यहाँ पर लोचनकार को यह पद्य वेदमन्त्र की कोटि में रखना है इसीलिये छान्दस अट् माना गया है।]

'स एव' में 'एव' का अर्थ है कि 'काव्य की और कोई आत्मा नहीं है।' इससे भट्टनायक के इस कथन का निराकरण हो गया—'जो शास्त्र शब्द की प्रधानता को लेकर प्रवृत्त होता है वह और ही प्रकार का शास्त्र (वैदिक शास्त्र) होता है। जो अर्थ तत्त्व से युक्त होता है उसे आख्यान कहते हैं और इन दोनों के गौण होने पर व्यापार की प्रधानता में काव्यसंज्ञा प्राप्त होती है। इस पर मेरा प्रश्न यह है कि कौन सा व्यापार प्रधान होता है? यदि आपका मन्तव्य आस्वादन-स्वभाववाले व्यञ्जनाव्यापार की प्रधानता से है तो आपने कोई नई बात नहीं कही यदि आपका अभिप्राय अभिधाव्यापार से है तो हम इसका खण्डन पहले ही कर चुके।

तारावती

[यहाँ पर दीधितिकार ने एक प्रश्न उठाया है कि शोक एक प्रकार की चित्त-वृत्ति होती है। उस चित्तवृत्ति का परिणाम शब्द और अर्थरूप काव्य कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये दीधितिकार ने लिखा है—यहाँ पर परिणाम सांख्यों का जैसा नहीं है। जिसप्रकार सांख्यशास्त्र सत्कार्यवाद को मानता है जिसका अर्थ यह है कि कारण सदा कार्य में सन्निहित रहा करता है और अवसर पर पृथक् सत्ता में आ जाता है। उनका कहना है कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार का परिणामवाद यहाँ पर अभीष्ट नहीं है किन्तु यहाँ पर ऐसे परिणाम से मन्तव्य है जैसा कि कहा जाता है 'वृक्ष पुष्प और फल के रूप में परिणत हो गया।' जिस प्रकार फल केवल कार्य होता है और जो जिसके तत्काल पूर्व होता है वह उसका कारण माना जाता है; इसी अर्थ में यहाँ पर शोक का परिणाम श्लोक माना गया है। इसी विचित्र परिणति के कारण तो स्वयं मुनि को आश्चर्य हुआ और उन्होंने अपना आश्चर्य अपने शिष्य भरद्वाज के सामने प्रकट किया। लोचन में जो यह लिखा है कि 'मुनि का शोक नहीं समझा जाना चाहिये' यह कथन ठीक नहीं है। स्वयं लोचनकार ने लिखा है कि क्रौञ्च शोक का आलम्बन-विभाव है। अतएव यह कहा ही नहीं जा सकता कि शोक क्रौञ्च के अन्दर था। प्रदीप में लिखा है कि 'आस्वादन सामाजिकों को होता है; अतएव सामाजिकों में ही रस की सत्ता स्वीकार की जानी चाहिये।' इससे सिद्ध होता है कि आलम्बन में रस की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। (कोई दूसरा सामाजिक वहाँ पर विद्यमान नहीं है।) अतएव और कोई चारा न होने के कारण मुनि में ही शोक की कल्पना करनी पड़ेगी। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि मुनि को दुःखित मानने पर उनका शोक दुःख से युक्त होगा और वह आस्वादनात्मक काव्य का रूप नहीं धारण कर सकेगा। इसका उत्तर यह है कि रस तो आनन्द चिन्मय है उसके आत्मा मानने में क्या बाधा हो सकती है? यद्यपि लौकिक शोक उद्वेजक होता है तथापि जब उसे अलौकिकभाव प्राप्त हो जाता है तब उसकी आनन्दरूपता सभी को माननी पड़ेगी। शोक तभी रस कहा जाता है जब उसमें आस्वाद प्रकट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। भट्टनायक की कारिकाओं को उद्धृत कर जो कि लोचनकार ने उसका खण्डन किया है कि 'यदि व्यापार ध्वननात्मक है तो उसमे कोई नवीनता नहीं आई और यदि अभिधात्मक है तो उसका खण्डन पहले ही किया जा चुका है' यह खण्डन भी ठीक नहीं। क्योंकि आस्वादनव्यापार को सभी लोग नहीं समझ सकते; उनके लिये उसके बतलाने में नवीनता विद्यमान है ही। किन्तु मैं प्राचीन लोगों के वचनों की अधिक पर्यालोचना करना उचित नहीं समझता।' यह है दीधितिकार के कथन का अनुवाद।

तारावती

ऊपर लोचन और दीधिति दोनों टीकाओ का आशय प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर विचारणीय प्रश्न यह है कि शोक किसका है? एक तो शोक क्रौञ्च का हो सकता है जो कि मारा गया है; दूसरा शोक क्रौञ्ची का हो सकता है जो कि अपने सहचर के विरह से कातर है और तीसरा शोक इस घटना का साक्षात् अवलोकन करनेवाले कविवर वाल्मीकि का हो सकता है। सहृदय सामाजिक के शोक का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि यहाँ पर रसास्वादन की प्रक्रिया पर विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ पर शोक के श्लोकरूप में परिणत होने की प्रक्रिया पर विचार हो रहा है। इस दृष्टि से हमारे सामने उपर्युक्त तीन शोक ही विद्यमान हैं। क्रौञ्च का शोक काव्यरूपता में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि क्रौञ्च आलम्बन है और आलम्बन का भाव रसरूपता को धारण ही नहीं कर सकता। अब रही क्रौञ्ची के शोक की बात। उसका भी शोक रसरूपता को धारण नहीं कर सकता। शोक एक क्रियाशून्य भाव है। शोक की पराकाष्ठा इसी मे है कि हाथ पैर ढीले पड जावें और चेतना शिथिल हो जावे। श्लोकरूप मे परिणति सक्रियता का परिणाम है जो शोक जैसे निष्क्रिय भाव मे सम्भव नही है। अब रही मुनि के शोक की बात। यदि मुनि को भी शोक मान लिया जावे तो उसमे भी वैसी ही निष्क्रियता आ जावेगी और शोक की श्लोकरूप मे परिणति असम्भव हो जावेगी। मुनि का शोक शुद्ध शोक नहीं है किन्तु उस शोक मे सहानुभूति का भी मिश्रण है। यही सहानुभूति का मिश्रण शोक मे रसनीयता उत्पन्न कर देता है। यही लोचनकार का आशय है। इसीलिये उन्होने लिखा है—'आस्वाद के उपयुक्त शोक ही करुण रस की आत्मा है क्योंकि उच्चलित होना उसका स्वभाव है'।

भट्टनायक ने शब्द और अर्थ को गौण मानकर व्यापार की प्रधानता मे काव्यसंज्ञा मानी थी। इसपर लोचनकार ने लिखा था कि यदि भट्टनायक का व्यापार की प्रधानता से अभिप्राय व्यञ्जनावृत्ति से है तो उसमे कोई नई बात नहीं और अभिधाव्यापार का खण्डन पहले ही किया जा चुका है। इसपर दीधितिकार ने लिखा था कि 'आस्वादन की प्रक्रिया सर्वजनसंवेद्य नहीं है अतः उसका बतलाना आवश्यक है।' किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि भट्टनायक व्यञ्जनाव्यापार को नहीं मानते। लोचनकार का यहाँपर आशय है कि यदि व्यञ्जनाव्यापार की प्रधानता मान ली जावे तो भट्टनायक हमारे ही मत के हो जाते हैं, वे कोई ऐसी नवीन बात नहीं कहते जिसको हम न मानते हों। दीधितिकार ने लोचन के उक्त अभिप्राय को न समझकर ही खण्डन किया है। शास्त्र का काम ही यह है कि जो बात लोक मे प्रायः अनुभूत और प्रयुक्त हो उसकी व्यवस्था और

लोचन

श्लोकं व्याचष्टे—विविधेति । विविधं तत्तदभिव्यञ्जनीयरसानुगुण्येन विचित्रं कृत्वा वाच्ये वाचके रचनायाञ्च प्रपञ्चेन यच्चारुशब्दार्थालङ्कारगुणयुक्तमित्यर्थः । तेन सर्वत्रापि ध्वननसद्भावेऽपि न तथा व्यवहारः । आत्मसद्भावेऽपि क्वचिदेव जीव-व्यवहार इत्युक्तं प्रागेव । तेनैतन्निरवकाशम्, यदुक्तं हृदयदर्पणे—'सर्वत्र तर्हि काव्य-व्यवहारः स्यादिति' । निहतसहचरीतिविभाव उक्तः । आक्रन्दितशब्देनानुभावः । जनित इति चर्वणागोचरत्वेनेति शेषः ।

श्लोक की व्याख्या कर रहे हैं—विविध इत्यादि । विविध अर्थात् विभिन्न प्रकार के व्यञ्जनीय रस की अनुकूलता के साथ विचित्रता को लिये हुये । वाच्य, वाचक और रचना में प्रपञ्च के द्वारा जो सुन्दर अर्थात् शब्द अर्थ गुण और अलङ्कार से युक्त । इससे सर्वत्र ध्वनन के होते हुये भी वैसा (काव्यत्व का) व्यवहार नहीं होता । आत्मा के होते हुये भी कहीं ही जीव का व्यवहार होता है यह पहले ही कहा जा चुका है । उससे यह बात निरवकाश हो गई जो कि हृदय-दर्पण में कहा गया है—'तो सर्वत्र का व्यवहार हो जावेगा ।' 'निहतसहचरी' इस शब्द से विभाव कहा गया है; आक्रन्दित शब्द से अनुभाव (कहा गया है ।) जनित शब्द के साथ 'चर्वणागोचर होने के रूप में इतना और जोड दिया जाना चाहिये ।

तारावती

प्रक्रिया को शास्त्रकार सम्भ्रान्त व्यक्तियों के सामने रख देते हैं । काव्य को सुनकर सभी व्यक्तियों को आनन्द आता है किन्तु उसकी प्रक्रिया सर्वजनसंवेद्य नहीं होती; उसी को समझा देना शास्त्रकार का काम है। अतः यदि वही भट्टनायक ने भी किया तो उसपर अभिनव गुप्त को आपत्ति ही क्या हो सकती थी ? हाँ प्रश्न यह अवश्य है कि जो प्रक्रिया भट्टनायक ने दिखलाई है वह ध्वनिसम्प्रदाय से भिन्न है अथवा नहीं । यदि भट्टनायक भी ध्वननव्यापार को मान लेते हैं तो उनके व्यापार में कोई नवीनता नहीं रह जाती। यही लोचनकार का आशय है ।]

मूल मे 'विविध वाच्य ·········परिणतः' इस भाग में कारिका की व्याख्या की गई है । विविध शब्द का अर्थ है विचित्र प्रकार के, और यह विचित्रता आती है रसप्रवणता के कारण, जो कि विचित्र तत्त्वों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है । रस को अभिव्यक्त करनेवाले तत्त्व होते है वाच्य वाचक और रचना । इन्हीं तीनों के प्रपञ्च से काव्य में चारुता आती है । वाच्यचारुता का अर्थ है अर्थालङ्कार: वाचकचारुता का अर्थ है शब्दालङ्कार और रचनाचारुता का अर्थ है गुण । जहाँ पर इन तीनों तत्त्वों की चारुता रसानुकूल होकर विद्यमान हो वहाँ पर काव्यसंज्ञा

लोचन

ननु शोकचर्वणातो यदि श्लोक उद्भूतस्तत्प्रतीयमानं वस्तु काव्यस्यात्मेति कुत इत्याशङ्क्याह—शोको हीति। करुणस्य तच्चर्वणागोचरात्मनः स्थायिभावः। शोके हि स्थायिभावे ये विभावानुभावास्तत्समुचिता चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रस इत्यौचित्यात्स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते। प्राक्स्वसंविदितं परत्रानुमितं च चित्तवृत्तिजातं संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधानं चर्वणायामुपयुज्यते यतः।

(प्रश्न) यदि शोकचर्वणा से श्लोक उद्भूत हुआ तो प्रतीयमान वस्तु काव्य की आत्मा है यह कैसे (सिद्ध होता है।)? इस शङ्का का उत्तर दे रहे हैं—शोको हीत्यादि। शोकचर्वणागोचरात्मक करुण का (शोक) निस्सन्देह स्थायीभाव है। निस्सन्देह शोक के स्थायीभाव होने पर जो विभाव अनुभाव इत्यादि हैं तत्समुचित चित्तवृत्ति चर्वणात्मक होकर रस (कहलाती है) इस प्रकार औचित्य के कारण स्थायीभाव की रसत्व की प्राप्ति कही जाती है। क्योंकि प्रथम स्वसंवेदनागोचर तदनन्तर दूसरे में अनुमान किया हुआ चित्तवृत्ति समूह संस्कार क्रम से हृदयसंवाद को प्राप्त होते हुये चर्वणा में उपयुक्त किया जाता है।

तारावती

अर्थवती होती है और उस काव्य का वही अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ और विशेष रूप से रसध्वनि) आत्मा का रूप धारण करता है। अतएव सर्वत्र ध्वननव्यापार के होते हुए भी काव्यत्व का व्यवहार सर्वत्र नहीं होता है जैसे सर्वत्र आत्मा की सत्ता होते हुए भी जीव-व्यवहार सर्वत्र नहीं होता। यह पहले ही बतलाया जा चुका है। अतएव हृदयदर्पण में जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने पर सर्वत्र काव्य का व्यवहार होने लगेगा' उसका स्वतः निराकरण हो गया। 'निहतसहचर' यह विभाव (आलम्बन) बतलाया गया है; आक्रन्दित शब्द से अनुभाव बतलाया गया है और जनित शब्द का अर्थ है चर्वणागोचर होने के साथ जो अनुभूति का विषय बनता है।

(प्रश्न) यदि शोकचर्वणा से श्लोक उत्पन्न हुआ तो आप यह कैसे कह सकते हैं कि प्रतीयमान वस्तु काव्य की आत्मा है? (उत्तर) इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये मूल में कहा गया है कि शोक करुण रस का स्थायीभाव है। करुण रस की आत्मा है शोकचर्वणा का प्रत्यक्षीकरण। इसीलिये करुण रस का स्थायीभाव शोक माना गया है। शोक के स्थायीभाव होने के कारण उसके जितने भी विभाव और अनुभाव होते है करुण के अनुकूल उन सबकी एक चित्तवृत्ति बन जाती है और उस चित्तवृत्ति का जब आस्वादन किया जाता है तब वही रसरूपता को धारण कर लेती है। स्थायीभाव का रसास्वादन मे यही उपयोग है

लोचन

ननु प्रतीयमानरूपमात्मा तत्र त्रिभेदं प्रतिपादितं न तु रसैकरूपम्, अनेन चेतिहासेन रसस्यैवात्मभूतत्वमुक्तं भवतीत्याशङ्क्याभ्युपगमेनैवोत्तरमाह—प्रतीयमानस्य चेति। अन्य भेदो वस्त्वलङ्कारात्मा। भावग्रहणेन व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्रविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्वं भवतीत्युक्तम्। यथा—

नखं नखाग्रेण विघट्टयन्ती विवर्तयन्ती वलयं विलोलम्।
आमन्द्रमाशिञ्जितनूपुरेण पादेन मन्दं भुवमालिखन्ती॥

इत्यत्र लज्जायाः। रसभावशब्देन च तदाभास तत्प्रशमावपि संगृहीतावेव, अवान्तरवैचित्र्येऽपि तदेकरूपत्वात्। प्राधान्यादिति। रसपर्यवसानादित्यर्थः। तावन्मात्रविश्रान्तावपि चान्यशाब्दवैलक्षण्यकारित्वेन वस्त्वलङ्कारध्वनेरपि जीवितत्वमौचित्यादुक्तमितिभावः॥ ५॥

आत्मा प्रतीयमान रूप है। उसमें तीन भेदों का प्रतिपादन किया गया है एक रूप रस ही नहीं और इस इतिहास से रस का ही आत्मभूतत्व कहा गया है। यह शङ्का करके स्वीकृति के साथ उत्तर दे रहे हैं—प्रतीयमानस्य च इत्यादि। अन्य भेद वस्तु तथा अलङ्कार रूप हैं। भावशब्द के प्रयोग से यह कहा गया है कि चर्वणागोचर व्यभिचारीभाव की भी प्राणरूपता होती है। यद्यपि उतने में ही चर्वणा की विश्रान्ति नहीं होती और स्थायिचर्वणा पर्यवसान के योग्य रस की प्रतिष्ठा उसे नहीं भी प्राप्त होती है। जैसे—

'नख से नखाग्र को घिसती हुई, चञ्चल वलय को इधर-उधर हटाती हुई, गम्भीर शिञ्जारव से परिपूर्ण नूपुरोंवाले पैर से धीरे-धीरे भूमि को कुरेदती हुई।'

यहाँ पर लज्जा का। रस और भाव शब्द से उनके आभास और उनके प्रशम संगृहीत ही हो गये हैं; क्योंकि अवान्तर वैचित्र्य होते हुये भी उनमें एकरूपता होती ही है। 'प्राधान्यात्' का अर्थ है रसपर्यवसान के कारण केवल उतने में विश्रान्ति न होने पर भी तथा दूसरे शाब्दबोध से वैलक्षण्य उत्पन्न करने के कारण औचित्य होने से वस्तु तथा अलङ्कारध्वनि का भी जीवितत्व बतला दिया है।

तारावती

इसीलिये कहा जाता है कि स्थायीभाव ही रसरूपता को प्राप्त होता है। हम लोक में प्रेम शोक क्रोध इत्यादि जिन भावों का अनुभव करते हैं वे हमारी चित्तवृत्ति में स्थायी रूप से अपना घर कर लेते हैं। जब हम विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव के रूप में दूसरे व्यक्तियों में उसे अनुमित (प्रतीतिगोचर) करते हैं तब संस्कारपरम्परा से वह भाव हमारे हृदय से मेल खा जाता है और इसप्रकार वह भाव हमें आस्वादन प्रदान करने में उपयुक्त हो जाता है।

तारावती

(प्रश्न) प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा है; उसके तीन भेद किये गये केवल रस ही नहीं। इस दृष्टान्त से रस को ही आत्मा बतलाया गया है; फिर प्रतीयमान अर्थमात्र को आत्मा क्यों कहा गया है ? (उत्तर) इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये आलोककार ने लिखा है कि 'यद्यपि प्रतीयमान के अन्य भेद देखे जाते हैं तथापि उनमें प्रमुख रस तथा भाव ही होते हैं; अतएव उपलक्षण के रूप में उन्हीं का उल्लेख किया गया है। अन्य भेद होते हैं वस्तु तथा अलङ्कारों की ध्वनियाँ। रस से पृथक् भावध्वनि कहने का आशय यह है कि कभी-कभी व्यभिचारीभाव की भी चर्वणा इस रूप में होती है कि यद्यपि केवल उसमें ही रसास्वादन की परिसमाप्ति नहीं होती और न उसे रस की प्रतिष्ठा ही प्राप्त हो पाती है जैसी कि स्थायीभाव की चर्वणा के पर्यवसान में उसे रसरूपता प्राप्त हो जाती है, तथापि उतने से ही वह व्यभिचारीभाव भी उस काव्य का प्राण बन जाता है। जैसे—

'वह नायिका नख को दूसरे नख के अग्रभाग से घिस रही थी, चञ्चल वलय को बार-बार इधर से उधर हटा रही थी और पैर के नाखून से पृथ्वी को कुरेद रही थी जिससे नूपुरों का शिञ्जाशब्द बड़ा ही मधुर तथा गम्भीर मालूम पड़ रहा था।'

यहाँ पर लज्जा भाव की ध्वनि काव्य का प्राण है। रस और भाव शब्द से रसाभास और भावभास का भी संग्रह हो गया। क्योंकि यद्यपि इनमें अवान्तर वैचित्र्य होता है तथापि एकरूपता तो होती ही है। 'रस और भाव प्रधान होते हैं' कहने का आशय यह है कि चर्वणा का पर्यवसान रस और भाव में ही होता है। इसीलिये ये प्रधान होते हैं। यद्यपि केवल वस्तु तथा अलङ्कार में काव्यरसास्वादन की विश्रान्ति नहीं होती तथापि दूसरे शब्दबोध की अपेक्षा इनमें भी कुछ विलक्षणता होती ही है। इसीलिये उचित होने के कारण इन्हे भी काव्य का प्राण कह दिया गया है।

[ध्वन्यालोक की अधिकतर प्राचीन पुस्तकों में 'निहतसहचरीविरहकातर ...' यह पाठ पाया जाता है और इसी के अनुसार लोचन में 'निहतसहचरीति विभाव उक्तः' तथा 'सहचरीहननोद्भूतेन' ये पाठ पाये जाते हैं। इन पाठों से यह प्रतीत होता है कि निषाद ने क्रौञ्ची का वध किया था। किन्तु वाल्मीकि रामायण देखने से अवगत होता है कि वध नर क्रौञ्च का हुआ था क्रौञ्ची का नही। वाल्मीकि रामायण में 'एकम् अवधीः' इस पुल्लिङ्ग का निर्देश किया गया है तथा श्लोक में क्रौञ्ची के रोने की बात कही गयी है (दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता) इसी प्रकार एक दूसरे श्लोक में स्पष्ट ही 'पुमान्' शब्द आया है (तस्मात्तु मिथुनादेकं पुमांस पाप-

तारावती

निश्चयः) इसी आधार पर दीधितिकार ने 'निहतसहचरविरहकातर' तथा क्रौञ्चाक्रन्द जनितः' ये पाठ कर दिये हैं । दिव्याञ्जन नामकी पादटिप्पणी मे लिखा है 'अनेक पुस्तकों मे 'निहतसहचरी' यही पाठ पाया जाता है और लोचन से भी सहचरी का ही मारा जाना सिद्ध है। अतः सर्वत्र लेखक का प्रमाद नहीं मान सकते यद्यपि अभिधा से क्रौञ्च का मारा जाना ही सिद्ध होता है किन्तु व्यञ्जना से एक अर्थ और निकलता है—राम और सीता के मिथुन मे रावणरूपी निषाद ने सीता का अपहरण किया जो कि मरण से भी अधिक पीड़ा देनेवाला था । इस कारण राम सीता के वियोग से कातर होकर जनस्थान में इधर-उधर विलाप करने लगे । इस अर्थ की व्यञ्जना होने के कारण क्रौञ्ची का मारा जाना ही उचित प्रतीत होता है । ध्वन्यालोक व्यञ्जनावृत्ति का निरूपण करने के लिये प्रवृत्त हुआ है । अतएव उसी व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर क्रौञ्ची का मारा जाना लिख दिया गया है ।'

ज्ञात होता है कि टीकाकार रामसीतापरक व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या करते आये होंगे और सर्वसाधारण मे यह धारणा बन गई होगी कि क्रौञ्चमिथुन मे एक को मारने का अभिप्राय सीता का अपहरण रूप कार्य है जिसके लिये कवि ने रावण के प्रति आक्रोश प्रकट किया है। इसी सामान्य धारणा के कारण किसी लेखक ने जान-बूझकर वृत्तिग्रन्थ को भी बदल दिया और लोचन में भी आवश्यक परिवर्तन कर दिया । उसी परम्परा का पालन दूसरे लेखकों ने भी किया । यहाँ पर यह भी ध्यान देने की बात है कि ध्वनिकार का मन्तव्य शोक की श्लोकरूपता मे परिणति का कथन करना ही है उसमे स्त्री या पुरुष किसी का भी मारा जाना समान महत्त्व रखता है । रामायण की कथा के आधार पर दीधितिकार का माना हुआ पाठ ही ठीक ठहरता है ।

दीधितिकार ने व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये 'मानिषाद.........'इस श्लोक का एक टीका के आधार पर एक नया अर्थ दिया है—'हे मानिषाद ! (लक्ष्मी के निवास भगवान् रामचन्द्र जी) तुमने निरन्तर वर्षों मे प्रतिष्ठा प्राप्त की । क्योंकि क्रुञ्चा (कुटिलगामिनी कैकसी राक्षसी) के पुत्र रावण और उसकी पत्नी मन्दोदरी में काममोहित रावण का वध किया ।' किन्तु इस आशय के मानने मे कई आपत्तियाँ हैं—एक तो अर्थ करने मे यह अभिधेयार्थ ही हो जाता है; इसकी व्यङ्ग्यता जाती रहती है । दूसरी बात यह है कि इस अर्थ में राम के उत्साह के प्रति वाल्मीकि जी की चित्तवृत्ति का विस्फारण तो प्रतीत होता है किन्तु रावणवध के कारण शोक की अभिव्यक्ति नहीं होती । तीसरी बात यह है कि यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत का उपमानोपमेयभाव स्थापित किया जावे तो राम को निषाद की

ध्वन्यालोकः

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥ ६ ॥

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ।

(अनु०) आस्वादपरिपूर्ण उसी अर्थवस्तु को प्रस्रवण करनेवाली महाकवियों की भगवती भारती देवी चारों ओर स्फुरित होनेवाली प्रतिभा की ऐसी विशेषता को अभिव्यक्त किया करती है जिसकी समानता लोक में कहीं नहीं मिलती ॥ ६ ॥

जिस रसध्वनि और भावध्वनि रूप वस्तुतत्त्व का पहले वर्णन किया जा चुका है उसी के प्रवाह को महाकवियो की भारती प्रकट किया करती है जिससे चतुर्दिक् स्फुरित होनेवाली कवियों की प्रतिभा प्रकट हो जाती है और उसकी समानता लोक में कहीं नहीं मिलती । यही कारण है कि इतने बडे संसार में जहाँ कवियों की परम्परा अत्यन्त विचित्रता के साथ निरन्तर चलती ही रहती है महाकवियो की श्रेणी मे दो तीन या पाच छह कवि ही आते हैं ।

तारावती

उपमा देनी पड़ेगी जो कि सर्वथा अनुचित है । यदि कामान्ध होने के कारण रावणवध का औचित्य सिद्ध किया जावे तो मिथुन का उल्लेख व्यर्थ हो जावेगा और यदि मिथुन का उल्लेख कामान्धता का साधक हो तो रामकर्तृकवध अनुचित हो जावेगा । अतएव यह अर्थ सर्वथा अमान्य है । रामायण से पुरुष-क्रौञ्च का मारना ही सिद्ध होता है । व्यङ्ग्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये क्रौञ्च का पुंस्त्व अविवक्षित माना जा सकता है । कवि का तात्पर्य केवल वियोग से ही है ।

आचार्य श्री विश्वेश्वर जी ने नई व्याख्या का सहारा लिया है—'निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः' की व्युत्पत्ति उन्होंने इस प्रकार की है—'निहतः सहचरीविरहकातरश्चासौ क्रौञ्चः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चः; तदुद्देश्यकः क्रौञ्चीकर्तृकोऽयम् आक्रन्दः तज्जनितः शोकः' यह समाधान तो अच्छा है किन्तु इससे पूरा निर्वाह नहीं हो पाता । उक्त व्याख्या से आलोक का तो समर्थन हो गया, लोचनकार ने 'निहतसहचरीति विभाव उक्तः' लिखा है । इसके लिये आचार्य जी ने 'निहतसहचरीत्यादिग्रन्थेन' यह कर दिया है । किन्तु इस ग्रन्थ से केवल विभाव ही नहीं बतलाया गया है अनुभाव का भी उल्लेख किया गया है दूसरी बात यह है कि 'सहचरीहननोद्भूत' मे आचार्य जी को पाठभेद का ही सहारा लेना पडा है । अतः मेरी समझ मे सर्वत्र पाठभेद स्वीकार कर लेना ही अच्छा है ।]

लोचन

तेन प्रकारद्वयमवधीर्य तृतीयं प्रकारमाशङ्कते–अनुक्तनिमित्तायामपीति ।

इससे दो प्रकारो की अवधीरणा करके तृतीय प्रकार की आशङ्का कर रहे हैं— 'अनुक्तनिमित्तायामपि' इत्यादि ।

तारावती

अर्थात् अभीष्ट को जहाँ छिपाया जाता है और जहाँ पर कुछ उपमा अन्तर्भूत होती है उसे अपह्नुति कहते है, प्रकृत अर्थ को छिपाने के कारण इसका यह नामकरण किया गया है । भामह ने ही अपह्नुति का यह उदाहरण दिया है—'यह मदसे मुखर भ्रमरपंक्ति वार-वार गुञ्जार नहीं कर रही है किन्तु कामदेव के खीचे जाते हुये धनुष की प्रत्यञ्चा सुनाई पड रही है ।' इस अपह्नुतिमे भी 'भ्रमरपंक्ति कामदेव के धनुप की प्रत्यञ्चा के समान है' यह उपमा व्यक्त होती है किन्तु सौन्दर्य उपमा मे नहीं अपह्नुति मे है । इस पूरे प्रकरण का आशय यही है कि जिस प्रकार दीपक और अपह्नुति मे उपमा की व्यञ्जना होते हुये भी कोई उन्हे उपमा के नाम से नही पुकारता क्योंकि सौन्दर्य का पर्यवसान उपमा मे नही दीपन और अपह्नव मे होता है । इसी प्रकार यद्यपि समासोक्ति और आक्षेप व्यङ्ग्यार्थ रहता है तथापि उसे कोई ध्वनि नही कह सकता क्योंकि वहाँ पर चारुत्वनिष्पत्तिरूप प्राधान्य वाच्य मे रहता है व्यङ्ग्य मे नही ।

यहाँ तक यह सिद्ध किया जा चुका कि ध्वनि का अन्तर्भाव आक्षेप और समासोक्ति मे नही हो सकता । अब अनुक्तनभित्ता विशेषोक्ति को लीजिये । भामह ने विशेपोक्ति का यह लक्षण किया है:—

'(कारणसमूह के) एक भाग के कम हो जाने पर जो किसी विशेषता को ख्यापित करने के लिये दूसरे गुणो की प्रशंसा की जाती है, उसे विशेपोक्ति कहते है।' दण्डी ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है:—

गुण-जाति-क्रियादीना यत्तु वैकल्यदर्शनम् ।
विशेपदर्शनायैव सा विशेपोक्तिरिष्यते ॥

'किसी विशेपता को प्रकट करने के लिये ही जो गुण जाति इत्यादि की न्यूनता दिखलाई जाती है उसे विशेपोक्ति कहते हैं ।' इसी आधार पर आचार्य दण्डी ने विशेपोक्ति के गुणवैकल्य, क्रियावैकल्य इत्यादि भेद किये है । सरस्वतीकण्ठाभरण मे भी यही परिभाषा स्वीकार की गई है और वामन ने भी–'एकगुणहानकल्पनाया साम्यदार्ढ्य विशेपोक्ति: ।' कहकर इसी लक्षण को पुष्ट किया है । किन्तु नवीन आचार्य इस लक्षण को नही मानते । काव्यप्रकाशकार ने लिखा है—

तारावती

'जहाँ कारणों की अखण्ड सत्ता विद्यमान हो उसे विशेपोक्ति कहते हैं।' इसी परिभापा का अनुसरण साहित्यदर्पण मे भी किया गया है और कुवलयानन्द मे अप्पय दीक्षित ने भी इसी परिभाषा को अपनाया है। इस प्रकार विशेपोक्ति की परिभापा के विपय मे प्राचीनों और नवीनो मे ऐकमत्य नही है। यद्यपि प्राचीनो की परिभापा विशेषोक्ति इस नामकरण से अधिक सङ्गत हो जाती है तथापि नवीन आचार्यो ने जिस मत को व्यवस्थित रूप दे दिया है वही मान्यता को प्राप्त हो सकता है।

नवीन आचार्यो ने विशेपोक्ति के तीन भेद किये है—अचिन्त्य-निमित्ता, उक्त-निमित्ता और अनुक्त-निमित्ता। पुष्कल कारणो के होने हुये भी फलोत्पत्ति क्यों नहीं होती, इस निमित्त की प्रतीति व्यञ्जना के आधार पर होती है। कहीं-कहीं निमित्त इतना गुप्त होता है कि हम उसकी कल्पना भी नही कर सकते, उसे अचिन्त्य-निमित्ता कहते है। वहॉ पर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती ही नही, अतः वह ध्वनि का विपय नहीं हो सकता। कहीं-कहीं पर निमित्त का कथन स्वयं कर दिया जाता है उसे उक्त-निमित्ता कहते है। वहॉ पर भी वाच्यवृत्ति मे ही निमित्त का कथन होने के कारण ध्वनि का अवसर नहीं होता। तीसरा प्रकार वह होता है जिसके निमित्त का उपादान अभिहित नही होता किन्तु उसकी प्रतीति की जा सकती है। वह प्रतीति व्यञ्जना के ही आधार पर हो सकती है, अतः उसी मे ध्वनि के अन्तर्भाव की शङ्का की जा सकती है। तीनों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। अचिन्त्य-निमित्ता विशेपोक्ति का उदाहरण:—

'कुसुमायुध अकेला होते हुये भी तीनो लोको को जीत लेता है। भगवान् शङ्कर ने उसके शरीर का अपहरण करते हुये भी बल का अपहरण नही किया।'

शङ्कर जी ने उसके बल का अपहरण क्यो नहीं किया इसका कारण समझ मे नही आता। अतः यह अचिन्त्य-निमित्ता विशेपोक्ति है। वहॉ पर व्यङ्ग्य की कोई सम्भावना नही। यह भामह का उदाहरण है। उक्त-निमित्ता विशेपोक्ति मे भी अर्थ की परिसमाप्ति वस्तुस्वभाव मे ही हो जाती है, उसमे अर्थान्तर व्यञ्जना की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अतएव वहॉ पर भी व्यङ्ग्य की सद्भावना की शङ्का नही हो सकती। जैसे—

'कपूर के समान जला हुआ भी जो कामदेव प्रत्येक व्यक्ति पर अपनी शक्ति से सफलता प्राप्त कर लेता है उस अपारबलवाले कामदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।' यहॉ पर कपूर के समान जलनारूप कारण उपस्थित है किन्तु शक्ति का ह्रास-रूप कार्य उत्पन्न नही हुआ है। इसमे कारण यह है कि वह अपारबलवाला है।

तारावती

है। वास्तविकता यह है कि इस उत्तर के देने मे आलोककार के सामने दोनों अभिप्राय थे। इसीलिये उद्भट की व्याख्या का उल्लेख न कर आलोककार ने सामान्य रूप मे ही कह दिया कि प्रकरणसामर्थ्य से व्यङ्ग्यार्थ की केवल प्रतीति होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि विशेषोक्ति में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

अब पर्यायोक्त को लीजिये—भामह ने पर्यायोक्त का लक्षण इस प्रकार दिया है:—

"(जब वाच्य अर्थ ही) वाच्य-वाचक वृत्तियो से भिन्न दूसरे ही व्यञ्जनात्मक प्रकार से अभिहित किया जावे तब उसे पर्यायोक्त कहते हैं।' (इसी लक्षण को उद्भट ने भी उद्धृत किया है और प्रतीहारेन्दुराज ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'वाचक की अर्थात् अभिधायक स्वशब्द की वृत्ति अर्थात् व्यापार होता है वाच्यार्थ का प्रत्यायन कराना। वाच्य अर्थात् अभिधेय का व्यापार होता है दूसरे वाच्य के साथ आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि के माहात्म्य से संसर्ग को प्राप्त होना। इस प्रकार के शब्द का जो वाच्य-वाचकव्यापार, उसके बिना भी प्रकारान्तर से अर्थात् अर्थसामर्थ्यात्मक अवगमन स्वभाव से जो अवगत होता है वह पर्याय से स्वकण्ठ से न कहा हुआ भी सान्तराल शब्दव्यापार से अवगत होने के कारण पर्यायोक्त वस्तु कही जाती है। इससे स्वसंश्लेष के द्वारा काव्यार्थ अलङ्कृत किया जाता है।)

पर्याय शब्द का अर्थ है समानार्थक शब्द, जब अभीष्ट अर्थ को उन्हीं शब्दों में न कहकर पर्यायवाचक शब्दो के द्वारा व्यक्त किया जाता है तब उसे पर्यायोक्त कहते है। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ये पर्यायवाचक शब्द घट के स्थान पर कलश कह देने के समान नही होते। यदि इसीप्रकार की पर्यायता यहाँ पर अभीष्ट होती तो विच्छित्तिवैचित्र्य ही क्या रह जाता। अतएव यहाँ पर वृत्तियों का पर्याय होता है। जो बात अभिधावृत्ति से कही जाती है यदि वही बात चमत्कारसम्पादन के उद्देश्य से व्यञ्जनावृत्ति मे कही जावे तब उसे पर्यायोक्त अलङ्कार कहते हैं। आचार्य दण्डी ने इसका लक्षण अधिक स्पष्ट रूप मे दिया है:—

अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते॥

अर्थात् 'जब कथन के लिये अभीष्ट किसी अर्थ को साक्षात् शब्दों द्वारा न कह कर उसी की सिद्धि के लिये दूसरे प्रकार से कहा जाता है उसे पर्यायोक्त कहते है।'

तारावती

साहित्यदर्पणकार ने लिखा है—'जब गम्य अर्थ को ही कुछ बाँकेपन के साथ कहा जावे तब उसे पर्यायोक्त कहते है।' काव्यप्रकाशकार ने यद्यपि कारिका मे तो व्यङ्ग्यार्थप्रतीति का उल्लेख नही किया है तथापि उसकी व्याख्या करते हुये लिखा है—'वाच्य-वाचकभाव से व्यतिरिक्त अवगमन (व्यञ्जना)-व्यापार के द्वारा जो कि प्रतिपादन किया जाता है उसे ही बाँकेपन के साथ प्रकारान्तर से कहने के कारण पर्यायोक्त कहते हैं।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि पर्यायोक्त एक ऐसा अलङ्कार है जिसमे ध्वनि के अन्तर्भाव का सबसे अधिक अवसर है। व्यञ्जना का यही अर्थ है कि अभीष्ट बात को सीधे न कहकर उसको इस सौन्दर्य के साथ घुमा-फिराकर कहा जावे कि सहृदय लोगो को उसकी अभिव्यक्ति हो जावे। पर्यायोक्त भी यही वस्तु है। अब प्रश्न यह है कि जब पुराने आचार्य पर्यायोक्त का वर्णन करते ही चले आ रहे है तब क्यो न ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त में ही कर दिया जावे, नया नामकरण करने की क्या आवश्यकता? आनन्दवर्धन ने इसका उत्तर यह दिया है कि यदि व्यङ्ग्यार्थ मे ही चमत्कार का पर्यवसान होता है और व्यङ्ग्यार्थ ही मुख्य है तो हम उसको ध्वनि कहने के लिये बाध्य हैं और हमें पर्यायोक्त का ध्वनि मे अन्तर्भाव करना होगा। क्योंकि ध्वनि केवल पर्यायोक्त में आनेवाले व्यङ्ग्यार्थ तक ही तो सीमित नहीं, उसका क्षेत्र तो बहुत ही व्यापक है। यदि व्यङ्ग्यार्थ गौण है और चमत्कार वाच्यार्थ मे है तो उसमे ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

रुय्यक ने भी पर्यायोक्त का यह लक्षण किया है—'गम्य का भी दूसरी भंगिमा से अभिधान पर्यायोक्त कहलाता है। जो कुछ गम्य होता है उसी के अभिधान मे पर्यायोक्त कहा जाता है।' इस पर प्रश्न उठाया है कि 'जो गम्य है उसका अभिधान कैसे हो सकता है?' और इसका उत्तर दिया है कि 'गम्य की अपेक्षा प्रतीयमान की सत्ता दूसरे ही रूप मे होती है। उसी का, उसी समय, उसी विच्छित्ति के द्वारा वाच्यत्व और गम्यत्व सम्भव नहीं होता है। अतः अभिधान कार्यमुख से होता है। (कारण के प्रकरण में कार्य का वर्णन होता है और कारण प्रतीयमान होता है।) प्रस्तुत तो वहाँ पर कार्य भी होता ही है अतः वह भी वर्णनीय होता है।'

पर्यायोक्त का उदाहरण यह है:—

'शत्रुओं के विनाश की जिनकी दृढ इच्छा थी, जो उचित मार्ग का अतिक्रमण-कर चलनेवाले थे उन मुनि परशुराम को मेरे इस धनुष ने धर्म का उपदेश दे दिया।' (एक तो मुनि का शत्रु—भाव रखना ही अनुचित, फिर विनाश की इच्छा और उस पर दृढता के साथ जमना तो और भी अनुचित है। ऐसे अधार्मिक को

लोचन

अत्र भीष्मस्य भार्गवप्रभावाभिभावी प्रभाव इति यद्यपि प्रतीयते, तथापि तत्सहायेन देशिता धर्मदेशनेत्यभिधीयमानेनैव काव्यार्थोऽलङ्कृतः। अतएव पर्यायेण प्रकारान्तरेणावगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद्यदभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत्पर्यायोक्तमित्यभिधीयत इति लक्षणपदम्, पर्यायोक्तमिति लक्ष्यपदम्। अर्थालङ्कारत्वं सामान्यलक्षणं चेति सर्वं युज्यते।

यहाँ पर यद्यपि भीष्म का प्रभाव परशुराम के प्रभाव को अभिभूत करनेवाला है यह प्रतीत होता है तथापि उसकी सहायता से 'देशिता धर्मदेशना' (धर्मोपदेश दे दिया) इस अभिधीयमान के द्वारा ही काव्यार्थ अलंकृत किया जाता है। अतएव पर्याय से अर्थात् व्यञ्जनात्मक दूसरे प्रकार से उपलक्षित होकर जो अभिधावृत्तिगम्य होता है वह अभिधीयमान उक्त होकर ही पर्यायोक्त कहा जाता है, यह लक्षण पद है, पर्यायोक्त यह लक्ष्य पद है, अर्थालङ्कारत्व और सामान्य लक्षण यह सभी कुछ उचित ही ठहरता है।

तारावती

भी जिसने धर्म पर चलने के लिये बाध्य कर दिया उसके महत्त्व के विषय मे जो कहा जावे वही थोडा है।)

यद्यपि यहाँ पर यह अभिव्यक्त होता है कि भीष्म का प्रभाव परशुराम के प्रभाव का अतिक्रमण करनेवाला है तथापि काव्यार्थ (वीररस) की शोभा 'धर्म सिखा दिया' इस वाच्यार्थ से ही बढ़ती है, व्यङ्ग्यार्थ केवल उसका सहायक हो जाता है। इसीलिये (भामह का कहा हुआ) लक्षण, लक्ष्य, अलङ्कारता और सामान्य लक्षण सभी कुछ समीचीन सिद्ध होता है। पर्याय का अर्थ है प्रकारान्तर और वह प्रकार अवगमन या व्यञ्जनाव्यापार ही हो सकता है। उस व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा अगवत होकर जो बात कही जाती है उस कही हुई बात को ही उक्त कहते है और वही उक्त पर्यायोक्त कहलाता है। यह है लक्षण का वाक्य। आशय यह है कि जब लक्षण मे ही कह दिया गया कि 'अभिधीयते' जो प्रकारान्तर से कहा जावे उसे पर्यायोक्त कहते है, तब व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता मे पर्यायोक्त हो ही नही सकता।) 'पर्यायोक्त' यह लक्ष्य वाक्य है, (इसमे भी उक्त शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका आशय है चमत्कारपूर्ण वाच्यार्थ को ही पर्यायोक्त कहते है।) पर्यायोक्त एक अलङ्कार है और अलङ्कार का सामान्य लक्षण है जो दूसरे को शोभित करे। यदि व्यङ्ग्य की प्रधानता मानी जावेगी तो वह अलङ्कार्य हो जावेगा और उसकी अलङ्कारता तथा सामान्य लक्षण ठीक नही घट सकेगा। अतएव यही माना-जाना चाहिये कि पर्यायोक्त मे व्यङ्ग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ ही शोभा-

लोचन

यदि त्वभिधीयत इत्यस्य बलाद्व्याख्यानमभिधीयते प्रतीयते प्रधानतयेति, उदाहरणं च 'भम धम्मिअ' इत्यादि, तदालङ्कारत्वमेव दूरे सम्पन्नमात्मतायां पर्यवसानात्। तदा चालङ्कारमध्ये गणना न कार्या। भेदान्तराणि चास्य वक्तव्यानि। तदाह—यदि प्राधान्येनेति। ध्वनाविति। आत्मन्यन्तर्भावादात्मैवासौ नालङ्कारः स्यादित्यर्थः।

और यदि 'अभिधीयते' इसके बल पर यह व्याख्यान हो 'अभिधीयते' अर्थात् प्रधानतया प्रतीतिगोचर होता है तथा उदाहरण 'भम धम्मिअ' इत्यादि (दिया जावे) तो अलङ्कारत्व ही दूर हो जायगा क्योंकि उसका पर्यवसान तो आत्मरूपता में हो गया। तब अलङ्कारों के मध्य मे गणना नही करनी चाहिये और इसके दूसरे भेदों को भी कहा जाना चाहिये। यह कह रहे हैं—'यदि प्रधानतया' इत्यादि। 'ध्वनि में' इत्यादि। अर्थात् आत्मा मे अन्तर्भाव होने के कारण यह आत्मा ही होगी अलङ्कार नही।

तारावती

धायक होता है और उसमे ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

(अलङ्कार सर्वस्व मे पर्यायोक्त का यह उदाहरण दिया गया है—

स्पृष्टास्ताः नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः॥

यहाँ पर हयग्रीव के स्वर्गविजय का वर्णन करना है। किन्तु उसे उस रूप मे न कहकर उसके कार्य का कथन कर दिया गया है। मम्मट का उदाहरण इस प्रकार है:—

यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
भेदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः॥

यहाँ पर 'ऐरावत और शक्र मद-मान से रहित हो गये' यह व्यङ्ग्य भी स्वशब्द से कहा जा रहा है। यहाँ पर जो कहा गया है वही व्यङ्ग्य है। किन्तु अन्तर यह है कि जिस प्रकार व्यङ्ग्य है उस प्रकार नही कहा जा रहा है। जैसे निर्विकल्पक और सविकल्पक का ज्ञान एक जैसा ही होता है। गोत्व शुक्लत्व और गमन क्रिया का ज्ञान होता है। किन्तु सविकल्पक ज्ञान मे बौद्ध-दर्शन के अनुसार भेद अथवा अतद्व्यावृत्ति और व्याकरण-दर्शन के अनुसार संसर्ग अथवा नाम-जात्यादिरूप विशेषण विद्यमान रहता है जो निर्विकल्पक में नहीं होता। इस प्रकार वहाँ ज्ञान के प्रकारों में भेद होता है। इसीप्रकार पर्यायोक्त में भी प्रकारगत भेद ही होता है वस्तुगत नहीं।)

लोचन

तत्रेति। यादृशोऽलङ्कारत्वेन विवक्षितस्तादृशे ध्वनिर्नान्तर्भवति, न तादृगस्माभिर्ध्वनिरुक्तः। ध्वनिर्हि महाविषयः सर्वत्र भावाद्व्यापकः समस्तप्रतिष्ठास्थानत्वाचाङ्गी। न चालङ्कारो व्यापकोऽन्यालङ्कारवत्। न चाङ्गी, अलङ्कार्यतन्त्रत्वात्। अथ व्यापकाङ्गित्वे तस्योपगम्येते त्यज्यते चालङ्कारता, तर्ह्यस्मन्नय एवायमवलम्ब्यते केवलं मात्सर्यग्रहात् पर्यायोक्तवाचेतिभावः। न चेयदपि प्राक्तनैर्दृष्टमपि त्वस्माभिरेवोन्मीलितमिति दर्शयति—

तत्र इति। जिस प्रकार का अलङ्काररूप में विवक्षित है उस प्रकार (के तत्त्व) में ध्वनि अन्तर्भूत नहीं होती (क्योंकि) हम लोगों ने वैसी ध्वनि नहीं कही है। ध्वनि महाविषयवाली होती है, सर्वत्र सत्ता के कारण व्यापक होती है तथा समस्त प्रतिष्ठा का स्थान होने के कारण अङ्गी होती है। (कोई एक विशेष) अलङ्कार व्यापक नहीं होता—अन्य अलङ्कारो के समान। अंगी भी नही होता—अलङ्कार्य के आधीन होने के कारण। यदि व्यापकता तथा अङ्गिता ही उसकी स्वीकार की जाती है और अलङ्कारता को छोड दिया जाता है तो मेरी ही नीति स्वीकार कर ली जाती है, केवल मात्सर्यग्रहण से पर्यायोक्त की वाणी के द्वारा (स्वीकार किया गया है।) यह आशय है। केवल इतना भी नही, पुराने लोगों ने नही देख पाया किन्तु हमने ही उन्मीलित किया है, यह दिखला रहे हैं—

तारावती

यदि दुराग्रह करके 'अभिधीयते' का यही अर्थ किया जावे कि 'प्रधानता से प्रतीत होता है' और प्रधानता से प्रतीत होनेवाले अर्थ को पर्यायोक्त कहा जावे तथा ध्वनि के उदाहरण 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि को इसके उदाहरण के रूप मे रक्खा जावे तो वह अर्थ स्वमात्रपर्यवसित हो जावेगा, उसकी अलंकारता ही दूर जा पडेगी। (क्योंकि जो अलंकृत की जानेवाली वस्तु है वह अलंकार्य कैसे हो सकती है?) तब ध्वनि के अनुकूल इसके दूसरे भेदो का कथन भी करना पड़ेगा। इसीलिये आलोककार ने कहा है कि यदि व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होगा तो ध्वनि में पर्यायोक्त का अन्तर्भाव करना पडेगा। ध्वनि मे अन्तर्भाव का आशय यह है कि ध्वनिरूप आत्मा मे जब उसका अन्तर्भाव हो जावेगा तब वह आत्मा ही बन जावेगा अलंकार नहीं हो सकेगा।

'ध्वनि का पर्यायोक्त मे अन्तर्भाव नही हो सकता' इस कथन का आशय यह है कि जिस प्रकार के गौणव्यङ्ग्यार्थ को आप अलंकाररूप मे स्वीकार करते है उस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ मे ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता। कारण यह है कि ध्वनि का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है और गुण रीति इत्यादि काव्य के जितने भी तत्त्व हैं उन सबका वह प्रतिष्ठाभाजन भी है। अतएव ध्वनि को हम प्रधान कहेंगे

लोचन

न पुनरिति। भामहस्य यादृक्तदीयं रूपमभिमतं तादृगुदाहरणेन दर्शितम्। तत्रापि नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं चारुत्वाहेतुत्वात्। तेन तदनुसारितया तत्सदृशं यदुदाहरणान्तरमपि कल्प्यते तत्र नैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमिति सङ्गतिः।

न पुनः इत्यादि। भामह को जैसा उसका रूप अभिमत है वैसा उदाहरण के द्वारा दिखला दिया गया। उसमें भी व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं होती क्योंकि वह चारुत्व में हेतु नही होता। उससे इसके अनुसरण करने से उसके समान जो दूसरे उदाहरण की भी कल्पना की जावे उसमें भी व्यङ्ग्य की प्रधानता ही (सिद्ध होती है) इस प्रकार असङ्गति नहीं है।

तारावती

ये गुण अलंकार में होते नहीं। अलङ्कार व्यापक नहीं हो सकते, जैसे कटक कुण्डल इत्यादि नही होते। (यहाँ पर अनुमान प्रमाण के वल पर अलङ्कारों की व्यापकता का अभाव सिद्ध किया गया है। अलङ्कार पक्ष है, व्यापक न होना साध्य है, अलङ्कारत्व हेतु है और कटक कुण्डल इत्यादि उदाहरण है। आशय यह है कि जिस प्रकार आत्मा तो व्यापक होती है किन्तु आभूपण व्यापक नही हो सकते उसी प्रकार ध्वनि व्यापक हो सकती है अलङ्कार नही।) इसीप्रकार पर्यायोक्त अलङ्कार अङ्गी (प्रधान) भी नही हो सकता क्योंकि वह अलङ्कार्य के आधीन होता है (अर्थात् उसकी अलङ्कारता ही तब सिद्ध होती है जब वह किसी को अलङ्कृत करता है। जिसे अलंकृत करता है वही अङ्गी होता है, अलङ्कार अङ्ग ही हो सकता है। यदि आप पर्यायोक्त में प्रतीयमान अर्थ की व्यापकता और अलङ्कार्यता स्वीकार करने का आग्रह करते है तब तो नामका ही झगडा रह जाता है। तब तो फिर आप ध्वनि नाम को स्वीकार ही कर लेते हैं। केवल द्वेपवश आप ध्वनि नाम को स्वीकार नहीं करते, हमारे माने हुये तत्त्व का ही नाम पर्यायोक्त रख देते हैं। अव यह दिखलाया जा रहा है कि प्राचीनो ने इस बात को भी नहीं समझ पाया। केवल हमने ही इसका उन्मीलन किया है। भामह के उदाहरण जैसे पर्यायोक्त मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती ही नहीं। आशय यह है कि भामह को पर्यायोक्त का जैसा स्वरूप अभीष्ट था उन्होंने वैसा ही उदाहरण के द्वारा दिखलाया। वहाँ पर भी (अर्थात् उस उदाहरण मे भी) व्यङ्ग्य की प्रधानता नहीं है क्योंकि वहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ चारुता मे हेतु नहीं है। अतएव उनके अनुकरण पर यदि दूसरे उदाहरणों की भी कल्पना की जावेगी तो उसमे भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता नहीं रखनी पड़ेगी। अर्थात् अलङ्कार के क्षेत्र में जब भामह को महत्ता दी जाती है और भामह के बतलाये हुये मार्ग पर अलङ्कारों का विवेचन किया जाता है तो उन्हीं के बतलाये हुये मार्ग पर दूसरे उदाहरणों की

लोचन

यदि तु तदुक्तमुदाहरणमनादृत्य 'भम धम्मिअ' इत्याद्युदाह्रियते तदस्मच्छिष्यतैव। केवलं तु नयमनवलम्ब्यापश्रवणेनात्मसंस्कार इत्यनार्यचेष्टितम्। यदाहुरैतिहासिकाः—'अवज्ञयाऽप्यवच्छाद्य शृण्वन्नरकमृच्छति।' इति। भामहेन ह्युदाहृतम्—

'गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
विप्रा न भुञ्जते' इति

एतद्धि भगवद्वासुदेववचनं पर्यायेण रसदानं निषेधति। यत्स एवाह—'तच्च रसदाननिवृत्तये' इति। न चास्य रसदाननिषेधस्य व्यङ्ग्यस्य किञ्चिच्चारुत्वमस्ति येन प्राधान्यं शङ्क्येत। अपितु तद्व्यङ्ग्योपोद्बलितं विप्रभोजनेन विना यत्र भोजनं तदेवोक्तप्रकारेण पर्यायोक्तं सत् प्राकरणिकं भोजनार्थमलङ्कुरुते। नह्यस्य निर्विषं भोजनं भवत्विति विवक्षितमिति पर्यायोक्तमलङ्कार एवेति चिरन्तनानामभिमत इति तात्पर्यम्।

यदि उनके बतलाये हुए उदाहरण का अनादर करके 'भम धम्मिअ' इत्यादि का उदाहरण दिया जाता है तो हमारी शिष्यता ही हो गई। केवल (शिष्य की) नीति का अवलम्बन कर अपश्रवण से आत्मसस्कार कर लिया यह अनार्यचेष्टा ही है। जैसा कि ऐतिहासिकों ने कहा है। (विद्या तथा गुरु के विषय मे) ऐतिहासिको ने जैसा कि कहा है—'अवज्ञा के द्वारा भी अपने को छिपाकर सुनते हुए नरक को प्राप्त होता है।' भामह ने यह उदाहरण दिया है—

'घरों मे या मार्गों मे (वह) अन्न हम लोग नही खाते जो अधीती ब्राह्मण नहीं खा लेते।'

निस्सन्देह यह भगवान् वासुदेव का वचन पर्यायोक्त से विषदान का निषेध करता है। जैसा कि उन्होंने ही कहा है—'और वह विषदान की निवृत्ति के लिये था' इस व्यङ्ग्य रसदान निषेध की कोई चारुता नही है जिससे प्राधान्य की शंका की जावे। अपितु उस व्यङ्ग्य से युक्त (उससे बढ़ाया हुआ) जो विप्रभोजन के विना भोजन न करना है वही उक्त प्रकार से पर्यायोक्त होकर प्राकरणिक भोजनार्थ को अलंकृत करता है। इनका यह कथन अभीष्ट नही है कि 'निर्विष भोजन हो', इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकार ही है, यह चिरन्तनो के लिये अभिमत है, यह तात्पर्य है।

तारावती

भी कल्पना करनी पड़ेगी। भामह ने अपने उदाहरण मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता रक्खी नहीं, अतएव दूसरे भी ऐसे ही उदाहरण देने पड़ेगे जिनमे व्यङ्ग्यार्थ प्रधान न हो। यही ग्रन्थ की सङ्गति है।

तारावती

यदि भामह के दिये हुये उदाहरण का अनादर करके 'भम धम्मिअ' यह ध्वनि का प्रसिद्ध उदाहरण पर्यायोक्त के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो यह तो हमारा शिष्य बन जाना ही होगा । केवल अन्तर यह रह जावेगा कि शिष्यों की नीति का सहारा न लेकर अशुद्ध रूप में इधर-उधर से सुनी हुई बात के आधार पर अपना संस्कार कर लेना कहा जावेगा जो कि सर्वथा अनार्य चेष्टा होगी । (आशय यह है कि 'भम धम्मिअ' यह व्यङ्ग्यार्थ का उदाहरण तो हम ध्वनिवादियों की ओर से दिया गया है । यदि तुम उसे स्वीकार कर लेते हो तो तुम हमारे शिष्य बन गये । अन्तर केवल यह रह गया कि तुम नियमपूर्वक शिष्यों का कर्तव्य पालन करते हुये गुरुमुख से विद्या पढ़ते उसके स्थान पर इधर-उधर से सुन-सुनाकर तुमने आत्मसंस्कार कर लिया और पण्डित बन गये । यह भी तो तुम्हारी अनार्य चेष्टा ही रही ।) ऐतिहासिक लोग कहते हैं कि—'गुरु तथा विद्या का अपमान करते हुए अपने को छिपाकर विद्या का श्रवण करते हुये भी नरक को जाता है ।' (ये शब्द मनोरञ्जन के उद्देश्य से उपहासपरक हैं ।) भामह ने पर्यायोक्त का यह उदाहरण दिया है—'रत्नाहरण' में कृष्ण शिशुपाल के यहाँ गये हैं । शिशुपाल ने भोजन तैय्यार कराया है । भगवान् कृष्ण को शत्रु के यहाँ भोजन करने मे विष की शङ्का हो जाती है । अतः वे कहते हैं—जो अन्न अधीती ब्राह्मण नहीं खा लेते उसे हम लोग घर में भी नहीं खाते और मार्ग मे भी (यात्रा मे भी) नहीं खाते ।' यह भगवान् वासुदेव का वचन व्यञ्जना-वृत्ति से विषदान का निषेध करता है जैसा कि स्वयं भामह ने व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या करते हुये लिखा है कि 'ये शब्द विषदान की निवृत्ति के उद्देश्य से कहे गये हैं ।' यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ है विषदान का निषेध । उसमे किसी प्रकार की चारुता नहीं है जिससे उसकी प्रधानता का सन्देह किया जावे । किन्तु 'विप्रभोजन के बिना जो भोजन न करना'-रूप वाच्यार्थ है वही उक्त व्यङ्ग्यार्थ से विशेषता को प्राप्त होकर उक्त प्रकार से पर्यायोक्त का रूप धारण करके प्राकरणिक भोजनार्थ को अलंकृत कर देता है । (आशय यह है कि 'मैं भोजन नहीं करूँगा क्योंकि इसमें विष है' इस व्यङ्ग्यार्थ में कोई सौन्दर्य नहीं । सौन्दर्य की प्रतीति तब होती है जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि कृष्ण को भोजन में विष की आशङ्का है और कह यह रहे हैं कि 'मैं मार्ग मे भी ऐसा भोजन नहीं करता जिसको पहले अधीती ब्राह्मण खा नहीं लेते ।' इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ पर ध्यान रखते हुये जब हम कृष्ण की वचनभङ्गिमा पर विचार करते हैं तब हमें उस कथन में ही चारुता की अनुभूति होती है ।) कृष्ण का विवक्षित

ध्वन्यालोकः

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

(अनु०) अपह्नुति और दीपक के विषय में यह तो प्रसिद्ध ही है कि इनमें वाच्य की ही प्रधानता होती है और व्यङ्ग्य उसका अनुयायी होता है ।

लोचन

अपह्नुतिदीपकयोरिति । एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् । अत एवाह प्रसिद्धमिति । प्रतीतं प्रसाधितं प्रामाणिकं चेत्यर्थः । पूर्वं चैतदुपमाव्यपदेशभाजनमेव तद्यथा न भवतीत्यमुया छायया दृष्टान्तयोक्तमप्युद्देशक्रमपूरणाय ग्रन्थशय्यां योजयितुं पुनरप्युक्तं 'व्यङ्ग्यप्राधान्याभावान्न ध्वनिरि'ति ।

छायान्तरेण वस्तु पुनरेकमेवोपमाया एव व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वाशङ्कनात् । यत्तु विवरणकृत्—दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो नास्तीति बहुनोदाहरणप्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि निस्सारं सुप्रतिक्षेपं च ।

अपह्नुतिदीपकयोरिति । यह पहले ही निर्णय कर दिया । इसीलिये कह रहे हैं—प्रसिद्धमिति । अर्थात् प्रतीत, प्रसाधित तथा प्रामाणिक । पहले यह उपमा इत्यादि नामवाला ही जिस प्रकार नहीं होता इस छाया के द्वारा (अर्थात् इस प्रकार) दृष्टान्त के रूप में कहा हुआ भी उद्देश क्रम की पूर्ति के लिये ग्रन्थशय्या की योजना करने के निमित्त पुनः कह दिया गया—'व्यङ्ग्य की प्रधानता के अभाव के कारण ध्वनि नहीं होती ।' वस्तु एक ही है (किन्तु) दूसरी छाया के द्वारा कही गई है क्योंकि उपमा की ही व्यङ्ग्य के रूप में शंका की जा सकती है । जो कि विवरणकार ने—दीपक का सर्वत्र उपमान्वय नहीं होता इस पर बहुत से उदाहरणों के प्रपञ्च के द्वारा विचार किया है वह अनुपयोगी है, निस्सार है तथा उसका प्रतिषेध भी सरलतापूर्वक हो सकता है ।

तारावती

अर्थ यह नहीं है कि भोजन निर्विष होना चाहिये । (उनका विवक्षित तो यही है कि मैं भोजन नहीं करूँगा) अतएव पर्यायोक्त को अलङ्कार मानना ही प्राचीन आचार्यों को अभीष्ट था । यही प्रस्तुत ग्रन्थ का तात्पर्य है । (इस प्रकार लक्षण, लक्ष्य, अलङ्कारता, सामान्य लक्षण और उदाहरण इन सभी दृष्टियों से सिद्ध कर दिया कि पर्यायोक्त में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।)

अब दीपक और अपह्नुति को लीजिये । इनके विषय में पहले ही निर्णय किया जा चुका है । (इन दोनों अलङ्कारों में उपमा व्यङ्ग्य होती है ।) और दीपक तथा अपह्नुति ये दोनो वाच्य होते हैं । यह बात प्रसिद्ध ही है कि इन में वाच्य दीपक तथा अपह्नुति प्रधान होते हैं और व्यङ्ग्य उपमा उनकी अनुवर्तिका मात्र होती

लोचन

मदो जनयति प्रीतिं सानङ्गं मानभञ्जनम्।

स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां सासह्यां मनसः शुचम् ॥ इति ॥

'मद प्रीति को उत्पन्न करता है, वह मानभञ्जन अनङ्ग को उत्पन्न करती है, वह प्रिया-सङ्गम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, वह असह्य मन के शोक को उत्पन्न करती है।'

तारावती

है।) यहाँ पर प्रसिद्ध शब्द के तीन अर्थ हैं—इनमें उपमा की अप्रधानता स्पष्ट प्रतीत होती है सिद्ध भी की जा चुकी है और प्रमाणप्रतिपन्न भी है। अपह्नुति और दीपक के विषय में पहले भी कह चुके हैं और अब पुनः इन पर विचार प्रारम्भ किया है। अतएव पूछा जा सकता है कि पुनः विचार करने की क्या आवश्यकता? इसका उत्तर यह है कि पहले समासोक्ति और आक्षेप के प्रकरण में यह दिखलाने की आवश्यकता थी कि व्यङ्ग्यार्थ भी गौण हो सकता है। इस विषय में दीपक और अपह्नुति का ऐसा दृष्टान्त है कि जिसको अलङ्कार सम्प्रदायवाले भी अस्वीकार नहीं कर सकते। इन अलङ्कारों में उपमा व्यङ्ग्य होती है किन्तु उपमा कहकर उन्हे कोई नहीं पुकारता क्योंकि वहाँ पर उपमा में सौन्दर्य का पर्यवसान नहीं होता। इस बात को सिद्ध करने के लिये वहाँ पर दृष्टान्त के रूप में इन दोनों अलङ्कारो का उल्लेख हुआ था। यहाँ इन पर विचार इसलिये किया गया कि जिन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव दिखलाने की प्रतिज्ञा की गई थी उनमें दीपक और अपह्नुति ये दो अलङ्कार भी थे। इन अलङ्कारों का उल्लेख पर्यायोक्त के बाद किया गया था। अतः उद्देशक्रम को पूरा करने के लिये तथा ग्रन्थ की सङ्गति बिठाने के लिये पुनः कह दिया कि व्यंग्य की प्रधानता न होने से इन अलङ्कारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। बात वही है जो पहले कही गई थी। यहाँ पर प्रकारान्तर से वही बात दुहरा दी गई है। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के रूप में उपमा की ही प्रधानता की शङ्का की जा सकती थी। (उसी का निराकरण वहाँ किया था और उसी का निराकरण यहाँ किया गया है।) जो कि विवरणकार ने लिखा है कि दीपक का उपमा के साथ सर्वत्र अन्वय नहीं होता और बहुत से उदाहरणों के प्रपञ्च के द्वारा उस पर विचार किया है वह अनुपयोगी भी है निस्सार भी है और उसका खण्डन भी आसानी से किया जा सकता है। जैसे भामह का उदाहरण लीजिये—

'मद प्रीति को उत्पन्न करता है, प्रीति मान को नष्ट करनेवाले कामदेव को उत्पन्न करती है, कामदेव प्रियतमा के सहवास की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है और वह उत्कण्ठा मन की असह्य वेदना को उत्पन्न करती है।'

लोचन

अत्राप्युत्तरोत्तरजन्यत्वेऽप्युपमानोपमेयभावस्य सुकल्पत्वात्। नहि क्रमिकाणां नोपमानोपमेयभावः। तथाहि—

राम इव दशरथोऽभूद् दशरथ इव रघुरजोऽपि रघुसदृशः।
अज इव दिलीपवंशश्चित्रं रामस्य कीर्तिरियम्॥

इति न भवति। तस्मात्क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्धीति कोऽयं त्रासः इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन।

यहाँ पर उत्तरोत्तर जन्यत्व होने पर उपमानोपमेयभाव की कल्पना सरलतापूर्वक की जा सकती है। क्रमिकों का उपमानोपमेयभाव नहीं होता, यह नहीं कहना चाहिये। वह इस प्रकार :—

'राम के समान दशरथ हुये, दशरथ के समान रघु और अज भी रघु के समान (हुये) अज के समान दिलीप वंश हुआ। राम की यह कीर्त्ति विचित्र है।'

यह नहीं होता यह बात नहीं। अतएव क्रमिकत्व या समानता या प्राकरणिकत्व उपमा को रोक देता है यह क्या भय, बस अधिक गर्दभी-दोहन का अनुवर्तन व्यर्थ है।

तारावती

यहाँ पर भी यद्यपि एक के बाद दूसरे की उत्पत्ति होती है तथापि इनका भी उपमानोपमेयभाव सरलता से कल्पित किया जा सकता है। 'जैसे मद प्रीति को उत्पन्न करता है उसीप्रकार प्रीति काम को उत्पन्न करती है; जैसे प्रीति काम को उत्पन्न करती है उसीप्रकार काम प्रियासमागम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, जिस प्रकार काम प्रियासङ्गम की उत्कण्ठा को उत्पन्न करता है, उसीप्रकार वह उत्कण्ठा असह्य मनस्ताप को उत्पन्न करती है।' यह उपमा सरलता से कल्पित की जा सकती है,। यह बात नहीं है कि क्रमशः आनेवाले शब्दों का उपमानोपमेयभाव बनता नहीं। उदाहरण लीजिये—

'राम के समान दशरथ हुये, दशरथ के समान रघु हुये, रघु के समान दिलीप हुये। यह राम की कीर्ति विचित्र ही है।

यहाँ पर क्रमशः आनेवाले शब्दों का उपमानोपमेय भाव नहीं बनता यह बात नहीं है। अतएव क्रमिकता का होना अथवा प्रकरण की समानता उपमा का निरोध कर देते हैं यह कौन सी डराने की बात आप कह रहे हैं। जाने दो और अधिक गदही दुहने की चेष्टा व्यर्थ है। (यह एक मजाक है।)

अब सङ्करालंकार को ले लीजिये—प्राचीन आचार्यों (भामह दण्डी इत्यादि) ने दो अलङ्कारों के एक में मिलने को संसृष्टि अलङ्कार कहा था। उन्होंने सङ्कर

ध्वन्यालोकः

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्। अलङ्कारद्वयसम्भावनायां तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्। पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात्। अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति।

(अनु०) सङ्कर अलङ्कार मे भी जब एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार की छाया को ग्रहण करता है वहाँ व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य की विवक्षा ही नहीं होती। अतएव वह स्थान ध्वनि का लक्ष्य हो ही नहीं सकता। जहाँ पर दो अलङ्कारों की सम्भावना हो वहाँ पर भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता समान होती है। (अतः वहाँ भी ध्वनि नहीं हो सकती) यदि साङ्कर्य मे वाच्य के गौण हो जाने से व्यङ्ग्यार्थ प्रधानरूप में अवस्थित होता है तो वह भी ध्वनि का विषय (लक्ष्य) हो सकता है; वही ध्वनि नहीं होती। जैसा कि पर्यायोक्त में सिद्ध किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि कहीं भी किसी अलङ्कार मे सङ्कर यह नामकरण ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है।

लोचन

सङ्करालङ्कारेऽपीति।

विरुद्धालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसंभवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः॥

सङ्करालङ्कार मे भी :—

'विरुद्ध अलङ्कारों के उल्लेख में, एक साथ उनकी वृत्ति के असम्भव होने पर तथा एक के ग्रहण में न्याय तथा दोष के अभाव में सङ्कर (अलङ्कार) होता है।

तारावती

नाम का कोई अलङ्कार नहीं माना था। किन्तु परवर्ती आचार्यो ने परस्पर मिलनेवाले अलङ्कारों के दो भेद कर दिये (१) जहाँ मिलनेवाले अलङ्कार स्वमात्रपर्यवसित होते हैं और उन्हे एक दूसरे की अपेक्षा नहीं होती, इस प्रकार के सम्मिलन को संसृष्टि कहते हैं। संसृष्टि मे पृथक् रूप मे ध्वनि के अन्तर्भाव की शङ्का ही नहीं हो सकती क्योंकि उसमे सभी अलङ्कार स्वतन्त्र होते है और स्वतन्त्र अलङ्कारो मे ध्वनि का अन्तर्भाव नही हो सकता यह सिद्ध ही किया जा चुका है। (जहाँ पर दो या दो से अधिक अलङ्कार एक दूसरे के प्रति सापेक्षभाव से स्थित होते हैं वहाँ पर सङ्कर अलङ्कार होता है। इन आचार्यों ने सङ्कर अलङ्कार के चार भेद किये हैं—सन्देह सङ्कर, शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का एक विप-

लोचन

इति लक्षणादेकः प्रकारः। यथा ममैव—

शशिवदना सितसरसिजनयना सितकुन्ददशनपङ्क्तिरियम्।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना॥

अत्र शशी वदनमस्याः तद्वद्वा वदनमस्या इति रूपकोपमोल्लेखाद्युगपद्द्वयासम्भवादेकतरपक्षत्यागग्रहणे प्रमाणाभावात् सङ्कर इति व्यङ्ग्यवाच्यताया एवानिश्चयात्का ध्वनिसम्भावना। योऽपि द्वितीयः प्रकारः शब्दार्थालङ्काराणामेकत्र भाव इति तत्रापि प्रतीयमानस्य का शङ्का। यथा 'स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्।' इति। अत्रैव यमकमुपमा च। तृतीयः प्रकारः—यत्रैकत्र वाक्यांशेऽनेकोऽर्थालङ्कारस्तत्रापि द्वयोः साम्यात्कस्य व्यङ्ग्यता। यथा—

इस लक्षण से एक प्रकार हुआ। जैसे मेरा ही—

'चन्द्रवदना, नीलकमललोचना, श्वेतकुन्ददशनपक्ति यह (नायिका) विधाता के द्वारा आकाश, जल और भूमि के सार से सम्भव हृद्य आकार की बनाई गई है।'

यहाँ पर 'चन्द्रमा है वदन जिसका' अथवा 'चन्द्रमा के समान वदन है जिसका' इस रूपक और उपमा के उल्लेख से एक साथ दो के असम्भव से, एकतर पक्ष के त्याग तथा ग्रहण मे प्रमाण न होने से सङ्कर (है) इस प्रकार व्यङ्ग्य और वाच्य का ही निश्चय न होने से ध्वनि की सम्भावना ही क्या? जो दूसरा भी प्रकार है—शब्द और अर्थ अलङ्कारों का एकत्र होना उसमे भी प्रतीयमान की क्या शंका? जैसे 'स्मर के समान प्रियतम का स्मरण करो जिसको आलिङ्गन के द्वारा रमण कराती हो।' यही पर यमक और उपमा है। तृतीय भी प्रकार—जहाँ एकत्र वाक्याश मे अनेक अर्थालंकार हो वहाँ भी दोनो के साम्य से किसकी व्यङ्ग्यता? जैसेः—

तारावती

यानुप्रवेश सङ्कर, अर्थालङ्कारों का एकविषयानुप्रवेश सङ्कर और अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर। परवर्ती आचार्यों ने दूसरे और तीसरे भेद (शब्दार्थालङ्कारों का एकविषयानुप्रवेश तथा अर्थालङ्कारो का एकविषयानुप्रवेश) एक ही मे मिला दिये और साधर्म्य के आधार पर दोनो का एकविषयानुप्रवेश यह नाम रख दिया। इस प्रकार ये आचार्य सङ्कर के केवल तीन भेद ही मानते है। दीधितिकार का यह भ्रम है कि नवीन आचार्यों ने शब्दार्थालङ्कारों के एकविषयानुप्रवेश को संसृष्टि मान लिया जिससे नवीनो के मत मे तीन भेद रह गये। सभी नवीन आचार्य शब्दार्थालङ्कार के एकविषयानुप्रवेश को सङ्कर ही मानते है। संसृष्टि और सङ्कर मे भेद यह होता है कि जहाँ विभिन्न शब्दों से अलङ्कार प्रकट होते है वहाँ

तारावती

उनकी संसृष्टि होती है और जहाँ एक ही शब्द से विभिन्न अलङ्कार प्रकट होते हैं वहाँ सङ्कर होता है ।

सङ्कर और संसृष्टि की मान्यता के आधार और उनके विषय-विभाजन पर रुय्यक ने अच्छा प्रकाश डाला है । उनका कहना है कि—'उक्त अलङ्कारों का यथासम्भव कहीं कथन हो तो क्या वे सब पृथक्-पृथक् अलङ्कार माने जावेंगे या कोई अन्य अलङ्कार होगा ? इस विषय मे कहा जा सकता है कि जैसे बाह्यालङ्कारों मे सुवर्ण, मणिमय इत्यादि पृथक्-पृथक् अलङ्कार शरीर को पृथक्-पृथक् रूप मे आभूषित करते हैं, साथ ही उनकी संयोजना भी नवीन सौन्दर्य को जन्म देती है । इसीप्रकार अनेक अलङ्कारों की योजना में भी पृथक् पर्यवसान नहीं होता अपितु उसे दूसरा अलङ्कार कहना ही ठीक होगा । अनेक अलङ्कारों के योग मे भी संयोगन्याय से स्फुटावगम और समवायन्याय से अस्फुटावगम ये दो प्रकार होते हैं । प्रथम को संसृष्टि और द्वितीय को सङ्कर कहते है । अतएव तिल-तण्डुलन्याय और क्षीर-नीर न्याय उनकी यथार्थता को बतलाते है ।)

विश्वनाथ ने तो एक शब्द से प्रकट होनेवाले दो शब्दालङ्कारों को भी सङ्कर ही माना है । यहाँ पर लोचनकार ने चार भेद मानकर सङ्कर का निरूपण किया है । सङ्कर का प्रथम प्रकार यह है—

'जहाँ एक ही स्थान पर दो विरुद्ध अलङ्कारों का उल्लेख किया जा सकता हों, एक साथ दोनों का हो सकना सम्भव न हो; न तो एक के ग्रहण करने मे कोई न्याय हो और न दूसरे के त्याग के लिये कोई बाधक हो वहाँ पर सन्देह संकर होता है ।" जैसे मेरा (लोचनकारका) पद्य—

'ब्रह्माजी ने शशिवदना, नीलकमलनयना, श्वेतकुन्ददशनपक्ति इस नायिका को आकाश, जल और स्थल से उत्पन्न मनोहर आकारवाली बनाया है ।' आशय यह है कि इस नायिका का मुखचन्द्र आकाश का तत्त्व है नीलकमलनयन जल का तत्त्व है और श्वेतकुन्ददशन भूमि का तत्त्व है, इस प्रकार यह नायिका मनोहरता मे पृथ्वी जल और आकाश तीनों का सार भाग है । यहाँ पर शशिवदना इत्यादि शब्दों मे बहुव्रीहि समास है । इसका विग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है । (१) चन्द्रमा है वदन जिसका और (२) चन्द्रमा के समान है वदन जिसका । प्रथम विग्रह मे रूपक होगा और द्वितीय मे उपमा । दोनों एक साथ हो नहीं सकते । एक को स्वीकार करने और दूसरे को छोड़ने में न कोई साधक प्रमाण है और न बाधक । अतएव यहाँ पर सन्देह सङ्कर अलङ्कार है । इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि एक तो इसमें वाच्य और व्यङ्ग्य का ही निश्चय नहीं, दूसरे यह निश्चय नहीं कि यहाँ पर कौन सा अलङ्कार माना जावे । अतएव

लोचन

तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रति भास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम्॥ इति॥

अत्र हि स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतग्रहणहेवाकिकुलपुत्रकरूपणमेकदेशविवर्ति रूपकं दर्शयति। उत्प्रेक्षा चेवशब्देनोक्ता। तदिदं प्रकारद्वयमुक्तम्।

शब्दार्थवर्त्यलङ्काराः वाक्य एकत्र वर्तिनः।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वा भिधीयते॥ इति च॥

चतुर्थस्तु प्रकारः यत्रानुग्राह्यानुग्राहकभावोऽलङ्काराणाम्। यथा--

'तुल्य उदय और अवसान होने से सूर्य के अस्तकी ओर चले जाने पर क्लान्त दिन निवास के लिये अन्धकार रूपी गुफा मे मानों प्रविष्ट हो रहा हो।'

यहाँ पर स्वामी की विपत्ति के योग्य व्रत ग्रहण के लिये उद्युक्त कुलयुवक का आरोप एकदेशविवर्ति रूपक को प्रकट करता है और उत्प्रेक्षा इव शब्द से कही गई है। वह इस प्रकार दो प्रकार बतलाये गये है

'शब्द और अर्थवर्ती अलंकार एक वाक्य मे रहनेवाले अथवा एक वाक्यांश में अनुप्रवेश से संकर कहा जाता है।' और यह चौथा तो प्रकार (वहाँ पर होता है) जहाँ पर अलंकारों का अनुग्राह्यानुग्राहकभाव हो। जैसे—

तारावती

यहाँ पर ध्वनि का प्रश्न ही नहीं उठता। (२) दूसरे प्रकार का सङ्कर अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ एक ही स्थान पर एक शब्दालङ्कार हो और एक अर्थालङ्कार। जैसे 'स्मर स्मरमिव प्रियम्—कामदेव के समान अपने प्रिय का स्मरण करो जिसको आलिङ्गन के द्वारा तुम रमण कराया करती हो।' यहाँ पर 'स्मर स्मर' मे यमक है और 'कामदेव के समान कहने मे उपमा है। ये दोनों अलङ्कार 'स्मर' शब्द से ही अवगत होते है अतः यह एकविषयानुप्रवेश सङ्कर है। (इसमे व्यङ्ग्यार्थ की सम्भावना ही नहीं फिर ध्वनि का प्रश्न ही कैसा?) (३) जहाँ एक ही वाक्याश मे कई अर्थालङ्कार हो वहाँ तीसरे प्रकार का सङ्कर होता है। जैसे—

'उदय और अवसान में एकरूपता के कारण जब भगवान् भास्कर अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर गये तब क्लान्त दिवस वास करने के उद्देश्य से तमोगुहा मे मानो प्रविष्ट हो रहा है।' (अर्थात् सूर्य और दिन का उदय और अस्त साथ साथ होता है। सूर्य अस्त हो गया अतएव दिन भी क्लान्त होकर अन्धकाररूपी गुफा मे घुस गया।)

यहाँ पर सूर्य स्वामी हैं, उसका अस्ताचल को चला जाना विपत्ति में पड़ना है। दिन कुलपुत्रक (सेवक?) है। दिन का अन्धकाररूपी गुफा मे प्रवेश

लोचन

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥

अत्र मृगाङ्गनावलोकनेन तदवलोकनस्योपमा यद्यपि व्यङ्ग्या, तथापि वाच्यस्य सा सन्देहालङ्कारस्याभ्युत्थानकारिणीत्वेनानुग्राहकत्वाद्गुणीभूता, अनुग्राह्यत्वेन हि सन्देहे पर्यवसानम्। यथोक्तम्—

'प्रकृष्ट वायु में पड़े हुये नील कमल से बिल्कुल विशेषता न रखनेवाली विशालनेत्रोंवाली (उस पार्वती) का धैर्यरहित (चञ्चल) अवलोकन न जाने उसने मृगाङ्गनाओं से लिया या मृगाङ्गनाओं ने उससे लिया ।'

यहाँ पर मृगाङ्गनाओं के अवलोकन से उसके अवलोकन की उपमा यद्यपि व्यङ्ग्य है तथापि सन्देहालंकार (रूप) वाच्य की वह उत्थानकारिणी होने के कारण सन्देह में पर्यवसान होता है । जैसा कि कहा गया है—

तारावती

करना सेवक का साधननिरत होना है । जिस प्रकार स्वामी के विपत्ति में पड़ जाने पर उसके आधीन ही उत्थान-पतन को प्राप्त करनेवाला सेवक अपने स्वामी के उत्थान की कामना से किसी गुफा मे प्रवेश कर साधनानिरत हो जावे उसीप्रकार सूर्य के अन्ताचल की ओर प्रस्थान कर जाने पर दिन भी अन्धकार रूपी गुफा मे प्रविष्ट होकर साधना-निरत हो गया । यहाँ पर अन्धकारपुञ्ज पर गुफा का आरोप किया गया है । उसके अनुसार सूर्य पर स्वामी का, दिवस पर सेवक का और अस्ताचलगमन पर विपत्ति पड़ने का आरोप होना चाहिये जो नहीं किया गया है। अतएव यहाँ पर एकदेशविवर्ति रूपक अलङ्कार की प्रतीति होती है । 'विशतीव' मे इव शब्द के द्वारा उत्प्रेक्षा प्रकट की गई है । इन दोनों अलङ्कारो का एक-विषयानुप्रवेश सङ्कर है । दूसरे और तीसरे प्रकारों का, वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

'जहाँ शब्द और अर्थ मे रहनेवाले अलङ्कार (अर्थात् शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार) एक वाक्य में विद्यमान हों अथवा एक वाक्यांश मे विद्यमान हों तो उसे सङ्कर अलङ्कार कहते हैं ।'

जहाँ कई अलङ्कारों मे एक दूसरे के प्रति अनुग्राह्यानुग्राहकभाव हो वह चौथे प्रकार का सङ्कर (अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर) होता है । जैसे कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग मे पार्वती के नख-शिख का वर्णन करते हुये महाकवि ने लिखा है—

लोचन

परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः॥

तदाह—यदालङ्कार इत्यादि। एवं चतुर्थेऽपि प्रकारे ध्वनिता निराकृता। मध्यमयोस्तु व्यङ्ग्यसम्भावनैव नास्तीत्युक्तम्। आद्ये तु प्रकारे 'शशिवदने' त्याद्युदाहृते कथञ्चिदस्ति सम्भावनेत्याशङ्क्य निराकरोति—अलङ्कारद्वयेति। सममिति। द्वयोरप्यान्दोल्यमानत्वादिति भावः।

'परस्पर उपकार के द्वारा जहाँ अलकार स्थित हों और स्वतन्त्रता से आत्मलाभ न प्राप्त करे वह भी संकर (होता है)।

वह कहते है—यदालङ्कार इत्यादि। इस प्रकार चतुर्थ प्रकार में भी ध्वनित्व निराकृत हो गया। मध्य के दोनों की तो व्यङ्ग्य की सम्भावना ही नहीं है यह कह दिया गया। 'शशिवदना' इत्यादि उदाहृत आद्य प्रकार मे किसी न किसी प्रकार सम्भावना है यह आशका करके निराकरण कर रहे हैं—अलंकारद्वय इत्यादि। 'समम्' इति। आशय यह है कि दोनो के आन्दोल्यमान (अस्थिर) होने के कारण (समान प्रधानता होती है।)

तारावती

पार्वती के नेत्र विस्तृत और विशाल थे। जिस समय स्त्री-सुलभ स्वाभाविक अधैर्य के कारण उनकी चितवन चञ्चल हो जाती थी तब नेत्र इतने सुन्दर प्रतीत होते थे मानों तेज वायु मे पडा हुआ कोई कमल चञ्चल हो रहा हो। इस प्रकार की चञ्चल चितवन न जाने उसने मृग की अङ्गनाओं से सीखी थी या मृग की अङ्गनाओं ने उससे सीखी थी।'

यहाँ पर यह उपमा व्यक्त होती है कि 'पार्वती की चितवन मृगियो की चितवन के समान थी।' 'उसने मृगियों से चितवन सीखी या मृगियों ने उससे सीखी' यह सन्देहालङ्कार यहाँ पर वाच्य है। उपमा केवल सन्देहालङ्कार का अभ्युत्थान ही करनेवाली है। (उपमा सन्देहालङ्कार के सौन्दर्य-पोषण के निमित्त अपना सौन्दर्य समर्पित कर देती है।) इस प्रकार अनुग्राहक होने के कारण उपमा गौण हो गई है। सन्देहालङ्कार अनुग्राह्य है; अर्थात् उपमा के द्वारा उपकृत होकर सन्देह मे ही सौन्दर्य का पर्यवसान होता है।

चौथे प्रकार के सङ्कर की परिभाषा यह दी गई है—

'जहाँ अलङ्कार परस्पर उपकार करते हुये स्थित होते हैं और एक दूसरे से निरपेक्ष होकर अपनी सत्ता स्थापित नहीं कर सकते उसे भी सन्देह कहते हैं।' (जैसे उक्त उदाहरण मे सन्देह वाच्य है जिसके कारण उपमा का जन्म होता है और उपमा व्यङ्ग्य होकर सन्देहपर्यवसायिनी हो गई है।)

लोचन

ननु यत्र व्यङ्ग्यमेव प्राधान्येन भाति तत्र किं कर्तव्यम् । यथा—

होइ ण गुणाणुराओ खलाणं णवरं पसिद्धि सरणाणम् ।
किर पहिणुसइ ससिमणं चन्दे ण पियामुहे दिट्ठे ॥

अत्रार्थान्तरन्यासस्तावद्वाच्यत्वेनाभाति, व्यतिरेकापह्नुती तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रधानतयेत्यभिप्रायेणाशङ्कते—अथेति । तत्रोत्तरम्—तदा सोऽपीति । सङ्करालङ्कार एवायं न भवति, अपि त्वलङ्कारध्वनिनामायं ध्वनेः द्वितीयो भेदः । यच्च पर्यायोक्ते निरूपितं तत्सर्वमत्राप्यनुसरणीयम् । अथ सर्वेषु सङ्करप्रभेदेषु व्यङ्ग्यसम्भावनानिरासप्रकारं साधारणमाह—अपि चेति । 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे चे'ति सम्बन्धः, सर्वभेदभिन्न इत्यर्थः । सङ्कीर्णता हि मिश्रत्वं लोलीभावः, तत्र कथमेकस्य प्राधान्यं क्षीरजलवत् ।

जहाँ पर प्रधानतया व्यङ्ग्यही भासित होता है वहाँ क्या करना चाहिये ? जैसे—

'(केवल) प्रसिद्धि शरण दुष्टो का गुणानुराग नहीं होता । चन्द्रकान्तमणि चन्द्र के देखने पर प्रस्तुत होती है प्रिया-मुख देखने पर नहीं ।

यहाँ पर अर्थान्तरन्यास तो वाच्य के रूप मे शोभित हो रहा है, व्यतिरेक और अपह्नुति तो व्यङ्ग्य होने के कारण प्रधानतया (शोभित हो रही है), इस अभिप्राय से आशंका कर रहे है—अथ इत्यादि । वहाँ उत्तर है—तदा सोऽपि इत्यादि । यह सकरालङ्कार ही नहीं होता । अपितु यह अलङ्कारध्वनि नाम का ध्वनि का दूसरा प्रकार है । जोकि पर्यायोक्त मे निरूपित किया गया था, उसका यहाँ भी अनुसरण कर लेना चाहिये । इसके बाद सङ्कर के सभी प्रकारों मे ध्वनि-सम्भावना के निराकरण का सामान्य प्रकार बतला रहे है—'अपि च' इत्यादि । यहाँ पर सम्बन्ध इस प्रकार का है—'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे च' अर्थात् सब भेदों से भिन्न सङ्कीर्णता का अर्थ है मिलजाना अर्थात् एक हो जाना, उसमे दूध और पानी की भाँति एक की प्रधानता किस प्रकार होती है ।

तारावती

ऊपर सङ्कर के चारों भेदो का निरूपण किया गया । चौथा अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है । उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । यह बात सिद्ध करने के लिये आलोककार ने कहा है कि 'जहाँ पर एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार के सौन्दर्य को ग्रहण करता है वहाँ व्यङ्ग्यार्थ का प्रधान रूप मे मानना अभीष्ट नही होता, अतएव उसमे ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । सङ्कर के एकविषयानुप्रवेश नामक दूसरे और तीसरे भेदों मे व्यङ्ग्यालङ्कार की सम्भावना ही नहीं होती, यह बात बतलाई जा चुकी है । अतएव उन दोनों भेदों मे ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता । अब रही सन्देह-सङ्कर नामक प्रथम भेद की बात, जहाँ दो अल-

तारावती

ङ्कारों में यह निर्णय नहीं हो पाता कि कौन सा अलङ्कार माना जाये, उसमें व्यङ्ग्यार्थ की सम्भावना हो सकती है। अतएव 'उसमें ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता' यह सिद्ध करने के लिये आलोककार ने कहा है कि 'दो अलङ्कारों की सम्भावना में व्यङ्ग्य और वाच्य की प्रधानता एक जैसी होती है।' अर्थात् जहाँ दो अलङ्कारों की सम्भावना हो वहाँ यह सम्भव है कि एक अलङ्कार व्यङ्ग्य हो। किन्तु जब वहाँ पर दोनों अलङ्कार रहते हैं किसी का होना निश्चित ही नहीं हो पाता तब किसी की प्रधानता-अप्रधानता के निर्णय का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अब यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि ऊपर बतलाये हुये सङ्कर के तीसरे भेद (अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर) में ऐसा भी हो सकता है कि व्यङ्ग्य-अलङ्कार प्रधान हो और वाच्य-अलङ्कार गौण हो। ऐसे स्थान पर आप क्या करेंगे? उदाहरण के लिये—

भवति न गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम्।
किल प्रस्नौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे॥ इति छाया।

'जो दुष्ट केवल प्रसिद्धि का सहारा लेकर ही चलते हैं उन्हें गुणों से प्रेम नहीं होता। कहा जाता है कि चन्द्रकान्तमणि चन्द्र को देख कर तो द्रवित हो जाती है, प्रियतमा के मुख को देखकर द्रवित नहीं होती।' (आशय यह है कि जो व्यक्ति दूसरों से किसी की प्रशंसा को सुनकर ही उसके गुणावगुणों को स्वीकार कर लेते हैं उन्हें न गुणों का परिचय होता है और न वे गुणों का आदर करना जानते हैं। चन्द्रकान्त मणि ने सुनने-सुनाने के आधार पर चन्द्र को गुणवान् समझ लिया है, इसीलिये चन्द्रमा के सामने तो वह द्रवित हो जाती है सुन्दरी के मुख के सामने द्रवित नहीं होती।) यहाँ पर मुख के सामने चन्द्रकान्त मणि के द्रवित न होना रूप विशेष के द्वारा पामरों का गुणानुराग होना रूप सामान्य समर्थित किया गया है। अतएव यह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है जो कि वाच्य है। इससे इस व्यतिरेक की व्यञ्जना होती है कि 'चन्द्र की अपेक्षा मुख कहीं अधिक सुन्दर है।' अथवा इस अपह्नुति की व्यञ्जना होती है—'यह मुख नहीं चन्द्र है।' व्यज्यमान व्यतिरेक और अपह्नुति में चारुता की परिसमाप्ति होती है। अतएव इस संकर को हम ध्वनि कह सकते हैं और इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाना चाहिये। इसीलिये ग्रन्थकार ने लिखा है कि जहाँ वाच्य को गौण बनाकर व्यङ्ग्य स्थित होता है वह तो ध्वनि का ही क्षेत्र होगा, किन्तु केवल वही तो ध्वनि नहीं हो सकती। (क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र विस्तृत है और संकर का सीमित।) यह सब पर्यायोक्त के प्रकरण में कहा जा चुका है,

ध्वन्यालोकः

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेपभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वा अभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धः तदाऽभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्। यदा तावत्सामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेपेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम्।

(अनु०) अप्रस्तुतप्रशंसा में भी जब सामान्य-विशेप भाव से अथवा निमित्त-नैमित्तिक भाव से अभिधान किये जा रहे अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत से अभिसम्बन्ध होता है तब अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनों का समान ही प्राधान्य होता है और जब कहे जा रहे अप्रस्तुत सामान्य का प्राकरणिक प्रतीयमान विशेष से सम्बन्ध होता है तब विशेप की प्रतीति होने पर भी प्रधानतया उसके सामान्य से अविनाभाव (व्याप्यव्यापकभाव) सम्बन्ध होने के कारण सामान्य की भी प्रधानता होती है ।

तारावती

वही यहाँ पर भी समझना चाहिये। आशय यह है कि यह संकरालंकार ही नहीं कहा जा सकता, अलंकारध्वनि नाम का यह ध्वनि का दूसरा भेद है । (यहाॅ तक संकर के विभिन्न भेदो मे ध्वनि का अन्तर्भाव क्यो नहीं होता यह दिखलाया जा चुका ।) संकर के सभी भेदों मे अर्थात् सामान्यतया संकर अलंकार मे ही ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता उसका प्रमाण आलोककार ने यह कहकर दिया है 'किसी भी संकर अलंकार मे संकर यह कथन ही ध्वनि की सम्भावना का निराकरण कर देता है । आलोककार ने लिखा है—'संकरालंकारेऽपि क्वचित् संकरोक्तिरेव' यहाॅ पर क्वचित् का सम्बन्ध संकरालंकार से है—'क्वचित् संकरालंकारेऽपि' अर्थात् कहीं भी किसी भी संकरालंकार मे । अर्थात् यह तर्क सब भेदों मे समान रूप से सङ्गत हो जाता है । 'संकर' यह जो नामकरण किया गया है वही इस बात को सिद्ध करता है कि संकरालंकार मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता नहीं होती । 'संकर' शब्द का अर्थ है संकीर्ण होजाना या मिश्रित होजाना, दूध और पानी की भाँति ऐसा मिश्रण जिसमे एक दूसरे का परिज्ञान ही न हो सके । ऐसी दशा मे एक की प्रधानता और दूसरे की गौणता कही ही कैसे जा सकती है।(आशय यह है कि जहाॅ अलंकारो मे प्राधान्य का निर्णय न किया जा सके या वाच्यालंकार प्रधान हो वहाँ संकर अलंकार होता है और जहाॅ व्यङ्ग्यालंकार प्रधान हो वहाँ संकरालंकारध्वनि होती है । अतएव संकरालंकार में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

लोचन

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।

अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥ भा० ३।२९

अप्रस्तुतस्य वर्णनं प्रस्तुताक्षेपिण इत्यर्थः । स चाक्षेपस्त्रिविधो भवति-सामान्यविशेषभावात्, निमित्तनिमित्तिभावात्, सारूप्याच्च । तत्र प्रथमे प्रकारद्वये प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोस्तुल्यमेव प्राधान्यमिति प्रतिज्ञां करोति—अप्रस्तुतेत्यादिना प्राधान्यमित्यन्तेन । तत्र सामान्यविशेषभावेऽपि द्वयी गतिः—सामान्यमप्राकरणिकं शब्देनोच्यते, गम्यते तु प्राकरणिको विशेषः, स एकः प्रकारः । यथा—

'अधिकार से पृथग्भूत अन्य वस्तु की जो प्रशंसा की जाती है उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं । यह तीन प्रकार की वर्णन की गई है ।'

अर्थात् प्रस्तुत का आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का वर्णन । और वह आक्षेप तीन प्रकार का होता है—सामान्य-विशेष भाव में; निमित्त-निमित्ति भाव में और सारूप्य मे । उनमे प्रथम दो प्रकारों मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत की प्रधानता तुल्य ही होती है यह प्रतिज्ञा करते हैं—अप्रस्तुत इत्यादि से प्राधान्यम् यहाँ तक । उसमे सामान्य-विशेष भाव मे भी दो गतियाँ होती है—सामान्य अर्थात् अप्राकरणिक शब्द के द्वारा कहा जाता है और प्राकरणिक विशेष अभिव्यक्त होता है यह एक प्रकार है । जैसे—

तारावती

इस प्रकरण के प्रारम्भ में समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक, संकर इत्यादि व्यञ्जनामूलक अलंकारों मे ध्वनि के अन्तर्भाव का प्रश्न उठाया था । उसी क्रम से यहाँ प्रत्येक अलंकार पर विचार किया गया और यह सिद्ध किया गया कि ध्वनि का अन्तर्भाव व्यञ्जनामूलक अलंकारों मे भी नहीं हो सकता । वहाँ पर 'इत्यादि' शब्द का जो प्रयोग किया गया था उसकी व्याख्या शेष रह गई । अतएव आलोककार अप्रस्तुतप्रशंसा नामक एक और अलंकार पर विचार कर इस प्रकरण की पूर्ति कर रहे हैं ।

प्राचीन आचार्य अधिकतर नामकरण के आधार पर ही परिभाषा बनाते थे । आचार्य दण्डी तथा भामह दोनों ने अप्रस्तुतप्रशंसा की केवल यह परिभाषा की है कि जहाँ पर अप्रस्तुत की स्तुति की जावे उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं । किन्तु अप्रस्तुत शब्द सापेक्ष है और स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसका प्रस्तुत से क्या सम्बन्ध हो ? यदि अप्रस्तुतमात्र का वर्णन किया जावेगा और उसका प्रस्तुत से कोई सम्बन्ध भी नहीं होगा तो वह प्रमत्त-प्रलापमात्र रह जावेगा । प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्ध के विषय मे प्राचीन आचार्य मौन हैं । दण्डी ने उदाहरण देकर जो उसकी व्याख्या की है उससे स्पष्ट होता है कि

तारावती

जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा के द्वारा प्रस्तुत की निन्दा व्यक्त हो उसे अप्रस्तुत-प्रशंसा कहते हैं। यद्यपि भामह ने व्याख्या नहीं की है तथापि उनके उदाहरण से प्रस्तुत की निन्दा की अभिव्यक्ति होती अवश्य है। किन्तु नवीन आचार्यों ने इस प्रशंसा शब्द को और अधिक बढ़ा दिया तथा इसे प्रकथन के अर्थ में मानकर अप्रस्तुतप्रशंसा का यह लक्षण बना दिया कि जहाँ कहीं अप्रस्तुत के प्रकथन के द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति हो उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। यहाँ पर अलंकार का बीज है—एक कथन के द्वारा दोनों की प्रतीति। यदि वाक्य में कई शब्द ऐसे हों जिनसे दोनों अर्थों की प्रतीति हो रही हो किन्तु कोई एक आध दो शब्द ऐसे हों जिनमें दोनों का आरोपात्मक अभिधान कर दिया गया हो तो उसे एकदेशविवर्ति रूपक कहते हैं। समासोक्ति में प्रस्तुत का कथन किया जाता है और अप्रस्तुत की प्रतीति होती है। इसके प्रतिकूल अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत का कथन किया जाता है और प्रस्तुत की प्रतीति होती है। समासोक्ति में विशेष्य-वाचक शब्द से केवल प्रस्तुत का बोध होता है, उससे अप्रस्तुत विशेष्य की प्रतीति नहीं होती किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है।

(अलंकारसर्वस्व में अप्रस्तुतप्रशंसा का परिचय इस प्रकार दिया गया है—'जहाँ सामान्य-विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सारूप्य में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति हो उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं। ऐसे स्थानों पर अप्रस्तुत का कहना ही ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि जो प्रस्तुत नहीं उसके कहने का अर्थ ही क्या? हाँ यदि वह प्रस्तुतपरक हो तो कदाचित् ठीक कहा जा सके। किन्तु यदि अप्रस्तुत का प्रस्तुत से सम्बन्ध न हो तो प्रस्तुत की प्रतीति ही नहीं होगी क्योंकि ऐसी दशा में अतिप्रसङ्ग हो जावेगा। सम्बन्ध तीन प्रकार का हो सकता है क्योंकि उन्हीं की अर्थान्तरप्रतीतिहेतुता सिद्ध हो सकती है। वे तीन प्रकार हैं—सामान्य-विशेष भाव, कार्य-कारण भाव और सारूप्य।)

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के सम्बन्धको लेकर आचार्यों ने अप्रस्तुतप्रशंसा को ५ भेदों में विभक्त किया है :—

> कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
> तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा॥ का॰ प्र॰ १०।९९

(१) जहाँ कार्य प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत निमित्त का कथन किया जावे (२) जहाँ निमित्त प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत कार्य का कथन किया जावे। (३) जहाँ सामान्य प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत विशेष का कथन किया जावे। (४) जहाँ विशेष प्रस्तुत हो और अप्रस्तुत सामान्य का कथन किया जावे। (५) जहाँ

लोचन

अहो संसार नैर्घृण्यमहो दौरात्म्यमापदाम् ।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः ॥

अत्र हि दैवप्राधान्यं सर्वत्र सामान्यरूपमप्रस्तुतं वर्णितं सत्प्रकृते वस्तुनि क्वापि

'संसार की निर्दयता पर आश्चर्य है; आपत्तियों की दुरात्मता पर आश्चर्य है, स्वभावतः कुटिल विधाता की न समझी जा सकनेवाली गतियों पर भी आश्चर्य है ।'

यहाँ निस्सन्देह सर्वत्र सामान्यरूप दैवप्राधान्य (इस) अप्रस्तुत का वर्णन

तारावती

एक वस्तु प्रस्तुत हो और तत्सदृश अन्य वस्तु का कथन किया जावे । प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं ५ भेदों पर विचार किया जा रहा है ।

भामह ने अप्रस्तुतप्रशंसा का यह लक्षण लिखा है—'प्रकरण से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु की जो स्तुति की जाती है वह अप्रस्तुतप्रशंसा होती है । यह तीन प्रकार की कही गई है ।' (१–इस कारिका में अधिकार शब्द का अर्थ है प्रकरण, जैसे व्याकरण मे संज्ञाधिकार, अङ्गाधिकार इत्यादि । २–न तो भामह की कारिका मे ही 'त्रिविधः परिकीर्तितः' यह पाठ है और न भामह ने तीन रूपों में उसका विभाजन ही किया है । भामह का पाठ इस प्रकार का है—'अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैव कथ्यते यथा ।' अपने समय की परम्परा के अनुसार 'त्रिविधः परिकीर्तितः' यह पाठ कर लिया गया है ।) यहाँ पर आशय यह है कि जहाँ प्रस्तुत का आक्षेप करनेवाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जावे उसे अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं । वह प्रस्तुत का आक्षेप तीन प्रकार का हो सकता है (१) सामान्य-विशेष भाव से (२) निमित्त-निमित्ति भाव से और (३) स्वरूप के सादृश्य के आधार पर । इनमें से प्रथम दो प्रकारों मे ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि इनमे वाच्य और व्यङ्ग्य, अप्रस्तुत और प्रस्तुत की प्रधानता समान होती है । यह बात आलोककार ने 'अप्रस्तुतप्रशंसायामपि' से लेकर 'प्राधान्यं' तक कही है । उनमें भेदों के आक्षेप का पहला कारण होता है सामान्य-विशेष भाव । इसके भी दो रूप हो सकते हैं—(१) जिस अप्राकरणिकका अभिधान किया जा रहा है वह सामान्य हो और जिस प्राकरणिक की व्यञ्जना हो रही है वह विशेष हो । जैसे कष्टपूर्ण परिस्थिति में पड़ा हुआ कोई व्यक्ति कह रहा है :—

'संसार की निर्घृणता पर खेद है, आपत्तियों की दुष्टता पर दुःख होता है, आश्चर्य होता है कि विधाता की स्वभावतः कुटिल गति का पार पाना कितना कठिन है ।'

ध्वन्यालोकः

यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद्विशेषस्यापि प्राधान्यम्। निमित्तनिमित्तिभावे-चायमेव न्यायः। यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वना-वेवान्तःपातः। इतरथात्वलङ्कारान्तरमेव।

(अनु०) और जहाँ विशेष का सामान्यनिष्ठत्व भी होता है वहाँ यद्यपि सामान्य प्रधान हो सकता है तथापि विशेष की भी प्रधानता होती है क्योंकि सामान्य मे समस्त विशेषों का अन्तर्भाव हो जाता है। यही न्याय निमित्त-निमित्तिभाव (कार्य-कारणभाव) मे होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय मे भी लागू होता है। जब अप्रस्तुतप्रशंसा मे सादृश्य के कारण ही अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध होता है तब यदि समानरूपवाले वाच्य अप्रस्तुत की प्रधानरूप मे विवक्षा न हो तो उसका ध्वनि मे अन्तर्भाव हो जावेगा। नहीं तो यह अलङ्कार-विशेष ही होगा।

लोचन

विनष्टे विशेषात्मनि पर्यवस्यति। तत्रापि विशेषांशस्य सामान्येन व्याप्तत्वाद्व्यङ्ग्यविशेष-वद्वाच्यसामान्यस्यापि प्राधान्यम्। नहि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्यं विरुध्यते। यदा तु विशेषोऽप्राकरणिकः प्राकरणिकं सामान्यमाक्षिपति तदा द्वितीयः प्रकारः। यथा—

किया हुआ कहीं विनष्ट विशेषात्मक प्रकृत वस्तु मे पर्यवसित होता है। उसमे भी विशेषांश के सामान्य से व्याप्त होने के कारण व्यङ्ग्य विशेष के समान सामान्य की भी प्रधानता है। सामान्य और विशेष की एकसाथ प्रधानता विरुद्ध नहीं होती। जब अप्राकरणिक विशेष प्राकरणिक सामान्य का आक्षेप करता है तब दूसरा प्रकार होता है। जैसे—

तारावती

यहाँ पर प्रस्तुत है किसी व्यक्ति की कष्टपूर्ण स्थिति और अप्रस्तुत है संसार की निर्घृणता इत्यादि। इस प्रकार दैवगति इत्यादि सामान्य बातों का उल्लेख-कर व्यक्तिविशेष की परिस्थिति की ओर सङ्केत किया गया है। संसार की निर्घृणता इत्यादि इसलिये सामान्य है कि ये सर्वत्र पाई जाती हैं और किसी व्यक्ति की किसी वस्तु का नष्ट हो जाना विशेष है क्योंकि वह एक व्यक्ति से ही सम्बन्धित है। अप्रस्तुत कथन का पर्यवसान प्रस्तुत मे होता है। सामान्य और विशेष का व्यापक-व्याप्यभाव सम्बन्ध होता है। विना सामान्य के विशेष नहीं रह सकता। अतएव विशेष अंश के सामान्य द्वारा व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार विशेषपरक व्यङ्ग्यार्थ प्रधान है उसीप्रकार सामान्यपरक वाच्यार्थ भी प्रधान ही है। सामान्य और विशेष की

लोचन

गुतत्तस्य मुखात्कियत्कमलिनीपत्रे कणं पाथसो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि ।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा ॥

अत्रास्थाने महत्त्वसम्भावनं सामान्यं प्रस्तुतम्, अप्रस्तुतं तु जलबिन्दौ मणित्वसम्भावनं विशेषरूपं वाच्यम्। तत्रापि सामान्यविशेषयोर्युगपत्प्राधान्ये न विरोध इत्युक्तम्। एवमेकः प्रकारो द्विभेदोऽपि विचारितः, यदा तावदित्यादिना विशेषस्यापि

'कमलिनी के पत्तेपर जलकण को उस मूर्ख ने जो प्रारम्भ से ही मुक्तामणि समझा यह कितनी (बडी) बात है ? इससे भी (अधिक आश्चर्यजनक) और सुनो—आदान किये जाने पर धीरे से अङ्गुली के अग्रभाग की लघु क्रिया से प्रविलीन हो जाने पर 'दुःख है कि कहाँ उडकर चला गया' इस आन्तरिक शोक से (वह) सो नहीं पाता ।'

यहाँ पर विना अवसर के महत्त्व की सम्भावना, यह सामान्य प्रस्तुत है, अप्रस्तुत तो जलबिन्दु मे मणित्व की सम्भावनाविशेष रूप वाच्य । उसमें भी सामान्य और विशेष की एक साथ प्रधानता में विरोध नहीं है, यह कह दिया गया । इस प्रकार 'यदा तावत्' से 'विशेषस्यापि प्राधान्यम्' यहाँ तक एक

तारावती

एक साथ प्रधानता विरुद्ध नहीं कही जा सकती । (व्यङ्ग्यार्थ के सामान्यातिशायी न होने के कारण यहाँ पर ध्वनि ही नहीं है फिर उसके अन्तर्भाव का प्रश्न ही नही उठता ।) (२) अप्रस्तुत प्रशंसा का दूसरा भेद वह होता है जहाँ विशेष अप्रस्तुत हो और सामान्य प्रस्तुत हो । विशेष का अभिधान किया जावे और उससे सामान्य का आक्षेप हो जावे । जैसे :—

'यह कोई बडी बात नही है कि उस मूर्ख ने प्रथम अवलोकन के अवसर पर कमलिनी के पत्तेपर स्थित जलबिन्दुओ को मुक्तामणि समझ लिया । मै तुम्हें इससे भी अधिक विचित्र बात सुनाता हूँ—अङ्गुली के अग्रभाग को धीरे से घुमाकर जैसे ही उसने उन मुक्तावलियों को लेने की चेष्टा की वे जलबिन्दु एकदम विलीन हो गये । अब यह समझकर कि वे मुक्तामणियाँ न जाने कहाँ उड गईं वह मूर्ख रात दिन दुःखी रहता है और अन्तःशोक से सो नही सकता ।'

यहाँ पर प्रस्तुत है—'मूर्खों की ममता ऐसे स्थान पर होती है जहाँ उसके होने का कोई अवसर नहीं होता ।' और विशेष है—'कमलिनीपत्र पर जलबिन्दुओ में मुक्तामणियों की सम्भावना ।' विशेष वाच्य है और सामान्य व्यङ्ग्य । दोनो

लोचन

प्राधान्यमित्यन्तेन। एतमेव न्यायं निमित्तनैमित्तिकभावेऽतिदिशंस्तस्यापि द्विप्रकारतां दर्शयति---निमित्तेति। कदाचिन्निमित्तमप्रस्तुतं सदभिधीयमानं नैमित्तिकं प्रस्तुतमाक्षिपति। यथा---

ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिं नोज्झन्ति व्यसनेषु च।
ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकः स्वार्थपरोऽपरः॥

अत्राप्रस्तुतं सुहृद्बान्धवरूपत्वं निमित्तं सज्जनासक्त्या वर्णयति नैमित्तिकी श्रद्धेयवचनतां प्रस्तुतामात्मनोऽभिव्यङ्क्तुम्, तत्र नैमित्तिकप्रतीतावपि निमित्तप्रतीतिरेव प्रधानीभवत्यनुप्राणकत्वेनेति न व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः। कदाचित्तु नैमित्तिकमप्रस्तुतं वर्ण्यमानं सत्प्रस्तुतं निमित्तं व्यनक्ति। यथा सेतौ---

प्रकार का दोनों भेदों में विचार कर लिया गया। इसी ही न्याय का निमित्त-नैमित्तिक भाव मे भी अतिदेश करते हुए उसकी भी द्विप्रकटता को दिखलाते हैं---निमित्त इत्यादि। कदाचित् निमित्त अप्रस्तुत होते हुये अभिधीयमान नैमित्तिक प्रस्तुत का आक्षेप करता है। जैसे---

'जो अभ्युदय मे प्रेम को प्राप्त होते हैं और आपत्ति मे छोडते नही हैं वे ही बान्धव हैं, वे ही मित्र हैं और लोक स्वार्थपरायण है।'

यहाँ पर नैमित्तिकी अपनी प्रस्तुत श्रद्धेयवचनता को अभिव्यक्त करने के लिये अप्रस्तुत सुहृद्बान्धवरूपत्व निमित्त का सज्जनों की आसक्ति के द्वारा वर्णन कर रहे है। उसमे नैमित्तिक की प्रतीति मे भी निमित्तप्रतीति ही अनुप्राणक के रूप में प्रधान हो जाती है इस प्रकार व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का प्राधान्य नहीं है। कभी तो नैमित्तिक अप्रस्तुत वर्ण्यमान होते हुये प्रस्तुत निमित्त को व्यक्त करता है। जैसे सेतु में---

तारावती

की एक साथ प्रधानता है जो कि विरुद्ध नहीं कही जा सकती जैसा कि पहले निरूपण किया जा चुका है। इस प्रकार प्रथम भेद के दोनों प्रकारों पर विचार किया गया कि उनमे ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। यही बात आलोक मे 'यदा तावत्' से लेकर 'विशेषस्यास्ति प्राधान्यं' तक कही गई है। जो बात सामान्य विशेष में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के लिये कही गई है वही बात निमित्त-नैमित्तिक भाव में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के लिये भी कही जा सकती है। उसी का अतिदेश (समान न्याय) आलोक में 'निमित्त-नैमित्तिकभावे चायमेव न्यायः' यह कह कर किया गया है। निमित्त-नैमित्तिक भाव में अप्रस्तुतप्रशंसा एक तो ऐसी होती हैं कि उसमे निमित्त अप्रस्तुत होकर वाच्य होता है और वह

लोचन

सग्गं अपारिजाअं कोत्थुअ लच्छिरहिअं महुमहस्स उरम् ।

सुमरामि महणपुरओ अमुद्धअन्दं च हरजडापब्भारम् ॥

अत्र जाम्बवान् कौस्तुभलक्ष्मीविरहितहरिवक्षःस्मरणादिकमप्रस्तुतनैमित्तिकं वर्णयति प्रस्तुतं वृद्धसेवाचिरजीवित्वव्यवहारकौशलादिनिमित्तभूतं मन्त्रितायामुपादेयमभिव्यङ्क्तुम् । तत्र निमित्तप्रतीतावपि नैमित्तिकं वाच्यभूतम्; प्रत्युत तन्निमित्तानुप्राणितत्वेनोद्धुरीकरोत्यात्मानमिति समं प्रधानतैव वाच्यव्यङ्ग्ययोः । एवं द्वौ प्रकारौ

'मैं मन्थन से पहले पारिजातरहित स्वर्ग, कौस्तुभ और लक्ष्मीरहित मधुमथन का उरःस्थल और मुग्धचन्द्ररहित शङ्करजटा के अग्रभाग का स्मरण करता हूँ ।'

यहाँ पर जाम्बवान् कौस्तुभ-लक्ष्मीरहित विष्णुवक्षस्थल के स्मरणादिक अप्रस्तुत नैमित्तिक का वर्णन करते हैं । प्रस्तुत वृद्धसेवा, चिरञ्जीवित्व, व्यवहार-कौशल इत्यादि मन्त्रिता में उपादेय निमित्तभूत की अभिव्यक्ति के लिये (यह वर्णन किया गया है ।) वहाँ पर निमित्त की प्रतीति में भी नैमित्तिक वाच्यभूत है, इसके प्रतिकूल उस निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होने के कारण अपने को प्रधान बना लेता है । इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य की समप्रधानता ही है । इस

तारावती

प्रस्तुत नैमित्तिक की व्यञ्जना करता है । जैसे कोई व्यक्ति अपने बान्धवों की अपेक्षा अपने किसी निकटवर्ती मित्र का विशेष पक्षपाती है और उसी की बात मानता है । जब उससे इसका कारण पूछा जाता है तब वह कहता है—

'जो लोग अभ्युदय में प्रसन्न होते हैं और विपत्ति में साथ नहीं छोड़ते वे ही बन्धु हैं, वे ही मित्र हैं, संसार के अन्य लोग तो स्वार्थ के साथी होते हैं ।'

यहाँ पर सुहृद् और बान्धव के सज्जनों द्वारा स्वीकार किये हुये सच्चे स्वरूप का वर्णन किया गया है जो कि अप्रस्तुत है तथा प्रस्तुत है 'अपने किसी विशेष हितैषी की बात मानना ।' सुहृद् तथा बान्धव का सामान्य स्वरूप निमित्त है और बात मानना नैमित्तिक है । निमित्त का अभिधान नैमित्तिक की अभिव्यक्ति के लिये किया गया है । यद्यपि नैमित्तिक की प्रतीति हो जाती है तथापि निमित्त का अभिधान ही प्रधान है क्योंकि वही नैमित्तिक का अनुप्राणन करता है । अतएव व्यङ्ग्य-व्यञ्जक की यहाँ प्रधानता नहीं है जिससे यह ध्वनिकाव्य कहा जा सके । (४) कभी-कभी नैमित्तिक अप्रस्तुत होता है जिसका अभिधान इसीलिये किया जाता है जिससे प्रस्तुत निमित्त की अभिव्यक्ति हो जावे । जैसे सेतुबन्ध काव्य में जाम्बवान् एक मन्त्री के उपयुक्त गुणों पर प्रकाश डालते हुये कह रहे हैं :—

लोचन

प्रत्येकं द्विविधौ विचार्य तृतीयः प्रकारः परीक्ष्यते सारूप्यलक्षणः। तत्रापि द्वौ प्रकारौ– अप्रस्तुतात्कदाचिद्वाच्याच्चमत्कारः, व्यङ्ग्यं तु तन्मुखप्रेक्षम्। यथास्मदुपाध्याय- प्रकार दो प्रकारों में प्रत्येक के दो-दो प्रकारों पर विचारकर सारूप्यलक्षण तृतीय प्रकार की परीक्षा की जा रही है। उसमें भी दो प्रकार होते हैं—कभी वाच्य अप्रस्तुत से चमत्कार होता है और व्यङ्ग्य तन्मुखापेक्षी होता है। जैसे हमारे

तारावती

'मुझे समुद्र मन्थन से पूर्व पारिजात से रहित स्वर्ग, मधुमथन भगवान् विष्णु का कौस्तुभ तथा लक्ष्मी से रहित वक्षस्थल तथा भगवान् शङ्कर का मुग्धचन्द्रशून्य जटाप्राग्भार याद आ रहा है।'

जाम्बवान् यहाँ पर कहना यह चाहते हैं कि एक मन्त्री मे अनेक उपादेय गुण होने चाहिये। जब तक ये गुण नहीं होते बहुत समय तक मन्त्री पद का निर्वाह नहीं हो सकता। जाम्बवान् मे ये गुण थे इसीलिये उन्होंने मन्त्री पद मे इतने दिनो तक सफलता प्राप्त की कि वे उस समय से मन्त्री पद पर कार्य करते रहे है जब कि समुद्र-मन्थन भी नहीं हुआ था। यहाँ पर जाम्बवान् मे मन्त्री पद के अनेक गुण कारण है जिससे उनका इतने समय तक सफल रहना और इतने समय पूर्व का स्मरणरूप कार्य सम्पन्न हुआ है। जाम्बवान् ने यहाँ पर भगवान् के कौस्तुभ-लक्ष्मीशून्य वक्षस्थल के स्मरण इत्यादि कार्यो का वर्णन किया है जो कि अप्रस्तुत है। यह अप्रस्तुत का वर्णन वृद्धसेवा, चिरजीवन, व्यवहारकुशलता इत्यादि मन्त्रित्व के उपादेय गुणो को अभिव्यक्त करने के लिये ही किया गया है जो कि पारिजातरहित स्वर्ग इत्यादि के स्मरणरूप कार्य मे निमित्त है। यद्यपि यहाँ पर निमित्त की प्रतीति होती है किन्तु नैमित्तिक (कार्य) वाच्य है। यदि व्यङ्ग्यार्थ निमित्त इसलिये प्रधान है कि वक्ता द्वारा उसीको अभिव्यक्त करना अभीष्ट है तो वाच्यार्थ नैमित्तिक इसलिये प्रधान है कि वह व्यंग्यार्थ निमित्त के द्वारा अनुप्राणित होता है। इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्य की प्रधानता एक जैसी हो गई। अतएव न तो इस काव्य को हम ध्वनि कह सकते है और न ध्वनि का अप्रस्तुतप्रशंसा के इस भेद मे समावेश का प्रश्न उठता है। इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा के दो भेद मे प्रत्येक के दो-दो प्रकारो पर विचार किया जा चुका। अब उसके तीसरे भेद स्वरूपसादृश्य मे होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा पर विचार किया जा रहा है। [सादृश्य में होनेवाली अप्रस्तुतप्रशंसा के तीन भेद किये गये है—श्लेषमूलक, समासोक्ति-मूलक और केवल सादृश्य मूलक। किन्तु यहाँ पर लोचनकार ने इन सब भेदो पर विचार न कर सभी को सादृश्यमूलकता मे ही सन्निविष्ट कर दिया है।] सादृश्य

लोचन

भट्टेन्दुराजस्य—

> प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद् येन त्वमुत्थापितः।
> स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि।
> तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन् प्राणापहारक्रियाम्।
> भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताल लीलायसे॥

अत्र यद्यपि सारूप्यवशेन कृतघ्नः कश्चिदन्यः प्रस्तुत आक्षिप्यते, तथाप्यप्रस्तुतस्यैव वेतालवृत्तान्तस्य चमत्कारकारित्वम्। नह्यचेतनोपालम्भवदसम्भाव्यमानोऽयमर्थो न च न हृद्य इति वाच्यस्यात्र प्रधानता। यदि पुनरचेतनादिनात्यन्तासम्भाव्यमानतदर्थविशेषणेनाप्रस्तुतेन वर्णितेन प्रस्तुतमाक्षिप्यमाणं चमत्कारकारि तदा वस्तुध्वनिरसौ। यथा ममैव—

उपाध्याय भट्टेन्दुराज का—

'जिसने तुम्हे प्राण समर्पित किये, जिसने तुम्हे बलपूर्वक उठाया, बहुत समय तक जिसके कन्धे पर बैठे रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, केवल मुस्कुराहट से ही इस उसके प्राणापहरण का कार्य करनेवाले भाई वेताल! तुम प्रत्युपकारियों के आगे रहने की लीला धारण कर रहे हो।'

यहाँ पर यद्यपि सारूप्य के कारण कोई दूसरा प्रस्तुत कृतघ्न आक्षिप्त किया जाता है तथापि अप्रस्तुत वेतालवृत्तान्त का ही चमत्कारित्व है। अचेतन के उपालम्भ के समान यह अर्थ असम्भाव्यमान नहीं है और न यही है कि हृद्य न हो, इस प्रकार यहाँ पर वाच्यार्थ की प्रधानता है। यदि पुनः अत्यन्त असम्भाव्यमान अप्रस्तुतार्थ विशेषणोंवाले वर्णन किये हुये अप्रस्तुत के द्वारा आक्षिप्त किया हुआ प्रस्तुत चमत्कारकारक हो तो वह वस्तुध्वनि होती है। जैसे मेरा ही—

तारावती

के आधार पर अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना दो प्रकार की हो सकती है—(१) कभी ऐसा होता है कि चमत्कार अप्रस्तुत वाच्य के आधीन होता है और व्यङ्ग्य तन्मुखापेक्षी होकर गौण हो जाता है। जैसे हमारे ही उपाध्याय भट्टेन्दुराज का पद्य—

'जिसने तुम्हें प्राण समर्पित किये, जिसने तुम्हें बलपूर्वक उठाया, जिसके कन्धे पर तुम बहुत समय तक स्थित रहे, जिसने तुम्हारी पूजा भी की, ऐसे इस व्यक्ति के प्राणों को केवल मुस्कुराहट से ही अपहरण कर रहे हो। हे भाई वेताल! आज तो तुम प्रत्युपकार करनेवालों के सरमौर होकर आनन्द कर रहे हो।'

यहाँ पर किसी कृतघ्न के प्रति उपालम्भ प्रस्तुत विषय है जिसकी व्यञ्जनावृत्ति

लोचन

भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन् ।
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य सङ्क्रीडसे ॥
स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुश्शिक्षितो ।
मन्येऽमुष्य जडात्मतास्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात् ॥

'हे भावसमूह ! जो कि हठपूर्वक व्यक्ति के हृदय को आक्रान्त कर नचाते हुए विविध भङ्गिमाओं से अपने हृदय को आच्छादित कर क्रीडा करते हो; वह तुमको जड़ कहता है और उससे अपनी सहृदयम्मन्यता से दुश्शिक्षित है । इसकी जडात्मता को मैं तुम्हारे साम्य की सम्भावना से प्रशंसा ही समझता हूँ ।'

तारावती

से अभिव्यक्ति होती है । वेताल-वृत्तान्त अप्रस्तुत वाच्य है । किन्तु चमत्कार में कारण वेताल-वृत्तान्त ही है । (क्योंकि 'हमने तुम्हारा उपकार किया किन्तु तुम अपकार कर रहे हो, यह तुम्हे शोभा नहीं देता' इस आक्षिप्त व्यङ्ग्य की अपेक्षा वेताल के प्रति प्राणसमर्पण इत्यादि उक्त वाक्य अधिक चमत्कारकारक है ।) यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि अतीत के वेताल के प्रति इन शब्दों के प्रयोग मे असम्भवता का प्रतिभास होता है अतः वाच्य सुन्दर नहीं हो सकता । जिस प्रकार अचेतन के प्रति उपालम्भ सम्भावना क्षेत्र से बाह्य होते हुये भी असुन्दर नहीं होता उसी प्रकार यह अर्थ भी असुन्दर नहीं है । काव्य मे इस प्रकार के वर्णन असम्भव नहीं माने जाते । लोक के मानदण्ड सर्वत्र काव्य के मानदण्ड नही होते । अतएव वाच्य अर्थ की ही यहाॅ पर प्रधानता है । और यहाॅ पर सारूप्यनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही है ध्वनि नहीं । (२) दूसरे प्रकार की सादृश्यनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा ऐसे स्थान पर कही जा सकती है जहाॅ अत्यन्त असम्भव विशेषणों के द्वारा अचेतन इत्यादि अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है और उससे चेतन प्रस्तुत का आक्षेप कर लिया जाता है तथा अर्थपर्यवसान उसी प्रक्षिप्त प्रस्तुत अर्थ मे ही होता है । अतः उसी अर्थ की प्रधानता होती है । वहाॅ पर अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार नहीं होगा । उसका समावेश व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता के कारण ध्वनि काव्य के अन्तर्गत होगा।उदाहरण के लिये जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) पद्य—

'हे भावों के समूह ! तुम मनुष्यों के हृदयों पर हठपूर्वक आक्रमण करके उनको नचाया करते हो । विभिन्न प्रकार की भङ्गिमाओं के द्वारा अपने हृदय को छिपाये रहते हो और दूसरों के हृदयों के साथ खेलते हो । वे ही तुम्हें जड़ कहते है और स्वयं सहृदयम्मन्यता के अवलेप मे पड़े हुये है । तुम्हारे साम्य की सम्भावना से उनको जड कहना ही मुझे उनकी प्रशंसा प्रतीत होती है ।'

लोचन

कश्चिन्महापुरुषो वीतरागोऽपि सरागवदिति न्यायेन गाढविवेकालोकनिरस्ततिमिरप्रधानोऽपि लोकमध्ये स्वात्मानं प्रच्छादयल्लोँकं च वाचालयन्नात्मन्यप्रतिभासमेवाङ्गीकुर्वंस्तेनैव लोकेन मूर्खोऽयमिति यदवज्ञायते तदा तदीयं लोकोत्तरं चरितं प्रस्तुतं व्यङ्ग्यतया प्राधान्येन प्रकाश्यते। जडोऽयमिति उद्यानेन्दूदयादिर्भावो लोकेनावज्ञायते, स च प्रत्युत कस्यचिद्विरहिण औत्सुक्यचिन्तादूयमानमानसतामन्यस्य प्रहर्षपरवशतां करोतीति हठादेव लोकं यथेच्छं विकारकारणाभिर्नर्तयति। न च तस्य हृदयं केनापि ज्ञायते कीदृगयमिति, प्रत्युत महागम्भीरोऽतिविदग्धः सुष्ठुगर्वहीनोऽतिशयेन क्रीडा-

कोई महापुरुष वीतराग होते हुये भी रोगी के समान प्रगाढ़ विवेक के आलोक से अन्धकार के विस्तार का निरस्कार किये हुये भी लोक के मध्य में अपने को छिपाते हुये इस न्याय से लोक को वाचालित करते हुये अपने अन्दर अप्रतिभास को ही अङ्गीकृत करते हुये उसी लोक के द्वारा 'यह मूर्ख है' इस रूप में जो अपमानित किया जाता है तब उसका प्रस्तुत लोकोत्तर चरित्र व्यङ्ग्य के रूप में प्रधानता से प्रकाशित होता है। 'यह जड है' यह कहकर उद्यान, चन्द्रोदय इत्यादि भाव लोक के द्वारा अपमानित किया जाता है। प्रत्युत वह भाव किसी विरही के मन को औत्सुक्य और चिन्ता से कंपानेवाला तथा दूसरे के मन को प्रहर्षपरवश बना देता है इस प्रकार हठपूर्वक स्वेच्छा से ही विकारों को उत्पन्नकर लोक को नचा देता है। उसके हृदय को कोई नहीं जान पाता कि यह किस प्रकार का है; प्रत्युत महागम्भीर अत्यन्त विदग्ध भलीभाँति गर्वरहित अत्यन्त क्रीडाचतुर होता

तारावती

यहाँ पर प्रस्तुत अर्थ यह है कि कोई महापुरुष यद्यपि वीतराग है, अपने घने ज्ञानालोक के प्रकाश से मोहान्धकार के विस्तार का सर्वथा निराकरण कर चुका है किन्तु रागान्ध लोगों के सामने स्वयं रागान्धता प्रकट करनी चाहिये इस नीति को लेकर संसार में अपनी वीत रागता को प्रच्छादित कर संसार को मूर्ख बनाने के लिये ऐसी बातें करता है जिससे लोग अज्ञानान्धकार में पड़ा हुआ समझकर उसको मूर्ख बतलाते हैं और अपने अन्दर अज्ञानान्धकार को स्वीकार कर लेता है। उसका यह लोकोत्तर चरित्र प्रस्तुत है जिसकी व्यञ्जना उक्त पद्य में की गई है तथा यह व्यङ्ग्यार्थ अप्रस्तुत से अभिव्यक्त होकर प्रधान हो जाता है। यहाँ पर अप्रस्तुत वाच्यार्थ इस प्रकार होगा—भाव का अर्थ है अपनी सत्ता स्थापित रखनेवाले तथा सहृदयों में किसी भावना को जगानेवाले चन्द्रोदय उद्यान इत्यादि विश्व के सुन्दरतम पदार्थ। संसार इनको जड़ समझकर इनका अपमान करता है। इसके प्रतिकूल वे भाव किसी विरही के मन को उत्कण्ठा और चिन्ता से झकझोर डालते है तथा किसी संयोगी के अन्तःकरण को प्रहर्षपरवश कर देते हैं। इस प्रकार वे भाव

लोचन

चतुरः स यदि लोकेन जड इति तत एव कारणात् प्रत्युत वैदग्ध्यसम्भावनानिमित्तात्सम्भावितः, आत्मा च यत एव कारणात्प्रत्युत जाड्येन सम्भाव्यस्तत एव सहृदयः सम्भावितस्तदस्य लोकस्य जडोऽसीति यद्यु च्यते तदा जाड्यमेवंविधस्य भावव्रातस्यातिविदग्धस्य प्रसिद्धमिति सा प्रत्युत स्तुतिरिति । जडादपि पापीयानयं लोक इति ध्वन्यते ।

तदाह—यदा त्विति। इतरथा त्विति। इतरथैव पुनरलङ्कारान्तरत्वमलङ्कारविशेषत्वं न व्यङ्ग्यस्य कथञ्चिदपि प्राधान्यम् , इति भावः ।

है । वह यदि लोक के द्वारा वैदग्ध्य-सम्भावना मे निमित्त उन्हीं कारणो से प्रत्युत 'जड है' इस रूप में सम्भावित कर लिया जाता है और जिन कारणों से अपने को जाड्य के रूप में सम्भावित किया जाना चाहिये उन्हीं कारणों से (अपने को) सहृदय समझता है वह इस लोक के लिये 'जड हो' यह जो कहा जावे तब इस प्रकार के अविदग्ध भावसमूह की जडता प्रसिद्ध है इस प्रकार वह प्रत्युत स्तुति ही है । यह लोक जड़ से भी अधिक पापवाला है यह ध्वनित होता है ।

वहाँ कहते हैं—यदात्विति । इतरथात्विति । अन्य प्रकार से ही अलङ्कारान्तरत्व अर्थात् विशेष प्रकार का अलङ्कार होता है। आशय यह कि व्यंग्य का किसी प्रकार भी प्राधान्य नहीं होता ।

तारावती

समूह जब जैसा चाहते है लोगों के हृदयों मे विकार उत्पन्न करते हुए बलपूर्वक उसे नचाया करते हैं, कोई नहीं जान पाता कि वे भावसमूह स्वयं किस प्रकार के हैं । वस्तुतः वे भावसमूह स्वयं तो बडे ही गम्भीर, अतिनिपुण, भलीभॉति गर्वरहित और दूसरों के साथ खिलवाड़ करने मे अत्यन्त चतुर हैं । इन्हीं कारणों से (अर्थात् अपने को छिपाने के ही कारण) लोग उन्हें जड़ समझते हैं जब कि इन भावों को अत्यन्त विदग्ध समझना चाहिये । जिन कारणों से अपने को जड समझना चाहिये उन्हीं कारणों से लोग अपने को सहृदय समझते हैं। आशय यह है कि विदग्ध वस्तुओं को जड़ समझने के कारण लोक स्वयं तो जड़ है और अपने को सहृदयतम समझना है। इससे बड़ी जड़ता और क्या हो सकती है कि विदग्ध को जड़ और जड़ को विदग्ध कहा जावे। ऐसे लोक के लिये यदि जड कहा जावे और इस प्रकार के भावसमूह से उपमा दी जावे जो अविदग्ध लोगों के लिये जड़रूप मे प्रसिद्ध हो चुके है तो यह उनकी प्रशंसा ही होगी। आशय यह है कि यह संसार जड जगत् की अपेक्षा भी अधिक पापी (जड, मूर्ख) है। [यहॉ पर 'जड जगत् को जड़ कहनेवाले मूर्ख है' इस वाच्यार्थ मे उतना चमत्कार नहीं है जितना किसी ज्ञानी लोगों को बनाने के लिये स्वयं अज्ञानी बन जाने के व्यङ्ग्यार्थ में है । अतः यह ध्वनि का क्षेत्र है । यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ही नहीं जो कि उसमे ध्वनि के अन्तर्भाव की कल्पना की जावे ।] यही बात

ध्वन्यालोकः

तदयमत्र संक्षेपः—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥

(अनु०) इस सम्पूर्ण व्याख्यान का सारांश यह है—

'जहाँ पर केवल वाच्यार्थ का अनुयायी होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान हो गया हो वहाँ पर स्पष्टरूप से समासोक्ति इत्यादि वाच्यालङ्कार होते हैं । जहाँ पर व्यङ्ग्य का स्पष्ट रूप से आभासमात्र मिल रहा हो, अथवा व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ का अनुगमन कर रहा हो या उसकी प्रधानता प्रतीत न हो, वहाँ पर ध्वनि नहीं होती । जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यपरक हों और वहाँ पर संकर अलंकार हो सकने का अवसर न हो तो वह ध्वनि का विषय होता है ।

लोचन

उद्देश्ये यदादिग्रहणं कृतं समासोक्तीत्यत्र द्वन्द्वे तेन व्याजस्तुतिप्रभृतिरलङ्कार-वर्गोऽपि सम्भाव्यमानव्यङ्ग्यानुवेशः सम्भावितः । तत्र सर्वत्र साधारणमुत्तरं दातुमुपक्रमते—तदयमत्रेति । कियद्वा प्रतिपदं लिख्यतामिति भावः । तत्र व्याजस्तुतिर्यथा—

उद्देश मे समासोक्ति इत्यादि द्वन्द्व मे जो आदि ग्रहण किया गया है उससे व्याजस्तुति इत्यादि अलङ्कारवर्ग की भी सम्भावना की गई है जिसमे व्यंग्य की सम्भावना की जा सकती है । उसमें सर्वत्र साधारण उत्तर देने का उपक्रम कर रहे है—तदयमत्र इत्यादि । आशय यह है कि प्रतिपद अथवा कहाँ तक लिखा जावे । उसमे व्याजस्तुति जैसे—

तारावती

आलोक मे 'यदा तु' 'से लेकर 'ध्वनावेवान्तःपातः' तक कही गई है । 'नहीं तो विशेषप्रकार का अलङ्कार होता है' कहने का आशय यह है कि व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता मे ही अप्रस्तुतप्रशंसा नाम का अलङ्कारविशेष होता है व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता मे ही प्रधानता मे तो अलंकार हो ही नहीं सकता ।

जिन व्यञ्जनामूलक अलङ्कारो मे ध्वनि के अन्तर्भाव का निराकरण करने की प्रतिज्ञा की थी उन समासोक्ति आक्षेप इत्यादि अलङ्कारों मे द्वन्द्व समास करके 'इत्यादि' शब्द जोड़ दिया था। इससे व्याजस्तुति इत्यादि व्यङ्ग्यार्थमूलक अलङ्कारों

लोचन

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किन्तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

अत्र व्यङ्ग्यं स्तुत्यात्मकं यत्तेन वाच्यमेवोपस्क्रियते । यत्तूदाहृतं केनचित्—

'दूसरे के घर में होनेवाले वृत्तान्त से क्या ? किन्तु मैं मौन होकर स्थित होने मे समर्थ नहीं हूँ क्योंकि दाक्षिणात्यों का स्वभाव प्राकृतिक रूप से मुखर होता है । खेद है कि आपकी प्रियतमा कीर्ति घर-घर मे, बाजारों मे, चौराहों पर, मधुशालाओं में उन्मत्त के समान घूमती रहती है ।'

यहाँ पर जो स्तुत्यात्मक व्यंग्य है उससे वाच्य ही उपस्कृत होता है । जो कि किसी ने उदाहरण दिया था—

तारावती

मे भी ध्वनि के समावेश की सम्भावना का निराकरण हो गया । (आलोककारने इत्यादि शब्द से अप्रस्तुतप्रशंसा पर भी विचार कर लिया ।) उन सभी शेष अलङ्कारों मे ध्वनि के समावेश का एक साधारण उत्तर आलोककार ने अगले श्लोको मे दिया है । आशय यह है कि प्रत्येक अलङ्कार को लेकर कहाँ तक लिखा जावे । अभिनवगुप्त ने 'इत्यादि' शब्द से व्याजस्तुति और भाव इन दो अलङ्कारों पर और विचार किया है। उनमें पहले व्याजस्तुति को लीजिये । [व्याजस्तुति के विषय मे भी प्राचीन और नवीन मतों में भेद है । प्राचीन आचार्य 'व्याजेन स्तुतिः' इस तत्पुरुष समास के आधार पर जहाँ निन्दा वाच्य हो उसे व्याजस्तुति मानते है । किन्तु नवीन आचार्य 'व्याजरूपा स्तुतिः' यह कर्मधारय समास और जोड़कर दोनो स्थानों पर व्याजस्तुति मानते है-(१) जहाँ प्रशंसा की अभिव्यक्ति के लिये निन्दा की जावे, अथवा (२) जहाँ निन्दा की अभिव्यक्ति के लिये प्रशंसा की जावे । यहाँ पर लोचनकार ने केवल उभयसम्मत प्रथम प्रकार की व्याजस्तुति का उदाहरण दिया है ।]

'दूसरों के घर की बात से हमें क्या ! किन्तु मैं चुप बैठने मे असमर्थ हूँ । दाक्षिणात्य लोग स्वभाव से ही मुखर होते हैं । दुःख की बात है कि हे राजन् ! आपकी प्रियतमा कीर्ति घर-घर, बाजारों में, चौराहों पर और पानगोष्ठियों में उन्मत्त के समान जहाँ-तहाँ घूम रही है ।'

यहाँ पर प्रशंसात्मक व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण है । किसी ने व्याजस्तुतिका यह उदाहरण दिया है:—

लोचन

आसीन्नाथ पितामही तव मही, जाता ततोऽनन्तरम्
माता, सम्प्रति साम्बुराशिरशना जाया कुलोद्भूतये ॥
पूर्णे वर्षशते भविष्यति पुनः सैवानवद्या स्नुषा
युक्तं नाम समग्रनीतिविदुषां किं भूपतीनां कुले ॥

इति, तदस्माकं ग्राम्यं प्रतिभात्यत्यन्तासभ्यस्मृतिहेतुत्वात्। का चानेन स्तुतिः कृता? त्वं वंशक्रमेण राजेति हि कियदिदम्? इत्येवंप्राया व्याजस्तुतिः सहृदयगोष्ठीषु निन्दितेत्युपेक्ष्यैव।

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबन्धस्तु हेतुना येन।
गमयति तमभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥

'हे नाथ! पृथ्वी तुम्हारी पितामही थी, उसके बाद माता बन गई: अब कुल की उद्भूति के लिये अम्बुराशिरूपी रशना के सहित तुम्हारी जाया बन गई। जब सौ वर्ष पूरे हो जावेंगे तो वही तुम्हारी अनिन्दनीय पुत्रवधू हो जावेगी। समस्त-नीतियों में निपुण राजाओं के घर में क्या यह उचित है?'

यह हमें ग्राम्य ही प्रतीत होता है क्योंकि यह अत्यन्त असभ्य स्मृति में हेतु है। और इसने स्तुति की क्या? 'तुम वंशक्रम से राजा हो' यह कितनी स्तुति हुई? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदयों की गोष्ठी में निन्दित ही होती है अतः इसकी उपेक्षा ही की जानी चाहिये।

'जिसका अप्रतिबन्ध विकार प्रादुर्भूत होते हुए जिस हेतु से उस अभिप्राय को व्यक्त करता है वह प्रतिबन्ध (हेतु) भाव होता है।'

तारावती

'हे राजन्! पृथ्वी पहले तुम्हारी दादी थी; इसके बाद माता बन गई। इस समय अम्बुराशिकी मेखला से विभूषित वह भूमि तुम्हारे कुल की वृद्धि के लिये तुम्हारी धर्मपत्नी बन गई। जब सौ वर्ष पूरे हो जावेंगे तब वही तुम्हारी अभिन्दनीय पुत्रवधू बन जावेगी। क्या समस्तनीति-पारङ्गत राजाओ के वंश मे यह ठीक है?'

यह उदाहरण हमें (अभिनवगुप्त को) अत्यन्त गंवारू मालूम पड़ता है क्योंकि इससे बहुत ही असभ्य स्मृति जाग्रत होती है। (फिर जिस प्रशंसा के लिये इस कवि ने दादी को माँ, माँ को पत्नी और पत्नी को पुत्रबधू बनाया) वह प्रशसा इसने क्या कर दी? यही न कि तुम वंश-परम्परा से राजा हो। यह क्या बात हुई। वंश-परम्परा से तो राजा हुआ ही करते हैं। इसमे प्रशंसा क्या हो गई? इस प्रकार की व्याजस्तुति सहृदयगोष्ठी में निन्दित मानी जाती है; अतएव इसकी उपेक्षा ही करनी चाहिये।

लोचन

अत्रापि वाच्यप्राधान्ये भावालङ्कारता। यस्य चित्तवृत्तिविशेषस्य सम्बन्धी वाग्व्यापारादिर्विकारोऽप्रतिबन्धो नियतः प्रभवंस्तं चित्तवृत्तिविशेपरूपमभिप्रायं येन हेतुना गमयति स हेतुर्यथेष्टोपभोग्यत्वादि लक्षणोऽर्थो भावालङ्कारः। यथा—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥

अत्र व्यङ्ग्यमेकैकत्र पदार्थे उपस्कारीति वाच्यं प्रधानम्। व्यङ्ग्यप्राधान्ये तु ना काचिदलङ्कारतेति निरूपितमित्यलं बहुना।

यहाँपर भी वाच्य की प्रधानता मे भावालङ्कार होता है? जिस विशेप प्रकार की चित्तवृत्ति से सम्बद्ध वाग्व्यापार इत्यादि विकार अप्रतिबन्ध अर्थात् नियत रूप मे उत्पन्न होते हुये उस चित्तवृत्तिरूप विशेष अभिप्राय को व्यक्त करता है; वह हेतु अर्थात् यथेष्ट भोग्यत्व इत्यादि लक्षणवाला वह अर्थ ही भावालङ्कार होता है। जैसे—

'जो कि मैं इस घर मे अकेली अबला तथा तरुणी हूँ, मेरा गृहपति विदेश चला गया है; तो यहाँ निवास की प्रार्थना किससे कर रहे हो? अरे मूर्ख पान्थ! यह मेरी सास निःसन्देह अन्धी और बहरी है।'

यहाँपर व्यङ्ग्य एक-एक पद में सहायक है। अतः वाच्य की ही प्रधानता है। व्यङ्ग्य की प्रधानता मे तो कोई अलङ्कारता नहीं होती, यह निरूपण कर दिया गया है, अधिक कहने से क्या?

तारावती

अब भावालङ्कार को लीजिये। (भाव को रुद्रट ने अलङ्कार माना है।) उन्होंने भावालङ्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

'जिस अनुराग इत्यादि विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति से उत्पन्न हुआ वाग्व्यापार इत्यादि विकार निश्चितरूप से उस चित्तवृत्ति को जिस हेतु से व्यक्त किया करता है वह हेतु ही भावालङ्कार कहा जाता है।'

इसमे भी भाव तभी अलङ्कार बनता है जब वाच्य की प्रधानता हो। आशय यह है कि विशेप प्रकार की चित्तवृत्ति के कारण वाणी का व्यापार इत्यादि जो विकार उत्पन्न हुआ हो वह यदि उस चित्तवृत्ति को व्यक्त करने में पूर्णतया समर्थ हो तो जिस हेतु उस अभिव्यक्ति का उदय होता है वह हेतु ही भावालङ्कार कहा जाता है। इस प्रकार का हेतु हो सकता है यथेष्ट उपभोग्यता इत्यादि। जैसे—

कोई प्रोषितपतिका निवासस्थान के इच्छुक किसी पथिक से कह रही है—'हे मूर्ख पथिक? तुम देख रहे हो कि इस घर मे मैं अकेली ही तरुणी अबला हूँ।

तारावती

मेरे घर का स्वामी भी विदेश चला गया है। बेचारी बूढ़ी सास एक तो अन्धी है दूसरे बहरी, फिर तुम निवास की प्रार्थना किससे कर रहे हो।'

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा यथेष्ट उपभोग्यत्व रूप अभिप्राय की सूचना मिलती है। व्यङ्ग्य एक-एक पद का सहकारी बनता है। अतएव वाच्य की ही प्रधानता है। यदि यहाँ पर (या कही अन्यत्र) व्यङ्ग्यार्थ प्रधान माना जावेगा तो इसे अलङ्कार संज्ञा प्राप्त ही नही हो सकेगी। इस प्रकार यहाँ तक पूर्णरूप से 'व्यञ्जना-मूलक अलङ्कारों का ध्वनि मे अन्तर्भाव नहीं हो सकता, यह सिद्ध कर दिया गया। अब अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता ? [उक्त भावालङ्कार को इस प्रकार समझिये यहाँ पर नायिका ने जितने भी शब्द कहे है उनमे एक व्यञ्जना निकलती है। जब तक व्यङ्ग्यार्थ को न स्वीकार किया जावे तब तक उसके उन शब्दो का प्रयोग ही सार्थक नहीं होता। 'घर का स्वामी परदेश को चला गया है मैं एक तो अकेली दूसरे अबला और तीसरे तरुणी' यह सब कहने का आशय सर्वसाधारण के प्रति तो यह है कि तुम्हारा यहाँ रहना ठीक नहीं है, किन्तु नायक के प्रति इसका आशय यह है कि आज बड़ा अच्छा अवसर है तुम्हे यहाँ अवश्य रहना चाहिये।' 'चला गया है' मे भूतकाल का आशय यह है कि उसे गये पर्याप्त समय हो गया अतः उसके लौटने की सम्भावना नहीं, 'विदेश' का अर्थ यह है कि वह कहीं निकट ही नहीं गया है, जहाँ वह गया है वह स्थान बहुत दूर है अतः वह किसी प्रकार भी लौट नहीं सकता। मैं अकेली हूँ का अर्थ यह है कि यहाँ कोई और आकर नहीं रहेगा, 'अबला' का अर्थ है तुम्हे मुझसे भय या सङ्कोच नहीं करना चाहिये; 'तरुणी' का अर्थ है मेरा यौवन आकर्षक है। 'बेचारी सास अन्धी और बहरी है' का सर्वसाधारण के प्रति अर्थ है—'यदि तुम अनुचित चेष्टा कर बैठो तो मेरी रक्षा कौन करेगा ? पथिक के प्रति इसका अर्थ है—'सास की तुम्हे शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि एक तो वह अन्धी है दूसरे बहरी, न वह देख सकेगी और न सुन सकेगी।' 'मूढ' का सर्वसाधारण के प्रति अर्थ है—'हे पथिक ! तुम ऐसे मूर्ख हो कि ऐसी परिस्थिति मे भी मुझसे ठहरने के लिये कह रहे हो। पथिक के प्रति इसका अर्थ है—'मैं जानती हूँ कि तुम कामान्ध होने के कारण अपनी चेतना नष्ट कर चुके हो। मैं तुम्हारी आकाक्षा अवश्य पूरी करूँगी।' इन शब्दो की सार्थकता व्यङ्ग्यार्थ के साथ ही है। अतएव यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्योपस्कारक होकर भावालङ्कार बन गया है। यदि व्यङ्ग्य की वाच्योपस्कारकता न मानी जावे तो यहाँ पर भाव अलङ्कार नहीं हो सकेगा।]

ऊपर व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों से ध्वनि का भेद दिखलाया गया है। अब

लोचन

यत्रेति काव्ये। अलङ्कृतय इति। अलङ्कृतित्वादेव च वाच्योपस्कारकत्वम्। प्रतिभामात्र इति। यत्रोपमादौ म्लिष्टार्थप्रतीतिः। वाच्यार्थानुगम इति। वाच्येनार्थेनानुगमः समं प्राधान्यमप्रस्तुतप्रशंसायामिवेत्यर्थः। न प्रतीयत इति। स्फुटतया प्राधान्यं न चकास्ति, अपितु बलात्कल्प्यते। तथापि हृदये नानुप्रविशति। यथा 'दे आ पसिअ णिवत्तसु' इत्यत्रान्यकृतासु व्याख्यासु। तेन चतुर्षु प्रकारेषु न ध्वनिव्यवहारः सद्भावेऽपि व्यङ्ग्यस्य, अप्राधान्ये म्लिष्टप्रतीतौ। वाच्येन समप्राधान्येऽस्फुटप्राधान्ये च। क्व तर्ह्यसावित्याह—तत्परावेवेति। सङ्करेणालङ्कारानुप्रवेशसम्भावनया उज्झित इत्यर्थः। सङ्करालङ्कारेणेतित्वसत्, अन्यालङ्कारोपलक्षणत्वे हि क्लिष्टं स्यात्।

जहाँपर का अर्थ है काव्य मे। अलंकृतयः। अलङ्कार होने के कारण ही वाच्य के उपस्कारक होते हैं। प्रतिभामात्र अर्थात् जहाँ उपमा इत्यादि में मलिन अर्थ की प्रतीति होती है। वाच्यार्थानुगम का अर्थ है जहाँ वाच्यार्थ के साथ अनुगम हो अर्थात् अप्रस्तुतप्रशसा के समान समप्राधान्य। न प्रतीयते। स्फुट रूप में प्रधानता प्रकाशित नहीं होती अपितु बलात् कल्पित कर ली जाती है तथापि हृदय में अनुप्रविष्ट नही होती। जैसी कि 'देआ पसिअ णिवत्तसु' की दूसरों द्वारा की हुई व्याख्याओं मे। इससे चारों प्रकारों मे ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। व्यङ्ग्य के होनेपर भी अप्राधान्य होनेपर, मलिन प्रतीति मे, वाच्य के साथ समान प्रधानता होनेपर और प्राधान्य के स्फुट न होनेपर। तो फिर यह होता कहाँ है? यह कह रहे है—'तत्परावेव' इत्यादि।' सङ्कर के द्वारा अर्थात् अलङ्कार के अनुप्रवेश की सम्भावना के द्वारा छोड़ा हुआ। सङ्करालङ्कार के द्वारा यह ठीक नहीं है। अन्य अलङ्कारों का उपलक्षण मानने पर तो अर्थ क्लिष्ट हो जावेगा।

तारावती

अलोककार तीन कारिकाओं मे सूत्ररूपमें समस्त विवरण का साराश दे रहे है। सम्भवतः ये कारिकायें आलोककार की ही लिखी हुई हैं। इन कारिकाओं का सार यह है—"समासोक्ति इत्यादि वाच्य अलङ्कार वहाँ पर होते हैं जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अपनी प्रधानता को केवल वाच्यार्थ के अनुगमन के कारण खो चुके हों॥१॥"

"ध्वनि ऐसे स्थान पर नहीं होती जहाँ (१) व्यङ्ग्य की स्पष्ट प्रतीति न होकर उसका हल्का सा प्रतिभास ही हो रहा हो, अथवा (२) वह वाच्यार्थ के पीछे चल रहा हो या (३) उसकी प्रधानता न प्रतीत हो रही हो॥२॥"

"जहाँ पर व्यङ्ग्य की ही प्रधानता हो और रचना के लिये उपात्त शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थपरक ही हों तथा उसमे सङ्कर के अनुप्रवेश की सम्भावना न हो वही विषय ध्वनि का क्षेत्र होता है॥३॥

ध्वन्यालोकः

तस्मान्न ध्वनेरन्यत्रान्तर्भावः। इतश्च नान्तर्भावः, यतः काव्यविशेषोऽङ्गी-ध्वनिरितिकथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः। अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य। न तु तत्त्वमेव। यत्रापि वा तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव।

(अनु०) इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि ध्वनि का अन्तर्भाव अन्यत्र नहीं हो सकता। ध्वनि के अन्यत्र अन्तर्भाव न हो सकने का एक कारण और है—ध्वनि एक प्रकार का ऐसा काव्य है जो अङ्गी कहा गया है; अलंकार, गुण और वृत्तियाँ उसके अङ्ग होते है, यह आगे चलकर सिद्ध किया जावेगा। यदि अवयव (अङ्ग) अवयवी (अङ्गी) से पृथक् हो तो वह अवयवी के नाम से प्रसिद्ध नही हो जाता और अपृथग्भाव मे वह उसका अवयव ही होगा, कोई भी व्यक्ति उसे अवयवी नहीं कह सकता। यदि कोई ऐसा स्थान सम्भव भी हो जहाँ अलङ्कार ही ध्वनि का रूप धारण कर रहे हों तो भी ध्वनि का अन्तर्भाव अलङ्कारों मे कभी नही हो सकता क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है।

तारावती

यहाँ पर 'यत्र' शब्द का अर्थ है काव्य मे। 'अलङ्कृतयः' शब्द का आशय यह है कि अलङ्कार शब्द का अर्थ है अलंकृत या आभूषित करनेवाला। जिसको आभूषित किया जाता है वह आभूषण से भिन्न होता ही है। अलङ्कार कभी अलंकार्य नही हो सकता। अतएव वाच्यालंकार कहने का आशय ही यह है कि वे अलंकार वाच्य को सौन्दर्य प्रदान करने के कारण अलंकृत मात्र करते है स्वयं प्रधान कभी नही होते। 'व्यङ्ग्य के प्रतिभामात्र मे' का अर्थ है जहाँ पर उपमा इत्यादि मे अर्थ प्रतीति मलिन हो। 'प्रधानता प्रतीत नहीं होती' का अर्थ यह है कि जहाँ पर स्पष्ट रूप मे प्रधानता प्रकाशित नही होती अपितु बलात् प्रधानता की कल्पना कर ली जाती है किन्तु फिर भी हृदय में प्रविष्ट नहीं होती। अर्थात् जहाँ पर युक्ति-पर्यालोचना के द्वारा परीक्षा करने पर व्यङ्ग्यार्थ बलपूर्वक खींचकर लाया जाता है और युक्तिपर्यालोचना के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती। उदाहरण के लिये जैसे प्रतिषेधरूप वाच्य मे विधिरूप व्यङ्ग्य के उदाहरण 'दे आ पसिअ णिवत्तसु' इत्यादि उदाहरण मे अन्य लोगो की की हुई व्याख्या मे (देखो पृ० १३५) इस प्रकार पहली दो कारिकाओं का अर्थ यह है कि चार प्रकार के व्यङ्ग्यार्थो मे ध्वनि का व्यवहार नहीं होता—(१) व्यङ्ग्यार्थ के होते हुये भी जहाँ उसकी प्रधानता न हो (२) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ मलिनता के साथ प्रतीत हो रहा हो। (३) जहाँ वाच्यार्थ और

लोचन

इतश्चेति। न केवलमन्योन्यविरुद्धवाच्यवाचकभावव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसमाश्रयत्वान्न तादात्म्यमलङ्काराणां ध्वनेश्च यावत्स्वामिभृत्यवदङ्गिरूपाङ्गरूपयोर्विरोधादित्यर्थः। अवयव इति। एकैक इत्यर्थः। तदाह—पृथग्भूत इति। अथ पृथग्भूतस्तथा माभूत्, समुदायमध्यनिपतितस्तर्ह्यस्तु तथेत्याशङ्क्याह—अपृथग्भावे त्विति। तदापि न स एक एव समुदायः, अन्येषामपि समुदायिनां तत्र भावात्, तत्समुदायिमध्ये च प्रतीयमानमप्यस्ति, न च तदलङ्काररूपं प्रधानत्वादेव। यत्त्वलङ्काररूपं तदप्रधानत्वान्न ध्वनिः। तदाह—न तु तत्त्वमेवेति।

'इतश्च' इति। केवल एक दूसरे के विरुद्ध वाच्यवाचक भाव और व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव का आश्रय लेने के कारण अलङ्कारों का और ध्वनि का तादात्म्य न हो ऐसी बात नहीं है (किन्तु) स्वामी और भृत्य के समान अङ्गीरूप और अङ्गरूप में भी विरोध होने से (दोनों मे भेद है।) 'अवयव इति' अर्थात् प्रत्येक। वही कहते हैं—पृथग्भूत इति। 'अच्छा पृथग्भूत वैसा न हो, समुदायमध्यनिपतित तो वैसा हो ही जावे' यह शङ्का करके कहते हैं—अपृथग्भावेत्विति। तथापि वह एक ही समुदाय नहीं होता, क्योंकि अन्य भी समुदायों की वहाँपर सत्ता हो सकती है। उस समुदायी के मध्य में प्रतीयमान भी है, वह प्रधान होने से ध्वनि नहीं। वह कहते हैं—'न तु तत्त्वमेवेति'।

तारावती

व्यङ्ग्यार्थ दोनों की एक सी प्रधानता हो (४) जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का प्राधान्य स्फुट न हो। अब प्रश्न उठता है कि तो फिर व्यङ्ग्यार्थ होता कहाँ पर है? इसका उत्तर अन्तिम कारिका मे दिया गया है कि जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थपरक होते है वहीं सङ्कर से रहित विषय ध्वनि का होता है।' यहाँ पर सङ्कर का अर्थ है किसी भी अलङ्कार का अनुप्रवेश। आशय यह है कि वहीं पर व्यङ्ग्यार्थ ध्वनि का रूप धारण करता है जहाँ उसके किसी दूसरे अलङ्कार में प्रविष्ट होने की सभावना नहीं। यहाँ पर सङ्कर का अर्थ सङ्करालङ्कार नहीं है क्योंकि यहाँ पर लेखक का मन्तव्य किसी भी अलङ्कार मे ध्वनि के समावेश का निराकरण करना है। यदि सङ्कर को दूसरे अलङ्कारों का उपलक्षण मानकर व्याख्या की जावे तो यह क्लिष्ट कल्पना होगी।

ऊपर बतलाया गया है कि अलङ्कार वाच्य-वाचक भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्त होते है और ध्वनि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है। यह एक दूसरे का विरोध है। अतः ध्वनि और अलङ्कारों का तादात्म्य नहीं हो सकता। केवल इतना ही नहीं अपितु ध्वनि स्वामिस्थानीय है और अलङ्कार इत्यादि भृत्यस्थानीय। दूसरे शब्दों मे ध्वनि अङ्गी है और अलङ्कार इत्यादि अङ्ग। जिस प्रकार स्वामी का समावेश भृत्यवर्ग में नहीं हो सकता अथवा

लोचन

नन्वलङ्कार एव कश्चित्त्वया प्रधानताभिषेकं दत्वा ध्वनिरित्यात्मेति चोक्त इत्याशङ्क्याह—यत्रापि वेति । नहि समासोक्त्यादीनामन्यतम एवासौ तथास्माभिः कृतः, तद्विविक्तत्वेऽपि तस्य भावात्, समासोक्त्याद्यलङ्कारस्वरूपस्य समस्तस्याभावेऽपि तस्य दर्शितत्वात् 'अत्ता एत्थ' इत्यादि 'कस्स वा ण' इत्यादि, तदाह—तन्निष्ठत्वमेवेति ।

अलङ्कार को ही तुमने प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्वनि और आत्मा यह कह दिया है' यह शङ्का कर के कहते हैं—यत्रापि वेति । समासोक्ति इत्यादि मे कोई एक ही हम लोगों ने वैसा ही नही कर दिया है क्योंकि उससे भिन्न मे भी उसकी सत्ता होती है, क्योंकि समस्त समासोक्ति इत्यादि अलंकारस्वरूप के अभाव मे भी उसे दिखलाया जा चुका है (जैसे) 'अत्ता एत्थ' इत्यादि और 'कस्स वा ण' इत्यादि । वह कहते हैं—तन्निष्ठत्वमेव इति ।

तारावती

जिस प्रकार अङ्गी का अङ्ग मे समावेश नहीं हो सकता उसी प्रकार ध्वनि का भी अलङ्कारों मे समावेश नहीं हो सकता क्योंकि दोनों की एकता सामान्य नियम के विरुद्ध है। अवयव और अवयवी इन दोनो का तादात्म्य दो प्रकार से हो सकता है एक तो अवयवी को अवयव से पृथक् करके उसे पूर्ण तत्व मानकर और दूसरे अवयव को समुदाय के अन्दर ही रखते हुये । एक-एक अवयव पृथक् होकर पूरे अवयवी के रूप मे प्रसिद्ध हो जावे, ऐसा हो ही नहीं सकता । अब प्रश्न यह है कि पृथक् करके हम एक अवयव अवयवी न मानें; समुदाय के अन्दर ही उस अवयव और अवयवी की एकरूपता क्यों न मान ले ? इसका उत्तर यह है कि उस अवस्था मे भी केवल एक अवयव ही पूरा समुदाय कैसे कहा जा सकता है ? अवयवों के समुदाय को ही अवयवी कहते हैं । अतएव एक अवयव का पूरे अवयवी से तादात्म्य हो ही नही सकता । दूसरी बात यह भी है कि उस समुदाय मे प्रतीयमान अर्थ भी एक अवयव होगा जो कि प्रधान रूप में स्थित होने के कारण कभी भी अलङ्काररूपता को प्राप्त ही नहीं हो सकता और यदि प्रतीयमान अर्थ अप्रधान होगा तो उसे ध्वनि की संज्ञा प्राप्त न हो सकेगी । इन कारणों से कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि अङ्गरूप में स्थित अलङ्कार ही अङ्गी ध्वनि का रूप धारण किया करते हैं । (प्रश्न) निस्सन्देह तुमने किसी अलङ्कार को ही प्रधानता का अभिषेक देकर 'ध्वनि' यह नाम दे दिया है और उसी को काव्य की आत्मा भी कह दिया है, (उत्तर) कहीं-कहीं ऐसा होता अवश्य है कि अलङ्कार भी ध्वनि का रूप धारण कर लेता है । अलङ्कारध्वनि भी ध्वनिकाव्य का एक प्रकार है। किन्तु यह समझना ठीक नहीं कि समासोक्ति इत्यादि अलङ्कारो मे ही हमने किसी एक को ध्वनि कह दिया है, क्योकि ध्वनि वहाँ पर भी होती है

ध्वन्यालोकः

'सूरिभिः कथित' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न यथाकथञ्चित्प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैय्याकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः।

(अनु०) 'विद्वानों के द्वारा अभिहित किया जाता है' इस कथन मे विद्वानों के द्वारा कहने का आशय यह है कि इस ध्वनि-सिद्धान्त का प्रारम्भ विद्वानों ने किया है, यह योंही मनमाने रूप मे प्रचलित नही हो गया। अतः इसका प्रतिपादन किया जाता है। वैय्याकरण ही प्रथम कोटि के विद्वान् माने जाते हैं क्योंकि सब विद्याओं के मूल मे व्याकरण ही है। वे लोग वर्णों के सुनाई पड़नेवाले भाग को ध्वनि कहते हैं। उसीप्रकार उनके मत का अनुसरण करनेवाले दूसरे काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् भी इन चार अर्थों मे ध्वनि शब्द का प्रयोग करते हैं—(१) वाच्यार्थ के लिये (२) वाचक शब्द के लिये (३) सम्मिश्र अर्थात् विभाव अनुभाव इत्यादि के संयोग से होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ के लिये। (४) आत्मा रूप मे स्थित शब्द के व्यापार अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार के लिये। इन चारो के अतिरिक्त काव्य नामक पदार्थ को भी ध्वनि कहते है क्योंकि वह भी उक्त चारों प्रकार का एक सम्मिलित रूप ही होता है।

लोचन

विद्वदुपज्ञेति। विद्वद्भ्य उपज्ञा प्रथम उपक्रमो यस्या उक्तेरिति बहुव्रीहिः। तेन 'उपज्ञोपक्रमं' इति तत्पुरुषाश्रयं नपुंसकत्वं निरवकाशम्।

विद्वदुपज्ञेति। विद्वानों से उपज्ञा अर्थात् प्रथम उद्गम है जिस उक्ति का इस प्रकार बहुव्रीहि है। इससे 'उपज्ञोपक्रमम्' इत्यादि सूत्र से तत्पुरुष के अधीन होनेवाला नपुंसकलिङ्ग निरवकाश हो जाता है।

तारावती

जहाँ अलङ्कार-ध्वनि नहीं होती। यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ समासोक्ति इत्यादि अलङ्कारो मे किसी एक की भी ध्वनि नहीं होती वहाँ पर भी ध्वनि काव्य हुआ करता है। जैसे 'अत्ता एत्थ' और 'कस्स वा ण' इन उदाहरणों मे अलङ्कार-व्यतिरिक्त ध्वनि दिखलाई जा चुकी है। इसीलिये कहा गया है कि ध्वनि अलङ्कारनिष्ठ ही नहीं होती।

ऊपर इतिहास मनोविज्ञान इत्यादि आधारो पर सिद्ध किया गया है कि ध्वनि काव्य ही काव्य की आत्मा है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह सिद्धान्त

तारावती

यों ही मनमाने ढंग से कल्पित कर लिया गया है या इसमे कोई शास्त्रीय प्रमाण भी है ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये ध्वनिकार ने लिखा था 'सूरिभिः कथितः' और आलोककार ने लिखा है कि 'यह उक्ति विद्वदुपज्ञ है ।' उपज्ञा शब्द का अर्थ है प्रथमज्ञान या उपक्रम । विद्वदुपज्ञा शब्द में दो समास हो सकते हैं एक तो तत्पुरुष जिसका अर्थ होगा विद्वानों का प्रथम ज्ञान या विद्वानों द्वारा उपक्रम और दूसरा समास हो सकता है बहुव्रीहि, जिसका अर्थ होगा 'विद्वानों से प्रथम उपक्रम हुआ है जिसका ।' यहाँ पर तत्पुरुष समास नहीं माना जा सकता क्योंकि तत्पुरुष होने पर 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इस सूत्र से नपुंसक लिङ्ग हो जावेगा और 'विद्वदुपज्ञा' न बनकर 'विद्वदुपज्ञ' यह रूप बनेगा । बहुव्रीहि समास होने पर उक्ति का विशेषण हो जाने से स्त्रीलिग सङ्गत हो जाता है ।'

('विद्वदुपज्ञ' शब्द में विद्वत्' शब्द का अर्थ है वैय्याकरण । क्योंकि वैय्याकरण ही सर्वोच्च विद्वान् माने जाते हैं । भगवान् भर्तृहरि ने वैय्याकरणों की प्रशंसा इन शब्दों में की है :—

उपासनीय यत्नेन शास्त्रं व्याकरणं महत् ।
प्रदीपभूतं सर्वासां विद्यानां यदवस्थितम् ॥

किं बहुना—

इदमाद्यं पदस्थानं मुक्तिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥
रूपान्तरेण ते देवा विचरन्ति महीतले ।
ये व्याकरणसंस्कारपवित्रितमुखा नराः ॥' वाक्यपदीय ब्र. का. ।

भामह ने आलङ्कारिकों के लिये व्याकरणज्ञान की अनिवार्यता स्वीकृत की है :—

'सदोपयुक्तं सर्वाभिरन्यविद्याकरेणुभिः ।
नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम् ॥
शब्दरत्नं स्वयं गम्यमलङ्कर्तुमयं जनः ॥' (काव्यालङ्कार २–३)

मनु जी ने वैय्याकरणो को पंक्तिपावन लिखा है और पुष्पदत्त ने तो यहाँ तक कहा है कि—'वैय्याकरणों के सुधामधुर स्निग्ध वचनों से आपूर्णकर्ण होकर यदि मुझे रहना पड़े तो मैं देवी के शाप से मृत्युलोक में जन्म लेने को भी धन्य समझूँगा ।')

[जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है ध्वनिकार को ध्वनि की किसी प्राचीन परम्परा का ज्ञान था और वह परम्परा आलोककार के समय तक नष्ट हो गई थी ।

तारावती

यहाँ पर ध्वनिकार ने 'सूरिभिः कथितः' कहकर उसी परम्परा की ओर संकेत किया है, किन्तु आलोककार को ऐसी किसी परम्परा का ज्ञान नहीं था। अतएव उन्होने इस कथन की सङ्गति भिड़ाने के लिये कल्पना कर ली कि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रादुर्भाव वैय्याकरणों के स्फोटवाद से हुआ है। अभिनव गुप्त मम्मट इत्यादि बाद के सभी आचार्यों ने इसी व्याख्या को ठीक माना। यद्यपि 'जहाँ पर शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस विशेष प्रकार के काव्य को विद्वानो ने ध्वनि संज्ञा प्रदान की है' इस कथन का यह आशय कभी नहीं हो सकता कि 'विद्वानों ने स्फोटवाद का प्रतिपादन किया था और उसके आधार पर ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ।' तथापि वैय्याकरणों के स्फोट और काव्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त में कुछ साम्य अवश्य है। यह भी सम्भव है कि पहले पहल साहित्य शास्त्र मे इस सिद्धान्त का प्रवर्तन वैय्याकरणों के अनुकरण पर हुआ हो और बाद मे उस सिद्धान्त का विस्तारकर पूरा काव्यशास्त्र उससे आवेष्टित कर दिया गया हो। अतएव यहाँ पर स्फोटवाद का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

वैय्याकरण लोग शब्द और अर्थ का तादात्म्य मानते है 'जो शब्द है वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है।' तब प्रश्न उपस्थित होता है कि लोक में अर्थ की जो क्रियाये देखी जाती हैं वे शब्द की क्यो नहीं होती? यदि शहद शब्द और अर्थ दोनों एक है तो जिस प्रकार शहद अर्थ (वस्तु) से मुख मीठा हो जाता है उसी प्रकार शहद शब्द से भी मुख मीठा हो जाना चाहिये। अग्नि शब्द से मुँह जल जाना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस शङ्का का समाधान वैय्याकरण इस प्रकार करते हैं कि किसी भी शब्द का बाह्य अर्थ नहीं होता किन्तु प्रत्येक वस्तु का एक भावात्मक चित्र हम लोगों के अन्तः करण मे बना होता है। वह आकृति ही जाति कहलाती है—'आकृतिर्जातिपदवाच्या' वह आकृति ही शब्द का वास्तविक अर्थ होती है। इसी को बौद्धार्थ कहते हैं। शब्द और अर्थ दोनो की सत्ता अन्तःकरण में होती है, अतः दोनों का तादात्म्य सिद्ध हो जाता है। इस विषय मे वैय्याकरण का सिद्धान्त अभेदवादी वेदान्तियों के बहुत निकट पड़ता है। अभेदवादी वेदान्ती दृश्यमान जगत् को भ्रममात्र मानते है। ब्रह्म तत्व को जान लेने से उस भ्रमका निराकरण उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार जागने के बाद दृश्यमान स्वप्नजगत् का अन्तर्धान हो जाता है। दृश्यमान भ्रमात्मक विश्व के सब पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु ब्रह्म के रूप में सब एक हो जाते है। इसको इस प्रकार समझिये—यदि हम कार्य का निषेध कर कारण की सत्ता ज्ञात करते जावें तो एकता

तारावती

या अभेद की ओर अग्रसर होते जावेंगे। जैसे लकड़ी की बनी हुई सैकड़ों वस्तुयें भिन्न होती हैं किन्तु लकड़ी के रूप में सब एक हैं। इसी प्रकार लोहे की वस्तुयें लोहे के रूप में, पत्थर की वस्तुयें पत्थर के रूप में और मिट्टी की वस्तुयें मिट्टी के रूप में एक होती हैं। मिट्टी, पत्थर, लोहा, लकड़ी सब एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु पृथ्वी के विकार के रूप में सब एक हो जाते हैं। यदि हम इसी प्रकार का कार्य का निषेध करते हुए कारण की सत्ता मानते चले जावें तो समस्त तत्त्व एक हो जावेंगे। इसी तत्व को ब्रह्म नाम से अभिहित किया जाता है। अन्तःकरणतत्त्व में शब्द-ब्रह्म की यही एकता परा वाणी कही जाती है। वहाँ पर जिस प्रकार घट पट मठ इत्यादि सभी अर्थतत्त्व एक हैं उसी प्रकार 'क' 'ख' 'ग' इत्यादि शब्दतत्त्व भी एक ही हैं। जब शब्दब्रह्म को घट पट इत्यादि रूप में बुद्धि ग्रहण करती है तो उस परा वाणी का नाम पश्यन्ती हो जाता है। यदि हम अपने कान बन्द कर ले तो कण्ठदेश में एक प्रकार की सनसनाहट का हमें अनुभव होता है। इसे मध्यमा नाम से पुकारा जाता है। परा वाणी का स्थान नाभिदेश है, पश्यन्ती का हृदय और मध्यमा का कण्ठ। इन तीनो अवस्थाओं में 'क ख ग' इत्यादि वर्ण एक रूप रहते हैं। उनमें भेद नहीं होता। कण्ठ से आगे बढ़कर जब वर्ण स्थान और प्रयत्न के द्वारा पृथक् पृथक् होकर दूसरे द्वारा ग्रहण करने योग्य हो जाते है तब उस वाणी को वैखरी कहते हैं। जिस वायुसंयोग के द्वारा स्थान और प्रयत्नो से शब्द अभिव्यक्त हुआ करते है उसे वैय्याकरण लोग ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार शब्द के दो भाग होते हैं—एक तो स्फोट या अर्थभाग और दूसरा वायुसंयोगात्मक ध्वनि। स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं होता और न उसमें किसी प्रकार की उपाधि होती है, भेद ध्वनि में होता है। इसीलिये विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चारण की हुई ध्वनि विभिन्न प्रकार की होती हैं। नव परिणीता वधू की ध्वनि और प्रकार की होती है, वीर व्यक्ति की ध्वनि और प्रकार की होती है तथा दूसरे लोगों की ध्वनि दूसरे प्रकार की होती है। इस ध्वनिभेद से स्फोट रूप शब्दब्रह्म में भेद नहीं होता। किन्तु वह स्फोटरूप शब्दब्रह्म वायुसंयोग रूप ध्वनि के द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ करता है। ध्वनि का अर्थ से सम्बन्ध नहीं होता और अर्थभाग बिना ध्वनि के अभिव्यक्त नहीं हो सकता। इसीलिये जब कभी मेला इत्यादि लगा होता है और बहुत से लोग एक साथ बोलते हैं तथा उनके शब्द तो सुनाई पड़ते हैं किन्तु अर्थ समझ में नहीं आता, तब लोग यही कहा करते हैं कि बहुत बड़ी ध्वनि सुनाई पड़ रही है। आशय यह है कि जिस प्रकार अनिर्वचनीय ख्याति से ब्रह्म का विवर्त जगत् है उसी प्रकार शब्द-ब्रह्म से विवर्तित होनेवाला और उसी में पर्यवसान को प्राप्त होनेवाला समस्त

तारावती

वाङ्मय और उसका वाच्य अर्थ सभी कुछ उस स्फोटरूप शब्दब्रह्म का ही विपरिणाम है। उसकी व्यञ्जना करनेवाले वायुसंयोग को ध्वनि कहते हैं। विभिन्न प्रकार का भेद ध्वनिभेद हुआ करता है स्फोट में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। यह इस प्रकार समझना चाहिये जिस प्रकार शरीर की स्थूलता और कृशता से आत्मा में कृशता नहीं होती अथवा तेल मुकुर खड्ग इत्यादि विभिन्न वस्तुओं में देखने पर मुखाकृति विभिन्न प्रकार की प्रतीत होती है किन्तु मुख में भेद नहीं होता उसी प्रकार औपाधिक ध्वनिभेद होने पर भी स्फोट में भेद नहीं होता। यह स्फोट सिद्धान्त का सार है वैय्याकरण स्फोट के व्यञ्जकों को ध्वनि कहते थे। उनके मत में ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति होगी—'ध्वनतीति ध्वनिः'। साहित्यशास्त्रियों ने इसी ध्वनि शब्द को लेकर उसका और अधिक विस्तार किया। उन्होंने ध्वनित करना एक सामान्य धर्म ले लिया और जितने भी ध्वनित करनेवाले तत्व थे उन सभी का समावेश ध्वनि में कर दिया। इस प्रकार रीति, वृत्ति, गुण, अलङ्कार, शब्द, पद, पदांश, वर्ण, वाक्य रचना इत्यादि समस्त व्यञ्जक वर्ग इस ध्वनि शब्द से संगृहीत होने लगा। केवल इतना ही नहीं अपितु अर्थ भी यदि दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है तो वह भी व्यञ्जक वर्ग में सन्निविष्ट हो गया। यह व्यञ्जक अर्थ वाच्य भी हो सकता है, लक्ष्य भी और यदि एक व्यङ्ग्य अर्थ के द्वारा दूसरा व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होने लगे तो व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जक कोटि में आ जावेगा। ध्वनि शब्द का यहीं तक विस्तार नहीं हुआ अपितु उसकी कर्म साधन व्युत्पत्ति को मानकर व्यज्यमान अर्थ को भी ध्वनि संज्ञा प्रदान की गई और इस प्रकार वस्तु अलङ्कार और रस तीनों का समावेश ध्वनि में हो गया। इसके अतिरिक्त भावसाधन व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर व्यञ्जना की प्रक्रिया को भी ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाने लगा। साथ ही इन सब का समूह काव्य भी ध्वनि के क्षेत्र में आ गया। इस प्रकार काव्य के लिये उपर्युक्त समस्त सामग्री का अन्तर्भाव इस ध्वनि शब्द में हो गया और ध्वनि ने काव्य की आत्मा का रूप धारण कर लिया।

'वैय्याकरण लोग श्रवणेन्द्रिय द्वारा गोचर किये हुये वर्णों के लिये ध्वनि शब्द का व्यवहार करते हैं।' इस कथन का आशय यह है कि परम्परा द्वारा शब्द कर्ण-विवर तक पहुँचते हैं और अन्तिम शब्द सुनाई पड़ते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार शब्दज शब्द ही सुनाई पड़ते हैं यह कहा गया है। जिस प्रकार घण्टा की ध्वनि में अनुरणन रूपता होती है अर्थात् शब्द होने के बाद एक प्रकार की झङ्कार सुनाई पड़ती रहती है उसी प्रकार इन ध्वनियों के उच्चारण के बाद भी

लोचन

श्रूयमाणेष्विति । श्रोत्रशष्कुलीं सन्तानेनागता अन्त्याः शब्दाः श्रूयन्त इति प्रक्रियायां शब्दजाः शब्दाः श्रूयमाणा इत्युक्तम् । तेषां घण्टानुरणनरूपत्वं तावदस्ति, ते च ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् भर्तृहरिः—

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥

एवं घण्टानिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः । तथा श्रूयमाणा ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् स एव—

श्रूयमाणेष्विति । श्रोत्र-शष्कुली में परम्पराप्रवाह से आये हुये अन्तिम शब्द सुनाई पडते हैं इस प्रक्रिया में अन्तिम शब्द श्रुतिगोचर होते हैं यह कह दिया गया। उनका घण्टानुरणनरूपत्व है ही, वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे गये हैं । जैसा कि भगवान् भर्तृहरि ने कहा है—

'जो संयोग वियोग इत्यादि करणों से उत्पन्न किया जाता है वह स्फोट है।अन्य लोगों ने शब्दज शब्दों को ध्वनि कहा है ।'

इस प्रकार घण्टानिर्ह्राद के समान अनुरणन आत्मा से उपलक्षित व्यङ्ग्य अर्थ भी ध्वनि के रूप में व्यवहृत किया जाता है । उसी प्रकार नादशब्दवाच्य जो श्रूयमाण वर्ण अन्त्य बुद्धि के द्वारा किये जानेवाले स्फोट के अभिव्यञ्जक होते हैं वे ध्वनि शब्द के द्वारा कहे जाते हैं । जैसा कि उन्हीं भगवान् ने कहा है—

तारावती

एक प्रकार का बुद्धि उत्पादन रूप अनुरणन होता रहता है । यही बात भर्तृहरि ने इस प्रकार कही है :—

'संयोग और वियोग का सहारा लेकर जिह्वाग्रभाग इत्यादि करण जिसे उत्पन्न किया करते हैं उसे स्फोट कहते हैं । दूसरे लोग शब्दज शब्द को ध्वनि के नाम से पुकारते हैं ।'

[उक्त ग्रन्थ का सन्दर्भ समझने के लिये वर्णोच्चारण प्रक्रिया पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है । शब्द के विषय में तीन मत हैं—(१) शब्द अनित्य होते हैं । ये उत्पन्न और विनष्ट हुआ करते हैं । अन्य द्रव्यों के समान उनकी भी जाति होती है । यह सिद्धान्त है न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का । (२) वर्ण नित्य होते हैं, ये वर्ण ही शब्द का निर्माण किया करते हैं । उन्हीं का अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है जिसे शक्ति कहते हैं।यह सिद्धान्त है मीमांसा, वेदान्त, सांख्य और योगदर्शनों का । (३) वैय्याकरणों का स्फोटवाद अथवा अखण्डता

तारावती

का सिद्धान्त। ये लोग ब्रह्म के समान समस्त वर्णों की एकता तथा अखण्डता को मानते हैं। इसके सिद्धान्त का परिचय पहले दिया जा चुका है। प्रस्तुत लोचन नैय्यायिको के उत्पत्तिवाद को मानकर लिखा गया है। अतः इस प्रकरण को ठीक रूप में समझने के लिये नैय्यायिकों का उत्पत्तिवाद समझ लिया जाना चाहिये। नैय्यायिक लोग शब्द को अनित्य मानते हैं क्योंकि शब्द के कारण होते हैं, कारण से उत्पन्न होनेवाले पदार्थ अनित्य हुआ करते हैं। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य होता है, इन्द्रिय ग्राह्य सभी तत्व अनित्य होते हैं जैसे रूप इत्यादि अनित्य हुआ करते हैं। कार्यवस्तुओं के समान मन्दतीव्र इत्यादि व्यवहार शब्द के विषय में भी हुआ करता है। इन्हीं कारणों से शब्द कृतक अथवा अनित्य माना जाता है। इस शब्द को उत्पन्न करनेवाले दो कारण होते हैं—संयोग और विभाग। जैसे मृदङ्ग और हाथ के संयोग से, अथवा मुगरी और घण्टा के संयोग से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे संयोगज शब्द कहते हैं। बांस के फाड़ने से जो शब्द उत्पन्न होता है उसे विभागज शब्द कहते हैं। किन्तु जहाँ पर शब्द उत्पन्न होता है उससे कर्णेन्द्रिय कुछ न कुछ दूर तो होती ही है। अतः शब्ददेश में ही कर्णेन्द्रिय शब्द को ग्रहण नहीं कर सकती। जिस प्रक्रिया के द्वारा शब्द श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचता है उसके दो स्वरूप बतलाये गये हैं—वीचीतरङ्ग न्याय और कदम्बमुकुल न्याय। वीचीतरङ्ग न्याय का आशय यह है कि जिस प्रकार किसी सरोवर मे एक छोटा सा पत्थर का टुकड़ा फेंक दिया जावे तो सरोवर मे लहरे उत्पन्न हो जाती है। पहले गोलाकार एक लहर उत्पन्न होती है फिर दूसरी, फिर तीसरी इसी क्रम से सारा सरोवर लहरों से भर जाता है। इसी प्रकार वायुमण्डल में जब शब्द प्रविष्ट होता है तब उसकी लहरें एक के बाद दूसरी उठ कर कर्ण विवर तक पहुँचती हैं जहाँ ग्राहक यन्त्र के द्वारा शब्द ग्रहण किया जाता है। दूसरा न्याय है कदम्बमुकुल न्याय। जैसे कदम्ब मुकुल के केतु-शीर्षमें एक कलीसी होती है जिससे एक वृत्त सा बनकर समस्त मुकुल को आवेष्टित कर लेता है। यही शब्द की भी दशा है। वस्तुतः वीचीतरङ्ग न्याय ही ठीक है क्योंकि उसमें शब्द की एकता अक्षुण्ण बनी रहती है। जलधारा में उठनेवाली तरंगें एक ही होती हैं किन्तु कदम्ब की कलियों में वैसी एकता नहीं होती। अतः आचार्यों ने वीचीतरङ्ग न्याय को ही स्वीकार किया है कदम्बमुकुल न्याय को नहीं। वीचीतरङ्ग न्याय से उत्पन्न होनेवाले शब्द को शब्दज शब्द कहते हैं। उत्पत्ति वादियों के अनुसार शब्द के दो भेद है ध्वनि और वर्ण। भेरी इत्यादि के अभिघात से उत्पन्न शब्द ध्वनि कहलाते हैं और कण्ठताल्व इत्यादि के अभिघात से उत्पन्न शब्द वर्ण कहलाते है। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत लोचन की व्याख्या करनी

लोचन

प्रत्ययैरनुपाख्यायैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥

तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ । किञ्च वर्णेषु तावन्मात्रपरिणामेष्वपि सत्सु । यथोक्तम्—

'उपाख्यान में अशक्य तथा (स्फोट के) ग्रहण के अनुकूल प्रत्ययों से ध्वनि के द्वारा प्रकाशित किये हुये शब्द में स्वरूप का अवधारण किया जाता है ।'

इससे व्यञ्जक शब्द और अर्थ भी ध्वनि शब्द से कहे गये हैं। और भी वर्ण के उतने परिमाण के होने हुये भी—जैसा कि कहा गया है—

तारावती

चाहिये । 'श्रोत्रशष्कुली में शब्द सन्तान (परम्परा) से आते हैं' का आशय यह है कि शब्द वीचीतरङ्ग न्याय से कर्ण कुहरों में प्रविष्ट होकर ग्राहक यन्त्र के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं । 'शब्दज शब्द' की व्याख्या की ही जा चुकी । शब्दज शब्द का प्रत्यक्ष अनुभव घण्टानुरणन में होता है। घण्टे के बज चुकने के बाद जो उसमें एक प्रकार की झङ्कार होती रहती है वही शब्दज शब्द का स्वरूप है । कारिका मे संयोग और वियोग का आश्रय लेकर साधनों के द्वारा शब्द के उत्पन्न होने की बात कही गई है । ये साधन ध्वनि में मृदङ्ग इत्यादि का अभिघात और वर्णों में कण्ठ तालु इत्यादि का अभिघात हो सकते हैं ।]

जिस प्रकार घण्टानाद में अनुरणनरूपता होती है और उस अनुरणन को ध्वनि संज्ञा से अभिहित किया जाता है उसी प्रकार (शब्द और अर्थ से) अनुरणन रूप मे उपलक्षित होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ भी ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है। (इस प्रकार संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थध्वनियाँ संगृहीत हो गईं । इनको उपलक्षण मान लेने पर सब प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों का समावेश ध्वनि में हो गया ।) इसी प्रकार जो लोग (वैय्याकरण) शब्द को नित्य तथा अखण्ड मानते हैं उनका कहना है कि वायु संयोग के द्वारा वर्ण पृथक् पृथक् रूप में अभिव्यक्त होते हैं । इस प्रकार अभिव्यक्त होनेवाले वर्णों को नाद शब्द से अभिहित किया जाता है । ये वर्ण स्फोट के अभिव्यञ्जक होते है और स्फोट का अभिव्यञ्जन तथा ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा हुआ करता है । यही बात भगवान् भर्तृहरि ने इसी प्रकार कही है:—

'स्फोट को ग्रहण करने के अनुकूल इस प्रकार के कुछ अन्तराल प्रत्यय होते हैं जिनके स्वरूप का वास्तविक विवेचन नहीं किया जा सकता । किन्तु उनके द्वारा ध्वनि से प्रकाशित किये हुये शब्द मे स्फोट के स्वरूप को समझ लिया जाता है ।'

तारावती

[ऊपर कहा गया है कि स्फोट का ग्रहण अन्तिम बुद्धि के द्वारा होता है। अन्तिम बुद्धि शब्द का आशय ठीक रूप मे समझ लेना चाहिये । एक नियम है शब्द बुद्धि और कर्म द्विक्षणावस्थायी होते हैं । ये प्रथम क्षण में उत्पन्न होते हैं, दूसरे क्षण मे स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण मे नष्ट हो जाते हैं । जिन प्रयत्नों का आश्रय लेकर एक वर्ण की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार के दूसरे प्रयत्नों का आश्रय लेकर दूसरे वर्ण की उत्पत्ति होती है । अब मान लीजिये एक 'घट' शब्द है । इसमे चार वर्ण है 'घ' 'अ' 'ट' 'अ' । पहले 'घ' की उत्पत्ति होगी, यह पहले क्षण मे उत्पन्न होगा, दूसरे क्षण मे स्थित रहेगा । उसके स्थितिकाल मे ही दूसरे क्षण मे 'अ' की उत्पत्ति होगी । तीसरे क्षण में 'घ' नष्ट हो जावेगा, 'अ' स्थित रहेगा और 'ट' की उत्पत्ति होगी । फिर चतुर्थ क्षण मे 'अ' नष्ट हो जावेगा, ट स्थित रहेगा और अ की उत्पत्ति होगी जो कि पञ्चम क्षण में बना रहेगा और षष्ठ क्षण मे नष्ट हो जावेगा । वर्णनित्यता वादियों के मत मे उत्पत्ति का अर्थ होगा अभिव्यक्ति । इस प्रकार 'घट' शब्द पूर्ण रूप से कभी निष्पन्न हो ही नहीं सकता, इन वर्णों का सङ्घात कभी बनेगा ही नहीं । अब प्रश्न यह है कि फिर 'घट' पद से घट अर्थ का अवगम कैसे हो सकता है ? लम्बे वाक्यों का तो साङ्घातिक अवगमन और भी असम्भव हो जावेगा । फिर उनका अर्थबोध कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि इन वर्णों का नाश हो जाता है तथापि इनसे एक संस्कार उत्पन्न होता है। वह संस्कार स्थायी रहता है और दूसरे वर्ण के संस्कार से उसका योग होता है । इस प्रकार 'घट' शब्द के चारों वर्णो का सामूहिक संस्कार अन्तिम वर्ण 'अ' पर सन्निहित है जिससे सामूहिक भावना घटार्थ की अभिव्यञ्जिका होती है । यह इसी प्रकार होता है जैसे यज्ञादि कर्म जिस क्षण किये जाते है उसके दूसरे क्षण स्थित रहते हैं और तीसरे क्षण नष्ट हो जाते हैं । किन्तु उस कर्म से स्वर्ग इत्यादि की प्राप्ति बहुत समय बाद होती है । उसके लिये यह कल्पना की जाती है कि यज्ञ इत्यादि कार्यों से एक प्रकार के अदृष्ट की उत्पत्ति होती है और उस अदृष्ट से स्वर्ग इत्यादि फल कालान्तर मे प्राप्त होते हैं । स्फोट के अन्तिम वर्ण से ग्रहीत होने का यही आशय है ।]

इस सिद्धान्त का तत्व यह है कि नित्य तथा अखण्ड स्फोट की वर्णों के रूप मे व्यञ्जना वर्णों के रूप मे ध्वनि के द्वारा होती है । इस प्रकार व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं । इसी साम्य के आधार पर व्यञ्जक शब्द और अर्थ ध्वनि कहे गये हैं । ध्वनि के प्रयोग मे एक और बात है—श्रोत्रेन्द्रिय से जितने वायु-संयोग के द्वारा वर्ण सुनाई पड़ जावे, उस वर्ण का वही परिमाण होता है। जैसा कि कहा गया है—

लोचन

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः ।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ॥ इति ।

तेषु तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः । यदाह स एव—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोह्यन्ते, स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ इति ।

'अल्प प्रयत्न के द्वारा उच्चारण किये हुये भी शब्द को बुद्धि या तो ग्रहण ही नहीं करती या सम्पूर्ण वर्ण को स्पष्ट रूपमे ग्रहण करती है ।'

उन उतने ही सुने जानेवाले वर्णों में वक्ता का जो प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार मे द्रुत विलम्बित इत्यादि वृत्तिभेदात्मक अधिक व्यापार होता है वह ध्वनि कहा गया है । जैसा कि उन्हीं ने कहा है—

'शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद में जो वैकृत ध्वनियाँ कारण होती हैं उनसे स्फोट रूप आत्मा में भेद नहीं आता ।'

तारावती

'यदि प्रयत्न की थोड़ी भी कमी में शब्द का उच्चारण किया जावे तो उस शब्द को बुद्धि या तो ग्रहण ही नहीं करती या स्फुट रूप में समस्त वर्ण को ग्रहण नहीं करती ।'

आशय यह है कि वर्ण एक निश्चित परिमाण में ही ध्वनि के द्वारा सुनाई पड़ते हैं । उस प्रसिद्ध उच्चारण-व्यापार से वक्ता का जो अतिरिक्त व्यापार होता है और जो कि द्रुत विलम्बित इत्यादि वृत्तियों के भेद में कारण होता है उसे भी ध्वनि कहते हैं । जैसा कि उन्हीं (भर्तृहरि) ने कहा है—

'शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वृत्तिभेद मे वैकृत ध्वनियाँ प्रस्फुटित होती हैं किन्तु उनसे स्फोट की आत्मा में अन्तर नहीं आता ।

[इस समस्त विवरण का आशय यह है कि—'ध्वनि दो प्रकार की होती है—प्राकृत और वैकृत । प्राकृत ध्वनि 'कत्व' 'ह्रस्वत्व' 'आद्युदात्तत्व' इत्यादि धर्म-विशिष्ट होती है । यद्यपि स्फोट स्वयं प्रकाशमान होता है तथापि वह पिण्डीभूत वायुसंयोग से अवरुद्ध रहता है । इस अवरोध का निराकरणकर स्फोट को प्रकाशित करना ही प्राकृत ध्वनि का काम है । यह प्रकाशमान स्फोट ध्वनि से अभिन्न प्रतीत होता है । अतएव स्फोट एक होता है, नित्य होता है, व्यापक होता है और नाना प्रकार की ध्वनियों के स्वरूप से आक्रान्त होकर प्रकट हुआ करता है और जब यह पूर्व वर्णों के संस्कार से युक्त होकर अन्तिम वर्ण पर

लोचन

अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः। तेन व्यतिरेकाव्यतिरेकव्यपदेशोऽपि न न युक्तः। वाच्यवाचकसंमिश्र इति। वाच्यवाचकसहितः सम्मिश्र इति मध्यमपदलोपी समासः। 'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इति-

'हमारे द्वारा भी अभिधा, तात्पर्य और लक्षणारूप प्रसिद्ध शब्दव्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को ध्वनि कहा गया है। इस प्रकार चारों ही ध्वनि होती हैं और उनके योग से समस्त काव्य ध्वनि (कहा जाता है।) इससे भेद और अभेद का व्यपदेश भी ठीक न हो यह बात नहीं है। 'वाच्यवाचकसम्मिश्र' इति। वाच्यवाचक सहित सम्मिश्र यह मध्यमपदलोपी समास है। 'गाम्, अश्वम्, पुरुषम्, पशुम्' के

तारावती

अभिव्यक्त होता है तब अर्थबोध कराता है। प्राकृत ध्वनि को ही वर्ण कहते हैं। स्फोट कभी भी प्राकृत ध्वनियों से रहित प्रतीत नहीं होता। इसीलिये सूक्ष्म दृष्टि से विचार न करनेवाले नैय्यायिक लोग इस स्फोट की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। वैकृत ध्वनि का काम यह है कि यह प्राकृत ध्वनि के द्वारा प्रतीत होनेवाले वर्ण मे द्रुत विलम्बित इत्यादि वृत्तिभेद कर देता है। कहा ही जाता है कि एक ही वर्ण अमुक व्यक्ति ने शीघ्र उच्चारण किया अमुक ने विलम्ब से किया। वीरों की, नई बहुओं की, क्रोध मे भरे व्यक्ति की ध्वनियों में जो पृथक्-पृथक् भेद होता है वह भेद भी वैकृत ध्वनि का ही होता है। वैकृत ध्वनिभेद होते हुये भी प्रकृत ध्वनिभेद नहीं होता; अतएव आकार इत्यादि की एकरूपता कही जाती है। वैय्याकरणाभिमत ध्वनि का यही सार है। इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि उच्चारण की प्रक्रिया को भी ध्वनि कहते हैं। इस प्रकार यहाँ पर तीन अर्थो मे ध्वनि का प्रयोग बतलाया गया है (१) नैय्यायिकों के अनुसार उत्पन्न होनेवाले शब्दज शब्दों के लिये। इस आधार पर साहित्यिक लोग व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनि कहते है। इनमे साधर्म्य है प्रतीयमान अथवा उत्पद्यमान होना (२) वैय्याकरणों के मत मे स्फोट व्यङ्ग्य होता है और प्राकृत ध्वनि उसकी व्यञ्जना करती है। इस प्रकार ध्वनि व्यञ्जक होती है। इसी साम्य के आधार पर साहित्य शास्त्र मे व्यञ्जक को ध्वनि कहते हैं। यह व्यञ्जक दो प्रकार का होता है वाच्यार्थ और वाचक शब्द। (३) वैकृत ध्वनियाँ वृत्तिभेद में कारण होती हैं। इस साम्य के आधार पर व्यञ्जनाव्यापार को ध्वनि कहते हैं।]

इस प्रकार हम लोगों ने अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन तीन शब्दव्यापारों से भिन्न व्यापार को ध्वनि संज्ञा प्रदान की। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ, व्यञ्जक शब्द,

लोचन

वत्समुच्चयोऽत्र चकारेण विनापि। तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः; द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। संमिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यत इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः, अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः। उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। अत एव साधारणहेतुमाह—व्यञ्जकत्वसाम्यादिति। व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सर्वेषु पक्षेषु सामान्यरूपः साधारण इत्यर्थः।

समान विना चकार के ही समुच्चय हो जाता है। इससे वाच्य भी ध्वनि है, वाचक शब्द भी ध्वनि है दोनों की व्यञ्जकता होती है 'ध्वनित करता है' इस व्युत्पत्ति को मानकर। शब्द करना शब्द कहलाता है अर्थात् शब्दव्यापार; यह अभिधा इत्यादि रूप नहीं होता अपितु आत्मस्थानीय होता है, वह भी ध्वनन अर्थात् ध्वनि कहलाता है। 'काव्य' इस नामवाला जो अर्थ है वह भी ध्वनि होती है क्योंकि ध्वनि के उक्त चार प्रकारमय ही (काव्य) होता है। इसीलिये साधारण हेतु बतलाते हैं—'व्यञ्जकत्व साम्यादिति' व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सब पक्षों मे सामान्यरूप मे साधारण होता है यह अर्थ है।

तारावती

व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जना व्यापार इन चारों को ध्वनि कहते हैं। इन सब का संयोग होने के कारण समस्त काव्य को भी ध्वनि कहते है। विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होने के कारण भेद और अभेद दोनों का व्यपदेश करना उचित नहीं है यह बात नहीं। अर्थात् भेद और अभेद दोनों का व्यपदेश उचित नहीं है। 'काव्यस्य आत्मा ध्वनिः' मे भेदव्यपदेश है क्योंकि काव्य शब्द मे षष्ठी और 'ध्वनिः' मे प्रथमा है। यहाँ व्यङ्ग्य व्यञ्जक इत्यादि ध्वनि के अर्थ हैं। अतः भेदव्यपदेश किया गया है। इसी प्रकार 'स ध्वनिः' मे दोनों शब्दो मे प्रथमा है। अतः अभेदव्यपदेश है।

('वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्तः' इस वाक्य का एक दृष्टि में देखने पर सीधा अर्थ यह प्रतीत होता है कि 'वाच्य और वाचक से मिश्रित, शब्द आत्मावाले तथा काव्य इस नामवाले तत्व को व्यञ्जक की समानता के कारण ध्वनि कहा गया है।' किन्तु लोचनकार ने इस वाक्य का और ही अर्थ लगाया है जिससे ध्वनि के सभी भेदों का इस वाक्य में समावेश हो जाता है।) यहाँ पर सम्मिश्र एक पृथक्तत्व है, वाच्यवाचक शब्द के साथ उसका मध्यमपदलोपी समास हो जाता है। अर्थात् वाच्य वाचक से युक्त सम्मिश्र। शब्दात्मा एक पृथक् तत्व है और काव्यमितिव्यपदेश्यः

ध्वन्यालोकः

न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत्प्रकाशनं तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादनेन तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्यया कलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

(अनु०) जो ध्वनि इस प्रकार की है और आगे चलकर किये जानेवाले भेदों उपभेदों से जिसका विषय महान् तथा व्यापक हो जाता है उसका प्रकाशन विशेष प्रकार के अप्रसिद्ध केवल अलङ्कारों के प्रकाशन के समान नहीं हो सकता। अतएव जिनके हृदयों में उस ध्वनि के प्रति (अथवा अप्रसिद्ध अलङ्कारों के प्रति) भावना भरी हुई है उनका उत्तेजित होना उचित ही है। उनके प्रति ईर्ष्या के कारण अपनी बुद्धि को कभी कलुषित नहीं बनाना चाहिये। इस प्रकार ध्वनि के अभाववादियों का निराकरण होगा।

तारावती

यह पृथक् तत्व है। यहाँ पर यद्यपि 'च' का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि समुच्चय हो जाता है। जैसे 'मैं गाय, घोड़ा, पुरुष, पशु को जानता हूँ।' इस वाक्य मे यद्यपि 'और' का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि सभी का समुच्चय हो जाता है। इस प्रकार वाच्य अर्थ को ध्वनि कहते हैं और वाचक शब्द को भी ध्वनि कहते है। दोनों व्यञ्जक होते हैं, दोनों अवस्थाओं में व्युत्पत्ति होगी, 'ध्वनति इति ध्वनिः'। सम्मिश्र अर्थात् व्यङ्ग्य को भी ध्वनि कहते हैं। सम्मिश्र शब्द का अर्थ है जो विभाव अनुभाव के सम्मिलन के द्वारा अवगत किया जावे इस प्रकार का व्यङ्ग्यार्थ। इस अर्थ मे ध्वनि शब्द का प्रयोग करने पर व्युत्पत्ति होगी 'ध्वन्यत इति ध्वनिः।' अब 'शब्दात्मा' शब्द को लीजिये। शब्द का अर्थ है 'शब्दन' अर्थात् शब्दव्यापार। अतएव 'शब्दात्मा' शब्द का अर्थ हुआ ऐसा शब्दव्यापार जो आत्मा के रूप मे स्थित हो। ऐसा शब्दव्यापार अभिधा नहीं हो सकता अपितु व्यञ्जना हो सकता है क्योंकि वही काव्य की आत्मा है। इस प्रयोग मे ध्वनि की व्युत्पत्ति होगी—'ध्वननं ध्वनिः'। जिस वस्तु के लिये 'काव्य' यह नाम दिया जाता है वह भी ध्वनि कहलाता है क्योंकि उसमें कोई ऐसा तत्व नहीं होता जो उक्त चारों प्रकारों से भिन्न हो। उक्त समस्त प्रकारों मे ध्वनि शब्द का प्रयोग वैय्याकरणों के अनुसार इस आधार पर होने लगा कि वैय्याकरण भी ध्वनि के द्वारा शब्द की व्यञ्जना मानते हैं और साहित्यिकों की ध्वनि मे भी मूल आधार व्यञ्जना ही है। आशय यह है कि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव का होना एक साधारण तर्क है जो सभी पक्षों मे सामान्य रूप में लागू होता

लोचन

यत्पुनरेतदुक्तं 'वाग्विकल्पानामानन्त्यादिति' तत्परिहरति—न चैवंविधस्येति । वक्ष्यमाणः प्रभेदो यथा—मुख्ये द्वे रूपे । तद्भेदा यथा—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इत्यविवक्षितवाच्यस्य; असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति विवक्षितान्यपरवाच्यस्येति । तत्राप्यवान्तरभेदाः । महाविषयस्येति अशेषलक्ष्यव्यापिन इत्यर्थः । विशेषग्रहणेनाव्यापकत्वमाह । मात्रशब्देनाङ्गित्वाभावम् । तत्र ध्वनिस्वरूपे भावितं प्रणिहितं चेतो येषां तेन वा चमत्काररूपेण भावितमधिवासितमत एव मुकुलितलोचनत्वादिविकारकारणं चेतो येषामिति । अभाववादिन इति । अवान्तरप्रकारत्रयभिन्ना अपीत्यर्थः ।

और जो यह कहा गया कि 'वाणी के विकल्पों के अनन्त होने से' इत्यादि । उसका परिहास कर रहे है—न चैवं विधस्य इत्यादि । कहे जानेवाले प्रभेद जैसे—मुख्य दो रूप हैं । उनके भेद जैसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये अविवक्षितवाच्य के भेद हैं । विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये (दो भेद हैं) उसमे भी अवान्तर भेद होते हैं । 'महाविषयस्य' का अर्थ है समस्त लक्ष्य में व्यापक । विशेष ग्रहण से अव्यापकता बतलाते हैं । मात्र शब्द से अङ्गित्व का अभाव (बतलाते हैं) उसमे अर्थात् ध्वनिस्वरूप मे भावित अर्थात् दे दिया गया है चित्त जिन लोगों का अथवा चमत्काररूप उस अलङ्कार के द्वारा भावित अर्थात् अधिवासित अतएव मुकुलित लोचनत्व इत्यादि विकार का कारण है चित्त जिनका । अभाववादी अर्थात् अवान्तर तीनों प्रकारों से भिन्न भी ।

तारावती

है । आशय यह है कि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सामान्यतया सभी पक्षों में साधारण रूप में पाया जाता है ।

अभाववाद के एक पक्ष मे जो यह कहा गया था कि 'ध्वनि अनन्त वाग्विकल्पों मे ही एक साधारण अलङ्कार माना जा सकता है ।' अब उसका उत्तर दिया जा रहा है—'अपने भेद और उपभेदों के कारण, जिनका निरूपण आगे चलकर द्वितीय उद्योत मे किया जावेगा, ध्वनि का विषय महान् है ।' उसके प्रभेद इस प्रकार हैं—मुख्य रूप से ध्वनि के दो रूप होते हैं—अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य । उनके उपभेद इस प्रकार हैं—अविवक्षितवाच्य दो प्रकार का होता है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य । विवक्षितान्यपरवाच्य भी दो प्रकार का होता है—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । उनके भी बहुत से अवान्तर भेद होते हैं । इस प्रकार ध्वनि का विषय महान् हो

ध्वन्यालोकः

अस्ति ध्वनिः। स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन।

(अनु०) ध्वनि है। वह सामान्यरूप से दो प्रकार की होती है अविक्षितवाच्य और विवक्षितान्थपर वाच्य।

लोचन

तेषां प्रत्युक्तौ फलमाह—अस्तीति। उदाहरणपृष्ठे भाक्तत्वं सुशङ्कं सुपरिहरं च भवतीत्यभिप्रायेणोदाहरणदानावकाशार्थं भाक्तत्वालक्षणीयत्वे प्रथमं परिहरणयोग्येऽप्यप्रतिसमाधाय भविष्यदुद्योतानुवादानुसारेण वृत्तिकृदेव प्रभेदनिरूपणं करोति-सचेति। पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति बहुव्रीह्यर्थाश्रयेण यथोचितं

उनके प्रत्याख्यान का फल बतला रहे हैं—'ध्वनि है' इत्यादि। उदाहरण की पीठपर भाक्तत्व की शङ्का भी सरलता से हो सकती है और उसका परिहार भी सरलता से किया जा सकता है, इस अभिप्राय से भाक्तत्व और अलक्षणीयत्व के प्रथम परिहार योग्य होते हुये भी उनका प्रतिसमाधान न करके आगे आनेवाले उद्योत के अनुवाद के अनुसार वृत्तिकार ही प्रभेद निरूपण कर रहा है—स च इत्यादि। पाँचों प्रकार के ध्वनिशब्द के अर्थ मे 'जिसके द्वारा' 'जिसमे' 'जिससे' 'जिसको' 'जिसके लिये' इस बहुव्रीहि के अर्थ के

तारावती

जाता है अर्थात् काव्य शब्द से जो कुछ भी अभिहित किया जाता है उस सबमें ध्वनि व्यापक रूप में रहती है।' केवल विशेष प्रकार के अलङ्कारों मे उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता।' इस वाक्य में 'विशेष' शब्द का अर्थ है कि अलङ्कार व्यापक नहीं होते जब कि ध्वनि काव्य में व्यापक होती है। 'केवल' शब्द का अर्थ है अलङ्कार केवल आभूषण ही हो सकते हैं वे अङ्गी (प्रधान) नहीं हो सकते। 'तद्भावितचेतसाम्' शब्द का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है—जिन लोगों ने ध्वनि के स्वरूप में अपना चित्त लगा दिया है उनके प्रति ईर्ष्यालु नहीं होना चाहिये। दूसरा अर्थ है—'ध्वनि को चमत्कार रूप मे समझते हुये जिन्होंने उसी आशय से अपने चित्तों को अधिवासित कर लिया है उनके नेत्र मुकुलित हो गये हैं उनके चित्तों में पक्षपात का विकार उत्पन्न हो गया है। अतः उनके प्रति अपनी बुद्धि को ईर्ष्या से परिपूर्ण नहीं बनाना चाहिये। (क्योंकि वास्तविकता को न समझ सकने के कारण वे बेचारे दया के पात्र हैं।) इस प्रकार तीन अवान्तर प्रकारों मे विभक्त अभाववादियों का निराकरण हो गया।

अभाववादियों का फलितार्थ बतलाया जा रहा है कि 'ध्वनि है'। अभाववाद

लोचन

सामानाधिकरण्यं सुयोज्यम् । वाच्येऽर्थे तु ध्वनौ वाच्यशब्देन स्वात्मा तेनाविवक्षितोऽप्रधानीकृतः स्वात्मा येनेत्यविवक्षितवाच्यो व्यञ्जकोऽर्थः । एवं विवक्षितान्यपरवाच्येऽपि । यदि वा कर्मधारयेणार्थपक्षे अविवक्षितश्चासौ वाच्यश्चेति । विवक्षितान्यपरश्चासौ वाच्यश्चेति । तत्रार्थः कदाचिदनुपपद्यमानत्वादिना निमित्तेनाविवक्षितो भवति ।

आश्रय से यथोचित रूप मे सामानाधिकरण्य की योजना सुविधापूर्वक की जा सकती है । ध्वनि वाच्यार्थ को कहते हैं, यह मानने पर वाच्यशब्द से स्वात्मा कहा जाता है, उससे अविवक्षित अर्थात् अप्रधान कर दिया गया है स्वात्मा जिसके द्वारा, इस प्रकार अविवक्षितवाच्य व्यञ्जक अर्थ (कहलाता है) । इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य मे भी । अथवा कर्मधारय के द्वारा अर्थ करने के पक्ष मे अविवक्षित होते हुये जो वाच्य है । विवक्षितान्यपर होते हुये जो वाच्य है यहाँ उसमे अर्थ कदाचित् अनुपपद्यमान होने इत्यादि निमित्त के द्वारा अविवक्षित

तारावती

के निराकरण कर देने से यह सिद्ध हो गया कि ध्वनि की सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता । अब दो प्रश्न शेष रह गये—(१) क्या ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा मे कर दिया जाना चाहिये ? (२) क्या ध्वनि का लक्षण बनाना अशक्य है ? इन दोनों पक्षों पर ही विचार करना है । किन्तु उदाहरण के आधार पर ही लक्षणापक्ष की स्थापना भी की जा सकती है और उसका उत्तर भी दिया जा सकता है । अतएव यद्यपि लक्षणापक्ष और अशक्यवक्तव्यपक्ष का परिहार पहले करना चाहिये तथापि इस प्रकरणप्राप्त विषय का अतिक्रमण करके उदाहरण देने की सुविधा के लिये वृत्तिकार ने ही ध्वनि के प्रमुख भेदों का पहले निरूपण किया है । ध्वनि के भेदोपभेदों का निरूपण दूसरे उद्योत में विस्तारपूर्वक किया जावेगा । उसी का अनुवाद यहाँ पर कर दिया गया है कि ध्वनि दो प्रकार की होती है—अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य । (अविवक्षितवाच्य शब्द मे एक तो बहुव्रीहि समास हो सकता है और दूसरा कर्मधारय ।) बहुव्रीहि द्वारा अर्थ करने मे तृतीया, सप्तमी, पञ्चमी, षष्ठी और चतुर्थी के अर्थो मे बहुव्रीहि मानकर ध्वनि के पाँचों अर्थो मे सामानाधिकरण्य की भलीभाँति योजना की जानी चाहिये । ध्वनि का अर्थ वाच्यार्थ भी होता है और अविवक्षितवाच्य मे 'वाच्य' शब्द का प्रयोग किया ही गया है । अतएव ध्वनि का अर्थ वाच्यार्थ होने पर वाच्य का अर्थ करना चाहिये 'अपनी आत्मा' । इससे 'अविवक्षितवाच्य' शब्द का अर्थ हो जावेगा—'अविवक्षित अर्थात् अप्रधान कर दिया है अपनी आत्मा को जिसने अर्थात् व्यञ्जक अर्थ ।' 'अविवक्षितवाच्य' मे विभिन्न अर्थो मे

लोचन

कदाचिदुपपद्यमान इतिकृत्वा विवक्षित एव, व्यङ्ग्यपर्यन्तां तु प्रतीतिं स्वसौभाग्यमहिम्ना करोति। अत एवार्थोऽत्र प्राधान्येन व्यञ्जकः, पूर्वत्र शब्दः। ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात्को विरोधः? सामान्येनेति। वस्त्वलङ्काररसात्मना हि त्रिभेदोऽपि ध्वनिरुभाभ्यामेवाभ्यां सङ्गृहीत इति भावः।

होता है। कदाचित् उपपद्यमान होने के कारण विवक्षित ही होता है। व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति को तो अपने सौभाग्य की महिमा से कर देता है। अतएव यहाँ पर अर्थ प्रधानतया व्यञ्जक होता है। पहले तो शब्द (व्यञ्जक होता है)। (प्रश्न) विवक्षा और अन्यपरत्व ये विरुद्ध हैं? (उत्तर) अन्यथात्व के रूप मे विवक्षित होने में क्या विरोध है? 'सामान्य रूपमे' इति। आशय यह है कि वस्तु रस और अलङ्कारात्मक निस्सन्देह तीन प्रकार की भी ध्वनि इन दोनों ही भेदों के द्वारा संगृहीत हो गई है।

तारावती

वहुव्रीहि करने पर ये अर्थ होंगे—(१) षष्ठी के अर्थ मे वहुव्रीहि—अविवक्षित है वाच्य जिसका अर्थात् वाचक शब्द, (२) तृतीया के अर्थ मे वहुव्रीहि—अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य रूप स्वात्मा जिसके द्वारा अर्थात् वाच्य अर्थ। (३) सप्तमी के अर्थ में वहुव्रीहि—'अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिसमे अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार (४) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिसके लिये अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ। (५) अविवक्षित कर दिया गया है वाच्य जिससे अर्थात् व्यञ्जनाव्यापार के वाच्य सामर्थ्य इत्यादि हेतु। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य के भी विभिन्न अर्थ कर लेने चाहिये। अथवा कर्मधारय समास भी हो सकता है—अर्थात् जो अविवक्षित होते हुए वाच्य है। इसी प्रकार जो अन्यपरता के साथ विवक्षित है और वाच्य है। व्यञ्जनाव्यापार का आश्रय लेने पर वाच्यार्थ की दो स्थितियाँ हो सकती हैं—कहीं तो वाच्यार्थ का अनुपपन्न (असङ्गत) होना इत्यादि कुछ ऐसे हेतु होते हैं जिनसे वाच्य अविवक्षित हो जाता है। कहीं-कहीं वाच्यार्थ सङ्गत ही होता है, अतएव उसका कहना वक्ता को अभीष्ट ही होता है। किन्तु एक तो उस शब्द का प्रयोग नवीन भङ्गिमा के साथ किया गया होता है, दूसरे उस शब्द मे ही कोई ऐसी विशेषता विद्यमान होती है कि उससे एक नवीन अर्थ व्यक्त होने लगता है। इस प्रकार वह शब्द अपने सौभाग्य की महिमा से उस नवीन अर्थ को भी व्यक्त कर दिया करता है। अतएव वाच्यार्थ से लेकर व्यङ्ग्यार्थप्रतीति पर्यन्त उस शब्द का व्यापार चलता रहता है और वह शब्द अपने सौभाग्य की महिमा से व्यङ्ग्यपर्यन्त प्रतीति उत्पन्न किया करता है। प्रथम प्रकार की व्यङ्ग्यप्रतीति मे वाच्यार्थ अविवक्षित होता है, अतएव उसे अविवक्षित-

लोचन

ननु तन्नामपृष्ठे एतन्नामनिवेशनस्य किं फलम् ? उच्यते—अनेन हि नामद्वयेन ध्वननात्मनि व्यापारे पूर्वप्रसिद्धाभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रितयावगतार्थप्रतीतेः प्रतिपत्तृगतायाः प्रयोक्त्रभिप्रायरूपायाश्च विवक्षायाः सहकारित्वमुक्तमितिध्वनिस्वरूपमेव नामभ्यामेव प्रोज्जीवितम् ।

(प्रश्न) उक्त नामों की पीठपर नये नामों के समावेश का क्या लाभ ! (उत्तर) बतलाते हैं—इन दोनों नामों के द्वारा ध्वननात्मक व्यापार में पूर्व प्रसिद्ध अभिधा, तात्पर्य और लक्षणात्मक तीनों व्यापारों से अवगत होनेवाले अर्थ की प्रतीति से प्रतिपत्ता के अन्दर रहनेवाली और प्रयोक्ता की अभिप्रायरूपिणी विवक्षा का सहकारित्व बतला दिया गया है इस प्रकार नामों के द्वारा ध्वनि का स्वरूप ही प्रत्युज्जीवित कर दिया गया है ।

तारावती

वाच्य कहते है और दूसरे प्रकार मे अन्य अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) के साथ वाच्यार्थ विवक्षित होता है, अतएव उसे विवक्षितान्यपरवाच्य कहते हैं। द्वितीय प्रकार मे अर्थ दूसरे अर्थ का अभिव्यक्त करता है अतः प्रधानतया अर्थ व्यञ्जक होता है किन्तु प्रथम प्रकार में अर्थ अविवक्षित होता है अतः प्रधानतया शब्द व्यञ्जक होता है। (यहाँ पर महिम भट्ट ने एक प्रश्न उठाया है कि) अर्थ विवक्षित भी है अर्थात् वाच्यार्थ का कथन अभीष्ट भी होता है और उसका वाच्यार्थ व्यतिरिक्त दूसरा भी अर्थ निकलता है, यह बात परस्पर विरुद्ध है। इसका उत्तर यह है कि इसमे क्या विरोध है कि एक शब्द अपने अर्थ को एक अन्य विशेष अर्थ के साथ कहता है ? मूल मे कहा गया है कि ध्वनि सामान्यतया दो प्रकार की होती है। यहाँ पर सामान्यतया का अर्थ यह है कि यद्यपि ध्वनि के तीन भेद किये गये थे वस्तु, रस और अलङ्कार। तथापि इन तीनों भेदों का संग्रह अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इन्हीं दो भेदों मे कर दिया गया। (प्रश्न) पहले से ध्वनि के तीन नाम चलते ही थे वस्तु, रस और अलङ्कार। उन्हीं की पीठ पर ये दो नये नाम सन्निविष्ट कर देने से क्या लाभ ? (उत्तर) इन दो नामों के रखने का एक विशेष प्रयोजन है। यह बतलाया जा चुका है कि ध्वनि का एक अर्थ व्यापार भी है। उस व्यापार मे शब्द और अर्थ दोनों कारण होते हैं। जब प्रतिपत्ता (श्रोता) किसी शब्द को सुनता है तब उसको अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक पूर्व प्रसिद्ध तीनों व्यापारों से एक अर्थ की अवगति होती है। दूसरी ओर प्रयोक्ता (वक्ता) का अभिप्राय भी किसी विशेष अर्थ मे होता है जिसे वक्ता की विवक्षा कहते है। अभिधा इत्यादि तीनों व्यापारों से अवगत तथा श्रोता के

ध्वन्यालोकः

तत्राद्यस्योदाहरणम्—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥

(अनु०) उनमे पहले (अविवक्षितवाच्य) का उदाहरण—

स्वर्ण को फूलनेवाली पृथिवी को तीन ही पुरुष प्राप्त कर पाते हैं—वीर, सफल और पूर्ण विद्यावाला तथा जो सेवा करना जानता है।

लोचन

सुवर्णपुष्पामिति। सुवर्णानि पुष्प्यतीति सुवर्णपुष्पा। एतच्च वाक्यमेवासम्भवत्स्वार्थमितिकृत्वाऽविवक्षितवाच्यम्। तत एव पदार्थमभिधायान्वयं च तात्पर्यशक्त्यावगमय्यैव बाधकवशेन तमुपहत्य सादृश्यात् सुलभसमृद्धिसमाचारभाजनतां लक्षयति। तल्लक्षणाप्रयोजनं शूरकृतविद्यसेवकानां प्राशस्त्यमशब्दवाच्यत्वेन गोप्यमानं सन्नायिकाकुचकलशयुगलमिव महार्घतामुपयनद्ध्वन्यत इति। शब्दोऽत्र प्रधानतया व्यञ्जकः, अर्थस्तु तत्सहकारितयेति चत्वारो व्यापाराः।

सुवर्णपुष्पाम् इत्यादि। सुवर्णो को जो फूलती है उसे सुवर्णपुष्पा (कहते हैं) यह वाक्य ही असम्भव स्वार्थवाला है इसलिये यह अविवक्षितवाच्य है। उसी से पदार्थ को कहकर और अन्वय को तात्पर्यशक्ति से अवगत कराकर बाधकवश उसको उपहतकर सादृश्य से सुलभसमृद्धिसम्भार की पात्रता को लक्षित करता है। उस लक्षणा का प्रयोजन शूर, सफलविद्यावाले और सेवकों का प्राशस्त्य अशब्दवाच्यत्व के रूप मे छिपाया जाता हुआ होकर नायिका के कुचकलशयुगल के समान महार्घता को प्राप्त होते हुये ध्वनित करता है, इस प्रकार शब्द यहाँ पर प्रधानतया व्यञ्जक है और अर्थ तो उसकी सहकारिता के रूप मे (गृहीत होता है)। इस प्रकार चार व्यापार हैं।

तारावती

अन्तःकरण मे विराजमान अर्थ का और प्रयोक्ता के अभिप्रेत विवक्षित अर्थ का परस्पर सहकार अवश्य होता है यही सिद्ध करने के मन्तव्य से यहाँ पर नये नाम रक्खे गये है। इस प्रकार नामों के द्वारा ही ध्वनि का स्वरूप भी प्रत्युज्जीवित कर दिया गया है।

अविवक्षित वाच्य का जो उदाहरण मूल मे दिया गया है उसके सुवर्णपुष्पा शब्द को लीजिये। इसका अर्थ है—'जो सुवर्ण को फूलती है।' यह पृथिवी का विशेषण है। अतएव पृथिवी पर लता का आरोप हो जाता है। न तो पृथिवी एक लता ही है और न किसी लता मे सोने के फूल ही आते हैं। इस प्रकार इस

तारावती

ने तरुणी के अधर-दशन का जो सुमधुर फल प्राप्त किया है वह ऐसी-वैसी तपस्या से प्राप्त नहीं हो सकता। लोक में बड़े से बडे जितने भी तप प्रसिद्ध हैं वे इतना उच्चकोटि का फल नहीं दे सकते। न तो वह स्थान ही दृष्टिगत होता है जहाँ ऐसी तपस्या की जा सके, न इतना समय ही है और न ऐसी तपस्या ही प्रसिद्ध है। तपस्या के उत्तम से उत्तम स्थान श्रीपर्वत इत्यादि हैं जिनकी निर्विघ्न उत्तम सिद्धि प्रदान करने की प्रशंसा सुनी गई है। किन्तु वे भी इतनी बड़ी सिद्धि प्रदान नहीं कर सकते। संसार मे समय की गणना सीमित है जो स्वर्गीय सहस्र कल्प से आगे नहीं जाती। उतना समय भी इस सिद्धि के लिये पर्याप्त नहीं है। पञ्चाग्नि इत्यादि कुछ तपस्यायें भी सुनी गई हैं किन्तु इस प्रकार के उत्तम फल को देनेवाली कोई तपस्या ज्ञात ही नहीं है। 'तवाधरपाटलम्' में 'तव' शब्द पृथक् है; यदि यहाँ पर समास कर दिया गया होता तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाती। 'तुम्हारा दशन कर रहा है।' यह अभिप्राय व्यक्त नहीं हो पाता। अतएव कुछ लोगों का यह कहना ठीक नहीं है कि यहाँ पर छन्द की पूर्ति के लिये समास नहीं किया गया। आशय यह है कि यहाँ पर वक्ता मुख्यरूप से 'तव' शब्द पर जोर देना चाहता है। यों तो संसार मे सैकडों रमणियाँ हैं और अधिकतर विम्बफल को उनके अधर की उपमा का सौभाग्य प्राप्त होता ही रहता है किन्तु 'तुम जैसी सुन्दरी' के अधर की उपमा का सौभाग्य निस्सन्देह एक बड़ी बात है जो साधारण तथा लोकप्रसिद्ध तपस्या का फल नहीं हो सकता। शुकशावक इसीलिये धन्य है कि वह 'तुम्हारा' अधर दशन कर रहा है। यह आशय तभी व्यक्त हो सकता है जबकि 'तव' शब्द को पृथक् रक्खा जावे। यदि समास कर दिया गया होता तो 'त्वत्' शब्द अधर का विशेषणमात्र बन कर रह जाता और वास्तविक व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति न कर पाता और इस पद्य मे विधेयाविमर्श दोष आ जाता। [विशेष्य से विशेषण के किसी विशेष सम्बन्ध को लेकर उसका क्रिया से अन्वय हो जाता है जैसे वैदिक वाक्य 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' में 'गो' से अन्वित आरुण्य का साध्यता इत्यादि सम्बन्ध से क्रयण मे अन्वय हो जाता है और 'धनवान् सुखी' इस लौकिक वाक्य मे 'मतुप्' के अर्थ से अन्वित धन का प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से सुख मे अन्वय हो जाता है। उसी प्रकार यहाँ पर अधर से अन्वित त्वत्सम्बन्धित्व का बिम्बफलकर्मक दशन मे प्रयोज्यत्व सम्बन्ध से अन्वय हो जाता है। आशय यह है कि विम्बफल तुम्हारे अधर की उपमा प्राप्तकर अपने को सौभाग्यशाली समझता है और शुकशावक प्रधानरूप तुम्हारे अधर को ही दृष्टिगत रख सादृश्य के कारण विम्बफल का दशन कर रहा है। यही 'तव' के व्यस्तरूप मे

लोचन

अत्र च त्रय एव व्यापाराः—अभिधा, तात्पर्यं, ध्वननं चेति । मुख्यार्थबाधाद्यभावे मध्यमकक्ष्यायां लक्षणायास्तृतीयस्या अभावात् । यदि वाकस्मिकविशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये । तस्यास्तु प्रयोजनं ध्वन्यमानमेव, तत्तुर्यकक्ष्यानिवेशि, केवलं पूर्वत्र लक्षणैव प्रधानं ध्वननव्यापारे सहकारि । इह त्वभिधातात्पर्यशक्ती । वाक्यार्थसौन्दर्यादेव व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्तेः केवलं

यहाँ पर तीन ही व्यापार हैं—अभिधा, तात्पर्य और ध्वनन । क्योंकि मुख्यार्थबाध इत्यादि के अभाव में तीसरी (वृत्ति) लक्षणा का अभाव है । अथवा आकस्मिक विशिष्ट प्रश्न के अर्थ की अनुपपत्ति से मुख्यार्थबाध में सादृश्य से बीच में लक्षणा हो जावे । उसका तो प्रयोजन ध्वन्यमान (प्रधानीभूत व्यङ्ग्यार्थ) ही है । वह चौथी कक्ष्या मे निविष्ट होनेवाला है । केवल पहले लक्षणा ही प्रधान (तथा) ध्वननव्यापार में सहकारी है । यहाँ तो अभिधा और तात्पर्यशक्ति प्रधान हैं । वाच्यार्थ सौन्दर्य से व्यङ्ग्यार्थप्रतिपत्ति हो जाने से केवल अंशमात्र लक्षणाव्यापार

तारावती

पढ़ने का विशिष्ट अर्थ है ।] 'दशति' शब्द का अर्थ है स्वाद लेता है; चखता है । आशय यह है कि स्वाद ले-ले कर धीरे-धीरे चख रहा है । जिससे प्रबन्ध-विच्छेद नहीं होता । एक पेटू के समान सभी कुछ खा नहीं डालता । यदि पेटू के समान सभी कुछ खा जावे तो आस्वाद्य वस्तु शीघ्र ही समाप्त हो जावे और स्वाद लेने के लिये उसे कुछ शेष न रहे । किन्तु यह शुकशावक तो रसज्ञ है; रस ले-ले कर चख रहा है । जिस प्रकार उसको तुम्हारे अधर-दशन का सौभाग्य किसी अनुपम तपस्या के फल के रूप मे मिला है उसी प्रकार रसज्ञता भी तपस्या का ही फल है । 'शुक-शावक' शब्द से व्यक्त हो जाता है कि यह भी तपस्या का ही फल है जो कि उसे तारुण्य के कारण उचित समय मे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो गया । इससे व्यक्त होता है कि वक्ता अनुराग से भरा हुआ है; उसके हृदय में नायिका के अधरपान की उत्कट अभिलाषा छिपी हुई है, वह औचित्य का परित्याग न करते हुये विदग्धता के साथ अपने अभिप्राय को प्रकट करना चाहता है । इसीलिये चाटुकारिता के इन शब्दों का प्रयोग कर रहा है जिससे रति की आलम्बनभूत नायिका को उद्दीपन हो जावे जो कि उसकी अभिलाषा के अनुकूल हो । यहाँ पर चाटुकारिता ही नायिका के लिये उद्दीपन है ।

प्रथम भेद (अविवक्षितवाच्य) में चार व्यापार थे—अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा और व्यञ्जना । यहाँ पर केवल तीन ही व्यापार हैं । लक्षणा की तीनों शर्तें मुख्यार्थबाध इत्यादि यहाँपर नहीं मिलतीं । अतएव तीसरा व्यापार लक्षणा यहाँपर नहीं होगा

ध्वन्यालोकः

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत्प्रतिसमाधीयते—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति भिन्नरूपत्वात्। वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः। उपचारमात्रं तु भक्तिः।

(अनु०) जो यह कहा गया था कि 'भक्ति ध्वनि है' इसका प्रति समाधान किया जा रहा है :—

'दोनों में रूप भेद होने से भक्ति से ध्वनि एकरूपता को धारण नहीं करती।'

यह ध्वनि जिसके प्रकार ऊपर बतलाये जा चुके हैं भक्ति के साथ एकरूपता को धारण नहीं करती क्योंकि दोनों का रूप भिन्न होता है। जहाँ वाच्य और वाचक के द्वारा वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ का तात्पर्य से प्रकाशन हो वहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता में ध्वनि होती है। भक्ति तो केवल उपचार को कहते हैं।

लोचन

लेशेन लक्षणाव्यापारोपयोगोऽप्यस्तीत्युक्तम्। असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये तु लक्षणा समुन्मेषमात्रमपि नास्ति। असंल्लक्ष्यत्वादेव क्रमस्येति वक्ष्यामः। तेन द्वितीयेऽपि भेदे चत्वार एव व्यापाराः ॥ १३ ॥

अतएवोभयोदाऽहरणपृष्ठ एव भाक्तमाहुरित्यनुभाष्य दूषयति। अयं भावः—भक्तिश्च ध्वनिश्चेति किं पर्यायवत्तादूप्यम्? अथ पृथिवीत्वमिव पृथिव्या अन्यतो व्यावर्तकधर्मरूपतया, लक्षणम्? उत काक इव देवदत्तगृहस्य सम्भवमात्रादुपलक्षणम्? तत्र प्रथमं पक्षं निराकरोति—भक्त्या बिभर्तीति। उक्तप्रकार इति पञ्चस्वर्थेषुयोज्यम्—

का उपयोग भी है यह कहा गया। असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में तो लक्षणा का सन्मुन्मेषमात्र भी नहीं है क्योंकि क्रम का संल्लक्षित न होना ही (उसमे कारण है) यह हम कहेंगे। इसलिये द्वितीय भेद में भी चार ही व्यापार होते हैं ॥१३॥

अतएव दोनों उदाहरणों की पीठ पर ही 'लाक्षणिक कहते हैं' यह अनूदित करके दूषित करते हैं। भाव यह है—भक्ति और ध्वनि क्या पर्याय के समान तद्रूप होती हैं? अथवा पृथिवीत्व के समान पृथिवी से अन्यत्र व्यावर्तक धर्मरूप होने के कारण लक्षण है? अथवा देवदत्त के घर के कौवे के समान सम्भवमात्र होने से उपलक्षण है? उनमें प्रथम पक्ष का निराकरण कर रहे हैं—

भक्त्या बिभर्ति इत्यादि। 'उक्त प्रकार' इस शब्द को पाँचों अर्थों में लगाना

तारावती

अथवा यहाँ पर किसी न किसी प्रकार मुख्यार्थ बाध की कल्पना की जा सकती है—नायक ने अकस्मात् उस तरुणी से ऐसा विशिष्ट प्रश्न क्यों कर दिया ? शुकशावक तो विम्बफल का स्वाद लिया ही करते है, क्या उसके लिये इतनी बड़ी तपस्या की आवश्यकता है ? इत्यादि प्रश्नों के उत्पन्न होने से मुख्यार्थबाध हो जाता है। उससे नायिका का सौन्दर्यातिरेक लक्ष्यार्थ के रूप में गृहीत होता है, जिसका प्रयोजन है चाटुकारिता के समक्ष अपनी अधरपान की इच्छा को व्यक्त करते हुये नायिका को उद्दीप्त कर तैय्यार करना। यह प्रयोजन चौथी कक्ष्या मे सन्निविष्ट हो जाता है जो व्यञ्जनाव्यापार-गम्य है। इस प्रकार मध्य मे लक्षणा मानी जा सकती है। अविवक्षितवाच्य से इसमें भेद यह है कि अविवक्षितवाच्य के उदाहरण मे लक्षणा ही प्रधानतया व्यञ्जनाव्यापार में सहकारिणी थी किन्तु यहाँपर अभिधा और तात्पर्य ये दो वृत्तियाँ प्रधान रूप मे सहकारिणी होती हैं, क्योंकि वाक्यार्थसौन्दर्य से ही व्यङ्ग्य की प्रतिपत्ति हो जाती है, लक्षणा व्यापार का उपयोग तो लेशमात्र होता है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सर्वत्र विवक्षितान्यपरवाच्य मे लक्षणा दिखलाई जा सकती है ? उत्तर है नही। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य मे तो लक्षणा का उन्मेषमात्र भी नहीं होता। क्योंकि उसमे कोई क्रम लक्षित किया ही नहीं जा सकता। इस प्रकार इस दूसरे भेद में भी चार ही व्यापार होते हैं।

ऊपर दोनों उदाहरणो में लक्षणा का समावेश दिखलाया गया। अतएव 'उस ध्वनि को कुछ लोग भाक्त (लक्षणागम्य) बतलाते हैं' इस पक्ष का उल्लेख कर उसमे दोष दिखलाये जा रहे हैं। जिस लक्षणापक्ष का अग्रिम प्रकरण मे खण्डन किया गया है उसकी विवेचना से यह साराश निकलता है कि लक्षणा के अन्दर ध्वनि का अन्तर्भाव करने में तीन विकल्प हो सकते है—(१) ध्वनि और लक्षणा दोनों एक ही वस्तु हैं, एक वस्तु के दो नाम रख दिये है लक्षणा और ध्वनि, दोनों एक दूसरे के पर्यायवाचक शब्द है। (२) भक्ति या लक्षणा ध्वनि का लक्षण है। लक्षणा का उपयोग यह होता है कि वह किसी एक वस्तु को अन्य समस्त वस्तुओं से पृथक् करता है। जैसे पृथिवीत्व या गन्धवत्त्व। यह लक्षण पृथ्वी को जल इत्यादि शेष समस्त वस्तुओं से पृथक् करता है। प्रश्न यह है कि क्या इसी प्रकार भक्ति या लक्षणा भी ध्वनि का लक्षण अथवा व्यावर्तक धर्म है। (३) क्या भक्ति सत्तामात्र से ही ध्वनि का उपलक्षण होती है। जैसे कौआ अपनी सत्तामात्र से ही देवदत्त के घर का परिचायक होता है। (किसी ने पूछा कि देवदत्त का घर कहाँ है ?' दूसरे ने उत्तर दिया कि 'वह जहाँ कौआ बैठा है।' यहाँ कौआ देवदत्त के घर का परिचायक है।) क्या इसी प्रकार लक्षणा भी ध्वनि

लोचन

शब्देऽर्थे व्यापारे व्यङ्ग्ये समुदाये च। रूपभेदं दर्शयितुं ध्वनेस्तावद्रूपमाह—वाच्येति। तात्पर्येण विश्रान्तिधामतया प्रयोजनत्वेनेति यावत्। प्रकाशनं द्योतनमित्यर्थः। उपचारमात्रमिति। उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः। मात्रशब्देनेदमाह—यत्र लक्षणाव्यापारात्तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। 'यमर्थमधिकृत्य' इति हि प्रयोजनलक्षणम्। तत्रापि लक्षणास्तीति कथं ध्वननं लक्षणा चेत्येकं तत्त्वं स्यात्।

चाहिये—शब्द अर्थ व्यापार व्यङ्ग्य और समुदाय में। रूपभेदको दिखलाने के लिये ध्वनि के रूप को कहते है—वाच्य इत्यादि। 'तात्पर्येण' का अर्थ है विश्रान्तिधाम होने के कारण प्रयोजन के रूप मे। 'प्रकाशनं' का अर्थ है द्योतन। 'उपचारमात्र' इति। उपचार गुणवृत्ति को कहते हैं अर्थात् लक्षणा। उपचरण अर्थात् अतिशयित व्यवहार मात्र शब्द से यह कहते हैं—जहाँ तृतीय लक्षणाव्यापार वस्तुस्थिति से सम्भव होते हुये भी अनुपयुक्त होने के कारण आदरणीय न होने के समान होता है। 'जिस अर्थ को लेकर' यह प्रयोजन का लक्षण है। वहाँपर भी लक्षणा है अतः किस प्रकार ध्वनन और लक्षणा एक तत्त्व हो सकते हैं?

तारावती

की परिचायिका है? लक्षणापक्ष में यही तीन विकल्प सम्भव हैं। इनमें प्रथम पक्ष का निराकरण किया जा रहा है।

ध्वनि भक्ति के साथ एकरूपता को धारण नहीं करती। ध्वनि का प्रकार बतलाया जा चुका है। यह बतलाया जा चुका है कि ध्वनि शब्द का व्यवहार ५ अर्थों में होता है—शब्द, वाच्यार्थ, व्यञ्जनाव्यापार, व्यङ्ग्यार्थ और सबका समुदाय। इन सभी अर्थों में उक्त प्रकार की योजना करनी चाहिये। अर्थात् पाँचों अर्थों में ध्वनि और लक्षणा मे रूपभेद होता है यह समझना चाहिये। रूपभेद को समझाने के लिये आलोककार ने यहाँ पर ध्वनि का स्वरूप बतलाया है—जहाँ शब्द और अर्थ किसी दूसरे वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ को तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित किया करते हैं और उसी व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता भी होती है उसे ध्वनि कहते हैं। तात्पर्य के द्वारा कहने का आशय यह है कि वक्ता के अभिप्राय की विश्रान्ति व्यङ्ग्यार्थ में ही होती है। अतः विश्रान्ति का स्थान होने के कारण प्रयोजन के रूप मे व्यङ्ग्यार्थ ही अभिव्यक्त होता है। प्रकाशन का अर्थ है द्योतन। यह हुई ध्वनि की बात। अब भक्ति को लीजिये। भक्ति केवल उपचार को कहते हैं। उपचरण का अर्थ है व्यवहार का अतिशायन। अर्थात् गुणों के आधार पर अथवा परम्परागत अत्यन्त व्यवहार के कारण जहाँ एक शब्द का ऐसे अर्थ मे प्रयोग किया जावे जो उस

ध्वन्यालोकः

माभूदेतत्स्याद्भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥ १४ ॥

नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। कथम्? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च। तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात्।

(अनु०) यह न सही किन्तु भक्ति ध्वनि का लक्षण तो होती ही है। इस पर कहते हैं—'लक्षणा ध्वनि का लक्षण (व्यावर्तक धर्म) नहीं हो सकती, क्योंकि इससे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दो दोष आवेंगे ॥ १४ ॥

यह नहीं कहा जा सकता कि ध्वनि का व्यावर्तक धर्म लक्षणा है। यह कैसे? (उत्तर) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण। उनमे अतिव्याप्ति इसलिये होगी कि ध्वनि से भिन्न विषय में भी लक्षणा सम्भव है।

लोचन

द्वितीयं पक्षं दूषयति—अतिव्याप्तेरिति। असाविति ध्वनिः। तयेति भक्त्या। ननु ध्वननमवश्यम्भावीति कथं तद्व्यतिरिक्तोऽस्ति विषय इत्याह—महत्सौष्ठवमिति। अत एव प्रयोजनस्यानादरणीयत्वाद्व्यञ्जकत्वेन न कृत्यं किञ्चिदिति भावः। महद्ग्रहणेन गुणमात्रं तद्भवति। यथोक्तम्—'समाधिरन्यधर्मस्य यत्राप्यारोपो विवक्षितः' इति दर्शयति। ननु प्रयोजनाभावे कथं तथा व्यवहार इत्याह—प्रसिद्ध्यनुरोधेति। परम्परया तथैव प्रयोगात्।

द्वितीय पक्ष को दूषित करते हैं—अतिव्याप्तेः इत्यादि। वह अर्थात् ध्वनि। 'उससे' का अर्थ है भक्ति से। (प्रश्न) ध्वनन अवश्यंभावी है फिर तद्व्यतिरिक्त विषय कैसे हो सकता है? यह कहते हैं—'महत् सौष्ठवम्' इति। आशय यह है कि प्रयोजन के आदरणीय न होने के कारण व्यञ्जकत्व से कोई कार्य नहीं। 'महत्' शब्द के ग्रहण से वह गौण ही होता है। जैसा कहा गया है—'अन्य धर्म के कहीं आरोप को समाधि कहा जाना अभीष्ट है।' यह दिखलाते हैं। प्रयोजन के अभाव मे वैसा व्यवहार कैसे होता है? यह कहते हैं—'प्रसिद्ध्यनुरोध' इति। परम्परा से वैसा प्रयोग होने के कारण।

तारावती

शब्द के वास्तविक अर्थ से सम्बन्ध रखता हो। 'केवल उपचार को लक्षणा कहते हैं' इस वाक्य में केवल शब्द का आशय यह है कि लक्षणा मे ही यह बात देखी जाती है कि जिस अर्थ मे शब्द प्रचलित न हो उस अर्थ मे उसका प्रयोग करना अर्थात् लक्षणा में जिस प्रयोजन से एक शब्द का दूसरे मे प्रयोग किया जावे और प्रयोजन की प्रतिपत्ति व्यञ्जनागम्य हो वहाँ तो लक्षणा होती है। किन्तु लक्षणा

तारावती

ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ लक्षणा के अतिरिक्त प्रयोजन की प्रतिपत्ति के लिये चतुर्थ व्यापार व्यञ्जना वस्तुस्थिति के कारण उपस्थित तो हो किन्तु उसका उपयोग कुछ न हो रहा हो, अतः उसका आदर किया जा सके तथा उसका होना न होना एक जैसा हो। न्यायसूत्रकारने प्रयोजन का यह लक्षण दिया है—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' अर्थात् जिस तत्व को लेकर कोई शब्द प्रवृत्त हो उसे प्रयोजन कहते हैं। इस प्रकार लक्षणा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ प्रयोजनाभिव्यक्ति के लिये व्यञ्जना का आश्रय लिया जाता है और ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ उसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। (इसीप्रकार ध्वनि ऐसे स्थान पर भी होती है जहाँ तात्पर्यानुपपत्ति के कारण लक्षणा का विषय हो और प्रयोजनज्ञान के लिये व्यञ्जना नामक चतुर्थ वृत्ति का आश्रय लिया जावे तथा ऐसे स्थान पर भी हो जाती है जहाँ वाच्यार्थ बाध इत्यादि हेतुओं के न होने के कारण लक्षणा का बीज न हो।) इस प्रकार जब लक्षणा के अभाव में व्यञ्जना और व्यञ्जना के अभाव में लक्षणा सम्भव है तब दोनो एक हो ही कैसे सकती हैं?

अब द्वितीय पक्ष का खण्डन किया जा रहा है—'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह उससे लक्षित नहीं होती।' 'यह' का अर्थ है ध्वनि और 'उससे' का अर्थ है लक्षणा के द्वारा। (प्रश्न) जब कि लक्षणा मे ध्वनि का होना अनिवार्य है तब लक्षणा का विषय ध्वनि के अतिरिक्त कैसे हो सकता है?

(उत्तर) प्रायः देखा जाता है कि कवि लोग ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करते हैं जिनमे व्यञ्जना होती तो है किन्तु उसके कारण कोई विशेष सुन्दरता नहीं आती। कहने का आशय यह है कि लक्षणा में प्रयोजन की प्रतिपत्ति सर्वत्र होती है तथापि ध्वनिरूपता को प्राप्त करने के लिए इस बात की आवश्यकता होती है कि उसमें कुछ न कुछ निगूढता अवश्य रहे। किन्तु कुछ ऐसे भी स्थान होते हैं जहाँ प्रयोजन बिलकुल गूढ़ नहीं होता। उन शब्दों के उपचरित अर्थ में प्रयोग करने की परम्परा चल पड़ती है और कवि लोग स्वाभाविक रूप मे उन शब्दों का प्रयोग करते चले जाते है तथा सुननेवालों को उसमे चमत्कार बोध नहीं होता। अतः वहाँ पर ध्वनि नहीं हो सकती। यदि हम यह लक्षण बनावे कि 'जहाँ लक्षणा हो वहीं ध्वनि हो सकती है।' तो लक्षणा होने से उन प्रसिद्ध स्थानों पर भी ध्वनि का लक्षण चला जावेगा जहाँ वस्तुतः नहीं जाना चाहिये। यही अलक्ष्य में लक्षण का घटित हो जाना रूप अतिव्याप्ति दोष कहा जाता है। वस्तुतः इसीलिये प्रयोजन के अनादरणीय होने के कारण व्यञ्जकता से वहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं पूरी

ध्वन्यालोकः

यत्र हि व्यङ्गचकृतं महत्सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते। यथा—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्गचाः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्।

(अनु०) जहाँ व्यङ्गय के कारण बहुत बड़ी सुन्दरता नहीं आती वहाँ भी कवि लोग प्रसिद्धि के अनुरोध से आरोपित शब्दवृत्ति (लक्षणा) के द्वारा व्यवहार करते देखे जाते हैं जैसे—

'यह कमलिनी पत्रास्तरण स्तनों और जंघाओं के स्थूल होने के कारण उनका संसर्ग प्राप्तकर दोनों ओर अत्यन्त मलिन हो गया है किन्तु मध्य भाग के कृश होने के कारण उसका मिलन प्राप्त न कर हरा बना हुआ है। ढीली भुजलताओं के इधर-उधर फेंकने के कारण इसकी रचना अस्त-व्यस्त हो गई है। इस प्रकार यह आस्तरण उस कृशाङ्गी के सन्ताप को कह रहा है।

लोचन

वयं तु ब्रूमः—प्रसिद्धिर्या प्रयोजनस्यानिगूढतेत्यर्थः। उत्तानेनापि रूपेण तत्प्रयोजनं चकासन्निगूढतां निधानवदपेक्षत इति भावः। वदतीत्युपचारे हि स्फुटीकरणप्रतिपत्तिः प्रयोजनम्। यद्यगूढं स्वशब्देनोच्येत, किमचारुत्वं स्यात्। गूढतया वर्णने वा किं चारुत्वमधिकं जातम्। अनेनैवाशयेन वक्ष्यति—यत उक्त्यन्तरेणाशक्यं यदिति।

हम तो कहते हैं—अर्थ यह है कि प्रसिद्धि अर्थात् प्रयोजन की जो अनिगूढ़ता। भाव यह है कि उत्तान अर्थात् स्फुट अवभासमान रूप में वह प्रयोजन प्रकाशित होते हुये कोष के समान निगूढ़ता की अपेक्षा करता है। 'वदति' इसमें उपचार (लक्षणा) होनेपर निस्सन्देह स्फुटीकरण की प्रतिपत्ति प्रयोजन है। यदि अगूढ़ को स्वशब्द से कहा जाता तो क्या अचारुता हो जाती? अथवा गूढरूप मे वर्णन करने पर क्या अधिक चारुता उत्पन्न हो गई? इसी आशय से कहेंगे—'क्योंकि जो दूसरी उक्ति से अशक्य होता है' इत्यादि।

तारावती

होती। 'व्यञ्जना मे अधिक सुन्दरता नहीं होती' इस वाक्य मे अधिक शब्द का आशय यह है कि ऐसे स्थान पर व्यञ्जना गुणीभूत होकर अलङ्कार का रूप धारण कर लेती है। समाधि अलङ्कार का लक्षण करते हुए जैसा कि कहा गया है—जहाँ अन्य धर्म का कहीं अन्यत्र आरोप विवक्षित हो उसे समाधि कहते हैं।

ध्वन्यालोकः

तथा—चुम्बिज्जइ असहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि।
विरमिअ पुणोरमिज्जइ पियोजणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
[शतकृत्वोऽवरुद्ध्यते सहस्रकृत्वः चुम्ब्यते।
विरम्य पुनारम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥] इतिछाया।

तथा—कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छित्त महिलाओ ॥

(अनु०) उसी प्रकार :—

'अपने प्रियतम का सौ बार आलिङ्गन किया जाता है; हजार बार चुम्बन किया जाता है। रुक-रुककर रमण किया जाता है किन्तु वह पुनरुक्त नहीं होता।'

उसी प्रकार :—

'स्वैरिणी महिलाएँ चाहे कुपित हों चाहे प्रसन्न हों चाहे रो रही हों चाहे हँस रही हों, जिस रूप मे उन्हें ग्रहण करो उसी रूप में हृदय को हर लेती हैं।'

तारावती

(प्रश्न) जब दूसरे अर्थ मे दूसरे शब्द के प्रयोग में कोई प्रयोजन नहीं होता तब वैसा प्रयोग किया ही क्यों जाता है?

(उत्तर) किसी अन्य अर्थ मे अन्य शब्द के प्रयोग की परम्परा चल पड़ती है जिससे अभिधा के समान वैसा ही प्रयोग होने लगता है।

हम तो यह कहते हैं कि प्रसिद्ध का अर्थ ही है प्रयोजन का छिपा न होना, यद्यपि ध्वनिस्थल मे भी प्रयोजन सर्वथा अस्फुट नहीं होता। वह इस रूप में व्यक्त किया जाता है कि स्फुटरूप में अवभास के समान हो जाता है। तथापि उसमें कुछ न कुछ निगूढ़ता उसी प्रकार अपेक्षित होती ही है जिस प्रकार कोष को निगूढ रखने की आवश्यक्ता होती है।

अब प्रथम उदाहरण को लीजिये—'कमलिनी-पत्र की शय्या कह रही है' इस वाक्य में 'वदति' 'कहना' चेतन का काम है। शय्या कहने का काम नहीं कर सकती। अतः तात्पर्यानुपपत्ति से उसका अर्थ हो जाता है 'प्रकट कर रही है।' लक्षणा का प्रयोजन है—'स्फुटरूप मे प्रकट कर रही है।' यदि 'स्फुट प्रकट कर रही है' यही कह दिया जाता तो क्या असुन्दरता आ जाती? यदि 'कहती है' इस शब्द के द्वारा छिपा कर कहा गया तो क्या अधिक सुन्दरता हो गई? इस प्रकार अधिक सुन्दरता न होने से ध्वनि नहीं हो सकती, किन्तु लक्षणा है। इसीलिये अगली कारिका में कहेंगे कि ध्वनि का विषय वही होता है जो ऐसी चारुता को प्रकट करे जिसका प्रकट करना दूसरी उक्ति से असम्भव हो।'

ध्वन्यालोकः

तथा—

अज्जाएँ पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे ।
मिउओ वि दूसहो व्विअजाओ हिअए सवत्तणिम् ॥
[भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥ इतिच्छाया]

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितो
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥

इत्यत्रेक्षुपक्षेऽनुभवति शब्दः न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः ।

(अनु०) चौथा उदाहरण—

'प्रियतम ने अपनी नवोढा पत्नी के स्तनों पर उसकी नवलता के कारण एक हलका सा प्रहार प्रदान किया । वह प्रहार कोमल होते हुए भी सपत्नियों के हृदय मे असहनीय सा प्रतीत होने लगा ।'

पाँचवाँ उदाहरण—

'जो इक्षु दूसरे के लिये पीडा का अनुभव करता है, जो तोड़े जाने पर भी मधुर ही रहता है, जिसका विकार भी सभी को अभीष्ट होता है, यदि इस प्रकार का इक्षु नितान्त दूषित क्षेत्र मे पड़कर बढ़ न सका तो क्या यह इक्षु का दोष है ? क्या यह गुणहीन मरुभूमि का दोष नहीं है ?

यहाँ पर इक्षु पक्ष मे 'अनुभवति' शब्द (में लक्षणा होती है किन्तु ध्वनि नहीं ।) इस प्रकार का प्रयोग ध्वनि का विषय कभी हो ही नहीं सकता ।

लोचन

अवरुन्धिज्जइ आलिङ्ग्यते । पुनरुक्तमित्यनुपादेयता लक्ष्यते, उक्तार्थस्यासम्भवात् ।

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितवदना विहसन्त्यः ।
यथागृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥

'अवरुन्धज्जइ' इसका अर्थ है आलिङ्गन किया जाता है । 'पुनरुक्तम्' इससे अनुपादेयता लक्षित होती है, क्योंकि उक्त अर्थ असम्भव है ।

'कुपित, प्रसन्न, रोते हुये मुखवाली, विहँसती हुई जैसे भी ग्रहण की जावें वैसे स्वैरिणी महिलायें हृदय को हर लेती हैं ।'

लोचन

अत्र ग्रहणेनोपादेयता लक्ष्यते। हरणेन तत्परतन्त्रतापत्तिः।

तथा अज्जेति। कनिष्ठभार्यायाः स्तनपृष्ठे नवलतया कान्तेनोचितक्रीडायोगेन मृदुकोऽपि प्रहारो दत्तः सपत्नीनां सौभाग्यसूचकं तत्क्रीडासंविभागमप्राप्तानां हृदयं दुस्सहो जातः, मृदुकत्वादेव। अन्यस्य दत्तो मृदुः प्रहारोऽन्यस्य च दुस्सहः। दुस्सहश्च मृदुरपीति चित्रम्। दानेनात्र फलवत्त्वं लक्ष्यते।

यहाँपर ग्रहण के द्वारा अनुपादेयता लक्षित होती है; हरण से उसकी परतन्त्रता की प्राप्ति लक्षित होती है।

तथा अज्ज यह। कनिष्ठभार्या के स्तन पृष्ठ में नवलता के कारण कान्त के द्वारा उचित क्रीडा के योग से कोमल भी दिया हुआ प्रहार उस सौभाग्यसूचक क्रीडा के संविभाग को न प्राप्त करनेवाली सौतों के हृदय में दुस्सह हो गया, कोमल होने के कारण ही। अन्य का दिया हुआ मृदु प्रहार अन्य के लिये हो जाता है। और मृदु होते हुये भी दुस्सह, यह विचित्र है। दान से यहाँ फलवत्ता लक्षित होती है।

तारावती

अब दूसरा उदाहरण लीजिये। 'प्रिय कभी पुनरुक्त नहीं होता' इसमें अव-रुन्धिज्जइ का अर्थ है 'आलिङ्गन किया जाता है।' पुनरुक्त कोई शब्द या वाक्य हो सकता है, मनुष्य कभी पुनरुक्त नहीं हो सकता। अतः इसका बाध होकर लक्ष्यार्थ होता है—'प्रिय व्यक्ति कभी अनुपादेय नहीं होता।' यहाँपर पुनरुक्त कहने में ऐसी कौन सी सुन्दरता है जो अनुपादेय कहने में नहीं आती?

अब तीसरा उदाहरण लीजिये—ग्रहण कोई वस्तु की जाती है, गालियाँ ग्रहण नहीं की जा सकतीं। इसीप्रकार हरण किसी मूर्त द्रव्य का होता है, हृदय का हरण नहीं किया जा सकता। अतः बाध होकर ग्रहण और हरण का लक्ष्यार्थ क्रमशः 'उपादान' और 'अधीन कर लेना' होता है। ग्रहण और हरण इन दोनों शब्दों के प्रयोग में ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो उपादान और अधीन करना इन दोनों शब्दों में विद्यमान नहीं है।

चौथा उदाहरण लीजिये—प्रियतम ने अपनी छोटी स्त्री के स्तनपृष्ठ पर उचित क्रीडा-प्रसङ्ग में उसकी नवलता तथा कोमलता का विचार करते हुये बहुत ही कोमल प्रहार किया था, किन्तु फिर भी जिन सौतों ने इस सौभाग्य सूचक क्रीडा-संविभाग को प्राप्त नहीं कर पाया उनके लिये वह कोमल भी प्रहार असह्य हो गया। क्योंकि कोमल प्रहार था। (कोमल प्रहार प्रेमका सूचक था। यदि प्रियतम ने जोर से मारा होता तो शायद सौतें प्रसन्न ही होतीं।) यहाँपर अन्य के कोमल प्रहार किया गया था और अन्य पर उसका प्रभाव पड़ा, यह असङ्गति अलङ्कार है। यह

लोचन

तथा परार्थेति । यद्यपि प्रस्तुतमहापुरुषापेक्षयाऽनुभवतिशब्दो मुख्य एव, तथाप्यप्रस्तुते इक्षौ प्रशस्यमाने पीडाया अनुभवनेनासम्भवता पीडावत्त्वं लक्ष्यते, तच्च पीड्यमानत्वे पर्यवस्यति । नन्वस्त्यत्र प्रयोजनं तत्किमिति न ध्वन्यत इत्याशङ्क्याह—न चैवं विध इति ।

उसी प्रकार—परार्थ इत्यादि । यद्यपि प्रस्तुत महापुरुष की अपेक्षा से 'अनुभवति' शब्द मुख्य ही है; तथापि अप्रस्तुत इक्षु के प्रशंसा किये जाने पर पीडा के अनुभव से असम्भवता पीडावत्त्व लक्षित होता है और उसका पर्यवसान पीड्यमान मे होता है । यहाँ पर प्रयोजन है फिर ध्वनित क्यों नहीं होता ? यह शङ्का करके कहते हैं—नचैवंविध इत्यादि ॥ १४ ॥

तारावती

आश्चर्य की बात है कि प्रहार कोमल किया गया था और हो असह्य गया, यह विरोधाभास है । दान किसी वस्तु का किया जाता है, प्रहार का दान करना असम्भव है । अतः प्रहार प्रदान किया का लक्ष्यार्थ है 'प्रहार किया' । लक्षणा का प्रयोजन है–'सफल प्रहार किया ।' 'प्रहार प्रदान किया' इन शब्दों मे ऐसी कोई सुन्दरता नहीं जो 'सफल प्रहार किया' इन शब्दो मे नहीं आ जाती ।

पाँचवाँ उदाहरण अप्रस्तुतप्रशंसा या अन्योक्ति का है । 'इक्षु इतना गुणवान् होते हुये भी मरुभूमि मे वृद्धि को प्राप्त नही हो सका' यह अप्रस्तुत है, इससे प्रस्तुत अर्थ निकलता है–'यदि महापुरुष किसी बुरे स्थान पर पहुँच कर उन्नति न कर सके तो इसमे महापुरुष का क्या दोष ? इसमें तो उस स्थान का ही दोष है । यहाँपर 'अनुभवति' शब्द लक्षक है । अनुभव करना चेतन धर्म है । गन्ना कभी अनुभव नहीं कर सकता । अतः उसका लक्ष्यार्थ होता है–'गन्ना पीसा जाता है ।' यहाँपर 'पीडा का अनुभव करता है' इस कथन मे ऐसी कोई चारुता नहीं जो 'पीसा जाता है' कहने मे न हो।यद्यपि प्रस्तुत महापुरुष के दृष्टिकोण से 'अनुभवति' शब्द मुख्य ही है तथापि जब कि अप्रस्तुत इक्षु की प्रशंसा की जाती है तब पीड़ा के अनुभव के साथ इक्षु के अन्वय की असम्भवता स्पष्ट ही है । उससे पीडावान् मे लक्षणा होती है और उसका पर्यवसान पीसे जाने मे होता है ।

(प्रश्न) जब कि यहाँपर प्रयोजन विद्यमान है ,तब ध्वनि क्यों नहीं मानी जाती ।

(उत्तर) इस प्रकार के विषय मे व्यङ्गार्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है इसलिये इसे हम ध्वनि नहीं कह सकते ॥१४॥

प्रस्तुत कारिका में इस बात का हेतु देते हुये कि व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता मे भी

ध्वन्यालोकः

यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥ १५॥

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः।

(अनु०) इसमे कारण यह है :—

'ध्वनि की उक्ति का विषय वही शब्द हो सकता है जो व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेकर ऐसी चारुता प्रकाशित करे जो कि व्यञ्जनावृत्ति से भिन्न किसी अन्य उपाय से प्रकाशित ही न की जा सके॥ १५॥'

यहाँ पर उदाहरण दिये हुये विषय में जिस शब्द में लक्षणा है वह किसी ऐसी रमणीयता की अभिव्यक्ति मे हेतु नहीं होता जो अन्य शब्द से व्यक्त न की जा सके।

लोचन

यत उक्त्यन्तरेणेति। उक्त्यन्तरेण ध्वन्यतिरिक्तेन स्फुटेन शब्दार्थव्यापारविशेषेणेत्यर्थः। शब्द इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्। ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेदिति—ध्वनिशब्देनोच्यत इत्यर्थः। उदाहृत इति। वदतीत्यादौ।

'यत उक्त्यन्तरेण' इत्यादि। उक्त्यन्तरेण का अर्थ है ध्वनि के अतिरिक्त स्फुट शब्दार्थ व्यापार विशेष के द्वारा। 'शब्द' यह पाँचों अर्थों में जोड़ा जाना चाहिये। 'ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्' इति। अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा कहा जाता है। 'उदाहृत इति' वदति इत्यादि में।

तारावती

ध्वनि क्यों नहीं होती ? यह बतलाया गया है कि ध्वनि का विषय कौन सा शब्द होता है ? 'दूसरी उक्ति के द्वारा' कहने का आशय यह है कि जिस चारुता को कोई शब्द केवल ध्वनि के आधार पर ही व्यक्त कर सके, विशेष प्रकार के वाच्य और वाचक के द्वारा वह चारुता व्यक्त न की जा सकती हो, वही शब्द ध्वनि का विषय होता है। यहाँपर शब्द के पाँचों अर्थ लेने चाहिये (१) 'शब्द्यते' अर्थात् जो प्रकथित किया जावे अर्थात् अर्थ। (२) 'शब्द्यतेऽनेन' जिसके द्वारा प्रकथन किया जावे अर्थात् शब्द (३) 'शब्दनं शब्दः' अर्थात् व्यापार (४) 'शब्दयते' जो व्यक्त किया जावे अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ (५) इन सबका समुदाय। ये सब तभी ध्वनि का स्वरूप धारण करते है जब कि अन्य प्रकार से उसकी रमणीयता का अभिधान सम्भव न हो। 'ध्वनि उक्ति का विषय होता है' अर्थात् ध्वनि शब्द के द्वारा पुकारा जाता है। 'उदाहरण दिये हुये विषय मे' अर्थात् 'वदति' इत्यादि स्थानों पर॥१५॥

यहाँ तक यह बात बतलाई गई कि जहाँ लक्षणा मे प्रयोजन की अभिव्यक्ति

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥ १६ ॥

(अनु०) और भी—

जहाँ पर शब्द अपने विषय से भी भिन्न किसी दूसरे विषय में रूढ़ हो जाते हैं वे लावण्य इत्यादि शब्द प्रयुक्त होकर ध्वनि का स्थान कभी नहीं बनते ॥ १६ ॥

लोचन

एवं यत्र प्रयोजनं सदपि नादरास्पदं तत्र को ध्वननव्यापार इत्युक्त्वा यत्र मूलत एव प्रयोजनं नास्ति, भवति चोपचारस्तत्रापि को ध्वनन व्यापार इत्याह—किञ्चेति । लावण्याद्या ये शब्दाः स्वविषयाल्लवणरसयुक्तत्वादेः स्वार्थादन्यत्र हृद्यत्वादौ रूढाः रूढत्वादेव त्रितयसन्निध्यपेक्षणव्यवधानशून्याः । यदाह—

इस प्रकार जहाँ प्रयोजन होते हुये भी आदरास्पद नहीं होता उसमें कौन ध्वननव्यापार होता है ? यह कहकर जहाँ मूलतः प्रयोजन होता ही नहीं और उपचार होता है वहाँ भी कौन ध्वननव्यापार है ? यह कहते हैं—किञ्च इत्यादि । लावण्य इत्यादि जो शब्द अपने विषय लावण्यरसयुक्तत्व इत्यादि स्वार्थ से भिन्न हृद्यत्व इत्यादि में रूढ़ है और रूढ़ होने से ही तीनों (लक्षणा-प्रयोजनों) की सन्निधि के अपेक्षणरूप व्यवधान से शून्य हैं । जैसा कि कहा है :—

तारावती

होती तो है किन्तु सौन्दर्य के लिये उसका उपयोग न होने के कारण वह अभिव्यक्ति व्यर्थ हो जाती है । अब यह बात बतलाई जा रही है कि कुछ स्थान ऐसे भी होते हैं जहाँ लक्षणा होती है किन्तु प्रयोजन होता ही नहीं । (साराश यह है कि लक्षणा दो प्रकार की होती है—निरूढा तथा प्रयोजनवती । निरूढा लक्षणा उसे कहते हैं जो कि प्रयोग परम्परा के कारण अपने मूल अर्थ को सर्वथा छोड़कर रूढ शब्द बन जाती है । पहले-पहल किसी व्यक्ति ने किसी विशेष प्रयोजन से एक शब्द का दूसरे अर्थ मे प्रयोग किया । बाद मे उसी के अनुकरण पर दूसरे लोगों ने विना उस प्रयोजन पर ध्यान दिये उस शब्द का उसी रूप मे प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया । इस प्रकार एक परम्परा चल पड़ी । धीरे-धीरे उस शब्द का मूल अर्थ तिरोहित हो गया और वह शब्द दूसरे अर्थ मे रूढ जैसा बन गया । उदाहरण के लिये कुशल शब्द को लीजिये । कुशल शब्द का मूल अर्थ है कुशों को बीननेवाला । वस्तुतः कुशों को बीनने मे एक प्रकार की निपुणता अपेक्षित होती है । कुशों के आस-पास और बहुत से तृण उग आते हैं । अतः कुशों के उपादान मे इस बात का ध्यान

तारावती

रखना पड़ता है कि कुशों के साथ और घास सम्मिलित न हो जावे। इसी आधार पर किसी ने कुशल शब्द का प्रयोग निपुण के अर्थ में कर दिया। बाद में लोग उसी अनुकरण पर सामान्यतया निपुण के अर्थ मे कुशल शब्द का प्रयोग करने लगे। यह प्रयोग इतना बढ़ा कि मूल अर्थ छूट गया और कुशल शब्द निपुण के अर्थ मे सामान्यतया रूढ हो गया। इस प्रकार प्रयोग-परम्परा के कारण जो शब्द अर्थान्तर मे रूढ हो गये है और जिनको सुनकर मूल अर्थ की प्रतीति नहीं होती उन्हे निरूढा लक्षणा कहते है। इनसे भिन्न जो लक्षणायें होती हैं उनमे अर्थान्तर में शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन को लेकर होता है। उस प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। यह व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकार का होता है—एक तो ऐसा होता है कि यदि उसका अभिधान दूसरे शब्द के द्वारा किया जावे तो वह सुन्दरता नहीं आती जो लक्षणामूलक विशेष शब्द के प्रयोग से आती है। दूसरा ऐसा होता है कि उसका अभिधान दूसरे शब्द से करने पर भी रमणीयता मे कोई अन्तर नहीं आता। ध्वनि का क्षेत्र प्रथम प्रकार की ही प्रयोजनवती लक्षणा है द्वितीय प्रकार की नहीं। क्योंकि ध्वनि के लिये यह अनिवार्य है कि रमणीयता का पर्यवसान व्यङ्ग्यार्थ मे ही हो। पिछले पृष्ठों में कई उदाहरणों के द्वारा ऐसे स्थल दिखलाये जा चुके है जहाँ लक्षणा तो होती है किन्तु दूसरे शब्दों से भी कहे जाने की योग्यता रखने के कारण ध्वनि नहीं होती। अब निरूढा लक्षणा पर विचार किया जा रहा है जिसमे प्रयोजन बिल्कुल होता ही नहीं।) ऐसे स्थानों पर ध्वनन व्यापार का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ध्वनि का मूल प्रवृत्तिनिमित्त व्यञ्जना वहाँ पर होती ही नहीं।

(लावण्य शब्द का मूल अर्थ है लवणरसयुक्त। लवणरसयुक्त वस्तु प्रिय होती है। इसी साम्य के आधार पर इस शब्द का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में होने लगा है।) लावण्य इत्यादि शब्द अपने विषय लवणरसयुक्तत्व इत्यादि को छोड़ कर अपने अर्थ से भिन्न रमणीयता इत्यादि दूसरे अर्थों मे रूढ हो जाते हैं। क्योंकि वे रूढ होते हैं इसीलिये उनमे लक्षणा की तीनों शर्तें (स्वार्थबाध, स्वार्थसम्बन्ध और रूढि-प्रयोजनान्यतर) लागू नहीं होतीं। जैसे कि कहा भी गया है—'कुछ निरूढा लक्षणाये प्रयोग सामर्थ्य से अभिधा के समान हो गई हैं।' ये लक्षणायें जब अपने विषय से भिन्न उस (लक्ष्यार्थ) मे प्रयुक्त होती भी हैं तथापि ध्वनि का स्थान नहीं बनतीं। उनमे ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। शब्द की उपचरित वृत्ति का अर्थ है गौणीवृत्ति और लक्षणावृत्ति। 'लावण्य इत्यादि' मे इत्यादि शब्द का अर्थ है लावण्य शब्द ही नहीं अपितु इस के जैसे और बहुत से शब्द।

लोचन

निरूढाः लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् । इति । ते तस्मिन् स्वविषयादन्यत्र प्रयुक्ता अपि न ध्वनेः पदं भवन्ति, न तत्र ध्वनिव्यवहारः । उपचरिता शब्दस्य वृत्तिः गौणी लाक्षणिकी चेत्यर्थः । आदिग्रहणेनानुलोम्यं, प्रातिकूल्यं, सब्रह्मचारीत्येवमादयः शब्दाः लाक्षणिकाः गृह्यन्ते । लोम्नामनुगतमनुलोमं मर्दनम् । कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम् । तुल्यगुरुः सब्रह्मचारी इति मुख्यो विषयः । अन्यः पुनरुपचरित एव । न चात्र प्रयोजनं किञ्चिदुद्दिश्य लक्षणा प्रवृत्तेति न तद्विषयो ध्वननव्यवहारः ।

'कुछ निरूढा लक्षणायें सामर्थ्य से अभिधानवत् होती हैं ।' वे अपने विषय से अन्यत्र उस विषय में प्रयुक्त होकर भी ध्वनि का स्थान नहीं होती । वहाँ पर ध्वनि का व्यवहार नहीं होता । अर्थ यह है कि शब्द की उपचरित वृत्ति गौणी और लाक्षणिकी होती है । आदि ग्रहण से आनुलोम्य, प्रातिकूल्य, सब्रह्मचारी इत्यादि लाक्षणिक शब्द ग्रहण किये जाते हैं । लोमों के अनुगत अनुलोम मर्दन । कूल (तट) के प्रतिपक्षरूप मे स्थित धारा प्रतिकूल । तुल्य गुरुवाला सब्रह्मचारी यह मुख्य विषय है और तो उपचरित ही है । यहाँ पर किसी प्रयोजन के उद्देश्य से लक्षणा प्रवृत्त नहीं हुई है अतः तद्विषयक ध्वननव्यवहार नहीं होता ।

तारावती

जैसे अनुलोम, प्रतिकूल, सब्रह्मचारी । अनुलोम शब्द का मूल अर्थ है—'लोमों का अनुगमन करनेवाला ।' सम्भवतः इस शब्द का पहला प्रयोग मालिश के लिये हुआ होगा । यदि रोमों की दिशा मे मालिश किया जावे तो अच्छा रहता है, यदि उससे विपरीत दिशा मे मालिश की जावे तो ठीक नहीं रहता । इसीलिये सम्भवतः अनुलोम मालिश का प्रयोग होता रहा होगा । बाद मे अनुलोम शब्द का प्रयोग ही 'अनुकूल दिशा मे' इस अर्थ में होने लगा । इसी प्रकार प्रतिकूल शब्द का मुख्यार्थ है कूल अर्थात् तट की दूसरी ओर । पहले यह शब्द नदी की धारा के लिये प्रयुक्त हुआ होगा कि नदी की धारा 'प्रतिकूल' अर्थात् तट की दूसरी ओर है । किन्तु बाद मे सभी विपरीत दिशा की वस्तुओं के लिये इस शब्द का प्रयोग होने लगा । इसी प्रकार साथी अर्थात् एक गुरु के पास पढनेवाले दो ब्रह्मचारियों को सब्रह्मचारी कहते होंगे बाद मे इस शब्द का प्रयोग किसी भी समान गुण रखनेवाले व्यक्ति के लिये होने लगा । (इसी प्रकार कुण्डल, मण्डप इत्यादि शब्दों के विषय मे समझना चाहिये ।)

लोचनकार ने लिखा था कि निरूढा लक्षणा में लक्षणा की तीनों शर्तें लागू नहीं होतीं । इस पर श्रीमहादेव शास्त्री ने लिखा है—'वस्तुतः निरूढा लक्षणा स्थल

ध्वन्यालोकः

तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति । तथाविधे च विषये ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते । न तथाविधशब्दमुखेन ।

(अनु०) इन शब्दों में शब्द की उपचरितवृत्ति (लक्षणावृत्ति) होती ही है। इस प्रकार के विषय मे कहीं-कहीं मूल अर्थ सम्भव होते हुये भी उनमे ध्वनि व्यवहार दूसरे रूप मे प्रवृत्त होता है । उस प्रकार के शब्द के द्वारा नहीं ।

लोचन

ननु 'देवडिति लुणाहि पलुन्नम्मिगमिज्वालवणुज्ज्वलं गुमरिफोल्ल परण्य' (?) इत्यादौ लावण्यादि शब्द सन्निधानेऽस्ति प्रतीयमानाभिव्यक्तिः, सत्यम्, सा तु न लावण्यशब्दात् । अपितु समग्रवाक्यार्थप्रतीत्यनन्तरं ध्वननव्यापारादेव । अत्र हि प्रियतमामुखस्यैव समस्ताशाप्रकाशकत्वं ध्वन्यत इत्यलं बहुना । तदाह—प्रकारान्तरेणेति । व्यञ्जकत्वेनैव । न तूपचरितलावण्यादिशब्दप्रयोगादित्यर्थः ॥ १६ ॥

(प्रश्न) 'देवडिति लुणाहि पलुन्नम्मि गमिज्वालवणुज्वलं गुमरिफोल्लपराण्ण' इत्यादि मे लावण्य इत्यादि के सन्निधि में प्रतीयमान की अभिव्यक्ति है । (उत्तर) सच है किन्तु वह लावण्य शब्द से नहीं होती अपितु समग्र वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद ध्वननव्यापार से ही होती है। यहाँपर निस्सन्देह प्रियतमा मुख का ही समस्त दिशाओं का प्रकाशकत्व ध्वनित होता है । बस, बहुत की क्या आवश्यकता ? वह कहते हैं—प्रकारान्तरेण इत्यादि । अर्थात् व्यञ्जकत्व के द्वारा ही । उपचरित लावण्य इत्यादि शब्द के प्रयोग के द्वारा नहीं ।

तारावती

पर भी मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थयोग की अपेक्षा होती ही है, केवल प्रयोजन अपेक्षित नही होता । नहीं तो लक्षणा का उत्थान ही नही हो सकता और अभिधा से भेद क्या रह जावेगा ? इसीलिये निरूढा लक्षणा के उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' इत्यादि मे काव्यप्रकाशकार ने लिखा है कि 'कुशग्रहण इत्यादि के अर्थ का प्रयोग न होने के कारण ।' यह उक्ति तभी सङ्गत होती है जब कि निरूढा लक्षणा में मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थयोग अपेक्षित हो ।' मेरा निवेदन है कि जब किसी शब्द का अपने बाधित अर्थ मे प्रयोग प्रारम्भ होता है तब उसमे दो नहीं तीनों शर्तें विद्यमान होती है । किन्तु परम्पराप्रवाह मे जब लोग उसका शक्तिभ्रम से प्रयोग करने लगते हैं तब उसमे किसी भी शर्त की प्रतीति नहीं होती । जब कोई व्यक्ति व्याख्यान मे 'कुशल' इस शब्द का प्रयोग करता है तथा साधारण श्रोता को न तो इस बात का ही आभास होता है कि 'व्याख्या में कुश के उपादान का क्या अर्थ ?' अतः बाधित होकर यह शब्द निपुण अर्थ का प्रत्यायन करता है; विवेचकत्व रूप

ध्वन्यालोकः

अपिच—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्यार्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥ १७ ॥

(अनु०) और भी—

'मुख्य (अभिधा) वृत्ति को छोड़कर गौणी (लक्षणा) वृत्ति से जिस फल की अभिव्यक्ति के लिये अर्थ का प्रत्यायन किया जाता है उस फल को द्योतित करने में शब्द की गति प्रस्खलित नहीं होती ।'

लोचन

एवं यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिरिति तावन्नास्ति । तेन यदि ध्वनेर्भक्तिर्लक्षणं तथा भक्तिसन्निधौ सर्वत्र ध्वनिव्यवहारः स्यादित्यतिव्याप्तिः । अभ्युपगम्यापि ब्रूमः—भवतु यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र ध्वनिः । तथापि यद्विषयो लक्षणाव्यापारो न तद्विषयो

इस प्रकार जहाँ-जहाँ भक्ति होती है वहाँ-वहाँ ध्वनि होती है यह तो नहीं है । उससे यदि भक्ति ध्वनि का लक्षण है तो भक्ति के निकट सर्वत्र ध्वनि का व्यवहार हो जावेगा । इससे अतिव्याप्ति होगी । स्वीकार कर के भी हम कहते हैं—'हो, जहाँ-जहाँ भक्ति वहाँ-वहाँ ध्वनि । तथापि यद्विषयक लक्षणाव्यापार होता है

तारावती

साधर्म्य ही लक्षणा का बीज है और 'असत्य के लेश से रहित सत्य के ग्रहण का प्रत्यायन कराना' प्रयोजन है । इन बातों पर विना ही ध्यान दिये श्रोता 'कुशल' का निपुण अर्थ एकदम समझ जाता है । अभिधा से इसमे भेद यह है कि अभिधा में सङ्केत के माध्यम से किसी अर्थ मे शब्द की प्रवृत्ति होती है और निरूढा लक्षणा मे सर्वप्रथम बाधित होकर उपचरित वृत्ति से ही प्रवृत्ति होती है, बाद में वह शब्द अभिधायक जैसा बन जाता है । काव्यप्रकाशकार ने 'कुशग्रहणाद्य-योगात्' मूल प्रवृत्ति को लेकर कहा है और अभिनव गुप्त ने बोधकाल मे बाध इत्यादि के प्रतिसन्धान न होने की बात लेकर 'तीनों शर्ते लागू नहीं होतीं' यह कहा है । अतः दोनों में कोई विरोध नहीं ।

(प्रश्न) कभी कभी कवि लोग चमत्कार का आधान करने के मन्तव्य से रूपक-श्लेष इत्यादि की योजना के लिये निरूढा लक्षणा के मूल अर्थ की ओर भी ध्यान आकर्षित करते है।(इस विषय मे लोचन मे जिस प्राकृत गाथा का उदाहरण दिया गया है वह विल्कुल स्पष्ट नहीं है और न उसकी संस्कृतच्छाया का ही पता चलता है। अतः विहारी का यह दोहा इसका अच्छा उदाहरण है—'सगुण सलोने रूप की जुन चख तृषा बुझाइ ।' नमकीन पानी को कितना ही पीते चले जाओ उससे प्यास शान्त

लोचन

ध्वननव्यापारः। न च भिन्नविषययोर्धर्मधर्मिभावः। धर्म एव च लक्षणमित्युच्यते। तत्र लक्षणा तावदमुख्यार्थविषयो व्यापारः। ध्वननं च प्रयोजनविषयम्। न च तद्विषयोऽपि द्वितीयो लक्षणाव्यापारो युक्तः लक्षणासामग्र्यभावादित्यभिप्रायेणाह—
तद्विषयक ध्वनि-व्यापार नहीं होता। विभिन्न विषयवाले दो पदार्थों का धर्मधर्मी भाव नहीं होता। और धर्म ही लक्षण (होता है) यह कहा जाता है। उसमें लक्षणा तो अमुख्यार्थविषयक व्यापार होता है और ध्वनन प्रयोजनविषयक होता है। उसके विषय मे भी दूसरा लक्षणाव्यापार तो उचित नहीं है क्योंकि लक्षणा की सामग्री का अभाव है। इस अभिप्राय से कहते हैं—

तारावती

होती ही नहीं। रूप भी नमकीन है, अतः उसको पीने में नेत्रों की प्यास बुझती ही नहीं। स्पष्ट है कि यहाँ पर नमकीन (लावण्ययुक्त) अपने निरूढा लक्षणा के रूप मे ही नहीं लिया गया है अपितु चमत्कार उत्पादन के लिये कवि ने उसके मूल अर्थ की ओर संकेत किया है।) ऐसे स्थान पर निरूढ़ा लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता होती ही है फिर यह कैसे कह सकते हैं कि निरूढा लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ होता ही नहीं। (उत्तर) यह सच है कि यहाँ पर निरूढा लक्षणा मे भी व्यङ्ग्यार्थ उपस्थित है, किन्तु वह केवल लावण्य (नमकीन) शब्द से ही अवगत नही होता अपितु सम्पूर्ण वाक्यार्थ प्रतीति के बाद व्यञ्जनाव्यापार से वह अर्थ आता है। यहॉ पर नेत्रों की प्यास न बुझने से ही नमकीन शब्द के मूल अर्थ की ओर सङ्केत होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि निरूढा लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ नहीं होता। अब इस विषय को अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। इसीलिये मूल मे कहा है कि 'कहीं कहीं सम्भव होते हुये भी ध्वनिव्यवहार प्रकारान्तर से प्रवृत्त होता है।' आशय यह है कि लक्षणावृत्ति के आधार पर लावण्य इत्यादि शब्दों के प्रयोग से ही उस प्रकार की व्यञ्जना नहीं निकल सकती ॥१६॥

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि जहाँ-जहाँ लक्षणा हो वहाँ-वहाँ सर्वत्र ध्वनि अवश्य हो, ऐसा नियम नहीं है। अतएव यदि लक्षणा के द्वारा ध्वनि पहिचानी जाती है तो जहाँ-कहीं लक्षणा होगी वहाँ ध्वनि का व्यवहार होने लगेगा, यह अतिव्याप्ति दोष होगा। अथवा हम थोड़ी देर के लिये यह स्वीकार किये लेते हैं कि जहॉ-कही लक्षणा होती है वहाँ ध्वनि अवश्य होती है। तथापि हमे यह कहना है कि लक्षणाव्यापार का जो विषय होता है ध्वनिव्यापार का वही विषय नहीं होता। लक्षण उसे ही कहते हैं जो जिसमे नियमित रूप से रहता है। (जैसे गन्धवत्त्व नियमित रूप से पृथिवी के अन्दर रहता है अतः गन्धवत्त्व पृथिवी का लक्षण

लोचन

अपि चेत्यादि। मुख्यां वृत्तिमभिधाव्यापारं परित्यज्य परिसमाप्य गुणवृत्त्या लक्षणारूपयाऽर्थस्यामुख्यस्य दर्शनं प्रत्यायना, सा यत्फलं कर्मभूतं प्रयोजनमुद्दिश्य क्रियते, तत्र प्रयोजने तावद् द्वितीयो व्यापारः। न चासौ लक्षणैव; यतः स्खलन्ती बाधकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य शब्दस्य तदीयो व्यापारो लक्षणा। न च प्रयोजनमवगमयतः शब्दस्य बाधकयोगः। तथाभावे तत्रापि निमित्तान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य चान्वेषणेनावस्थानात्। तेनायं लक्षणाया न विषय इति भावः। दर्शन-

अपि च इत्यादि। मुख्यवृत्ति अर्थात् अभिधाव्यापार को छोड़कर अर्थात् समाप्त करके लक्षणा रूप मे स्थित गौणीवृत्ति से अमुख्य अर्थ का दर्शन अर्थात् प्रत्यायन, वह जिस फल अर्थात् कर्मरूप मे स्थित प्रयोजन के उद्देश्य से किया जाता है उस प्रयोजन मे तो (कोई) अन्य व्यापार होता है। यह लक्षणा तो नहीं ही होती क्योंकि जिस शब्द की गति अर्थात् अवबोधन शक्ति स्खलित होनेवाली अर्थात् बाधक व्यापार से विधुर की जानेवाली हो उसके व्यापार को लक्षणा कहते हैं ! प्रयोजन का अवगमन करानेवाले शब्द का बाधक योग नहीं होता। क्योंकि ऐसा होनेपर वहाँ पर भी दूसरे निमित्त तथा दूसरे प्रयोजन के अन्वेषण से अनवस्था हो जावेगी। भाव यह है कि इससे यह लक्षणा का विषय नहीं होता। 'दर्शनम्' मे णिजन्त

तारावती

है।) दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि असाधारण धर्म को ही लक्षण कहते हैं। लक्षण धर्म होता है और लक्ष्य धर्मी होता है। लक्षण-लक्ष्यभाव तभी बन सकता है जब कि दोनों का एक विषय हो। जिनका विषय भिन्न होता है उनका धर्म-धर्मी भाव बन ही नहीं सकता। अब लक्षणा और ध्वनि को ले लीजिये। लक्षणा का विषय होता है अमुख्य अर्थ, (जैसे 'गङ्गायां घोषः' मे लक्षणा का विषय है अमुख्य अर्थ गङ्गातट) इसके प्रतिकूल ध्वनि (व्यञ्जना) का विषय है। लक्षणा का प्रयोजन (जैसे 'गङ्गायां घोषः' मे शैत्य पावनत्व इत्यादि) इस प्रकार विषयभेद होने के कारण न इनका लक्ष्यलक्षणभाव बन सकता है न धर्म-धर्मीभाव। (प्रश्न) यहाँ पर दो लक्षणाव्यापार मानकर काम चल सकता है। प्रथम व्यापार के द्वारा तट में लक्षणा हो और द्वितीय व्यापार के द्वारा प्रयोजन में लक्षणा हो जावे। इस प्रकार दो लक्षणाव्यापारों को मानकर काम चल जावेगा, पृथक् व्यञ्जना तथा ध्वननव्यापार को मानने की क्या आवश्यकता रह जावेगी ? (उत्तर) दो लक्षणाव्यापार नहीं माने जा सकते क्योंकि लक्षणा की सामग्री द्वितीय बार उपस्थित नहीं है। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत कारिका (१७ वीं कारिका) लिखी गई है। इसका आशय यह है—शब्द की मुख्यवृत्ति अथवा

लोचन

मिति पर्यन्तो निर्देशः। कर्तव्य इति। अवगमयितव्य इत्यर्थः। अमुख्यतेति। बाधकेन विधुरीकृतेत्यर्थः। तस्येति शब्दस्य।

निर्देश है। कर्तव्य इति। अर्थात् अवगत कराया जाना चाहिये। अमुख्यता इति। अर्थात् बाधक के द्वारा विधुर किया जाना। 'तस्य' का अर्थ है शब्द का।

तारावती

प्रधान व्यापार अभिधाव्यापार ही है। लक्षणा करने में उस मुख्यवृत्ति का परित्याग कर दिया जाता है और गौणीवृत्ति से जिसका कि दूसरा नाम लक्षणा है, अर्थ का प्रत्यायन कराया जाता है। इस लक्षणा के द्वारा जिस अर्थ का प्रत्यायन कराया जाता है वह अर्थ भी मुख्य नहीं किन्तु अमुख्य (गौण) ही होता है। वह लक्षणा जिस फल अथवा प्रयोजन को लेकर की जाती है उस प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये किसी अन्य वृत्ति को न मानना अनिवार्य है। (कारिका में फल शब्द में कर्म का प्रयोग किया गया है। वैय्याकरणों के मत के अनुसार धातु के दो अर्थ होते हैं—फल तथा व्यापार। जैसे लकड़ी काटना एक क्रिया है, इसमें हाथ से कुल्हाड़ी उठाकर लकड़ी पर मारना व्यापार है, और लकड़ी के दो टुकड़े हो जाना फल है। जिसके अन्दर व्यापार रहता है उसे कर्ता कहते हैं और जिसके अन्दर फल रहता है उसे कर्म कहते हैं। प्रत्येक व्यापार का कोई न कोई फल अवश्य होता है। लक्षणा भी एक व्यापार है इसका भी फल होना चाहिये। अब प्रश्न यह है कि उस फल अथवा प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये कौन सा व्यापार माना जाना चाहिये? क्या यह भी लक्षणा ही है?) यह लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि लक्षणा वहीं पर होती है जहाँ शब्द की गति स्खलित हो जावे अर्थात् जहाँ शब्द की अवबोधनशक्ति किसी बाधकव्यापार के द्वारा कुण्ठित कर दी जावे। (जैसे प्रवाह में घर बन सकने की असम्भवनीयता के कारण जब शब्द की गति कुण्ठित हो जाती है तब उससे दूसरा अर्थ लिया जाता है।) किन्तु जब शब्द प्रयोजन का अवगमन कराने लगता है, तब उसमें शब्द की अवबोधनशक्ति कुण्ठित नहीं होती। (जैसे 'गङ्गातट पर घर' यह कहने में शब्द की शक्ति बाधित नहीं होती। यदि प्रयोजन के प्रत्यायन में भी बाधक योग तथा लक्षणाव्यापार माना जावेगा तो लक्षणाव्यापार की सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी। जैसे प्रथम बार लक्षणा के लिए कोई सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक प्रयोजन माना जाता है। उसी प्रकार प्रयोजन की अवगति के लिये भी कोई नया सम्बन्धरूप निमित्त तथा एक दूसरा प्रयोजन मानना पड़ेगा। इससे अनवस्था दोष होगा। (आशय यह है कि लक्षणा की तीन शर्तें होती हैं—(१)

तारावती

मुख्यार्थबाध, (२) मुख्यार्थ सम्बन्ध और (३) रूढ़ि अथवा कोई प्रयोजन । यदि प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये हम लक्षणा का सहारा लेंगे तो लक्षणा की सारी सामग्री जुटानी पड़ेगी । जैसे 'गङ्गा में घर' इस वाक्य में लक्षणा की तीनों शर्तें विद्यमान हैं—(१) प्रवाह मे घर नहीं बन सकता इससे गङ्गा के मुख्य अर्थ प्रवाह का बाध हो जाता है । (२) तट का गङ्गा से सम्बन्ध है इससे गङ्गा शब्द से तट अर्थ ले लिया जाता है (३) गङ्गा तट के स्थान पर 'गङ्गा' शब्द का प्रयोग गङ्गागत शैत्य पावनत्व की प्रतीति के लिये किया गया है । यही बाधित प्रयोग का प्रयोजन है । अब इस प्रयोजन की प्रतीति के लिये हमें दूसरी बार लक्षणा करनी है । इस में लक्षणा की कोई भी शर्त नहीं मिलती (१) एक तो गङ्गा का 'गङ्गातट' अर्थ मुख्य नहीं है, दूसरे 'गङ्गा तट पर घर' यह वाक्य असम्भव नहीं है, जिससे उसका बाध हो जावे । अतः पहली शर्त समाप्त हो गई । (२) जिस प्रकार प्रवाह और तट का सम्बन्ध तट तथा शैत्य-पावनत्व का नहीं है । तट की अपेक्षा तो प्रवाह में ही अधिक शीतलता और पवित्रता होती है । अतः कोई ऐसा निमित्त दिखलाई नहीं पड़ता जिससे दूसरी बार लक्षणा हो सके । (३) शीतत्व और पावनत्व से भिन्न और प्रयोजन क्या होगा जिसके लिये यह लक्षणा की जानी चाहिये ? स्पष्ट ही है कि ऐसा कोई प्रयोजन विद्यमान नहीं है । अतः तीसरी शर्त भी जाती रही । एक बात और है—यदि कोई प्रयोजन ढूंढ़ भी निकाला जावे तो उसके प्रत्यायन के लिये भी वही सब सामग्री जुटानी पड़ेगी । फिर उसमें भी तीसरी शर्त प्रयोजन की होगी जिसके लिये पुनः सामग्री जुटानी पड़ेगी । यही अनवस्था दोष है जिसके कारण मूल रूप मे ही प्रयोजन में लक्षणा का निराकरण हो जाता है ।) इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रयोजनप्रतिपत्ति लक्षण-लक्षणा का विषय नहीं है। (लक्षणा दो प्रकार की होती है उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा । उपादान-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ लक्ष्यार्थ के साथ शक्यार्थ का भी परित्याग नहीं होता । इसे ही अजहत्स्वार्था लक्षणा कहते हैं । जहाँ शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर लक्ष्यार्थ सर्वथा भिन्न रूप मे लिया जाता है उसे लक्षणलक्षणा या जहत्स्वार्था लक्षणा कहते हैं । 'गङ्गायां घोषः' मे उपादान-लक्षणा नहीं है क्योंकि यहाँपर प्रवाह अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाता है । लक्षणलक्षणा का विषय भी शैत्य पावनत्व इत्यादि नहीं अपितु तट ही है ।) कारिका मे 'अर्थदर्शनम्' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसमे दर्शन शब्द 'दृश्' धातु से णिच् होकर ल्युट् प्रत्यय होने से बना है । अर्थात् इसका आशय है अर्थ का दिखलाया जाना (देखा जाना नहीं) सारांश यह है कि मुख्य वृत्ति को छोड़कर जिस फल के उद्देश्य से

ध्वन्यालोकः

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात्। न चैवम्।

(अनु०) प्रयोजन का लक्षण है ऐसे अर्थ को प्रकाशित करना जिसमें सौन्दर्य की विशेषरूप से अधिकता हो। यदि उसके प्रकट करने में शब्द की मुख्यवृत्ति का आश्रय लिया जावे तो उसका प्रयोग ही दूषित हो जावे। किन्तु ऐसा होता नहीं।

लोचन

दुष्टतैवेति। प्रयोजनावगमस्य सुखसम्पत्तये हि स शब्दः प्रयुज्यते तस्मिन्नमुख्यार्थे। यदि च 'सिंहो वटुः' इति शौर्यातिशयेऽप्यवगमयितव्ये स्खलद्गतित्वं शब्दस्य तर्हि तत्प्रतीतिं नैव कुर्यादिति किमर्थं तस्य प्रयोगः? उपचारेण करिष्यतीति चेत्तत्रापि प्रयोजनान्तरमन्वेष्यं तत्राप्युपचार इत्यनवस्था। अथ न तत्र स्खलद्गतित्वं तर्हि प्रयोजनेऽवगमयितव्ये न लक्षणाख्यो व्यापारः तत्सामग्र्यभावात्। न च नास्ति व्यापारः। न चासावभिधा समयस्य तत्राभावात्। यद्व्यापारान्तरमभिधालक्षणातिरिक्तं स ध्वननव्यापारः। न चैवमिति। न च प्रयोगे दुष्टता काचित्, प्रयोजनस्याविघ्नेनैव

दुष्टतैव इति। प्रयोजन के अवगमन की सुविधापूर्वक निष्पत्ति के लिये उस अमुख्य अर्थ मे शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि 'सिंहो वटुः' मे शौर्य के अवगमन कराये जाने का लक्ष्य होनेपर शब्द की गति का स्खलन हो जावे तो उस प्रतीति को उत्पन्न नहीं करेगा फिर उसका प्रयोग ही किसलिये (किया गया)? उपचार (अमुख्य वृत्ति-लक्षणा) के द्वारा कर देगा तो वहाँपर भी दूसरे प्रयोजन का अन्वेषण करना पडेगा; वहाँपर भी उपचार (मानना होगा) यह अनवस्था आ जावेगी। यदि वहाँपर गति का स्खलन न माना जावे तो प्रयोजन का अवगमन कराने मे लक्षणा नामक व्यापार नहीं होगा क्योंकि उसकी सामग्री नहीं है। यह बात नहीं है कि वहाँ (कोई) व्यापार न हो। वह अभिधा है नहीं क्योंकि वहाँ सङ्केत नहीं है। लक्षणा और अभिधा के अतिरिक्त जो व्यापार है वही ध्वननव्यापार है। न चैवमिति। इस प्रकार के प्रयोग में कोई दुष्टता नहीं ही है क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति विना विघ्न के ही हो जाती है। इससे अभिधा

तारावती

गौणीवृत्ति के द्वारा अर्थ दिखलाया जाता है उसमे शब्द की गति स्खलित नहीं होती।' वृत्ति मे लिखा है—'यदि प्रयोजन करने मे शब्द की अमुख्यता हो तो उसके प्रयोग मे दुष्टता ही आ जावेगी' इस वाक्य मे 'करने मे' शब्द का अर्थ है 'अवगमन कराने मे', 'अमुख्यता' का अर्थ है बाधक के द्वारा कुण्ठित कर देना और

लोचन

प्रतीतेः। तेनाभिधैव मुख्येऽर्थे बाधकेन प्रविविक्षुर्निरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वादन्यत्र प्रसरति। अत एव अमुख्योऽस्यायमर्थं इति व्यवहारः। तथैव चामुख्यतया सङ्केतग्रहणमपि तत्रास्तीत्यभिधापुच्छभूतैव सा।

ही मुख्य अर्थ मे प्रवेश की इच्छा करते हुये बाधक के द्वारा रोकी हुई होकर चरितार्थ न होने से अन्यत्र प्रसरित होती है। इसलिये इसका यह अर्थ अमुख्य है यह व्यवहार होता है। उसी प्रकार अमुख्य रूप मे वहाँपर सङ्केत ग्रहण भी है, इसीलिये लक्षणा अभिधा की पूंछ पकड़कर ही चलती है।

तारावती

'उसके' का अर्थ है 'शब्द के'। इस प्रकार उक्त वाक्य का आशय यह है—(मुख्य अर्थ को छोड़कर) उस (तट इत्यादि) अमुख्य अर्थ मे (गङ्गा इत्यादि) शब्द का प्रयोग इसलिये किया जाता है जिससे प्रयोजन का अवगम सुविधापूर्वक हो जावे। (जैसे 'ब्रह्मचारी अत्यन्त वीर है' यह कहने के स्थान पर 'ब्रह्मचारी शेर है' इस वाक्य का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि जिससे शौर्याधिक्य की अभिव्यक्ति हो जावे।) यदि 'ब्रह्मचारी शेर है' इस वाक्य के द्वारा शौर्याधिक्य की प्रतीति कराने मे शब्द की गति कुण्ठित हो जावे तो यह शब्द उस शौर्याधिक्य की प्रतीति करा ही नहीं सकेगा। तो उसका प्रयोग ही क्यों किया गया ? यदि कहो उसकी प्रतीति उपचार (लक्षणा) के द्वारा हो जावेगी तो उसके लिये भी कोई प्रयोजन ढूँढ़ना पड़ेगा, उसमे भी लक्षणा करनी पड़ेगी। (फिर तीसरी फिर चौथी इस प्रकार लक्षणाओं की लड़ी सी लग जावेगी और उनकी कहीं समाप्ति ही न हो सकेगी।) यह अनवस्था दोष होगा। यदि कहो कि प्रयोजन के प्रत्यायन मे शब्द की गति कुण्ठित नहीं होती तो मानना पड़ेगा कि प्रयोजन के अवगम में लक्षणा नामक व्यापार होता ही नहीं क्योंकि उसकी सामग्री तो रही ही नहीं। यह तो आप कह ही नहीं सकते कि वहाँ पर कोई व्यापार होता ही नहीं। वहाँ व्यापार होता है। वह व्यापार 'अभिधा' नहीं हो सकता क्योंकि प्रयोजन मे संकेतग्रहण नहीं हुआ है। (कोश ग्रन्थों मे गङ्गा का अर्थ शीतल और पावन लिखा नहीं होता। अतएव प्रयोजनप्रत्यय के लिये कोई दूसरा व्यापार ही मानना पड़ेगा।) अभिधा और लक्षणा से भिन्न जो दूसरा व्यापार है वही ध्वननव्यापार कहा जाता है। वृत्ति मे कहा गया है—'यह बात यहाँ नहीं होती' इस वाक्य का आशय है कि लाक्षणिक शब्द के प्रयोग मे कोई दोष नहीं आता क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति किसी भी विघ्न से रहित तत्काल हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि जब अभिधा मुख्य अर्थ मे प्रविष्ट होने लगती है तब बाधक आकर उसे रोक देता है।

ध्वन्यालोकः

तस्मात्—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ १८ ॥

(अनु०) अतएव—गुणवृत्ति (गौणीवृत्ति तथा लक्षणा) वाचकत्व का आश्रय लेकर ही व्यवस्थित होती है । अतएव वह (उस) ध्वनि की लक्षणा कैसे हो सकती है जिसका एकमात्र मूल व्यञ्जकता ही होती है ॥ १८ ॥

लोचन

उपसंहरति—तस्मादिति । यतोऽभिधापुच्छभूतैव लक्षणा ततो हेतोर्वाचकत्वमभिधाव्यापारमाश्रिता तद्बाधनेनोत्थानात्तत्पुच्छभूतत्वाच्च गुणवृत्तिः गौणलाक्षणिकप्रकार इत्यर्थः । सा कथं ध्वनेर्व्यञ्जनात्मनो लक्षणं स्यात् ? भिन्नविषयत्वादिति । एतदुप-

उपसंहार करते हैं—तस्मादिति । क्योंकि लक्षणा अभिधा-पुच्छभूता ही होती है इस हेतु से उसके बाधन से उठने के कारण और उसकी पुच्छभूत होने के कारण वाचकत्व अर्थात् अभिधाव्यापार का सहारा होनेवाली गुणवृत्ति अर्थात् गौण लाक्षणिक (नामक) प्रकार । वह किस प्रकार व्यञ्जनात्मक ध्वनि का लक्षण होगा ? क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है । इसका उपसंहार करते हैं—

तारावती

अब चूँकि अभिधा चरितार्थ हो नहीं पाती अतएव वही दूसरे अर्थ (अमुख्य अर्थ) में वट जाती है । आशय यह है कि लक्ष्यार्थ भी अभिधा का अमुख्यार्थ ही है, इसीलिये लक्ष्यार्थ के लिये लोग कहा करते हैं कि यह इसका अमुख्यार्थ है । इसी प्रकार अमुख्य रूप मे सङ्केत ग्रहण भी वहाँ पर माना जाता है । इसी कारण कहा जाता है कि लक्षणा अभिधा की पूँछ पकड़कर चला करती है ॥१७॥

अठारहवीं कारिका मे 'भक्ति ध्वनि का लक्षण होती है' इस मान्यता पर विचार का उपसंहार किया गया है । कारण यह है कि लक्षणा अभिधा की पूँछ पकड़कर ही आगे बढ़ती है इसी कारण वाचकत्व अर्थात् अभिधाव्यापार की आश्रित कही जाती है । इसके दो कारण हैं—एक तो लक्षणा का उत्थान ही अभिधा को बाध कर होता है दूसरे लक्षणा अभिधेयार्थ की अवगति के पीछे आती है । गुणवृत्ति का अर्थ है गौणी लक्षणा का प्रकार । वह व्यञ्जनात्मक ध्वनि का लक्षण हो ही कैसे सकती है ? क्योंकि दोनों के विषय भिन्न होते हैं । (आशय यह है कि लक्षणा केवल अभिधा के सम्बन्ध में ही होती है । वह अभिधा से निरपेक्ष होकर रह ही नहीं सकती । 'गङ्गा' इत्यादि पद से 'तीर' इत्यादि लक्ष्यार्थ तभी लिये जाते हैं

ध्वन्यालोकः

तस्मादन्यो ध्वनिरन्या च गुणवृत्तिः। अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य नहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः अन्ये च बहवः प्रकाराः भक्त्या व्याप्यन्ते। तस्माद्भक्तिरलक्षणम्।

(अनु०) अतएव ध्वनि अन्य होती है तथा गुण-वृत्ति और होती है। इस लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है। विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि का भेद तथा और बहुत से प्रकारों में लक्षणा व्याप्त होती ही नहीं। अतः लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।

लोचन

संहरति—तस्मादिति। यतोऽतिव्याप्तिरुक्ता तत्प्रसङ्गेन च भिन्नविषयत्वं तस्माद्धेतोरित्यर्थः। एवम् 'अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया' इति कारिकागतातिव्याप्तिं व्याचष्टे अव्याप्तिरप्यस्येति। अस्य गुणवृत्तिरूपस्येत्यर्थः। यत्र यत्र ध्वनिस्तत्र तत्र यदि भक्तिर्भवेन्न स्यादव्याप्तिः। न चैवम्—

तस्मादिति। क्योंकि अतिव्याप्ति बतलाई है उसके प्रसङ्ग से भिन्नविषयता आ जाती है; इसलिये अतिव्याप्ति है। इस प्रकार 'अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से यह उसके द्वारा लक्षित नहीं की जाती' इस कारिका में आई हुई अतिव्याप्ति की व्याख्या कर अव्याप्ति की व्याख्या कर रहे हैं—'अव्याप्तिरप्यस्य इति'। अर्थात् इस गुणवृत्तिरूप की। जहाँ-जहाँ ध्वनि होती है वहाँ-वहाँ यदि भक्ति हो तो अव्याप्ति न होवे। ऐसा नहीं है।

तारावती

जब कि यह ज्ञात हो जाता है कि प्रस्तुत वाक्य 'गङ्गा' का मुख्यार्थ 'प्रवाह' सङ्गत नहीं है और प्रवाह का निकटवर्ती सम्बन्धी 'तीर' उस अर्थ का पूरक तथा सङ्गतिकारक होता है। इसके प्रतिकूल ध्वनि में न तो मुख्यार्थबाध की अपेक्षा होती है और न मुख्यार्थ-सम्बन्ध की। व्यङ्ग्यार्थ ऐसा भी हो सकता है जिसका वाच्यार्थ से किसी प्रकार का सम्बन्ध हो न हो। इतना अधिक भेद होने के कारण लक्षणा को हम ध्वनि का लक्षण नहीं मान सकते।) इसीलिये वृत्तिकार ने उपसंहार करते हुये लिखा है कि 'ध्वनि और होती है तथा गुणवृत्ति और होती है।'

[यहाँपर 'लक्षणा को हम ध्वनि का लक्षण मान सकते हैं या नहीं' इस प्रश्न पर विचार किया गया है। लक्षण का अर्थ है लक्षित कराना या पहिचान कराना। उदाहरण के लिये किसी के यह पूछने पर 'गाय कैसी होती है? हम उसे गाय की एक ऐसी विशेषता बतला दें जिससे वह गाय को तत्काल पहिचान ले। उसी

लोचन

अविवक्षितवाच्येऽस्ति भक्तिः 'सुवर्णपुष्पा'मित्यादौ । 'शिखरिणि' इत्यादौ तु सा कथम् ? ननु लक्षणा तावद्गौणमपि व्याप्नोति ! केवलं शब्दस्तमर्थं लक्षयित्वा तेनैव सह सामानाधिकरण्यं भजते 'सिंहो वटुः' इति । अर्थो वार्थान्तरं लक्षयित्वा स्ववाचकेन तद्वाचकं समानाधिकरणं करोति । शब्दार्थौ वा युगपत्तं लक्षयित्वा अन्याभ्यामेव शब्दार्थाभ्यां मिश्रीभवत इत्येवं लाक्षणिकाद्गौणस्य भेदः । यदाह—'गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्' इति, तत्रापि लक्षणास्त्येवेति सर्वत्र सैव व्यापिका । सा च पञ्चविधा । तद्यथा—

'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादि अविवक्षित वाच्य मे भक्ति है । 'शिखरिणि' इत्यादि मे वह कैसे ? (प्रश्न) लक्षणा तो गौण को भी व्याप्त कर लेती है । केवल शब्द उस अर्थ को लक्षित कराकर उसी के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जाता है 'सिंहो वटुः' इत्यादि मे । अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक के साथ उसके वाचक का सामानाधिकरण्य कर देता है । अथवा शब्द और अर्थ एक साथ उसको लक्षित कराकर दूसरे ही शब्द और अर्थ से मिश्रित हो जाते हैं इस प्रकार लाक्षणिक का गौण से भेद है । जैसा कहा है—'गौण में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा में नहीं ।' वहाँपर भी लक्षणा है ही इस प्रकार सर्वत्र वही व्यापक होती है । वह ५ प्रकार की होती है । वह इस प्रकार—

तारावती

विशेषता को लक्षण कहते है । गाय का लक्षण भी अनिवार्यतः ऐसा ही होना चाहिये जो सभी गायों मे लागू हो जावे तथा गाय से भिन्न किसी अन्य वस्तु मे लागू न हो । तभी लक्षण की पूर्णता कही जावेगी । यदि गाय का लक्षण किया जावे और वह भैंस में भी लागू हो जावे तो यह लक्षण का दोप होगा और वह लक्षण अशुद्ध कहा जावेगा, इस लक्षण-दोप को अतिव्याप्ति कहते हैं। क्योंकि यह लक्षण का लक्ष्य से अधिक मे व्याप्त हो जाना है। जैसे—यदि गायका यह लक्षण किया जावे कि 'जिसके चार टागें हों उसे गाय कहते है।' यह लक्षण अतिव्याप्त है क्योंकि यह गाय से भिन्न घोड़ा गधा भैंस इत्यादि मे भी लागू हो जाता है। इसी प्रकार यदि गाय का ऐसा लक्षण बनाया जावे जो आधी गायों मे तो लागू हो जावे और आधी गायो मे लागू ही न हो तो लक्षण को अव्याप्त लक्षण कहेगे । जैसे यदि गाय का यह लक्षण किया जावे कि 'जो सास्नादिमान् श्वेत पशु हो उसे गाय कहते हैं' यह लक्षण काली गायो मे लगेगा ही नहीं । अतः यह अव्याप्तलक्षण है । अव्याप्त लक्षण भी अशुद्ध माना जाता है । इस प्रकार अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दो लक्षण-दोष होते है । यदि ध्वनि का लक्षण बनाया जावे और वह ऐसे स्थान पर भी लागू हो जावे जिसे

तारावती

ध्वनि न माना जा सके तो उस लक्षण को अतिव्याप्त कहेंगे। 'लक्षणा ही ध्वनि का लक्षण है' इस लक्षण मे पिछले प्रकरण मे विस्तारपूर्वक अतिव्याप्ति दोष दिखलाया जा चुका है। (इसके विस्तार के लिये देखो १४ वीं तथा १५ वीं कारिकाओं की व्याख्या।) अब अव्याप्ति को लीजिये—यदि ध्वनि का लक्षण बनाया जावे और ध्वनि के ही कुछ भागों में घटित न हो तो यह लक्षण की अव्याप्ति होगी। प्रस्तुत प्रकरण मे यही अव्याप्ति दिखलाई जा रही है।]

१४ वीं कारिका के उत्तरार्द्ध मे कहा गया था कि 'अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण गुणवृत्ति या लक्षणा ध्वनि को लक्षित नहीं कराती।' इसकी अतिव्याप्ति की तो पहले व्याख्या की जा चुकी, अब अव्याप्ति की व्याख्या की जा रही है। 'इस लक्षण मे अव्याप्ति दोष भी है' वृत्ति के इस वाक्य मे 'इस' शब्द का अर्थ है—'गुणवृत्तिरूप लक्षण में' गुणवृत्ति को लक्षण मानने मे तभी अव्याप्ति दोष नहीं हो सकता जबकि जहाँ कहीं ध्वनि हो वहाँ सर्वत्र लक्षणा या गुणवृत्ति अवश्य विद्यमान हों। किन्तु ऐसा होता नहीं है। (ध्वनि के कुछ भेदों मे तो गुणवृत्ति रहती है और कुछ मे नहीं रहती। पहले ध्वनि के भेद किये गये थे अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूलक ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूलक ध्वनि) इनमें अविवक्षितवाच्य मे तो लक्षणा होती है जिसके उदाहरण 'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीम्' इत्यादि हो सकते है जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है। विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरण 'शिखरिणि क्व नु नाम...' इत्यादि पद्य मे वह लक्षणा हो ही किस प्रकार सकती है? (अतएव ध्वनि के एक भाग में लक्षणा न होने से 'जहाँ ध्वनि होती है वहाँ लक्षणा अवश्य होती है' यह नियम जाता रहता है, यह अव्याप्ति दोष है, अतः लक्षणा ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती।) (प्रश्न) लक्षणा तो गौणी के क्षेत्र को भी व्याप्त कर लेती है। (इस विषय मे दो मत है—एक है मीमांसको का और दूसरा है आलङ्कारिकों का। मीमांसक मानते हैं कि गौणी और लक्षणा ये पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ हैं। गौणीवृत्ति में गुणों के साम्य के आधार पर एक शब्द का प्रयोग बाधित होकर भिन्न अर्थ में होता है और लक्षणा में गुणों से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से बाधित अर्थ मे शब्द का प्रयोग होता है। इन दोनों वृत्तियों में भेद यह है कि गौणी वृत्ति में जिसके लिये बाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका भी साथ मे ही प्रयोग किया जाता है किन्तु लक्षणा मे उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता जैसे 'सिंहो वटुः' में शौर्य इत्यादि गुणों के कारण 'वटु' के लिये सिंह कहा गया है और वटु के साथ सिंह का प्रयोग भी सम्मिलित है। अतः यह गौणी वृत्ति है। इसके प्रतिकूल 'गङ्गा में घर' इसमें सामीप्य सम्बन्ध से

तारावती

'तट' के अर्थ में गङ्गा का प्रयोग किया गया है और 'तट' का प्रयोग किया नहीं गया है। यह लक्षणा है। किन्तु आलङ्कारिकों को यह विभेद मान्य नहीं। उनका कहना है कि बाधित अर्थ में शब्द का प्रयोग लक्षणा का बीज है और वह गुणवृत्ति में भी विद्यमान है ही, फिर इन दोनों वृत्तियों के भेद मानने की क्या आवश्यकता? शब्द प्रयोग करना कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्व नहीं है जो वृत्तिभेद का ही प्रयोजक हो जावे। मीमांसकों के सिद्धान्त को आत्मसात् करने के लिये आलङ्कारिकों ने लक्षणा के दो भेद माने हैं गौणी और शुद्धा। सादृश्य सम्बन्ध में गौणी लक्षणा होती है तथा सादृश्यभिन्न सम्बन्ध में शुद्धा। गौणी लक्षणा में भी सर्वत्र शब्दों का प्रयोग नहीं होता। जहाँ होता है वहाँ वह रूपक का बीज बन जाता है अन्यत्र रूपकातिशयोक्ति का बीज होता है। इसी मन्तव्य से यहाँ पर कहा गया है कि लक्षणा गौणी को भी व्याप्त कर लेती है। अब यह दिखलाया जा रहा है कि गौणी स्थल पर एक शब्द दूसरे अर्थ को कहता किस प्रकार है? तथा जब उस अर्थ का वाचक शब्द भी साथ में रक्खा होता है तब उससे उसकी एकता कैसे बनती है?) यहाँ पर शब्द की तीन प्रकार की क्रिया हो सकती है—(१) केवल लक्षण शब्द ही वाचक के अर्थ को लक्षित कराकर उसके साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जावे। (एक ही अर्थ को भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट करने को शब्दों का सामानाधिकरण्य कहा जाता है।) जैसे 'सिंहो वटुः' इस वाक्य मे (सिंह शब्द लक्षक है और वटु शब्द वाचक। सिंह शब्द 'वटु' का अर्थ कहकर वटु के साथ सामानाधिकरण्य को प्राप्त हो जाता है।) (२) अथवा अर्थ दूसरे अर्थ को लक्षित कराकर अपने वाचक शब्द के साथ दूसरे वाचक शब्द को समानाधिकरण बना देता है (३) अथवा शब्द और अर्थ दोनों एक साथ दूसरे शब्द और अर्थ को लक्षित करा कर उनके साथ मिल जाते हैं। यही लाक्षणिक का गौण से भेद है। जैसा कि कहा गया है—'गौणी में शब्द प्रयोग होता है लक्षणा मे नहीं।' (किन्तु यह मत समीचीन नहीं है। गौणी मे भी शब्द प्रयोग नहीं होता और लक्षणा मे होता भी है। लक्षणा के दो भेद हैं सारोपा और साध्यवसाना। सारोपा रूपक अलङ्कार का बीज है इसमें लक्षक शब्द के साथ वाचक का भी प्रयोग होता है जैसे 'सिंहो वटुः।' साध्यवसाना रूपकातिशयोक्ति का बीज है। इसमें शब्द का प्रयोग नहीं होता। जैसे बालक के लिये केवल सिंह शब्द का प्रयोग। यह तो गौणी की बात हुई। सादृश्येतरसम्बन्ध अर्थात् लक्षणा के दूसरे भेदों में भी दोनों दशायें होती है। जैसे कार्य-कारणभाव सम्बन्ध के उदाहरण 'आयुर्घृतम्' में दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। यदि

लोचन

अभिधेयेन संयोगात्; द्विरेफशब्दस्य हि योऽभिधेयो भ्रमरशब्दः द्वौ रेफौ यस्येति कृत्वा तेन भ्रमरशब्देन यस्य संयोगः सम्बन्धः षट्पदलक्षणस्यार्थस्य सोऽर्थो द्विरेफशब्देन लक्ष्यते। अभिधेयसम्बन्धं व्याख्यातरूपं निमित्तीकृत्य। सामीप्यात् 'गङ्गायां घोषः।' समवायादिति सम्बन्धादित्यर्थः, 'यष्टीः प्रवेशय' इति यथा। वैपरीत्यात् यथा शत्रुमुद्दिश्य कश्चिद् ब्रवीति—'किमिवोपकृतं न तेन मम' इति। क्रियायोगादिति कार्यकारणभावादित्यर्थः। यथा—अन्नापहारिणि व्यवहारः प्राणानयं हरति इति। एवमनया लक्षणया पञ्चविधया विश्वमेव व्याप्तम्।

अभिधेय के साथ संयोग से। द्विरेफ शब्द का जो अभिधेय 'दो रेफ हैं जिसमे यह (अर्थ) होने से भ्रमरशब्द, उस भ्रमर शब्द से जिस षट्पद लक्षण अर्थ का संयोग सम्बन्ध है वह अर्थ द्विरेफ शब्द से लक्षित किया जाता है (यह) उस अभिधेय सम्बन्ध को निमित्त के रूप में मानकर होता है। जिसके स्वरूप की व्याख्या की जा चुकी। सामीप्य से (जैसे) 'गङ्गा में घर'। समवाय से अर्थात् (नित्य) सम्बन्ध से जैसे 'छड़ियों को प्रवेश कराओ।' वैपरीत्य से जैसे शत्रु को उद्दिष्ट कर कोई कहे—'उसने मेरा क्या उपकार नहीं किया?' क्रियायोगात् का अर्थ है कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का अपहरण करनेवाले में 'यह व्यवहार हो कि यह प्राणों को हर रहा है'। इस प्रकार इस पाँच प्रकार की लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त है।

तारावती

घी खानेवाले व्यक्ति के लिये कोई यह कहे कि यह आयु खा रहा है तो यह साध्यवसाना लक्षणा होगी। इस प्रकार दोनो स्थानों पर दोनो अवस्थायें हो सकती हैं। अतः आलङ्कारिकों का ही मत ठीक है कि गौणी का समावेश लक्षणा में ही होता है।) गौणीवृत्ति मे भी लक्षणा होती ही है। अतएव (बाधित शब्द के प्रयोग मे) सर्वत्र लक्षणा व्यापक ही होगी। वह लक्षणा (सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त) ५ प्रकार की होती है। वह इस प्रकार—(१) अभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ से संयोगसम्बन्ध होने पर। (यहाँपर संयोग का अर्थ है वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध) उदाहरण के लिये 'द्विरेफ' शब्द को लीजिये। इसमें बहुव्रीहि समास है, अतः इसकी व्युत्पत्ति होगी—'दो हैं रेफ जिसमें' इससे इसका अभिधेयार्थ सिद्ध हुआ भ्रमर शब्द। (अब जैसे एक वाक्य है–'द्विरेफ उड़ रहा है' इसका वाच्यार्थ हुआ 'भ्रमर शब्द उड़ रहा है।' शब्द का उड़ना असम्भव है अतः तात्पर्यानुपपत्ति के कारण अभिधेयार्थ का बाध हो जाता है।) भ्रमर शब्द का वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है षट्पद अर्थात् छः पैरोवाले एक विशेष प्राणी से। अतः द्विरेफ शब्द से

लोचन

तथाहि—'शिखरिणि' इत्यत्राकस्मिकप्रश्नविशेषादिबाधकानुप्रवेशे सादृश्याल्लक्षणास्त्येव। नन्वत्राङ्गीकृतैव मध्ये लक्षणा, कथं तद्युक्तं विवक्षितान्यपरेति? तद्भेदोऽत्र मुख्योऽसंलक्ष्यक्रमात्मा विवक्षितः। तद्भेदशब्देन रसभावतदाभासतत्प्रशमभेदास्तदवान्तरभेदाश्च, न च तेषु लक्षणायाः उपपत्तिः। तथाहि—विभावानुभावप्रतिपादके काव्ये मुख्येऽर्थे तावद्बाधकानुप्रवेशोऽप्यसंभाव्य इति को लक्षणावकाशः?

वह इस प्रकार—'शिखरिणि' इसमे आकस्मिक प्रश्न विशेष इत्यादि बाधक के अनुप्रवेश मे सादृश्य से लक्षणा है ही। (प्रश्न) निस्सन्देह यहाँपर मध्य में लक्षणा अङ्गीकार ही कर ली फिर इसे विवक्षितान्यपर यह क्यों कहा गया? (उत्तर) यहॉपर उसका असंल्लक्ष्यक्रमात्मक मुख्य भेद कहा जाना अभीष्ट है। तद्भेद शब्द से रस, भाव, उनके आभास, उनके प्रशम भेद तथा उनके अवान्तर भेद (आते है) उनमे लक्षणा की उपपत्ति नहीं ही होती। वह इस प्रकार—विभावानुभाव प्रतिपादक काव्य मे मुख्य अर्थ मे बाधक का अनुप्रवेश ही असम्भाव्य है फिर लक्षणा का क्या अवकाश?

तारावती

षट्पदरूप लक्ष्य अर्थ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से ले लिया जाता है। इस लक्ष्यार्थ ग्रहण मे अभिधेय सम्बन्ध ही निमित्त है जिसकी व्याख्या की जा चुकी है। (२) सामीप्य सम्बन्ध से जैसे—'गङ्गा मे घर।' (३) समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्ध से। जैसे 'छडियों को आने दो' (छड़ियो का आना असम्भव है। अतः इस अर्थ का बाध होकर 'छडीवाले पुरुष' यह अर्थ ले लिया जाता है। छड़ी तथा छडीवाले पुरुष दोनों का समवाय सम्बन्ध है। क्योंकि जब तक पुरुषों के पास छड़ी नहीं होगी तब तक वे छडीवाले नहीं कहे जावेगे।) (४) वैपरीत्य सम्बन्ध से जैसे शत्रु के विषय में कोई यह कहे—'इसने हमारा क्या उपकार नही किया'? (यहॉ पर वैपरीत्य सम्बन्ध से अपकार मे लक्षणा हो जाती है। (५) क्रियायोग अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध से जैसे अन्न का अपहरण करनेवाले के विषय मे कोई कहे—'यह हमारे प्राण हर रहा है।' (अन्न प्राण का कारण है अतः कार्यकारणभाव सम्बन्ध से अन्न का प्रयोग प्राण के अर्थ मे कर दिया गया है। इस प्रकार इस पॉच भेदोवाली लक्षणा से सारा विश्व ही व्याप्त है। वह इस प्रकार—पहले विवक्षितान्यपरवाच्य का उदाहरण दिया गया था—'न जाने इस शुक-शावक ने कितने दिनों किस पर्वत पर कौन सी तपस्या की है जो इसे तुम्हारे अधर-दशन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।' इस उदाहरण में भी बाध उपस्थित होता है—क्योंकि नायक ने अकस्मात् यह प्रश्न क्यों कर दिया यह समझ मे नहीं आता। अतः विशेष प्रकार

लोचन

ननु किं बाधया, इयदेवलक्षणास्वरूपम्—'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' इति। इह चाभिधेयानां विभावानुभावादीनामविनाभूता रसादय इति लक्ष्यन्ते, विभावानुभावयोः कार्यकारणरूपत्वात्, व्यभिचारिणां च तत्सहकारित्वादितिचेत्—मैवम् धूमशब्दाद्धूमे प्रतिपन्ने ह्यग्निस्मृतिरपि लक्षणाकृतैव स्यात्, ततोऽग्नेः शीतापनोदस्मृतिरित्यादिरपर्यवसितः शब्दार्थः स्यात्। धूमशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तत्वान्न तावति व्यापार इति चेत्, आयातं तर्हि मुख्यार्थबाधो लक्षणाया जीवितमिति। सति तस्मिन् स्वार्थविश्रान्त्यभावात्। नच विभावादिप्रतिपादने बाधकं किञ्चिदस्ति।

(प्रश्न) बाधा की क्या आवश्यकता? लक्षणा का यही स्वरूप माना जावे—'अभिधेय से अविनाभूत प्रतीति को लक्षणा कहते हैं'। यहाँपर रस इत्यादि अभिधेयों से अविनाभूत ही लक्षित होते हैं, क्योंकि विभाव और अनुभाव कारण-कार्य रूप हैं और व्यभिचारी उनके सहकारी है। (उत्तर) ऐसा नहीं है। (ऐसा मानने पर) धूम शब्द से धूम के प्रतिपन्न हो जाने पर अग्नि की स्मृति भी लक्षणा द्वारा सम्पादित ही होगी। उससे अग्नि से शीतापनोदन स्मृति इत्यादि अपर्यवसित शब्दार्थ होगा। यदि कहो धूम शब्द के स्वार्थविश्रान्त होने के कारण उतने में व्यापार नहीं होता तो मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवन (होता है) यह आ गया। क्योंकि उसके होने पर (ही) स्वार्थ में विश्राम का अभाव होता है। विभाव इत्यादि के प्रतिपादन में कोई बाधक है ही नहीं।

तारावती

के प्रश्न के अकस्मात् किये जाने से बाधक का अनुप्रवेश हो जाता है और अधर चुम्बन में बिम्बफल तथा नायक का सादृश्य होने के कारण लक्षणा हो ही जाती है। (सिद्धान्ती) पिछले प्रकरण मे मैंने इस उदाहरण मे मध्य में तो लक्षणा मान ही ली। (पूर्वपक्षी) फिर आप यहाँ पर एक दूसरा भेद विवक्षितान्यपर क्यों मानते है? उसे लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य मे ही क्यों सन्निविष्ट नहीं कर देते? (उत्तर) विवक्षितान्यपरवाच्य के दो भेद बतलाये गये थे—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रस इत्यादि तथा उसके भेदों की ध्वनि तथा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तु तथा अलङ्कार की ध्वनि। तथा उसके 'भेद' का अर्थ है—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, और भावप्रशम (भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता) की ध्वनि तथा उनके अवान्तर भेद। यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही विवक्षितान्यपरवाच्य का प्रमुख भेद है इसमें लक्षणा की उपपत्ति नहीं होती। वह इस प्रकार—विभाव और अनुभाव इत्यादि के प्रतिपादक काव्य मे मुख्य अर्थ मे बाधक का अनुप्रवेश असम्भव है। अतः लक्षणा का अवकाश ही यहाँपर क्या हो सकता है?

लोचन

नन्वेवं धूमावगमनानन्तरमग्निस्मरणवद्विभावादिप्रतिपत्त्यनन्तरं रत्यादिचित्तवृत्तिप्रतिपत्तिमिति शब्दव्यापार एवात्र नास्ति। इदं तावदयं प्रतीतिस्वरूपज्ञो मीमांसकः प्रष्टव्यः—किमत्र परचित्तवृत्तिमात्रे प्रतिपत्तिरेव रसप्रतिपत्तिरभिमता भवतः? न चैवं भ्रमितव्यम्; एवं हि लोकगतचित्तवृत्त्यानुमानमात्रमिति का रसता? यस्त्वलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः काव्यगतविभावादिचर्वणाप्राणो नासौ स्मरणानुमानादिसाम्येन खिलीकारपात्रीकर्तव्यः। किन्तु लौकिकेन कार्यकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते, अपितु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मरणसरणि-

(प्रश्न) इस प्रकार धूम ज्ञान के अनन्तर अग्नि के स्मरण की भांति विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के अनन्तर रति इत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति होती है। इस प्रकार यहाँ शब्द का व्यापार ही नहीं होता। (उत्तर) प्रतीति के स्वरूप को जाननेवाले इस मीमांसक से यह पूछा जाना चाहिये—क्या यहाँपर दूसरे की सभी प्रकार की चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति आपके लिये रसप्रतिपत्ति अभिमत है। ऐसे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। ऐसा होने पर लोकगत चित्तवृत्ति का अनुमान कर लेने में ही क्या रस रह जावेगा, जो अलौकिक चमत्कारात्मक रसास्वाद है, जिसका प्राण है काव्यगत विभाव इत्यादि की चर्वणा वह स्मरण अनुमान इत्यादि के साम्य से व्यर्थता का पात्र नहीं किया जाना चाहिये। किन्तु लौकिक कार्य कारण के अनुमान इत्यादि के द्वारा संस्कृत हृदयवाला विभाव इत्यादि को प्रतिपन्न होते हुये ही तटस्थ के रूप में उसे प्राप्त नहीं करता। अपितु जिसका पर्याय हृदय संवाद है। उस सहृदयत्व के द्वारा परवश हो जाने के कारण आगे चलकर पूर्ण होनेवाले रसास्वाद के अङ्कुरित हो जाने से अनुमान स्मरण इत्यादि की सरणि पर विना ही

तारावती

(प्रश्न) लक्षणा के लक्षण में मुख्यार्थबाध के समावेश की आवश्यकता ही क्या! लक्षणा की इतनी ही परिभाषा क्यों नहीं मानी जाती कि—'अभिधेय के साथ अविनाभूत प्रतीति (किसी रूप में सम्बद्ध होने) को लक्षणा कहते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में भी विभाव अनुभाव इत्यादि के साथ अविनाभूत रसों की प्रतीति होती है। अतः उन्हें भी लक्षणा में ही सन्निविष्ट कर सकते हैं। क्योंकि विभाव रस में कारण होते हैं और अनुभाव इसमें कार्य होते हैं। तथा व्यभिचारी भाव सहकारी होते हैं। अतः ये सब इसके साथ अविनाभूत होते ही हैं। इसका उत्तर यह है कि जहाँ पर धूम शब्द से वाच्यार्थ धूम की प्रतिपत्ति होने के बाद अग्नि का स्मरण होता है वहाँ भी आप लक्षणा मानेंगे। इसके बाद शीत के दूर

लोचन

मनारूढ्यैव तन्मयीभवनोचितचर्वणाप्राणतया । न चासौ चर्वणा प्रमाणान्तरतो जाता पूर्वं येनेदानीं स्मृतिः स्यात् । न चाधुना कुतश्चित्प्रमाणान्तरादुत्पन्ना, अलौकिके प्रत्यक्षाद्यव्यापारात् । अतएवालौकिक एव विभावादिव्यवहारः । यदाह 'विभावो विज्ञानार्थः' लोके कारणमेवाभिधीयते न विभावः । अनुभावोऽप्यलौकिक एव—'यद-यमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनयस्तस्मादनुभाव इति । तच्चित्तवृत्तितन्मयी-भवनमेव ह्यनुभवनम् । लोके तु कार्यमेवोच्यते नानुभावः । अत एव परकीया न चित्त-वृत्तिर्गम्यते इत्यभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रे

आरूढ हुये तन्मय होने के योग्य चर्वणा को प्राण के रूप में स्वीकार कर (उसे प्राप्त करता है)। यह चर्वणा पहले दूसरे प्रमाण से उत्पन्न नहीं हुई है क्योंकि अलौकिक में प्रत्यक्ष इत्यादि का व्यापार नहीं होता। अतएव (रसप्रतीति के अलौकिक होने से ही) विभावादि व्यवहार भी अलौकिक ही होता है। जैसा कहते हैं—विभाव विज्ञानार्थक है, लोक मे कारण ही कहा जाता है विभाव नहीं। अनुभाव भी अलौकिक ही होता है जो वाणी अङ्ग और सत्व से किया हुआ अभिनय (स्थायी और व्यभिचारी को) अनुभव गोचर बनाता है इससे अनुभाव कहलाता है। उस चित्तवृत्ति का तन्मय होना ही अनुभवन है। लोक मे तो कार्य ही कहते हैं अनुभाव नहीं। अतएव परकीया चित्तवृत्ति अवगत नहीं की जाती इस अभिप्राय से 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति.' इस सूत्र मे स्थायी

तारावती

होने की स्मृति भी जो कि अपर्यवसित अर्थ है, लक्ष्यार्थ ही माना जावेगा।' क्योंकि धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध तो है ही।) यदि आप कहें कि धूम शब्द स्वार्थ विश्रान्त है अर्थात् उसका अर्थ स्वतः पूर्ण हो जाता है अतएव अग्नि तथा शीतापनोदन पर्यन्त अर्थों मे लक्षणाव्यापार नहीं माना जा सकता इसका स्पष्ट अर्थ यही होता है। कि जहाँ किसी शब्द के अर्थ की स्वतः पूर्ति न हो वहाँ लक्षणा होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुख्यार्थबाध लक्षणा का जीवन है। क्योंकि पर्यवसान का अभाव होता है। विभाव इत्यादि के द्वारा रस के प्रतिपादन में कोई बाधक होता ही नहीं, अतः यहाँपर लक्षणा नहीं मानी जा सकती।

कतिपय मीमांसकों का कहना है कि जिस प्रकार धूमप्रत्यक्ष के बाद अग्नि का अनुमान या स्मरण कर लिया जाता है उसी प्रकार विभाव इत्यादि की प्रतिपत्ति के उपरान्त रति इत्यादि चित्तवृत्ति का अनुमान या स्मरण निपुणतया कर लिया जाता है क्योंकि जिस प्रकार पहले धूमप्रत्यक्ष अनुभव होता है और बाद में अग्नि का

तारावती

अनुमान या स्मरण, उसी प्रकार पहले विभावादि की प्रतिपत्ति होती है। अतएव जिस प्रकार अनुमानजन्य स्मरण को हम शब्द का व्यापार नहीं मानते उसी प्रकार रसप्रतिपत्ति भी शब्द का कोई व्यापार नहीं होती। (जब रसप्रतिपत्ति शब्द का ही कोई व्यापार नहीं होती तब यह तो दूर की बात रही कि उसके लिये हम शब्द के नये व्यापार व्यञ्जना की कल्पना करें) [यहाँपर प्रतिपत्तियाँ दो प्रकार की हैं—परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति और रसप्रतिपत्ति। प्रश्न यह है कि मीमांसक क्या सिद्ध करना चाहता है? क्या वह यह सिद्ध करना चाहता है कि दूसरे की चित्तवृत्ति शब्द प्रमाण से न होकर अनुमान या स्मरण से होती है? यदि ऐसा है तब तो यह सिद्ध का ही सिद्ध करना है क्योंकि परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति शब्द का व्यापार नहीं ही होती। अब यदि रसप्रतीति शब्द व्यापार का विषय नहीं होती यह सिद्ध करना है तो यह दुश्चेष्टामात्र है क्योंकि रस अलौकिक होते हैं। अतः उनको अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त कहाँसे आवेगा? इसी आशय से लोचनकार यहाँपर उपहास उड़ाते हुये उत्तर दे रहे हैं।] यह मीमांसक प्रतीति के स्वरूप को तो भलीभाँति समझता है—जरा इससे पूछा जाना चाहिये कि क्या आप दूसरों की चित्तवृत्ति को ही रस मानते हैं? आप इस भ्रम में न रहे। यदि लोक की चित्तवृत्ति के अनुमान को ही रस नाम दिया जावेगा तो उसमे रसत्व (आस्वादन) ही क्या रह जावेगा? रसास्वाद और ही वस्तु है। रसास्वाद की आत्मा अलौकिक चमत्कार है और उसका प्राण काव्यगतविभाव इत्यादि की चर्वणा है। यदि इस प्रकार के उक्त रसास्वादन को स्मरण और अनुमान की समता प्रदान की जावेगी तो उसमें रसत्व धर्म ही क्या रहेगा? अतः स्मरण और अनुमान की तुलना करके इसे व्यर्थ नहीं बनाना चाहिये। किन्तु जिन लोगों के अन्तःकरण लौकिक कार्य कारण के अनुमान के द्वारा संस्कृत हो चुके हैं जिस समय वे लोग काव्य या नाट्य मे विभाव इत्यादि का परिशीलन करते है उस समय उन्हें वे विभाव इत्यादि अपने से सम्बन्ध रखनेवाले नितान्त परकीय ही नहीं मालूम पड़ते। किन्तु उनका हृदय उस समय सहृदयत्व भावना से पूर्ण रूप से परवश हो जाता है। सहृदयता का अर्थ है हृदय का इस प्रकार का हो जाना जिससे परिशीलन की जानेवाली वस्तु उससे मेल खाती हुई सी जान पड़े। आगे चलकर पूर्ण होनेवाला रसास्वादन एक परिपूर्ण कल्पवृक्ष के समान है, धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों उसके फल है। सहृदयों के हृदयों मे विभाव इत्यादि के परिशीलन के द्वारा उससे रसास्वादरूपी कल्पवृक्ष का एक अङ्कुर जम जाता है। इस प्रकार सहृदयों के हृदय अनुमान तथा स्मरण के क्रम पर

तारावती

विना ही आरूढ़ हुये तन्मय हो जाते हैं। इस तन्मयता के अनुकूल (विभाव इत्यादि की जो चर्वणा होती है वही इस रस का प्राण है। यह चर्वणा किसी दूसरे प्रमाण से रसास्वाद के पहले उत्पन्न नहीं हो चुकी थी। अतः उसका स्मरण नहीं हो सकता। (स्मरण उसी वस्तु का होता है जिसका अनुभव पहले हो चुका हो।) इस समय भी उसकी उपपत्ति किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होती। क्योंकि अलौकिक तत्व के ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष इत्यादि की क्रिया सर्वथा असमर्थ होती है। रसानुभूतिपरक विभावादि का व्यवहार अलौकिक ही होता है। यही बात भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र मे कही है—'विभाव का अर्थ है विज्ञान अर्थात् स्थायी और व्यभिचारी भाव जिनके द्वारा विशेष रूप से ज्ञात (भावित) किये जावे उन्हे विभाव कहते है। लोक में कारण शब्द का प्रयोग किया जाता है विभाव का नहीं क्योंकि विभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। प्रमदा उद्यान इत्यादि को कारणार्थक विभाव इसीलिये मानते हैं कि इन्हीं के द्वारा भावों का विशेष रूप से ज्ञान होता है। यद्यपि अनुभाव (अश्रुपातादि के द्वारा भी स्थायी की अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रमदा और उद्यान इत्यादि विभावरूप कारणों के द्वारा ही विशेष रूप से उनका परिज्ञान होता है। क्योंकि अश्रुपातादि तो अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।) अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। इसको अनुभाव इसलिये कहते हैं क्योंकि यह स्थायी तथा सञ्चारी भावों को अनुभव के योग्य बनाता है। इस श्रेणी मे आते है वाचिक, आङ्गिक, सात्विक इत्यादि अभिनय। अनुभव गोचर बनाने का अर्थ यही है कि किसी भावना से भावित चित्तवृत्तिके अनुकूल तन्मयता उत्पन्न कर देना। लोक में अनुभाव शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु कार्य शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि अनुभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार विभाव और अनुभाव सर्वथा अलौकिक होते हैं। दूसरे की चित्तवृत्ति का अनुमान ही विभाव और अनुभाव का रूप नहीं धारण कर सकता। सामाजिक लोग परकीय चित्तवृत्ति के अनुमान के द्वारा ही आनन्द को ग्रहण नहीं करते किन्तु उनकी अपनी चित्तवृत्ति ही तदाकार रूप मे परिणत हो जाती है। इसीलिये—'विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है' इस भरत मुनि के सूत्र में स्थायी भाव का ग्रहण नहीं किया गया है। वस्तुतः कहना यह चाहिये था कि विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव का स्थायी भाव के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यहाँ पर जानबूझकर स्थायी शब्द की अवहेलना की गई है। कारण यह है कि अनुभाव के द्वारा ही स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है उसकी पृथक्

तारावती

अनुमान या स्मरण, उसी प्रकार पहले विभावादि की प्रतिपत्ति होती है। अतएव जिस प्रकार अनुमानजन्य स्मरण को हम शब्द का व्यापार नहीं मानते उसी प्रकार रसप्रतिपत्ति भी शब्द का कोई व्यापार नहीं होती। (जब रसप्रतिपत्ति शब्द का ही कोई व्यापार नहीं होती तब यह तो दूर की बात रही कि उसके लिये हम शब्द के नये व्यापार व्यञ्जना की कल्पना करें) [यहाँपर प्रतिपत्तियाँ दो प्रकार की है—परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति और रसप्रतिपत्ति। प्रश्न यह है कि मीमांसक क्या सिद्ध करना चाहता है? क्या वह यह सिद्ध करना चाहता है कि दूसरे की चित्तवृत्ति शब्द प्रमाण से न होकर अनुमान या स्मरण से होती है? यदि ऐसा है तब तो यह सिद्ध का ही सिद्ध करना है क्योंकि परकीय चित्तवृत्ति की प्रतिपत्ति शब्द का व्यापार नहीं ही होती। अब यदि रसप्रतीति शब्द व्यापार का विषय नहीं होती यह सिद्ध करना है तो यह दुश्चेष्टामात्र है क्योंकि रस अलौकिक होते है। अतः उनको अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त कहाँसे आवेगा? इसी आशय से लोचनकार यहाँपर उपहास उड़ाते हुये उत्तर दे रहे हैं।] यह मीमासक प्रतीति के स्वरूप को तो भलीभाँति समझता है—जरा इससे पूछा जाना चाहिये कि क्या आप दूसरों की चित्तवृत्ति को ही रस मानते हैं? आप इस भ्रम में न रहें। यदि लोक की चित्तवृत्ति के अनुमान को ही रस नाम दिया जावेगा तो उसमे रसत्व (आस्वादन) ही क्या रह जावेगा? रसास्वाद और ही वस्तु है। रसास्वाद की आत्मा अलौकिक चमत्कार है और उसका प्राण काव्यगतविभाव इत्यादि की चर्वणा है। यदि इस प्रकार के उक्त रसास्वादन को स्मरण और अनुमान की समता प्रदान की जावेगी तो उसमे रसत्व धर्म ही क्या रहेगा? अतः स्मरण और अनुमान की तुलना करके इसे व्यर्थ नहीं बनाना चाहिये। किन्तु जिन लोगों के अन्तःकरण लौकिक कार्य कारण के अनुमान के द्वारा संस्कृत हो चुके हैं जिस समय वे लोग काव्य या नाट्य में विभाव इत्यादि का परिशीलन करते हैं उस समय उन्हे वे विभाव इत्यादि अपने से सम्बन्ध रखनेवाले नितान्त परकीय ही नहीं मालूम पड़ते। किन्तु उनका हृदय उस समय सहृदयत्व भावना से पूर्ण रूप से परवश हो जाता है। सहृदयता का अर्थ है हृदय का इस प्रकार का हो जाना जिससे परिशीलन की जानेवाली वस्तु उससे मेल खाती हुई सी जान पड़े। आगे चलकर पूर्ण होनेवाला रसास्वादन एक परिपूर्ण कल्पवृक्ष के समान है, धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारो उसके फल है। सहृदयों के हृदयों में विभाव इत्यादि के परिशीलन के द्वारा उससे रसास्वादरूपी कल्पवृक्ष का एक अङ्कुर जम जाता है। इस प्रकार सहृदयों के हृदय अनुमान तथा स्मरण के क्रम पर

तारावती

विना ही आरूढ़ हुये तन्मय हो जाते हैं। इस तन्मयता के अनुकूल (विभाव इत्यादि की जो चर्वणा होती है वही इस रस का प्राण है। यह चर्वणा किसी दूसरे प्रमाण से रसास्वाद के पहले उत्पन्न नहीं हो चुकी थी। अतः उसका स्मरण नहीं हो सकता। (स्मरण उसी वस्तु का होता है जिसका अनुभव पहले हो चुका हो।) इस समय भी उसकी उपपत्ति किसी दूसरे प्रमाण से नहीं होती। क्योंकि अलौकिक तत्व के ग्रहण करने के लिये प्रत्यक्ष इत्यादि की क्रिया सर्वथा असमर्थ होती है। रसानुभूतिपरक विभावादि का व्यवहार अलौकिक ही होता है। यही बात भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कही है—'विभाव का अर्थ है विज्ञान अर्थात् स्थायी और व्यभिचारी भाव जिनके द्वारा विशेष रूप से ज्ञात (भावित) किये जावें उन्हे विभाव कहते हैं। लोक मे कारण शब्द का प्रयोग किया जाता है विभाव का नहीं क्योंकि विभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। प्रमदा उद्यान इत्यादि को कारणार्थक विभाव इसीलिये मानते हैं कि इन्हीं के द्वारा भावों का विशेष रूप से ज्ञान होता है। यद्यपि अनुभाव (अश्रुपातादि के द्वारा भी स्थायी की अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रमदा और उद्यान इत्यादि विभावरूप कारणों के द्वारा ही विशेष रूप से उनका परिज्ञान होता है। क्योंकि अश्रुपातादि तो अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।) अनुभाव भी अलौकिक ही होता है। इसको अनुभाव इसलिये कहते हैं क्योंकि यह स्थायी तथा सञ्चारी भावों को अनुभव के योग्य बनाता है। इस श्रेणी मे आते हैं वाचिक, आङ्गिक, सात्विक इत्यादि अभिनय। अनुभव गोचर बनाने का अर्थ यही है कि किसी भावना से भावित चित्तवृत्तिके अनुकूल तन्मयता उत्पन्न कर देना। लोक में अनुभाव शब्द का प्रयोग नहीं होता किन्तु कार्य शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि अनुभाव लोक की वस्तु है ही नहीं। इस प्रकार विभाव और अनुभाव सर्वथा अलौकिक होते हैं। दूसरे की चित्तवृत्ति का अनुमान ही विभाव और अनुभाव का रूप नहीं धारण कर सकता। सामाजिक लोग परकीय चित्तवृत्ति के अनुमान के द्वारा ही आनन्द को ग्रहण नहीं करते किन्तु उनकी अपनी चित्तवृत्ति ही तदाकार रूप मे परिणत हो जाती है। इसीलिये—'विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है' इस भरत मुनि के सूत्र में स्थायी भाव का ग्रहण नहीं किया गया है। वस्तुतः कहना यह चाहिये था कि विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव का स्थायी भाव के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। किन्तु यहाँ पर जानबूझकर स्थायी शब्द की अवहेलना की गई है। कारण यह है कि अनुभाव के द्वारा ही स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो जाती है उसकी पृथक्

लोचन

स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिसुन्दरचर्वणोदयात्। हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवगमाच्च। व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यत इति विभावानुभावमध्ये गणितः। अतएव रस्यमानताया एषैव निष्पत्तिः, यत्प्रबन्धप्रवृत्तबन्धुसमागमादिकारणोदितहर्षादिचित्तवृत्तिन्यग्भावेन चर्वणारूपत्वम्। अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनं प्रमाणव्यापारवत्। नाप्युत्पादनम् हेतुव्यापारवत्।

का ग्रहण नहीं किया गया। प्रत्युत वह शल्यभूत हो जाता। स्थायी की तो रसत्वप्राप्ति औचित्य से कही जाती है। विभाव और अनुभाव के योग्य चित्तवृत्ति के संस्कार के (उद्बोधन से) सुन्दर चर्वणा के उदय हो जाने से वह (स्थायी की रसत्व प्राप्ति) होती है। हृदयसंवाद में उपयोगी लोकचित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में उद्यान पुलक इत्यादि के द्वारा स्थायीभूत रति इत्यादि के अवगमन से भी (स्थायी की) रसता प्राप्ति हो जाती है। व्यभिचारी तो चित्तवृत्त्यात्मक होते हुये भी मुख्य चित्तवृत्ति के आधीन होकर ही चर्वणागोचर होता है; अतः विभाव और अनुभाव के मध्य मे उसकी गणना की गई। अतएव रस्यमानता (आस्वादनगोचरता) की यही निष्पत्ति होती है कि प्रबन्ध में आये हुये बन्धुसमागम इत्यादि कारणों से उत्पन्न हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्ति को नीचा करके चर्वणा रूपता धारण कर लेता है। अतः यहाँ चर्वणा का अर्थ अभिव्यञ्जन ही है ज्ञापन नहीं होता, जैसा कि प्रमाण व्यापार का (ज्ञापन) हुआ करता है। उत्पादन भी नहीं होता, जैसा कि हेतु व्यापार (से उत्पादन होता है)।

तारावती

अवस्थिति की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। (यदि यहाँपर विभावादिकों का संयोग स्थायीभाव के साथ बतलाया गया होता हो उसका स्पष्ट अर्थ यही होता कि परकीय चित्तवृत्ति का अनुमान कर लिया जाता है।) इस प्रकार अर्थप्रतीति में यह एक अनिष्ट शल्य हो जाता। यह कहना उचित ही है कि स्थायी भाव ही रसरूपता को धारण करता है। कारण यह है कि दूसरे व्यक्तियों (नायक इत्यादिकों) मे जो रति इत्यादि स्थायीभाव रहता है उससे सम्बन्ध रखनेवाले विभाव अनुभाव के अनुकूल जो चित्तवृत्ति बनती है उसके संस्कारों से जब सहृदयों की चित्तवृत्तियाँ भी संस्कृत हो जाती है तब रसास्वादन का उदय होता है। इस प्रकार स्थायी चित्तवृत्तियाँ ही रसरूपता को धारण करती हैं। दूसरी बात यह है

लोचन

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः तर्हि किमेतत्? नन्वयमसावलौकिको रसः। ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः, उत कारकः? न ज्ञापको न कारकः, अपि तु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र? यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम्। नन्वेवं रसोऽप्रमाणं स्यात्; अस्तु किं ततः? तच्चर्वणात एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनी-

(प्रश्न) यदि यह ज्ञापन भी नहीं और निष्पत्ति भी नहीं तो यह क्या है? (उत्तर) यह वह नही है (किन्तु) अलौकिकरस है। (प्रश्न) विभाव इत्यादि यहाँ पर क्या ज्ञापकहेतु है या कारक? (उत्तर) न ज्ञापक है न कारक; अपितु चर्वणोपयोगी है। (प्रश्न) यह अन्यत्र कहाँ देखा गया? (उत्तर) क्योंकि नहीं देखा गया इसीलिये अलौकिक है यह कहा गया। (प्रश्न) इस प्रकार तो यह रस अप्रामाणिक हो जावेगा? (उत्तर) हो जावे तो उससे क्या? उसकी चवर्णा से ही प्रीति और व्युत्पत्ति के सिद्ध हो जाने पर और क्या प्रार्थनीय है। (प्रश्न) यह

तारावती

कि रस चर्वणा सदा हृदयसंवाद के द्वारा ही होती है। हृदयसंवाद में उपयोगी होता है लोक-चित्तवृत्ति का परिज्ञान। क्योंकि जब तक लोकगत चित्तवृत्ति का परिज्ञान नहीं हो जाता तब तक एक चित्तवृत्ति दूसरी चित्तवृत्ति से मेल खा ही नहीं सकती। जब लोकगत चित्तवृत्ति के परिज्ञान के द्वारा सहृदयों का हृदय दूसरों की चित्तवृत्ति से मेल खा जाता है तब प्रमदा उद्यान इत्यादि विभाव और पुलक इत्यादि अनुभावों के द्वारा रति इत्यादि स्थायीभाव का अवगम हो जाता है। (इसीलिये स्थायीभाव ही रस रूपता को प्राप्त होता है यह सिद्धान्त माना गया है तथा विभाव अनुभाव और सञ्चारीभाव से उसे पृथक् रक्खा गया है।) यद्यपि रति इत्यादि स्थायीभावों के समान लज्जा इत्यादि व्यभिचारीभाव भी चित्तवृत्ति रूप ही होते हैं किन्तु अन्तर यह होता है कि सञ्चारीभाव रूप में चित्तवृत्तियाँ सर्वदा मुख्य चित्तवृत्ति रति इत्यादि स्थायी भावों के आधीन होती हैं (तथा उसे पुष्ट करती हैं।) इसीलिये (पोषकता साम्य को लेकर) सञ्चारी भाव को भी विभाव इत्यादि के साथ सम्मिलित कर दिया गया है। अतएव रसास्वादन की निष्पत्ति को ही रसनिष्पत्ति कहते हैं। रसास्वादन का अर्थ है ऐसी चर्वणा जिसमें प्रबन्धगत बन्धुसमागम इत्यादि कारणों से होनेवाली हर्ष इत्यादि लौकिक चित्तवृत्तियों को नीचा करके उच्चकोटि की एक नई ही चित्तवृत्ति का आविर्भाव होता है। अतः चर्वणा की अभिव्यक्ति ही होती है। जिस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा किसी पदार्थ के स्वरूप का ज्ञापन होता है उस प्रकार का ज्ञापन रस का नहीं हो सकता। जिस प्रकार दण्डचक्र इत्यादि के द्वारा घट इत्यादि का उत्पादन होता

लोचन

यम्। नन्वप्रमाणकमेतत्; न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मत्वादित्यलं बहुना। अतश्च रसोऽयमलौकिकः। येन ललितपरुषानुप्रासस्यार्थाभिधानानुपयोगिनोऽपि रसं प्रति व्यञ्जकत्वम्, का तत्र लक्षणायाः शङ्कापि? काव्यात्मकशब्दनिष्पीडनेनैव तच्चर्वणा दृश्यते। दृश्यते हि तदेव काव्यं पुनः पुनः पठंश्चर्व्यमाणश्च सहृदयो लोकः, न तु काव्यस्य; तत्र 'उपादायापि ये हेयाः' इति न्यायेन कृतप्रतीतिकस्यानुयोग एवेति शब्दस्यापीह ध्वननव्यापारः। अतएवालक्ष्यक्रमता। यत्तु वाक्यभेदः स्यादिति केनचिदुक्तम्, तदनभिज्ञतया। शास्त्रं हि सकृदुच्चारितं समयबलेनार्थं प्रतिपादयद्युगपद्विरुद्धानेकसमयस्मृत्ययोगात् कथमर्थद्वयं प्रत्याययेत्। अविरुद्धत्वे वा

तो अप्रमाणवाला है ? (उत्तर) ऐसा नहीं है क्योंकि यह स्वसंवेदन सिद्ध है। क्योंकि ज्ञानविशेष ही चवर्णात्मक होता है; वस अधिक की क्या आवश्यकता ? इसलिये यह रस अलौकिक है। क्योंकि अर्थाभिधान मे अनुपयुक्त ललित और परुष अनुप्रास का भी रस के प्रति अभिव्यञ्जकत्व होता है उसमे लक्षणा की शङ्का भी क्या ? काव्यात्मक शब्द के निष्पीडन से ही वह चर्वणा देखी जाती है। सहृदय लोक उसी काव्य को बार-बार पढते हुये और चर्वण करते हुये देखा जाता है; काव्य के (शब्द और अर्थ मे अनुरक्त होते हुये लोक) नहीं (देखा जाता)। उसमे 'उपादान करके भी जिनका परित्याग कर दिया जाता है' इस न्याय से जिसने प्रतीति कर दी है (अर्थ ज्ञान करा दिया है) उस (शब्द) का उपयोग नहीं होता इस प्रकार शब्द का भी यहाँ पर ध्वननव्यापार (होता है)। इसीलिये अलक्ष्यक्रमता (कही जाती है)। जो किसी ने कहा था कि वाक्यभेद हो जावेगा वह अनभिज्ञता के कारण। निस्सन्देह एक बार उच्चार किया हुआ शास्त्र सङ्केत के बल से अर्थ का प्रतिपादन करते हुये एक साथ विरुद्ध अनेक अर्थों के सङ्केत स्मरण के असम्भव होने के कारण किस प्रकार दो अर्थों का प्रत्यायन करा सकेगा

तारावती

है उस प्रकार रस का उत्पादन भी नहीं हो सकता। किन्तु इसका केवल अभिव्यञ्जन ही होता है।

(प्रश्न) यदि रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नहीं होता तो और होता क्या है ? (उत्तर) रस का ज्ञापन भी नहीं होता और उत्पादन भी नही होता यही तो रस की अलौकिकता है। (इसी अलौकिक क्रिया के लिये अभिव्यञ्जना नामक एक नया व्यापार मानना पड़ता है।) (प्रश्न) विभाव इत्यादि को आप कारक हेतु मानते हैं या ज्ञापक ? (उत्तर) न यह कारक ही

लोचन

तावानेको वाक्यार्थः स्यात् । क्रमेणापि विरम्य व्यापारायोगः । पुनरुच्चारितेऽपि वाक्ये स एव, समयप्रकरणादेस्तादवस्थ्यात् । प्रकरणसमयप्राप्यार्थतिरस्कारेणार्थान्तरप्रत्यायकत्वे नियमाभाव इति तेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम;' इति श्रुतौ खादेच्छ्वमांसमित्येष नार्थ इति का प्रमेति प्रसज्यते । तत्रापि न काचिदियत्तेत्यनाश्वासता इत्येवं वाक्यभेदो दूषणम् । इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणा विषयतोन्मुखमिति समयाद्युपयोगाभावः। न च नियुक्तोऽहमत्र करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीययिप्रतीतिसदृशमदः ।

विरुद्ध न होने पर उतना एक ही वाक्यार्थ हो जावेगा । क्रम से भी विरत होकर व्यापार होना असम्भव है । पुनः उच्चारण किये हुये वाक्य मे भी वही (अर्थ निकलेगा) क्योंकि संकेत और प्रकरण तो तदवस्थ ही रहते है । प्रकरण और सङ्केत से प्राप्य अर्थ के तिरस्कार के साथ दूसरे अर्थ के प्रत्यायन कराने में कोई नियम नहीं है इस प्रकार उससे 'स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र मे हवन करना चाहिये' इस श्रुति मे 'कुत्ते का मास खाना चाहिये' यह अर्थ नहीं है इसमें क्या प्रमाण है यह (दोष) प्रसक्त हो जावेगा । उसमे भी कोई इयत्ता नहीं है इसलिये अविश्वसनीयता हो जावेगी इस प्रकार वाक्यभेद दोष है । यहाँ पर तो प्रतिपादन किया जाता हुआ विभाव इत्यादि ही चर्वणाविषयता की ओर उन्मुख हो जाता है इस प्रकार सङ्केत इत्यादि के उपयोग का अभाव है । 'नियुक्त किया हुआ मैं (यह कार्य), करूँ'; 'मैं कृतार्थ हूँ' इस शास्त्रीय प्रतीति के समान यह नहीं है । वहाँ

तारावती

होता है न ज्ञापक ही किन्तु चर्वणोपयोगी नये ही प्रकार का हेतु होता है । (प्रश्न) अन्यत्र यह बात कहाँ देखी गई है कि कोई हेतु न कारक हो न ज्ञापक ? (उत्तर) कहीं अन्यत्र नहीं देखी गई है इसीलिये तो रस अलौकिक होता है । (प्रश्न) यदि कोई भी लौकिक दृष्टान्त नहीं मिलता तो रस तो अप्रामाणिक हो जावेगा ? (उत्तर) हो जावे तो उससे क्या ? (अप्रामाणिक होकर भी उसकी रसनीयता रूप कार्यकारिता तो बनी ही रहेगी ।) उसकी चर्वणा के द्वारा हृदय मे जो आस्वादन का आविर्भाव होता है उसी से प्रीति और व्युत्पत्ति (आनन्दास्वादन के साथ व्युत्पत्ति) सिद्ध हो जाती है उससे बढ़कर आपको और कौन सा प्रमाण चाहिये । (प्रश्न) इसमे कोई प्रमाण तो फिर भी प्राप्त नहीं हो सका ? (उत्तर) इसका स्वप्रकाशस्वरूप और स्वसंवेदन सिद्ध होना सबसे बडा प्रमाण है। (प्रश्न) जब रस-निष्पत्ति के लिये एक विशेष प्रकार की चर्वणा अभीष्ट होती है तब आप उसे स्वसंवेदन सिद्ध किस प्रकार कह सकते हैं ? (उत्तर) चर्वणा और कुछ भी नहीं एक

लोचन

तत्रोत्तरकर्तव्यौन्मुख्येन लौकिकत्वात्। इह तु विभावादिचर्वणाद्भुतपुष्पवत् तत्कालसारैवोदिता न तु पूर्वापरकालानुबन्धिनीति लौकिकास्वादाद्योगिविषयाच्चान्य एवायं रसास्वादः।

बाद के कर्म की ओर उन्मुख होने से लौकिकता है। यहाँ तो विभाव इत्यादि की चर्वणा अद्भुत पुष्प के समान उसी समय के (वर्तमानकाल के) सार के रूप में उदित (होती है) पूर्वापरकाल की अनुबन्धिनी नहीं होती इस प्रकार लौकिक आस्वाद और योगियों के विषय से यह रसास्वाद सर्वथा भिन्न ही है।

तारावती

प्रकार का ज्ञान ही है। अतः रस की स्वसंवेदनसिद्धता मे कोई त्रुटि नहीं आती। अधिक कहने की क्या आवश्यकता? (इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि रस सर्वथा अलौकिक होता है।) जब ललित और परुष अनुप्रास भी रस के अभिव्यञ्जक होते हैं जिनमे अर्थाभिधान तक की आवश्यकता नहीं होती तब लक्षणा के द्वारा रसाभिव्यक्ति के गतार्थ होने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती। काव्यात्मक शब्दों के निष्पीडन से ही रसचर्वणा देखी जाती है। प्रायः देखा जाता है कि सहृदय लोग उसी काव्य को बार-बार पढ़ते हैं और उसका स्वाद लेते हैं। काव्य के शब्द (तथा वाच्यार्थ) में आस्वाद नहीं होता (अपितु अभिव्यज्यमान रस की चर्वणा में ही आनन्द होता है)। चर्वणा के विषय में काव्य शब्द उपायभूत होते हैं, किन्तु उनके विषय मे उपाय की यह परिभाषा लागू होती है कि 'उपादान करके भी जिनका परित्याग कर दिया जाय उन्हे उपाय कहते है।' अतएव जिन काव्य शब्दों की प्रतीति हो चुकती है उनका उपयोग हो जाता है। अत. काव्य के लिये भी ध्वननव्यापार शब्द का प्रयोग होता है। अलक्ष्यक्रमत्व कहने का भी यही अभिप्राय है कि शब्द से रसाभिव्यक्ति हो जाती है। यदि बीच में अर्थ व्यवधान अनिवार्य हो तो अलक्ष्यक्रमत्व कहना सर्वथा असङ्गत हो जावे। कुछ लोग कहते है कि 'यदि व्यङ्गयार्थ की सत्ता मानी जावेगी तो वाक्यभेद मानना पड़ेगा' यह कथन सर्वथा अनभिज्ञता का परिचायक है। जब कोई वाक्य एक बार बोला जाता है तब जब वह सङ्केत के बल पर अर्थ प्रतिपादित करने लगता है तब एकसाथ दो अर्थों को किस प्रकार कह सकता है? यदि वे दोनों अर्थ एक दूसरे से परस्पर विरुद्ध हैं तो एकसाथ अनेक विरोधी सङ्केतों का स्मरण असम्भव है, यदि वे दोनों अर्थ परस्पर विरोधी न हो अर्थात् एक क्रिया में दोनों का अन्वय हो सकना सम्भव हो तो जितना भी बोध होता है उतना सम्पूर्ण एक

तारावती

ही वाक्यार्थ माना जावेगा (जैसे 'श्वेतो धावति' में 'श्वेतः' के दो अर्थ है 'श्वा + इतः' अर्थात् 'कुत्ता इधर से' तथा 'श्वेत वर्णवाला' दोनों मे विरोध नहीं है, अतः दोनों का एक क्रिया मे अन्वय हो जाता है । इसी प्रकार 'सर्वदोमाधवः पायात्' में 'सर्वदोमाधवः' के दो अर्थ हैं 'सब कुछ देनेवाले भगवान् कृष्ण' तथा 'सर्वदा + उमाधवः' अर्थात् 'सर्वदा भगवान् शङ्कर' यहाँ पर कृष्ण और शिव दोनों का एक क्रिया में अन्वय सम्भव है । अतः दोनों को मिलाकर एक ही वाक्यार्थ माना जाता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ।) एक अर्थ के बाद दूसरा अर्थ निकल नहीं सकता क्योंकि शब्दों की क्रिया रुक-रुककर होती नहीं । यदि दो बार भी वाक्य बोला जावे तो प्रकरण सामग्री इत्यादि तो वही बनी रहेगी । अतः दो विभिन्न अर्थ तो निकल ही नहीं सकेंगे । ऐसा कोई नियम नहीं कि प्रकरण और सङ्केत के आधार पर प्राप्त होनेवाले अर्थ का तिरस्कार करके बिल्कुल नया ही अर्थ ले लिया जावे । यदि ऐसा माना जावेगा तो 'स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र करना चाहिये ।' इस वाक्य का 'कुत्ते का मांस खाना चाहिये' यह अर्थ भी निकलने लगेगा और कोई व्यवस्था नहीं रह जावेगी। क्योंकि यह अर्थ नहीं होता इसमे प्रमाण ही क्या होगा ? उसमें भी फिर अर्थों की कोई सीमित संख्या नहीं रहेगी । अतः अर्थ की वास्तविकता पर विश्वास जम ही नहीं सकेगा । इस प्रकार वाक्यभेद एक दोष माना जाता है । यह तो हुई शास्त्रों की बात । किन्तु काव्य मे अभिधा के द्वारा विभाव इत्यादि का प्रतिपादन होता है और फिर विभाव इत्यादि रसचर्वणा की ओर उन्मुख हो जाते हैं । अतएव उनमें सङ्केत प्रकरण इत्यादि सामग्री की अपेक्षा नहीं होती । अन्य शास्त्रों मे शास्त्रीय वाक्यों से आदेश मिलता है । उनमे पाठक या परिशीलक यह अनुभव करता है कि मुझे शास्त्र ने अमुक कार्य मे नियुक्त किया है, अतः इस कार्य को करूँ, और जब वह शास्त्रीय विधि को पूरा कर चुकता है तब उसे यह अभिमान होता है कि मैं यह कार्य सफलतापूर्वक कर चुका । किन्तु ऐसा मद काव्य मे नहीं होता । शास्त्र लौकिक होते है क्योंकि उनमे उत्तर काल में (शास्त्राध्ययन के अनन्तर) कर्तव्य मे लगाया जाता है । किन्तु काव्य में ऐसा नहीं होता । अतः काव्य अलौकिक होते हैं । काव्य में विभाव इत्यादि की चर्वणा इन्द्रजाल में दिखलाये हुये पुष्प के समान वाक्यार्थबोधसमकाल मे ही होती है । पहले पीछे का इसमें कोई नियम नहीं होता । इसीलिये लौकिक आस्वाद तथा योगियों के विषय से रसास्वाद एक बिल्कुल भिन्न वस्तु है । इसीलिये विवक्षितान्यपरवाच्य के उदाहरण 'शिखरिणि क नु नाम ....' इत्यादि मे भी

लोचन

अतएव 'शिखरिणि' इत्यादावपि मुख्यार्थबाधादिक्रममनपेक्ष्यैव सहृदया वक्तुरभिप्रायं चाटुप्रीत्यात्मकं संवेदयन्ते। अत एव ग्रन्थकारः सामान्येन विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनौ भक्तेरभावमभ्यधात्। अस्माभिस्तु दुर्दुरूटं प्रत्याययितुमुक्तम्—भवत्वत्र लक्षणा, अलक्ष्यक्रमे तु कुपितोऽपि किं करिष्यसीति। यदि तु न कुप्यते 'सुवर्णपुष्पाम्' इत्यादावविवक्षितवाच्येऽपि मुख्यार्थबाधादिलक्षणासामग्रीमनपेक्ष्यैव व्यङ्ग्यार्थविश्रान्तिरित्यलं बहुना। उपसंहरति—तस्माद्भक्तिरिति ॥ १८ ॥

अतएव 'शिखरिणि' इत्यादि में भी मुख्यार्थबाध इत्यादि क्रम की अपेक्षा बिना किये हुये ही सहृदय लोग वक्ता के चाटुप्रतीतिरूप अभिप्राय को जान लेते हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने सामान्यतया विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में भक्ति का अभाव बतला दिया। हमने तो विरोधियों की टर-टर का प्रत्यायन कराने के लिये कह दिया—यहाँ लक्षणा हो जावे; अलक्ष्यक्रम मे तो कुपित होकर भी क्या कर लोगे! यदि कुपित नहीं होते हो तो 'सुवर्णपुष्पा' इत्यादि अविवक्षितवाच्य मे भी मुख्यार्थबाध इत्यादि लक्षणा सामग्री की बिना ही अपेक्षा किये हुये व्यङ्ग्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बस अधिक की क्या आवश्यकता? उपसंहार करते है—तस्माद्भक्तिः इत्यादि ॥ १८ ॥

तारावती

वाच्यार्थबाध इत्यादि क्रम की बिना ही अपेक्षा किये हुए सहृदय लोग चाटुकारिता और प्रसन्नता रूप वाक्यार्थ को समझ लेते हैं। यही कारण है कि ग्रन्थकार ने सामान्य रूप से विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में लक्षणा का न होना ही स्वीकार कर लिया है। मैंने केवल विरोधियों की टरटराहट को शान्त करने के लिये (दुर्जनतोष न्याय से) यह कह दिया कि विवक्षितान्यपरवाच्य के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के उदाहरण (शिखरिणि क्वनुनाम''''''इत्यादि) में जैसे तैसे बीच मे लक्षणा मान भी ली जावे फिर भी तुम असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि मे क्या करोगे? (उसके लिये तो व्यञ्जनावृत्ति मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नही। अरे भाई क्रोध का क्या काम सच्ची बात कहनी चाहिये।) यदि क्रोध का काम नहीं और तुम कुपित न हो जाओ तो हम तो यहाँ तक कहने को उद्यत हैं कि अविवक्षित वाच्य के उदाहरण 'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीम्''''' इत्यादि मे भी लक्षणा की सामग्री सन्निहित होते हुये भी उसकी बिना ही अपेक्षा किये व्यङ्ग्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बस, इस विषय में मुझे इतना ही कहना है, अधिक की क्या आवश्यकता! इसीलिये कहा गया है कि ध्वनि का लक्षण भक्ति कभी नहीं हो सकती।

ध्वन्यालोकः

कस्यचिद्ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत; यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः।

(अनु०) वह लक्षणा सम्भवतः किसी ध्वनिभेद का उपलक्षण हो जावे।

आगे चलकर ध्वनि के जो भेदोपभेद बतलाये जावेंगे उनमें किसी एक भेद का उपलक्षण सम्भवतः लक्षणा हो जावे। यदि कहो कि सारी ध्वनि (उपलक्षण के रूप में) गुणवृत्ति के द्वारा ही लक्षित हो जावेगी तो इसपर मेरा कहना यह है कि अभिधा व्यापार के द्वारा उससे भिन्न सारा अलङ्कारवर्ग लक्षित ही हो जावेगा फिर प्रत्येक अलङ्कार का पृथक्-पृथक् लक्षण बनाना व्यर्थ ही हो जावेगा।

लोचन

ननु मा भूद्ध्वनिरिति भक्तिरिति चैकं रूपम्। मा च भूद्भक्तिर्ध्वनेर्लक्षणम्। उपलक्षणं तु भविष्यति, यत्र ध्वनिर्भवति तत्र भक्तिरप्यस्तीति भवत्युपलक्षितो ध्वनिः। न तावदेतत्सर्वत्रास्ति, इयता च किं परस्य सिद्धम्? किंवा नः त्रुटितम्? इति तदाह-कस्यचिदि-

(प्रश्न) ध्वनि और भक्ति ये दोनों एकरूप न हों; ध्वनि भक्ति का लक्षण भी न हो; उपलक्षण तो हो जावेगी—जहाँ ध्वनि होती है वहाँ भक्ति भी होती है इस प्रकार ध्वनि भक्ति से उपलक्षित होती है। यह सर्वत्र नहीं होता इससे क्या दूसरे (विरोधी) का बन गया और क्या हमारा बिगड़ गया? (उत्तर) इसी का उत्तर देते हैं—कस्यचित् इत्यादि।

तारावती

(लक्षणापक्ष के उत्थान में तीन विकल्पों की कल्पना की थी (१) लक्षणा ध्वनि का स्वरूप हो सकती है। (२) लक्षणा ध्वनि का लक्षण हो सकती है। (३) लक्षणा ध्वनि का उपलक्षण हो सकती है। पिछले प्रकरण में दो पक्षों का विस्तारपूर्वक निराकरण कर दिया गया। अब तीसरे पक्ष को लीजिये—प्रायः ऐसा होता है कि लक्षणकार समस्त समूह में किसी एक तत्व का परिचय दे देते हैं। उसी के आधार पर शेष समूह भी समझ लिया जाया करता है। इसे उपलक्षण कहते हैं। उपलक्षणवादियों का आशय यह है कि ध्वनि का कोई एक भेद तो ऐसा होता ही है जिसमें लक्षणा विद्यमान हो। तब उसे उपलक्षण मान कर शेष भेदों का उसी में समाहार हो जावेगा, ध्वनि के पृथक् लक्षण करने की

लोचन

त्यादि । ननु भक्तिस्तावच्चिरन्तनैरुक्ता तदुपलक्षणमुखेन च ध्वनिमपि समग्रभेदं लक्षयिष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च। किं तल्लक्षणेनेत्याशङ्क्याह—यदि चेति । अभिधानाभिधेय-भावो ह्यलङ्काराणां व्यापकः, ततश्चाभिधावृत्ते वैय्याकरणमीमांसकैर्निरूपिते कुत्रेदानीम-लङ्कारकाराणां व्यापारः । तथा हेतुबलात्कार्यं जायत इति तार्किकैरुक्ते किमिदानी-मीश्वरप्रभृतीनां कर्तॄणां ज्ञातॄणां वा कृत्यमपूर्वं स्यादिति सर्वो निरारम्भः स्यात् । तदाह—लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति ।

(प्रश्न) भक्ति तो प्राचीनों के द्वारा कही गई है । उसके उपलक्षण के द्वारा समग्रभेदोंवाली ध्वनि को भी लक्षित कर लेंगे और जान जावेंगे । फिर उसके लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता ? यह शङ्का करके कहते हैं—यदि च इत्यादि । अभिधान और अभिधेयभाव अलङ्कारों का व्यापक है फिर अभिधाव्यापार के वैय्याकरण और मीमांसकों द्वारा निरूपित कर दिये जाने पर अलङ्कार (शास्त्र)-कारों का व्यापारक्षेत्र कहाँ होगा ? उसी प्रकार हेतु के बल से कार्य होता है यह तार्किकों के द्वारा कह दिये जाने पर ईश्वरप्रभृति कर्ताओं और ज्ञाताओं का अपूर्वकृत्य क्या होगा ? इस प्रकार सभी कुछ आरम्भ हो जावेगा । वह कहते है—'लक्षणकरणवैय्यर्थ्यप्रसंग' यह ।

तारावती

क्या आवश्यकता ? अब इसी पक्ष पर विचार किया जा रहा है ।) (प्रश्न) ध्वनि और भक्ति की एकरूपता न मानी जावे, ध्वनि का लक्षण भी भक्ति न हो किन्तु उपलक्षण तो हो ही सकती है । कुछ ऐसे भी स्थल होते हैं जहाँ ध्वनि होती है और वहाँ भक्ति होती ही है, बस इतना ही पर्याप्त है; भक्ति के द्वारा ध्वनि उपलक्षित हो जावेगी । ध्वनि के समस्त भेदों मे भक्ति नहीं होती इससे हमारे प्रतिपक्षियों का क्या काम बन जाता है या हमारा क्या बिगड़ जाता है ? इसी का उत्तर देने के लिये यह कारिका लिखी गई है कि लक्षणा किसी भेद का उपलक्षण हो सकती है । अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि चिरन्तन आचार्यों ने भक्ति का पूर्णरूप से निरूपण कर दिया । उसी को उपलक्षण मानकर समग्र भेदवाली ध्वनि को लक्षित भी कर लेंगे और जान भी जावेंगे । फिर ध्वनि का लक्षण बनाने की क्या आवश्यकता ? इसी आक्षेप का उत्तर वृत्तिकार ने इस प्रकार दिया है—सभी अलङ्कारों मे अभिधान और अभिधेय भाव व्यापक रूप में रहता है । अभिधावृत्ति का पूर्ण निरूपण वैय्याकरणों और मीमांसकों ने कर ही दिया था । फिर अलङ्कारशास्त्र का प्रणयन करनेवाले आचार्यों का काम ही क्या शेष रह गया ? इसीप्रकार तार्किकों ने जब यह कह ही दिया कि हेतु के

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥ ९ ॥

कृतेऽपि वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः यस्माद्ध्वनिरस्तीति नः पक्षः। स च प्रागेव संसिद्ध इत्ययत्नसम्पन्न समीहितार्थाः संवृत्ताः स्मः। येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेष-लक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत्सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्। यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायितैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव।

(अनु०) और भी—यदि अन्य आचार्यो ने इस ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो इससे तो हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है।

यदि पहले कुछ आचार्यों ने ध्वनि का लक्षण कर दिया है तो भी हमारे ही पक्ष की सिद्धि होती है। क्योंकि हमारा पक्ष है कि ध्वनि है। वह पहले ही सिद्ध हो गया; इस प्रकार हमारा समीहित अर्थ तो विना ही प्रयत्न के सम्पन्न हो गया। जिन लोगों ने यह कहा कि 'ध्वनि की आत्मा (तत्व) सहृदयहृदयसंवेद्य ही है उसका आख्यान हो ही नहीं सकता।' वे भी सोच-समझकर कहनेवाले नहीं हैं। क्योंकि जो नीति हम वतला चुके हैं या जो आगे चलकर वतलाई जावेगी उससे ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षणों के प्रतिपादित कर देने पर भी यदि यही कहा जावेगा कि ध्वनि का प्रकथन हो ही नहीं सकता तो यह बात तो सभी के विषय में लागू हो जावेगी। यदि इस अतिशयोक्ति के द्वारा वे लोग ध्वनि के स्वरूप के विषय में यह कह रहे हैं कि ध्वनि दूसरे काव्यों का अतिक्रमण करती है तो वे भी ठीक ही कहते हैं।

लोचन

माभूद्वाऽपूर्वोन्मीलनं पूर्वोन्मीलितमेवास्माभिः सम्यङ् निरूपितं तथापि को दोष इत्यभिप्रायेणाह-किञ्चेत्यादि। प्रागेवेति। अस्मत्प्रयत्नादिति शेषः। एवं त्रिप्रकारमभाव-वादं, भक्त्यन्तर्भूततां च निराकुर्वता अलक्षणीयत्वमेतन्मध्ये निराकृतमेव। अत एव

अथवा अपूर्व उन्मीलन न हो पूर्वोन्मीलित को ही हम लोगों ने ठीक रूप में निरूपित कर दिया है फिर भी क्या दोष है? इस अभिप्राय से कहते हैं—'किंच' यह। 'प्रागेव' यह। 'हमारे प्रयत्न से' यह शेष है (अर्थात् हमारे प्रयत्न से पहले)। इस प्रकार तीन प्रकार के अभाववाद और भक्ति के अन्तर्भाव का निराकरण करते हुए इसके बीच में अलक्षणीयत्व का निराकरण कर ही दिया। अतएव उसके साक्षात्

लोचन

मूलकारिका साक्षात्तन्निराकरणार्था न श्रूयते। वृत्तिकृत्तु निराकृतमपि प्रमेयशय्यापूरणाय कण्ठेन तत्पक्षमनूद्य निराकरोति—येपीत्यादिना। उक्तया नीत्या 'यत्रार्थः शब्दो वा' इति सामान्यलक्षणं प्रतिपादितम्। वक्ष्यमाणया तु नीत्या विशेषलक्षणं भविष्यति—'अर्थान्तरे सङ्क्रमितम्' इत्यादिना। तत्र प्रथमोद्योते ध्वनेः सामान्यलक्षणमेव कारिकाकारेण कृतम्। द्वितीयोद्योते कारिकाकारोऽवान्तरविभागं विशेषलक्षणं च विदधदनुवादमुखेन मूलविभागं द्विविधं सूचितवान्। तदाशयानुसारेण तु वृत्तिकृदत्रैवोद्योते मूलविभागमवोचत्—'स च द्विविधः' इति। सर्वेषामिति—लौकिकानां शास्त्रीयाणां चेत्यर्थः। अतिशयोक्त्येति। यथा—तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति' इति वदतिशयोक्त्यानाख्येयतोक्ता साररूपतां प्रतिपादयितुमितिदर्शितमिति-शिवम्॥ १९॥

निराकरण के अर्थवाली मूलकारिका नहीं सुनाई देती है। वृत्तिकार तो निराकरण किये हुये को भी प्रमेयशय्या की पूर्ति के निमित्त कण्ठ से उस पक्ष का अनुवाद कर दूषित कर रहे है—'येऽपीत्यादि'। उक्त नीति से 'यत्रार्थः शब्दो वा' इस सामान्य लक्षण का प्रतिपादन कर दिया। आगे चलकर कही जानेवाली नीति से 'अर्थान्तरे संक्रमितम्' इत्यादि के द्वारा विशेष लक्षण हो जावेगा। उसमे प्रथम उद्योत मे कारिकाकार ने सामान्य लक्षण ही किया। द्वितीय उद्योत में कारिकाकार ने अवान्तरविभाग और विशेष लक्षण को बनाते हुए अनुवाद मुख से दो प्रकार के मूल विभाग की सूचना दी। उसके आशय के अनुसार वृत्तिकार ने इसी उद्योत मे मूल विभाग को कह दिया—'वह दो प्रकार का है' यहाँ 'सभी का' अर्थात् लौकिको का और शास्त्रीयों का। 'अतिशयोक्ति के द्वारा' यह। जैसे 'वे अक्षर हृदय मे कुछ स्फुरित कर रहे हैं' इसके समान अतिशयोक्ति के द्वारा साररूपता के प्रतिपादन के लिये कथन की अशक्यता दिखलाई गई। इस प्रकार सब कल्याणकारक हो॥१९॥

तारावती

द्वारा कार्य की उत्पत्ति होती है तब फिर ईश्वर इत्यादि विभिन्न कारणों कार्यों ज्ञाताओं इत्यादि का निरूपण क्या कार्य रह जावेगा? इस प्रकार शास्त्रों का सारा उद्योग ही व्यर्थ हो जावेगा। (आशय यह है कि किसी सामान्य बात को कह देने के बाद उसके विशेष प्रतिपादन की आवश्यकता होती ही है। अतः लक्षणा को उपलक्षण मान लेने पर भी ध्वनि का समस्त प्रपञ्च तथा उसका निरूपण व्यर्थ नहीं हो जाता।)

तारावती

अथवा यह भी माना जा सकता है कि ध्वनि का निरूपण कोई नई वस्तु नहीं। पुराने आचार्यों ने जिसका उन्मीलन कर दिया है उसी का सम्यक् निरूपण हमने कर दिया है। ऐसा मानने में भी क्या दोष? इसी अभिप्राय से उन्नीसवीं कारिका का उत्तरार्ध लिखा गया है। इसका आशय यह है कि यदि पहले ही और लोगों ने ध्वनि का निरूपण कर दिया है तो इससे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है कि ध्वनि विद्यमान है (और वह काव्य की आत्मा भी है)। पहले ही लिखने का आशय है हमारे लिखने के पहले। (आशय यह है कि यदि प्रतिपक्षी यह कहें कि ध्वनिकार से पहले ही अन्य आचार्यों ने लक्षणा का प्रतिपादन किया था। लक्षणा की व्याख्या उपलक्षणपरक करने से ध्वनि का लक्षण स्वतः हो जाता है। अतः ध्वनि का प्रतिपादन कोई नई वस्तु नहीं। प्रतिपक्षियों का यह कथन तो ध्वनिकार के दावे को ही सिद्ध करता है कि ध्वनि होती है। अतः प्रतिपक्षियों के इस कथन से ध्वनिकार का कुछ नहीं बिगड़ता।) ध्वनि-प्रस्तावना मे विरोधियों के ५ मतों का उल्लेख किया गया था—३ अभाववाद सम्बन्धी, १ लक्षणा में अन्तर्भाव और १ अशक्यवक्तव्यत्ववादी। इस उद्योत मे अभाववाद के तीनों पक्षों का निराकरण कर दिया गया और यह भी सिद्ध कर दिया गया कि ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अब अशक्यवक्तव्यत्ववाद का निराकरण शेष रह गया। इसके लिये ध्वनिकार की एक-आध कारिका होनी चाहिये थी। किन्तु जब तीन प्रकार के अभाववाद का निराकरण हो गया और ध्वनि की लक्षणा वृत्ति-गम्यता भी निराकृत कर दी गई तब अशक्यवक्तव्यत्ववाद का निराकरण भी स्वाभाविक रूप में ही हो गया। अतएव उसके निराकरण के लिये कोई मूल कारिका सुनाई नहीं देती। किन्तु वृत्तिकार ने प्रमेय सन्निवेश को पूरा करने के लिये अभिधावृत्ति में ही उसको अनूदित कर निराकृत कर दिया है। वह इस प्रकार है—'जो लोग ध्वनि को सहृदयहृदयसंवेद्यमात्र कहकर उसकी निर्वचनानर्हता का प्रतिपादन करते हैं वे भी सोच-समझकर नहीं बोलते, क्योंकि कही हुई तथा कही जानेवाली नीति से ध्वनि के सामान्य विशेष लक्षणों के प्रतिपादन कर देने पर भी यदि उसको अनाख्येय कहा जावेगा तो यह बात तो सभी के विषय में घटित हो जावेगी।' यहाँ पर कही हुई नीति का आशय है ध्वनि परिभाषा की कारिका—'यत्रार्थः शब्दो वा......इत्यादि।' कही जानेवाली नीति का आशय है—'अर्थान्तरे संक्रमितम्' इत्यादि कारिका के द्वारा उसके भेदोपभेद किया जाना। प्रथम उद्योत में कारिका-कार ने सामान्य लक्षण ही किया है। दूसरे उद्योत में विशेष लक्षण तथा अवान्तर भेद किये गये हैं। किन्तु कारिकाकार ने यह नहीं कहा कि उसके भेद

तारावती

कितने होते हैं ? केवल अवान्तर भेदों का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया । विशेष लक्षण तथा अवान्तर भेदों का परिचय देते हुए ध्वनिकार ने यह सूचित कर दिया कि ध्वनि मूल रूप में दो प्रकार की होती है । इसी आशय के अनुसार वृत्तिकार ने प्रथम उद्योत में ही लिख दिया कि 'वह ध्वनि दो प्रकार की होती है' । 'सभी के विषय में लागू हो जावेगी' इस कथन में सभी का अर्थ है सभी लौकिक तथा शास्त्रीय विषयों में । (आशय यह है कि इस ग्रन्थ ध्वन्यालोक में ध्वनि का सामान्य लक्षण भी दिखा दिया गया और विशेष भी । अतः इस बात का स्वतः निराकरण हो गया कि ध्वनि का लक्षण बन ही नहीं सकता ।) अथवा 'ध्वनि का लक्षण नहीं बनाया जा सकता' इस कथन में अतिशयोक्ति मानी जा सकती है और इसका आशय यह माना जा सकता है कि ध्वनि काव्यतत्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । उसका महत्त्व इतना अधिक है कि वह सभी काव्यतत्वों का अतिक्रमण करनेवाला होता है । यहाँपर अतिशयोक्ति का आशय है कि उसका प्रकथन किया ही नहीं जा सकता यह कथन उस ध्वनि का प्रशंसापरक मात्र है । जैसे—

निद्रानिमीलितदृशो मदमन्थराया
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्याः
तान्यक्षराणि हृदये किमपि स्फुरन्ति ॥

'निद्रा के कारण आधी आँखों को बन्द किये हुए उस मृगनयनी ने मद से मन्थर कुछ ऐसे मधुर अक्षरों का उच्चारण किया जो न तो सार्थक ही थे न निरर्थक ही । आज भी वे अक्षर मेरे हृदय में किसी भावना का स्फुरण कर रहे हैं ।' यहाँ किसी नई भावना का अर्थ है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता अर्थात् जो महत्त्वपूर्ण हैं । इस प्रकार ध्वनि का आख्यान नहीं किया जा सकता इन शब्दो का यह अर्थ हो सकता है कि ध्वनि एक सारगर्भित पदार्थ है । बस ध्वनि स्थापना के विषय में मुझे (अभिनव गुप्त को) यही कहना है । (तृतीय उद्योत में अनिर्वचनीय पक्ष की विशेष मीमांसा की गई है वहीं देखी जानी चाहिये ।) यह मेरी व्याख्या मेरे समस्त पाठकों को शिवरूपिणी हो ।

क्या लोचन के न होने पर चन्द्रिका से भी आलोक की शोभा हो सकती है ? इसीलिये अभिनव गुप्त ने लोचनोन्मीलन किया है । (आशय यह है कि यदि चाँदनी छिटकी हुई हो प्रकाश फैल रहा हो तो भी जिसके आँखें नहीं हैं वह प्रकाश का आनन्द नहीं ले सकता । इसीप्रकार ध्वन्यालोक पर चन्द्रिका नाम

लोचन

किं लोचनं विनालोको भातिचन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात् ॥
यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते
सहृदयालोकलोचने ध्वनिसङ्केतो नाम
प्रथम उद्योतः ।

क्या लोचन के विना चन्द्रिका से भी आलोक शोभित होता है ? इससे अभिनवगुप्त ने यहाँ पर लोचनोन्मीलन कर दिया ।

जिसकी उन्मीलनी शक्ति के द्वारा ही विश्व क्षणभर मे उन्मीलित हो जाता है, अपनी आत्मारूपी आयतन में विश्राम करनेवाली उस कल्याणकारिणी प्रतिभा की हम वन्दना करते हैं । अथवा प्रतिभा अर्थात् ज्ञानरूपिणी शिवा (पार्वती) की हम वन्दना करते हैं ।

यह है महामाहेश्वर आचार्यवर अभिनव गुप्त द्वारा उन्मीलित
सहृदयालोक-लोचन में ध्वनिसङ्केत नामक
प्रथम उद्योत ।

तारावती

की एक टीका लिखी जा चुकी थी । यह इतनी अपूर्ण तथा अस्पष्ट थी कि साधारण पाठक ध्वन्यालोक के रहस्य को इस टीका के द्वारा इसी प्रकार नहीं समझ सकता था जिस प्रकार चाँदनी का सहारा लेकर कोई नेत्रहीन व्यक्ति आलोक का आनन्द नहीं ले सकता । इसीलिए अभिनव गुप्त ने लोचन टीका में पाठकों की आँखें खोलने की चेष्टा की है ।)

जिन भगवती पार्वती जी की प्रकाशन शक्ति से ही सारा विश्व क्षणभर में प्रकाशित हो जाता है । (अर्थात् जैसे ही भगवती पार्वती अपने कृपा-कटाक्ष से हृदय तत्व को उन्मीलित कर देती है वैसे ही सारा विश्व करतलामलकवत् विना किसी अन्य उपकरण के हमारे अन्तःकरणों में एक दम उद्भासित होने लगता है ।) जो केवल अपने स्वरूप में ही अवस्थित हैं । अथवा ब्रह्मचिन्मय रूपी आयतन मे

तारावती

जिनका स्वरूपतः निवास है जो ज्ञानस्वरूपिणी हैं जिनका नाम शिवा है उस आदिशक्ति की हम वन्दना करते हैं।

अथवा जिस प्रतिभा के प्रकाशन योग से सारा विश्व क्षणभर में प्रतिभासित होने लगता है। (अर्थात् कवि-प्रतिभा के अन्तःकरण में जागरूक होते ही कवि त्रिलोकदर्शी बन जाता है। पुरानी से पुरानी वस्तुयें उसे चिर नवीन और चिर सुन्दर प्रतीत होती हैं तथा कवि प्रतिभा के सहकार से कोई कुरूप से कुरूप वस्तु रमणीय बन जाती है) जो प्रतिभा निरन्तर अपनी आत्मा में ही वासना रूप में विद्यमान रहती है, जो शिवा है अर्थात् रसावेश के कारण विशद भी है, सुभग भी है और आनन्द विधायिनी भी है तथा लोकमङ्गल का सम्पादन करनेवाली है। उस कविप्रज्ञा की हम वन्दना करते हैं।

इति तारावत्यां समाप्तोऽयं प्रथम उद्योतः।

DHVANYĀLOKA

of

SHRI ANANDVARDHANACHARYA

with the

LOCHAN COMMENTARY

by

SHRI ABHINAVA GUPTA

along with

FULL HINDI TRANSLATION OF BOTH THE TEXTS

and

TARAWATI VYAKHYA

by

Dr. RAM SAGAR TRIPATHI,
M.A., Ph.D., Acharya

SECOND UDYOT

Moti Lal Banarsi Dass

DELHI — VARANASI — PATNA

ध्वन्यालोकः

श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यविरचितः

श्रीमदभिनवगुप्त-विरचित 'लोचन' व्याख्यासहितः
सम्पूर्णेन हिन्दीभाषानुवादेन तारावती-
समाख्यया व्याख्यया च परिगतः

व्याख्यालेखकः—
डा० रामसागर त्रिपाठी
एम० ए०, पीएच० डी०, आचार्यः

द्वितीय उद्योतः

प्रकाशकः—
मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

प्रकाशक—
श्री सुन्दरलाल जैन
© मोतीलाल बनारसीदास
पो० ब० ७५, नेपालीखपरा
वाराणसी

मुद्रक—
सोमारुराम
गौरीशंकर प्रेस,
वाराणसी।

प्रथम संस्करण १९६३ ई०

मूल्य ६)

सब प्रकार की पुस्तकें निम्नलिखित स्थानों से प्राप्त करें—

१. मोतीलाल बनारसीदास, बँगलोरोड, जवाहर नगर, दिल्ली-६
२. मोतीलाल बनारसीदास, पो० ब० ७५, नेपालीखपरा, वाराणसी
३. मोतीलाल बनारसीदास, माहेश्वरी मार्केट, बांकीपुर, पटना

समर्पण

वत्सलता-प्रतिमूर्ति स्नेहमयी जननी

श्रीमती फूलमती देवी की

दिवङ्गत आत्मा के परितोष के निमित्त

यह अभिनव तारावती

सादर समर्पित है।

विषय-सूची

द्वितीय उद्योत

ध्वन्यालोकः

द्वितीय उद्योतः

एवमविवक्षितवाच्य-विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते—

अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥ १॥

(अनु०) इस प्रकार (प्रथम उद्योत में) दो प्रकार की ध्वनि प्रकाशित की गई थी—(१) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक)। उनमें अविवक्षितवाच्य के अवान्तर भेद तथा विवक्षितान्यपरवाच्य से उसके भेद का प्रतिपादन करने के लिये यह कहा जा रहा है:—

'अविवक्षतवाच्य ध्वनि का वाच्य दो प्रकार का होता है-(१) अर्थान्तर में सङ्क्रमित अथवा अत्यन्ततिरस्कृत।'

लोचन

या स्मर्यमाणा श्रेयांसि सूते ध्वंसयते रुजः।
तामभीष्टफलोदारकल्पवल्लीं स्तुवे शिवाम्॥

वृत्तिकारः सङ्गतिमुद्योतस्य कुर्वाण उपक्रमते—एवमित्यादि। प्रकाशित इति। मयावृत्तिकारेण सतेतिभावः। न चैतन्मयोत्सूत्रमुक्तम्, अपि तु कारिकाकाराभिप्राये-णेत्याह तथेति। तत्र द्विप्रकारप्रकाशने वृत्तिकारकृते यन्निमित्तं बीजभूतमिति सम्बन्धः।

लोचन

जो स्मरण की हुई कल्याणों को उत्पन्न करती है और रोगों को ध्वस्त करती है, अभीष्ट फलों के लिये उदार कल्पलता (भगवती) उस शिवा की हम स्तुति करते है।

वृत्तिकार उद्योत की सङ्गति करने के लिये उपक्रम कर रहा है—एवम् इत्यादि। प्रकाशित इति। अर्थात् वृत्तिकार होते हुये मेरे द्वारा। यह मैंने सूत्र का उल्लङ्घन करके नहीं कहा अपितु कारिकाकार के अभिप्राय से ही यह कह रहे हैं—तत्र इति। उसमे अर्थात् वृत्तिकार के किये हुये दो प्रकार के प्रकाशन में जो निमित्त अर्थात् बीजभूत है, यह सम्बन्ध है।

तारावती

द्वितीय उद्योत के प्रारम्भ में भी लोचनकार ने मङ्गलाचरण किया है। वस्तुतः शास्त्रीय परम्परा मध्य में भी मङ्गलाचरण करने का प्रतिपादन करती है—

लोचन

यदि वा—तत्रेति पूर्वं शेषः। तत्र प्रथमोद्योते वृत्तिकारेण प्रकाशितः अविवक्षित-वाच्यस्य यः प्रभेदोऽवान्तरप्रकारस्तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। तदवान्तरभेदप्रतिपादन-

अथवा यहाँ पर 'तत्र' यह पहले शेष रह गया। उसमें प्रथम उद्योत में वृत्ति-कारके द्वारा प्रकाशित किया हुआ अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद अर्थात् अवान्तर प्रकार है उसके प्रकाशन के लिये यह कहा जा रहा है। उसके अवान्तर भेद के

तारावती

(मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते।) अभिनवगुप्त शैव थे। इसीलिये उन्होंने यहाँपर भगवती शिवा (पार्वती) की वन्दना की है—'जो भगवती पार्वती स्मरण करते ही अपने भक्तों के आनन्द-मङ्गल को उत्पन्न करती हैं तथा उनके रोगों और आपत्तियों को ध्वस्त करडालती हैं; वे भगवती अभीष्ट फल देने में उदार कल्पलता के समान हैं, मैं उन्हीं कल्याणकारिणी भगवती पार्वती की वन्दना कर रहा हूँ।' एक दूसरे पद्य मे अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को भी 'शिवा' कहा है। यदि यहाँ पर प्रतिभा का अर्थ लगाया जावे तो इसका आशय होगा—भगवती प्रतिभा देवी की जैसे ही उपासना की जाती है वैसे ही मानव के आनन्द-मङ्गल का विधान हो जाता है और सारे कष्ट कट जाते हैं। वस्तुतः काव्य का परिशीलन एक ओर ब्रह्मानन्द-सहोदर आनन्द का विधान करता है, दूसरी ओर लोकवृत्त में पटुता प्रदान कर अकल्याण का नाश करता है। इससे अनायास चतुर्वर्गफलप्राप्ति हो जाती है। इसीलिये प्रतिभा को सभी फल देने के लिये उदार कल्पलता बतलाया गया है।

[प्रथम उद्योत मे लक्षणापक्ष के निराकरण की सुविधा के लिये आलोक-कार ने ध्वनि के दो भेद कर लिये थे—अविवक्षितवाच्य ध्वनि तथा विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि। यद्यपि इस प्रकार का विभाजन कारिकाकार ने नहीं किया, तथापि इन दोनों भेदों के अवान्तर भेदों का निरूपण प्रस्तुत प्रकरण मे किया गया है जिससे उक्त भेद कारिकाकार के सम्मत सिद्ध होते हैं। आलोककार ने यहाँ पर अपने उक्त ग्रन्थ की सङ्गति कारिकाकार से लगाते हुये ही प्रस्तुत उद्योत का प्रारम्भ किया हे।] ग्रन्थकार प्रथम उद्योत की सङ्गति द्वितीय उद्योत से लगाते हुये (इस द्वितीय उद्योत का) प्रारम्भ कर रहे हैं। यहाँपर वृत्तिकार का आशय यह है कि मैंने वृत्तिकार होने के नाते ध्वनि के दो प्रकारो को प्रकाशित किया था। यह मैंने सूत्र का उल्लङ्घन करके नहीं कहा था। अर्थात् जो कुछ मैंने कहा था वह सूत्रकार को अभिप्रेत न हो ऐसी बात नहीं थी, कारिकाकार को भी ये भेद अभिप्रेत ही है। इसी अभिप्राय से यहाँपर लिखा गया है कि 'अविवक्षित-वाच्य के उपभेदों का प्रतिपादन करने के लिये प्रथम कारिका लिखी गई है।

लोचन

द्वारेणैव चानुवादद्वारेणाविवक्षितवाच्यस्य यः प्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यात्प्रभिन्नत्वं तत्प्रतिपादनायेदमुच्यते। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि सम्मतमेवेति-भावः। सङ्क्रमितमिति णिचा व्यञ्जनाव्यापारे यः सहकारिवर्गस्तस्यायं प्रभाव इत्युक्तं तिरस्कृतशब्देन च। येन वाच्येन अविवक्षितेन सताऽविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्व्यप-दिश्यते तद्वाच्यं द्विधेति सम्बन्धः। योऽर्थ उपपद्यमानोऽपि तावतैवानुपयोगाद्धर्मान्तर-संवलनयान्यतामिव गतो लक्ष्यमाणोऽनुगतधर्मी सूत्रन्यायेनास्ते स रूपान्तरपरि-णत उक्तः। यस्त्वनुपपद्यमान उपायतामात्रेणार्थान्तरप्रतिपत्तिं कृत्वा पलायत इव स तिरस्कृत इति।

प्रतिपादन के द्वारा ही और अनुवाद के द्वारा अविवक्षितवाच्य का जो प्रभेद अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य से प्रभिन्नत्व उसके प्रतिपादन के द्वारा यह कहा जा रहा है यह भाव है। 'संक्रमितम्' में णिच् के द्वारा व्यञ्जनाव्यापार में जो सहकारी वर्ग है उसका यह प्रभाव है यह कहा गया और तिरस्कृत शब्द के द्वारा भी यही कहा गया। जिस वाच्य के अविवक्षित होते हुये अविवक्षितवाच्य यह नाम-करण होता है वह वाच्य दो प्रकार का होता है; यह सम्बन्ध है। अनुपपन्न होते हुये भी जो अर्थ उतने से ही अनुपयोग होने के कारण दूसरे धर्म के सम्मिलन से दूसरा सा होकर लक्षित होता है तथा सूत्रन्याय से धर्मी से अनुगत होकर विद्यमान होता है वह रूपान्तरपरिणत कहा गया है। और जो अनुपपन्न होते हुए केवल उपाय रूपसे ही दूसरे अर्थ की प्रतीति करके पलायन कर जाता है वह तिरस्कृत यह (कहा जाता है)।

तारावती

आशय यह है कि वृत्तिकार ने ध्वनि के दो भेदों का जो प्रकाशन किया था उसमें बीजभूत निमित्त प्रस्तुत कारिकायें ही हैं। अथवा 'तत्र' यह पूर्व शेष है। अर्थात् 'तत्र' का अर्थ है प्रथम उद्योत में। आशय यह है कि वृत्तिकार ने प्रथम उद्योत में जो अविवक्षितवाच्य नामक ध्वनि का अवान्तर भेद प्रकाशित किया था उसी का प्रतिपादन करने के लिये प्रस्तुत कारिका लिखी गई है। कारिका में अविवक्षितवाच्य के अवान्तर भेदों का प्रतिपादन किया गया है। अविवक्षितवाच्य स्वयं ध्वनि का एक प्रभेद या अवान्तर भेद है। अतएव उसी प्रभेद का उल्लेख करते हुये अनुवाद के द्वारा यह बात बतलाई गई है कि अवि-वक्षितवाच्य नामक अवान्तर भेद विवक्षितान्यपरवाच्य नामक प्रभेद से भिन्न होता है। निष्कर्ष यह है कि वृत्तिकार द्वारा प्रथम उद्योत में बतलाये हुये ध्वनि के दो भेद कारिकाकार के भी सम्मत हैं। यद्यपि कारिकाकार ने इन भेदों का उल्लेख

तारावती

किया नहीं है। (अविवक्षितवाच्य के दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।) यहाँपर 'संक्रमित' शब्द में प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है, (शुद्ध क्रिया संक्रान्त का नहीं।) इसका आशय यह है कि (अर्थ अपनी विशेषता से ही स्वतः दूसरे अर्थ में संक्रान्त नहीं हो जाता अपितु) व्यञ्जनाव्यापार का जो सहकारी वर्ग है उसी का यह प्रभाव होता है कि व्यञ्जना का सहकारीवर्ग ही एक अर्थ (मूल वाच्यार्थ) का संक्रमण दूसरे अर्थ में करा देता है। यही तिरस्कृत शब्द के 'क्त' प्रत्यय का भी अर्थ है। अर्थात व्यञ्जक का सहकारी वर्ग ही वाच्यार्थ का तिरस्कार करने में कारण होता है। यहाँ पर कारिका का सम्बन्ध इस प्रकार होगा—जिस वाच्य के अविवक्षित हो जाने पर ध्वनि का नाम अविवक्षितवाच्य पड़ जाता है वह वाच्य दो प्रकार का होता है—एक तो वह होता है जहाँ अर्थ उपपन्न तो हो जाता है किन्तु उतने ही अर्थ का उपयोग नहीं होता—वह अर्थ अपूर्ण मालूम पड़ता रहता है अतएव उसका सम्मिश्रण दूसरे धर्मों (अर्थों) से हो जाता है और वह अन्य का जैसा प्रतीत होने लगता है। वह लक्ष्यमाण (प्रतीयमान) अर्थ का अनुगमन करते हुये स्थित रहता है। (आशय यह है कि अविवक्षितवाच्य के प्रथम भेद में वाच्यार्थ पूर्णतया अनुपपन्न नहीं होता। वाच्यार्थ का उपयोग अवश्य होता है किन्तु वह अर्थ अपूर्ण सा मालूम पड़ता रहता है। अतः वह अपनी पूर्ति के लिये दूसरे धर्मों से मिल जाता है, इसी कारण वह अर्थ और का जैसा हो जाता है। ये समस्त धर्म प्रतीयमान होते हैं। इन समस्त धर्मों का एक धर्मी मे उसीप्रकार संक्रमण हो जाता है जिस प्रकार एक सूत मे अनेक प्रकार के पुष्प पिरोये जाते हैं।) अविवक्षितवाच्य के इस प्रथम प्रभेद को रूपान्तरपरिणत अथवा अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य कहते हैं। अविवक्षितवाच्य का दूसरा प्रकार वह है जिसमें वाच्यार्थ सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है। उसका उपादान केवल इसीलिये होता है कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति मे वाच्यार्थ एक उपायमात्र होता है। (वाच्यार्थ का बाध भी लक्षणा की एक शर्त है। लक्ष्यार्थप्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक वाच्यार्थबाध न हो और वाच्यार्थबाध तब तक नहीं हो सकता जब तक वाच्यार्थ की प्रतीति न हो। इस प्रकार लक्ष्यार्थप्रतीति मे यह वाच्यार्थ केवल उपाय होता है।) यह वाच्यार्थ दूसरे अर्थ (लक्ष्याथ की) प्रतीति कराकर स्वयं मानो पलायन कर जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का तिरस्कार हो जाने के कारण इस (दूसरे) प्रकार को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य कहते है।

ध्वन्यालोकः

तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः

(अनु०) और उस प्रकार के उन दोनों भेदों से व्यङ्ग्य की ही विशेषता होती है।

लोचन

ननु व्यङ्ग्यात्मनो यदा ध्वनेर्भेदो निरूप्यते तदा वाच्यस्य द्विधेति भेदकथनं न सङ्गतमित्याशङ्क्याह—तथाविधाभ्यां चेति। चो यस्मादर्थे। व्यञ्जकवैचित्र्याद्धि युक्तं व्यङ्ग्यवैचित्र्यमिति भावः। व्यञ्जके त्वर्थे यदि ध्वनिशब्दस्तदा न कश्चिद्दोष इति भावः।

(प्रश्न) व्यङ्ग्यात्मक ध्वनि का भेद-निरूपण किया जा रहा है तब वाच्य दो प्रकार का होता है यह भेदकथन सङ्गत नहीं है ? यह शङ्का कर के उत्तर देते हैं—'तथाविधाभ्या च ताभ्याम्' (यहाँ पर) 'च' 'जिससे' के अर्थ में आया है। भाव यह है कि व्यञ्जक के वैचित्र्य से व्यङ्ग्य का वैचित्र्य निःसन्देह उचित है। आशय यह है कि जब व्यञ्जक अर्थ में ध्वनि शब्द हो तो कोई दोष नहीं है।

तारावती

(प्रश्न) ध्वनि की आत्मा है व्यङ्ग्यार्थ। इस ध्वनि के ही भेदों का निरूपण करना है; फिर 'वाच्यार्थ दो प्रकार का होता है' यह कहकर वाच्यार्थ का भेदकथन किस प्रकार सङ्गत हो सकता है ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये वृत्तिकार ने लिखा है कि 'और उस प्रकार के इन दोनों वाच्यभेदों से व्यङ्ग्य की ही विशेषता सिद्ध होती है।' यहाँपर 'च' का अर्थ है 'क्योंकि'। आशय यह है कि वाच्यार्थ व्यञ्जक होता है और व्यञ्जक की विशेषता से व्यङ्ग्यार्थ की विशेषता भी सिद्ध होती है। पहले बतलाया जा चुका है कि ध्वनि शब्द का अर्थ व्यञ्जक भी होता है, यदि यह अर्थ माना जावे तो यहाँ पर वाच्यार्थ के भेद करने में कोई दोष नहीं।

(यहाँ पर उचित यह था कि इन दोनों भेदों के लक्षण दिये जाते। किन्तु लक्षण न देकर यहाँ पर वृत्तिकार ने उदाहरण देना प्रारम्भ कर दिया है। इसका कारण यह है कि) भेद प्रतिपादन के लिये जिन शब्दों का उपादान किया गया है, वे वास्तव में अन्वर्थ संज्ञाये हैं, अर्थात् शब्द से ही उनका लक्षण भी सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि यहाँ पर उदाहरण ही दे दिया है। ('स्निग्ध.......' यह पद्य महानाटक से लिया गया है और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण तथा मम्मट ने काव्य-प्रकाश में इसे उद्धृत किया है।) यहाँपर सङ्गति इस प्रकार लगायी जाती है—'उनके (भेदों) में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण जैसे इस

ध्वन्यालोकः

तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः।
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ॥
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे।
वैदेही तु कथं भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भव ॥

इत्यत्र रामशब्दः।

(अनु०) उनमें अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का उदाहरण जैसे :—'स्निग्ध और श्यामल मेघों की कान्ति से आकाश लिप्त हो रहा है, बादलों के चारों ओर हर्ष-परवश बलाकायें उड़ रही हैं, वायु जलकणों से व्याप्त होने के कारण अत्यन्त शीतल है और मेघों के सुहृद् मयूरोंकी आनन्ददायक प्रकृति-मधुर केकावाणी भी व्याप्त हो रही है। हुआ करे, मैं तो कठोरहृदय राम हूँ। सब कुछ सह रहा हूँ। किन्तु वैदेही कैसी होगी 'हाय हाय हाय देवी धैर्य धारण करो।'

यहाँ पर राम शब्द।

लोचन

भेदप्रतिपादकेनैवान्वर्थनाम्ना लक्षणमपि सिद्धमित्यभिप्रायेणोदाहरणमेवाह—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो यथेति—

अत्रश्लोके रामशब्द इति सङ्गतिः। स्निग्धया जलसम्बन्धसरसया श्यामलया, द्रविडवनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचिक्येन क्षिप्तमाच्छुरितं वियन्नभो यैः। वेल्लन्त्यो विजृम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागवशात् प्रहर्षवशाच्च बलाकाः सित-

अन्वर्थ नामवाले भेदप्रतिपादक के द्वारा ही लक्षण भी सिद्ध है, इस अभिप्राय से उदाहरण ही कहते हैं—'अर्थान्तर संक्रमित' इति। जैसे—इस श्लोक में राम शब्द यह सङ्गति है। स्निग्ध और जलसम्बन्ध से सरस श्यामल अर्थात् द्रविड वनिता में मिलनेवाले कृष्ण वर्ण की कान्ति अर्थात् चमकदमक के द्वारा लिप्त अर्थात् व्याप्त कर लिया गया है वियत् अर्थात् आकाश जिनके द्वारा। अत्यन्त उत्कर्ष से तथा प्रहर्षवश उद्वेलन करनेवाली अर्थात् प्रसरण शील तथा चलनेवाली हैं बलाकायें अर्थात् विशेष

तारावती

पद्य में राम शब्द।' मेघ आकाश को चारों ओर से घेरे हुये हैं। इनका वर्ण स्निग्ध है अर्थात् जल से परिपूर्ण होने के कारण इनकी कान्ति अत्यन्त सरस है। इनकी कान्ति श्यामल भी है अर्थात् द्रविडवनिताओं में प्राप्त होनेवाले श्यामवर्ण से युक्त है। इस प्रकार की कान्ति अर्थात् तरल प्रभा से आकाश व्याप्त हो रहा है। (यही बलाकाओं के गर्भाधान का समय है, अतः) बगलों की पंक्तियाँ उत्साह से भरी हुई हैं और प्रकाशित हो

लोचन

पक्षिविशेषा येषु त एवंविधाः मेघाः। एवं नभस्तावद्दुरालोकं वर्तते। दिशोऽपि दुस्सहाः। यतः सूक्ष्मजलकणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतदिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम्। तर्हि गुहासु क्वचित्प्रविश्यास्यतामित्यत आह—पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च सत्सु ये शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्दनेन हर्षेण कलाः षड्जस्वरादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः ताश्च सर्वं पयोदवृत्तान्तं दुस्सहं स्मारयन्ति, स्वयं च दुस्सहाः इति भावः। एवमुद्दीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः परस्पराधिष्ठानत्वाद्रतेः विभावानां साधारणतामभिमन्यमानः इत एव प्रभृति प्रियतमां हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह—कामं सन्त्विति।

प्रकार के श्वेत पक्षी जिनमें वे इस प्रकार के मेघ। इस प्रकार आकाश कठिनाई से देखा जाने योग्य है। दिशायें भी दुस्सह हैं क्योंकि सूक्ष्म जलकणों का उद्गिरण करनेवाले पवन चल रहे हैं। बहुवचन से मन्दमन्दत्व तथा अनियत दिशा से आना सूचित होता है। तो कहीं गुफाओं में प्रविष्ट होकर बैठो, इससे कह रहे हैं—मेघों के जो सुहृद् तथा उनके होते हुए जो शोभन हृदयवाले मयूर उनके आनन्द अर्थात् हर्ष से कल अर्थात् षड्ज से मेल खानेवाली केका अर्थात् विशेष प्रकार का शब्द, वे (केकायें) समस्त दुस्सह पयोद-वृत्तान्त का स्मरण करा रही हैं और स्वयं दुस्सह हैं, यह भाव है। इस प्रकार उद्दीपन विभाव से उद्बोधित विप्रलम्भ शृङ्गारवाले (भगवान् राम) रति के परस्पर अधिष्ठान होने के कारण विभावों की साधारणता को मानते हुए यहीं से प्रियतमा को हृदय में धारणकर ही अपना वृत्तान्त कह रहे हैं—कामं सन्तु इत्यादि।

तारावती

रही है तथा चल भी रही है, क्योंकि वे मेघों के श्याम और अपने श्वेत वर्ण के मिल जाने से परम सौभाग्य को प्राप्त हो रही है तथा प्रहर्षपरवश भी हैं। बलाका एक विशेष प्रकार का श्वेत पक्षी होता है। उनसे युक्त मेघ आकाश में छाये हुए हैं। अतः उद्दीपनों से परिपूर्ण होने के कारण आकाश की ओर देखना अत्यन्त दुष्कर हो गया है। तो फिर आकाश की ओर देखने की आवश्यकता ही क्या? दिशाओं का मण्डल ही देखने के लिये क्या थोड़ा है? किन्तु दिशाओं की ओर देखना भी असह्य है क्योंकि उनमें उद्दीपक मन्द-मन्द वायु बह रही है। यह वायु छोटे-छोटे जलकणों को उद्गीर्ण कर रही है। 'वाताः' शब्द में बहुवचन का प्रयोग व्यक्त करता है कि वायु अनिश्चित दिशा से आ रही है और बहुत ही मन्द-मन्द बह रही है। अतः दिशाओं की ओर भी नहीं देखा जा सकता। तो फिर कहीं गुफाओं में छिपकर कालयापन करना चाहिये। किन्तु यह भी नहीं हो सकता।

लोचन

दृढमिति सातिशयम् । कठोरहृदय इति । रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम् । यथा तद्गेहम् इत्युक्तेऽपि 'नतभित्ति' इति । अन्यथा रामपदं दशरथकुलोद्भवत्वकौशल्यास्नेहपात्रत्वबाल्यचरितजानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेदिति । अस्मीति । स एवाहं भवामीत्यर्थः । भविष्यतीति क्रियासामान्यम् । तेन किं करिष्यतीत्यर्थः । अथ च भवनमेवास्या असम्भाव्यमिति । उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशब्दविकल्पपरम्परया प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससम्भ्रममाह–हहाहेति । देवीति । युक्तं तव धैर्यमित्यर्थः ।

दृढम् का अर्थ है अतिशयता से युक्त। कठोर हृदय इति । राम शब्द के अर्थ के द्वारा विशेष प्रकार की ध्वनि को अवकाश देने के लिये 'कठोर हृदय' शब्द (का प्रयोग किया गया है) । जैसे 'तद्गेहम्' यह कह दिये जाने पर भी 'नतभित्ति' यह शब्द । अन्यथा राम शब्द दशरथकुलोत्पन्नत्व कौशल्यास्नेहपात्रत्व बाल्यचरित जानकीलाभ इत्यादि धर्मान्तर-परिणत अर्थ को क्यों न ध्वनित करेगा ? 'अस्मि' इति । अर्थात् मैं वही हूँ । भविष्यति यह सामान्य क्रिया है । उससे 'क्या करेगी ?' यह अर्थ हो जाता है। और भी इसका होना ही असम्भाव्य है। उक्त प्रकार से हृदयनिहित स्मरण, (वैदेही इत्यादि) शब्द और विकल्प की परम्परा से प्रत्यक्ष की हुई तथा हृदय को स्फुटित करने के लिये उद्यत प्रियतमा के विषय मे सम्भ्रमपूर्वक कहते हैं—ह हा हा इति । 'देवि इति'। तुम्हारा धैर्य उचित है।

तारावती

क्योंकि मयूर मेघों के मित्र होते हैं । वे मेघ विद्यमान हैं ही । अतएव शोभन हृदय रखनेवाले इन मयूरों की मधुर केका वाणी हर्ष और आनन्द के कारण अत्यन्त कल अर्थात् श्रुति-मधुर हो गई है जो कि षड्ज ध्वनि की संवादिनी है । हमे चाहे जहाँ जाकर बैठें उन मयूरों की मधुर वाणी मेघ के सम्पूर्ण वृत्तान्त का स्मरण करा ही देती है । वह मेघवृत्तान्त असह्य है और मयूरों का कलरव भी असह्य ही है । इस प्रकार राम का विप्रलम्भ उद्दीपन विभावों से उद्बोधित हो गया है । रति उभयनिष्ठ होती है । दोनों प्रेमी एक दूसरे के प्रति रतिभाव के अधिष्ठान होते हैं । और उद्दीपन विभाव दोनों के हृदयों में समान रूप मे ही रसोद्दीपन करते हैं । यही समझकर उद्दीपनों का प्रथम दो पंक्तियों मे वर्णन कर इसके आगे प्रियतमा को हृदय में रखकर प्रथम अपने वृत्तान्त का कथन कर रहे हैं—कि मेरे लिये ये उद्दीपन चाहे जितनी मात्रा मे बने रहे । 'दृढम्' का अर्थ है बहुत अधिक और 'कठोरहृदय' शब्द राम का विशेषण है । इस शब्द का विशेष रूप से उपादान इसलिये किया गया है जिससे राम शब्द की ध्वनि को अवसर प्राप्त हो जावे।

ध्वन्यालोकः

अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम् ।

(अनु०) इससे केवल संज्ञी (राम) का ही प्रत्यायन नहीं होता अपितु दूसरे व्यङ्ग्य धर्मों से परिणत संज्ञी का प्रत्यायन होता है ।

लोचन

अनेनेति । रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः । व्यङ्ग्यधर्मान्तरं प्रयोजन-रूपं राज्यनिर्वासनाद्यसङ्ख्येयम् । तच्चासङ्ख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम् । क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत् ।

अनेन इति । भाव यह है कि अनुपयुक्त अर्थवाले राम शब्द के द्वारा । व्यङ्ग्य राज्य निर्वासन इत्यादि असंख्य प्रकार का प्रयोजनरूप धर्मान्तर है । वह असंख्य होने के कारण अभिधाव्यापार के द्वारा समर्पण में अशक्य है । क्रम से अर्पण किये जाने पर भी एक बुद्धि के विषय हो सकने के अभाव के कारण विचित्र प्रकार की चर्वणा के योग्य नहीं हो सकता । अतः चारुता की अधिकता करनेवाला

तारावती

जैसे 'तद्गेहं नतभित्ति' इस पद्य मे 'गेहम्' का 'तद्' विशेषण रख देने मात्र से ही घर की दुर्दशा व्यक्त हो जाती है । 'नतभित्ति' कहकर उस व्यञ्जना को और अधिक अवकाश प्रदान कर दिया गया है । यदि यहाँ पर 'कठोर हृदय' इस विशेषण का प्रयोग न किया गया होता तो दशरथकुलोत्पन्नत्व, कौशल्यास्नेह-पात्रत्व, बालचरित, जानकीलाभ इत्यादि दूसरे धर्मों मे परिणत अर्थ को ध्वनित क्यों न करता ? 'अस्मि' की व्यञ्जना यह है कि 'मैं राम तो जीवित हूँ' किन्तु 'भविष्यति' इस सामान्य क्रिया के प्रयोग द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि सीता के होने में ही सन्देह है । सीता जी राम के हृदय में विद्यमान हैं, उनको राम ने उक्त प्रकार से उद्दीपनों का स्मरण करते हुए, 'वैदेही' इस सम्बोधन के द्वारा तथा 'सीता होगी या नहीं होगी' इस विकल्प के द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है और अब स्मरण के माध्यम से प्रत्यक्षभाव को प्राप्त सीता जी राम के हृदय को विदीर्ण करने ही वाली हैं । अतः राम ने संभ्रमसूचक 'ह हा हा' इन शब्दों का प्रयोग किया है । साथ ही राम प्रत्यक्षीभूत सीता को ढाढस भी दे रहे हैं और उसके लिये उन्होंने 'देवि' शब्द का प्रयोग किया है । देवी के पद पर जिसका अभिषेक किया जा चुका है उसको तो धैर्यशालिनी होना ही चाहिये । यहाँ पर राम शब्द का अर्थ उपयुक्त नहीं होता । (राम का स्वयं यह कहना कि 'मैं राम हूँ' कोई अर्थ नहीं रखता । अतः तात्पर्यानुपपत्ति के कारण इसका लक्ष्यार्थ है मैं 'सहन की शक्ति रखनेवाला राम हूँ ।') इस लक्षणा का प्रयोजन है राज्य-निर्वासन इत्यादि

लोचन

प्रतीयमानं तु तदसङ्ख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्र-पानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति। यथोक्तम्—उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्। एष एव सर्वत्र प्रयोजनस्य प्रतीयमानत्वेनोत्कर्षहेतुर्मन्तव्यः।

नहीं है। प्रतीयमान तो उन असंख्य अनुद्भिन्न विशेषतावाले होने के कारण कौन क्या-क्या रूप नहीं सह सकते इस प्रकार चित्रपानक रस, अपूप और गुडमिश्रित मोदक के समान विचित्र चर्वणा का स्थान बन ही जाता है। जैसा कहा गया है—'जो दूसरी युक्ति से अशक्य हो' इत्यादि। यही सर्वत्र प्रयोजन प्रतीयमान होने के कारण उत्कर्ष का हेतु माना जाना चाहिये।

तारावती

असंख्य अन्यधर्मों से इसका संयोग हो जाना। (यहाँ पर आशय यह है कि मैं ने अपने जीवन में कभी सुख नहीं देखा, मुझे राज्य से च्युत होना पड़ा, बन्धु वियोग हुआ, पिता की मृत्यु हुई, माताओं का वियोग सहा और अन्त में प्राणप्रिया सीता का भी वियोग सहना पड़ा। इस प्रकार कष्ट सहते-सहते मेरा हृदय कठोर हो गया है। इन उद्दीपनों का सह लेना मेरे लिये बड़ी बात नहीं। किन्तु बेचारी सीता की क्या दशा होगी? वह तो विदेह राज की प्यारी पुत्री है सदा सुखमय जीवन बिताया है, वह कोमलाङ्गी इन उद्दीपनों को सहकर जीवित रह सकी होगी इसमें भी सन्देह है। यहाँ पर ध्यान देनेवाली बात यह है—गोविन्द ठक्कुर ने काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रदीप में लिखा है कि यहाँ राम शब्द बाधित हो जाता है और उससे लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'राम सभी दुःखों के पात्र हैं।' इसके प्रतिकूल वृत्तिकार ने सभी दुःखों के सहने को व्यङ्ग्यार्थ माना है और उसको विप्रलम्भ शृङ्गार का व्यञ्जक कहा है। गोविन्द ठक्कुर ने व्यङ्ग्यार्थ माना है—'मैं सीता के विना भी जीवित रह सकूँगा।' यदि इस पद्य को ध्वनि काव्य का उदाहरण मानना है तो प्रधानीभूत चमत्कारोत्पादक अर्थ की व्यङ्ग्यता ही माननी पड़ेगी और उसी को प्रधान मानना पड़ेगा। यहाँपर चमत्कारकारक अर्थ है राम के अनेक प्रकार के कष्टों का समूह। अतः यह व्यङ्ग्य ही है लक्ष्य नहीं। अन्यथा यह ध्वनि-काव्य का उदाहरण हो ही न सकेगा।) राम के अनेक प्रकार के कष्ट असंख्य हैं। अतः अभिधाव्यापार के द्वारा उनका प्रकथन सर्वथा असंभव है। यदि उन सबका प्रकथन सम्भव भी हो तब भी एक-एक करके ही उनका उल्लेख किया जावेगा। अतएव सब मिलकर एक बुद्धि को उत्पन्न कर ही नहीं सकते। अतः सब मिलकर विचित्र प्रकार की चर्वणा का उत्पादन कर ही नहीं

तारावती

सकते और न चारुता की अतिशयता का ही सम्पादन कर सकते हैं। किन्तु जब उनको व्यञ्जना के माध्यम से व्यक्त किया जाता है तब उनमें पृथक् पृथक् विशेपता का प्रतिभास नहीं होता, वे कौन कौन रूप को नहीं सह सकते तथा सब मिलकर एक बुद्धि में उपारूढ़ हो जाते हैं जैसे विभिन्न रसों से बने हुये पानक में सभी रसो का पृथक्-पृथक् स्वाद प्रतीत नहीं होता सभी का सङ्घातरूप ही आस्वाद-गोचर होता है। अथवा जैसे पुये मे विभिन्न द्रव्यो का एक सामूहिक रस बन जाता है, जैसे गुड के लड्डुओं में विचित्र प्रकार की चर्वणा उत्पन्न हो जाती है, उसीप्रकार 'राम' शब्द के द्वारा सभी व्यङ्ग्य अर्थों का एक सङ्घातरूप चर्वणागोचर हो जाता है। जो कि व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य माध्यम से सम्भव नहीं है। जैसा कि कहा गया है— 'जब शब्द व्यञ्जक बनकर ऐसी चारुता को प्रकाशित किया करता है जो कि अन्य उक्ति से सम्भव नहीं होती, वही ध्वनि का रूप धारण करता है।' चर्वणा की विचित्रता का सम्पादन और दूसरी उक्ति से बोधन की अक्षमता ही ऐसे हेतु माने जानें चाहिये जो कि लक्षणा में प्रतीयमान प्रयोजन को उत्कर्ष प्रदान किया करते है। यह बात इस ध्वनि के सभी उदाहरणों मे लागू होती है। आशय यह है कि जिस प्रयोजन को लेकर बाधित अर्थ मे शब्द का प्रयोग किया जाता है वह प्रयोजन अन्य उपाय से अभिहित नहीं किया जा सकता और न साङ्घातिक प्रभाव ही अन्य उपाय से सम्भव होता है। यही प्रतीयमान प्रयोजन की मुख्यता में कारण हैं और इसी कारण प्रतीयमान अर्थ ध्वनिरूपता को प्राप्त होता है। (कुछ लोगों ने लिखा है कि इस पद्य मे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य के भी उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं—'आकाश निराकार है अत. उसका लेपन बाधित होकर 'व्यापन' इस लक्ष्यार्थ को प्रकट करता है। इसी प्रकार मित्र कोई चेतन हो सकता है बादलो को मित्र कहना बाधित होकर आनन्ददायक इस अर्थ को लक्षित करता है। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं, क्योंकि चारुता का पर्यवसान इन अर्थो मे नहीं होता। चारुता का पर्यवसान तो राम शब्द के द्वारा विभिन्न व्यङ्ग्य अर्थो मे ही होता है। अतः राम शब्द की अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता ही ध्वनि का रूप धारण कर सकती है 'लिप्त' तथा 'सुहृद्' की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता नहीं।)

वृत्तिकार ने लिखा है 'यहाँपर संज्ञीमात्र (केवल संज्ञी) का प्रत्यायन नहीं होता'। इसका आशय यह है कि 'यहाँपर अन्य धर्मो की प्रतीति के साथ संज्ञी 'राम' की भी प्रतीति होती है। संज्ञी का अत्यन्त तिरस्कार नही होना।' अतएव यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का ठीक उदाहरण नहीं हो सकता इसमे किसी न किसी रूप में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यता आ जाती है। इसी अरुचि के कारण अर्थान्तर-

ध्वन्यालोकः

यथा च ममैव विषमवाणलीलायाम्—

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति।
रइ किरणानुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं॥
(तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥)

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः।

(अनु०) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का दूसरा उदाहरण जैसे मेरी लिखी हुई पुस्तक विषमवाणलीला का यह पद्य :—

'गुण तभी वास्तव मे गुण बनते हैं जब वे सहृदयों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। रवि-किरणों द्वारा अनुगृहीत होकर ही कमल कमल बनते हैं। यहाँपर द्वितीय कमल शब्द अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य का उदाहरण है।

लोचन

मात्रग्रहणेन संज्ञी नात्र तिरस्कृत इत्याह—यथा चेत्यादि। ताला तदा। जाला यदा। घेप्पन्ति गृह्यन्ते। अर्थान्तरन्यासमाह–रविकिरणेति। कमलशब्द इति। लक्ष्मीपात्रत्वादिधर्मान्तरशतचित्रतापरिणतं संज्ञिनमाहेत्यर्थः। तेन शुद्धेऽर्थे मुख्ये वाधानिमित्तं तत्रार्थे तद्धर्मसमवायः। तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति। व्यङ्ग्यान्यसाधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि। एवं कमलशब्दः। गुणशब्दस्तु संज्ञिमात्रमाहेति। तत्र यद्बलात्कैश्चिदारोपितं तदप्रातीतिकम्। अनुपयोग वाधितो ह्यर्थोऽस्य ध्वनेर्विषयो लक्षणामूलं ह्यस्य।

मात्र शब्द के प्रयोग से यहाँ पर संज्ञी का तिरस्कार नहीं किया गया है इसलिए कहते हैं—यथा च इत्यादि। ताला का अर्थ है तब। जाला का अर्थ है जब। घेप्पन्ति का अर्थ है ग्रहण किये जाते है।

अर्थान्तरन्यास को कहते हैं—रवि किरणेत्यादि। कमल शब्द इति। अर्थात् लक्ष्मीपात्रत्व इत्यादि सैकड़ों दूसरे धर्मो मे परिणत संज्ञी को कहता है। उससे शुद्ध मुख्य अर्थ में बाधानिमित्तक वहाँ पर अर्थ मे उसके धर्मों का समवाय हो जाता है। उसी निमित्त से रामशब्द धर्मान्तरपरिणत अर्थ को लक्षित कराता है। शब्द के द्वारा वाच्य न होनेवाले असाधारण व्यङ्ग्य ही दूसरे धर्म होते हैं। इसी प्रकार कमल शब्द। गुण शब्द तो संज्ञी को कहता है। उसमें जिस बल पर किसी ने आरोप करके कहा है वह सहृदयों की प्रतीति से असिद्ध है। अनुपयोग के द्वारा बाधित अर्थ निस्सन्देह इस ध्वनि का भेद होता है और इसका मूल निस्सन्देह लक्षणा होती है।

तारावती

संक्रमित वाच्य का ही एक दूसरा उदाहरण और दिया गया है। यह पद्य आनन्दवर्धन की स्वरचित पुस्तक विषमवाणलीला से उद्धृत किया गया है। 'जब सहृदयों द्वारा आहृत होते हैं तभी गुण गुण बन जाते हैं। सूर्य किरणों द्वारा अनुगृहीत होकर ही कमल कमल बनते हैं।' यहाँपर 'ताला' का संस्कृत रूप है 'तदा', 'जाला' का संस्कृत रूप है 'यदा' 'घेप्पन्ति' का संस्कृत रूप है 'गृह्यन्ते।' द्वितीय दल में अर्थान्तरन्यास (प्रतिपादक प्रमाण) का उल्लेख किया गया है। प्रथम कमल शब्द का तो सामान्य 'कमल' अर्थ है किन्तु द्वितीय कमल शब्द का अभिधेयार्थ बाधित हो जाता है, जो कमल है ही वह कमल क्या हो जावेगा? अतः बाधित होकर इसका लक्ष्यार्थ हो जाता है वास्तविक कमल। व्यङ्ग्य प्रयोजन है—कमल के अनेक गुण जैसे लक्ष्मीपात्रत्व इत्यादि इस प्रकार के सैकड़ों धर्मों का सङ्घातरूप विचित्रीभाव। इन सैकड़ों धर्मों से संवलित होकर विचित्रभाव से युक्त कमल संज्ञी ही दूसरे कमल शब्द का प्रतीयमान अर्थ है (अलङ्कारसम्प्रदायवादियों की दृष्टि से यहाँ पर लाटानुप्रास होगा—क्योंकि दूसरे कमल शब्द का तात्पर्य है धर्मविशिष्ट कमल। वे धर्म होंगे सौरभ, सौकुमार्य, कान्तिमत्त्व, कान्तावदनोपमानयोग्यता इत्यादि। इस प्रकार तात्पर्यमात्र मे भेद होने के कारण इसे लाटानुप्रास कहेंगे।) कुछ लोगों का कहना है—'शुद्ध अर्थात् मुख्य अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। (यह लक्षणा की प्रथम शर्त हुई।) उस अर्थ में उसके धर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं यही लक्षणा मे निमित्त है। इसी निमित्त को मानकर राम शब्द की लक्षणा दूसरे धर्मों से परिणत अर्थ मे हो जाती है। यहाँपर प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ होंगे दूसरे असाधारण धर्म, जिनका शब्द के द्वारा अभिधान किया ही नहीं जा सकता। अर्थात् राम का अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव करना लक्ष्यार्थ है और राम का निर्वेद ग्लानि मोह इत्यादि व्यङ्ग्य है। इसी प्रकार 'कमल' शब्द के विषय में समझना चाहिये। 'गुण गुण हो जाते हैं।' मे दूसरे गुण-शब्द में लक्षणा नहीं मानी जा सकती क्योंकि गुण शब्द यहाँपर संज्ञीमात्र का परिचायक है उसमें दूसरे धर्मों का संयोग नहीं होता।' इस प्रकार कुछ लोगों ने अपने बुद्धिसामर्थ्य से जो लक्ष्य और व्यङ्ग्य का आरोप कर लिया है वह सहृदयजनों की प्रतीति के अनुकूल नहीं है। निस्सन्देह प्रथम उदाहरण में 'राम' शब्द और दूसरे उदाहरण मे दूसरा 'कमल' शब्द बाधित है क्योंकि इन शब्दों का अपने वाच्यार्थ मे कोई उपयोग नहीं है। बाधित होने से जो राज्यनिर्वासन इत्यादि अर्थ प्रतीतिगोचर होता है वही ध्वनि का विषय है, लक्षणा उसके मूल में विद्यमान है।

लोचन

यत्तु हृदयदर्पण उक्तम्—'हहा हेति संरम्भार्थोऽयं चमत्कार' इति। तत्रापि संरम्भ आवेगो विप्रलम्भव्यभिचारीति रसध्वनिस्तावदुपगतः। न च रामशब्दाभिव्यक्तार्थसहायकेन विना संरम्भोल्लासोऽपि। अहं सहे तस्याः किं वर्तत इत्येवमात्मा हि संरम्भः। ' कमलपदे च कः संरम्भः इत्यास्तां तावत्। अनुपयोगात्मिका च मुख्यार्थबाधाऽत्रास्तीति लक्षणामूलत्वादविवक्षितवाच्यभेदता त्वस्योपपन्नैव शुद्धार्थस्याविवक्षणात्। न च तिरस्कृतत्वं धर्मिरूपेण, तस्यापि तावत्यनुगमात्।

जो कि हृदय दर्पण में कहा है—'ह हा हा यह संरम्भार्थक चमत्कार है।' वहाँ पर भी संरम्भ आवेग को कहते हैं जो कि विप्रलम्भ का व्यभिचारी है, इससे रसध्वनि तो मान ही ली। रामशब्द से अभिव्यक्त अर्थ की सहायता के बिना संरम्भ का उद्गम हो ही नहीं सकता। संरम्भ की आत्मा निस्सन्देह यही है कि 'मैं सहता हूँ उसका क्या होगा?' कमल शब्द मे क्या सरम्भ है? इस प्रकार अधिक रहने दो। अनुपयोगात्मक मुख्यार्थबाधा यहाँ पर है इस प्रकार लक्षणामूलक होने के कारण इसका अविवक्षित वाच्य का भेद होना उपपन्न ही है क्योंकि (यहाँ पर) शुद्ध अर्थ की विवक्षा नहीं होती। धर्मी के रूप में तिरस्कार नहीं ही होता क्योंकि उतने मे उसका भी अनुगम हो ही जाता है।

तारावती

हृदय दर्पण मे लिखा है—'ह हा हा' इन शब्दो का अर्थ है संरम्भ या आवेग। उसी के कारण चमत्कार का अनुभव होता है।' इस पर मेरा यह कहना है कि संरम्भ या आवेग विप्रलम्भ शृङ्गार का व्यभिचारी भाव माना जाता है। संरम्भ को स्वीकार कर लेने का आशय यही है कि रसध्वनि को आपने स्वीकार कर ही लिया। यहाँ पर संरम्भ की अभिव्यक्ति तभी होती है जब कि राम शब्द के उक्त व्यङ्ग्यार्थों को मान लिया जाता है। अन्यथा संरम्भ की प्रतीति हो ही नहीं सकती। संरम्भ का स्वरूप यही होगा कि 'मैं तो सह रहा हूँ न जाने उसकी क्या दशा होगी?' राम शब्द मे तो किसी न किसी प्रकार संरम्भ माना भी जा सकता है किन्तु कमल शब्द के विषय मे आप क्या कहेगे? उसमे कौन सा संरम्भ आप मानेगे? किन्तु जाने दीजिये अधिक विवाद मे पड़ने से क्या लाभ? अविवक्षित-वाच्य का भेद तो यह सिद्ध ही है क्योंकि शुद्ध अर्थ की यहाँ पर विवक्षा नहीं होती। इन शब्दो के प्रयोग करने का यहाँ पर कोई उपयोग नहीं। अतः मुख्यार्थ का बाध तो विद्यमान ही है। अतः यह ध्वनि यहाँ पर लक्षणामूलक ही है इसमे कोई भी सन्देह नहीं। यहाँ पर धर्मी के रूप मे 'राम' तथा कमल शब्द का तिरस्कार नहीं होता क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ मे उसका भी प्रवेश हो जाता है। (अतएव इसे अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य लक्षणामूलक ध्वनि कहते है।)

ध्वन्यालोकः

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वाल्मीकेः—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ इति

अत्रान्धशब्दः ।

(अनु०) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण जैसे आदिकवि वाल्मीकि का श्लोक—

'जिसका सौभाग्य सूर्य में संक्रान्त हो गया है (अर्थात् हेमन्त में सूर्य भी चन्द्र के समान आह्लादकारक हो जाता है ।), जिसका मण्डल तुषार से आवृत है वह चन्द्र निश्वास से अन्वे दर्पण के समान प्रकाशित नहीं हो रहा है ।' यहाँ पर अन्ध-शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण है ।

लोचन

अत एव च परिणतवाचोयुक्त्या व्यवहृतम्—आदिकवेरिति । ध्वनेर्लक्ष्यप्रसिद्ध-तामाह—रवीति । हेमन्तवर्णने पञ्चवट्यां रामस्योक्तिरियम् । अन्ध इति चोपहत-दृष्टिः । जात्यन्धस्यापि गर्भे दृष्ट्युपघातात् । अन्धोऽयं पुरोऽपि न पश्यतीति तिर-स्कारोऽन्धार्थस्य न त्वत्यन्तम् । इह त्वादर्शस्यान्धत्वमारोप्यमाणमपि न सह्यमिति ।

अतएव परिणतवाचोयुक्ति (प्राचीनों की उक्ति) से कहा गया है 'आदि कवि की' । ध्वनि का लक्ष्य में प्रसिद्ध होना बतला रहे हैं—'रवि' इत्यादि । हेमन्त वर्णन में पञ्चवटी में राम की यह उक्ति है । अन्ध उसे कहते हैं जिसकी दृष्टि उपहत हो गई हो । क्योंकि जात्यन्ध की भी दृष्टि गर्भ में उपहत होती है । यह अन्धा आगे भी नहीं देखता । यहाँ अन्ध के मुख्यार्थ का तिरस्कार आत्यन्तिक नहीं है । यहाँ पर तो आदर्श के ऊपर अन्धत्व का आरोप किया जाना भी सह्य नहीं

तारावती

इसीलिये अब ऐसा उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें मुख्यार्थ का अनुप्रवेश नहीं होता अर्थात् उसका सर्वथा तिरस्कार हो जाता है । यह उदाहरण प्राचीन साहित्य से दिया गया है, जिसका आशय यह है कि लक्षणामूलक ध्वनि का प्रयोग अनादि काल से होता रहा है । इसी आशय से वृत्तिकार ने 'आदिकवेः' इस शब्द का प्रयोग किया है । इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि लक्ष्य में प्रसिद्ध है । यह श्लोक रामायण के हेमन्त वर्णन से लिया गया है । यह राम की उक्ति है—इसका आशय यह है—'जिस चन्द्र का सौभाग्य सूर्य में संक्रान्त हो गया है । (अर्थात् हेमन्त में सूर्य भी चन्द्र के समान शीतलता इत्यादि गुणोंवाला हो जाता है ।) जिसका मण्डल तुषार से आवृत हो गया है वह चन्द्र इस समय उसी प्रकार प्रकाशित

लोचन

अन्धशब्दोऽत्र पदार्थस्फुटीकरणाशक्तत्वं नष्टदृष्टिगतं निमित्तीकृत्यादर्शलक्षणया प्रतिपादयति । असाधारणविच्छायत्वानुपयोगित्वादि धर्मजातमसङ्ख्यं प्रयोजनं व्यनक्ति । भट्टनायकेन तु यदुक्तम्—'इवशब्दयोगाद्गौणताऽप्यत्र न क्वचित् ।' इति तत् श्लोकार्थमपरामृश्य । आदर्शचन्द्रमसोर्हि सादृश्यमिवशब्दो द्योतयति । निश्श्वासान्ध इति चादर्शविशेषणम् । इवशब्दस्यान्धार्थेन योजने आदर्शश्चन्द्रमा इत्युदाहरणं भवेत् । योजनं चैतदिवशब्दस्य क्लिष्टम् । न च निश्श्वासेनान्ध इवादर्शः स इव चन्द्र इति कल्पना युक्ता । जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम् ।

हो सकता । यहाँ पर अन्ध शब्द नष्टदृष्टिवाले व्यक्ति के अन्दर विद्यमान पदार्थ-स्फुटीकरण की अशक्ति को निमित्त बनाकर दर्पण का लक्षणा से प्रतिपादन करता है । असाधारण रूप में विच्छायत्व (कान्तिका अभाव) अनुपयोगित्व इत्यादि असंख्य धर्मों को व्यक्त करता है । भट्टनायक ने तो जो कहा है—'इव शब्द के योग से यहाँ पर गौणता भी कोई नहीं है' वह श्लोक के अर्थ का परामर्श न करके कहा है । इव शब्द आदर्श और चन्द्रमस इन शब्दों के सादृश्य को द्योतित करता है। 'निःश्वासान्ध' यह आदर्श का विशेषण है। 'इव' शब्द की अन्ध अर्थ के साथ योजना करने पर 'आदर्श-चन्द्रमा' यह उदाहरण हो जावे । यह 'इव' शब्द की योजना क्लिष्ट है । यह कल्पना ठीक नहीं कि निश्श्वास के समान अन्धा आदर्श और उसके समान चन्द्रमा । इस प्रकार की योजना तो जैमिनिसूत्र में होती है काव्य में 'भी' नहीं । बस अधिक की क्या आवश्यकता ।

तारावती

नहीं हो रहा,जैसे निश्श्वास से अन्धा दर्पण प्रकाशित नहीं हुआ करता ।' यहाँपर अन्ध शब्द ध्यान देने योग्य है। अन्ध शब्द का अर्थ है जिसकी आँखें फूट गई हों। क्योंकि जन्मान्ध की भी आँखें गर्भ में ही फूट जाती हैं । 'यह अन्धा सामने भी नहीं देखता' यदि यह वाक्य किसी ऐसे व्यक्ति के लिये कहा जावे जो आँखें रहते हुये भी प्रमादवश कोई काम बिगाड़ दे तो वहाँ पर अन्धे शब्द का दृष्ट्युपघातरूप अर्थ बाधित तो हो जावेगा किन्तु उसके अर्थ का सर्वथा परित्याग नहीं होगा क्योंकि उस व्यक्ति ने फूटी हुई आँखोंवाले व्यक्ति के समान ही अपनी आँखों से काम नहीं लिया । किन्तु प्रस्तुत उदाहरण में दर्पण के साथ आँखें फूटने का आरोप करना कैसे सह्य हो सकता है ? दर्पण के तो आँखें होती ही नहीं । यहाँपर अन्धशब्द के दर्पण को लक्षित कराने में निमित्त है—पदार्थ के स्फुटीकरण की अशक्तता । क्योंकि यही बात फूटी हुई आँखवाले व्यक्ति मे भी होती है । इसी निमित्त को लेकर (गौणी सारोपा लक्षणा के आधार पर) अन्धशब्द दर्पण को

ध्वन्यालोकः

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइं अ वणाइं।
णिरहङ्कारमिअङ्का हरन्ति नीलआ वि णिसाओ ॥

अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ।

(अनु०) दूसरा उदाहरण जैसे :—

'मस्त मेघोवाला आकाश, वन जिनमे अर्जुनवृक्षों को धारायें आलिङ्गित कर रही हों और नील निशाये जिनमे अहङ्कारपूर्ण चन्द्रमा प्रकाशित न हो रहा हो ये भी सब मन को आकर्षित करते हैं।' यहाँपर मत्त और निरहङ्कार शब्द अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य के उदाहरण हैं।

तारावती

लक्षित करता है (जैसे 'सिंहो वटुः' मे 'सिंह' शब्द शौर्य आदि गुणों को लेकर वटु को लक्षित करता है। यह लक्षणा जहत्स्वार्था या लक्षणलक्षणा है क्योंकि यहाँ पर अन्ध शब्द के अर्थ का सर्वथा परित्याग हो गया है।) इस लक्षणा के असख्य प्रयोजन बतलाये जा सकते हैं। जैसे–असाधारण रूप में विच्छाय या श्रीहीन होना उपयोगरहित होना इत्यादि। ये प्रयोजन व्यङ्ग्य हैं। (यहाँ पर काव्य-सौन्दर्य में हेतु 'अन्ध' शब्द का बाधित अर्थ में प्रयोग करना ही है जिसके अभिधेय का सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। अतः यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण है।) यहाँपर भट्टनायक ने लिखा है—'इस श्लोक मे 'इव' शब्द का प्रयोग किया गया है। (अतः उत्प्रेक्षालङ्कार के द्वारा यहाँपर अर्थ किया जाना चाहिये।) अतः यहाँपर गौणी लक्षणा किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं की जा सकती।' भट्टनायक का यह सब लिखना श्लोक के अर्थ पर विचार न करने के कारण है। (भट्टनायक ने श्लोक के 'निःश्वासान्ध इव' इन शब्दों को देखा और सीधा-सीधा अर्थ लगा दिया, श्लोक के अन्वय पर विचार भी नहीं किया कि यहाँ पर 'इव' शब्द चन्द्रमा के साथ लगता है 'अन्ध' के साथ नहीं।) यहाँपर इव शब्द दर्पण और चन्द्र के सादृश्य को प्रकट करता है—'चन्द्रमा निश्श्वासान्ध दर्पण के समान है।' निश्वासान्ध शब्द दर्पण का विशेषण है। (जो कि प्रत्यक्षतः बाधित है।) यदि 'इव' शब्द का अन्ध शब्द के साथ अन्वय किया जावेगा तो 'चन्द्रमा दर्पण है' यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण हो जावेगा। किन्तु यह योजना अत्यन्त क्लिष्ट होगी। यहाँपर यह कल्पना ठीक नहीं कि 'दर्पण निश्वास के कारण अन्धे के समान है' और 'चन्द्रमा दर्पण के समान है'। इस प्रकार की योजना जैमिनीय सूत्रों मे होती होगी; काव्य में ऐसी योजना नहीं होती। बस, इतना पर्याप्त है अधिक कहने की

लोचन

गअणमिति ।

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥

इतिच्छाया । च शब्दोऽपिशब्दार्थे । गगनं मत्तमेघमपि न केवलं तारकितम् । धारालुलितार्जुनवृक्षाण्यपि वनानि न केवलं मलयमारुतान्दोलितसहकाराणि निरहङ्कारमृगाङ्का नीला अपि निशा न केवलं सितकरकरधवलिताः । हरन्ति उत्सुकयन्तीत्यर्थः । मत्तशब्देन सर्वदैवेहासम्भवत्स्वार्थेन बाधितमद्योपयोगक्षीबात्मकमुख्यार्थेन सादृश्यान्मेघाँल्लक्षयतासमञ्जसकारित्वदुर्निवारत्वादिधर्मसहस्रं ध्वन्यते । निरहङ्कारशब्देनापि चन्द्रं लक्षयता तत्पारतन्त्र्यविच्छायत्वोज्जिगीषारूपजिगीषात्यागप्रभृतिः ॥ १ ॥

गअणमिति ।

गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ॥

यह छाया है । 'च' शब्द यहाँ 'भी' के अर्थ मे है । आकाश मत्तमेघवाला भी है तारकित ही नहीं । धारा के द्वारा आलिङ्गित या प्रकम्पित अर्जुनवृक्षवाले वन भी केवल मलयपवन से आन्दोलित आमोंवाले वन ही नहीं । अहङ्काररहित चन्द्रवाली नीलनिशा मे भी केवल श्वेत किरणोंवाले चन्द्र की किरणों से धवलित ही नहीं । 'हरन्ति' का अर्थ है उत्सुक बनाते हैं । यहाँ पर सर्वथा ही असम्भव स्वार्थवाले मत्त शब्द से जिसका मद्य के उपयोग से प्रमत्तव्यक्तिरूप मुख्यार्थ बाधित हो चुका है, सादृश्य से मेघों को लक्षित कराते हुये असमञ्जसकारित्व दुर्निवारत्व इत्यादि सहस्रों धर्म ध्वनित किये जाते हैं । चन्द्र को लक्षित करानेवाले निरहङ्कार शब्द से भी उसकी पराधीनता, शोभाहीनता ऊपर उठनारूप उत्कर्ष की इच्छा का त्याग इत्यादि (अनेक धर्म ध्वनित किये जाते है) ।

तारावती

क्या आवश्यकता । (यहाँ पर भट्टनायक के मीमांसक होने पर कटाक्ष किया गया है ।)

(अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का दूसरा उदाहरण वाक्पतिराज के 'गौडवहो' से लिया गया है । यह प्रावृट्-वर्णन का पद्य है ।) यहाँपर 'च' शब्द का प्रयोग अपि के अर्थ मे किया गया है । आशय यह है कि केवल तारकित नहीं अपितु मतवाले मेघों से युक्त भी आकाश चित्त का आकर्षण करता है । जिस समय शीतल मन्द सुगन्धित पवन सहकारमण्डल का आन्दोलित करता है उस समय तो उसमें

ध्वन्यालोकः

असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥ २ ॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा। स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः।

(अनु) विवक्षितवाच्य ध्वनि की आत्मा दो प्रकार की होती है—१. जिसमें ध्वनि के उद्योतन (व्यञ्जन) व्यापार का क्रम लक्षित न किया जा सके उसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि कहते हैं और २. जिसमें द्योतन-क्रम लक्षित किया जा सके उसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं।'

मुख्यरूप में प्रकाशमान व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि की आत्मा होता है। और वह वाच्यार्थ की दृष्टि से कोई तो अलक्ष्यक्रम रूप में प्रकाशित होता है और कोई क्रम के साथ, इस भाँति दो प्रकार माना जाता है।

लोचन

अविवक्षितवाच्यस्य प्रभिन्नत्वम् इति यदुक्तं तत्कुतः? नहि स्वरूपादेव भेदो

अविवक्षितवाच्य का भिन्न होना जो यह कहा वह किससे? स्वरूप से ही भेद

तारावती

एक आकर्पण होता ही है। उस समय भी एक आकर्पण ही होता है जब धारायें अर्जुन वृक्षों का आलिङ्गन करती हैं। जिस समय निशायें निशाकर की श्वेत किरणों से स्वच्छ तथा धवलित हो जाती हैं उस समय उनमें एक सम्मोहिनी शक्ति तो होती ही है। निशायें उस समय भी मन को हर लेती है जिस समय चन्द्रदेव का सारा अहङ्कार समाप्त हो गया होता है और चारों ओर नीलिमा ही नीलिमा दृष्टिगत होती है। 'हरन्ति' का अर्थ है चित्त मे उत्कण्ठा पैदा करती हैं। यहाँ पर मत्त शब्द का अभिधेयार्थ लिया जाना सर्वथा असम्भव है। क्योंकि मत्त शब्द का अभिधेयार्थ है 'मद्य के उपयोग के कारण जिसकी चेतना कुण्ठित हो गई हो।' मद्य का उपयोग कोई मनुष्य ही कर सकता है मेघ कभी मदिरापान कर ही नहीं सकते। इस प्रकार यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और सादृश्य के आधार पर गौणी लक्षणा से यह शब्द मेघ को लक्षित कराने लगता है। इससे प्रयोजनरूप व्यञ्जनाओं के रूप मे अनेक धर्मों की ध्वनि हो सकती है। जैसे अयुक्तियुक्त कार्य करनेवाला अनिवार्य इत्यादि। इसीप्रकार चन्द्र का विशेषण निरहङ्कार शब्द भी चेतनविषयमात्र होने के कारण बाधित होकर गौणी लक्षणा से चन्द्र को लक्षित करता है। उससे प्रयोजन रूप में अनेक धर्मों की अभिव्यक्ति होती है जैसे पराधीनता, विच्छायता और उद्गमन रूप विजय की

लोचन

भवतीत्याशङ्क्य विवक्षितवाच्यादेवास्य भेदो भवति, विवक्षातदभावयोर्विरोधादित्यभिप्रायेणाह—असंलक्ष्येति। सम्यङ् न लक्षयितुं शक्यः क्रमो यस्य तादृश उद्योत उद्योतनव्यापारोऽस्येति बहुव्रीहिः। ध्वनिशब्दसान्निध्याद्विवक्षिताभिधेयत्वेनान्यपरत्वम त्राक्षिप्तमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। ध्वनेरिति। व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः। आत्मेति। पूर्वश्लोकेन व्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्द्योतने स्वात्मनि कः क्रम इत्याशङ्क्याह–वाच्यार्थापेक्षयेति। वाच्योऽर्थो विभावादिः ॥ २ ॥

नहीं होता यह शङ्का करके विवक्षितवाच्य से ही इसका भेद होता है क्योंकि विवक्षा और उसके अभाव का विरोध होता है इस अभिप्राय से कहते हैं—असंलक्ष्य इत्यादि। यहाँ पर बहुव्रीहि है—ठीक रूप में लक्षित नहीं किया जा सकता क्रम जिसका उस प्रकार का उद्योत अर्थात् उद्योतन व्यापार है जिसका। ध्वनि शब्द के निकट होने के कारण विवक्षिताभिधेय होने से अन्यपरत्व का यहाँ पर आक्षेप हो जाता है अतः स्वकण्ठ से नहीं कहा गया। 'ध्वनेः' इति। अर्थात् व्यङ्ग्य का आत्मा इति। पूर्व श्लोक से व्यङ्ग्य का वाच्य के द्वारा भेद बतलाया गया। इस समय तो द्योतन व्यापार के द्वारा द्योत्य का आत्मनिष्ठ ही (भेद बतलाया जा रहा है) यह अर्थ है। यहाँपर यह शङ्का करके कि 'व्यङ्ग्य ध्वनि का द्योतन करने में अपने अन्दर ही क्या क्रम हो सकता है?' कह रहे हैं—'वाच्यार्थ की अपेक्षा से' यह। वाच्य अर्थ विभाव इत्यादि।

तारावती

इच्छा का त्याग इत्यादि। इस प्रकार यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण है ॥ १ ॥

(ऊपर अविवक्षितवाच्य के उदाहरणों की व्याख्या की गई है। अब ध्वनि के द्वितीय भेद की व्याख्या की जा रही है, जिसको विवक्षितान्यपरवाच्य कहते हैं। अविवक्षितवाच्य ध्वनि लक्षणा पर आधारित होती है और विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधा पर। इस प्रभेद मे न तो बाध ही होता है, न अभिधेय का तिरस्कार, न अन्य संक्रमण। इसमें व्यञ्जना के साथ अभिधा का भी उपयोग होता है। किन्तु चरम लक्ष्य ध्वनि ही होता है। विवक्षितान्यपरवाच्य के भेद इस आधार पर किये गये हैं कि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के मध्य में अन्तर लक्षित होता है या नहीं। जहाँ वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति इतनी शीघ्र हो जाती है कि उनके मध्य का अन्तर लक्षित ही नहीं किया जा सकता वहाँ पर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है। इसके रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावसन्धि, भावोदय, भावशबलता इत्यादि अनेक भेद होते है। विवक्षितान्यपरवाच्य का दूसरा भेद होता है—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। जहाँ पर वाच्यार्थ के

तारावती

बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति मे स्पष्ट अन्तर प्रतीतिगोचर हो। इसके मुख्य रूप मे दो भेद होते हैं—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि और अर्थशक्तिमूलक ध्वनि। इनके उपभेदों का भी विस्तार शास्त्रों में पाया जाता है, जिसका विवेचन यथास्थान किया जावेगा।)

यह कहा गया था कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि का एक प्रभेद है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अविवक्षितवाच्य की यह प्रभिन्नता किससे है? अपने स्वरूप से ही किसी का भेद नहीं होता। इस शङ्का के उत्तर मे कहा जा सकता है कि अविवक्षितवाच्य का भेद विवक्षितवाच्य से ही होगा। क्योंकि वाच्य की विवक्षा और अविवक्षा इन दोनों मे स्पष्ट विरोध है। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत कारिका लिखी गई है। 'असंलक्ष्यक्रमोद्योत' शब्द मे बहुव्रीहि समास है—'सम्' का अर्थ है सम्यक् या भलीभाँति और उद्योत का अर्थ है उद्योतन अथवा प्रकाशन व्यापार। इस प्रकार इस शब्द का विग्रह होगा—जिसका क्रम ठीक रूप मे लक्षित न किया जा सके उसे 'असंलक्ष्यक्रम' कहते हैं। असंलक्ष्यक्रम है उद्योत या उद्योतन या प्रकाशनव्यापार जिसका उसे असंलक्ष्यक्रमोद्योत कहते हैं।

यहाँ पर विवक्षिताभिधेय या विवक्षितवाच्य शब्द का प्रयोग किया गया है—किन्तु कहा जाना चाहिये विवक्षितान्यपरवाच्य। यहाँपर 'अन्यपर' शब्द छोड़ दिया गया है। इसका कारण यह है कि इस कारिका मे 'ध्वनि' शब्द भी साथ मे रक्खा हुआ है। ध्वनि होती ही वहाँ पर है जहाँ वाच्यार्थ अन्यपरक होता है। अतः यहाँ पर 'अन्यपर' शब्द का आक्षेप कर लिया जाता है, आचार्य ने अपने कण्ठ से उसका उच्चारण नहीं किया है। यहाँ पर ध्वनि शब्द व्यङ्ग्यार्थ परक है। प्रथम कारिका मे अविवक्षितवाच्य ध्वनि के व्यङ्ग्य के भेद वाच्यार्थ की द्विरूपता के आधार पर किये गये थे। इस कारिका मे व्यञ्जनाव्यापार के आधार पर व्यङ्ग्यार्थ के आत्मनिष्ठ ही भेद किये गये हैं। (प्रश्न) व्यङ्ग्य ध्वनि के द्योतन मे अपने अन्दर ही कौन सा क्रम हो सकता है? (उत्तर) व्यङ्ग्यार्थ-का क्रम अपने अन्दर नहीं लगाया जाता अपितु वाच्यार्थ की अपेक्षा करते हुये उसके क्रम का निर्णय किया जाता है। वाच्यार्थ विभाव इत्यादि होते हैं॥ २॥

(अग्रिम प्रकरण मे रसध्वनि पर विचार किया गया है। अतः इस प्रकरण को पूर्णतया हृदयङ्गम करने के लिये रस की सामान्य प्रक्रिया पर संक्षिप्त प्रकाश डाल देना अप्रासङ्गिक न होगा। लौकिक भाषा मे रति इत्यादि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी कहे जाते हैं वे ही जब नाट्य और काव्य में आते

तारावती

हैं तब उन्हें कारणादि शब्दों का परित्याग कर विभाव अनुभाव और सञ्चारी-भाव इन नामों से पुकारा जाने लगता है। जब स्थायी भाव इन विभाव इत्यादिकों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं तब इन्हें रस कहने लगते हैं।

रस उत्पन्न नहीं होता किन्तु अभिव्यक्त होता है। यही कारण है कि लोक में हम कारणादि जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे शब्द रस के विषय में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। रस के कारण को विभाव कहते हैं क्योंकि ये रस का विभावन या प्रत्यायन करते हैं अर्थात् रस को प्रतीति के योग्य बनाते हैं। ये विभाव नामक कारण दो प्रकार के होते हैं—एक तो जनक कारण जिन्हें आलम्बन कहते हैं क्योंकि इन्हीं का आलम्बन लेकर रस का उद्‌गम होता है और दूसरे उद्दीपन अथवा पोषण में निमित्त। इन कारणों को उद्दीपन विभाव कहते हैं। आलम्बन के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद इत्यादि का निरूपण किया जाता है। उद्दीपन विभाव के अन्दर एक तो आलम्बन की ऐसी चेष्टायें आती हैं जो आश्रयगत भाव को बढ़ानेवाली होती हैं, उन्हें नायिकाओं के अलङ्कार के नाम से अभिहित किया जाता है। किसी भाव के अनुकूल परिस्थितियाँ भी उद्दीपन विभाव का दूसरा प्रकार है। भाव के उत्पन्न होने पर आश्रय की दशा कुछ और ही हो जाती है जिसको देखकर दूसरे लोग आश्रयगत भाव को समझ जाते हैं। ये चेष्टायें भाव का प्रभाव अथवा कार्य ही होती हैं। रस की अलौकिकता के कारण इनका संज्ञा कार्य न रह कर अनुभाव हो जाती हैं। भाव के अनुभाव या अनुभवगोचर बनाने के ही कारण इन्हें अनुभाव कहते हैं। अनुभाव चार प्रकार के होते हैं—कायिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य। भाव दो प्रकार के होते हैं एक स्थायी दूसरे अस्थायी। स्थायी भाव विस्तीर्ण महासागर के समान स्थिर रहनेवाले होते हैं और अस्थायी भाव उस महासागर में उठ कर गिरनेवाली लहरों के समान आते-जाते रहते हैं। ये स्थायीभाव के सहकारी होते हैं। ये स्थायी भाव में व्यभिचरण या सञ्चरण करते हैं अर्थात् चारों ओर से घूम फिर कर बार-बार आते-जाते हैं। अतः इन भावों को व्यभिचारी या सञ्चारी के नाम से पुकारा जाता है। रति इत्यादि को स्थायी भाव इसलिये कहते हैं कि ये मनुष्यों के अन्तःकरणों में वासना रूप में सदा स्थायी बने रहते हैं। जब ये स्थायी भाव ही विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं तब इन्हें रस की संज्ञा दी जाती है। रसों के आस्वादन में विभाव, अनुभाव व्यभिचारी भाव और स्थायीभावों की प्रतीति समूहावलम्बनात्मक होती है। यह समूहावलम्बनात्मक प्रतीति घट और पट की समूहावलम्बनात्मक प्रतीति की भाँति नहीं होती, जिस घट, पट इत्यादि की पृथक्-

तारावती

पृथक् सत्ता प्रतीत हो किन्तु यह प्रतीति पानक रस के समान होती है जिसमे कपूर इत्यादि विभिन्न वस्तुओं की सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं मालूम पड़ती। इस प्रकार जब विभिन्न उपकरणों द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर कोई भाव रसनीयता धारण करता है तब उसे रसध्वनि कहते हैं। इस रसास्वादन में पाठक इतना अधिक तादात्म्य प्राप्त कर लेता है कि उसे अपनी परिमित प्रमातृ सत्ता का बोध ही नहीं रहता। इसे ही रसध्वनि कहते हैं। कभी कभी कोई भाव अनुचित होने के कारण पाठकों को पूर्ण तादात्म्य प्रदान नहीं कर सकता। पाठक अनुचित समझने के कारण उसके प्रति कुछ विराग अथवा द्वेषभाव से भर जाता है। इसको आचार्यो ने रसाभास की संज्ञा प्रदान की है। जिस प्रकार पानक रस मे किसी द्रव्य का स्वाद सर्वातिशायी होकर प्रमुख बन जाता है उसीप्रकार रसास्वादन के मध्य मे भी कोई भाव प्रमुखता को धारण कर लेता और पाठकों या दर्शकों के लिये पूरा रस आस्वाद का विषय न होकर वही भाव आस्वाद्य हो जाता है। उसे भाव-ध्वनि कहते हैं। जब उसी भाव में अनौचित्य का प्रतिभास होता है तब उसे भावाभास कहते हैं। कभी भाव का उत्पन्न होना ही आस्वाद का विषय होता है कभी उसका समाप्त होना, कभी दो भावों की सन्धि, कभी अनेक भावों का सङ्घात ही आस्वाद का विषय होता है। इस आधार पर आचार्यों ने भावोदय, भाव-शान्ति, भावसन्धि, भावशबलता इत्यादि को भी आस्वाद्य बतलाया है। यद्यपि रसोदय, रसशान्ति, रससन्धि इत्यादि नामकरण भी किये जा सकते हैं किन्तु रस अखण्ड सत्ता ही मानी जाती है, रस में उत्पत्ति, विनाश, सन्धि इत्यादि उपाधियाँ नहीं होतीं। दूसरी बात यह है कि रस की सत्ता भी भाव से अभिन्न होती है, अतः भावो के औपाधिक भेद से ही काम चल सकता है। इसीलिये आचार्यो ने रसोदय इत्यादि के नामकरण की आवश्यकता नहीं समझी। यही असंलक्ष्यक्रम का संक्षिप्त विषय-विस्तार है।

एक दूसरा प्रश्न भी आचार्यों के विचार का विषय रहा है और वह है—परिशीलक का विभाव इत्यादि से क्या सम्बन्ध होता है जो कि उसे दूसरे के भाव में आनन्द आता है, उस रसास्वादन की प्रक्रिया क्या है? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यों ने भरतमुनि के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस रस सूत्र की व्याख्या में खोजने की चेष्टा की है। सूत्र की अनेक प्रकार की व्याख्यायें की गई हैं और उनसे अनेक वादों का प्रचलन हुआ है। काव्यप्रकाशकार ने ४ प्रमुखवादों का परिचय दिया है। अतः उनका परिचय देना सर्वदा वाञ्छ-

तारावती

नीय होगा। इस सूत्र के दो शब्दों की व्याख्या ही विभिन्नवादों के प्रवर्तन में कारण हुई है—एक है 'संयोगात्' और दूसरा है 'निष्पत्ति'।

(१) प्रथम सिद्धान्त है भट्टलोल्लट तथा उनके अनुयायियों का। इस सिद्धान्त में निष्पत्ति शब्द का अर्थ किया गया है उत्पत्ति और संयोगात् शब्द का अर्थ किया गया है उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध। यह व्याख्या मीमांसकों के मत पर आधारित है। इसका सारांश इस प्रकार है—जब हम किसी नाटक को देखते हैं, या काव्य का अध्ययन करते हैं तो रति इत्यादि रसों के स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है। (१) नायिका इत्यादि आलम्बन और उद्यान इत्यादि उद्दीपन दोनों ही प्रकार के विभाव रति इत्यादि भावों को उत्पन्न करते हैं। (२) कटाक्ष भुजाक्षेप इत्यादि जितने भी अनुभाव हैं और जिन्हें हम स्थायी भावों का कार्य कह सकते हैं, वे स्थायीभाव को इस योग्य बना देते हैं कि उसकी उत्पत्ति की प्रतीति हो सके अर्थात् दूसरे लोग उसकी उत्पत्ति को समझ सकें। (३) निर्वेद इत्यादि व्यभिचारी भाव जिन्हें हम स्थायी भावों का सहकारी कारण कह सकते हैं, इस स्थायी भाव का पोषण करते हैं यही रति इत्यादि स्थायी भावों की उत्पत्ति का स्वरूप है। इन भावों की उत्पत्ति प्रधान रूप से मुख्य वृत्ति से वास्तविक राम इत्यादि में ही होती है। जिसका कि नर्तक रङ्गमञ्च पर अनुकरण करता है। कारण यह है कि आलम्बन सीता इत्यादि से उसी का साक्षात् सम्बन्ध होता है। नर्तक राम इत्यादि का रूप धारण कर लेता है और दर्शक लोग उसी को राम समझने लगते हैं। अतएव वस्तुतः न होते हुये भी नर्तक में भी दर्शकों को रस की प्रतीति होने लगती है। यह प्रतीति उसीप्रकार की होती है जिस प्रकार रस्सी में साँप की प्रतीति होती है।

इस मत का सारांश यह है कि सीता इत्यादि आलम्बन से वास्तविक राम इत्यादि का ही सम्बन्ध होता है। अतः उन्हीं के हृदय में रति इत्यादि भाव उत्पन्न हो सकते हैं। नर्तक का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः नट के हृदय में भाव उत्पन्न नहीं हो सकते। नट राम इत्यादि का अभिनय करता है। अतः दर्शक भ्रमवश उसे ही राम समझ लेते हैं और उसी में उन्हें रस की प्रतीति होने लगती है।

किन्तु यह मत समीचीन नहीं। इसमें कई दोष हैं पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्त में इस बात की उचित व्याख्या नहीं की जा सकी है कि दर्शकों को रसास्वादन क्यों होता है? इसमें तो केवल इतना बतलाया गया है कि रस की उत्पत्ति राम में होती है और नर्तक में उसकी प्रतीति होती है। दर्शकों का सीता

तारावती

इत्यादि आलम्बनों से क्या सम्बन्ध है। जो उन्हें भी उनके प्रेम में आनन्द आता है? दूसरी बात यह है कि रसों और विभावादिकों में कार्य-कारण भाव माना गया है जो सर्वथा असङ्गत है। कारण कभी न कभी कार्य से पृथक् अपना अस्तित्व अवश्य रखता है किन्तु यहाँ विभावादि की सत्ता रस के अभाव में सम्भव ही नहीं। इन्हीं कारणों से यह सिद्धान्त माननीय नहीं ठहरता।

दूसरा सिद्धान्त है न्यायशास्त्र का अनुसरण करनेवाले श्री शंकुक तथा उनके अनुयायियों का। इस सिद्धान्त का अनुसरण करनेवाले निष्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति न मानकर अनुमिति तथा 'संयोगात्' का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक भाव मानते हैं। इनके मत में रस उत्पन्न नहीं किया जाता किन्तु उसका अनुमान किया जाता है। वह सिद्धान्त इस प्रकार है—जब नट राम इत्यादि किसी पात्र का अभिनय करता है उस समय दर्शकों को यह प्रतीत होने लगता है कि 'यह राम ही है'। इस प्रतीति को हम उन चारों प्रकार की प्रतीतियों में सन्निविष्ट नहीं कर सकते जो लोक में या न्यायशास्त्र में मानी जाती हैं—(१) इसे हम 'यही राम है' अथवा 'यह राम ही है' इस प्रकार की दो सम्यक् प्रतीतियों के अन्दर सन्निविष्ट नहीं कर सकते। सम्यक् प्रतीति वहीं पर होती है जहाँ सचमुच राम उपस्थित हो। यहाँ सचमुच राम उपस्थित नहीं है। अतएव यह प्रतीति यहाँ पर नहीं हो सकती। (२) यहाँ पर 'यह राम हैं' इस प्रकार की मिथ्याप्रतीति भी नहीं हो सकती। मिथ्याप्रतीति वहीं पर होती है जहाँ राम न हो और उनको कोई राम कहे तथा जहाँ पर बाद में बाध अवश्य हो और यह प्रतीति होने लगे कि यह राम नहीं है। यहाँ पर यह मिथ्याप्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि इस प्रतीति में उत्तरकालिक बाध नहीं होता। (३) इसे हम 'राम है या नहीं' इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति भी नहीं कह सकते। यह संशयात्मक प्रतीति इसलिये नहीं कही जा सकती क्योंकि हमे यहाँ पर सशय का अनुभव नहीं होता। (४) 'यह राम के समान है' इस प्रकार की सादृश्य की प्रतीति भी यहाँ पर नहीं होती। क्योंकि हमें सादृश्य का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार यह प्रतीति सम्यक् मिथ्या संशय और सादृश्य इन चारों प्रकार की लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण उसी प्रकार की नई ही प्रतीति होती है जिस प्रकार चित्र में बने हुये घोड़े की प्रतीति होती है। जब नट—'यह प्राणेश्वरी मेरे नेत्रों के सामने आ गई, यह वही मेरी प्रियतमा है जो स्पर्शमात्र से ही समस्त सन्ताप को शान्त कर देनेवाली होने के कारण मेरे अङ्गों के लिये सुधारस की वृष्टि प्रतीत होती है। नेत्रों के लिये ऐसी ही आनन्ददायिनी है जैसे मानों कर्पूर की आर्द्र सलाई हो। यह ऐसी ही प्रिय प्रतीत हो रही है मानों मन

तारावती

की मनोरथ-लक्ष्मी साक्षात् शरीर धारण कर आ गई हो।' इस प्रकार के संयोग सम्बन्ध से काव्यवाक्यों का अनुसन्धान करता है, अथवा—'दैववश आज मेरा उस चपल और विशाल नेत्रोंवाली नायिका से वियोग हुआ है और आज ही यह ऐसा समय भी आ उपस्थित हुआ जिसमें विलोल जलद हर समय घिरे रहते हैं।' इस प्रकार के काव्यगत वियोग-वाक्यो का अनुसन्धान करता है तथा शिक्षा और अभ्यास का आश्रय लेकर कलाकौशल प्रकट करता है, तब उन काव्यगत वाक्यों के अनुसन्धान के बल पर शिक्षा और अभ्यास के द्वारा प्रदर्शित किये हुये कार्य के बल पर उसी नट के द्वारा भावो के जिन कारणों कार्यों और सहकारियों को अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया जाता है वे होते तो वास्तव में कृत्रिम हैं किन्तु कला-कौशल की सूक्ष्मता के कारण कृत्रिम मालूम नही पड़ते। इस प्रकार वे अपना कारण कार्य और सहकारी कारण नाम छोड़कर विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के नाम से पुकारे जाने लगते हैं। इनसे एक प्रकार की व्याप्ति बनती है और वह इस प्रकार की होती है—'जहाँ कहीं इन विभावादिकों का संयोग होता है वहाँ रति इत्यादि भाव अवश्य उत्पन्न होते हैं। इस व्याप्ति में गम्य अर्थात् अनुमाप्य तो रति इत्यादि भाव हैं और गमक अर्थात् अनुमापक विभावादिकों का संयोग है। इस व्याप्ति के बल पर नट में रति इत्यादि भावों का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु इसमें वस्तु की एक ऐसी सुन्दरता होती है जिससे उसमे आस्वाद उत्पन्न करने की अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। यही कारण है कि अनुमान होते हुये भी अन्य अनुमानों से विलक्षण होने के कारण यह अनुमान रूप में प्रतीत नहीं होता। तब इसका नाम स्थायी भाव पड़ जाता है। इस स्थायिभाव का अनुमान नट में ही लगाया जाता है। यद्यपि यह नट में विद्यमान नहीं होता है किन्तु समाज में उपस्थित दर्शक गण अपनी वासना से प्रेरित होकर इस रस का चर्वण करते है। यही रस कहलाता है।

इस मत का साराश यह है कि जिस प्रकार उड़ती हुई धूल को धुआँ समझकर धूल में नियत अग्नि का कोई अनुमान लगा ले उसी प्रकार जब तक यह प्रकट करता है कि ये विभावादि हमारे ही हैं तब विभावादि में नियत रति इत्यादि भावका दर्शक लोग नट मे ही अनुमान कर लेते हैं। यद्यपि वह रतिभाव उसमे होता नहीं है। वही अनुमित रति भाव सामाजिकों के आस्वादन का कारण बनकर रस बन जाता है।

किन्तु इस मत मे भी दोष हैं। पहली बात तो यह है कि इस मत मे यह भुला दिया गया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कार का कारण होता है। जो चमत्कार प्रत्यक्ष

तारावती

ज्ञान के द्वारा हो सकता है वह अनुमानजन्य ज्ञान के द्वारा नहीं। दूसरी बात यह है कि इस शङ्का का इसमें भी कोई समाधान नहीं किया गया कि जब दर्शक का आलम्बन से किसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं है तब उसे रसास्वादन होता कैसे है? इस प्रकार तर्क के सामने यह सिद्धान्त भी निस्सार सिद्ध हो जाता है।

(३) तीसरा मत है साख्य शास्त्र के अनुयायी भट्टनायक तथा उनका अनुसरण करनेवाले अन्य आचार्यों का। इस मत के अनुयायी निष्पत्ति शब्द का अर्थ करते हैं भुक्ति और संयोग शब्द का अर्थ है भोज्य-भोजक भाव सम्बन्ध। इस प्रकार उनका कहना है कि समाजिकों को प्रतीत होनेवाली इसकी सत्ता नायक अथवा उसका अनुसरण करनेवाले नर्तक के अन्दर नहीं मानी जा सकती और न उसकी सत्ता आत्मगत ही मानी जा सकती है; न यह उत्पन्न ही होता है और न अभिव्यक्त ही। नायक में रस की सत्ता अङ्गीकृत नहीं की जा सकती क्योंकि नायक उपस्थित नहीं है; अतः नायक के भाव भी उपस्थित नहीं हैं। जो असत् है सत्ता के द्वारा वह कभी भी प्रमाण का विषय हो सके यह सर्वथा असम्भव है। नर्तक में भी रस की सत्ता नहीं मानी जा सकती क्योंकि जब सामाजिक के हृदय में स्वयं ही उसकी स्थिति नहीं है तो नर्तक में उसका अनुमान कर लेने पर भी सामाजिक के हृदय मे चमत्कार की उद्भावना हो ही कैसे सकती है? रस सामाजिक के हृदय में भी विद्यमान नहीं माना जा सकता। दर्शक या सामाजिक के हृदय में रस के विद्यमान होने का यह आशय है कि जब कोई दर्शक नाटक को देखता है तो आनन्दातिरेक के कारण उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि वह नायक के अतिरिक्त कोई और है। वह अपने को नायक ही समझने लगता है। इस प्रकार जब वह अपने को दुष्यन्त या राम के रूप में देखता है तब उसका शकुन्तला या सीता के प्रति प्रेम का आस्वादन करना सङ्गत हो जाता है। किन्तु यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि सीता ऐसी जो पूज्य नायिकायें हैं और जिन्हें हम जगन्माता मानते हैं वे ही हमारे प्रेम का आधार कैसे हो सकती है। दूसरी बात यह है कि कुछ ऐसे कार्य हैं जो हमारे कृतिसाध्य नहीं हो सकते। जैसे समुद्र पर पुल बाँधना एक ही बाण से समुद्र को क्षुब्ध कर देना इत्यादि। ऐसे कार्यो का हम अपने को आश्रय मान भी कैसे सकते हैं? तीसरी बात यह है कि यदि दर्शक अपने को नायक ही समझने लगेगा तो नायक के दुःख मे दर्शक को दुःखी होना चाहिये। किन्तु ऐसा होता नहीं है। दर्शक को नायक के शोक में भी आनन्दानुभूति ही होती है। रस उत्पन्न भी नहीं होते क्योंकि विभाव इत्यादि वास्तविक नहीं हैं और अवास्तविक वस्तु से किसी भी पदार्थान्तर की उत्पत्ति होना असम्भव

तारावती

है। रस अभिव्यक्त नहीं होता क्योंकि व्यञ्जना से सिद्ध वस्तु ही किसी भाव को व्यञ्जित कर सकती है। सिद्ध न होने के कारण यहाँ व्यञ्जना का अवसर ही नहीं है। किन्तु होता यह है कि काव्य और नाट्य में अभिधा और लक्षणा से भिन्न एक और वृत्ति मानी जाती है जिसका नाम है भावकत्व वृत्ति। इसका काम यह होता है कि यह विभावादिकों तथा आश्रयों के व्यक्तित्व अंश को हटाकर उन्हें सर्व-साधारण की एक वस्तु बना देती है। उदाहरण के लिये मान लो हम दुष्यन्त के शकुन्तला के प्रति प्रेम का अभिनय देख रहे हैं तो इस भावकत्व वृत्ति का यह काम होगा कि वह दुष्यन्त के अन्दर से दुष्यन्तत्व और शकुन्तला के अन्दर से शकुन्तलात्व को निकाल देगी तथा हमारे लिये दुष्यन्त का अर्थ होगा संसार के हम सभी मनुष्य और शकुन्तला का अर्थ होगा संसार की सभी प्रेमिकायें। उस अवस्था में रङ्गमञ्च पर अवतीर्ण शकुन्तला को अपनी प्रेमिका के रूप में देखकर हम सभी उसके प्रेम का आस्वादन करने के योग्य हो सकते हैं। इस भावकत्व वृत्ति के अतिरिक्त एक वृत्ति और होती है जिसका नाम है भोजकवृत्ति। इस भोजकवृत्ति का काम यह है कि यह मनुष्यों के हृदयों पर पड़े हुये रजस् और तमस् के आवरण को–जो रसास्वादन प्रक्रिया में व्यवधान डालते हैं–दूर कर देती है। और शुद्ध सत्त्वगुणों का आविर्भाव और उद्रेक कर देती है। उस सत्त्व के उद्रेक से जो प्रकाश उत्पन्न होता है उसमें केवल ऐसा ज्ञान शेष रह जाता है जिसमे चारों ओर आनन्द ही आनन्द होता है तथा संसार की अन्य समस्त वस्तुये तिरोहित हो जाती हैं। भावकत्ववृत्ति के द्वारा रति इत्यादि स्थायी भाव का साधारणीकरण कर दिया जाता है; अर्थात् दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम सर्वसाधारण के प्रेम का रूप धारण कर लेता है और भोजकवृत्ति के द्वारा लोगों की चित्तवृत्तियाँ इस योग्य बना दी जाती है कि वे रसास्वाद कर सकें। इसीप्रकार रस का भोग होता है। रस के भोग का यही तात्पर्य है।

इस सिद्धान्त का आशय यह है, कि जिस प्रकार शब्द की अभिधावृत्ति होती है उसी प्रकार दो वृत्तियाँ और होती हैं, एक का नाम है भावक और दूसरी का भोजक। भावकवृत्ति का काम विभावादि से व्यक्तिरूप अंश को पृथक्कर उसे सर्वसाधारण की वस्तु बना देना है और भोजक-वृत्ति का यह काम है कि वह सर्व-साधारण की चित्तवृत्ति को रसास्वादन के योग्य बना दे। बस इन्हीं दो वृत्तियो के आधार पर रसास्वादन होता है।

इस सिद्धान्त के द्वारा यह आपत्ति तो दूर हुई कि दर्शकों और पाठकों के रसास्वादन के हेतु की कोई व्याख्या नहीं की जा सकी थी। किन्तु एक आपत्ति और

तारावती

सर पर आई कि भावकत्व और भोजकत्व ये दो वृत्तियाँ कल्पित करनी पड़ीं। एक को यदि व्यञ्जना भी मानें तो भी एक और अधिक वृत्ति मानने का दोष तो आ ही जायेगा। दूसरी बात यह है कि रसास्वादन की जो प्रक्रिया बतलाई गई है वह भी सर्वथा नई ही है परम्परानुमोदित नहीं। अतएव यह सिद्धान्त भी त्याज्य है।

(४) चतुर्थ मत है आचार्य अभिनव गुप्त का। यह मत अलङ्कार शास्त्र के आधार पर स्थिर किया गया है। इसमे संयोग का अर्थ मिलन माना गया है और निष्पत्ति शब्द का अर्थ अभिव्यक्ति माना गया है। इस सिद्धान्त का सार यह है—रति इत्यादि स्थायीभाव उन सहृदयों के हृदयों में वासनारूप में निरन्तर विद्यमान रहते हैं जिन्हें लोक मे प्रमदा इत्यादि कारणों, कटाक्ष इत्यादि कार्यों और निर्वेद इत्यादि सहकारियों के आश्रय से स्थायीभाव का अनुमान करने की पूर्ण पटुता प्राप्त हो चुकी है। अनुमान का प्रकार यह होगा—अमुक व्यक्ति-अमुक व्यक्तिविषयक रतिवाला है; क्योंकि उसमें कटाक्ष इत्यादि कार्य और लज्जा इत्यादि सहकारी विद्यमान हैं। जो रति के कार्यों और सहकारियों से युक्त होता है वह रतिवाला होता है। जैसे देवदत्त स्वकान्ताविषयक रतिवाला है। वैसा ही अमुक व्यक्ति भी है। अतएव अमुक व्यक्ति उसी प्रकार का (रतिमान्) है। तर्कशास्त्र के यहाँ पञ्चावयव वाक्य है। इस अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा जो लोग लौकिक भावनाओं का अनुमान लगाने में पटु हैं उनके अन्दर वासनारूप में स्थायीभाव निरन्तर विद्यमान रहते हैं। इन स्थायी भावों की अभिव्यक्ति उन्हीं प्रमदा कटाक्ष निर्वेद इत्यादि कारणों कार्यों और सहकारियों के सम्मिलन से ही होती है। किन्तु इसमे विशेषता यह है कि जब ये कारण कार्य और सहकारी काव्य और नाट्य के क्षेत्र मे आते हैं तब ये अपना कार्य इत्यादि नाम छोड़ देते हैं और इनके लिये विभाव इत्यादि ऐसे शब्दों का प्रयोग होने लगता है जिनका व्यवहार लोक में नहीं होता। इस नामकरण का कारण यह है कि इनमें एक प्रकार की अलौकिकता होती है। वह अलौकिकता यह है कि लोक में हर्ष शोक और मोह के कारणों से हर्ष शोक और मोह उत्पन्न होते हैं किन्तु काव्य में समस्त कारणों से केवल आनन्द ही उत्पन्न होता है। दूसरी बात यह है कि काव्य और नाट्य में इन कारणादिकों मे एक नये प्रकार की क्रिया या व्यापार होता है जिसे विभावन अनुभावन इत्यादि संज्ञाओं से अभिहित किया जा सकता है और जिनके आधार पर विभावादि शब्दों का नामकरण हुआ है। किसी विशेष व्यक्ति से इनके किसी प्रकार के सम्बन्ध को स्वीकार करने का नियम नहीं है जिससे हम यह कह सकें कि यह हमारा ही है, यह शत्रु का ही है यह किसी अन्य तटस्थ व्यक्ति का ही है। और न किसी विशेष

तारावती

व्यक्ति से किसी विशेष प्रकार के सम्बन्ध के परित्याग का ही नियम है जिससे हम यह कह सकें कि यह हमारा भी नहीं है यह शत्रु का भी नहीं है और यह किसी तटस्थ व्यक्ति का भी नहीं है। हम इस आलम्बन इत्यादि को अपना नहीं कह सकते। यदि उसे हम अपना समझें तो अपने ही प्रेम इत्यादि का सबके सामने अभिनय होता देखकर हमे आनन्द के स्थान पर लज्जा का ही अनुभव होगा। यदि शत्रु का समझें तो आनन्द के स्थानपर द्वेष ही होगा। यदि उदासीन का समझें तो आनन्द के स्थानपर हम उदासीन हो जावेंगे। यदि हम यह समझने लगेंगे कि हमारा भी नहीं है, शत्रु का भी नहीं है और उदासीन का भी नहीं है तो हमे उससे सरोकार ही क्या रहेगा? बस इसी प्रकार के विभावादिकों के नाम से विख्यात कारणादिकों से दर्शकों की चित्तवृत्ति मे वासनारूप में विद्यमान रति इत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। वह अभिव्यक्ति यद्यपि उस समय नियमित रूप से अध्ययन करनेवाले के अन्तःकरण मे ही होती है किन्तु ऊपर बतलाये हुये कारणों से व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध का परित्याग कर देने के कारण साधारणीकरण के उपाय से प्रमाता के चित्त मे एक ऐसा अपरिमित भाव जाग्रत हो जाता है कि उसे उस समय अपनी परिमित प्रमातृसत्ता का ज्ञान ही नहीं रहता और उस समय उसकी दृष्टि से वे सारी वस्तुये तिरोहित हो जाती है जो जानने योग्य कही जा सकती हैं। इस प्रकार वह सारे विश्व से अपनी आत्मा को मिला देता है और सारे विश्व से एकात्म भाव का अनुभव करने लगता है। वह प्रमाता ही समस्त सहृदयों से एकाकार होकर उस रति इत्यादि भाव को प्रत्यक्ष करता है। यद्यपि यह बहुत ही साधारण रूप में उपस्थित किया जाता है और अभिन्न होता है—जिस प्रकार ज्ञान का विषय ज्ञान से भिन्न नहीं होता उसी प्रकार रस का गोचरीकरण भी रस से भिन्न नहीं होता फिर भी इसका प्रत्यक्ष होता ही है। इसके प्राण अथवा स्वरूप की निष्पत्ति इसका चर्वण करना ही है। इसका जीवन उतने ही काल का होता है जबतक विभावादि विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार इलायची मिर्च शकर कपूर इत्यादि विलक्षण वस्तुओं से बनाया हुआ पानक रस समस्त वस्तुओं के समूह से तैय्यार किये हुये एक विभिन्न प्रकार के नवीन रस को व्यक्त किया करता है उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण लोकातीत आस्वाद का चर्वण इस रस मे भी होता है। जब इसका स्वाद लिया जाता है तब ऐसा प्रतीत होता है मानो सारे शरीर का आलिङ्गन कर रहा हो अर्थात् सारे शरीर को अमृत से सींच रहा हो। यह अन्य सब कुछ तिरोहित कर देता है, यह उसी प्रकार आनन्द का अनुभव कराता है जिस प्रकार मुक्ति दशा में ब्रह्मानन्द का अनुभव

तारावती

हुआ करता है। (रसो वै सः) यह सर्वथा अलौकिक होता है क्योंकि लौकिक आनन्द केवल एक व्यक्ति को होता है किन्तु यह सर्वजनीन है तथा लौकिक आनन्द अवसान मे विरसता उत्पन्न करता है किन्तु इसमे यह बात नहीं होती। यही अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करनेवाला शृङ्गार इत्यादि रस नाम से पुकारा जाता है। इस रस को हम कार्य नहीं कह सकते क्योंकि कार्य उपादान से भिन्न अन्य कारणों के विनाश पर भी बना रहता है। जैसे घट इत्यादि कार्य दण्ड इत्यादि कारण के विनष्ट होनेपर भी बने ही रहते हैं। किन्तु रस विभावादि के नष्ट हो जानेपर नहीं रहता। रस ज्ञाप्य भी नहीं होता; क्योंकि ज्ञाप्य वही वस्तु होती है जो पूरी तौर से बन चुकी हो। जैसे घड़े के बन जाने पर ही दीपक घड़े को प्रकट कर सकता है। इसके प्रतिकूल यह रस कभी पूर्णरूप से सिद्ध ही नहीं होता केवल विभाव इत्यादि के द्वारा यह व्यञ्जनावृत्ति से प्रकट होता है और तभी यह आस्वादन के योग्य हो जाता है। इस प्रकार न यह कार्य होता है न ज्ञाप्य। यहाँपर कोई भी मुझसे पूछ सकता है कि इस रस से भिन्न क्या कहीं कोई चीज देखी गई है जो न तो कारक हो न ज्ञापक ? इसपर मेरा उत्तर होगा कि वास्तव मे ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई है। किन्तु इस प्रकार रस के समान कहीं किसी वस्तु का न देखा जाना केवल रस की अलौकिकता को ही सिद्ध करता है जो रस के लिये भूषण की ही बात है दूषण की नहीं। यदि आप चाहे तो इसे कार्य भी कह सकते हैं क्योंकि इसमे चर्वणा की उत्पत्ति होती है, जिसको लेकर रसनिष्पत्ति शब्द का व्यवहार किया जाता है। इसीप्रकार इसे हम ज्ञाप्य या ज्ञेय भी कह सकते हैं क्योंकि यह एक ऐसे स्वार्थपर्यवसित लोकोत्तरज्ञान का विषय होता है जो लोकप्रसिद्ध सभी प्रकार के ज्ञान से विलक्षण होता है। लोक के ज्ञान ये हैं—(१) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान। (२) अपूर्ण योगियों का ज्ञान जिसमे चक्षु इत्यादि बाह्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं होती। (३) परिपक्व योगियों का ज्ञान जिसमे सासारिक ज्ञेय पदार्थों का संस्पर्श भी नहीं होता और जिसका पर्यवसान अपनी आत्मा मे ही होता है। विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त किया हुआ यह ज्ञान आनन्दस्वरूप होने के कारण ज्ञाप्य भी कहला सकता है। न यह निर्विकल्पक हो सकता है न सविकल्पक। (तर्कशास्त्र मे इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क से उद्भूत ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—सवि-कल्पक और निर्विकल्पक। तर्कशास्त्र के अनुसार किसी भी विशेष प्रकार के ज्ञान में विशेषण ज्ञान कारण होता है। जैसी दण्डी के ज्ञान में दण्ड का ज्ञान कारण है। इसी प्रकार दण्ड के ज्ञान में दण्डत्व का ज्ञान कारण है। इस प्रकार विशेषण

तारावती

ज्ञान के आधार पर होनेवाले ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहलाते हैं। कुछ ऐसे ज्ञान है जिनमे कोई भी ज्ञान विशेषण नहीं होता। ऐसे ज्ञानों को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं।) रस का ग्राहक निर्विकल्पक ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि हमे रसास्वादन मे विभावादि विशेषणों का प्रत्यक्ष रूप मे अनुभव होता है। इसे हम सविकल्पक भी नहीं कह सकते क्योंकि इसका आस्वादन अलौकिक अखण्ड आनन्दमय होता है इसमे किसी प्रकार के विभेद अथवा विशेषण के लिये अवसर ही नहीं। इस प्रकार यह न तो सविकल्पक है न निर्विकल्पक। साथ ही निर्विकल्पक न होने से सविकल्पक भी कहा जा सकता है और सविकल्पक न होने से निर्विकल्पक भा हो सकता है। दोनो प्रकार का न होना और दोनों प्रकार का होना, यह जो विरोध है वह इस रसप्रक्रिया के लिये भूषण ही है दूषण नहीं क्योंकि यह इसकी अलौकिकता को ही सिद्ध करता है। यह है श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य का रसविषयक मत।

इस मत का सार यही है कि बार-बार रति इत्यादि कारणों से रति इत्यादि की उत्पत्ति देखकर संस्कार रूप में रति इत्यादि की भावना सहृदयों के हृदयों मे अपना घर कर लेती है। फिर जब हम रङ्गमञ्च पर राम और सीता का अभिनय देखते है उस समय यद्यपि वह प्रेम राम और सीता के व्यक्तित्व के अन्दर सीमित होता है किन्तु भावनाओं की स्वाभाविक प्रकृति के कारण वह सर्वसाधारण की वस्तु बनने की क्षमता रखता है और उसके लिये अलग से भावक इत्यादि वृत्तियों की कल्पना नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार साधारणीकृत रति इत्यादि अभिनीत भावों के द्वारा दर्शकों और पाठकों के अन्तःकरणों मे अवस्थित रति इत्यादि भावों का उद्बोधन हो जाता है। यह उद्बोधन व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा होता है और इस प्रकार उसका आस्वादन होने लगता है। यही रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया है। इस सिद्धान्त और भट्टनायक के सिद्धान्त में यही अन्तर है कि इसमें दो वृत्तियाँ अलग से नहीं माननी पड़तीं और पूर्वमत में दर्शकों की चित्तवृत्ति मे न रहनेवाली रति का भी आस्वादन होना था यह दोष भी न ीं रहा। इस मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इस प्रश्न का भी उत्तर हो जाता है कि सहृदयों को ही रस का आस्वादन क्यों होता है? मीमांसक वैय्याकरण इत्यादि को क्यों नहीं होता।

नाट्यसूत्र में विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव सब एक साथ मिलाकर लिख दिये गये हैं। इसका आशय यह है कि किसी वस्तु में अलग से किसी वस्तु की सत्ता नियत नहीं है। एक ही वस्तु कई भिन्न-भिन्न रसों से सम्बन्ध रख सकती है। उदाहरण के लिये भीरु पुरुषों के प्रति सिंह भयानक रस का आलम्बन हो सकता है; जिसने पहले कभी न देखा हो उसके हृदय में विस्मय पैदा करने के

ध्वन्यालोकः

तत्र—

रस-भाव-तदाभास-भावशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥ ३ ॥

(अनु०) उन दोनों भेदों में :—

'रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावप्रशान्ति इत्यादि जब अक्रम रूप मे व्यक्त हो रहे हो और प्रसाधन रूप में भी स्थित हों तब वे रस इत्यादि ध्वनि की आत्मा के रूप मे व्यवस्थित होते हैं ॥ ३ ॥

लोचन

तत्रेति । तयोर्मध्यादित्यर्थः । यो रसादिरर्थः स एवाक्रमो ध्वनेरात्मा । न त्वक्रम एव सः, क्रमत्वमपि हि तस्य कदाचिद् भवति । तदा चार्थशक्त्युद्भवानुस्वानरूप-भेदतेति वक्ष्यते । आत्मशब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह । तेन रसादिर्योऽर्थः स ध्वनेरक्रमो नाम भेदः । असंलक्ष्यक्रम इति यावत् ।

'तत्र' इति । अर्थात् उन दोनों के बीच से । जो रस इत्यादि अर्थ वही अक्रम होकर काव्य की आत्मा बनता है । वह अक्रम ही नहीं होता, उसका कदाचित् क्रमत्व भी हो जाता है । उस समय पर तो अर्थशक्त्युद्भव अनुस्वानरूप भेद यह कहेगे । 'आत्म' शब्द स्वभाव का कहनेवाला होकर प्रकार को बतलाता है। उससे रस इत्यादि जो अर्थ वह ध्वनि का अक्रम नाम भेदवाला है । आशय यह है कि जिसका क्रम लक्षित न किया जा सके ।

तारावती

कारण वही सिंह अद्भुत रस का आलम्बन हो सकता है; जिनके बान्धवों को उस सिंह ने मार डाला हो उनके हृदय मे क्रोध उत्पन्न करने के कारण वही सिंह रौद्र रस का भी आलम्बन हो सकता है । इसी प्रकार अश्रुपात इत्यादि अनुभाव शृङ्गार रस के हैं; वे ही करुण भयानक इत्यादि रसों के भी अनुभाव हो सकते हैं । चिन्ता विप्रलम्भ शृङ्गाररस का व्यभिचारी भाव है,। वही चिन्ता वीर करुण और भयानक रसों का भी व्यभिचारी भाव हो सकता है । शृङ्गार मे रूप इत्यादि की चिन्ता होती है; वीर रस में सहायक इत्यादिकों की भी चिन्ता होती है, करुण रस मे वान्धवों के अपकार इत्यादि की चिन्ता होती है और भयानक रस में भय के कारणों (प्रचण्ड वस्तुओं) इत्यादि की चिन्ता होती है ।)

'तत्र' का अर्थ है उनमे अर्थात् ऊपर बतलाये हुये दो भेदों में । जब रस इत्यादि अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) अक्रम होता है तब वह ध्वनि की आत्मा के रूप मे व्यवस्थित होता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि रस इत्यादि व्यङ्ग्यार्थों में क्रम

लोचन

ननु किं सर्वदैव रसादिरर्थो ध्वनेः प्रकारः? नेत्याह। किन्तु यदाङ्गित्वेन प्रधानत्वेनावभासमानः। एतच्च सामान्यलक्षणे गुणीकृतस्वार्थावित्यत्र यद्यपि निरूपितम्, तथापि रसवदाद्यलङ्कारप्रकाशनावकाशदानायानूदितम्। स च रसादिर्ध्वनिर्व्यवस्थित एव; न हि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम् तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात्प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः। यथा—

(प्रश्न) क्या रस इत्यादि अर्थ सर्वदा ध्वनि का प्रकार ही होता है? (उत्तर) बतलाते हैं—ऐसा नहीं होता। किन्तु जब अङ्गित्व अर्थात् प्रधानत्व के रूप में अवभासित होता है। यह यद्यपि सामान्यलक्षणा में 'स्वार्थ को गौण बनानेवाले.......' यहाँपर निरूपित कर दिया था तथापि रसवत् इत्यादि अलङ्कारों के प्रकाशन को अवकाश देने के लिये अनुवाद कर दिया गया। वह रस इत्यादि ध्वनि व्यवस्थित ही होती है। उसके बिना कोई काव्य नहीं होता। यद्यपि समस्त काव्य रस के द्वारा ही जीवित रहता है तथापि एक घन चमत्कारात्मक उस रस का भी यह चमत्कार प्रयोजन के रूप में स्थित किसी अंश से अधिक हो जाता है। उसमें जब कोई व्यभिचारी उद्रिक्त अवस्था को प्राप्त होकर चमत्कार की अधिकता का प्रयोजक हो जाता है तब वह भावध्वनि होती है। जैसे—

तारावती

होता ही नहीं। क्रम कभी-कभी रस इत्यादि अर्थों मे भी होता है। इस बात का विवेचन आगे चलकर करेंगे कि जब रस में व्यज्यमान अर्थों मे क्रम की प्रतीति होती है तब उनका अन्तर्भाव अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में ही हो जाता है। 'ध्वनि की आत्मा' मे आत्मा शब्द का अर्थ है स्वभाव और यह शब्द ध्वनि के प्रकार को प्रकट करता है। इसका आशय यह है कि रस इत्यादि जो अर्थ होता है वह ध्वनि का ही एक भेद होता है जिसका नाम 'अक्रम' होता है। इसे हम दूसरे शब्दों में असंलक्ष्यक्रम कह सकते हैं। (प्रश्न) क्या रस इत्यादि अर्थ सर्वत्र ध्वनि का प्रकार ही होता है अर्थात् जहाँ कहीं रस होता है वहाँ सर्वत्र ध्वनि ही कही जाती है? (उत्तर) नहीं। किन्तु जब रस अङ्गी अर्थात् प्रधानता के रूप में अवभासित होता है तभी वह ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है। यद्यपि यह बात प्रथम उद्योत में ध्वनि के लक्षण करने के अवसर पर ही कह दी गई थी क्योंकि वहाँ पर कहा गया था कि 'जब शब्द अपने अर्थ को और अर्थ अपने स्वरूप को गौण बनाकर प्रधानतया अवभासित होता है तब उसे ध्वनि कहते

लोचन

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति।
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः॥
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीम्।
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥

अत्र हि विप्रलम्भरससद्भावेऽपीयति वितर्काख्यव्यभिचारिचमत्क्रियाप्रयुक्त आस्वादातिशयः। व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः। यदाह—विविधमाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिण इति। तदोदयावस्थाप्रयुक्तः कदाचित्। यथा—

'कोपवश (शायद) प्रभाव से ढकी हुई स्थित हो (किन्तु) वह बहुत समय तक कुपित नहीं होती। (सम्भवतः) स्वर्ग को उछल कर चली गई हो (किन्तु) इसका मन मुझमें भावार्द्र है। देवताओं के शत्रु भी मेरे आगे स्थित उसको हरने में समर्थ नहीं हैं। और वह नेत्रों से अत्यन्त अगोचर हो गई है यह क्या विधि है?'

यहाँ पर इतने विप्रलम्भ शृङ्गार के होने पर भी वितर्क नाम के व्यभिचारी भाव के चमत्कार से उत्पन्न आस्वाद की अधिकता ही है। व्यभिचारी उदय, स्थिति और अपाय इन तीन धर्मोंवाले होते हैं। जैसा कहा है—'विविध रूप में सामने होकर जो विचरण करते है उन्हें व्यभिचारी कहते हैं। उसमें कदाचित् उदयावस्था-प्रयुक्त होता है। जैसे—

तारावती

है।' तथापि यहाँ पर पुनः कहा गया है कि 'जब रस इत्यादि अर्थ अङ्गी के रूप में अवभासित होते हैं तब उनको ध्वनि कहते हैं।' इस पुनः कथन का मन्तव्य यह है कि आगे चलकर रसवत् इत्यादि अलङ्कारों का प्रकाशन करेंगे। वहाँपर यह बतलाया जावेगा कि रस इत्यादि कहाँ पर गौण होते हैं और उनके गौण होने पर उनका क्या नाम होता है। उसी वर्णन को अवकाश प्रदान करने के लिये यहाँ पर पुनः दोहरा दिया गया है कि जहाँ पर रस इत्यादि प्रधान होते हैं वहीं पर ध्वनि होती है। 'व्यवस्थित' शब्द का आशय यह है कि वह रस इत्यादि ध्वनि व्यवस्थित ही होती है। उससे शून्य कोई काव्य नहीं होता। (जब रजस् और तमस् का आवरण भङ्ग हो जाता है और सत्त्व का उद्रेक होता है तथा चित्तवृत्ति रति इत्यादि से अवच्छिन्न चेतनामय हो जाती है तब उसे रस कहते हैं।) यद्यपि समस्त काव्य रस से ही जीवित होता है तथापि रस चमत्कारस्वरूप एकघन होता है तथा यह चमत्कार उस रस के किसी अंश से और अधिक बढ जाता है। अतः उस चमत्कारस्वरूप आस्वादन में वही अंश प्रधान माना जाता है। उस रस मे जब कोई व्यभिचारी भाव इस प्रकार उद्रिक्त अवस्था को

लोचन

यातं गोत्रविपर्यये श्रुतिपथं शय्यामनुप्राप्तया ।
निर्ध्यातं परिवर्तनं पुनरपि प्रारब्धुमङ्गीकृतम् ॥
भूयस्तत्प्रकृतं कृतञ्च शिथिलक्षिप्तैकदोर्लेखया ।
तन्वङ्ग्या न तु पारितः स्तनभरः क्रष्टुं प्रियस्योरसः ॥

अत्र हि प्रणयकोपस्योज्जिगमिषयैव यदवस्थानं न तु पारित इत्युदयावकाश-निराकरणात्तदेव काव्यजीवितम् । स्थितिः पुनरुदाहृता—'तिष्ठेत् कोपवशात्'

गोत्रस्खलन के कर्णगोचर होनेपर शय्या को प्राप्त होनेवाली नायिका के द्वारा परिवर्तन (करवट बदलने) का ध्यान किया गया और फिर प्रारम्भ भी अङ्गीकार किया गया । फिर उसको प्रयत्न का विषय बनाया और एक भुजलता को शिथिल कर तथा दूसरी ओर डालकर (वह कार्य) किया भी; किन्तु वह कृशाङ्गी स्तन-भार को प्रियतम के हृदय से पृथक् करने में समर्थ नहीं हो सकी ।'

यहाँ पर प्रणय कोप का उदयावस्था में ही जो स्थित होना 'समर्थ नहीं हो सकी' इस (कथन के द्वारा) उदयावकाश के निराकरण कर देने से वही आस्वाद का जीवन है । 'तिष्ठेत् कोपवशात्.......' इत्यादि पद्य के द्वारा स्थिति का उदा-

तारावती

प्राप्त होकर चमत्कार का प्रयोजक होता है तब उसे भावध्वनि कहते हैं । जैसे विक्रमोर्वशीय मे उर्वशी के वियोग मे पुरूरवा कह रहे हैं :—

'सम्भव हो सकता है कि क्रोध के कारण वह अपने प्रभाव से अन्तर्धान हो गई हो ? किन्तु क्रोध तो वह अधिक समय तक करती नहीं । सम्भवतः स्वर्ग को चली गई हो । किन्तु मेरी ओर उसका मन भावपूर्ण तथा आर्द्र है । (अतः वह मुझ को छोड़ कर स्वर्ग को नहीं जा सकती ।) देवताओं के शत्रु भी मेरे सामने से उसे हरकर नहीं ले जा सकते । किन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि वह बिल्कुल ही मेरे नेत्रों के सामने से ओझल हो गई है ।'

यहाँपर विप्रलम्भ शृङ्गार विद्यमान है किन्तु आस्वाद वितर्क नामक व्यभि-चारी भाव के ही कारण होता है । व्यभिचारी भाव तीन प्रकार के होते हैं—(१) उदय की अवस्था मे, (२) स्थिति की अवस्था में, तथा (३) विनाश की अवस्था मे । जैसाकि कहा गया है—'विविध रूप में अभिमुख होकर जो विचरण करते है उन्हे व्यभिचारी कहते हैं ।' (विविध कहने से उनकी त्रिप्रकारता व्यक्त होती है ।) उनमे व्यभिचारी भाव कभी उदयावस्था मे ही चमत्कार तथा आस्वा-दन मे निमित्त होता है । उदाहरण :—

'नायिका प्रियतम के साथ एक ही शय्या पर लेटी हुई थी । सहसा प्रियतम

लोचन

इत्यादिना । क्वचित्तु व्यभिचारिणः प्रशमावस्थया प्रयुक्तश्चमत्कारः । यथोदाहृतं प्राक्—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया' इति । अयं तत्प्रशम इत्युक्तः। अत्र चेर्ष्याविप्रलम्भस्य रसस्यापि प्रशम इति शक्यं योजयितुम् ।

क्वचित्तु व्यभिचारिणः सन्धिरेव चर्वणास्पदम् । यथा—

ओसुरु सुम्ठि आइं मुहु चुम्बिइ जेण ।
अमिअरस घोण्टाणं पडिजाणिउ तेण ॥

इत्यत्र श्रुत्युक्ते तु कोपे कोपकषायगद्गदमन्दरुदितापायेन मुखं चुम्बितं तेनामृतरसनिगरणविश्रान्तिपरम्पराणां तृप्तिर्ज्ञातेति कोपप्रसादसन्धिश्चमत्कारस्थानम् ।

हरण दे ही दिया गया । कहीं व्यभिचारी का प्रशमावस्थाप्रयुक्त चमत्कार होता है । जैसा कि पहले उदाहरण दिया गया—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया ...' इत्यादि । यह उसका प्रशम है यह कहा गया । यह ईर्ष्या विप्रलम्भ रस का भी प्रशम है यह योजना की जा सकती है । कहीं तो व्यभिचारी की सन्धि भी चर्वणा का स्थान होती है । जैसे—

'जिसने ईर्ष्या के आँसुओं से शोभित (नायिका) के मुख का चुम्बन किया उसने अमृतरस के निगरण की तृप्ति जान ली ।'

यहाँ पर शब्दश्रुति के द्वारा क्रोध के कहे जाने पर 'कोप से कलुषित गद्गद तथा मन्द-मन्द रोनेवाली (नायिका) के मुख का जिसने चुम्बन किया उसने अमृतरस-निगरण से उत्पन्न विश्राम परम्परा की तृप्ति जान ली । इस प्रकार कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कार का स्थान है ।

तारावती

के मुख से गोत्रस्खलन हो गया । (नायिका का नाम लेने के स्थान पर उसकी सौत का नाम मुख से निकल गया ।) जब वह सौत का नाम नायिका के कर्णगोचर हुआ तब उसने दूसरी ओर करवट लेने का विचार किया, करवट बदलने का उद्योग प्रारम्भ करना भी चाहा; उसके लिये उद्योग किया भी और अपनी बाहुलता को ढीला करके तथा दूसरी ओर डालकर उस कार्य की पूर्ति भी की । किन्तु वह कृशाङ्गी प्रियतम के वक्षःस्थल से अपने स्तनों के भार को खींचकर पृथक् करने मे समर्थ न हो सकी ।'

यहाँपर प्रणयकोप का उदय होना ही चाहता था, किन्तु 'समर्थ न हो सकी' कहकर उसका निराकरण कर दिया गया, इस प्रकार उदयावस्था मे स्थित प्रणयकोप ही यहाँ पर आस्वाद का जीवन है । भावस्थिति का उदाहरण—'तिष्ठेत्को-

लोचन

क्वचिद्व्यभिचार्यन्तरशवलतैव विश्रान्तिपदम् । यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा ।
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ॥
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा ।
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥

कहीं व्यभिचारी की आन्तरिक शबलता ही विश्राम स्थान होती है । जैसे—

'कहाँ तो यह दुष्कर्म और कहाँ शशाङ्क का निर्मल कुल ? वह फिर दिखलाई पड जाती ?? हमारा शास्त्र तो दोषों को शान्त करने के लिये होना चाहिये ? अहो उसका मुख तो क्रोध में भी सुन्दर है । पापरहित कुशलबुद्धिवाले न जाने क्या कहेगे ? वह तो स्वप्न में भी दुर्लभ है। हेचित्त स्वास्थ्य को प्राप्त हो । न जाने कौन धन्य युवक उसका अधरपान करेगा ?'

तारावती

पवशात् प्रभावपिहिता.......' इस पद्य में दिया ही जा चुका है।कहीं पर व्यभिचारी भाव की प्रशमावस्था ही चर्वणा का स्थान होती है । जैसा कि पहले—'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया ......' इस उदाहरण की व्याख्या मे बतलाया जा चुका है (पृष्ठ १८६)।वहाँ पर ईर्ष्या और रोष का प्रशम आस्वाद मे कारण बतलाया गया था । ईर्ष्या विप्रलम्भ का प्रशम भी आस्वादन में कारण होता है यह भी योजना यहाँ पर की जा सकती है । (वस्तुतः ईर्ष्या भाव की प्रशान्ति मानना ही ठीक है । क्योकि आचार्यो ने रस के अखण्डस्वरूप होने के कारण उसके रसोदय इत्यादि भेद नहीं माने हैं ।)

कहीं-कहीं दो व्यभिचारी भावो की सन्धि भी रसचर्वणा मे कारण होती हैं । जैसे उक्त प्राकृत गाथा जिसकी संस्कृत छाया इस प्रकार की हो सकती है :—

ईर्ष्याश्रुशोभितायाः मुखं चुम्बितं येन ।
अमृतरसनिगरणानां तृप्तिर्ज्ञाता तेन ॥

'ईर्ष्या के आँसुओं से शोभित होनेवाली नायिका के मुख का जिसने चुम्बन किया उसने ही ठीक रूप मे जान पाया कि अमृत रस को पीने मे कैसी तृप्ति होती है ?'

यहाँपर कोप शब्द का कण्ठरव से उच्चारण किया गया है।जिस समय प्रियतमा क्रोध के कारण कषाय और गद्गद कण्ठ से मन्द-मन्द रो रही हो उस समय उसके मुख को चुम्बन करने का जिसे सौभाग्य प्राप्त हो गया उसे मानो अमृत रस को स्वाद ले-लेकर और रुक-रुककर पीने का आनन्द प्राप्त हो गया । यहाँपर कोप और प्रसाद की सन्धि चमत्कार मे कारण है ।

लोचन

अत्र हि वितर्कौत्सुक्ये, मतिस्मरणे, शङ्कादैन्ये, धृतिचिन्तने परस्परं बाध्यबाधकभावेन द्वन्द्वशो भवन्ती पर्यन्ते तु चिन्ताया एव प्रधानतां ददती परमास्वादस्थानम्। एवमन्यदप्युत्प्रेक्ष्यम्। एतानि चोदयसन्धिशबलत्वादिकानि कारिकायामादिग्रहणेन गृहीतानि।

नन्वेवं विभावानुभावमुखेनाप्यधिकश्चमत्कारो दृश्यत इति विभावध्वनिरनुभावध्वनिश्च वक्तव्यः। मैवम्; विभावानुभावौ तावत्स्वशब्दवाच्यावेव। तच्चर्वणापि चित्तवृत्तिष्वेव पर्यवस्यतीति रसभावेभ्यो नाधिकं चर्वणीयम्। यदा तु विभावानुभावावपि व्यङ्ग्यौ भवतस्तदा वस्तुध्वनिरपि किं न सह्यते? यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः। यथा रावणकाव्याकर्णने शृङ्गाराभासः। यद्यपि 'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यः' इति मुनिना निरूपितं तथाप्यौत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्।

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्।
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना॥

यहाँपर निस्सन्देह वितर्क-औत्सुक्य, मति-स्मरण, शङ्का-दैन्य, धृति-चिन्ता परस्पर बाध्य-बाधकभाव से जोडे में होते हुये, अन्त में चिन्ता को ही प्रधानता देते हुये परम आस्वाद का स्थान है। इसी प्रकार अन्य की भी उत्प्रेक्षा कर ली जानी चाहिये। ये उदय, सन्धि और शबलत्व इत्यादि कारिका में आदि ग्रहण से ग्रहण किये गये हैं।

(प्रश्न) इस प्रकार विभाव-अनुभावमुख से भी अधिक चमत्कार देखा जाता है इस प्रकार विभावध्वनि और अनुभावध्वनि भी कही जानी चाहिये। (उत्तर) ऐसा मत कहो। विभाव और अनुभाव तो स्वशब्दवाच्य ही होते हैं। उनकी चर्वणा भी चित्तवृत्तियों मे ही पर्यवसित होती है इस प्रकार रस और भाव से अधिक चर्वणा योग्य नहीं होता। जब विभाव और अनुभाव भी व्यङ्ग्य होते हैं तो वस्तुध्वनि को भी क्यों नहीं सहन किया जाता? जब तो विभावाभास से रत्याभास का उदय हो तब विभाव के आभास से चर्वणा का आभास होता है तब रसाभास का विषय होता है। जैसे रावणकाव्य के सुनने मे शृङ्गाराभास होता है। यद्यपि मुनि ने निरूपित किया है कि 'जो शृङ्गारानुकृति होती है वह हास्य कहलाती है' तथापि वहाँपर हास्यरस उत्तरकालिक होता है।

'दूरसे आकर्षण मोहमन्त्र के समान उसके नाम के श्रुतिगोचर होने पर उसके बिना चित्त काल के एक अंश के लिये भी स्थिरता को प्राप्त नहीं होता।'

तारावती

कहीं कहीं पर व्यभिचारियों की दूसरे व्यभिचारियों से शबलता आनन्ददायक होती है। जैसेः—

'कहाँ तो यह दुष्कार्य और कहाँ विशुद्ध चन्द्रवंश! एक बार मुझे फिर देखने को मिल जाती? मेरा शास्त्रानुशीलन मुझे शान्ति प्रदान करनेवाला होना चाहिये! उसका मुख क्रोध मे भी कितना कमनीय मालूम होता है? न मालूम पापरहित कुशल लोग मेरे इस कार्य के विषय मे क्या कहेंगे? उसका स्वप्न मे भी प्राप्त हो सकना दुर्लभ है? हे चित्त शान्त हो और स्वस्थता को प्राप्त करो? न मालूम कौन धन्य युवक उसके अधरपान का सौभाग्य प्राप्त करेगा?'

(यह देवयानी की कामना मे ययाति की उक्ति है। देवयानी ब्राह्मणकन्या है अतः ययाति के हृदय में उसके प्रेम के विषय मंये सङ्कल्प-विकल्प उठ रहे हैं।) यहाँपर 'कहाँ तो ······चन्द्रवंश' मे वितर्क और 'एक बार······मिल जाती' में औत्सुक्य, 'मेरा शास्त्रानुशीलन·······होना चाहिये' मे मति और 'उसका मुख ······ प्रतीत होता है' मे स्मरण, 'न मालूम·······क्या कहेंगे' मे शङ्का और 'उसका स्वप्न·······दुर्लभ है' में दैन्य, 'हे चित्त ·· ····प्राप्त करो' में धृति और 'न मालूम ··· कर सकेगा' में चिन्ता, एक दूसरे के बाध्य-बाधक के रूप में उपस्थित हुये हैं और अन्त मे चिन्ता को ही प्रधानता प्रदान करते हुये आस्वाद में कारण हुये हैं। इन भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का ग्रहण कारिका के आदि शब्द से हो जाता है।

(प्रश्न) कभी-कभी चमत्कार की अधिकता विभाव और अनुभाव के कारण भी देखी जाती है, अतः भावध्वनि के समान विभावध्वनि और अनुभावध्वनि का भी निरूपण क्यो नहीं करना चाहिये? (उत्तर) विभाव और अनुभाव सर्वदा शब्दवाच्य ही होते हैं; व्यङ्ग्य कभी नहीं होते। अतः विभावध्वनि और अनुभाव-ध्वनि नहीं होतीं। विभाव और अनुभाव की चर्वणा का पर्यवसान भी चित्तवृत्ति मे ही हो जाता है अतः उनका आस्वाद भी रस और भाव से पृथक् नहीं होता। (प्रश्न) कभी कभी विभाव और अनुभाव भी व्यङ्ग्य होते है उस दशा में इन दोनों की ध्वनियो का पृथक् विवेचन अनिवार्य हो जाता है? (उत्तर) विभाव और अनुभाव के व्यङ्ग्य होने पर वस्तुध्वनि क्यों नहीं सहन की जाती? अर्थात् ऐसे स्थान पर विभाव और अनुभाव की ध्वनि नही कही जावेगी अपितु वस्तु-ध्वनि ही कही जावेगी।

जहां पर विभावाभास हो अर्थात् रति इत्यादि भाव किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति व्यक्त किये गये हां जिनके प्रति उन भावों का व्यक्त करना अनुचित हो तो वहां पर वह रति इत्यादि भाव भी रत्याभास का रूप धारण कर लेता है और विभावा-

लोचन

इत्यत्र तु न हास्यरसचर्वणावसरः। ननु नात्र रतिः स्थायिभावोऽस्ति। परस्परास्थावन्धाभावात्। केनैतदुक्तं रतिरिति। रत्याभासो हि सः। अतश्चाभासता येनास्य सीता मय्युपेक्षिका द्विष्टा वेति प्रतिपत्तिर्हृदयं न स्पृशत्येव। तत्स्पर्शे हि तस्याप्यमिलाषो विलीयते। न च मयीयमनुरक्तेत्यपि निश्चयेन कृतं, कामकृतान्मोहात्। अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्रावस्थाप्यते शुक्तौरजताभासवत्। एतच्च शृङ्गारानुकृतिशब्दं प्रयुञ्जानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः। अत एवाभिलापे एकतरनिष्ठेऽपि शृङ्गारशब्देन तत्र तत्र व्यवहारस्तदाभासतया मन्तव्यः। शृङ्गारेण वीरादीनामप्याभासरूपतोपलक्षितैव। एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दा आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमेवमंशं विभज्य पृथग्व्यवस्थाप्यते। यथा गन्धयुक्तिज्ञैरेकरससंमूर्छिता मोदोपभोगेऽपि शुद्धमांस्यादिप्रयुक्तमिदं सौरभमिति। रसध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थायिप्रतिपत्तिकस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः। यथा—

यहाँ पर तो हास्यरस की चर्वणा का अवसर नही होता। (प्रश्न) यहाँ पर रति स्थायीभाव नहीं है क्योंकि परस्पर आशाबन्ध का अभाव है। (उत्तर) यह किसने कहा कि रति है। वह तो रत्याभास है। यह आभासता इसलिये है जिससे 'सीता मुझमें उपेक्षिका या द्वेषपूर्णा है' यह प्रतिपत्ति इसके हृदय को स्पर्श नहीं ही करती। निस्सन्देह उसके स्पर्श करने पर उसकी भी अभिलाषा विलीन हो जावे। 'यह मेरे अन्दर अनुरक्त है' इस निश्चय का अभाव भी नहीं है क्योंकि कामजन्य मोह से (ऐसा) निश्चय विद्यमान है ही। अतएव वस्तुतः उसका आभासत्व वहाँ पर स्थापित किया जाता है। जैसे शुक्ति मे रजत का आभास। और यह शृङ्गारानुकृति शब्द का प्रयोग करनेवाले मुनि ने भी सूचित किया है। अनुकृति अर्थात् अमुख्यता या आभास यह एक ही अर्थ है। अतएव एकतरनिष्ठ अभिलाप में भी शृङ्गार शब्द से विभिन्न स्थानों पर व्यवहार उसके आभास के रूप में माना जाना चाहिये। शृङ्गार से वीर इत्यादि की भी आभासरूपता का उपलक्षण हो ही गया।

इस प्रकार भावध्वनि इत्यादि रसध्वनि के ही निष्यन्द हैं। आस्वाद में प्रधान प्रयोजक अंश को विभक्त कर पृथक् व्यवस्थापित किया जाता है। जैसे गन्ध की युक्ति को जाननेवालों के द्वारा आस्वादन मे मिले हुये आमोद के उपभोग किये जाने पर भी शुद्ध मांसी इत्यादि से प्रयुक्त यह सुगन्ध है (ऐसा कहा जाता है।) यहाँ पर रसध्वनि तो वही होती है जो यहाँ पर मुख्य रूप से विभाव अनुभाव और सञ्चारी भाव के संयोग से उत्पन्न स्थायी की प्रतिपत्ति करनेवाले प्रतिपत्ता (सहृदय) का स्थायी अंश की चर्वणा से प्रयुक्त ही आस्वाद का प्रकर्ष होता है। जैसे—

तारावती

मास के कारण उस भाव की चर्वणा भी चर्वणाभास हो जाती है। उसे ही रसाभास कहते हैं, जैसे रावणकाव्य में रावण का सीता के प्रति प्रेम शृङ्गाराभास के रूप में स्थित है। यद्यपि भरत मुनि लिखा है कि—'शृङ्गार के अनुकरण में हास्य रस होता है ? किन्तु वह हास्य-रस शृङ्गारानुभूति के बाद ही व्यक्त होता है।

'दूराकर्षण मोहमन्त्र ... ...' इत्यादि पद्य का उत्तरार्ध इस प्रकार है:—

एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गैरनङ्गातुरैः।
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम्।

रावण सीता के वियोग में कह रहा है—'दूर से आकर्षण करनेवाले मोहमन्त्र के समान जब से मैंने सीता का नाम सुना है तब से मेरा चित्त एक क्षणभर भी कहीं स्थिर नहीं हो रहा है। काम से पीडित अपने इन अङ्गों के कारण मैं व्याकुल हो रहा हूँ। संसार के सभी पदार्थों से मेरा मन हट गया है। मुझे बिल्कुल ही पता नहीं चल रहा है कि उस (सीता) के प्राप्त करने का सुख मुझे किस प्रकार मिल सकेगा।'

यहाँ पर रावण का सीता के प्रति प्रेम वर्णित किया गया है जो कि रसाभास है। किन्तु यहाँ पर हास्य रस की प्रतीति ही नहीं होती। (प्रश्न) यहाँ पर रति भी तो स्थायी भाव नही है ? (उत्तर) जब कि दोनों ओर अनुराग का बन्धन है ही नहीं तब यह कौन कहता है कि यह रति स्थायी भाव है ? यहाँ पर रत्याभास है। यह आभास इस प्रकार समझना चाहिये कि—'सीता मेरी उपेक्षा करती है या मुझसे द्वेष करती है।' यह विचार रावण के चित्त का स्पर्श ही नहीं कर पाता। यदि यह विचार रावण के चित्त में आ जावे तो तत्काल ही उसका भी प्रेम विलीन हो जावे। कामजन्य मोह के कारण 'सीता मुझ पर प्रेम करती है' इस निश्चय की भी रावण को आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिये ऐसे स्थान पर आभास की स्थापना कर ली जाती है। जैसे शुक्ति में रजत का आभास हो जाता है। यही बात 'शृङ्गारानुकृति' शब्द का प्रयोग कर भरत मुनि ने भी सूचित की है। अनुकृति शब्द का अर्थ है मुख्य न होना और यही आभास शब्द का भी अर्थ है। इस प्रकार दोनों शब्द एक ही अर्थ को प्रकट करनेवाले है। इसीलिए जहाँ कामना केवल एक ओर से दिखलाई पड़े और वहाँ पर शृङ्गार शब्द का प्रयोग किया गया हो वहाँ पर उसका मन्तव्य शृङ्गाराभास ही समझना चाहिये। शृङ्गाराभास कहने से वीराभास इत्यादि का उपलक्षण हो ही जाता है। इस प्रकार भावध्वनि इत्यादि रस ध्वनि के ही छोटे छोटे प्रवाह है। जहाँ पर रस का कोई एक अंश प्रधान रूप से प्रयोजक होता है वहाँ पर पृथक् रूप में उसी के अंश के नाम पर ध्वनि की

ध्वन्यालोकः

रसादिरर्थो सहेव वाच्येनावभासते। सर्वाङ्गित्वेनावभासमानोध्वनेरात्मा।

(अनु०) रस इत्यादि (वाच्य के बाद इतना शीघ्र प्रकट होता है कि ऐसा मालूम पड़ने लगता है मानो) वाच्य के साथ ही अवभासित हो रहा हो। वही जब प्रधानतया अवभासित होता है तब ध्वनि की आत्मा बनता है।

लोचन

कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले।
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निष्पन्दतामागता॥
मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ।
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने॥

अत्र हि नायिकाकारानुवर्ण्यमानस्वात्मप्रतिकृतिपवित्रितचित्रफलकावलोकनाद्वत्सराजस्य परस्परास्थाबन्धरूपो रतिस्थायिभावो विभावानुभावसंयोजनवशेन चर्वणारूढ इति। तदलं बहुना? स्थितमेतत्—रसादिरर्थोऽङ्गित्वेन भासमानोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः प्रकार इति। सहवेति। इवशब्देनासंलक्ष्यता? विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता। वाच्येनेति। विभावानुभावादिना॥ ३॥

'कठिनाई से दोनों ऊरुओं को व्यतीतकर बहुत देर तक नितम्बस्थल मे भ्रमण कर, त्रिवलीरूपी तरङ्ग से विषम इसके मध्य भाग मे निश्चलता को प्राप्त हुई मेरी दृष्टि प्यासी सी इस समय तुङ्ग स्तनों पर धीरे-धीरे चढ़कर जलकणों को बहानेवाले दोनो नेत्रों को आकांक्षापूर्वक बार-बार देखती है।'

यहाँ पर निस्सन्देह नायिका के आकार (के कारण) बार-बार वर्णन किये जाते हुये और अपनी प्रतिकृति से पवित्रित चित्रफलक के अवलोकन से वत्सराज का परस्पर आशाबन्धरूप रतिस्थायीभाव विभाव और अनुभाव के संयोजन के कारण चर्वणारूढ हुआ है इसलिये अधिक की आवश्यकता नहीं। यह निश्चित होता है—रस इत्यादि अर्थ अङ्गी के रूप मे भासमान होकर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का प्रकार होता है। सहेव इति। 'इव' शब्द के क्रम के विद्यमान रहते हुये भी असंलक्ष्यता की व्याख्या की गई है। 'वाच्येन' का अर्थ है विभाव अनुभाव इत्यादि के द्वारा। ३॥

तारावती

व्यवस्था की जाती है। उदाहरण के लिये यदि एक पेया विभिन्न द्रव्यों से तैय्यार की जावे और उन सब द्रव्यों का एक ही रस तैय्यार हो जावे तथा उनकी सम्मिलित सुगन्धि का भी उपभोग किया जा रहा हो फिर भी पृथक् करके लोग कहने लगते हैं कि इस द्रव्य मे शुद्ध जटामासी द्रव्य की विशेष गन्ध आ रही है। इसी

तारावती

शृङ्गारादिरस मे किसी एक भाव का विशेष रूप से नाम ले लिया जाता है। (और उसे भावध्वनि की संज्ञा प्राप्त हो जाती है ।) रसध्वनि वहाँ पर होती है जहाँ विभाव और अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से स्थायीभाव की प्रतिपत्ति हो और अनुशीलनकर्ता स्थायी भाव के अनुशीलन से ही आस्वाद-प्रकर्ष का अनुभव करे । जैसे—

रत्नावली मे वत्सराज उदयन ने विदूषक के साथ वाटिका-विहार के अवसर पर एक चित्र-फलक प्राप्त किया है । इसी चित्र-फलक में रत्नावली का चित्र बना हुआ है । इसी चित्र को देखकर वत्सराज विदूषक से कह रहे हैं :—

'मेरी दृष्टि- एक तृषित रमणी के समान—कठिनाई से इसके दोनों ऊरुओं को पार कर गई, बडी देर तक नितम्बस्थल पर घूमती रही, त्रिवली रूप तरङ्गों के कारण विषम भाग मे बिल्कुल स्थिर होकर रह गई । इस समय (तृषित रमणी के समान मेरी दृष्टि) धीरे-धीरे ऊँचे स्तनों पर चढ़कर जलकणों (आँसुओं) को बहाने-वाले नेत्रों को उत्कण्ठा पूर्वक देख रही है ।'

(जिस प्रकार कोई प्यासी स्त्री किसी वन मे घूमती रहे, विषम और ऊँचे नीचे प्रदेशों को बडी कठिनाई से पार कर जावे और अन्त मे किसी ऊँचे पहाड़ी टीले पर चढकर किसी जलप्रवाह को उत्कण्ठा के साथ देखने लगे यही दशा राजा की दृष्टि की भी हुई । यहाँपर ऊरुओं और नितम्बो की विशालता, मध्य की कृशता, स्तनों की ऊँचाई से सौन्दर्य का आधिक्य और अश्रुओं के कारण नायिका की वियोगव्यथा अभिव्यक्त होती है ।)

यहाँ पर रत्नावली आलम्बन है, चित्रदर्शन उद्दीपन है । दृष्टि स्तम्भ इत्यादि अनुभाव और औत्सुक्य इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं । इनसे पुष्ट होकर रत्नावली व्यभिचारी भाव है । इनसे पुष्ट होकर रत्नावली तथा उदयन दोनों में परस्पर-आस्थाबन्ध को प्राप्त होनेवाली रति ही स्थायीभाव के रूप मे चर्वणा मे कारण होती है । आशय यह है कि राजा जिस चित्रफलक को देख रहे हैं उसमें रत्नावली का चित्र बना हुआ है । उसकी आँखों मे आँसू भरे हुये है । इससे रत्नावली का राजा के प्रति अनुराग व्यक्त होता है । यह चित्र-फलक राजा की अपनी प्रतिकृति से भी पवित्र है ।(भावावेश मे भरकर रत्नावली ने एकान्त स्थान पर जाकर उदयन का चित्र बनाया था जिसको छिपकर उसकी अन्तरङ्गिणी सखी ने देख लिया और उस चित्र के पास ही राजा का भी चित्र बना दिया । वह चित्र सम्भ्रम के कारण वहीं छूट गया और संयोगवश राजा के हाथ में पड गया । राजा उस चित्र को देख रहे हैं और उसका वर्णन विदूषक से कर रहे है ।) यहाँ

ध्वन्यालोकः

इदानीं रसवदलङ्कारादलक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विविक्तो विषय इति प्रदृश्यते—

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः॥ ४॥

(अनु०) अब यहाँ पर यह बतलाया जा रहा है कि रसवत् इत्यादि अलङ्कार की अपेक्षा असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि किस प्रकार भिन्न है।

'जहाँ पर रस इत्यादि प्रधान हों और विभिन्न प्रकार के वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) तथा उन दोनों की चारुता मे हेतु (गुण और अलङ्कार) उन रस इत्यादि का ही अनुसरण करनेवाले हों तथा उन्हीं के अधीन हों वह ध्वनि का विषय माना जाता है'॥ ४॥

लोचन

नन्वङ्गित्वेनावभासमान इत्युच्यते तत्राङ्गत्वमपि किमस्ति रसादेर्येन तन्निराकरणायैतद्विशेषणमित्यभिप्रायेणोपक्रमते—इदानीमित्यादिना। अङ्गत्वमस्ति रसादीनां रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितालङ्काररूपतायामिति भावः। अनया च भङ्ग्या रसवदादिष्वलङ्कारेषु रसादिध्वनेर्नान्तर्भाव इति सूचयति। पूर्वं समासोक्त्यादिषु वस्तुध्वनेर्नान्तर्भाव इति दर्शितम्। वाच्यं च वाचकं च तच्चारुत्वहेतवश्चेति द्वन्द्वः। वृत्तावपि शब्दाश्चालङ्काराश्चार्थालङ्काराश्चेति द्वन्द्वः। मत इति। पूर्वमेवैतदुक्तमित्यर्थः।

(प्रश्न) अङ्गित्व के रूप मे अवभासमान यह कहा जाता है। उसमे क्या रस इत्यादि का अङ्गत्व भी होता है जिसके निराकरण के लिये यह विशेषण है? इस अभिप्राय से उपक्रम करते हैं—इदानीं इत्यादि के द्वारा। आशय यह है कि रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि और समाहित इन अलङ्कारों की रूपता मे रस इत्यादि का अङ्गत्व भी होता है।

कथन की इस भङ्गिमा से रसवत् इत्यादि अलङ्कारों मे रस इत्यादि की ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता यह सूचित करते हैं। पहले निस्सन्देह समासोक्ति इत्यादि मे वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता यह दिखलाया गया। वाच्य, वाचक और उनकी चारुता में हेतु यह द्वन्द्व है। वृत्ति मे भी शब्द और शब्दालङ्कार, अर्थ और अर्थालङ्कार यह द्वन्द्व है। मतः इति अर्थात् यह पहले हीं कह दिया गया।

तारावती

पर उस चित्र-फलक के अवलोकन से वत्सराज का आस्थाबन्ध उभयनिष्ठ है। अतः यह रतिभाव विभाव अनुभाव इत्यादि के संयोग से चर्वणा की पदवी पर आरूढ़ हुआ है। (अतः सच्चे अर्थ मे यही रस है। अधिक कहने की क्या आवश्यकता?)

लोचन

ननूक्तं भट्टनायकेन—'रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन ,रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ

(प्रश्न) भट्टनायक ने कहा है—'रस जब परगत रूप में प्रतीतिगोचर होता है तब (उसमें) तटस्थता ही होगी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि राम इत्यादि के चरितमय काव्य से वह स्वगत के रूप में प्रतीत होता है। आत्मगत

तारावती

उक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि रस इत्यादि अर्थ अङ्गी के रूप में प्रकाशित होकर असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि का प्रकार कहलाते हैं। वृत्तिकार ने उक्त सन्दर्भ की व्याख्या करते हुये लिखा है—'रस इत्यादि अर्थ मानों वाच्य के साथ अवभासित होते हैं और वे अङ्गी के रूप में अवभासित होकर ध्वनि की आत्मा बनते हैं।' इस वाक्य में 'मानों' का आशय यह है कि क्रम विद्यमान तो रहता है किन्तु लक्षित नहीं होता। 'वाच्य के साथ में' का अर्थ है विभाव इत्यादि के साथ मे॥ ३॥

(प्रश्न) तृतीयकारिका की व्याख्या में जो यह कहा गया था कि—'जब रस इत्यादि अङ्गी के रूप मे अवभासित होते हैं तभी वे ध्वनि का रूप धारण करते हैं।' तो क्या ऐसा भी कोई स्थान होता है जहाँ पर रस इत्यादि अभिव्यक्त होते हुए भी अङ्गी के पद पर आरूढ़ न हों? क्योंकि जब रस इत्यादि की अप्रधानता का कोई स्थान प्राप्त हो जावे तभी उसके निराकरण के लिये रस इत्यादि का यह विशेषण (अङ्गी के रूप मे अवभासित होना) प्रयोजनीय हो सकता है। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये प्रस्तुत कारिका (चतुर्थ कारिका) लिखी गई है। इसीलिये इस कारिका की व्याख्या का उपक्रम करते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है—'अत्र रसवत् अलङ्कार इत्यादि की अपेक्षा ध्वनि का विषय भिन्न होता है यह बतलाया जा रहा है।' आशय यह है कि जब रस इत्यादि अभिव्यक्त होकर अलङ्काररूपता को धारण कर लेते है तब रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित ये चार अलङ्कार कहे जाते हैं। इस रूप में कारिकाकार ने यह सिद्ध कर दिया कि रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में रस इत्यादि ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता। पहले (प्रथम उद्योत में) यह दिखलाया था कि समासोक्ति इत्यादि अलङ्कारों मे वस्तुध्वनि का अन्तर्भाव नहीं होता। (यहाँ पर यह दिखलाया गया है कि रसध्वनि का विषय रसवत् इत्यादि अलङ्कारों से सर्वथा पृथक् होता है।) 'वाच्य-वाचकचारुत्वहेतूनां' शब्द मे द्वन्द्व समास है। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी वाच्य और वाचक तथा उनकी चारुता में हेतु। इस शब्द की व्याख्या करते हुये

लोचन

स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात। सा चायुक्ता सीतायाः। सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्—देवतावर्णनादौ तदपि कथम्? न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः? नचोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते। अननुभूतत्वात्। शब्दादपितत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्न उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्ति-

रूप मे प्रतीति मानने पर अपने अन्दर रस की उत्पत्ति ही मानी हुई होगी। सीता की वह बात (सीता के प्रति सामाजिकों में रति की उत्पत्ति) अनुचित है क्योंकि (सीता) सामाजिकों के प्रति विभाव नहीं हो सकतीं। यदि कहो कि साधारण कान्तात्व वासना के विकास मे हेतु विभावरूपता मे प्रयोजक होता है तो देवता इत्यादि के वर्णन में वह भी कैसे हो सकता है? यह भी नहीं कह सकते कि मध्य में अपनी कान्ता का स्मरण अनुभव का विषय बन जाता है। अलोकसामान्य राम इत्यादि के जो समुद्र सेतुबन्धन इत्यादि विभाव हैं वे किस प्रकार साधारणता को प्राप्त हो सकते हैं? उत्साहादिमान् राम का स्मरण कर लिया जाता है यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि (राम का) अनुभव नहीं किया गया है। शब्द से भी उसकी प्रतिपत्ति मे रसोत्पत्ति नहीं हो सकती जैसे प्रत्यक्ष रूपमें नायक मिथुन की प्रतिपत्ति मे (रसोत्पजनन नहीं हो सकता। उत्पत्ति पक्ष में करुणा के उत्पन्न होने से दुःखित्व होने पर करुण रस प्रधान नाट्यों मे पुनः प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये न उत्पत्ति है और नहीं ही अभिव्यक्ति। शक्तिरूप (सूक्ष्म वासना

तारावती

वृत्ति में लिखा है—'शब्दार्थालङ्काराः' इसमें भी द्वन्द्व है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—शब्द तथा अलङ्कार और अर्थ तथा अलङ्कार। 'कारिका में लिखा है—'वह ध्वनि का विषय माना गया है' इस वाक्य में 'माना गया है' का अर्थ है—यह बात पहले ही कही जा चुकी है।

इस विषय में भट्टनायक ने लिखा है—नाटक में रसानुभव में तीन व्यक्तित्व होते हैं—(१) जिनका अनुकरण किया जाता है जैसे राम इत्यादि। इन्हें अनुकार्य कहते हैं। (२) अनुकरण करनेवाला नट इत्यादि और (३) आस्वाद लेनेवाला सामाजिक। 'यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामाजिक जिस रस का आस्वादन करता है वह रस उस सामाजिक से ही सम्बन्ध रखता है या अन्य (नट या अनुकार्य) से? यदि रस परगत होता है अर्थात् उसका सम्बन्ध

लोचन

रूपस्य हि श्रृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रतीतिः स्यात् । तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः । तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः । किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य—त्र्यंशता-प्रसादात् । तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम् । भोगकृत्वं सहृदयविषयमितित्रयोंऽशभूताः व्यापाराः । तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तन्त्रा-दिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः ? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम् । श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम् ? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः । यद्वशादभिधा

रूप) श्रृङ्गार की अभिव्यक्ति मे विषयार्जन के तार तम्य की ओर प्रवृत्ति हो जावेगी । उसमे भी क्या स्वागत रस अभिव्यक्त होता है या परगत यह पहले के समान ही दोष है । अतः काव्य से रस प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है । किन्तु काव्यात्मक शब्दों की तीन अंशरूपता को कृपा से अन्य शब्दों से वैलक्षण्य होता है । उसमे अभिधायकत्व तो वाच्य विषयक होता है, भावकत्व रस इत्यादि विषयक और भोकाकृत्व सहृदय विषयक इस प्रकार अंशभूत तीन व्यापार होते है । उसमें यदि अभिधाभाग शुद्ध (इतर व्यापारानालिङ्गि) होती तन्त्र इत्यादि शास्त्र न्यायों से श्लेष इत्यादि अलंकारों का क्या भेद हो ? और वृत्ति भेद वैचित्र्य भी अकिञ्चित्कर (हो जावे) । श्रुतिदुष्ट इत्यादि का वर्जन भी किसलिये हो ? इसलिये रसभावना नामक दूसरा व्यापार होता है जिसके वश मे

तारावती

सामाजिक से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति (नट या अनुकार्य) से होता है तो सामा-जिक तो एक तटस्थ व्यक्ति हो गया । वह अपने से सम्बन्ध रखनेवाले रस का आस्वादन ही क्यों करेगा ? यदि रस स्वगत माना जावे अर्थात् रस की अवस्थिति सामाजिक में ही मानी जावे और राम इत्यादि के चरित्र का अभिनय इत्यादि उस रसास्वादन का प्रवर्तक माना जावे तो इसका आशय यही होगा कि सामाजिक मे रस की उत्पत्ति हुई है । अब मान लीजिये रङ्गमञ्च पर राम और सीता के प्रेम का अभिनय हो रहा है । उस अवस्था मे सामाजिक के हृदय मे सीता के प्रति रति जाग्रत हो ही कैसे सकती है ? सीता जैसी जगत्पूज्य नायिकाओं के प्रति वासना का उद्‌बोध सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है । दूसरी बात यह है कि सीता राम के ही प्रेम का आलम्बन है, वे सामाजिक के प्रेम का आलम्बन हो ही कैसे सकती है ? अभिनय या काव्य परिशीलन सीता से व्यक्तित्व अंश को पृथक् कर देता है और सीता सीता न रहकर सामान्य कान्ता बन जाती है । यही सर्वसाधा-रणत्व की भावना सामाजिकों की वासना के विकास में हेतु विभावरूपता की

तारावती

प्रयोजक होती है। आशय यह है कि वासना विकास एक कार्य है और उसका कारण है कान्ता का प्रत्यक्षीकरण। सीता के अन्दर से सीतास्वरूप व्यक्तित्व अंश के पृथक् हो जाने से तथा सर्व-साधारण कान्तात्व की प्रतीति होने के कारण सामाजिकों में रसवासना का उद्बोध हो जाता है' यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि देवता इत्यादि पूज्यों के प्रति कान्ता-बुद्धि हो ही नहीं सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मध्य में अपनी कान्ता का स्मरण हो आता है इसलिये रसास्वादन होता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो सर्व-साधारण की शक्ति का विषय कभी हो ही नहीं सकते। जैसे समुद्र पर पुल बाँधना, समुद्र को लाँघना इत्यादि ऐसे कार्य हैं जिनको अपनी शक्ति से सम्पन्न करने की कोई कल्पना ही नहीं कर सकता। वे कार्य हमें अपने उत्साह इत्यादि का स्मरण कैसे करा सकते हैं और हमारे उत्साह इत्यादि के उद्बोधक कैसे हो सकते हैं। निस्सन्देह ये कार्य कभी सर्व-साधारण की वस्तु हो ही नहीं सकते। यह भी नहीं कहा जा सकता कि काव्य इत्यादि के अध्ययन से उत्साह इत्यादि से युक्त राम इत्यादि का स्मरण हो आता है जोकि रसास्वादन में कारण हो जाता है। स्मरण उसी का होता है जिसका पहले अनुभव किया हो। राम इत्यादि का पहले कभी अनुभव नहीं किया था, अतएव सामाजिक को उनका स्मरण हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार दो प्रेमियों को एक साथ देखकर रति-भाव का आस्वादन नहीं किया जा सकता उसी प्रकार शब्द के द्वारा राम इत्यादि के उत्साह इत्यादि की प्रतिपत्ति होने पर भी रसास्वादन नहीं हो सकता। रस उत्पन्न होता है यह भी नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि यदि करुण रस की उत्पत्ति हो और उससे सामाजिकों को दुःख हो तो उसको पढ़ने में कौन प्रवृत्त होगा? दुःख में कोई पड़ना नहीं चाहता। इस प्रकार रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती और न अभिव्यक्ति ही मानी जा सकती है। (अभिव्यक्ति किसी ऐसी वस्तु की होती है जो पहले से विद्यमान हो और प्रकाश इत्यादि के द्वारा वह प्रकट कर दी जावे। जैसे अन्धेरे में रक्खे हुये घडे को दीपक का प्रकाश अभिव्यक्त कर देता है।) रस की अभिव्यक्ति तभी मानी जा सकती है जब रस सामाजिकों के अन्तःकरणों में पहले से विद्यमान मान लिया जावे और उसकी अभिव्यक्ति काव्य परिशीलन के द्वारा मानी जावे। किन्तु इसमें भी यह दोष है कि शक्ति अर्थात् वासनारूप में स्थित विषय के उपार्जन में सामाजिकों की प्रवृत्ति का तारतम्य अधिकाधिक रूप में प्रकट होने लगेगा। (आशय यह है कि यदि घड़ा अन्धकार में रक्खा हो तो उसको देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता होती है। यदि प्रकाश मन्द हो तो घड़ा उतना स्पष्ट दिखलाई नहीं देगा। घड़े को अधिकाधिक स्पष्टता

तारावती

देने के लिये प्रकाश की मात्रा का अधिकाधिक बढ़ाना वाञ्छनीय होता है। इसी प्रकार काव्यरसास्वादन भी उसी को होगा जिसने अधिक से अधिक विषयों का सेवन किया होगा। अतएव काव्यरसास्वादन की मात्रा बढ़ाने के लिये सामाजिक लोग विषयों का सेवन करने की ओर अधिक से अधिक आकृष्ट होने लगेंगे और काव्य विषय-वासनाओं को बढाने का एक माध्यम हो जावेगा। दूसरी बात यह है कि यह मान लेने पर भी इस प्रश्न का कोई उचित समाधान नहीं किया जा सकता कि रस की स्थिति स्वगत होती है अथवा परगत। इस प्रकार काव्य से रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त ही होता है। किन्तु मानना पड़ेगा कि काव्य के शब्दों मे अन्य शब्दों से यही विलक्षणता होती है कि काव्य के शब्दों मे तीन अंशों का सम्बन्ध होता है। वे तीन अंश वृत्तियाँ हैं—अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व। अभिधायकत्ववृत्ति का पर्यवसान वाच्यार्थ मे होता है। रस इत्यादि के विषय मे भावकत्ववृत्ति मानी जाती है और सहृदयों के विषय मे भोजकत्ववृत्ति से काम लिया जाता है। काव्य में यही तीन अंशभूत व्यापार होते हैं। उनमे यदि शुद्धरूप मे अभिधाव्यापार को ही काव्य मे प्रयोजनीय मानें और उसका संसर्ग भावकत्व और भोजकत्व इन दो पृथक् वृत्तियों से स्वीकार न करें तो तन्त्र इत्यादि अन्य शास्त्रीय न्यायों से काव्य का क्या भेद रह जावे? (आशय यह है कि दूसरे शास्त्रों में भी एक शब्द के कभी-कभी कई-कई अर्थ ले लिये जाते हैं और उसके लिये वे लोग तन्त्र, एकशेष इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया करते हैं। काव्य मे भी एक शब्द के कभी-कभी कई अर्थ ले लिये जाते हैं और उसके लिये श्लेष शब्द का प्रयोग होता है। फिर अन्यशास्त्रों से काव्य के शब्दों में विलक्षणता क्या रही? यदि कोई विलक्षणता हो सकती है तो यही कि काव्य मे अभिधा से भिन्न भावकत्व और भोजकत्व नाम की वृत्तियाँ स्वीकार की जावें। अन्यथा काव्य में भी तन्त्र इत्यादि से ही काम चलाया जा सकता है। श्लेष इत्यादि मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।) यदि केवल अभिधा-वृत्ति ही स्वीकार की जावे तो काव्य मे उपनागरिका इत्यादि वृत्तियों की कल्पना ही व्यर्थ हो जावे। (उपनागरिका इत्यादि वृत्तियाँ स्वसामर्थ्य से रसास्वादन मे कारण होती है। यदि केवल अभिधावृत्ति ही मानी जावेगी तो शब्द का वाच्यार्थ मात्र गृहीत होगा, उपनागरिका इत्यादिवृत्तियों का क्या उपयोग रह जावेगा?) कर्णकटु इत्यादि दोष भी तभी सार्थक माने जाते है जब काव्य मे अभिधा से भिन्न वृत्तियाँ गृहीत होती है। यदि केवल अभिधायकत्ववृत्ति ही मानी जावेगी तो श्रुतिकटु इत्यादि दोषों का मानना भी व्यर्थ हो जावेगा। अतएव अभिधायकत्ववृत्ति से

लोचन

विलक्षणैव । तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम । भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृति-विश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः । स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति । व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवेति ।

अभिधा विलक्षण ही (प्रतीत होती है) । काव्य का रसों के प्रति जो यह भावकत्व वह विभाव इत्यादि का साधारणता सम्पादन नहीं है । भावितरस में जो उसका भोग वह अनुभव स्मरण इत्यादि प्रतिपत्तियों से विलक्षण ही द्रुतिविस्तार-विकासात्मक (होता है ? जिसमे) रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुविद्ध सत्वमय अपने चित्स्वभावरूप लोकोत्तरानन्दमय विश्रान्तिलक्षणवाला परब्रह्मास्वाद के समकक्ष होता है । वही प्रधानीभूत अंश सिद्धरूप होता है । व्युत्पत्ति तो अप्रधान ही होती है ।' यह (भट्टनायक ने कहा है) ।

तारावती

भिन्न भावकत्व नाम की एक दूसरी वृत्ति का मानना अनिवार्य हो जाता है । यही वह वृत्ति है जिसके कारण अन्य शास्त्रों के अभिधेयार्थों से काव्य के अभिधेयार्थ से भिन्नता होती है और उसी के कारण काव्यगत अभिधेयार्थ विलक्षण प्रकार का प्रतीत होता है । इस भावकत्व वृत्ति का यही काम है कि काव्य में आनेवाले जितने भी विभाव इत्यादि होते हैं उनके अन्दर से व्यक्तित्व अंश को हटाकर उनमें साधारणीकरण कर दिया जाता है; अर्थात् उस समय उस भावकत्व वृत्ति के प्रभाव से सीता इत्यादि से विशिष्ट व्यक्तित्व अंश निकल जाता है और सीता इत्यादि एक साधारण प्रेयसी का रूप धारण कर लेती हैं जिससे उनमे सामाजिकों के रसास्वादन के प्रयोजक बनने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है । जब उन विभावादि रसके अङ्गों का साधारणीकरण हो जाता है और वे आस्वाद के योग्य बन जाते है तब सामाजिक लोग तीसरी भोजकत्ववृत्ति के प्रभाव से उस रस का भोग (चर्वणा या आस्वादन) करते हैं । यह भोग स्मरण अनुभव इत्यादि सब प्रकार की लौकिक प्रतिपत्तियों से भिन्न होता है । सामाजिकों की चित्त-वृत्ति उस रसास्वादन काल मे कभी-कभी द्रवित हो जाती है, कभी-कभी उनका विस्तार हो जाता है और कभी-कभी उनका विकास हो जाता है । यह आस्वाद उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का ब्रह्मानन्द हुआ करता है । अथवा योगी को मधुमती भूमिका मे प्राप्त हुआ करता है । यह आस्वाद शुद्ध सत्त्व गुण से परिपूर्ण

लोचन

अत्रोच्यते—रसस्वरूप एव तावद्विप्रतिपत्तयः प्रतिवादिनाम्। तथाहि—पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्। प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्तेः चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषार्थः। विस्मयशोकक्रोधादेश्च क्रमेण तावन्न परिपोष

यहाँ पर (उत्तर के रूप में) कहा जा रहा है—'रसस्वरूप मे ही पहले तो विरोधियों की विप्रतिपत्तियाँ हैं। वह इस प्रकार—पूर्वावस्था मे जो स्थायी वही व्यभिचारी के सम्पात इत्यादि के द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर अनुकार्यगत ही रस होता है। नाट्य मे तो प्रयुक्त होने के कारण नाट्यरस यह कुछ लोग (कहते हैं)। प्रवाहधर्मिणी चित्तवृत्तियों मे (एक) चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति से परिपोष का क्या अर्थ? विस्मय शोक क्रोध इत्यादि का तो क्रमशः परिपोष नहीं होता अतः

तारावती

होता है जिसमे हम यह भूल जाते हैं कि अमुक वस्तु हमारी ही है या दूसरे की ही है अथवा हमारी नहीं है या दूसरे की नहीं है। (आशय यह है कि लोक मे हम दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख इसलिये नहीं समझ पाते कि हमारी चित्तवृत्तियाँ सङ्कुचित होती हैं। हम उनमें अपनी आत्मा के व्यापकत्व का अनुभव नहीं कर पाते। किन्तु रसास्वादन के अवसर पर इस भोजकत्ववृत्ति के प्रभाव से हमारी चित्तवृत्तियों मे सत्त्व का उद्रेक हो जाता है और हम संसार के साथ अपनी चित्तवृत्तियों को एकाकाररूपता मे परिणत कर देते हैं जिससे हमें काव्य या नाट्य मे वे क्रियाये आनन्द देने लगती हैं जिनको पराया समझकर लोक मे हम तटस्थ बने रहते हैं।) उस सत्त्व के उद्रेक मे रजोगुण और तमोगुण की विचित्रतायें भी सम्मिलित रहती है किन्तु प्रधान सत्ता सत्त्व की ही रहता है। अपनी सत्ता के द्वारा उस समय हम ऐसे लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करने लगते है जिसमे संसार के अन्य सारे संवेदनीय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं और उस आनन्द का पर्यवसान अपनी चेतना में ही हो जाता है। (रजोगुण के प्रभाव से हमारी आत्मा मे द्रुति उत्पन्न हो जाती है, तमोगुण से विस्तार हो जाता है और सत्त्वगुण के प्रभाव से उसका विकास हो जाता है। वह रस चैतन्य चित्तवृत्तिस्वरूप होता है। वही प्रधान अंश होता है। चित्तवृत्तियाँ सिद्ध होती है अतः रस भी सिद्ध ही कहा जाता है। उस रसास्वादन के लिये पाठकों को जिस प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है वह अप्रधान होता है। रस सर्वदा सिद्धरूप ही माना जाता है। यह है श्री भट्टनायक का सिद्धान्त।

लोचन

इति नानुकार्ये रसः। अनुकर्तरि च तद्भावे लयाद्यननुसरणं स्यात्। सामाजिक गते वा कश्चमत्कारः? प्रत्युत करुणादौ दुःखप्राप्तिः। तस्मान्नायं पक्षः। कस्तर्हि? इहानन्त्यान्नियतस्यानुकारो न शक्यः, निष्प्रयोजनश्च विशिष्टताप्रतीतौ ताटस्थ्येन व्युत्पत्त्यभावात्।

अनुकार्यगत रस नहीं (हो सकता।) अनुकर्ता (नट) मे उसके मानने पर लय इत्यादि का अनुसरण नहीं होगा। सामाजिकगत मानने मे चमत्कार ही क्या? प्रत्युत करुण इत्यादि में दुःख की प्राप्ति होगी। अतः यह पक्ष नहीं है। तो क्या है? यहाँ पर अनन्त होने के कारण नियत का अनुकरण नहीं किया जा सकता। निष्प्रयोजन भी है क्योंकि विशिष्टता की प्रतीति मे तटस्थ के रूप में (चतुर्वर्गोपाय रूप) व्युत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

तारावती

इस विषय में मुझे (श्री अभिनवगुप्त को) यह कहना है कि रसस्वरूप के निरूपण मे ही विरोधियों के विभिन्न मत पाये जाते हैं। (सर्वप्रथम भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को ले लीजिये—इस सिद्धान्त के अनुसार रस की उत्पत्ति अनुकार्य (वास्तविक राम) मे ही होती है। ललना इत्यादि आलम्बन विभाव इस उत्पत्ति मे कारण होते हैं। उद्दीपन विभाव इसे उद्दीप्त करते हैं। कटाक्ष इत्यादि अनुभाव इसके कार्य हैं क्योंकि इन्हीं कटाक्ष इत्यादि के द्वारा रस की सत्ता प्रतीति के योग्य होती है और निर्वेदादि व्यभिचारीभाव इस रस के सहचर होते हैं। इनके द्वारा रस का परिपोष होता है। इस प्रकार यह रस वास्तविक अनुकार्य राम मे ही उत्पन्न होता है। उसका अनुकरण रङ्गमञ्च पर नट भी करता है। अतएव नट मे भी वास्तविक राम के रूप का आरोप कर लिया जाता है। अतएव नट मे भी रस प्रतीत होता है। यह भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद है। इसके अनुसार रस की अपरिपुष्ट और अविकसित अवस्था मे रति इत्यादि स्थायी भाव होते हैं वे ही व्यभिचारीभाव इत्यादि के सम्मिश्रण से परिपोष को प्राप्त होकर रस का रूप धारण कर लेते हैं और यह रस वास्तविक राम मे ही उत्पन्न होता है।) नाट्य मे इसका प्रयोग होता है इसीलिये इसे नाट्यरस की संज्ञा प्रदान की जाती है। (यह है भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का सार) अब इस सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा कर लीजिये—इसमें कहा गया है कि स्थायी भाव का व्यभिचारीभाव के द्वारा परिपोष होता है। स्थायीभाव एक प्रकार की चित्तवृत्ति है और सञ्चारीभाव भी एक प्रकार की चित्तवृत्ति ही है। चित्तवृत्ति सर्वदा प्रवाहधर्मिणी होती है अर्थात् एक चित्तवृत्ति का उदय और अस्त होता रहता है। अतएव एक चित्तवृत्ति

तारावती

का दूसरी चित्तवृत्ति के द्वारा परिपोष किस प्रकार हो सकता है ? यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक चित्तवृत्ति का निरन्तर बना रहना कालान्तर में उसे परिपुष्ट कर देता है। देखा जाता है कि चित्तवृत्ति का सर्वदा ह्रास ही होता है विकास कभी नहीं होता। विस्मय शोक क्रोध इत्यादि भावनायें जितनी तीव्रता के साथ हमारे अन्त.करणों मे उत्पन्न होती हैं उतनी तीव्रता निरन्तर बनी नहीं रहती। धीरे-धीरे ये भावनाये शान्त होती जाती हैं। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तविक राम मे रस की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार रस अनुकार्यगत नहीं माना जा सकता उसीप्रकार अनुकर्तृगत (नटगत) भी नहीं माना जा सकता। यदि नट में रस की सत्ता सिद्ध रूप में मान ली जावे तो फिर उसके परिपोष के लिये लय इत्यादि के अनुसरण की आवश्यकता ही क्या पड़े ? इसीप्रकार रस सामाजिक-गत भी नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि यदि रस सामाजिक की चित्तवृत्ति मे पहले ही से विद्यमान हो तो उसे आनन्द ही किस बात में आवे ? उदाहरण के लिये करुण रस का स्थायीभाव शोक है। यदि इस शोक की सत्ता सामाजिक की चित्तवृत्ति मे पहले से ही सिद्धरूप में उपस्थित है तो सामाजिक को शोक का ही अनुभव होना चाहिये। उसे उस शोक मे आनन्द का अनुभव नहीं होना चाहिये। ऐसी दशा मे उस करुणरसमय अभिनय को देखने के लिये किसी की प्रवृत्ति ही क्यो होगी ? वस्तुतः करुण रस के परिशीलन में भी ब्रह्मानन्द-सहोदर एक अनिर्वचनीय रस का आस्वादन किया जाता है। शोकाश्रुओं मे भी सहृदयों को अभूतपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सामाजिकों में सिद्धरूप में रस विद्यमान रहता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि नट राम इत्यादि की रति इत्यादि भावनाओं का अनुकरण करता है। एक ही रति इत्यादि भावना विभिन्न व्यक्तियों मे विभिन्न प्रकार की होती है। किसी मे वह भावना मन्द होती है किसी मे मन्दतर होती है और किसी में मन्दतम होती है। दूसरे व्यक्ति मे उसका परिमाण दूसरे प्रकार का होता है। इस प्रकार जब भावनाओं की सर्वत्र एकरूपता होती ही नहीं तब निश्चित एक विशेष अवस्था-वाली किसी भावना का कोई दूसरा व्यक्ति अनुकरण कर ही कैसे सकता है ? दूसरी बात यह है कि यदि कोई उसका अनुकरण करने मे सफल भी हो जावे तो भी उसका उपयोग क्या होगा ? जब कि दर्शक यह बात समझ ही जावेगा कि नट राम इत्यादि व्यक्ति-विशेष की भावना का अनुकरण मात्र कर रहा है वस्तुतः नट के अन्दर वह भावना है ही नहीं, तो फिर असत्य का प्रतिभास हो जाने से उनमे आस्वाद की उत्पत्ति हो ही किस प्रकार सकेगी। और उन्हे चतुर्वर्गफल-

लोचन

तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्यमानैरयं रामः सुखीति स्मृतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतयास्वादरूपा प्रतिपत्तिरनुकर्त्रालम्बना नाट्यैकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते। किन्त्वनुकार्याभिन्नाभिमते नर्तके आस्वादयिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमदः। तेन नाट्य एव रसः नानुकार्यादिष्विति केचित्।

अतएव अनियत अवस्थावाले स्थायीभाव के उद्देश्य से संयुक्त होनेवाले विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों के द्वारा 'यह राम सुखी है' इस स्मृति से विलक्षण, स्थायी में प्रतीतिगोचर होनेवाली आस्वादरूपिणी प्रतिपत्ति (जब) अनुकर्ता का अवलम्ब लेकर केवल नाट्यगामिनी (होती है) (तब उसे) रस (कहते हैं)। वह व्यतिरिक्त आधार की अपेक्षा नहीं करती। किन्तु अनुकार्य से अभिन्नरूप मे अभिमत नर्तक में आस्वाद लेनेवाला सामाजिक ही होता है। बस यह इतना ही है। इसलिये नाट्य में ही रस होता है अनुकार्य इत्यादि मे नहीं, यह कुछ लोग कहते हैं।

तारावती

प्राप्ति भी किस प्रकार हो सकेगी ? इस प्रकार यह पक्ष किसी प्रकार भी समीचीन नहीं जान पड़ता।

अतएव रस की प्रक्रिया इस प्रकार होगी कि जब विभाव-अनुभाव और सञ्चारीभावों का एक ऐसे स्थायी भाव से सम्बन्ध होता है जिसमे न तो कोई अवस्था ही नियत होती है और न उसमे किसी व्यक्ति का सम्बन्ध ही होता है उस समय सामाजिक लोग उस रति इत्यादि भाव का अनुमान लगा लेते है। (यह अनुमान नट मे ही लगाया जाता है और नट को ही लोग चित्रतुरग-न्याय से वास्तविक राम समझ लेते हैं। नट मे अनुमान इस प्रकार लगाया जाता है कि यह राम सुखी है। इस प्रतीति का समावेश स्मृति में नहीं हो सकता क्योंकि स्मृति की अपेक्षा इसमे एक प्रकार की विलक्षणता होती है। अब चूंकि अभिनय इत्यादि वस्तु के सौन्दर्य के कारण रति इत्यादि स्थायी भाव ही प्रतीतिगोचर होते हैं अतएव उनके विषय मे लगाई हुई अनुमिति भी आस्वाद को प्रकट करनेवाली हो जाती है। इसी आस्वादमयी प्रतीति को रस कहते है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि नट की सत्ता सर्वदा अनुकरण करनेवाले नट मे ही होती है और वह सर्वदा नाट्य मे ही विद्यमान रहती है। उस रस के अनुमान के लिये किसी अतिरिक्त आधार की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु अनुकार्य (राम इत्यादि से) अभिन्न रूप मे स्वीकृत नट मे सामाजिक ही उस रस का आस्वादन करता है। बस इस रसनिष्पत्ति के लिये इतनी ही सामग्री अपेक्षित है। अतएव नाट्य मे ही रस माना जाता है, अनुकार्य

लोचन

अन्ये तु अनुकर्तरि यः स्थाय्यवभासोऽभिनयादिसामग्र्यादिकृतो भित्ताविव हरितालादिना अश्वावभासः, स एव लोकातीतास्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद्रसा नाट्यरसाः। अपरे पुनर्विभावानुभावमात्रमेव विशिष्टसामग्र्या समर्प्यमाणं तद्विभावनीयानुभावनीयस्थायिरूपचित्तवृत्त्युचितवासनानुषक्तं स्वनिर्वृतिचर्वणाविशिष्टमेव रसः। तन्नाट्यमेव रसाः। अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम्, एकेऽनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुरित्यलं बहुना।

दूसरे लोग तो (यह कहते हैं)—अनुकर्ता में जो अभिनय इत्यादि सामग्री से उत्पन्न किया हुआ स्थायी का अवभास (होता है) जैसा कि भित्ति पर हरिताल इत्यादि के द्वारा अश्व का अवभास होता है वही लोकातीत होने के कारण आस्वाद इस दूसरी संज्ञावाली प्रतीति से आस्वादगोचर होनेवाला रस होता है; इस प्रकार नाट्य से रस होने के कारण नाट्यरस (कहलाता है)। फिर दूसरे लोग (कहते हैं) विभाव और अनुभावमात्र ही विशिष्ट सामग्री से समर्पित किये जाते हुये उसके द्वारा विभावित तथा अनुभावित की जानेवाली स्थायी चित्तवृत्ति के अनुकूल वासना से अनुषक्त होकर अपनी (सहृदय की) निर्वृति रूप विशिष्ट प्रकार की चर्वणा ही रस होती है। उनका नाट्य (अभिनय) ही रस होता है। अन्य लोग शुद्ध विभाव को, दूसरे शुद्ध अनुभाव को, कुछ लोग केवल स्थायी को, और लोग व्यभिचारी को, अन्य लोग उनके संयोग को, कुछ लोग अनुकार्य को, कुछ लोग समस्त समुदाय को रस कहते है। बस अधिक कहने की क्या आवश्यकता ?

तारावती

इत्यादि मे रस नहीं माना जाता। (क्योंकि उक्त रीति से रस नटाश्रित ही होता है, अतः नाट्य मे ही रस मानना ठीक है। इसलिये नाट्यरस यह संज्ञा चरितार्थ होती है। यह है कुछ लोगों का (शंकुक इत्यादि का) मत।

दूसरे आचार्यों का कहना है—'जिस प्रकार भित्ति पर हरताल इत्यादि से अश्व का चित्र बना दिया जाता है और उस चित्र मे अश्व का अवभास होने लगता है उसीप्रकार अभिनय इत्यादि सामग्री के सहकार से अनुकरण करनेवाले नट मे स्थायी भाव का अवभास होने लगता है। यह एक ऐसी प्रतीति होती है जिसकी तुलना लोक मे होनेवाली किसी भी प्रतीति से नहीं हो सकती। अतएव इस प्रतीति मे एक प्रकार का आस्वाद प्रकट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रतीति का दूसरा नाम आस्वाद भी हो जाता है। इस रसन या आस्वादन को रस कहते हैं। यह रसन या आस्वादन नाट्य से 'होता है अतः इसे नाट्यरस

लोचन

काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्ति-वक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिक-प्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता। अस्तु वात्र नाट्याद्विचित्ररूपा रसप्रतीतिः, उपायवैलक्षण्यादियमेव तावदत्र सरणिः। एवं स्थिते प्रथमपक्ष एवैतानि दूषणानि, प्रतीतेः स्वपरगतत्वादि विकल्पेन। सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था प्रतिभानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु।

लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मा के स्थानवाले काव्य मे भी स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दो प्रकारों से अलौकिक प्रसन्न मधुर और ओजस्वी शब्दों से समर्पित किये जानेवाले विभाव इत्यादि के योग से यही रस की वार्ता है। अथवा यहाँ पर नाट्य से विलक्षण रूपवाली रसप्रतीति हो; उपाय की विलक्षणता से यही (आगे कही जानेवाली) पद्धति (ठीक है)। ऐसी स्थिति मे प्रथमपक्षमे ही प्रतीति के स्व-परगत इत्यादि विकल्प के द्वारा ये दोष हैं। सभी पक्षों में रस की प्रतीति अपरिहार्य है। अप्रतीत निस्सन्देह पिशाच के समान अव्यवहार्य हो जावेगा। किन्तु जिस प्रकार केवल प्रतीतिको लेकर अविशिष्ट होते हुये भी प्रत्यक्षकृत, आनुमानिक, आगमोत्थ, प्रतिभाजन्य, योगिप्रत्यक्षजन्य प्रतीतियाँ अन्य ही होती हैं उसी प्रकार यह प्रतीति भी चर्वणा आस्वादन भोग इन दूसरे नामोंवाली हो जावे।

तारावती

कहते हैं। दूसरे लोगों का कहना है कि जब सामाजिकों के प्रति विभाव और अनुभाव नाट्य की विशिष्ट सामग्री के द्वारा समर्पित किये जाते हैं तब उन विभावादिकों को जिस स्थायी चित्तवृत्ति का विभावन और अनुभावन करना अभीष्ट होता है उस स्थायी चित्तवृत्ति की उपयुक्त वासना से संवलित होकर वे ही विभाव और अनुभाव रस कहे जाते हैं, जिनमे (अन्तरात्मा को बाह्य जगत् से विमुख करते हुये) स्वमात्र विश्रान्त निर्वृति के साथ आनन्द का अनुभव किया जाता है। उसी नाट्य को रस कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि शुद्ध विभाव ही रस होता है, दूसरे लोग कहते हैं कि शुद्ध अनुभाव ही रस कहा जाता है, कुछ लोग कहते हैं केवल स्थायी भाव ही रस होता है, दूसरे लोग कहते हैं व्यभिचारी भाव ही रस होता है, और लोग इन सबके संयोग को रस मानते हैं। कुछ लोग अनुकार्य (वास्तविक राम इत्यादि) को ही रस कहते हैं और कुछ लोग समस्त समुदाय को रस मानते

लोचन

तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्। रसाः प्रतीयन्त इति तु ओदनं पचतीतिवद्व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतेरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौलिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा; तां च प्रमुखे उपायतया सन्दधाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा।

क्योकि उनकी निदानभूत हृदयसंवाद इत्यादि से उपकृत विभाव इत्यादि सामग्री लोकोत्तर रूप होती है। रस प्रतीत होते हैं यह तो ओदन पकाता है के समान व्यवहार होता है। प्रतीयमान ही रस होता है। प्रतीति ही विशिष्ट आस्वादन है। वह तो नाट्य में लौकिक अनुमान प्रतीति से विलक्षण होती है और उसकी आदि मे उपाय के रूप मे अपेक्षा करती है। इस प्रकार काव्य में अन्य शब्द प्रतीति से विलक्षण और उसकी आदि मे उपाय के रूप में अपेक्षा करती है।

तारावती

है। अधिक विस्तार की क्या आवश्यकता, साराश यह है कि विचारकों मे रस के विषय में ऐकमत्य है ही नहीं।

जो बात नाट्यरस के विषय मे कही जाती है वही काव्यरस के विषय में भी कही जा सकती है जिस प्रकार नाट्य में दो प्रकार का अभिनय होता है—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। कुछ अभिनय ऐसा होता है जो लोक-व्यवहार के अत्यन्त सन्निकट पड़ता है उसे लोकधर्मी अभिनय कहते हैं, दूसरे प्रकार का अभिनय ऐसा होता है जो लोक-व्यवहार मे नित्यप्रति नहीं आता जैसे स्वर अलङ्कार इत्यादि—उसी प्रकार काव्य भी दो प्रकार का होता है स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। इन दोनों प्रकारों का आश्रय लेकर प्रसाद माधुर्य और ओज गुणों से परिपूर्ण अलौकिक शब्दों के द्वारा काव्य में भी पाठकों को विभाव इत्यादि का समर्पण किया जाता है। अतएव उनके संयोग से काव्यरस के क्षेत्र मे भी वही जटिलता उत्पन्न हो जाती है। अथवा यही मान लो कि काव्यरस नाट्यरस की अपेक्षा विलक्षण प्रकार का होता है। उपायों की विलक्षणता के कारण जिस रसप्रक्रिया का उल्लेख किया जावेगा वही प्रक्रिया सबसे अधिक समीचीन जान पड़ती है। भट्टलोल्लट के उत्पत्ति पक्ष मे दोष दिखलाये ही जा चुके हैं। उसमे बतलाया ही जा चुका है कि रसप्रतीति की अवस्थिति स्वगत या परगत इत्यादि वैकल्पिक पक्षों के कारण निश्चित ही नहीं की जा सकती। किसी भी पक्ष का आश्रय लिया जावे इतना तो मानना ही पडेगा कि रस की प्रतीति होती है। यदि रस की प्रतीति ही न मानी जावे तो उसका व्यवहार उसी प्रकार असङ्गत हो जावे जिस प्रकार पिशाच का ठीक रूपमे ज्ञान न होने के कारण उसका व्यवहार ही असङ्गत माना जाता है। यद्यपि प्रतीति

लोचन

तस्मादनुत्थानोपहतः पूर्वपक्षः। रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह—"तासामनादित्वम् आशिषो नित्यत्वात्। जातिकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।" इति।

अतः पूर्व पक्ष अनुत्थान रूप मे ही उपहत हो गया। यही तो महान् साहस है कि राम इत्यादि का चरित्र सबके हृदय से मेल नहीं खाता। क्योंकि चित्त मे विचित्र प्रकार की वासनाओं की विशिष्टता होती है। जैसा कहा है— 'उनका अनादित्व होता है क्योंकि आकाङ्क्षायें नित्य होती हैं। जाति देश और काल से व्यवहितों का भी आनन्तर्य होता है क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप

तारावती

एक ही होती है और सब प्रकार की प्रमा के लिये प्रतीति शब्द का प्रयोग होता है किन्तु विभिन्न प्रकार की प्रमा के लिये विभिन्न प्रकार के उपायों से काम लिया जाता है। अतएव उपायों की विभिन्नता के कारण प्रतीति के भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रतिभा, योगि प्रत्यक्ष, ये विभिन्न भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार रस-प्रतीति भी प्रत्यक्षादि सब प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है। चर्वणा, आस्वाद भोग इत्यादि इसी प्रतीति के विभिन्न नाम हैं। यह प्रतीति प्रत्यक्ष इत्यादि लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण इसलिये मानी जाती है कि हृदय-संवाद के द्वारा उपकृत होकर जो विभाव इत्यादि सामग्री इस रस को प्रतीत करने मे निदान (कारण) होती है वह सर्वदा अलौकिक ही हुआ करती है। अतएव लौकिक प्रत्यक्ष इत्यादि प्रतीतियों में उसका समावेश हो ही नहीं सकता। वस्तुतः प्रतीति को ही रस कहते हैं। प्रतीति और रस में तादात्म्य सम्बन्ध होता है। फिर भी 'रस प्रतीत होता है' यह व्यवहार किया जाता है। यह व्यवहार उसी प्रकार होता है जैसे 'भात पका रहा है' यह लौकिक व्यवहार हुआ करता है। जिस प्रकार पके हुये चावलों को ही भात कहते हैं, वह स्वतः पका हुआ है ही। किन्तु लौकिक व्यवहार में 'भात पक रहा है' यह कहा जाता है, उसी प्रकार प्रतीति ही रस है, किन्तु रस प्रतीत हो रहे हैं यह व्यवहार किया जाता है। नाट्य मे यह प्रतीति लौकिक अनुमान प्रतीति से विलक्षण होती है, किन्तु लौकिक अनुमान प्रतीति को उपाय के रूप मे अपने सामने रखकर ही प्रवृत्त होता है। उसी प्रकार काव्य मे भी शाब्दी प्रतीति अन्य लौकिक शाब्दी प्रतीतियों से विलक्षण होती हैं अर्थात् लोक में जिस प्रकार शब्द से अर्थ की अवगति होती है वैसी अवगति काव्य में नहीं होती। दोनों प्रतीतियों में भेद होता है। किन्तु काव्य की प्रतीति उपाय के रूप मे लौकिक शाब्दी प्रतीति को सामने रखते हुये उसकी अपेक्षा अवश्य करती है।

लोचन

तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव नान्यत्किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दा-

होते है।' इससे रस की प्रतीति तो सिद्ध हो गई। वह प्रतीति आस्वादन रूप में उत्पन्न होती है। वाच्य-वाचक का तो वहाँ पर अभिधा से पृथग्भूत व्यञ्जनात्मक ध्वननव्यापार ही होता है। काव्य का भोगकरणव्यापार रसविषयक ध्वन्यात्मक ही होता है और कुछ नहीं। भावकत्व भी समुचित गुणालङ्कारपरिग्रहात्मक (ही होता है जिसको) हम ही विस्तृत करके कहेंगे। यह अपूर्व क्या है? जो यह कहा जाता है कि काव्य रसों के प्रति भावक होता है उससे आपने ही भावन के कारण उत्पत्ति पक्ष को ही प्रत्युज्जीवित कर दिया। केवल काव्य शब्दों का ही भावकत्व नहीं होता। क्योंकि अर्थ के न जानने पर वह होता नहीं। केवल अर्थों का

तारावती

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि रस प्रतीत होता है। अतएव भट्टनायक का यह कहना कि 'रस प्रतीत ही नहीं होता' किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पूर्व पक्ष (भट्टनायक का पक्ष) तो अपने उत्थान काल में ही उपहत हो गया। यह कहना बहुत बडे साहस की बात है कि 'राम इत्यादि का चरित्र सभी लोगों के हृदयों में मेल नहीं खा सकता' हमारे चित्तों मे विचित्र प्रकार की विभिन्न वासनायें भरी रहती है। (हम भले ही समुद्र पर पुल बाँधना इत्यादि कार्यो को अपनी शक्ति से सम्पन्न न कर सके किन्तु इस प्रकार के कार्यो का सम्पादन करने के लिये हमारे अन्तःकरणों मे वासनायें जागृत होती ही रहती हैं। जिन कार्यों का घटनारूप मे परिणत होना सर्वथा असम्भव होता है उनके स्वप्न तो देखा ही करते हैं अथवा उनके विषय मे ख्याली पुलाव पकाते ही रहते हैं। अतः समुद्रलङ्घन इत्यादि लोकोत्तर चरित्रों से भी हमारा हृदय मेल खा ही जाता है।) जैसा कि योग दर्शन मे कहा गया है (यहाँपर लोचनकार ने पौर्वापर्य क्रम को बदलकर योग दर्शन के दो सूत्रों को उद्धृत किया है। इन सूत्रों मे इस बात पर विचार किया गया है कि जब कोई बच्चा किसी पशु के गर्भ से उत्पन्न होता है तब उत्पन्न होते ही उसके अन्दर उस योनि के अनुकूल प्रवृत्तियाँ किस प्रकार उत्पन्न हो जाती हैं। सामान्य नियम है कि हमारी प्रवृत्ति अनुभव के आधार पर

लोचन

न्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात् । द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्—'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः' इत्यत्र । तस्माद्व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिक-येतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इतियंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्धसङ्कटतानि-वृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तारविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः । तच्चेदं भोगकृत्त्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे

भी नहीं होता क्योंकि दूसरे शब्दों से अर्पण करने पर वह नहीं होता । दोनों का भावकत्व तो हमने ही कहा—'जहाँ अर्थ और शब्द उस अर्थ को व्यक्त करते हैं।' यहाँपर अतएव व्यञ्जकत्व नाम के व्यापार से गुण तथा अलङ्कार के औचित्यवाली इतिकर्तव्यता से भावक काव्यरसों को भावित करता है। इस प्रकार तीन अंशोंवाली भावना मे कारण अंश मे ध्वनन ही आ जाता है । भोग भी काव्य शब्द से नहीं किया जाता । अपितु घने मोहरूपी अन्ध सङ्कट से निवृत्ति के द्वारा आस्वाद इस दूसरे नामवाले अलौकिक द्रुति विस्तार और विकासात्मक भोग के अलौकिक कर्तव्य में ध्वननव्यापार भी मूर्धाभिषिक्त होता है। और वह यह भोगकृत्त्व रस के ध्वननीय

तारावती

होती है उदाहरण के लिये जब तक हम पहले दूध पीकर भूख शान्त न कर चुके हों तब तक हमें यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि दूध पी लेने से भूख शान्त हो जाती है। किन्तु जब किसी पशु का कोई बच्चा पहले-पहल जन्म लेता है तब भूख लगने पर उसकी स्वतः प्रवृत्ति दूध पीने की ओर हो जाती है । घोड़े का बच्चा घोड़े के कार्य करने लगता है, गाय का बच्चा अपना वर्ग समझ जाता है । यह कैसे होता है? इसी बात का इन सूत्रों मे विचार किया गया है । इन सूत्रों का सारांश यह है कि जन्म-मरण के प्रवाह मे पड़कर जीव कभी न कभी उस विशेष योनि मे आया ही होगा । अनेक योनियों का व्यवधान पड जाने से उस समय की उसकी स्मृतियां तो समाप्त ही हो जाती है किन्तु उस समय के अनुभव संस्काररूप मे उसके अन्दर सन्निहित रहते है और उसी विशेष योनि को प्राप्त कर उन्हीं संस्कारों के अनुकूल उसकी प्रवृत्ति भी होने लगती है ।) सासारिक जीव नाना योनियो मे भ्रमण करते रहते है, किन्तु किसी योनि मे अनुभव करने के बाद पुनः उसी योनि मे आने तक बीच में सहस्रों योनियों का व्यवधान हो जाता है । किन्तु पहले उस योनि-विशेष के शरीर इत्यादि व्यञ्जकों के सहकार से जो वासनायें प्रकट हुई थीं उसी प्रकारके शरीर इत्यादि व्यञ्जकों के पुनः उत्पन्न होने

लोचन

दैवसिद्धम् । रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति । सत्त्वादीनां चाङ्गाङ्गिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद्द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता । परब्रह्मास्वादसब्रह्मचारित्वं चास्त्वस्य रसास्वादस्य । व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम् । यथारामस्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायस्वप्रतिभाविजृम्भारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपालभामहे । तस्मात्स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति । तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया भवत्वन्यथा वा । प्रधानत्वे ध्वनिः अन्यथा रसाद्यलङ्काराः ।

सिद्ध होने पर दैवसिद्ध हो जाता है । क्योंकि भोग रस्यमानता से उत्पन्न चमत्कार से अतिरिक्त नहीं होता । सत्व इत्यादि के अङ्गाङ्गिभाववैचित्र्य की अनन्तता के कारण द्रव इत्यादि के रूप में आस्वाद गणना उचित नहीं है । इस रसास्वादन का परब्रह्मास्वाद सादृश्य हो जावे । शास्त्र और इतिहास से उत्पन्न शासन और प्रतिपादन से (रस का) व्युत्पादन विलक्षण होता है । जैसे राम वैसा मैं हूँ इस उपमान से अतिरिक्त रसास्वाद के उपाय अपनी प्रतिभा के विजृम्भण रूप व्युत्पत्ति को अन्त मे कर देता है, इसके लिये हम किसको उपालम्भ दें । इससे यह स्थित है रस अभिव्यक्त ही होते हैं और प्रतीति के द्वारा ही आस्वादनगोचर होते हैं । उसमे अभिव्यक्ति प्रधान रूप में हो या अन्यथा । प्रधान होने पर ध्वनि (होती है) अन्यथा रस इत्यादि अलङ्कार होते हैं ।

तारावती

पर उसी प्रकार की वासनायें प्रादुर्भूत हो जाती हैं । "यद्यपि दोनों शरीरों में जाति, देश, काल इत्यादि का व्यवधान हो जाता है किन्तु स्मृति और संस्कारों की एकरूपता के कारण निरन्तरता बनी ही रहती है ।' उसका क्रम इस प्रकार होता है – जिस समय कर्म का अनुष्ठान किया जाता है उस समय चित्त की सत्ता के कारण उसमे वासना रूप मे संस्कार का आविर्भाव हो जाता है । वही संस्कार स्वर्ग-नरक इत्यादि का अङ्कुर होता है, अथवा यज्ञ इत्यादि कर्मों का शक्ति के रूप मे स्थित होना ही संस्कार कहलाता है; अथवा कर्ता की शक्ति को ही संस्कार कहते हैं जिससे वह भोग्य और भोक्ता का रूप धारण करता है । संस्कार से स्मृति, स्मृति से सुख दुःख का उपभोग, उस उपभोग के अनुभव से संस्कार और स्मृति इत्यादि की उत्पत्ति, बस यही क्रम स्मृति और संस्कार की परम्परा-वाहिता में माना जाता है । (प्रश्न) प्रथम शरीर मे वासना की सत्ता किस प्रकार मानी जा सकती है ? (उत्तर) वे वासनायें अनादि होती हैं क्योंकि महामोह पूर्ण कामनायें निरन्तर बनी ही रहती हैं ।' सदैव सुख-साधनों की प्राप्ति हो, सुख-साधनों से मेरा

तारावती

वियोग कभी न हो, बस यही विशेष प्रकार के सङ्कल्प वासनाओं मे कारण होते हैं। ये सङ्कल्प सदा ही बने रहते हैं अतः वासनायें भी नित्य होती हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गई कि चाहे किसी प्रकार का अभिनय क्यों न हो वासना के कारण हमें उसमे रस की प्रतीति होने लगती है। वह प्रतीति आस्वादन के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती है। इस आस्वादन की प्रतीति के लिए अभिधाव्यापार कुछ नहीं कर सकता। अतः उसके लिये व्यञ्जनारूप ध्वननव्यापार ही मानना पड़ता है। भट्टनायक ने काव्य मे जो एक नई भोजकवृत्ति मानी थी वह और कुछ नहीं केवल ध्वननव्यापार ही है। भावकत्ववृत्ति भी और कुछ नहीं विभिन्न रसों के लिये उपयुक्त गुण और अलङ्कार मे ही उसका परिग्रह हो जाता है। इस बात को आगे चलकर हम स्वयं ही बतलावेंगे। यह भावकत्व व्यापार कोई नई वस्तु तो है नहीं। आप जो यह कहते हैं कि 'काव्य रस के प्रति भावक होता है' उसका एकमात्र अर्थ यही है कि काव्य रस को उत्पन्न कर देता है। भावक शब्द का सम्बन्ध ही 'भव' (भूधातु) से है जिसका अर्थ है उत्पन्न होना। जिस उत्पत्ति पक्ष का आपने खण्डन किया था भावकवृत्ति को अङ्गीकार कर लेने से वही पुनः प्रत्युज्जीवित हो गया। दूसरी बात यह है कि केवल काव्य शब्द ही रस के भावक नहीं हो सकते। क्योंकि अर्थ का ज्ञान न होने पर रस की भावना हो ही नहीं सकती। केवल अर्थ भी रस के भावक नहीं होते क्योंकि वही बात जब दूसरे शब्दों के द्वारा प्रकट की जाती है तब रस की भावना हो ही नहीं सकती। यदि कहो कि दोनों ही भावक होते हैं तो यह बात तो हमने (प्रथम उद्योत की १३ वीं कारिका मे) कह ही दी कि—'जहाँ पर अर्थ या शब्द अपने को अथवा अपने अर्थ को गौण बनाकर उस विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त किया करते हैं, विद्वान् लोग उसे ध्वनि कहते हैं।' इससे यह सिद्ध हो गया कि व्यञ्जकत्व नाम के व्यापार और गुण तथा अलङ्कार इत्यादि के औचित्य रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा भावकता को प्राप्त होकर काव्य ही रसों को भावित करता है। (इसको इस प्रकार समझिये—मीमांसकों के मत में 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य के द्वारा पुरुष के प्रति स्वर्ग के उद्देश्य से यज्ञ इत्यादि धर्म का विधान किया जाता है। 'यजेत' इस क्रिया के दो भाग हैं—'यज' धातु और प्रत्यय। प्रत्यय के भी दो भाग हैं—आख्यातत्व और लिङ्। ये दोनों अंश भावना का ही अर्थ देते हैं। 'भावना' का अर्थ है—'सत्ता में आनेवाली वस्तु को सत्ता में लाने के अनुकूल क्रिया।' यह भावना दो प्रकार की होती है आर्थी भावना और शाब्दी भावना। आर्थी भावना तीन पदार्थों की अपेक्षा करती है— १—साध्य, २—साधन, और ३—इति कर्तव्यता। भावना के विषय

ध्वन्यालोकः

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ ५ ॥

(अनु०) "अन्यत्र वाक्यार्थ के प्रधान होने पर जहाँ रस इत्यादि अङ्ग हो रहे हों उस काव्य में रस इत्यादि अलङ्कार बन जाते हैं यह मेरी सम्मति है" ॥ ५ ॥

तारावती

सहोदर होता है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि 'रसास्वादन की प्रक्रिया सर्वथा अप्रधान होती है।' शास्त्र द्वारा शासन करने में और इतिहास द्वारा प्रतिपादन करने में जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है रस-प्रक्रिया उससे सर्वथा विलक्षण होती है। शास्त्र और इतिहास से हमें केवल इस उपमान की प्रतीति होती है कि 'राम के समान व्यवहार करना चाहिये रावण के समान नहीं।' किन्तु काव्य में इस उपमान की प्रतीति भी होती है और अन्त में रसास्वाद में उपायभूत (सामाजिक की) प्रतिभा का विकास भी व्युत्पत्ति के रूप में होता है। यही इन दोनों व्युत्पत्तियों में अन्तर है। जब कि यह अन्तर स्पष्ट रूप में प्रतीतिगोचर हो रहा है और यह आपके (भट्टनायक के) प्रतिकूल है तो अब हम इसका उपालम्भ किसको दें। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि रसकी अभिव्यक्ति होती है और उसका आस्वादन प्रतीति के रूप में ही किया जाता है अर्थात् प्रतीतिगोचर होना ही रस का आस्वादन है। यह अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है—(१) जहाँ अभिव्यक्त रस इत्यादि प्रधान हों उसे ध्वनि कहते हैं और (२) जहाँ पर अभिव्यक्त तत्त्व गौण हो उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं। यही बात वृत्ति में इस प्रकार कही गई है—'जहाँ रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति इत्यादि अभिव्यज्यमान तत्त्व प्रधान हों और शब्द, अर्थ, अलङ्कार और गुण परस्पर विभिन्न रूप में ध्वनि की दृष्टि से ही व्यवस्थित किये जावें उसे ध्वनि कहते हैं।' व्यवस्थित किये जावें कहने का आशय यह है कि जो युक्तियाँ पहले दी जा चुकी हैं उन्हीं के आधार पर गुण अलङ्कार इत्यादि के विभिन्न रूप में व्यवस्थित किये जाने के कारण ही अभिव्यज्यमान अर्थ को प्रधानता प्राप्त होती है और इसीलिये वह ध्वनि का रूप धारण करता है।

[उक्त विवेचन का सारांश यही है कि अलङ्कार शास्त्र के आचार्यों ने रसवत् इत्यादि अलङ्कारों का विवेचन किया है। निस्सन्देह रसवत् इत्यादि अलङ्कारों में भी रस इत्यादि की अभिव्यक्ति होती ही है किन्तु उनमें रस इत्यादि की स्थिति उपमा इत्यादि से अच्छी नहीं होती। जिस प्रकार उपमा इत्यादि अलङ्कार दूसरे तत्त्व को अलंकृतकर आनन्द-साधना में कारण बनते हैं उसीप्रकार रस इत्यादि

ध्वन्यालोकः

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयान्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।

(अनु०) यद्यपि अन्य आचार्यो ने भी रसवत् अलङ्कार का विषय दिखलाया है तथापि मेरा पक्ष यह है कि जिस काव्य मे अन्य अर्थ प्रधानतया वाक्यार्थ हो जावे और रस इत्यादि उसके अङ्ग हों वहाँ रस इत्यादि अलङ्कार का विषय होते है। जैसे चाटूक्तियों मे प्रेयोलङ्कार वाक्यार्थ होते हुये भी रस इत्यादि प्रेयालङ्कार के अङ्ग रूप मे देखे जाते हैं।

लोचन

अन्यत्रेति। रसस्वरूपे वस्तुमात्रेऽलङ्कारतायोग्ये वा। मे मतिरित्यन्यपक्षं दूष्यत्वेन हृदि निधायाभीष्टत्वात् स्वपक्षं पूर्वं दर्शयति—तथापीति। स हि परदर्शितो विषयो भाविनीत्या नोपपन्न इति भावः। यस्मिन् काव्ये इति। स्पष्टत्वेनासङ्गतं वाक्यमित्थं योजनीयम्—यस्मिन् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः, चशब्दस्तुशब्दार्थे। यस्य काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयोऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदलङ्कारशब्दस्य विषयाः, स एवालङ्कारशब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः; न त्वन्य इति यावत्। अत्रोदाहरणमाह—तद्यथेति। तदित्यङ्गत्वम्। यथात्र वक्ष्यमाणो-

अन्यत्र इति। रसस्वरूप मे वस्तुमात्र मे अथवा अलङ्कार के योग्य (वस्तु) मे। 'मे मतिः' अन्यपक्ष को दूषित करने योग्य के रूप मे हृदय मे रखकर अभीष्ट होने से अपना पक्ष पहले दिखलाते है—तथापि इति। निःसन्देह वह दूसरे के द्वारा दिखलाया हुआ विषय भावी नीति से उपपन्न नहीं होता, यह भाव है। यस्मिन् काव्ये इति। स्पष्टरूप मे असंग वाक्य की योजना इस प्रकार करनी चाहिये 'जिस काव्य मे पूर्वोक्त रस इत्यादि अङ्गभूत हो और वाक्यार्थ के रूप मे स्थित अर्थ दूसरा ही हो, 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ मे है। उस काव्य के सम्बन्धी जो रस इत्यादि अङ्गभूत व रस इत्यादि अलङ्कार के अर्थात् रसवत् इत्यादि अलङ्कार शब्द के विषय होते हैं। वही अलङ्कारशब्दवाच्य होता है जो अङ्गभूत हो और कोई नहीं। यहाँ पर उदाहरण देते हैं—'वह इस प्रकार'। वह का अर्थ है अङ्गत्वम्। अर्थात् जिस

तारावती

भी आनन्द-साधना मे परमुखापेक्षी हो होते है। इसके प्रतिकूल जहाँ आनन्द-साधना ही प्रधान होती है, पाठक आस्वादन मे तन्मय हो जाता है और अलङ्कार शब्द, अर्थ, गुण, रीति इत्यादि काव्य के समस्त तत्त्व उस आनन्द के उपकरण के

लोचन

दाहरणे, तथान्यत्रापीत्यर्थः। भामहाभिप्रायेण चाटुषु प्रेयोलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इतीदमेकं वाक्यम्। भामहेन हि गुरुदेवनृपतिपुत्रविषय-

प्रकार यहाँ कहेजानेवाले उदाहरण में वैसे ही अन्यत्र भी। भामह के अभिप्राय से चाटुओं में प्रेयोऽलंकार के वाक्यार्थ होने पर भी रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं। इस प्रकार यह एक वाक्य है। निःसन्देह भामह ने गुरुदेवनृपतिपुत्रविषयक

तारावती

रूप में अवस्थित होते हैं वहाँ रसध्वनि होती है। रसध्वनि में अलङ्कार इत्यादि का स्वतन्त्र सौन्दर्य आस्वादन में निमित्त नहीं होता अपितु आस्वादन में स्वतन्त्र रूप से निमित्त रसध्वनि के सौन्दर्य का वह अभिवर्धक मात्र होता है।]॥ ४॥

'अन्यत्र वाक्यार्थ के प्रधान होने पर जहाँ रस इत्यादि अङ्ग होते हैं मेरी सम्मति में वहाँ पर रस इत्यादि अलङ्कार बन जाते हैं।' इस दूसरी कारिका में अन्यत्र शब्द का अर्थ है—जहाँ पर चौथी कारिका में बतलाई गई स्थिति नहीं होती अर्थात् जहाँ पर वाच्य, वाचक इत्यादि काव्य के अनेक तत्त्व रसादिपरक ही नहीं होते अपितु इसके प्रतिकूल रस इत्यादि ही वाक्यार्थपरक होते हैं। ऐसी स्थिति तीन प्रकार की हो सकती है—(१) जहाँ पर प्रधानता किसी दूसरे रस-स्वरूप की ही हो, (२) जहाँ एकमात्र कोई वस्तु प्रधान हो, और (३) जहाँ पर कोई ऐसी वस्तु प्रधान हो जिसे अलङ्कार के नाम से भी अभिहित किया जा सके। 'मेरी सम्मति है' कहने से प्रकट होता है कि अन्य पक्षों को अपने हृदय में रखकर और यह समझते हुये कि वे सब पक्ष दूषित हैं पहले अपने पक्ष की स्थापना की जा रही है, क्योंकि अभीष्ट तो अपना ही पक्ष है। 'तथापि' शब्द के प्रयोग से व्यक्त होता है कि रसवत् इत्यादि अलङ्कारों का दूसरों द्वारा दिखलाया हुआ विषय उपपन्न नहीं होता क्योंकि जिस नीति का आगे चलकर उल्लेख किया जावेगा उसी से दूसरों के पक्षों का खण्डन किया जा सकता है। 'तस्मिन् .... विषया इति मामकीनः पक्षः' यह वाक्य स्पष्ट रूप में असङ्गत है। अतः इसकी योजना इस प्रकार की जानी चाहिये—'जिस काव्य में वे पूर्वोक्त रस इत्यादि अङ्ग के रूप में स्थित हों और अन्य अर्थ वाक्यार्थ के रूप में स्थित हो।' यहाँ पर 'च' शब्द का अर्थ है 'तु' शब्द। इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ होगा—'जिस काव्य में पूर्वोक्त रस इत्यादि अङ्ग हों और वाक्यार्थ कोई अन्य हो उस काव्य से सम्बन्धित जो रस इत्यादि होते हैं वे रस इत्यादि अलङ्कार के अथवा रसवत् इत्यादि अलङ्कार के विषय होते हैं। आशय यह है कि वही तत्त्व अलङ्कारशब्दवाच्य होता है जो अङ्ग हो, जो अङ्गी अर्थात् प्रधान हो उसे अलङ्कार नहीं कहते। इस विषय में

लोचन

प्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तम्। तत्र प्रेयानलङ्कारोऽलङ्करणीय इहोक्तः। न त्वलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वं युक्तम्। यदि वा वाक्यार्थत्वं प्रधानत्वम्। चमत्कारकारितेति यावत्।

प्रीतिवर्णन को 'प्रेयोलङ्कार' यह कहा है। वहाँ पर 'प्रियतर है अलङ्कार जहाँ वह प्रेयोलङ्कार अर्थात् अलङ्करणीय' यहाँ कहा गया है। अलङ्कार का वाक्यार्थत्व यहाँ पर उचित नहीं है। अथवा वाक्यार्थत्व प्रधानत्व को कहते हैं अर्थात् चमत्कार-

तारावती

उदाहरण देते हुये वृत्तिकार ने कहा है—"वह इस प्रकार—जैसे चाटूक्तियों मे प्रेयोलङ्कार के वाक्यार्थ होने पर भी रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं।" इस वाक्य मे 'वह' का अर्थ है 'अङ्ग होना' अर्थात् इस वाक्य में बतलाया गया है कि रस इत्यादि अङ्ग किस प्रकार होते हैं। वृत्तिकार का आशय यह है कि जो बात यहाँ पर बतलाई जावेगी वही अन्यत्र भी समझ लेनी चाहिये। इस पूरे वाक्य की दो प्रकार से योजना की जाती है ओर दो प्रकार के अर्थ लगाये जाते हैं—एक है भामह के अनुसार और दूसरा है उद्भट के अनुसार। (प्रेयोऽलङ्कार के विषय में भामह और उद्भट मे मतभेद है। भामह गुरु, देव, नृपति और पुत्र के प्रति प्रेम को प्रेयोलङ्कार की संज्ञा प्रदान करते हैं जब कि उद्भट किसी प्रकार के भाव को प्रेयोलङ्कार कहते है। अतः भामह के अनुसार रसवत् अलङ्कार प्रेयोलङ्कार से भिन्न होता है और उद्भट के अनुसार रसवत् अलङ्कार भी प्रेयोलङ्कार के अन्दर ही आ जाता है। इस भेद को ध्यान मे रखते हुये ही दोनों के अनुयायी अपने-अपने अनुसार आनन्दवर्धन के इस वाक्य का अर्थ लगाते हैं।) भामह के अनुसार इस पूरे वाक्य का सीधा अर्थ होगा—'चाटूक्तियों मे यद्यपि वाक्यार्थ प्रेयोलङ्कारपरक होता है तथापि उनमें रस इत्यादि अङ्ग के रूप मे आते हुये देखे जाते हैं।" (आशय यह है कि जहाँ पर राजविषयक रति इत्यादि का वर्णन किया जाता है और उसकी पुष्टि शृङ्गार वीर इत्यादि रसों के माध्यम से की जाती है वहाँ पर प्रधानता तो राजविषयक रति इत्यादि की ही होती है और पोषक रस उसके अङ्ग हो जाते हैं। इस अर्थ के करने मे कारण यह है कि भामह गुरुविषयक, देवविषयक, नृपतिविषयक और पुत्रविषयक प्रीतिवर्णन को प्रेयोलङ्कार की संज्ञा प्रदान करते हैं। (चाटूक्तियों मे राजविषयक रति ही प्रधानतया वर्ण्य-विषय होती है, शेष रस उसके पोषक मात्र होते हैं।) जो प्रधानतया वर्ण्य-विषय हो उसे अलङ्कार कहा ही नहीं जा सकता। अतएव भामह के मत मे प्रेयोलङ्कार शब्द का विशेष अर्थ करना पड़ेगा। 'प्रेयोऽलङ्कार' शब्द मे एक तो बहुव्रीहि समास हो सकता है दूसरा कर्मधारय। 'प्रेयोलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वे' वृत्तिकार के इस वाक्य मे

लोचन

उद्भटमतानुसारिणस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते—चाटुषु चाटुविषये वाक्यार्थत्वे प्रेयोऽलङ्कारस्यापि विषय इति पूर्वेण सम्बन्धः। उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः,

कारकता। उद्भट के मत का अनुसरण करनेवाले तो (वाक्य का) भङ्ग करके व्याख्या करते हैं—चाटुओं मे अर्थात् चाटु के विषय के वाक्यार्थ होने पर अर्थात् चाटुओ के प्रतिपाद्य विषय होने पर प्रेयोऽलङ्कार का भी विषय होता है यह पूर्व से सम्बन्ध है। उद्भट के मत मे भावालङ्कार ही प्रेय (होता है) यह कहा गया है।

तारावती

बहुव्रीहि समास मानना ही ठीक है। बहुव्रीहि के अनुसार प्रेयोलङ्कार शब्द का अर्थ होगा—'प्रेय है अलङ्कार जिसमें' अर्थात् अलङ्करणीय वस्तु जिसमे राजविषयक रति इत्यादि का वर्णन हो। इस प्रकार भामह के मत में इस वाक्य की सङ्गति लग जाती है। क्योंकि इन स्थानों पर राजविषयक रति ही अलङ्करणीय वस्तु होती है और राजा के शृङ्गार शौर्य इत्यादि के वर्णन मे आई हुई दाम्पत्य रति, उत्साह इत्यादि कविगत राजविषयक रति के पोषक तत्त्व ही होते हैं। अथवा यहाँ पर समानाधिकण तत्पुरुष अथवा कर्मधारय भी माना जा सकता है—उस दशा में प्रेयोऽलङ्कार शब्द का अर्थ होगा प्रेय ही अलङ्कार। तब वहाँ पर वही प्रश्न उपस्थित होगा कि कोई अलङ्कार वाक्यार्थ कैसे हो सकता है। तब वाक्यार्थ का अर्थ करना होगा प्रधानता और प्रधानता का अर्थ होगा—चमत्कारपर्यवसायिता। अर्थात् प्रेयोलङ्कार जहाँ पर चमत्कार-पर्यवसायी हो वहाँ पर रस इत्यादि अङ्ग रूप मे आते हुये देखे जाते है। यह तो हुई भामह के अनुसार व्याख्या। उद्भट के अनुसार यह व्याख्या सङ्गत नहीं हो सकती। क्योंकि उद्भट रसवत् अलङ्कार को भी प्रेयोऽलङ्कार के अन्दर सन्निविष्ट करते हैं। (जैसा कि उन्होंने कहा है—'रति इत्यादि भावों को जब अनुभाव इत्यादि के द्वारा सूचित करते हुये काव्यनिबद्ध किया जाता है तब सजन लोग उसे प्रेयस्वत् काव्य कहते है।' इसकी व्याख्या करते हुये प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है—'यहाँ पर रति इत्यादि का अर्थ है दूसरे स्थायीभाव व्यभिचारी भाव और सात्विक भाव। तथा अनुभाव इत्यादि का अर्थ है—विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव।' आशय यह हुआ कि जहाँ पर विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भाव के द्वारा कोई भी स्थायी भाव, सञ्चारी भाव या सात्विक भाव सूचित किया जावे वहाँ सर्वत्र उद्भट के मत में प्रेयोलङ्कार होता है। इस प्रकार उद्भट के मत में रसवत् भी प्रेय के अन्दर ही अन्तर्भुक्त हो गया। तब यह कहना ठीक नहीं हो सकता कि प्रेयोलङ्कार मे रसवत् उसका अङ्ग होता है। क्योंकि

लोचन

प्रेम्णा भावानामुपलक्षणात्। न केवलं रसवदलङ्कारस्य विषयः यावत्प्रेयः प्रभृतेरपीत्यपि-शब्दार्थः। रसवच्छब्देन प्रेयःशब्देन च सर्व एव रसवदाद्यलङ्कारा उपलक्षिताः, तदेवाह—रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्त इति उक्तविषय इति शेषः।

प्रेम से भावों का उपलक्षण हो जाता है। अपि शब्द का अर्थ यह है कि केवल रसवत् अलङ्कार का ही विषय नहीं है अपितु प्रेय इत्यादि अलङ्कारों का भी विषय है। रसवत् शब्द से और प्रय शब्द से सभी रसवत् इत्यादि अलङ्कार उपलक्षित हो जाते हैं। वही कहते हैं—रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते है। 'उक्त विपय' मे यह और शेष रह गया अर्थात् उक्त वाक्य मे इतना और जोड़ दिया जाना चाहिये।

तारावती

अपना ही अङ्ग कभी कोई नहीं हो सकता।) अतएव उद्भट के मत मे उक्त वाक्य को दो खण्डों मे विभक्त कर व्याख्या करनी होगी—पहला खण्ड होगा 'चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि' इसकी योजना इस प्रकार होगी—'चाटुषु वाक्यार्थत्वेऽपि प्रेयोलङ्कारस्य' प्राकरणिक होने के कारण 'विषयः' शब्द का अध्याहार कर लिया जाता है। 'चाटुषु' शब्द मे विषयसप्तमी है। चाटुओं के विपय मे भी वाक्यार्थ होने पर भी अर्थात् चाटुओं की वाक्यार्थता मे भी प्रेयोलङ्कार का विषय होता है। (यहाँ पर दीधितिकार ने लिखा है कि उद्भट का मत ठीक नही है क्योंकि 'चाटुषु' मे षष्ठी के अर्थ में सप्तमी नहीं हो सकती। यहाँ पर षष्ठी के अर्थ में सप्तमी नहीं है अपितु विपयसप्तमी है। 'चाटूना वाक्यार्थत्वे' इसमे षष्ठी का प्रयोग तो लोचनकार ने फलितार्थ के रूप मे किया है। निस्सन्देह उद्भट के मत में सभी प्रकार के भावालङ्कारों को प्रेय अलङ्कार का नाम दिया जाता है। क्योंकि प्रेय शब्द का आशय है प्रेम, और प्रेम का प्रयोग सभी भावों के उपलक्षण के रूप मे किया गया है। इस वाक्य मे 'अपि' शब्द का अर्थ होगा—'यह विषय केवल रसवत् अलंकार का ही नहीं होता अपितु प्रेयः प्रभृति जितने भी इस कोटि के अलंकार होते हैं उन सबका समावेश इसमे हो जाता है। 'रसवत्' शब्द और प्रेयः शब्द ये दोनों शब्द रसवत् इत्यादि समस्त अलङ्कारों के उपलक्षण है। यही बात उद्भट के मत मे दूसरे वाक्यखण्ड मे कही गई है कि 'रस इत्यादि अङ्गभूत देखे जाते हैं।' यहाँ पर 'उक्त विपय मे' इस शब्द को और जोड़कर इसकी व्याख्या करनी चाहिये अर्थात् उक्त विषय मे—जहाँ वाक्यार्थ प्रधान हो रस इत्यादि अङ्ग के रूप मे आते हुये देखे जाते है। यह है उद्भट के मतानुयायियों के अनुसार व्याख्या।

[ऊपर आनन्दवर्धन के मत के अनुसार 'रसवत्' अलङ्कार का विषय बतलाया

तारावती

गया है। 'मेरी सम्मति है' कहने का आशय यह है कि दूसरी भी सम्मतियाँ विद्यमान हैं जिन्हें मैं नहीं मानता। वे सम्मतियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) रस इत्यादि सर्वदा अलङ्कार्य ही होते हैं अतः वे अलङ्कार का रूप कभी धारण ही नहीं कर सकते। यह कहना ही असत्य है कि रस अलङ्कार होते हैं।

समीक्षा—रस अलङ्कार्य वहीं पर होते हैं जहाँ उनमें प्रधानता हो। ऐसा भी देखा जाता है कि जहाँ पर रस इत्यादि की निष्पत्ति तो होती है किन्तु वहाँ पर प्रधानता किसी अन्य वाक्यार्थ की होती है। अतः वहाँ पर रस अलङ्कार ही होता है अलङ्कार्य नहीं।

(२) अलङ्कार वही होता है जो शब्दगत अथवा अर्थगत हो। रस न शब्दगत होता है न अर्थगत। अतः न इसे हम शब्दालङ्कार में सन्निविष्ट कर सकते हैं और न अर्थालङ्कार में। अतः रस के अन्दर अलङ्कारता आ ही नहीं सकती।

समीक्षा—यह नियम ठीक नहीं है कि जो शब्दगत या अर्थगत हो उसे ही अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कारता के प्रयोजक शब्द और अर्थ नहीं होते अपितु चमत्कार ही अलङ्कारता का प्रयोजक होता है। वह चमत्कार रसगत हो ही सकता है अतः रस की अलङ्काररूपता में कोई दोष नहीं आता। दूसरी बात यह है यदि अलङ्कार की शब्दार्थगतता माननी अभीष्ट ही है तो भी व्यङ्ग्य भी तो शब्द और अर्थ के आश्रित ही होते हैं। अतः रस शब्दगत तथा अर्थगत कहे भी जा सकते हैं। इस प्रकार उनकी अलङ्कारता अक्षुण्ण बनी रह सकती है।

(३) रस इत्यादि वहीं पर अलङ्कार होते हैं जहाँ पर वे अङ्गी (प्रधान) हों। यदि वे अङ्ग (गौण) हों तो उदात्त अलङ्कार का दूसरा भेद होता है।

समीक्षा—जहाँ पर रस अङ्गी (प्रधान) होंगे वहाँ पर उन्हें अलङ्कार की संज्ञा प्राप्त ही कैसे हो सकेगी? वहाँ पर वे अलङ्कार्य हो जावेंगे। रसादि के अप्रधान होने पर उदात्त अलङ्कार भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि उदात्त अलङ्कार वहीं पर होता है जहाँ महापुरुषों के चरित्र का उपलक्षण हो। रस इत्यादि के उपलक्षण में उदात्त अलंकार नहीं होता।

(४) रस इत्यादि का 'अलङ्कार' यह नामकरण रूपक इत्यादि के साम्य पर ही किया जाता है, अतः यह गौण है।

समीक्षा—रूपक इत्यादि में रमणीयता का एक प्रकार होता है और रस इत्यादि में उससे सर्वथा भिन्न कोई दूसरा ही प्रकार होता है। जब विच्छित्ति में अन्तर है तब आप उस प्रयोग को गौण नहीं कह सकते।]

ध्वन्यालोकः

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा। तत्राद्यो यथा—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः॥

इत्यत्र करुणरसस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम्। एवमेवंविधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः।

(अनु०) वह रस इत्यादि अलङ्कार दो प्रकार का होता है शुद्ध अथवा सङ्कीर्ण। उनमें प्रथम (शुद्ध) का उदाहरण :—

(कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा करते हुये कह रहा है :—)

"आपके शत्रुओं की स्त्रियों का समूह स्वप्नों मे अपने प्रियतमों को देखता है और उपालम्भ देता है कि—'तुम बहुत दिनों बाद तो प्राप्त हुये हो फिर भी मुझसे हँसी कर रहे हो जोकि मुझे दर्शन नहीं देते। हे निष्करुण! यह तुम्हें प्रवास मे रुचि क्यों हो गई है? मेरे किस अपराध ने तुम्हे मुझसे दूर कर दिया है?' स्वप्न के प्रलापों में इस प्रकार कहते हुये तथा प्रियतमों के कण्ठों मे बाहुपाश डाले हुये आपके शत्रुओं की स्त्रियों का समूह जब जाग पड़ता है और देखता है कि उसका बाहुवलय तो रिक्त है तब जोर से रो पड़ता है।"

यहाँ पर शुद्ध करुण रस स्पष्ट ही अङ्ग हो गया है। अतः यहाँ पर रसवत् अलङ्कार है। इसी प्रकार ऐसे ही विषय मे दूसरे भी रसों का स्पष्ट ही अङ्गभाव हो सकता है।

लोचन

शुद्ध इति। रसान्तरेणाऽङ्गभूतेनालङ्कारान्तरेण वा न मिश्रः, आमिश्रस्तु सङ्कीर्णः। स्वप्नस्यानुभूतसदृशत्वेन भवनमिति हसन्नेव प्रियतमः स्वप्नेऽवलोकितः। न मे प्रयास्यसि पुनरिति। इदानीं त्वां विदितशठभावं बाहुपाशबन्धान्नात्र मोक्ष्यामि। अत एव रिक्तबाहुवलय इति। स्वीकृतस्य चोपालम्भो युक्त इत्याह—केयं निष्करुणेति। केना-

शुद्ध इति। अङ्गभूत दूसरे रस से अथवा दूसरे अलङ्कार से न मिला हुआ। भलीभाँति मिला हुआ तो सङ्कीर्ण होता है। स्वप्न के अनुभूत के समान होने से हँसता हुआ ही प्रियतम स्वप्न में देखा गया। न मे प्रयास्यसि पुनरिति। इस समय विदितशठभाववाले तुमको बाहुपाश से नहीं छोड़ूँगी। इसीलिये कहा है—'रिक्त बाहुवलय' यह। स्वीकृत का उपालम्भ उचित ही है अतः कहते है—'केयं

लोचन

सीति। गोत्रस्खलनादावपि न मया कदाचित् खेदितोऽसि। स्वप्नान्तेपु स्वप्नायितेपु सुप्तप्रलपितेपु पुनःपुनरुद्भूततया बहुश्वित्ति वदन् युष्माकं रिपुस्त्रीजनः प्रियतमे विशेषेणासक्तः कण्ठग्रहो येन तादृश एव सन् बुद्ध्वा शून्यवलयाकारीकृतबाहुपाशः सन् तारं मुक्तकण्ठं रोदितीति। अत्र शोकस्थायिभावेन स्वप्नदर्शनोद्दीपितेन करुणरसेन चर्व्यमाणेन सुन्दरीभूतो नरपतिप्रभावो भातीति करुणः शुद्ध एवालङ्कारः। नहि त्वया निष्करुणेति'। 'केनासि' इति। गोत्रस्खलन इत्यादि मे भी मेरे द्वारा कभी खेदित नहीं किये गये। स्वप्नान्त में अर्थात् स्वप्नायित मे अर्थात् स्वप्न के प्रलापों में बार-बार उद्भूत होने के कारण बहुत बार यह कहते हुये आपसे सम्बद्ध रिपुस्त्री-समूह प्रियतम मे विशेष रूप से आसक्त कर दिया गया है कण्ठग्रह जिसके द्वारा इस प्रकार का ही होते हुये जागकर शून्यवलय के आकार मे बना लिया है बाहुपाश जिसने इस प्रकार का होते हुये तार अर्थात् मुक्तकण्ठ से रोता है। यहाँ पर स्वप्न-दर्शन से उद्दीप्त शोक-स्थायिवाले चर्वणागोचर होनेवाले करुण रस से सुन्दर हुआ राजा का प्रभाव शोभित होता है इस प्रकार शुद्ध करुण ही अलङ्कार है। 'तुम्हारे द्वारा

तारावती

वह रस इत्यादि अलङ्कार दो प्रकार का होता है—१. शुद्ध और २. सङ्कीर्ण। शुद्ध का अर्थ है जिसमे केवल वही रस काव्य के किसी दूसरे तत्त्व को अलङ्कृत कर रहा हो तथा जिसमें न तो कोई दूसरा रस ही अङ्ग (अलङ्कार होने के कारण गौण) हो और न कोई दूसरा अलङ्कार ही मिला हो। जिसमें अङ्गभूत कोई दूसरा रस अथवा अलङ्कार मिला होता है उसे सङ्कीर्ण कहते है। (यहाँ पर शुद्ध का उदाहरण दिया गया है। कोई कवि आश्रयदाता राजा की प्रशंसा करते हुये ये शब्द कह रहा है। वह राजा के शत्रुओं की स्त्रियो का कारुण्य दिखलाकर राजा की प्रभावशालिता का वर्णन करना चाहता है। वह कह रहा है कि—) हे राजन्—आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ स्वप्नों में अपने प्रियतमों को देखती है और उपालम्भ देती है कि "एक तो तुम बहुत दिनों बाद मुझे पुनः प्राप्त हुये हो फिर भी मेरे साथ हँसी कर रहे हो जो कि मुझे दर्शन नहीं देते।"

स्वप्न मे उसी के समान वस्तु दिखलाई पड़ती है जिसका पहले अनुभव किया जा चुका हो। शत्रुस्त्रियाँ अपने प्रियतमों को सर्वदा हँसते हुये ही देखती थीं। अतएव अब जबकि उनके प्रियतम मारे गये हैं और वे उन्हे स्वप्नों मे देखती है तब भी हँसते हुये ही देखती हैं। 'तुम मुझे दर्शन नहीं देते हो' कहने का आशय यह है कि मैं तुम्हारी शठता समझ गई हूँ (यह प्रेम-पूर्ण उपालम्भ है।) अब मैं तुम्हे तुम्हारी शठता का ऐसा कड़ा दण्ड दूँगी कि तुम्हे बाहुपाश के बन्धन मे बाँध

लोचन

रिपवो हता इति यादृगनलङ्कृतोऽयं वाक्यार्थस्तादृगयम्, अपि तु सुन्दरतरीभूतोऽत्र वाच्यार्थः। सौन्दर्यं च करुणरसकृतमेवेति चन्द्रादिना वस्तुना यथा वस्त्वन्तरं वदनाद्यलङ्क्रियते तदुपमितत्वेन चारुतयावभासनात्। तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तरं वोपस्कृतं भाति इति रसस्यापि वस्तुत एवालङ्कारत्वे को विरोधः।

शत्रु मार डाले गये' यह इस प्रकार का जैसा अनलंकृत वाक्य है उस प्रकार का यह नहीं है अपितु यहाँ पर वाक्यार्थ अधिक सुन्दर हो गया है। और सौन्दर्य करुण रस का ही किया हुआ है। चन्द्र इत्यादि वस्तु के द्वारा जिस प्रकार दूसरी वस्तु अलंकृत की जाती है क्योंकि उसके द्वारा उपमित होने के कारण चारुता का अवभास होने लगता है। उसी प्रकार रस के द्वारा भी वस्तु या दूसरा रस उपस्कृत होकर सुन्दर रूप में शोभित होने लगता है इस प्रकार रस का भी वस्तु के समान अलङ्कार होने मे क्या विरोध है?

तारावती

कर रक्खूँगी और कभी नहीं छोड़ूँगी। इसीलिए तो कहा है कि 'उन स्त्रियों के बाहुवलय रिक्त होते हैं।' आशय यह कि स्त्रियाँ जब अपने प्रियतमों को स्वप्न में देखती हैं तब स्वप्न के प्रलाप के साथ अपनी दोनों बाहुओं को (दोनों हाथों की उँगलियों को एक दूसरे मे डालकर) एक ऐसे घेरे के रूप में बना लेती है मानों वे अपनी भुजाओं को प्रियतमों के कण्ठ में डाले हों। किन्तु वस्तुतः उनके बाहुओं के घेरे रिक्त ही होते हैं क्योंकि उनके प्रियतम तो कब के मारे जा चुके हैं। किन्तु उन स्त्रियों को स्वप्नों मे अपने प्रियतम दिखलाई पड़ते हैं और जब प्रियतम मिल ही गये तो उपालम्भ देना ठीक ही है। इसीलिये वे कहती है कि हे करुणारहित? तुम्हें यह प्रवास की रुचि क्यों हो गई है? (जोकि मैं तुम्हारे वियोग मे मरी जाती हूँ और तुम्हें दया नहीं आती।) जिनको अपना बना लिया जाता है उनको उपालम्भ देना ठीक ही है। 'तुम्हें मुझसे किसने दूर कर दिया।' इसमें 'किसने' का अर्थ है 'मेरे किस अपराध ने' अर्थात् मैंने कभी गोत्रस्खलन इत्यादि मे भी तुम्हें खिन्न नहीं किया। (यहाँ पर अभिनव गुप्त की यह व्याख्या ठीक नही मालूम पड़ती। क्योंकि गोत्रस्खलन तो पुरुषों का ही उचित होता है। कारण यह है कि पुरुषों का ही बहुपत्नी-प्रेम उचित माना जाता है। स्त्रियों के गोत्रस्खलन का आशय यही होगा कि उनका अनेक पुरुषों से प्रेम है जो कि सामाजिक तथा शास्त्रीय दोनों विधियों के विरुद्ध है।) स्वप्नान्त का अर्थ है स्वप्न के प्रलापों मे (यहाँ पर स्वप्नान्त का 'स्वप्न के अन्तिम भागों मे यह अर्थ भी सम्भव है क्योंकि इससे ध्वनित होता है कि उन स्त्रियों को निद्रा नहीं आती और

ध्वन्यालोकः

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेपसहितस्याङ्गभाव इति। एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य न्याय्यो विपयः। अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात्समावेशो न दोपः।

(अनु०) यहाँ पर (प्रधानीभूत) वाक्यार्थ है त्रिपुररिपु का प्रभावातिशय। श्लेप (तथा उपमा) के साथ ईर्ष्या-विप्रलम्भ उसका अङ्ग हो गया। इसी प्रकार के स्थान रसवत् इत्यादि अलङ्कार के न्याय्य विषय होते हैं। इसीलिये ईर्ष्या-विप्रलम्भ और करुण को अङ्ग के रूप मे समाविष्ट करने के कारण (विरुद्ध रसों का एकत्र समावेश) दोप नहीं होता।

लोचन

क्षिप्त इति। कामिजनपक्षेऽनादृतः इतरत्र धुतः। अवधूत इति न प्रतीप्सितः प्रत्यालिङ्गनेन, इतरत्र सर्वाङ्गधूननेन विशरारूकृतः। साश्रुत्वमेकत्रेर्ष्यया अपरत्र निष्प्रत्याशतया। कामीवेत्यनेनोपमानेन श्लेषानुगृहीतेर्ष्याविप्रलम्भो य आकृष्टस्तस्य श्लेषोपमासहितस्याङ्गत्वं, न केवलस्य। यद्यप्यत्र करुणो रसो वास्तवोऽप्यस्ति तथापि स तच्चारुत्वप्रतीत्यै न व्याप्रियत इत्यनेनाभिप्रायेण श्लेषसहितस्येत्येतावदेवावोचत् न तु करुणसहितस्येत्यपि।

क्षिप्त इति। कामी के पक्ष मे अनादृत कर दिया अन्यत्र (अरि पक्ष मे) कँपा कर अलग कर दिया। अवधूत का अर्थ है प्रत्यालिङ्गन के द्वारा उसके प्रेम को स्वीकृत नहीं किया। अन्यत्र सारे अङ्गो को हिलाकर विशीर्ण कर दिया। साश्रु होना एक ओर ईर्ष्या से और दूसरी ओर प्रत्याशा रहित होने से। 'कामी के समान' इस श्लेष के द्वारा अनुगृहीत उपमान से जो ईर्ष्या-विप्रलम्भ आकृष्ट किया गया था—श्लेष और उपमा के सहित उसकी अङ्गरूपता (गौणरूपता) हो जाती है केवल की नहीं। यद्यपि यहाँ पर करुण रस वास्तविक भी है तथापि वह उसकी चारुता की प्रतीति के लिये व्याप्त नहीं होता है इस अभिप्राय से 'श्लेष के सहित' इतना ही कहा करुणरस के सहित यह भी नहीं कहा।

तारावती

'विभावादिकों में कौन-सा तत्त्व रस के द्वारा अलंकृत किया जाता है?' यह उनका कथन इसी प्रकार खण्डित हो जाता है कि हम विभाव इत्यादि को अलङ्कार्य मानते ही नहीं। यह तो पहले ही बतलाया जा चुका है कि प्रस्तुत अर्थ ही अलङ्कार्य होता है। यह बात केवल एक पद्य मे ही नहीं अपितु लक्ष्य मे बहुत अधिक देखी जाती है, यही बात बतलाने के लिये वृत्तिकार ने लिखा है कि 'इसी प्रकार ऐसे विषय में दूसरे रसों का अङ्ग हो जाना स्पष्ट ही है। ऐसे विपय का आशय यह है कि जहाँ पर राजा इत्यादि का प्रभावख्यापन किया जाता है इस प्रकार के विषय मे।

लोचन

एतमर्थमपूर्वतयोत्प्रेक्षितं द्रढीकर्तुमाह—एवंविध एवेति। अतएवेति। यतोऽत्र विप्रलम्भस्यालङ्कारत्वं ततो हेतोरित्यर्थः। न दोष इति। यदि ह्यन्यतरस्य रसस्य प्राधान्यमभविष्यन्न द्वितीयो रसः समाविशेत्। रतिस्थायिभावत्वेन तु सापेक्षभावो विप्रलम्भः। स च शोकस्थायिभावत्वेन निरपेक्षभावस्य करुणस्य विरुद्ध एव।

पूर्वरूप में उत्प्रेक्षित इस अर्थ को दृढ़ करने के लिये कह रहे हैं—एवंविध एव इति। अतएव इति। अर्थात् क्योंकि यहाँपर विप्रलम्भ की अलङ्कारता है वाक्यार्थता नहीं, इस हेतु से। यदि दो मे एक रस की प्रधानता होती तो दूसरे रस का समावेश हो ही नहीं सकता। रति के स्थायिभाव होने से यहाँ सापेक्षभाव में विप्रलम्भ है। और वह शोक के स्थायी होने से निरपेक्ष भाव में स्थित करुण के विरुद्ध ही है।

तारावती

दूसरा उदाहरण रस इत्यादि के सङ्कीर्ण होकर अर्थात् दूसरे अलङ्कारों से साङ्कर्य को प्राप्त होकर अङ्गरूपता को धारण करने का है। यह पद्य अमरुशतक के मङ्गलाचरण से उद्धृत किया गया है। (इस पद्य का अर्थ पाद टिप्पणी मे अनुवाद के अन्दर देखिये।) यहाँपर क्षिप्त शब्द के दो अर्थ हैं—कामी के पक्ष में इसका अर्थ है अनादर कर दिया और दूसरे पक्ष मे (शराग्नि के विषय मे) इसका अर्थ है हिला-डुलाकर दूर हटा दिया। 'अवधूतः' शब्द का कामी के पक्ष मे अर्थ है प्रत्यालिङ्गन के द्वारा अभिनन्दन नहीं किया और शराग्नि के पक्ष में अर्थ है—सारे अङ्गों को हिला-डुलाकर इधर-उधर उसे विशीर्ण कर दिया। त्रिपुर-युवतियों की आखों से आँसू कामी के पक्ष में ईर्ष्याजन्य हैं और शराग्नि पक्ष में—अपने प्रियतमों के समागम की पुनः प्रत्याशा न होने के कारण उनका अश्रुप्रवाह हुआ है। यहाँपर शराग्नि उपमेय है, कामी उपमान है, इव वाचक शब्द है और क्षिप्त करना इत्यादि धर्म हैं। इन धर्मों के सम्पादन मे सहायक होता है श्लेष। इस प्रकार श्लेष के द्वारा अनुगृहीत उपमा के द्वारा प्राकरणिक शराग्निपरक अर्थ की ओर ईर्ष्या-विप्रलम्भ शृङ्गार जो कि स्फुट रूप में अभिव्यक्त होता है—खींचकर लाया जाता है। इस प्रकार यहाँपर केवल ईर्ष्या-विप्रलम्भ शृङ्गार ही शराग्निपरक वाच्यवस्तु को उपस्कृत नहीं करता अपितु उसके साथ श्लेष और उपमा का सहकार भी अपेक्षित होता है। इसीलिये यह सङ्कीर्ण रसवत् का उदाहरण है; शुद्ध रसवत् का नहीं। यद्यपि यहाँपर अभिव्यक्ति वास्तविक करुण रस की होती है। (मारे गये त्रिपुरासुर आलम्बन हैं, शङ्कर की शराग्नि इत्यादि उद्दीपन हैं; अश्रु इत्यादि अनुभाव हैं और विषाद इत्यादि सञ्चारी भाव हैं। इनसे पुष्ट होकर त्रिपुर युवतियों का शोक करुणरस का रूप धारण कर लेता है तथापि यहाँपर ईर्ष्या-

तारावती

विप्रलम्भ के साथ उपमा और श्लेष का साङ्कर्य बतलाया गया है; करुण और विप्रलम्भ का साङ्कर्य नहीं। कारण यह है कि यहाँपर करुण रस चारुता प्रतीति में व्यापक रूप में अवस्थित नहीं होता है। (आशय यह है कि प्रस्तुत पद्य में चारुता-प्रतीति ईर्ष्या-विप्रलम्भ-शृङ्गाराश्रित ही है, करुण रस की हल्की सी छाया बीच में झलक मारती हुई अवगत होती है। अतः मुख्यतया अभिव्यक्त होनेवाली कविगत शङ्करभक्ति का पोषक शृङ्गार रस ही कहा गया है करुण नहीं।) रसवत् अलङ्कार के क्षेत्र के विषय में सर्वप्रथम यह कल्पना वृत्तिकार ने ही की है। इसके पहले यह बात किसी और ने नहीं कही। अपनी इसी नवीन उद्भावना को अधिक दृढ़ करने के लिये वृत्तिकार ने उपसंहार के लिये कहा है—'रसवत् इत्यादि अलङ्कार का न्याय्य विषय इसी प्रकार का स्थान होता है। अतएव अङ्ग होने के कारण ईर्ष्या-विप्रलम्भ और करुण का एकत्र समावेश दोष नहीं माना जाता। (आचार्यों ने विरुद्ध रसों का एकत्र समावेश एक दोष माना है। विरुद्ध रसों का संक्षिप्त परिचय यह है—१. शृङ्गार रस का विरोध करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक से होता है। २–करुण का विरोध हास्य और शृङ्गार से होता है। ३–वीर रस का विरोध भयानक और शान्त से होता है। ४–शान्त रस का विरोध वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक से होता है। ५–हास्य का विरोध भयानक और करुण से होता है। ६–रौद्र का विरोध हास्य शृङ्गार और भयानक रसों से होता है। ७–भयानक का विरोध शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त से होता है। ८–वीभत्स का विरोध शृङ्गार से होता है। इन रसों के विरोध तथा अविरोध की तीन प्रकार से व्यवस्था की जाती है। किन्ही दो रसों का विरोध आलम्बन के एक होने पर होता है; किन्हीं दो का आश्रय की एकता में और किन्हीं दो का विरोध अनन्तर (एक के बाद दूसरे के आने पर) होता है। आलम्बन की एकता मे होनेवाला रसविरोध—१–वीर शृङ्गार का विरोध तभी होता है, जब उनके आलम्बन एक हों। इसी प्रकार आलम्बन की एकता मे ही। २–संभोग शृङ्गार का हास्य वीभत्स और रौद्र से विरोध होता है। ३–विप्रलम्भ शृङ्गार का वीर करुण और रौद्र रसो से विरोध आलम्बन की एकता मे ही होता है। वीर और भयानक का विरोध आलम्बन की एकता मे तथा आश्रय की एकता मे होता है। शान्त और शृङ्गार का विरोध नैरन्तर्य मे तथा विभाव की एकता में होता है। वीर का अद्भुत और रौद्र से विरोध, शृङ्गार का अद्भुत से विरोध और भयानक का वीभत्स से विरोध तीनों प्रकार से होता है। यहाँपर करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार का एक साथ समावेश किया गया है। अतः परस्पर विरुद्ध दो रसों का एकत्र समावेश

ध्वन्यालोकः

यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम्? अलङ्कारो हि चारुत्व-हेतुः प्रसिद्धः। न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः। तथा चायमत्र संक्षेपः—

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥

(अनु०) निस्सन्देह जहाँ पर रस मुख्यतया वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित हो वहाँ पर वह अलङ्कार हो ही कैसे सकता है? जो चारुता में हेतु हो उसे ही अलङ्कार कहते हैं। यही परम्परागत रूप में प्रसिद्ध है। यह स्वयं ही अपनी ही चारुता में हेतु नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ पर यह सारांश है :—

रस और भाव इत्यादि तात्पर्य का आश्रय लेकर सन्निवेश करना ही सभी अलङ्कारों की अलङ्कारता को सिद्ध करनेवाला होता है।

लोचन

एवमलङ्कारशब्दप्रसङ्गेन समावेशं प्रसाध्य एवंविध एवेति यदुक्तं तत्रैवकारस्याभिप्रायं व्याचष्टे—यत्र हीति। सर्वासामुपमादीनाम्।

इस प्रकार अलङ्कार शब्द के प्रसङ्ग से समावेश को सिद्ध कर के 'इस ही प्रकार' में जो 'ही' (एव) शब्द का प्रयोग किया उसका अभिप्राय बतलाते हैं—'यत्र हि' इत्यादि। सभी अर्थात् उपमादिकों का।

तारावती

एक दोष जैसा प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ पर विप्रलम्भ अलङ्कार के रूप मे अवस्थित है वह यहाँ पर वाक्यार्थ नहीं है। अतः इन दोनों का एकत्र समावेश दोष नहीं माना जा सकता। यदि इन दोनों में किसी एक की प्रधानता होती तो दूसरा रस समाविष्ट हो ही नहीं सकता था (अथवा यदि समाविष्ट हो जाता तो दोष माना जाता) किन्तु जब इनमें एक की भी प्रधानता नहीं तब यहाँ पर दोष माना ही कैसे जा सकता है? विप्रलम्भ और करुण का विरोध इसीलिये है कि विप्रलम्भ का स्थायी भाव रति है। अतः इसमे आलम्बन की अपेक्षा बनी रहती है अर्थात् आलम्बन से पुनः मिलने की आशा विप्रलम्भ शृङ्गार में नष्ट नहीं होती जब कि करुण रस का स्थायी भाव शोक है अतः उसमें आलम्बन की अपेक्षा सर्वथा समाप्त हो जाती है। अपेक्षा के होने और न होने में परस्पर विरोध है। अतएव शृङ्गार और करुण का परस्पर विरोध है ही। इस प्रकार अलङ्कार शब्द के प्रसङ्ग मे दो विरुद्ध रसों के एकत्र समावेश का समर्थन कर अब यह दिखलाया जा रहा है कि 'ऐसे ही स्थान रसवत् इत्यादि अलङ्कार का उचित विषय होते हैं' इस वाक्य में 'ही' का क्या अर्थ है—इसी विषय में वृत्तिकार ने कहा है कि 'जहाँ पर रस

लोचन

अयं भावः—उपमादीनामलङ्कारत्वे यादृशी वार्ता तादृश्येव रसादीनाम्। तदवश्यमन्येनालङ्कार्येण भवितव्यम्। तच्च यद्यपि वस्तुमात्रमपि भवति, तथापि तस्य पुनरपि विभावादिरूपतापर्यवसानाद्रसादितात्पर्यमेवेति सर्वत्र रसध्वनेरात्मभावः। तदुक्तं—रसभावादितात्पर्यमिति। तस्येति-प्रधानस्यात्मभूतस्य। एतदुक्तं भवति—उपमया यद्यपि वाच्योऽर्थोऽलङ्क्रियते तथापि तस्य तदेवालङ्करणं यद्व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जनसामर्थ्याधानमिति वस्तुतो ध्वन्यात्मैवालङ्कार्यः। कटककेयूरादिभिरपि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालङ्क्रियते।

भाव यह है—'उपमा इत्यादि की अलङ्कारता में जैसी बात है वैसी रस इत्यादि की भी है। तो अवश्य अन्य अलङ्कार्य होना चाहिये। यद्यपि वस्तुमात्र भी होता है तथापि फिर भी विभाव इत्यादि रूपता में उसका पर्यवसान होने से रस इत्यादि का ही तात्पर्य है अतः सर्वत्र रसध्वनि की ही आत्मरूपता होती है। वही कहा है—'रसाभावादि तात्पर्य' इत्यादि। तस्य इति। अर्थात् प्रधानीभूत आत्मतत्त्व का। यह कहा गया है—उपमा के द्वारा यद्यपि वाच्य अर्थ अलंकृत किया जाता है तथापि उसका वही अलङ्करण है जो उसके व्यङ्ग्यार्थाभिव्यञ्जन सामर्थ्य का कथन है। इस प्रकार वास्तव में ध्वन्यात्मक ही अलङ्कार्य होता है। शरीर-समवायी कटक-कुण्डल इत्यादि के द्वारा भी विभिन्न चित्तवृत्तिविशेष के औचित्य सूचनात्मक होने से चेतन आत्मा ही अलंकृत की जाती है।

तारावती

इत्यादि वाक्यार्थ के रूप मे अवस्थित होते हैं वहाँ वे अलङ्कार हो ही कैसे सकते हैं? अलङ्कार तो उसे ही कहते है जो चारुता के हेतु के रूप मे प्रसिद्ध हो। यह स्वयं आत्मा होते हुए अपनी ही चारुता मे हेतु नहीं हो सकता।' इस प्रसङ्ग मे वृत्तिकार ने एक कारिका का उल्लेख किया है जिसका आशय यह है—'रस भाव इत्यादि तात्पर्य का आश्रय लेकर सन्निवेश करना ही सभी अलङ्कारों की अलङ्कारता को सिद्ध करनेवाला होता है।' इस वाक्य में सभी अलङ्कारों का अर्थ है उपमा इत्यादि समस्त अलङ्कारों की अलङ्कारता को सिद्ध करनेवाला होता है केवल रसवत् इत्यादि अलङ्कारों की अलङ्कारता को ही नहीं।

यहाँपर आशय यह है कि उपमा इत्यादि को अलङ्कार मानने मे जो बात है वही रस इत्यादि को अलङ्कार मानने के पक्ष मे भी कही जा सकती है। अतएव जहाँ कहीं किसी तत्त्व को हम अलङ्कार के नाम से अभिहित करते है वहाँ कोई दूसरा अलङ्कार्य अवश्य होना चाहिये। यद्यपि कभी कभी केवल वस्तु ही अलङ्कार्य हो जाती है (जैसे 'किं हास्येन..........' इत्यादि पद्य मे नरपतिप्रभाव अलङ्कार्य है) तथापि

लोचन

तथाहि—अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्। नहि देहस्य किञ्चिदनौचित्यमिति वस्तुत आत्मैवालङ्कार्यः, अहमलङ्कृत—इत्यभिमानात्।

वह इस प्रकार—'कुण्डल इत्यादि से उपेत भी शव-शरीर शोभित नहीं होता क्योंकि (वहाँ पर) अलङ्कार्य नहीं है। यतिका शरीर कटक इत्यादि से युक्त होकर हास्यावह होता है क्योंकि अलंकार्य अनुचित है। देह का कोई अनौचित्य नहीं होता अतः वस्तुतः आत्मा ही अलङ्कार्य होती है। क्योंकि यह कहा जाता है कि मैं अलंकृत किया गया।

तारावती

उसका पर्यवसान अन्ततः विभाव इत्यादि के रूप में ही होता है। इस प्रकार रस इत्यादि मे ही तात्पर्य की विश्रान्ति होती है। अतएव सर्वत्र रस ध्वनि ही काव्य की आत्मा के रूप मे अवस्थित होती है। इसीलिये वृत्तिकार ने लिखा है—'अतएव जहाँ पर रस इत्यादि वाक्यार्थ के रूप में अवस्थित हों वह सब रस इत्यादि अलंकार का विषय नहीं होता, वह ध्वनि का ही एक भेद होता है, उपमा इत्यादि उसके अलङ्कार होते हैं।' इस वाक्य में 'उसके' शब्द का अर्थ है आत्मा के रूप मे अवस्थित प्रधानीभूत रस इत्यादि के। इस कथन का आशय यह है कि यद्यपि उपमा इत्यादि के द्वारा वाच्यार्थ ही अलंकृत किया जाता है तथापि रस के उसका वाच्यार्थ को अलंकृत करने का यही अर्थ है कि वह वाच्यार्थ मे व्यङ्ग्यार्थ के अभिव्यक्त करने की शक्ति का आधान कर देता है। इस प्रकार वस्तुतः अलङ्कार्य ध्वन्यात्मक रस इत्यादि ही होते हैं। (इसको हम लौकिक अलङ्कारों के दृष्टान्त के द्वारा भलीभाँति समझ सकते हैं।) लोक मे कटक, कुण्डल इत्यादि आभूषण होते हैं। उनका समवाय-सम्बन्ध शरीर से ही होता है। (अर्थात् शरीर को आभूषित करने के कारण ही आभूषणों को आभूषण कहा जाता है। समवाय सम्बन्ध का अर्थ है नित्य सम्बन्ध। यहाँ पर 'आभूषणों का शरीर से समवाय सम्बन्ध होता है' यह वाक्य कहा गया है। इसका आशय आभूषणों का शरीर पर नित्य धारण किया जाना नहीं है अपितु उसका अर्थ यह है कि आभूषणों में आभूषणत्व धर्म का प्रयोजक यही तत्त्व है कि आभूषण शरीर को आभूषित करते हैं।) इन लौकिक आभूषणों के द्वारा चेतन आत्मा ही अलंकृत की जाती है क्योंकि आभूषण विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियों के औचित्य को सूचित करते हैं। (नवयुवक के शरीर पर धारण किये हुये हार कटक कुण्डल इत्यादि उस युवक की रागात्मक चित्तवृत्ति को सूचित करते हैं। इसी प्रकार संन्यासी के शरीर पर धारण किये हुये काषाय वस्त्र,

ध्वन्यालोकः

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वः न रसादेरलङ्कारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलङ्कारताया विषयः।

(अनु०) इसलिए जहाँ रस इत्यादि वाक्यार्थीभूत होते हैं वह सब रस इत्यादि अलङ्कार का विषय नहीं होता, वह ध्वनि का प्रभेद है उसके उपमा इत्यादि अलङ्कार होते है। जहाँ पर तो प्रधान रूप में अर्थान्तर के वाक्यार्थ होने पर रस इत्यादि के द्वारा चारुत्वनिष्पत्ति की जाती है वह रस इत्यादि की अलङ्कारता का विषय है।

लोचन

रसादेरलङ्कारताया इति व्यधिकरणषष्ठ्यौ। रसादेर्यालङ्कारता तस्याः स एव विषयः। एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योज्यम्। रसादिकर्तृकस्यालङ्करणक्रियात्मनो विषय इति।

रसादेरलङ्कारताया इति। दोनों षष्ठी व्यधिकरण हैं। रस इत्यादि की जो अलङ्कारता उसका विषय वही है। इसी के अनुसार ही पहले वाक्य में भी योजना कर ली जानी चाहिए। रस इत्यादि से की हुई अलङ्करणरूप क्रियात्मा का जो विषय—यह।

तारावती

दण्ड इत्यादि उसकी वैराग्यमयी चित्तवृत्ति के द्योतक होते हैं।) वह इस प्रकार समझिये—यदि कुण्डल इत्यादि किसी शव के शरीर पर सजाये जावें तो भी उनकी शोभा नहीं होती, क्योंकि उसमें अलङ्कार्य चेतना तो है ही नहीं। इसीप्रकार यदि किसी संन्यासी के शरीर पर कटक इत्यादि सजा दिये जावें तो वह एक उपहास की वस्तु ही हो जावेगी क्योंकि वहाँ पर अलङ्कार्य अनुचित है। शरीर तो सबके एक से ही होते हैं उनके लिये कोई चीज उचित या अनुचित नहीं होती। अर्थात् जो आभूषण एक शरीर को आभूषित करते हैं वे किसी भी दूसरे शरीर को आभूषित कर सकते हैं, उनके लिये कोई वस्तु उचित या अनुचित नहीं कही जा सकती है। वस्तुतः अलङ्कार्य तो आत्मा ही होता है। क्योंकि लोग कहा ही करते हैं कि 'मैं अलंकृत हो गया'। ('मैं' शब्द का प्रयोग तो आत्मा के लिये ही होता है। आशय यह है कि कटक इत्यादि आभूषण रागित्व के औचित्य को प्रकट करते है। यति की आत्मा का रागी होना अनुचित है। अतएव यति के शरीर पर विद्यमान कटक कुण्डल इत्यादि हास्यावह होते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि विभिन्न शरीरों में विद्यमान कटक कुण्डल इत्यादि के द्वारा रागित्व इत्यादि विशेष

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति।

(अनु०) इस प्रकार ध्वनि, उपमा इत्यादि तथा रसवत् इत्यादि का विषय-विभाग हो जाता है ।

तारावती

प्रकार की चित्तवृत्ति की सूचना मिलती है । यदि वह चित्तवृत्ति उस आत्मा के अनुकूल हो तो धारण किया हुआ अलङ्कार वास्तविक अलङ्कार का काम देता है । अन्यथा हास्यावह हो जाता है । यह तो लौकिक प्रमाण हुआ । इसके अतिरिक्त लोक मे व्यवहृत शब्द भी प्रमाण है । लोग कहा ही करते हैं कि मैं अलंकृत हो गया । यहाँपर मैं का अर्थ है चेतना या आत्मा।इस प्रकार लोक मे शरीर को अलंकृत कर अलङ्कार वस्तुतः आत्मा के ही अलङ्कारक होते हैं । उसीप्रकार काव्य में अलङ्कार शब्द तथा वाच्यार्थरूप काव्य-शरीर को अलंकृत करते हुये रसरूप आत्मा के ही अलंकृत करनेवाले होते हैं ।)

'रसादेरलङ्कारतायाः विषयः' इस वाक्य मे 'रसादेः' मे भी षष्ठी है और 'अलङ्कारतायाः' में भी षष्ठी है । यहाँ पर दोनों मे व्यधिकरण षष्ठी है । अतएव यहाँ पर अर्थ होगा—'रस इत्यादि की जो अलङ्कार-रूपता होती है उसका विषय होता है ऐसा स्थान, जहाँ प्रधानतया कोई दूसरा अर्थ वाक्यार्थ हो और रस इत्यादि के द्वारा उनकी चारुता का सम्पादन किया जावे ।' ('रसादेः, अलङ्कारतायाः विषयः' इस वाक्य मे रसादि शब्द तथा अलङ्कारता शब्द इन दोनों में षष्ठी का प्रयोग किया गया है । यह षष्ठी दो प्रकार की हो सकती है—समानाधिकरण तथा व्यधिकरण। समानाधिकरण षष्ठी का आशय है दोनों शब्दों के सम्बन्ध कारक का एक ही सम्बन्धी से सम्बन्धित होना । तब उसका अर्थ हो जावेगा—'ऐसा स्थान जहाँ पर प्रधान वाक्यार्थ दूसरा होता है और रस इत्यादि उसमे चारुता का सम्पादन करते है, रसादि का तथा अलङ्कारता का विषय होते हैं । अभिनवगुप्त का कहना है कि यहाँ पर षष्ठी का सामानाधिकरण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इससे अर्थतः सिद्ध हो जावेगा कि रस इत्यादि अलङ्काररूप ही होते हैं । यहाँ पर वस्तुतः व्यधिकरण षष्ठी मानी जानी चाहिये । इस प्रकार इसका अर्थ हो जाता है—रस इत्यादि की जो अलङ्कारता होती है अर्थात् रस इत्यादि जब अलङ्काररूपता को धारण करते हैं तब उनका वह विषय होता है । इससे यही व्यक्त होता है कि रस इत्यादि की ध्वनिरूपता भी होती है और अलङ्काररूपता भी ।)

इसी के अनुसार पिछले वाक्य मे भी योजना कर लेनी चाहिये—'रसादेरलङ्कारस्य विषयः' का अर्थ कर लेना चाहिये कि रस इत्यादि के द्वारा जो अलङ्करण का कार्य सम्पादित किया जाता है उसका विषय इसी प्रकार के स्थल होते हैं ।

लोचन

एवमिति—अस्मदुक्तेन विषयविभागेनेत्यर्थः । उपमादीनामिति । यत्र रसस्यालङ्कार्यता रसान्तरं चाङ्गभूतं नास्ति तत्र शुद्धा एवोपमादयः । तेन संसृष्ट्या नोपमादीनां विषयापहार इति भावः । अनेन भावाद्यलङ्कारा प्रेयस्व्यूर्जस्विसमाहिता गृह्यन्ते । तत्र भावालङ्कारस्य शुद्धस्योदाहरणं यथा—

तव शतपत्रमृदुताम्रतलश्चरणश्चलकलहंसनूपुरकलध्वनिना मुखरः ।
महिषासुरस्य शिरसि प्रसभं निहितः कनकमहामहीध्रगुरुतां कथमम्ब गतः ॥

एवमिति। अर्थात् हमारे कहे हुये विपय-विभाग के द्वारा । 'उपमादीनामिति' जहाँ रस की अलङ्कार्यता होती है और दूसरे रस अङ्गभूत नहीं होते वहाँ शुद्ध उपमा इत्यादि होती है । आशय यह है कि इससे संसृष्टि के द्वारा उपमा इत्यादि का विपयापहार नहीं होता । रसवदलङ्कारस्य च इति । इससे प्रेयस् ऊर्जस्वी और समाहित ये भाव इत्यादि के अलङ्कार भी ग्रहण कर लिये जाते हैं। शुद्ध भावालङ्कार का उदाहरण जैसे—

'हे माता ! शतपत्र के समान कोमल तथा ताम्रतलवाला, चलनेवाले कलहंस के समान नूपुर की सुन्दर ध्वनि से मुखर, तुम्हारा चरण महिपासुर के सर पर बलात् रक्खा हुआ, स्वर्ण के महा पर्वत के समान गुरुता को कैसे प्राप्त हो गया ।'

तारावती

वृत्तिकार ने उपसहार करते हुये लिखा है—'इस प्रकार ध्वनि, उपमा इत्यादि तथा रसवत् अलङ्कार का विपय-विभाजन हो जाता है' इस वाक्य में 'इसप्रकार' शब्द का अर्थ है—'जैसा कि विषय-विभाग हमने बतलाया है ।' वह इस प्रकार है—जहाँ पर रस इत्यादि अलङ्कार्य होते हैं वह ध्वनि का विपय होता है । जहाँ पर रस अलङ्कार्य होता है; कोई दूसरा रस उसका अङ्ग होता नहीं और उपमा इत्यादि से अलङ्कार्य रस का अलङ्करण किया जाता है वहाँ पर शुद्ध उपमा इत्यादि अलङ्कार होते हैं । जहाँ पर रस इत्यादि अलङ्कार्य होता है, कोई दूसरा रस उसे अलङ्कृत करता है और उपमा इत्यादि उक्त अलंकारक रस की सहगामिनी होती है वहाँ पर उपमा और अलङ्कारक रस की संसृष्टि होती है । जहाँ पर रस अलङ्कार्य होता है; उपमा इत्यादि के द्वारा उसका अलङ्करण होता नहीं अपितु दूसरे रस के द्वारा ही उसका अलङ्करण होता है वहाँ पर शुद्ध रसवत् अलङ्कार होता है। इस प्रकार विषय-विभाजन कर देने से इस शंका का भी उन्मूलन हो गया कि 'यदि रस को अलङ्कार माना जावेगा तो उपमा इत्यादि अलङ्कारों से सर्वत्र उसकी संसृष्टि ही होगी और शुद्ध उपमा इत्यादि का कोई विषय ही प्राप्त नहीं होगा।' यहाँ पर रसवत् अलङ्कार से भाव इत्यादि

लोचन

इत्यत्र देवीस्तोत्रे वाक्यार्थीभूते वितर्कविस्मयादिभावस्य चारुत्वहेतुतेति तस्याङ्गत्वाद्भावालङ्कारस्य विषयः। रसाभासस्यालङ्कारता यथा ममैव स्तोत्रे—

समस्तगुणसम्पदः सममलङ्क्रियाणां गणै—
र्भवन्ति यदि भूषणं तव तथापि नो शोभसे।
शिवं हृदयवल्लभं यदि यथा तथा रञ्जयेः,
तदेव ननु वाणि ते भवति सर्वलोकोत्तरम्॥

अत्र हि परमेशस्तुतिमात्रं वाचः परमोपादेयमिति वाक्यार्थे श्रृङ्गाराभासश्चारुत्वहेतुः। नह्ययं पूर्णः श्रृङ्गारो निर्गुणत्वे निरलङ्कारत्वे च भवति। 'उत्तमयुवप्रकृतिरुज्ज्वलवेषात्मक' इति चाभिधानात्।

यहाँ पर वाक्यार्थ रूप मे स्थित देवीस्तोत्र में वितर्क विस्मय इत्यादि भाव की चारुताहेतुता है इसलिये उसके अङ्ग होने से (यह) भावालङ्कार का विषय है। रसाभास की अलंकारता जैसे मेरे ही स्तोत्र मे—

'समस्त गुणों की सम्पत्तियाँ समस्त अलङ्कारों के समूह के साथ यदि तुम्हारा आभूषण हो जावें तथापि हे वाणी! यदि हृदयवल्लभ शिव को जैसे तैसे प्रसन्न कर लो तो वही तुम्हारे लिये सब लोक से बढ़कर हो जावे।'

यहाँ पर निस्सन्देह परमेश्वर-स्तुतिमात्रपरक वचन परम उपादेय होते हैं। इस वाक्यार्थ में श्लेषके सहित श्रृङ्गाराभास चारुता में हेतु है। नायिका के निर्गुण निरलङ्कार होने पर यह पूर्ण श्रृंगार नहीं होता। क्योंकि कहा गया है—उत्तम युवक-प्रकृतिवाला उज्ज्वलवेपात्मक श्रृंगार होता है।

तारावती

अलङ्कारों का भी ग्रहण हो जाता है जिनको प्रेय ऊर्जस्वी और समाहित ये संज्ञायें प्राप्त होती हैं (१) जहाँ पर पूर्वोक्त विधि से भाव को अलङ्कारता प्राप्त हो गई हो उसे प्रेयोलङ्कार कहते हैं। शुद्ध प्रेयोलङ्कार का उदाहरणः—

हे माता जो तुम्हारा चरणतल शतपत्र कमल के पल्लव के समान कोमल है और चलायमान कलहंस नूपुर की सुन्दर ध्वनि से मुखर हो रहा है वही जब बलात् महिषासुर के सर पर रक्खा गया तब न मालूम किस प्रकार स्वर्ण के महान् पर्वत के समान भारी हो गया।'

यहाँ पर वाक्यार्थ है देवी का स्तोत्र और वितर्क विस्मय इत्यादि भाव उसमें चारुता का आधान करते हैं अतः देवी के प्रति कविगत रतिभाव के अङ्ग होने के कारण वितर्क विस्मय इत्यादि भावालङ्कार (प्रेयोलङ्कार) हो गये है।

तारावती

(२) ऊर्जस्वी अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ रसाभास या भावाभास दूसरे का अङ्ग हों। उदाहरण के लिये जैसा कि मेरे (अभिनवगुप्त के) बनाये हुये स्तोत्र मे

'हे वाणी! समस्त गुणों (१—माधुर्यादिकों २—सौन्दर्यादिकों) की सम्पत्तियाँ सभी अलङ्कारों (१—अनुप्रासादिकों २—कटकादिकों) के समूह के साथ यदि तुम्हारा आभूषण हो जावें तो भी तुम शोभा नहीं दे सकतीं। हृदय के प्रिय शिव (१—भगवान् शिवजी २—कल्याण कारक प्रियतम) को यदि तुम किसी न किसी प्रकार प्रसन्न कर लो तो वही तुम्हारा सर्वलोकोत्तर आभूषण हो जावे।'

आशय यह है कि जिस प्रकार कोई नायिका कितनी ही गुणवती हो; चाहे वह सभी आभूषणों से सजी हुई हो किन्तु वास्तविक सफलता इसी में है कि वह कल्याणकारक अपने प्रियतम को जैसे भी हो सके प्रसन्न कर ले। इसी प्रकार किसी वाणी मे कविता के चाहे सभी गुण तथा अलङ्कार विद्यमान हों किन्तु जब तक वह हृदयवल्लभ भगवान् शिव को प्रसन्न नहीं करती तब तक उसके समस्त गुण और अलंकार व्यर्थ हैं।

यहाँ पर वास्तविक अर्थ यही है कि वाणी की शोभा अलङ्कारादिकों से नहीं होती किन्तु भगवान् शिव की उपासना से होती है। किन्तु यहाँ पर श्लेप की महिमा से शृङ्गाररसपरक एक दूसरा ही अर्थ निकल आता है जो कि वास्तविक अर्थ में चारुता का सम्पादन करता है। इस प्रकार यह शृङ्गार मुख्यार्थ का अङ्ग हो गया है किन्तु यहाँपर पूर्ण शृङ्गार नहीं है। क्योंकि नायिका के निर्गुण और निरलंकार होनेपर शृङ्गार की पूर्णता हो ही नहीं सकती। शृङ्गार का लक्षण करने मे ही यह बात कही गई है—'शृङ्गार की उत्तम युवा प्रकृति होती है और उसका वेप उज्ज्वल होता है।' यहाँ पर उज्ज्वलता के अभाव मे शृङ्गार रस न होकर शृङ्गाराभास है। मुख्य वाक्यार्थ है परमात्मा के स्तुति-परक मात्र वचनों का उपादान किया जाना चाहिये। उस वाक्य में श्लेष के साथ शृङ्गाराभास चारुता-सम्पादन में हेतु होता है।

[रसाभास शब्द का अर्थ है ऐसा तत्त्व जो वस्तुतः रस न हो किन्तु रस के समान प्रतीत हो रहा हो। आचार्यों ने अनौचित्य प्रवृत्त रस को रसाभास की संज्ञा प्रदान की है। उदाहरण के लिए यदि सीता के प्रति रावण के प्रेम-भाव का वर्णन किया जायेगा तो सहृदय व्यक्तियों को उसमें शृङ्गार रस का आस्वाद उत्पन्न नहीं होगा अपितु रावण के प्रति वर्तमान उनका द्वेषभाव ही और अधिक उद्दीप्त हो जावेगा। इस प्रकार वह प्रेम रस की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकेगा अपितु रसाभास कहा जावेगा। किन्तु अभिनवगुप्त ने यहाँ पर रसाभास का प्रयोग एक भिन्न अर्थ में किया है। ज्ञात होता है अभिनवगुप्त के समय तक रसाभास की संज्ञा और उसका क्षेत्र पूर्ण-

लोचन

भावाभासाङ्गता यथा—

स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु।
लावण्ययुक्तेष्वपि विन्नसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु॥

अत्र रौद्रप्रकृतीनामनुचितस्त्रासो भगवत्प्रभावकारणकृत इति भावाभासः। एवं तत्प्रशमस्याङ्गत्वमुदाहार्यम्।

भावाभास की अङ्गता जैसे—'वह आपकी रक्षा करे जिसके मार डालने से बचे हुये राक्षस उनके तुल्य रंगवाले अञ्जन से रंगे हुये लावण्ययुक्त अपनी कान्ताओं के नेत्र-कमलों से भी विशेष भय खाते हैं।

यहाँ रौद्र प्रकृतिवालों का अनुचित त्रास भगवान् के प्रभाव से उत्पन्न हुआ है, अतः भावाभास है। इस प्रकार उसके प्रशम की अङ्गता का भी उदाहरण देना चाहिये।

तारावती

तया प्रतिष्ठित नहीं हो सका था। इसीलिए अभिनव ने रसाभास की परिभाषा का ठीक रूप में अनुसरण न करके रसाभास शब्द का सीधा अर्थ ले लिया और सामान्यतया यह परिभाषा कर दी कि जहाँ पर शृङ्गार का पूर्ण परिपाक न हो सका हो उसे शृङ्गाराभास कहते हैं। किन्तु आचार्यों की परम्परा इसके प्रतिकूल है। आचार्य लोग सामान्यतया यही मानते हैं कि जहाँ पर शृङ्गार अनौचित्य-प्रवृत्त होता है वहाँ पर वह शृङ्गाराभास कहा जाता है। अतएव इन आचार्यों के मत में काव्यप्रकाश का उदाहरण ठीक होगा जो कि इस प्रकार है:—

"हे राजन् आप के सैनिक मृग के समान कातर नयनोंवाली, आप के शत्रुओं की पत्नियों का सहसा आलिंगन करते हैं, प्रणामकर उनसे रति की प्रार्थना करते हैं, उनको पकड़ लेते हैं और शास्त्रविधि का भी अतिक्रमण कर उनके सभी अङ्गों का चुम्बन करते हैं। उनके प्रियतम इस समस्त क्रिया को देखते हैं, किन्तु फिर भी आप की प्रशंसा करते हैं कि—'हे औचित्यसिन्धु! पुण्यों के प्रभाव से आप मेरे दृष्टिगोचर हुये हैं, जिससे मेरी सभी आपत्तियाँ दूर हो गई हैं।

यहाँ पर कवि-विषयक रति अङ्गी है, उसका अङ्ग है सैनिकों का शत्रुओं की पत्नियों के प्रति प्रेम जो कि परस्त्री-विषयक होने के कारण तथा प्रेम न करनेवाली स्त्रियों के विषय में होने से शृंगाराभास है।

भावाभास के अङ्ग होने का उदाहरणः—

'वे भगवान् कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें जिनके द्वारा मारे जाने से बचे हुए दैत्य, भगवान् कृष्ण के रंग के अञ्जन से रञ्जित अपनी पत्नियों के लावण्य युक्त नयन-कमलों से भी भयभीत होते हैं।'

ध्वन्यालोकः

यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तर्ह्युपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात् । यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुयोजनया यथाकथञ्चिद्भवितव्यम् ।

(अनु०) यदि यह कहो कि चेतनों का वाक्यार्थ होना रस इत्यादि अलङ्कार का विषय होता है, तो इससे आपके कहने का आशय यह होगा कि या तो उपमा इत्यादि का विषय बहुत कम होता है या बिल्कुल नहीं होता। क्योंकि अचेतन वस्तुवृत्त के वाक्यार्थ होने पर चेतन वस्तुवृत्त योजना किसी न किसी रूप में होनी ही चाहिये ।

लोचन

'मे मति' रित्यनेन यत्परमतं सूचितं तद्दूषणमुपन्यस्यति—यदीत्यादिना। परस्य चायमाशयः—अचेतनानां चित्तवृत्तिरूपरसाद्यसंभवात्तद्वर्णने रसवदलङ्कारस्यानाशङ्कयत्वात्तद्विभक्त एवोपमादीनां विषय इति ।

'मेरा मत है' इस कथन के द्वारा जिस परमत की सूचना दी थी वह दूषित है यह कहते हैं—यदि इत्यादि के द्वारा । दूसरे का आशय यह है—अचेतनों के चित्तवृत्तिरूप रस इत्यादि के असम्भव होने के कारण उसके वर्णन में रसवत् अलंकार की आशंका ही नहीं की जा सकती इसलिये उस रसवत् अलङ्कार से विभक्त ही उपमा इत्यादि का विषय है।

तारावती

दैत्य भगवान् कृष्ण से भयभीत हो गये हैं, अतः वे उनके वर्ण से भी भयभीत रहते हैं । उनकी पत्नियों के सुन्दर नेत्रों में लगा हुआ अञ्जन अब उन्हें आनन्द नहीं दे रहा है प्रत्युत उनमें त्रास ही उत्पन्न कर रहा है । यह त्रास नहीं है किन्तु त्रासाभास है । क्योंकि दैत्यों की प्रकृति रौद्ररस-प्रधान होती है । अतएव उनमे त्रास का उत्पन्न हो सकना सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है । यहाँ पर कवि-गत भगवद्विषयक रति प्रधान (अङ्गी) है और त्रासाभास उसका अङ्ग होकर आया है। अतएव यह ऊर्जस्वी अलङ्कार का उदाहरण है।

(३) समाहित अलङ्कार उसे कहते हैं जहाँ भावप्रशम अपरांग होकर आया हो । इसका उदाहरण स्वयं समझना चाहिये ।

[काव्यप्रकाश-कार ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है:—

'हे राजन् निरन्तर तलवारों के कंपाने से, भृकुटी-भंग के साथ तर्जन से और हुङ्कार सिंहनाद इत्यादि गर्जन से शत्रुओं का जो मद दिखलाई पड़ता था, वह आप का दर्शन होते ही न मालूम कहाँ चला गया ।'

ध्वन्यालोकः

अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते। तत् महतः काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात्।

(अनु०) यदि यह कहो कि चेतनवस्तुवृत्त की योजना के होने पर भी जहाँ वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है वह रसवत् अलङ्कार का विषय नहीं होता, तो रस के निधानभूत बहुत बड़े काव्यप्रबन्ध की नीरसता का प्रतिपादन हो जावेगा।

लोचन

एतद्दूषयति—तर्हीति। तस्माद्वचनाद्धेतोरित्यर्थः। नन्वचेतनवर्णनं विषय इत्युक्तमित्याशङ्क्य हेतुमाह—यस्मादिति। यथाकथञ्चिदिति विभावादिरूपतया। तस्यामिति चेतनवृत्तान्तयोजनायाम्। नीरसत्वमिति। यत्र हि रसस्तत्रावश्यं रसवदलङ्कार इति परमतम्, ततो न रसवदलङ्कारश्चेन्नूनं तत्र रसो नास्तीति परमताभिप्रायान्नीरसत्वमुक्तम्। न त्वस्माकं रसवदलङ्काराभावे नीरसत्वम्, अपितु ध्वन्यात्मभूतरसाभावे, तादृक्च रसोऽत्रास्त्येव।

इसको दूषित करते हैं—तर्हि इति। अर्थात् उस वचन के हेतु से। (प्रश्न) यह कहा गया है कि अचेतन वर्णन विषय है यह आशङ्का करके (उत्तर रूप मे) हेतु बतला रहे हैं—यस्मात् इति। यथा कथंचित् विभाव इत्यादि के रूप में। तस्याम् इति। चेतन वृत्तान्त योजना मे। नीरसत्वमिति। दूसरों का मत है कि जहाँ रस होता है वहाँ अवश्य रसवत् अलङ्कार का विषय होता है। अतः यदि रसवत् अलंकार नहीं है तो वहाँ रस है ही नहीं। इस दूसरो के मत के अभिप्राय से नीरसत्व बतलाया। हमारे मत मे तो रसवत् अलंकार के अभाव में नीरसत्व नहीं होता अपितु ध्वन्यात्मभूत रस के अभाव में, और उस प्रकार का रस तो यहाँ पर है ही।

तारावती

यहाँ मद-प्रशम कवि के राजविषयक-रतिभाव का अंग है। इसी प्रकार काव्यप्रकाशकार ने भावोदय, भाव-सन्धि और भाव-शवलता के अंग होने के भी उदाहरण दिये है।]

यहाँ तक हुआ मुख्य पक्ष (ध्वनिकार का रसालंकार-विपयक सिद्धान्त) कारिका-मे कहा गया था कि 'यह मेरी सम्मति है।' इससे व्यक्त होता है कि दूसरों की सम्मतियाँ भिन्न प्रकार की हैं। उन विरोधी सम्मतियों का खण्डन करने के लिए उनके मत का उल्लेख किया जा रहा है—

कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि रसवत् अलङ्कार वहाँ पर होता है जहाँ मुख्यार्थ

तारावती

चेतनपरक हो। उनका आशय यह है कि रसाश्रयत्व के लिए चित्तवृत्ति का होना नितान्त अपेक्षित है। अचेतनों में चित्तवृत्ति होती ही नही। अतः जहाँ वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है वहाँ रस हो ही नहीं सकता। अतएव वहाँ पर उपमा इत्यादि अलङ्कार हुआ करते है। जहाँ वाक्यार्थ चेतनपरक होता है वहाँ पर रसालङ्कार हुआ करता है। यही उपमा इत्यादि और रसालङ्कार इत्यादि का विषय-विभाजन है। यह है हमारे विरोधियों की सम्मति। इस पर मेरा निवेदन यह है कि यदि चेतनों का वाक्यार्थीभाव सर्वत्र रसालङ्कार का ही विषय माना जावेगा तो उपमा इत्यादि का क्षेत्र या तो बहुत ही सङ्कुचित हो जावेगा या कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि उसका कोई विषय ही नहीं रहेगा। (प्रश्न) यह तो अभी बतला दिया गया है कि उपमा इत्यादि का विषय अचेतन-वर्णन होता है। फिर आप उपमा के विषयापहार का प्रश्न क्यों उठाते हैं? (उत्तर) उपमा इत्यादि के विषयापहार का कारण यह है कि जहाँ कहीं भी वाक्यार्थ अचेतनपरक होगा वहाँ पर भी चेतन वस्तु के वृत्तान्त की योजना किसी न किसी प्रकार विभाव इत्यादि के रूप में हो ही जावेगी। आप कह सकते है किसी न किसी प्रकार चेतन वस्तु वृत्तान्त की योजना होने पर भी रसालङ्कार वहाँ पर नहीं होता जहाँ पर वाक्यार्थ अचेतनपरक होता है। तब मैं कहूँगा कि यदि आप अचेतनपरक वाक्यार्थ को रसालङ्कार का विषय नहीं मानेंगे तो ऐसे-ऐसे महान् काव्य प्रबन्ध नीरस माने जाने लगेंगे जो रसमय साहित्य मे रस का निधान (बहुमूल्य कोष) माने जाते हैं। यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के प्रबन्ध की नीरसता दूसरों के मत मे प्रसक्त होती है। क्योंकि दूसरे लोग वहाँ सर्वत्र रसवत् अलङ्कार मानते है जहाँ कहीं रस विद्यमान हो। अतएव जहाँ रसवत् अलङ्कार नहीं होगा निस्सन्देह वहाँ रस भी नहीं हो सकता। अचेतनवस्तुवृत्तान्त योजना मे दूसरे लोग रसवत् अलङ्कार मानते हैं, हम नहीं मानते। अतएव हमारे मत में रसवत् अलङ्कार के न होने पर भी नीरसता नहीं हो सकती, अपितु नीरसता तभी हो सकती है जबकि ध्वनि का आत्मभूत रस वहाँ पर विद्यमान न हो। इस प्रकार का रस यहाँ पर है ही अतः हमारे मत मे उसकी नीरसता प्रसक्त नहीं होती।

अब यहाँ पर कतिपय उदाहरणो से यह बात पुष्ट की जा रही है कि 'चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना के किसी न किसी रूप में होने पर भी जहाँ वाक्यार्थ अचेतन-परक होता है वहाँ पर रसवत् अलङ्कार नहीं होता।' यदि यह स्वीकार किया जावेगा तो रसनिधानभूत बहुत से काव्यप्रबन्ध नीरस माने जाने लगेंगे। प्रथम उदाहरण लीजिये—पुरूरवा उर्वशी के वियोग में उन्मत्त हो गये हैं। वे अपनी

ध्वन्यालोकः

यथा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो—
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥

(अनु०) जैसे :—

'निस्सन्देह असहिष्णु वह (मेरी प्रेयसी) इस नदी के रूप में परिणत हो गई है। तरङ्गें ही इसका भ्रूभङ्ग हैं, क्षुब्ध पक्षियों की पंक्तियाँ ही इसकी रसना है, संरम्भ के कारण शिथिल हुये वस्त्र के समान यह फेन को खींच रही है। बहुत से स्खलनों का अनुसरण करते हुये यह कुटिल गति में जा रही है।'

लोचन

तरङ्गेति। तरङ्गा एव भ्रूभङ्गा यस्याः। विकर्षन्ती विलम्बमानं बलादाक्षिपन्ती। वसनमंशुकम्। प्रियतमालम्बननिषेधायेतिभावः। बहुशो यत्स्खलितं येऽपराधास्तानभिसन्धाय हृदयेनैकीकृत्यासहमाना मानिनीत्यर्थः। अथ च मद्वियोगपश्चात्तापासहिष्णुस्तापशान्तये नदीभावं गतेति।

तरङ्ग इत्यादि। तरङ्ग ही हैं जिसके भ्रूभङ्ग, विकर्षन्ती का अर्थ है लटकते हुए (वस्त्र) को बलपूर्वक खींचती हुई। वसन का अर्थ है बारीक वस्त्र। अर्थात् प्रियतम द्वारा पकडे जाने के निषेध के लिये। बहुत से जो स्खलित अर्थात् अपराध उनका अभिसन्धान करके अर्थात् हृदय से एक करके सहन न करती हुई अर्थात् मानिनी, और भी मेरे वियोग के पश्चात्ताप को न सहन करनेवाली ताप की शान्ति के लिये नदीभाव को प्राप्त हुई।

तारावती

उसी उन्माद की अवस्था मे नदी में अपनी प्रियतमा की उत्प्रेक्षा कर रहे हैं—'यह नदी मानों मेरी प्रियतमा उर्वशी है। इसकी तरंगे ही मानों इसकी भौहों की मरोड़ है, क्षुब्ध पक्षियों का कलरव ही मानो उसकी रसना की ध्वनि है, यह फेन को उसी प्रकार खींच रही है मानों उर्वशी आवेश के कारण अपने शिथिल हुये वस्त्र को खींच रही हो। जिससे उसका प्रियतम उसे पकड़ न ले। पर्वत शिलाओं के कारण बहुत से स्खलनों को प्राप्त होकर उसीप्रकार कुटिलतापूर्वक चल रही है मानों वह उर्वशी मेरे बहुत से स्खलनों (अपराधों) को लक्षित कर कुटिलतापूर्वक जा रही हो। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है मानों वह उर्वशी मानिनी होने के कारण मेरे अपराधों को सहन न करती हुई मेरे वियोग और पश्चात्ताप से उत्पन्न सन्ताप

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः।
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा॥
चिन्ता मौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते।
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥

(अनु०) दूसरा उदाहरण :—

'यह लता मानों मेरी प्रियतमा उर्वशी हो। यह उर्वशी के समान ही कृश है। इसके पल्लव मेघजल से आर्द्र हो गये हैं मानों उसके अधर आँसुओं से धुल गये हों। समय के व्यतीत हो जाने से इसमें पुष्पोद्गम बन्द हो गया है मानों उसने अपने आभूषण त्याग दिये हों। इस समय इस पर भौंरों की गुञ्जार नहीं हो रही है, अतएव यह ऐसी मालूम पड़ती है मानों वह (उर्वशी) चिन्ता के कारण मौन हो गई हो। मानों प्रचण्ड स्वभाववाली वह चरणों पर पडे हुये मेरा तिरस्कार करके सन्ताप कर रही हो।

लोचन

तन्वीति। वियोगकृशाप्यनुतप्ता चाभरणानि त्यजति। स्वकालो वसन्तग्रीष्मप्रायः। उपायचिन्तनार्थं मौनं, किमिति पादपतितमपि दयितमवधूतवत्यहमिति च चिन्तया मौनम्। चण्डी कोपना। एतौ श्लोकौ नदीलतावर्णनपरौ तात्पर्येण पुरूरवस उन्मादाक्रान्तस्योक्तिरूपौ।

'तन्वी' इति। वियोग से कृश भी अनुतप्त आभरणों को छोड देता है। अपना काल अर्थात् वसन्त-ग्रीष्म-प्राय। उपाय की चिन्तना के लिये मौन, किस कारण चरणपर पडे हुये भी प्रियतम को मैंने तिरस्कृत कर दिया इस चिन्ता से मौन। चण्डी अर्थात् क्रोध करनेवाली। ये दोनों श्लोक नदी तथा लता वर्णनपरक तात्पर्य से उन्मादाक्रान्त पुरूरवा की उक्ति के रूप मे है।

तारावती

की शान्ति के लिये नदी के रूप मे परिणत हो गई है। 'अभिसन्धाय' का अर्थ है लक्षित करके अथवा हृदय से एकरूपता प्रदान कर। अर्थात् उर्वशी ने इस समय मेरे अपराधों को हृदय से एकाकार कर लिया है। मेरे अपराध उसके हृदय मे भर गये है और उनको सहन करने की शक्ति न होने के कारण वह मानिनी बन गई है। यहाँ पर वाक्यार्थ अचेतन नदीपरक है और उनमे चेतन नायिका (उर्वशी) के वृत्तान्त की योजना कर ली गई है।

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणाम्
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः।

तीसरा उदाहरण :—

'हे प्रिय (गोप) वे कालिन्दी के तट पर स्थित लताकुञ्जों के बने हुये घर अच्छी तरह तो हैं, जो कि गोपों की बधुओं के विलास के एकमात्र सहचर है और विशेष रूप से राधा की एकान्त-क्रीडा के साक्षी हैं। अब इस समय काम-कला के निमित्त शय्या की रचना के लिये कोमलता पूर्वक तोड़ने का पल्लवों का उपयोग विच्छिन्न हो गया होगा ? उनकी नीली कान्ति जाती रही होगी और मुझे ऐसा लगता है कि वे पल्लव जरठ हो गये होंगे।

तारावती

दूसरा उदाहरण जैसे—पुरूरवा वहींपर कह रहे है—यह लता मानो मेरी प्रियतमा उर्वशी हो। यह उर्वशी के समान ही कृश हो गई है। इस लता के पल्लव मेघ जल से आर्द्र हो गये हैं मानों उस (उर्वशी) के अधर आँसुओं से धुल गये हों। इस लता के पुष्पागम का काल है बसन्त और ग्रीष्म। वह काल व्यतीत हो चुका है। अतः इसमे पुष्पों का आना बन्द हो गया है मानों उस उर्वशी ने अपने आभूषण छोड़ दिये हों। वियोग की कृशता तथा अनुताप में कोई भी व्यक्ति आभूषण छोड देता है। इस समय इस पर भौंरों की गुञ्जार नहीं हो रही है। अतएव यह ऐसी मालूम पड़ती है मानों उर्वशी चिन्ता के कारण मौन धारण किये हो। यह मौन धारण उपाय की चिन्ता के लिये है अथवा 'क्यों चरण-पतित प्रियतम का मैंने प्रत्याख्यान कर दिया' इस चिन्ता से है। इस प्रकार मानों चरणों पर पड़े हुये मेरा प्रत्याख्यान करके इस लता के रूप में वह उर्वशी पश्चात्ताप कर रही हो। यहाँ पर वाक्यार्थ तो अचेतन लता के विषय मे है किन्तु चेतन उर्वशी के वृत्तान्त की योजना कर दी गई है। ये दोनों श्लोक नदी और लता के वर्णन परक है किन्तु इनका तात्पर्य उन्माद से आक्रान्त पुरूरवा की उक्ति के रूप मे है।

तीसरा उदाहरण :—भगवान् कृष्ण द्वारका मे विद्यमान हैं। वे या तो वृन्दावन-विहार का स्मरण करते हुये अपने मन में कह रहे हैं या किसी आये हुये गोप से कह रहे हैं—

'हे प्रिय ! कालिन्दीतनया (कालिन्दी-यमुना) के तट पर स्थित लताकुञ्जों

लोचन

तेषामिति। हे भद्र ! तेषामिति ये ममैव हृदये स्थितास्तेषाम्। गोपवधूनां गोपीनां ये विलाससुहृदो नर्मसचिवास्तेषाम्। प्रच्छन्नानुरागिणीनां नान्यो नर्मसुहृद्भवतीति। राधायाश्च सातिशयं प्रेमस्थानमित्याह—राधासम्भोगानां ये साक्षाद्द्रष्टारः। कलिन्दशैलतनया यमुना तस्यास्तीरे लतागृहाणां क्षेमं कुशलमिति काक्वा प्रश्नः। एवं तं दृष्ट्वा गोपदर्शनप्रबुद्धसंस्कार आलम्बनोद्दीपनविभावस्मरणात् प्रबुद्धरतिभावमात्मगतमौत्सुक्यगर्भमाह द्वारकागतो भगवान् कृष्णः—स्मरतल्पस्य मदनशय्यायाः कल्पनार्थं 'मृदुसुकुमारं कृत्वा यश्छेदस्त्रोटनं स एवोपयोगो साफल्यम्। अथ च स्मरतल्पे यत्कल्पनं क्लृप्तिः स एव मृदुः सुकुमार उत्कृष्टश्छेदोपयोगस्त्रोटनफलं तस्मिन् विच्छिन्ने। मय्यनासीने का स्मरतल्पकल्पनेति भावः। अतएव परस्परानुराग-

'तेषाम्' इति। हे भद्र ! उनका अर्थात् जो मेरे ही हृदय में स्थित हैं उनका। गोपवधुओं अर्थात् गोपियों के जो विलास-सुहृद् अर्थात् नर्मसचिव हैं उनका। प्रच्छन्न अनुरागिणियों का और कोई नर्मसचिव नहीं होता। और राधा का अधिकता के साथ प्रेम का स्थान है यह कहते हैं—राधा-संभोगों के जो साक्षात् देखनेवाले हैं, कलिन्द पर्वत की पुत्री अर्थात् यमुना उसके तटपर लतागृहों का क्षेम अर्थात् कुशल है ? यह काकु से प्रश्न है। इस प्रकार उससे पूछकर गोपदर्शन से प्रबुद्ध संस्कारवाले द्वारकागत भगवान् कृष्ण आलम्बन और उद्दीपन विभाव के स्मरण से जागृत हुये रतिभाव से युक्त आत्मगत औत्सुक्य के साथ कहते हैं—स्मरतल्प अर्थात् मदनशय्या की कल्पना के लिये मृदु अर्थात् सुकुमार होने के कारण उनका छेद अर्थात् तोड़ना ही उनका उपयोग अर्थात् सफलता है। दूसरा यह—कामशय्या में जो कल्पना वही मृदु अर्थात् सुकुमार और उत्कृष्ट छेदोपयोग अर्थात् तोड़ने का फल, उसके विच्छिन्न होने पर। भाव यह है कि मेरे आसीन न होने पर काम शय्या की कल्पना ही क्या ? इसलिये परस्परानुराग निश्चय के

तारावती

के बने हुये घर सकुशल तो हैं ? ('वे' इस सर्वनाम से यहाँ यह ध्वनित होता है कि वे सर्वदा मेरे हृदयों में ही विद्यमान रहते हैं।) वे गोपवधुओं के विलास के एकमात्र सहचर (नर्मसचिव) हैं और राधा की एकान्त-क्रीड़ा के साक्षी हैं। (प्रच्छन्न कामियों की सुरत-क्रीड़ा का साक्षी वृक्षों और लताओं के अतिरिक्त और हो ही कौन सकता है।) कलिन्दतनया यमुना को कहते हैं उसके तट पर बने हुये लतागृहों के लिये कुशल तो है ? यह प्रश्न काकु से किया गया है। आशय यह है कि जब मैं उन्हें छोड़कर चला आया और उनका हम लोगों के विश्रम्भ विहार का उपयोग जाता रहा तब वे भी जैसे तैसे समय पूरा कर रहे होंगे। उनके

ध्वन्यालोकः

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्त्येव ।

(अनु०) इत्यादि विषयों में अचेतनों के वाक्यार्थ होते हुए भी चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना विद्यमान है ही ।

लोचन

निश्चयगर्भमेवाह—तेजाने इति । वाक्यार्थस्यात्र कर्मत्वम् । अधुना जरठीभवन्तीति । मयि तु सन्निहितेऽनवरतकथितोपयोगान्नेमे जराजीर्णताखिलीकारं कदाचिदाप्नुवन्तीति भावः । विगलन्ती नीला त्विड्येषामित्यनेन कतिपयकालप्रोषितस्याप्यौत्सुक्यनिर्भरत्वं ध्वनितम् । एवमात्मगतेयमुक्तिर्यदि वा गोपं प्रत्येव सम्प्रधारणोक्तिः । बहुभिरुदाहरणैर्महतो भूयसः प्रबन्धस्येति यदुक्तं तत्सूचितम् ।

साथ कहते हैं—ते जाने इति । यहाँपर वाक्यार्थ कर्म है । 'अधुना जरठीभवन्ति' इति । भाव यह है कि मेरे तो सन्निहित होने पर निरन्तर बतलाये हुये उपयोग से बुढ़ापे की जीर्णता की व्यर्थता को ये कभी प्राप्त नहीं होते । विगलित होनेवाली नील त्वचा है जिनकी इससे कतिपय काल से प्रोषित भी (इनके) औत्सुक्य से भरे होने को ध्वनित करते हैं । इस प्रकार यह उक्ति आत्मगत है अथवा गोप के प्रति सम्प्रधारण के लिये उक्ति है । जो यह कहा था कि 'बहुत बड़े तथा अधिक प्रबन्ध की रसमयता होती है' वह बहुत से उदाहरणों से सूचित कर दिया ।

तारावती

लिये कुशल हो ही कैसे सकता है। यहाँपर भगवान् ने गोप को देखा है अतः उनकी संस्कारजन्य स्मृति प्रबुद्ध हो गई है। उन्हे आलम्बन राधा गोपी इत्यादि और उद्दीपन लतावेश्म इत्यादि का स्मरण हो आया है । इससे उनके हृदय में गोपीविषयक रतिभाव प्रबुद्ध हो गया है और द्वारका में बैठे हुये भगवान् कृष्ण उत्कण्ठा से भरी हुई यह बातें कह रहे है ।) वे कहते हैं कि उस समय उन लताओं-पल्लवों का उपयोग यही था कि मदनशय्या की कल्पना (रचना) के लिये उन्हें कोमलतापूर्वक तोड़ा जाता था । अथवा उनके तोड़ने का उपयोग यही था कि उनसे कामकला के निमित्त शय्या की कल्पना की जाती थी, यह उपयोग बहुत ही सुकुमार तथा बड़ा ही उत्कृष्ट था । अब उनका यह उपयोग विच्छिन्न हो गया है । जब उस शय्या पर आसीन होने के लिए मैं वहाँ विद्यमान ही नहीं हूँ तो फिर वहाँ पर मदनशय्या की कल्पना ही क्या हो सकती है ? अतएव अपने और गोपियों के परस्पर अनुराग के निश्चय के साथ कह रहे हैं कि 'मुझे मालूम पड़ता है कि अब वे पल्लव जरठ गये होंगे ।' 'मुझे मालूम पड़ता है' इस क्रिया का कर्म

ध्वन्यालोकः

अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनास्ति तत्र रसादिरलङ्कारः । तदेवं सत्युपमादयोऽलङ्काराः निर्विषयाः प्रविरलविषया वा स्युः । यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन । तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता । यः पुनरङ्गी रसः भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति ।

(अनु०) यदि यह कहो कि जहाँ चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना होती है वहाँ रस इत्यादि अलङ्कार होते हैं तो उपमा इत्यादि का विषय या तो सर्वथा जाता रहेगा या बहुत ही कम हो जावेगा । क्योंकि ऐसा कोई अचेतन-वस्तु-वृत्तान्त है ही नहीं जहाँ अन्त मे विभाव के रूप मे चेतन-वस्तु-वृत्तान्त योजना न हो। अतएव अंग होने पर रसादि अलङ्कार होते हैं और जो रस या भाव अंगी हों तथा सब प्रकार से अलङ्कार्य हो वह ध्वनि की आत्मा होता है । (यही रस ध्वनि और रसालङ्कार का विषय विभाजन है ।)

तारावती

है पूरा वाक्य 'अब वे पल्लव जरठ हो गये होंगे ।' (यहाँपर भगवान् को गोपी-प्रेम का पूर्ण निश्चय है । यदि ऐसा न होता तो गोपियों के परपुरुष-विहार की सम्भावना मे भगवान् का पल्लवों के जरठ होने की कल्पना करना ही असङ्गत हो जाता । इसीलिये भगवान् ने यह बात गोपियों के प्रेम के निश्चय के साथ कही है ।

इस समय जरठ हो गये होंगे कहने का आशय यही है कि जब मैं वहाँ विद्यमान था और उन पल्लवों का बतलाया हुआ उपयोग नित्यप्रति किया करता था अर्थात् नित्य ही काम-क्रीडा के निमित्त शय्या की रचना करने के लिये मैं नव-किसलयों को तोड़ लिया करता था तब इन पल्लवो को बुढ़ापे की जीर्णता के कारण वैवर्ण्य इत्यादि का कभी मुख देखना नहीं पड़ता था । (किन्तु अब जब मैं इतनी दूर बैठा हूँ और काम-क्रीड़ा के लिये उनको तोड़नेवाला कोई नहीं है तब ये पल्लव लताओं मे लगे-लगे ही मुरझा जाते होंगे और पीले पड जाते होंगे ।) 'विगलन्नीलत्विष.' मे बहुव्रीहि समास है । इसका विग्रह इस प्रकार होगा—'विगलित हो रही है नीली कान्ति जिनकी' यहाँ पर 'विगलित हो रही है' में वर्तमान काल के प्रयोग से ध्वनित होता है कि भगवान् का प्रवास अभी बहुत थोड़े दिन पहले हुआ है फिर भी भगवान् के अन्दर उत्कण्ठा चरम सीमा पर पहुँच गई है । इससे भगवान् के अनुराग का आधिक्य व्यक्त होता है । इस प्रकार यह उक्ति या तो आत्मगत है या किसी गोप के प्रति पुरानी बातों के निश्चय करने के लिये कही गई है ।

लोचन

अथेत्यादि । नीरसत्वमत्र मा भूयादित्यभिप्रायेणेति शेषः । ननु यत्र चेतनवृत्तस्य सर्वथानुप्रवेशः स उपमादेर्विषयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—यस्मादित्यादि। अन्तत इति स्तम्भपुलकाद्यचेतनमपि वर्ण्यमानमनुभावत्वाच्चेतनमाक्षिपत्येव तावत्, किमत्रोच्यते। अतिजडोऽपि चन्द्रोद्यानप्रभृतिः स्वविश्रान्तोऽपि वर्ण्यमानोऽवश्यं चित्तवृत्तिभावतां त्यक्त्वा काव्येऽनाख्येय एव स्यात्, शास्त्रेतिहासयोरपि वा । एवं परमतं दूषयित्वा स्वमतमेव प्रत्याम्नायेनोपसंहरति तस्मादिति । यतः परोक्तो विषयविभागो न युक्त इत्यर्थः। भावो वेति वा ग्रहणात्तदाभासतत्प्रशमादयः । सर्वाकारमिति क्रियाविशेषणम्। तेन सर्वाकारमित्यर्थः । अलङ्कार्य इति । अतएव नालङ्कार इतिभावः ।

अथ इत्यादि । यहाँ पर शेष यह है कि 'यहाँ पर नीरसत्व न हो इस अभिप्राय से, (प्रश्न) जहाँ पर चेतन वृत्त का सर्वथा अनुप्रवेश हो वह उपमा इत्यादि का विषय हो जावेगा यह शङ्काकर (उत्तर) देते हैं—यस्मात् इत्यादि । अन्तत इत्यादि । वर्णन किया जाता हुआ स्तम्भ पुलक इत्यादि अचेतन भी अनुभाव होने के कारण चेतन का आक्षेप करता ही है । इस विषय में क्या कहा जावे अत्यन्त जड़ चन्द्र उद्यान भी स्वमात्र विश्रान्त होते हुये भी (वाच्यार्थ बोध के द्वारा अपने मे पर्यवसित होते हुये भी) वर्णन किये जाने पर अवश्य ही चित्तवृत्ति विशेष की (उद्दीपन) विभावता को छोड़कर काव्य में आख्यान के योग्य हो ही नहीं सकते । अथवा शास्त्र और इतिहास मे भी (आख्यान के योग्य नहीं हो सकने ।) इस प्रकार परमत को दूषित करके अपने मत को ही पुनराख्यान के द्वारा उपसंहार कर रहे हैं—तस्मादिति। अर्थात् क्योंकि दूसरों का कहा हुआ विषय-विभाग ठीक नहीं है । भावो वा इति । 'वा' ग्रहण से उनके आभास तथा उनके प्रशम (गृहीत) हो जाते हैं । 'सर्वाकारम्' यह क्रियाविशेषण है । इससे इसका अर्थ होता है सब प्रकार से । 'अलङ्कार्य इति' अतः अलङ्कार नहीं होता है यह भाव है ॥ ५ ॥

तारावती

पहले कहा गया था कि 'यदि चेतन-वृत्तान्त-योजना के होने पर भी अचेतन वाक्यार्थ होने पर रसवत् अलङ्कार नहीं माना जावेगा तो रसनिधानभूत बहुत से काव्य-प्रबन्धों की नीरसता प्रसक्त हो जावेगी ।' इस वाक्य मे बहुत से शब्द का प्रयोग किया गया था, अतएव तीन उदाहरण दिये गये । (तीन मे बहुवचन होता ही है ।) इन सब उदाहरणों मे यद्यपि अचेतन ही वाक्यार्थ है तथापि चेतन-वस्तुवृत्तान्त-योजना विद्यमान है ही । इन उदाहरणों मे नीरसता प्रसक्त न हो जावे इस मन्तव्य से यदि तुम यह कहना चाहो कि जहाँ कहीं चेतन-वृत्तान्त

तारावती

योजना होती है वहाँ सर्वत्र रस इत्यादि अलङ्कार होता है तो उपमा इत्यादि का विषय या तो सर्वथा समाप्त हो जावेगा या उसका विषय बहुत स्वल्प रह जावेगा। (प्रश्न) जहाँ चेतन-वृत्तान्त का सर्वथा अनुप्रवेश नहीं होता वह उपमा इत्यादि का विषय हो जावेगा। (उत्तर) ऐसा कोई अचेतन वृत्त है ही नहीं जिसमें अन्ततः विभाव इत्यादि के रूप मे चेतनवस्तु-वृत्तान्त-योजना न हो। यदि अचेतन भी स्तम्भ पुलक इत्यादि का वर्णन किया जाता है तो वह भी अनुभाव रूप होने के कारण चेतना का आक्षेप कर ही लेता है। इस विषय में कहा ही क्या जा सकता है। (आशय यह है कि स्तम्भ पुलक इत्यादि जितने भी अनुभाव हैं वे सब विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति के परिचायक मात्र होते हैं। चित्तवृत्ति चेतन में ही सम्भव हैं, अतः यदि अचेतन मे भी स्तम्भ पुलक इत्यादि अनुभावों का वर्णन किया जावेगा तो वह भी चित्तवृत्ति का आक्षेप कर ही लेगा। अतः यदि यह तथ्य तुम्हारे प्रतिकूल जाता है तो हम क्या कह सकते हैं और क्या तुम्हारी सहायता कर सकते हैं।) अत्यन्त जड़ चन्द्र उद्यान इत्यादि यदि इस रूप मे भी वर्ण्य-विषय बनें कि उनका पर्यवसान सर्वथा स्वमात्र में हो अर्थात् जहाँ कहीं चन्द्र उद्यान इत्यादि स्वतन्त्र वर्ण्य विषय के रूप में भी वर्णन किया जावे और उनसे किसी विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति की पुष्टि न भी दिखलाई जावे तो भी चित्तवृत्ति की विभावरूपता को छोड़कर उनका काव्य में प्रकथन सम्भव ही नहीं हो सकेगा। (आशय यह है कि चन्द्र उद्यान इत्यादि का कितना ही स्वतन्त्र वर्णन किया जावे किन्तु उनमें चित्तवृत्ति की विभावरूपता तो आ ही जावेगी। या तो वे चित्तवृत्ति का आलम्बन होंगे या उद्दीपन।) यही बात शास्त्र और इतिहास के विषय में भी कही जा सकती है। उनमें भी जहाँ कहीं भी इन जड़ वस्तुओं का प्रकथन किया जावेगा वहाँ सर्वत्र चित्तवृत्ति को प्रभावान्वित करना तो उनका लक्ष्य होगा ही। अतः विना चेतन योजना के सर्वथा जड का काव्य और शास्त्र मे प्रकथन सम्भव है ही नहीं। इस प्रकार वृत्तिकार परमत का खण्डन कर अपने मत का पुनराख्यान करते हुये प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार कर रहे हैं। 'अतएव अङ्ग के रूप में स्थित होने पर रस इत्यादि अलङ्कार होते हैं और जो अङ्गी रस या भाव सर्वाकार रूप मे अलङ्कार्य होते हैं वे ही ध्वनि की आत्मा बनते हैं।' आशय यह है कि दूसरों का बतलाया हुआ विषय–विभाग ठीक नहीं है। 'रस या भाव' मे 'या' से रसाभास, भावाभास और भावप्रशम का भी ग्रहण हो जाता है। 'सर्वाकारम्' यह क्रियाविशेषण है। इसका अर्थ है सभी प्रकार से 'अलङ्कार्य होते हैं' में अलङ्कार्य का आशय यह है कि अङ्गी होने पर अलङ्कार्य होने के कारण ही वे अलङ्कार नहीं हो सकते।

तारावती

[प्रस्तुत प्रकरण में रस की ध्वनिरूपता और अलङ्काररूपता के विषय-विभाजन पर विचार किया गया है। ध्वनिकार के मत में सिद्धान्त पक्ष इस प्रकार है—१. जहाँ पर रस (काव्यानन्द) का विकास प्रधान रूप में होता है। उसके पोषण के लिये दूसरे अलङ्कारों का प्रयोग किया जाता है। वह रस किसी दूसरे तत्त्व का स्वयं पोषक नहीं होता। वहाँ पर रस ध्वनि का रूप धारण करता है। इसी प्रकार भाव इत्यादि के विषय में भी समझना चाहिये। २. जहाँ पर कोई अन्य तत्त्व प्रधान होता है और रस उस प्रधानीभूत तत्त्व का पोषण करते हुये अलङ्करण करता है। वहाँ पर रस अलङ्कार कहा जाता है। इसी प्रकार भाव इत्यादि भी अलङ्कार का रूप धारण कर सकते हैं। ३. जहाँ पर रति इत्यादि भावों के समुचित उपकरणों द्वारा परिपोष को प्राप्त हो जाने पर रस का ठीक रूप में परिपाक होता है; कोई दूसरा रस या भाव उसका पोषक होकर आता है और उसके पुष्ट करने के लिये उपमा इत्यादि का प्रयोग भी किया जाता है वहाँ पर रस या भाव के साथ उपमा इत्यादि की संसृष्टि अथवा संकर होता है। ४. जहाँ पर किसी प्रधानीभूत रस का परिपाक हो जाता है और उसको पुष्ट करने के लिये किसी दूसरे रस या भाव का प्रयोग नहीं किया जाता, वहाँ पर जिन उपमा इत्यादि का प्रयोग किया जाता है वह उपमा इत्यादि का स्वतन्त्र विषय होता है। यह विषय-विभाजन ध्वनि-सम्प्रदाय-सम्मत है। अलंकार सम्प्रदाय के प्राचीन आचार्य यही मानते हैं कि रस सर्वत्र अलङ्कार ही होता है। किन्तु उनकी मान्यता मे सबसे बड़ा दोष यही है कि रस तो सर्वत्र विद्यमान होगा ही। ऐसी दशा में एक अलङ्कार तो विद्यमान हो ही गया। अब यदि उपमा इत्यादि किसी दूसरे अलङ्कार का प्रयोग किया जाता है तो रस इत्यादि अलङ्कार से उसकी संसृष्टि या संकर हो जावेगा और उपमा इत्यादि का कहीं भी स्वतन्त्र विषय नहीं मिलेगा। प्राचीन आचार्य इस पर यह तर्क देते हैं कि रस परिपाक के लिये चित्तवृत्ति का होना नितान्त अपेक्षित तथा अनिवार्य है। अतः रस की सत्ता सर्वत्र वहीं मानी जा सकती है जहाँ काव्य का विषय कोई चेतन तत्त्व हो। क्योंकि चेतन तत्त्व में ही चित्तवृत्ति सम्भव है। किन्तु काव्य का विषय सर्वत्र चेतन तत्त्व ही बनता हो ऐसी बात नहीं है। जड़ तत्त्व भी काव्य का विषय बनते हैं। अतएव जहाँ पर जड़ पदार्थों का काव्य के विषय के रूप मे उपादान किया जावेगा वहाँ पर रस आदि न होने के कारण उपमा इत्यादि अलङ्कारों का स्वतन्त्र विषय उपलब्ध हो जावेगा। इस पर ध्वनि-सम्प्रदायवादियों को आपत्ति यह है कि विना चित्तवृत्ति के न तो काव्य ही सम्भव है, न इतिहास ही और न शास्त्र ही। जहाँ कहीं जड़,

तारावती

पदार्थ भी काव्य का विषय बनेंगे वहाँ भी चित्तवृत्ति का संयोग किसी न किसी रूप में होगा ही। फिर चाहे वे तत्त्व चित्तवृत्ति के आलम्बनरूप हों चाहे उद्दीपनरूप। चित्तवृत्ति के अभाव में काव्य ही सम्भव नहीं हो सकता। इस आपत्ति का निराकरण करने के मन्तव्य से पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि १—जहाँ पर चेतन तत्त्व प्रधानतया वाक्यार्थ हो वहाँ पर रस इत्यादि अलंकार होते हैं और २—जहाँ जड़ पदार्थ प्रधानतया वाक्यार्थ हों वहाँ पर चेतन तत्त्व के किसी न किसी रूप में योजना होने पर भी रस अलङ्कार नहीं माना जा सकता। किन्तु इस विषय-विभाजन में सबसे बड़ा दोष यह है कि अनेक काव्यों में अचेतन तत्त्व प्रधानतया वाक्यार्थ बने हैं किन्तु चेतनों का उनपर आरोपकर उन्हें सरस बना दिया गया है। इस प्रकार काव्य रसात्मक साहित्य में अमूल्य मणि माने जाते हैं। यदि चेतन के यथाकथञ्चित् योग में रसात्मकता नहीं मानी जावेगी तो इस प्रकार के रस-निधानभूत अनेक काव्य नीरस माने जाने लगेंगे। इस प्रकार पूर्वपक्षी उभयतःपाशा रज्जु से आक्रान्त हो गया। यदि चेतन तत्त्व के यथाकथञ्चित् योग में रस माना जाता है तो उपमा इत्यादि की स्वतन्त्र सत्ता का विषयापहार हो जाता है और यदि ऐसे स्थानों में रस नहीं माना जाता तो रस के अमूल्य कोष नीरसता की कोटि में जा पड़ते हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षी को कहीं निकलने का अवसर नहीं है। अतएव ध्वनिकार का सिद्धान्त मानने से ही निस्तार हो सकता है कि जहाँ पर रस दूसरे तत्त्व का अलङ्करण कर रहा हो वहाँ पर वह अलङ्कार होता है और जहाँ पर स्वयं स्वतन्त्र रूप में आस्वादन का विषय बन रहा हो वहाँ पर वह अलङ्कार्य होता है और उसे ही ध्वनि कहते हैं। इस व्याख्या के मानने से कोई दोष नहीं आता।

रुय्यक ने अपने अलङ्कारसर्वस्व में प्राचीनों और नवीनों की रसालङ्कार-विषयक मान्यता पर स्पष्ट प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है—"१—जहाँ पर विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावों द्वारा विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति प्रकाशित की जाती है उसे रस कहते हैं। २—विभाव और अनुभाव के द्वारा सूचित किया हुआ निर्वेद इत्यादि ३३ भेदोंवाला भाव कहलाता है, देव इत्यादि विषयक रति को भी भाव कहते है। ३—उनके आभास का अर्थ है रसाभास और भावाभास। अविषय में प्रवृत्ति होने के कारण जहाँ पर अनौचित्य की प्रतीति हो रही हो उसे आभास कहते हैं। ४—प्रशम उसे कहते है जहाँ पर उक्त दोनों प्रकारों से निवर्तित होने के कारण अवस्था प्रशान्त होने लगती है। उनमे भी रस पर-विश्रान्तिरूप होता है। अतः रसप्रशम सम्भव नहीं है। इसलिये अवशिष्ट दूसरे भेद के विषय में ही यह समझा जाना चाहिये।

तारावती

रसवत् उसे कहते हैं जिस निबन्ध में निबन्धरूप व्यापार मे रस विद्यमान हो । प्रेय का अर्थ है प्रियतर । यह प्रियतर निबन्धन ही होता है । इसी प्रकार ऊर्जस्वी का अर्थ है ऊर्ज अर्थात् बल जिसके अन्दर विद्यमान हो । वह भी निबन्धन हो सकता है । यहाँ पर बल शब्द का योग इसीलिये किया गया है कि इसमे अनौचित्य के साथ प्रवृत्ति होती है । (अनौचित्य के साथ प्रवृत्त होने मे कुछ बल तथा कुछ साहस अपेक्षित होता ही है ।) समाहित का अर्थ है परिहार अथवा समेटना । प्रकृत में वह उक्त भेद के विषय मे ही लागू होता है अतः उसका दूसरा पर्यायवाचक शब्द 'प्रशम' है । उनमें जिम दर्शन में वाक्यार्थ के रूप मे स्थित रस इत्यादि (प्रधानीभूत रस इत्यादि) रसवत् अलंकार माने जाते हैं उसमे अङ्गभूत रस इत्यादि के विषय में जो रसवत् इत्यादि अलङ्कार होते है उन्हें द्वितीय उदात्तालङ्कार कहा जाता है । इसके प्रतिकूल जिस सिद्धान्त मे अङ्गभूत रस इत्यादि के विषय मे रसंवत् इत्यादि अलङ्कार होते हैं क्योकि दूसरा प्रकार (प्रधानीभूत रत्यादि) रसध्वनि से व्याप्त होता है वहाँ पर उदात्तालङ्कार का विषय ही शेष नहीं रह जाता क्योंकि उसके विषय को रसवत् अलङ्कार ही व्याप्त कर लेता है ।" यह है रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का अनुवाद ।

कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित में रसवत् इत्यादि अलङ्कार की मान्यता का सर्वथा निषेध कर दिया है उन्होंने प्राचीन आचार्यों की मान्यता का भी खण्डन किया है और ध्वनिकार की मान्यता का भी । इन आचार्यों की मान्यताओं की परीक्षा युक्ति-प्रत्युक्तियों द्वारा कुन्तक ने बडे विस्तार से की है । रसवत् अलङ्कार के विषय मे ठीक परिचय प्राप्त करने के लिए विभिन्न आचार्यों की मान्यताये तथा उन पर कुन्तक के विचारों का सार दे देना अप्रासङ्गिक न होगा ।

कुन्तक ने रसवत् अलङ्कार के खण्डन मे दो तर्क दिये है—(१) सत्कवियों के वाक्यों मे आये हुए समस्त अलङ्कारों मे यह प्रतीति विद्यमान रहती है कि यह अलङ्कार है और यह अलङ्कार्य है । किन्तु कितना ही विचार किया जावे, रसवत् अलङ्कार के विषय मे अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद अवगत ही नहीं होता । यदि प्रधानतया वर्ण्यमान श्रृङ्गार इत्यादि को अलङ्कार्य माना जावे तो उसका कोई न कोई अलङ्कार होना ही चाहिये अन्यथा उसमे अलंकार्यत्व आ ही नहीं सकेगा । यदि तद्विदाह्लादनिबन्धत्व धर्म होने के कारण शृंगार इत्यादि को ही अलंकार कहा जावे तो कोई दूसरा अलंकार्य होना ही चाहिये । इस प्रकार अलंकार तथा अलंकार्य के ठीक रूप में विषय-विभाग न हो सकने के कारण रसवत् अलंकार स्वीकार्य नहीं हो सकता । (२) रसवत् अलंकार में शब्दार्थ की सङ्गति भी नहीं होती।

तारावती

'रसवत्' शब्द में रस शब्द से मतुप् प्रत्यय किया गया है। अतः इस शब्द का अर्थ हुआ 'रस जिसमे विद्यमान हो ऐसा तत्त्व।' इसके बाद रसवदलङ्कार शब्द में दो समास सम्भव हैं षष्ठीतत्पुरुष—रसवत् का अलङ्कार अथवा विशेषण कर्मधारय—रसवान् अलङ्कार। यदि षष्ठीतत्पुरुष माना जावे तो प्रश्न पैदा होगा कि वह रसवत् कौन वस्तु है जिसका यह अलङ्कार होगा? यदि वह वस्तु काव्य ही हो तो दूसरा प्रश्न यह उठेगा फिर वह वस्तु कौन सी है जिसको अलंकार का नाम दिया गया है? किसी भी काव्य मे रस तत्त्व ही उसका काव्यत्व होता है। अतः षष्ठी समास पक्ष मे रस तत्त्व का अर्थ होगा काव्यत्व और रसवदलंकार शब्द का अर्थ होगा—काव्यत्व के अलंकार। उपमा रूपक इत्यादि सभी अलंकार काव्यत्व के ही होते हैं। अतः सभी अलंकार रसवदलंकार ही कहे जावेंगे। इसी प्रकार रसवान् अलकार यह कर्मधारय समास करने पर भी यही बात होगी। क्योंकि सभी अलंकार रसवान् ही होते हैं। इस प्रकार रसवदलकार का शब्दार्थ ठीक नहीं बैठता। कुन्तक ने सामान्यतया रसवदलंकार के खण्डन करने में यही दो तर्क दिये हैं।

इनके अतिरिक्त कुन्तक ने रसवदलंकार के विषय में विभिन्न आचार्यों के मतों की परीक्षा भी की है। सर्वप्रथम भामह के लक्षण को लीजिए—भामह के रसवत् अलङ्कार के लक्षण में दो पाठ पाये जाते हैं—(१) 'दर्शितस्पृष्टश्रृङ्गारादिरसं रसवत्' और (२) 'दर्शितस्पष्टश्रृङ्गारादिरसं रसवत्।' यदि प्रथम पाठ माना जावे तो इसका अर्थ होगा—'जहाँ पर स्पर्श किये हुये श्रृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये गये हों' यदि दूसरा पाठ माना जावे तो इसका अर्थ होगा—'जहाँ पर स्पष्ट रूप मे श्रृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये जावें।' दोनों पाठों में यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि वह क्या वस्तु है जिसमे श्रृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये जाते हैं? यदि कहो कि वह वस्तु काव्य ही है जिसमे श्रृङ्गार इत्यादि रस दिखलाये जाते हैं तो इसका अर्थ होगा—काव्य ही अलंकार है। काव्य को अलंकार मानने पर वह तो व्याघात दोष होगा। क्योकि पहले तो भामह ने यह कहा कि काव्य के एकदेश शब्द और अर्थ मे अलकार होते हैं और बाद मे काव्य को ही अलंकार कह दिया। यह बात सङ्गत नहीं हो सकती। यहाँ पर दूसरा समास सम्भव है तृतीया के अर्थ मे बहुव्रीहि। अर्थात् 'स्पष्ट रूप मे दर्शित किये गये हैं श्रृङ्गार इत्यादि रस जिसके द्वारा'। तब भी यही प्रश्न उपस्थित होगा कि श्रृङ्गार इत्यादि रस स्पष्ट रूप में किसके द्वारा दिखलाये जाते हैं? क्या प्रतिपादन वैचित्र्य के द्वारा? स्पष्ट रूप मे रसादि का प्रतिपादन वैचित्र्य तो रसादि का स्वरूप ही होगा। दूसरी बात यह है कि रसवदलंकार शब्द में षष्ठी तत्पुरुष करने पर रसवत् काव्य का अलंकार रसवत् अलंकार होता

तारावती

है इस कथन में कोई सार नहीं। इस प्रकार भामहाभिमत रसवत् अलंकार की परिभाषा निस्सार सिद्ध हो जाती है।

उद्भट ने रसवदलङ्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायि सञ्चारि विभावाभिनयास्पदम्।

(रसवत् अलङ्कार उसे कहते हैं जिसमें स्पष्ट रूप में शृङ्गार इत्यादि रस का उदय दिखलाया गया हो और जो स्वशब्द, स्थायी भाव, सञ्चारी भाव, विभाव तथा अभिनय (अनुभाव) में प्रतिष्ठित हो।) इस लक्षण में कोई नई बात नहीं कही गई है। भामह ने जो कुछ कहा था उसी का विस्तार कर दिया गया है। नई बात केवल एक है और वह यह है कि रसवत् अलङ्कार उसे कहते हैं जहाँ रस स्वशब्दवाच्य हो। कुन्तक का कहना है कि उद्भट ने तो रस को स्वशब्दवाच्य कहकर संसार के सभी भोग सभी व्यक्तियों के लिये सुलभ बना दिये हैं। अब तो जिस प्रकार रस शब्द का उच्चारण करने से रसास्वादन हो जावेगा उसी प्रकार राज्य शब्द का उच्चारण करने से राजा होने का आनन्द आ जावेगा—पूड़ी कचौड़ी का नाम लेने से उत्तम प्रकार के भोजन का आनन्द सहज रूप मे प्राप्त हो जावेगा। आशय यह है कि रसवत् अलङ्कार के विषय में भामह के समान उद्भट का मत भी निस्सार ही है।

रसवत् अलङ्कार के दण्डी के लक्षण मे दो प्रकार का पाठ पाया जाता है—'रसवद्रससंश्रयम्' और 'रसवद्रसपेशलम्'। 'रससंश्रयात्' शब्द का दो प्रकार से विग्रह हो सकता है—'रसः संश्रयो यस्यासौ रससंश्रयः तस्मात्कारणात्' अर्थात् रस जिसका आश्रय हो उस कारण से उसे रसवत् अलङ्कार कहते हैं। प्रश्न यह है कि वह क्या वस्तु है? पहले ही बतलाया जा चुका है कि काव्य नहीं हो सकता। दूसरा समास तत्पुरुष हो सकता है अर्थात् रस का आश्रय या रस के द्वारा जिसका आश्रय लिया जाता है। इसमें भी वही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह क्या वस्तु है। 'रसपेशलम्' पाठ की भी वही दशा है। इस प्रकार तर्क की कसौटी पर दण्डी का मत भी खरा नहीं उतरता।

यदि यह कहा जावे कि जिस प्रकार सूखे वृक्ष मे सरसता आ जाने से वृक्ष हरा-भरा हो उठता है उसी प्रकार अलङ्कार्य शब्दार्थसमूह रूप वाक्यार्थ होता है, उसमे सरसता का सम्पादन कर रस अलङ्कार बन जाता है। यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी दशा मे प्रधान और गौण का विपर्यास हो जावेगा। काव्य में रस

तारावती

प्रधान होता है वह गौण हो जावेगा और वाक्यार्थ गौण होता है वह प्रधान हो जावेगा ।

इसके बाद कुन्तक ने आनन्दवर्धन की मान्यता की आलोचना की है । चेतन और अचेतन के विषय में आनन्दवर्धन ने जो कुछ कहा था कुन्तक ने उस सबका उसी रूप में समर्थन करते हुये ध्वनिकार का ही अतिदेश कर दिया । ध्वनिकार की सैद्धान्तिक आलोचना में कुन्तक ने केवल इतना कहा कि ध्वनिकार ने 'काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः' इस वाक्यखण्ड में रस को अलङ्कार कहा । 'रसवत्' के मतुप् प्रत्यय को क्यों छोड़ दिया ? ध्वनिकार के मत में मतुप् प्रत्यय का निर्वाह किस प्रकार होगा ? इसके अतिरिक्त कुन्तक ने आनन्दवर्धन द्वारा दिये हुये उदाहरणों की ही केवल आलोचना की सैद्धान्तिक मान्यता के विषय में और कुछ नहीं कहा ।

इस प्रकार समस्त प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं का खण्डन कर कुन्तक ने अन्त में अपनी दृष्टि से एक नया ही स्वरूप बतलाया है । उनका कहना है कि रसवत् शब्द में मतुप् प्रत्यय नहीं अपितु तुल्य अर्थ में वत् प्रत्यय है । (तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः) इस प्रकार रसवत् का अर्थ होता है रस के समान। जब उपमा इत्यादि कोई अलङ्कार काव्य में सरसता सम्पादन करने के कारण रस की समता धारण कर लेता है तब उसे रसवत् अलङ्कार कहते हैं। एक मात्र यह अलङ्कार काव्य का सर्वस्व बन जाता है और समस्त अलङ्कारों का जीवन हो जाता है । इस प्रकार के रसवत् के कुन्तक ने कई उदाहरण दिये हैं । डा० नगेन्द्र ने इस पर टिप्पणी करते हुये वक्रोक्ति जीवित की भूमिका में लिखा है—'जहाँ तक इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो दो मत हो ही नहीं सकते । क्योंकि काव्य के मनोविज्ञान का यह स्वीकृत सत्य है कि कल्पना भाव के संसर्ग से ही रमणीय बनती है—काव्य-शास्त्र की शब्दावली में, रस के संयोग से ही अलङ्कार में काव्यत्व अथवा चारुता आती है । रस और कल्पना का मणिकाञ्चन योग ही काव्य की सबसे बड़ी सिद्धि है और कुन्तक ने उसका प्रतिपादन कर निश्चय ही अपने प्रौढ़ काव्यज्ञान का परिचय दिया है ।' इसके बाद डाक्टर महोदय ने इस प्रकरण का उपसंहार करते हुये लिखा है—'अतः उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यही है कि रसवत् अलंकार वास्तव में कोई अलङ्कार नहीं है क्योंकि विषय से संबद्ध होने के कारण रस अलङ्कार्य ही है, अलङ्कार नहीं है । उसकी स्थापना के लिये प्रकारान्तर से भी जो प्रयत्न किये गये हैं उनसे भी कम से कम उनकी अलङ्कारता की सिद्धि नहीं होती ।'

ऊपर रसवत् अलंकार के विषय में अन्य आचार्यों की मान्यताओं के खण्डन

तारावती

तथा कुन्तक के अपने मत का सार दिया गया है। इस प्रकार हम रसवत् अलंकार-विषयक समस्त धारणाओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) ध्वनिकार के पूर्व की धारणायें, (२) ध्वनिकार की धारणा और (३) कुन्तक की धारणा। ध्वनिकार के पूर्व इस विषय में जितने भी मत हैं उन सबका सार यही है कि जहाँ कहीं रस होता है वहीं रसवत् अलंकार माना जाता है। वास्तविकता यह है कि ध्वनिकार के पहले आचार्यों का ध्यान अलंकार्य तथा अलंकार के भेद की ओर गया ही नहीं था। इन लोगों की सामान्य धारणा का यदि विश्लेषण किया जावे तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि ये लोग नित्य प्रति की व्यावहारिक भाषा तथा काव्य-भाषा में भेद मानते थे। इन लोगों का विचार था कि काव्य की भाषा मे एक रमणीयता होती है, एक आकर्षण होता है और एक वैलक्षण्य होता है जो लोक-भाषा में नहीं होता। इसीलिये सर्वसाधारण का आकर्षण काव्य की ओर विशेष रूप से होता है। काव्य में कुछ ऐसे तत्त्व विद्यमान होते हैं जो उसमें रमणीयता का आधान करते हुये उसे ग्राह्य बना देते हैं। जो भी तत्त्व काव्य मे रमणीयता का आधान कर उसे ग्राह्य बनाते हैं वे अलङ्कार कहलाने के अधिकारी हैं फिर वे चाहे रस हों, चाहे भाव हों, चाहे कोई और तत्त्व हों। इसी लिये ये लोग रस को भी अलङ्कार की संज्ञा प्रदान करते थे और उसे 'रसवत्' इस नाम से पुकारते थे। 'रसवत्' यह एक अलङ्कार का नाम मात्र है। इस शब्द के साथ कुन्तक ने अलङ्कार शब्द को जोड़ कर 'रसवदलङ्कार' शब्द बनाकर षष्ठी तत्पुरुष तथा समानाधिकरण कर्मधारय का जो विवाद उठाया है वह अनावश्यक भी है, अप्रासङ्गिक भी और अयथार्थ भी। यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है कि 'रसवत्' संज्ञा डित्थ-डवित्थ की भाँति यदृच्छाशब्द तो है नहीं, यह एक अन्वर्थ संज्ञा है, फिर इसका अर्थ क्या है और इसके नामकरण का कारण क्या है? वस्तुतः काव्य को ग्राह्य बनानेवाले तत्त्वों में एक रस भी है। अतः जो लोग काव्य को ग्राह्य माननेवाले समस्त तत्त्वों को अलङ्कार नाम से अभिहित करने के पक्षपाती हैं उनके मत मे रस को ही अलङ्कार कहा जाना चाहिये फिर नाम करण में मतुप् प्रत्यय क्यों जोड़ दिया गया है? महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में लिखा है कि दाक्षिणात्य लोग तद्धित के प्रेमी होते है। वे लोग 'लोक मे' 'वेद मे' कहने के स्थान पर प्रायः 'लौकिक मे' 'वैदिक मे' कहा करते हैं। पतञ्जलि ने यह बात किसी सामान्य व्यक्ति के लिये नहीं कही अपितु महावैय्याकरण तथा मुनित्रयी में महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कात्यायन के विषय में कही है। ज्ञात होता है किसी दाक्षिणात्य ने या दाक्षिणात्य के समान किसी तद्धित-प्रेमी ने रसालङ्कार

तारावती

कहने के स्थान पर रसवदलङ्कार शब्द का प्रयोग कर दिया होगा और परम्परानुरोध से वही शब्द चल पड़ा। इसीलिये ध्वनिकार ने रसालङ्कार शब्द का प्रयोग किया है रसवदलङ्कार का नहीं। (काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।) यदि हम प्राचीन आचार्यों का अध्ययन उन्हीं के दृष्टिकोण से करें तो रसवदलङ्कारों में अलङ्कार्य और अलङ्कार के विभाजन की चेष्टा होनी ही नहीं चाहिये। प्राचीनों का मन्तव्य केवल इतना ही था कि अनेक तत्त्वों में रस भी एक ऐसा तत्त्व है जो काव्य को ग्राह्य बनाने में सहायक होता है अतः वह अलङ्कार शब्द द्वारा अभिहित किये जाने का अधिकारी है। अथवा यदि अलङ्कार तथा अलङ्कार्य के विभाजन के बिना सन्तोष न हो तो यहाँ मान लिया जा सकता है कि सामान्य शब्द और अर्थ अलङ्कार्य होते हैं और रस अलङ्कारक होता है। शब्दगत और अर्थगत अलङ्कार माने ही जाते है और लोचनकार ने रस की उपमा इत्यादि से समानता स्थापित करते हुये लिखा ही है कि जिस प्रकार साम्य का आधान कर उपमा उपकारक होती है उसी प्रकार सरसता का सम्पादन कर रस भी प्रस्तुत का उपकारक हो जाता है। इन आचार्यों के मत मे अलङ्कार हो जाने पर रस की गौणता भी प्रसक्त नही होती क्योंकि ये आचार्य अलङ्कार को गौण तत्त्व मानते ही नहीं थे।

ध्वनिकार काव्यशास्त्र के इतिहास मे एक सीमास्तम्भ हैं। इन्होंने प्राचीन काल से चली आती हुई काव्यशास्त्रीय परम्पराओं का पुनः परीक्षण किया और काव्यशास्त्र से सम्बद्ध प्रत्येक तत्त्व को उसके उचित स्थान पर विन्यस्त करने की चेष्टा की। ध्वनिकार ने अलङ्कार और अलंङ्कार्य के विभाजन पर भी उचित विचार किया। यदि विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जावे तो ज्ञात होगा कि ध्वनिकार के मत मे सौन्दर्य ही अलङ्कार्य होता है। अलंकार उस सौन्दर्य की अभिवृद्धि का साधन होता है। काव्य में अलंकार्य वही तत्त्व होता है जिसमे सौन्दर्य पर्यवसित होता है। दूसरे तत्त्व जो सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं अलंकार कहलाते हैं। काव्य की भाषा वही नहीं होती जो कि लोक मे प्रयुक्त की जाती है। लोक मे हम प्रायः अपना मन्तव्य सीधे-सीधे शब्दों मे कह देते हैं। किन्तु काव्य मे कोई बात कही नहीं जाती अपितु अभिव्यक्त की जाती है। जब लोकभाषा काव्यार्थप्रत्यायन मे कुण्ठित हो जाती है तब कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो कि अपने लौकिक अर्थ से भिन्न एक नया अर्थ (प्रतीयमान अर्थ) देने लगते हैं, जिसमे एक ऐसा सौन्दर्य होता है जो बलात् परिशीलक के अन्तःकरण को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। यद्यपि यह प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता

तारावती

है वस्तु, अलंकार और रस, तथापि काव्य का आस्वाद्यरूप सौन्दर्य उसके भाव पर ही अधिकृत रहता है। अतः भावानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति ही रमणीयता के आधार का एकमात्र साधन है जिससे किसी भी काव्य को काव्यरूपता प्राप्त हो जाती है। यह भावानुभूति तथा भावाभिव्यक्ति दो रूपों में विभाजित की जा सकती है—मुख्यरूप में तथा अमुख्यरूप में। जो भावात्मक अर्थ कवि का मुख्य अभिव्यङ्ग्य होता है उसी को ध्वनि संज्ञा प्राप्त होती है। वह रस या भाव ही अलंकार्य होता है और उसी के लिए अलंकारों का प्रयोग हुआ करता है। वैसे तो रमणीयता का आधार कोई भी भाव हो सकता है, भाव के माध्यम ही से रमणीयता आस्वाद्य हो जाती है किंतु अलंकारों का प्रयोग उस रमणीयता की अधिकाधिक अभिवृद्धि कर देता है। अतः मुख्यतया प्रतिष्ठित भाव की रमणीयता के अभिवर्धक जितने भी तत्व होते हैं उन्हें ही अलंकार कहा जाता है। ध्वनि-संज्ञा को प्राप्त होनेवाले मुख्य भाव के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भाव भी काव्य में प्रयुक्त होते हैं। ये भाव मुख्य भाव-प्रवण होकर उसके सौन्दर्य को बढ़ाने में निमित्त हो जाते हैं। अतः इन भावों को भी मुख्य अलंकार्य भाव का अलंकरण करने के कारण अलंकार कहा जाता है। उदाहरण के लिए भक्ति काव्य में कवि के अन्तःकरण मे स्थित आराध्य के प्रति प्रेम ही मुख्यतया अभिव्यक्त होकर आस्वादन में निमित्त होता है। भक्त भावावेश में अपने आराध्य के जिन लोकोत्तर कृत्यों का प्रकथन करेगा वे कृत्य अनेक भावनाओं को अभिव्यक्त करनेवाले होंगे। इस प्रकार अभिव्यक्त होनेवाली भावनायें रसरूपिणी भी हो सकती हैं, भावरूपिणी भी और भावों की विभिन्न दशाओं मे सम्बद्ध भी। इस प्रकार की जो भावनायें भक्तगत आराध्यालम्बनात्मक भाव (भक्ति) की अभिवृद्धि करेंगी वे उस भाव का अलंकरण करने के कारण अलंकार ही कहलावेंगी। आशय यह है कि ध्वनिरूप में स्थित रस; भाव या किसी अन्य तत्त्व को सौन्दर्याभिवर्धन के द्वारा अलंकृत करनेवाला रस रसालंकार या रसवदलंकार कहलाता है। यही ध्वनिकार की मान्यता का सार है। इस मान्यता में अलंकार्य और अलंकार के ठीक रूप में विभाजित न किये जाने का भी दोष नहीं आता। क्योंकि स्पष्ट रूप में मुख्यतया अभिव्यङ्ग्य रस इत्यादि अलंकार्य होता है और उसके सौन्दर्यातिशय का सम्पादक रस अलंकार होता है। यह अलंकार वस्तुतः रसालंकार ही होता है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। रसवदलंकार का प्रयोग ध्वनिवादियों ने परम्परा-निर्वाह के मन्तव्य से ही किया है। इस सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए आचार्य कुन्तक ने कुछ नहीं कहा। कुन्तक ने केवल आनन्दवर्धन के दिये हुये उदाहरण का खण्डन किया है। आनन्दवर्धन

तारावती

के सिद्धान्त के विषय में उन्होंने कुछ नहीं कहा। वस्तुतः उदाहरण के सङ्गत न होने से किसी सिद्धान्त का खण्डन नहीं हो जाता। फिर भी उदाहरणों के विषय में कुन्तक ने जो कुछ कहा है उसकी भी एक परीक्षा कर लेना ठीक होगा।

कुन्तक ने 'तन्वीमेव जलार्द्रं.......जातानुतापेव सा' तथा 'तरङ्गभ्रूभङ्गा........सा परिणता' इन दो पद्यों को रसवदलङ्कार का उदाहरण मानकर इनकी रसवदलङ्कारपरक योजना स्वयं की है और उसके खण्डन के लिये जो युक्ति दी है उसका पाठ उच्छिन्न हो गया है। अतः यह ज्ञात नहीं होता कि कुन्तक ने इन पद्यों की रसवदलङ्कारता का खण्डन किस आधार पर किया है। वास्तविकता यह है कि आनन्दवर्धन ने ये उदाहरण रसवदलङ्कार के नहीं दिये हैं अपितु इन पद्यों को यह सिद्ध करने के लिये उद्धृत किया है कि केवल चेतन वस्तु ही रस का विषय बन सकती है। यही कुन्तक ने भी माना है और अपनी बात को सिद्ध करने के लिये आनन्दवर्धन का अतिदेशमात्र कर दिया है। कुन्तक भ्रमवश इन पद्यों को रसवदलङ्कार का उदाहरण समझ गये हैं।

इसके बाद कुन्तक ने आनन्दवर्धन के वास्तविक उदाहरणों पर विचार किया है। पहले 'क्षिप्तोहस्ता....वः शराग्निः' इस उदाहरण पर विचार किया गया है। इस विषय में कुन्तक ने लिखा है—'केवल शब्दसाम्य के आधार पर विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थों का अभ्यास परमात्मा भी नहीं कर सकता। केवल शब्द-साम्य से विरुद्ध धर्मों की एकता की प्रतीति अनुभवविरुद्ध है। यदि इसीप्रकार एकता मानी जाने लगेगी तो 'गुड–खण्ड' शब्द से विषास्वाद भी प्रतीतिगोचर होने लगेगा। दूसरी बात यह है कि यदि शब्दसाम्य से वैसी प्रतीति मानी भी जावे तो भी करुण और शृङ्गार इन दो विरोधी रसों का एकत्र समावेश दोष हो जावेगा। पता नहीं कुन्तक ने यह खण्डन आनन्दवर्धन का किया है या अमरुक का। यदि आनन्दवर्धन का खण्डन है तो अमरुक ने जो 'कामीव' लिखकर शब्दसाम्य के आधार पर उपमा का प्रयोग किया है उसकी क्या व्याख्या होगी? यद्यपि शब्द-साम्य के आधार पर बिम्बग्राही उपमा का प्रयोग नहीं हो सकता और न उपमा उतने अधिक सादृश्य का ही प्रतिपादन कर सकती है, तथापि शब्द पर आधारित उपमा भी सहृदयों के चित्तों की कुछ न कुछ आवर्जक होती ही है। इसमें सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं। इसीलिये महाकवियों के काव्य में भी शब्दसादृश्य पर आधारित उपमा का प्रयोग देखा जाता है। दूसरा आरोप है विरोधी रसों के एकत्र समावेश का। शास्त्रकारों ने शृङ्गार और करुण को परस्पर विरोधी माना है। प्रस्तुत पद्य में इन दोनों रसों का एकत्र

तारावती

समावेश किया गया है । कुन्तक का कहना है कि यह काव्य का दोष है । किन्तु विरुद्ध रसों का एकत्र समावेश वहीं पर दोष होता है जहाँ दो में कोई एक प्रधान हो । जहाँ दोनों रस किसी दूसरे तत्त्व के अङ्ग होने के कारण गौण हो जाते हैं पर उनका परस्पर समावेश ही नहीं होता अतः वह दोष नहीं माना जाता । यहाँ पर भक्त-गत शिवालम्बनक रतिभाव प्रधान है और करुण तथा ईर्ष्याविप्रलम्भ दोनों ही उसके अङ्ग हो रहे हैं । अतः उनका एकत्र समावेश दोष नहीं माना जा सकता । कुन्तक का कहना है कि यहाँ पर साहृश्य का कारण वास्तविक नहीं है, अतः यह दोष है । इस विषय में पहले ही बतलाया जा चुका है कि कवि-परम्परा के अनुसार शब्द-साम्य भी उपमा का प्रयोजक होता है । इस प्रकार इस उदाहरण का कुन्तक द्वारा किया हुआ खण्डन ठीक नहीं है ।

कुन्तक ने दूसरे उदाहरण के खण्डन का उपक्रम करते हुये लिखा है कि 'आलोककार को स्वयं प्रथम उदाहरण से सन्तोष नहीं था और वे अपने प्रतिपादित सिद्धान्त की सङ्गति पूर्णरूप से बैठाना ही चाहते थे । अतः उन्होंने क्रोध में भर कर एक दूसरा उदाहरण दे दिया' किन्तु कुन्तक यहाँ पर यह भूल गये कि आनन्दवर्धन ने 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः ......' यह उदाहरण बाद में दिया है और जिसको कुन्तक दूसरा उदाहरण कहते हैं वह उन्होंने पहले दिया है । अतः यह कहना किसी प्रकार भी सङ्गत नहीं हो सकता कि प्रथम उदाहरण मे अरुचि होने के कारण आनन्दवर्धन ने दूसरा उदाहरण दिया है । दूसरी बात यह है कि आनन्दवर्धन ने दोनों उदाहरणों का क्षेत्र पृथक्-पृथक् रक्खा है । अतः यह कहना कि एक उदाहरण से असन्तुष्ट होकर आनन्दवर्धन ने दूसरा उदाहरण दिया है किसी प्रकार भी ठीक नहीं कहा जा सकता । 'किं हास्येन न मे......... रिपुस्त्रीजनः' यह ध्वन्यालोक का प्रथम उदाहरण है और कुन्तक ने इसे ध्वन्यालोक का दूसरा उदाहरण बतलाया है । आन्दवर्धन ने यह उदाहरण देकर लिखा था कि यहाँ पर करुण रस राजविषयक रतिभाव का अङ्ग हो रहा है । इस पर कुन्तक ने लिखा है—"यहाँ पर करुण रस ही उपपन्न नहीं होता, क्योंकि पतियों के मारे जाने से ही स्त्रियों का वियोग हो ऐसा कोई नियम नहीं है । ऐसा भी हो सकता है कि किसी महापुरुष के प्रताप से आक्रान्त होकर शत्रुजन या उनकी स्त्रियाँ भाग गई हों और इस प्रकार उनका वियोग हो गया हो ।" किन्तु यहाँ पर करुण रस मानने में चमत्कार का आधिक्य है । शत्रुओं के भाग जाने की अपेक्षा शत्रुओं के मारे जाने में राजा के शौर्य का आधिक्य अभिव्यक्त होता है । अतः यहाँ पर प्रवास-विप्रलम्भ न मानकर करुण रस ही माना जाना चाहिये ।

तारावती

दूसरी बात यह है कि यहाँ मुख्य विषय करुण और विप्रलम्भ के निर्णय का नहीं है। यहाँ मुख्य विषय है रस को अलङ्कार सिद्ध करने का। चाहे यहाँ करुण माना जावे चाहे विप्रलम्भ। दोनों में कोई भी रस राजविषयक रतिभाव का अङ्ग ही होकर आया है अतः वह अलङ्कार ही है इसमें सन्देह नहीं। इसके आगे कुन्तक लिखते हैं—"यहाँ पर परिशेष पदवी को करुण रस ही प्राप्त होता है। यहाँ पर विप्रलम्भ शृङ्गार की गन्ध भी नहीं है।" आनन्दवर्धन ने भी यहाँ पर करुण रस ही माना है, विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं, अतः यहाँ पर विप्रलम्भ शृङ्गार का खण्डन अप्रासङ्गिक है। इसके बाद कुन्तक लिखते हैं—"इन दोनों उदाहरणों में करुण रस ही व्यङ्ग्य है, अतः वही प्रधान है। वह (व्यङ्ग्य होने के कारण) राजस्तुति इत्यादि किसी भी चाटूक्ति का अङ्ग नहीं हो सकता।" यहाँ पर कुन्तक इस भ्रम में प्रतीत होते हैं कि जो व्यङ्ग्य होता है वह प्रधान अवश्य होता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। कोई तत्त्व व्यङ्ग्य होकर भी प्रधान नहीं हो सकता और दूसरा तत्त्व वाच्य होकर भी प्रधान हो सकता है। देखना यह होता है कि किसी विशेष स्थान पर मुख्य वर्ण्य विषय क्या है? जो मुख्य वर्ण्य विषय होता है वही प्रधान माना जाता है चाहे वह व्यङ्ग्य हो चाहे वाच्य। इसके प्रतिकूल प्रधानतया वर्ण्यमान उस विषय को पुष्ट करने के लिये जितने भी तत्त्व आते हैं वे सब गौण होकर अलङ्करण करने के कारण अलङ्कार कहे जाते हैं। प्रस्तुत उदाहरणों में यद्यपि करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है तथापि उसका उपादान शिवभक्ति तथा राजविषयक रति में सरसता सम्पादन के मन्तव्य से ही हुआ है। शिवभक्ति तथा राजविषयक रति प्रधानतया वर्ण्यमान होने के कारण अङ्गी है तथा वे ही अलङ्कार्य हैं। करुण रस का अभिव्यञ्जन उन भावों में सरसता सम्पादन के लिये किया गया है। अतः व्यङ्ग्य होते हुये भी करुण रस अलङ्कार के रूप में स्थित है। इस प्रकार आनन्दवर्धन के दोनों उदाहरण समीचीन हैं और कुन्तक ने उनका खण्डन ग्रन्थ के ठीक अभिप्राय को न समझ करके ही किया है।

अब कुन्तक की अपनी परिभाषा पर भी एक दृष्टिपात कर लेना चाहिये। कुन्तक 'रसवत्' शब्द में मतुप् प्रत्यय नहीं मानते अपितु वत् प्रत्यय मानते हैं। यहाँपर पूछना यह है कि 'रसवत्' सभी अलङ्कारों का विशेषण है या रसवत् नाम का कोई एक अलङ्कार होता है? यदि रसवत् शब्द सभी अलङ्कारों का विशेषण माना जावे और यह स्वीकार किया जावे कि रसवत् नाम का कोई एक अलङ्कार नहीं होता तो कुन्तक की प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाती है। ऐसी दशा में 'सः' का वाच्यार्थ (निर्देश्य) क्या होगा? 'यथा स रसवन्नाम' इस कारिका में प्रयुक्त

तारावती

'सः' का वाच्यार्थ क्या होगा ? दूसरी बात यह है कि अन्य आचार्यों ने मतुप् प्रत्यय माना था। उसको छोड़कर वत् मानने से नवीनता क्या आ गई ? क्या 'रस से युक्त अलङ्कार' कहने में वही प्रतीति नहीं होती जो 'रस के समान अलङ्कार' कहने में होती है ? यदि मतुप् मानने में भी वही अर्थ हो सकता है तो प्राचीन आचार्यों की मान्यता का परित्याग करने की क्या आवश्यकता ? तीसरी बात यह है कि कुन्तक के माने हुये 'रसवत्' अलङ्कार को स्वीकार करने में वही आपत्ति उपस्थित हो जाती है जो कुन्तक दूसरों का खण्डन करने के लिये देते थे। इस मत से प्रधान और गुणभाव का विपर्यास हो जाता है। 'रस के समान अलङ्कार' कहने में रस गौण हो जाता है और अलंकार प्रधान हो जाता है जो कि कुन्तक को भी अभीष्ट नहीं है। चौथी बात यह है कि कुन्तक रसवत् अलंकार को 'सर्वालंकारजीवितम्' कहते हैं। इसका आशय यह है कि रस सभी अलंकारों में अलंकारत्व सम्पादित करनेवाला एक तत्त्व है। रस के अभाव में कोई अलङ्कार ही नहीं होता। तब तो यह अलङ्कार की सामान्य परिभाषा में कहा जाना चाहिये न कि रसवत् अलङ्कार के निरूपण के प्रसङ्ग में। इस प्रकार रसवत् शब्द को सभी अलंकारों का विशेषण मानना ठीक नहीं। अब दूसरा पक्ष लीजिये—रसवत् नाम का कोई एक अलंकार होता है। यदि कुन्तक ऐसा मानते हैं तो उनसे पूछा जा सकता है कि आपके मतमें अलंकार क्या होगा और अलंकार्य क्या होगा, तथा शब्द अर्थ की सङ्गति भी आपके मत में क्या होगी ? निस्सन्देह इन प्रश्नों का कुन्तक के पास भी कोई उत्तर नहीं है। अतः कुन्तक की मान्यता भी स्वीकार्य नहीं ठहरती। अत एव ध्वनिकार का मत ही समीचीन सिद्ध होता है कि जहाँ पर वर्ण्य विषय कोई दूसरा हो और वर्ण्य विषय से भिन्न कोई अन्य रस उस वर्ण्य विषय में सरसता-सम्पादन के मन्तव्य से प्रयुक्त किया गया हो वह सरसता-सम्पादक रस मुख्य विषय का अलंकरण करने के कारण अलंकार कहा जाता है। यही रसालंकार का क्षेत्र है।]

यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि अलंकार अलंकार्य से भिन्न होता है। यह बात लोकसिद्ध भी है। (लोक में आभूषण और आभूष्य में भेद हुआ करता है। इसी प्रकार गुण भी गुणी से भिन्न होता है। गुण और अलंकार का व्यवहार तभी न्यायसङ्गत कहा जा सकता है जबकि गुणी और अलंकार्य विद्यमान हो। यह बात (अलंकार और अलंकार्य का भेद) हमारे पक्ष को मानने पर ही (रसवत् अलंकार के विषय में ध्वनिकार की व्यवस्था मानने पर ही) सिद्ध हो सकती है। इन्हीं दो अभिप्रायों को लेकर छठी कारिका का उपक्रम करते हुये वृत्तिकारने लिखा है 'किञ्च'। इस किञ्च में जो समुच्चयार्थक 'च' का प्रयोग किया गया है उसका

ध्वन्यालोकः

किञ्च—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा: मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ६ ॥

ये तमर्थ रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्।

(अनु०) और भी :—

गुण वे माने जाते हैं जो रसरूप उस अङ्गी अर्थ का आश्रय लेते हैं और अलङ्कार कटक इत्यादि के समान अङ्गाश्रित ही माने जाने चाहिये ॥ ६ ॥

(काव्य मे) विद्यमान रहनेवाले उस रस इत्यादि रूप अङ्गी अर्थ का जो आश्रय लेते हैं वे गुण कहे जाते हैं जैसे शौर्य इत्यादि । उसके अङ्ग होते हैं वाच्य-वाचक इत्यादि । जो उनका आश्रय लेते हैं वे अलङ्कार माने जाने चाहिये जैसे कटक इत्यादि ।

लोचन

अलङ्कार्यव्यतिरिक्तश्चालङ्कारोऽभ्युपगन्तव्यः, लोके तथा सिद्धत्वात् . यथा गुणि-व्यतिरिक्तो गुणः । गुणालङ्कारव्यवहारश्च गुणिन्यलङ्कार्ये च सति युक्तः । स चास्मत्पक्ष एवोपपन्न इत्यभिप्रायद्वयेनाह—किञ्चेत्यादि । न केवलमेतावद्युक्तिजातं रसस्याङ्गित्वे, यावदन्यदपीति समुच्चयार्थः । कारिकाप्यभिप्रायद्वयेनैव योज्या । केवलं प्रथमाभिप्राये प्रथमं कारिकार्धं दृष्टान्ताभिप्रायेण व्याख्येयम् । एवं वृत्तिग्रन्थोऽपि योज्यः ॥ ६ ॥

अलङ्कार्य से व्यतिरिक्त अलंकार माना जाना चाहिये क्योंकि लोक में वैसा ही सिद्ध है जैसे गुणी से व्यतिरिक्त गुण। गुण और अलंकार का व्यवहार गुणी और अलंकार्य के होने पर ही सङ्गत होता है । और वह हमारे पक्ष में ही उपपन्न होता है इन दो अभिप्रायों से कहते हैं—किञ्च इत्यादि । रस के अङ्गित्व में केवल इतना ही युक्तिसमूह नहीं है और भी है इस समुच्चय के लिये 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है । कारिका की भी योजना दोनों अभिप्रायों से की जानी चाहिये । केवल प्रथम अभिप्राय में कारिका के पूर्वार्ध की दृष्टान्त के रूप मे व्याख्या की जानी चाहिये।इसी प्रकार वृत्ति ग्रन्थ की भी योजना की जानी चाहिये।

तारावती

आशय यह है कि रस को अङ्गी मानने में हमारे पास केवल इतनी ही युक्तियां नहीं हैं अपितु और भी हैं । कारिका की योजना भी दोनों अभिप्रायों से करनी चाहिये (वे दो अभिप्राय ये हैं—(१) अङ्गी रस तथा गुण और अलंकार में भेद होता है

ध्वन्यालोकः

तथा च—

श्रृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

(अनु०) वह इस प्रकार :—

श्रृङ्गार ही मधुर तथा परम आनन्ददायक रस होता है । श्रृङ्गाररसमय काव्य का आश्रय लेकर माधुर्यगुण अवस्थित होता है ॥ ७ ॥

लोचन

ननु शब्दार्थयोर्माधुर्यादयो गुणाः, तत्कथमुक्तं रसादिकमङ्गिनं गुणा आश्रिता इत्याशङ्क्याह—तथा चेत्यादि । तेन वक्ष्यमाणेन बुद्धिस्थेन परिहारप्रकारेणोपपद्यते

(प्रश्न) शब्द और अर्थ के माधुर्य इत्यादि गुण होते हैं तो यह कैसे कहा कि गुण रस इत्यादि अङ्गी का आश्रय लेते हैं ? यह शङ्का करके (उत्तर) देते हैं— तथा च इत्यादि । अर्थ यह है कि उस आगे कहे जानेवाले बुद्धिस्थ परिहार

तारावती

और (२) गुण और अलंकार का परस्पर भेद) यदि कारिका का केवल प्रथम अभिप्राय ही स्वीकार करना हो अर्थात् केवल यह मानना हो कि कारिका अङ्गी और अङ्ग अथवा रस की ध्वनिरूपना और अलंकाररूपता का भेद दिखलाने के लिये ही लिखी गई है तो कारिका का पूर्वार्ध (गुण और गुणी के भेद को दिखलाने-वाला भाग) दृष्टान्त के अभिप्राय से लिखा हुआ माना जाना चाहिये और उसी रूप में उसकी व्याख्या भी की जानी चाहिये । इसी प्रकार वृत्तिग्रन्थ की भी योजना करनी चाहिये । (इस करिकाका आशय यही है कि जिस प्रकार शूरता सौजन्य विद्या इत्यादि गुण आत्मा में ही विद्यमान रहते हुये उसके उत्कर्ष में कारण होते है उसी प्रकार माधुर्य ओज प्रसाद भी जोकि काव्य-गुण कहे जाते हैं आत्मभूत रस में ही स्थित होकर उसके उत्कर्ष को वढ़ाया करते हैं । इसीप्रकार जैसे वलय केयूर इत्यादि शारीरिक अलंकार शारीरिक शोभा को बढ़ाते हुये आत्मा के उत्कर्ष में कारण होते हैं उसी भाँति अनुप्रास उपमा इत्यादि काव्य के शरीर-स्थानीय शब्द और अर्थ को आभूषित करते हुये रसके उत्कर्षाधान मे कारण होते हैं। जिस प्रकार गुण और गुणी में भेद होता है उसीप्रकार अलंकार और अलंकार्य में भी भेद होता है । जिस प्रकार गुण का कहना तभी सङ्गत हो सकता है जब गुणी विद्यमान हो उसीप्रकार अलंकार की संज्ञा भी तभी गतार्थ हो सकती है जब उसका कोई अलं-कार्य विद्यमान हो । यदि रस को अलंकार मानना है तो उसका कोई अलंकार्य भी मानना होगा। यह अलंकार और अलंकार्य का भेद तभी सङ्गत हो सकता है जबकि

लोचन

चैतदित्यर्थः । शृंगार एवेति । मधुर इत्यत्र हेतुमाह--परः प्रह्लादन इति । रतौ हि समस्तदेवतिर्यङ्नरादिजातिष्वविच्छिन्नैव वासनास्त इति न कश्चित्तत्र तादृग्यो न हृदयसंवादमयः । यतेरपि चमत्कारोऽस्त्येव । अत एव मधुर इत्युक्तम् । मधुरो हि शर्करादिरसो विवेकिनोऽविवेकिनो वा स्वस्थस्यातुरस्य वा झटिति रसनानिपतितस्तावदभिलषणीय एव भवति । तन्मयमिति । स शृङ्गार आत्मत्वेन प्रकृतो यत्र

प्रकार से यह उपपन्न हो जाता है । शृङ्गार एव इति । 'मधुर' इसमें हेतु बतलाते है—'परः प्रह्लादन' इति । रति में समस्त देव तिर्यक् मनुष्य इत्यादि जातियों में अविच्छिन्न वासना होती है इस प्रकार कोई भी ऐसा नहीं होता जिसका हृदय उससे संवाद न खाता हो । यति मे भी चमत्कार होता ही है । अतएव मधुर यह कहा है । मधुर शर्करा इत्यादि रस विवेकी या अविवेकी स्वस्थ या आतुर किसी की भी रसना पर पड़ा हुआ अभिलषणीय हो ही जाता है । 'तन्मयम्' इति । वह शृङ्गार जहाँपर व्यङ्ग्य होने के कारण आत्मा के रूप में

तारावती

पोषक रस को अलंकार माना जावे और मुख्य वर्ण्य विषय को अलंकार्य माना जावे। अतः ध्वनिकार की मान्यता ही निर्दुष्ट तथा स्वीकार्य सिद्ध होती है ॥ ६ ॥

(प्रश्न) जब माधुर्य इत्यादि गुण शब्द और अर्थ-गत ही होते हैं तब आपने यह कैसे कहा कि गुण रस इत्यादि अङ्गी का आश्रय लेते हैं ? (उत्तर) इसी आशङ्का का समाधान करने के लिये सातवीं कारिका लिखी गई है और इसी का उत्तर देने के लिये सातवीं कारिका का उपक्रम करते हुये आलोककार ने लिखा है 'तथा च'। इस 'तथा च' शब्द का अर्थ यह है कि उक्त प्रश्न के समाधान का प्रकार इस समय मेरी बुद्धि मे स्थित है और आगे चलकर उसका कथन मैं स्वयं करूँगा। उसी समाधान के प्रकार से मेरी यह मान्यता प्रमाणित हो जाती है। कारिका मे कहा गया है कि 'शृङ्गार ही मधुर तथा परम आनन्ददायक रस होता है क्योंकि शृङ्गार-रसमय काव्य का आश्रय लेकर ही माधुर्य गुण की प्रतिष्ठा होती है।' इस कारिका मे शृङ्गार को परम आनन्ददायक कहा गया है। यह शृङ्गार को मधुर मानने का एक हेतु है। शृङ्गार परम आनन्ददायक होता है इसमे यही प्रमाण है कि शृङ्गार का स्थायी भाव होता है रति; और देवता, तिर्यक् मनुष्य इत्यादि जितनी भी जातियाँ इस विश्व मे विद्यमान है उन सबकी अविच्छिन्न वासना रति मे होती ही है । इस विश्व मे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसका हृदय रति से मेल न खा जाता हो। रति-वासना किसी संन्यासी के हृदय मे भी चमत्कार का आधान कर ही देती है । इसीलिए शृङ्गार को मधुर कहा गया है । शर्करा इत्यादि मधुररस चाहे ज्ञानी की जबान पर पड़े

ध्वन्यालोकः

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति।

(अनु०) अन्य रसों की अपेक्षा शृङ्गार ही अधिक मधुर होता है क्योंकि वही आनन्द-साधना मे हेतु होता है। शब्द और अर्थ उस मधुर शृङ्गार रस को प्रकाशित करते हैं अतएव काव्य का वह माधुर्य नामक गुण होता है। श्रव्यत्व तो ओजस् मे भी साधारणतया होता है। (अतः यह माधुर्य का लक्षण नहीं हो सकता।)

लोचन

व्यङ्ग्यतया। काव्यमिति शब्दार्थावित्यर्थः। प्रतितिष्ठतीति प्रतिष्ठां गच्छतीति यावत्। एतदुक्तं भवति--वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः। तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरितं मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम्। तस्माद्युक्तमुक्तम् तमर्थमित्यादि। कारिकार्थं वृत्त्याह—शृङ्गार इति। ननु 'श्रव्यं नाति समस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते' इति माधुर्यस्य लक्षणम्। नेत्याह—श्रव्यत्वमिति। सर्वं लक्षणमुपलक्षितम्। ओजसोऽपीति। 'यो यः शस्त्रं' इत्यत्र श्रव्यत्वमसमस्तत्वं चास्त्येवेति भावः॥ ७॥

प्राकरणिक है। 'काव्य' का अर्थ है शब्द और अर्थ। प्रतितिष्ठति का अर्थ है प्रतिष्ठा को प्राप्त होना है। यह कहा गया हो जाता है—वस्तुतः माधुर्य शृङ्गार इत्यादि रस का ही गुण है। वह मधुर रसाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ में उपचरित (लक्षणामूलक प्रयोग) है। मधुर रस की अभिव्यक्ति मे शब्द और अर्थ की समर्थता लक्षण है। इससे ठीक कहा है—'तमर्थम्' इत्यादि। कारिका का अर्थ-वृत्ति के द्वारा बतलाया जा रहा है—शृङ्गार इति। (प्रश्न) माधुर्य का लक्षण 'जो सुनने योग्य हो और जिसमे शब्द अधिक समासगर्भित अर्थ देनेवाले न हों उस (काव्य) को मधुर कहते हैं। (उत्तर देते हैं) नहीं, यह कहते हैं—श्रव्यत्वमिति। सभी लक्षण का उपलक्षण लिया गया। 'ओजस् का भी'। भाव यह है कि—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि में श्रव्यत्व और असमस्तत्व तो है ही॥ ७॥

तारावती

चाहे अज्ञानी की, चाहे स्वस्थ की और चाहे आतुर की, किन्तु यह रस किसी भी व्यक्ति की जबान पर पड़ते ही शीघ्र अभिलषणीय हो ही जाता है। कारिका के 'तन्मय' शब्द का अर्थ है—'वह शृङ्गार ही व्यङ्ग्य होने के कारण आत्मा के रूप मे जहाँ स्वीकार किया गया है उस काव्य का आश्रय लेकर माधुर्य गुण प्रतिष्ठित होता है।' काव्य का अर्थ है शब्द और अर्थ। 'प्रतिष्ठित होता है' का अर्थ है प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इस वाक्य मे यह बात कही गई है कि—वस्तुतः माधुर्य

ध्वन्यालोकः

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥ ८ ॥

विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत् । सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वादिति ।

(अनु०) विप्रलम्भ शृङ्गार और करुण रस में माधुर्य की उत्तरोत्तर अधिकता होती है । कारण यह है कि इन रसों में मन क्रमशः अधिक आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

विप्रलम्भ शृंगार और करुणरसों में तो माधुर्य ही प्रकर्षवाला होता है क्योंकि वे रस सहृदयों के हृदयों को अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित करने में निमित्त होते हैं ।

लोचन

सम्भोगशृङ्गारान्मधुरतरो विप्रलम्भः, ततोऽपि मधुरतमः करुण इति तदभिव्यञ्जनकौशलं शब्दार्थयोर्मधुरतरत्वं मधुरतमत्वं चेत्यभिप्रायेणाह—शृङ्गार इत्यादि । करुणे चेति

सम्भोग शृङ्गार से मधुरतर है विप्रलम्भ, उससे भी मधुरतम है करुण । इस प्रकार शब्द और अर्थ में उनका अभिव्यञ्जन कौशल मधुरतरत्व और मधुरतमत्व होता है इस अभिप्राय से कहते हैं—शृङ्गार इति । 'करुणे च' में च शब्द क्रम को

तारावती

नामक गुण शृङ्गार इत्यादि रसों का ही होता है । औपचारिक रूप में उस मधुर रस को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द और अर्थ के लिए भी 'माधुर्य गुण' इस शब्द का प्रयोग हो जाता है । इस प्रकार शब्द और अर्थ की मधुर शृङ्गार इत्यादि रसों की अभिव्यक्ति-समर्थता ही माधुर्य के नाम से अभिहित की जाती है । यही माधुर्य का लक्षण है । वृत्तिकार ने 'शृङ्गार एव········· गुणः' इन शब्दो मे कारिका का अर्थ ही कर दिया है । (प्रश्न) भामह ने तो माधुर्य का यह लक्षण लिखा है—'जो श्रव्य हो और जिसमे शब्द अधिक समासगर्भित न हों उसे मधुर कहते हैं ।' (उत्तर) यह बात नहीं है । श्रव्यत्व तो ओज मे भी मधुर के समान ही होता है। यहाँ पर 'श्रव्यत्व' का अर्थ है भामह का पूरा लक्षण अर्थात् भामह के बतलाये हुये माधुर्य के दोनों तत्त्व-श्रव्यत्व भी और असमस्तत्व भी । 'ओजस् मे भी होता है' कहने का आशय यह है कि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति············' इत्यादि वेणीसंहार के पद्य मे श्रव्यत्व भी है और असमस्तत्व भी । अतः ओज में भी ये दोनों तत्त्व पाये ही जाते हैं । अतएव भामह का किया हुआ माधुर्य का लक्षण ठीक नहीं हैं ॥ ७ ॥

संभोग शृङ्गार से अधिक मधुर होता है विप्रलम्भ शृंगार और उससे भी अधिक

लोचन

च शब्दः क्रममाह। प्रकर्षवदिति। उत्तरोत्तरं तरतमयोगे नेति भावः। आर्द्रतामिति। सहृदयस्य चेतः स्वाभाविकमनाविष्टत्वात्मकं काठिन्यं क्रोधादिदीप्तरूपत्वं विस्मय-हासादिरागित्वं च त्यजतीत्यर्थः। अधिकमिति। क्रमणेत्याशयः तेन करुणेऽपि सर्वथैव चित्तं द्रवतीत्युक्तं भवति। ननु करुणेऽपि यदि मधुरिमास्ति तर्हि पूर्वकारिकायां शृङ्गार एवेत्येवकारः किमर्थः? उच्यते—नानेन रसान्तरं व्यवच्छिद्यते; अपि त्वात्म-भूतस्य रसस्यैव परमार्थतो गुणा माधुर्यादयः; उपचारेण तु शब्दार्थयोरित्येवकारेण द्योत्यते। वृत्त्यार्थमाह—विप्रलम्भेति ॥ ८ ॥

कहता है। प्रकर्षवत् इति। भाव यह है कि उत्तरोत्तर तर और तम के योग से। 'आर्द्रताम्' इति। सहृदय का चित्त आवेश-रहित काठिन्य, क्रोधादिजन्य दीप्त-रूपत्व और विस्मय हास इत्यादि रागित्व को छोड देता है यह अर्थ है। अधिक-मिति। आशय यह है कि क्रमशः। इससे करुण में भी सभी का चित्त द्रवित हो जाता है यह कह दिया गया है। (प्रश्न) करुण मे भी मधुरिमा होती है तो पहली कारिका मे 'शृङ्गार एव' में एवकार किसलिये है। (उत्तर) कहा जाता है—इससे रसान्तर का व्यवच्छेद नहीं होता। अपितु आत्मभूत रस के ही वस्तुतः माधुर्य इत्यादि गुण होते हैं। उपचार से शब्द और अर्थ मे भी (व्यवहृत किये जाते हैं) यह एवकार से द्योतित किया जा रहा है। वृत्ति के द्वारा अर्थ कहते हैं—विप्रलम्भ इति ॥ ८ ॥

तारावती

मधुर होता है करुण रस। इस प्रकार जिन शब्दों और अर्थों मे उन रसो के अभिव्य-ञ्जन की कुशलता होती है उन शब्दों और अर्थों को (मधुर) मधुरतर और मधुरतम कहा जाता है। (संभोग शृंगार को प्रकाशित करनेवाले शब्द और अर्थ मधुर होते हैं। विप्रलम्भ को प्रकाशित करनेवाले मधुरतर होते हैं और करुण रस को प्रकाशित करनेवाले मधुरतम होते हैं।) इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए यह ८ वीं कारिका लिखी गई है जिसका आशय यह है कि 'विप्रलम्भ नामक शृंगार में तथा करुण रस मे माधुर्य (उत्तरोत्तर) प्रकर्ष को प्राप्त है। क्योंकि इन रसो मे मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है।' 'करुणे च' मे जो च अक्षर का प्रयोग किया गया है वह क्रम को व्यक्त करता है। इस प्रकार इसका अर्थ हो जाता है कि माधुर्य संभोग, विप्रलम्भ तथा करुण में क्रमशः (उत्तरोत्तर) प्रकर्ष को प्राप्त होता है। 'प्रकर्षवत्'-का आशय यह है कि उत्तरोत्तर तर और तम के योग से उनमें प्रकर्ष होता है। अर्थात् विप्रलम्भ मधुरतर और करुण मधुरतम होता है। 'आर्द्रता को प्राप्त हो जाता है' कहने का आशय यह है कि चित्त में स्वाभाविक

तारावती

कठोरता होती है। (भक्ति रसायन मे लिखा है कि चित्त नामक द्रव्य स्वभावतः कठोर होता है ।) जब चित्त मे माधुर्य का सञ्चार होता है तब चित्त अपने आवेश रहित (अन्य भावना के सन्निहित न होने पर) स्वाभाविक काठिन्य का भी परित्याग कर देता है, क्रोध इत्यादि से उत्पन्न दीप्त रूपता का भी परित्याग कर देता है, विस्मय हास इत्यादि से उत्पन्न चित्त की रागावस्था (विस्मय हासादिजन्य विक्षेप) का भी परित्याग कर देता है। 'मन अधिक आर्द्र हो जाता है' इस वाक्य मे अधिक शब्द का अभिप्राय है क्रमशः अधिक आर्द्र हो जाता है। इसका आशय यह हुआ कि करुण रस में भी चित्त सर्वदा (पूर्णरूप से, सबसे अधिक) द्रवित हो जाता है। (प्रश्न) यदि करुण रस मे भी मधुरिमा होती है तो पहली कारिका में 'शृंगार एव' (शृङ्गार में ही) इस 'एव' कार (ही शब्द) का क्या अर्थ हुआ ? (एव शब्द का प्रयोग तीन प्रकार से होता है—विशेष्य के साथ, विशेषण के साथ और क्रिया के साथ। विशेष्य के साथ प्रयोग होने पर उसका अर्थ अन्ययोगव्यवच्छेद होता है अर्थात् उसका विशेषण उसी मे रहता है अन्यत्र नहीं। जैसे 'राम एव कुशलः अस्ति' का अर्थ हुआ राम के अतिरिक्त अन्य कोई कुशल नहीं है। विशेषण के साथ प्रयोग होने पर उसका अर्थ होता है अयोगव्यवच्छेद अर्थात् उस विशेषण का अभाव विशेष्य मे नहीं है। जैसे 'रामः कुशल एवास्ति' का अर्थ हुआ राम में कुशलता का अभाव नहीं है। क्रिया के साथ प्रयोग होने पर उसका अर्थ अत्यन्तायोगव्यवच्छेद होता है अर्थात् विशेष्य मे विशेषण के अत्यन्ताभाव का निषेध कर उससे विशेषण की सत्ता को नियमित कर देता है। जैसे 'चन्द्रः आकर्षको भवत्येव' इस वाक्य मे 'एव' का प्रयोग क्रिया के साथ हुआ है। अतः चन्द्र मे आकर्षकता के अत्यन्ताभाव का निषेधकर उसमें आकर्षकता के सम्बन्ध को नियमित कर देता है। यही बात निम्नलिखित श्लोक मे कही गई है:—

अयोगमन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च ।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः ॥

प्रस्तुत प्रकरण में 'शृंगार एव मधुरः' कहा गया है। यहाँपर एवकार का प्रयोग विशेष्य के साथ किया गया है। अतएव इसका अर्थ अन्ययोगव्यवच्छेद-परक होगा। अर्थात् इसका आशय होगा—'शृंगार से भिन्न अन्य कोई रस मधुर नहीं होता।' किन्तु प्रस्तुत कारिका में कहा गया है कि करुण मधुरतम होता है। यह पूर्वापर-विरोध कैसा ?) (उत्तर) यहाँपर एवकार से रसान्तर का व्यवच्छेद नहीं होता। अपितु इसका आशय यह निकलता है कि परमार्थतः माधुर्य इत्यादि गुण आत्म-स्थानीय रस के ही होते है, औपचारिक रूप में शब्द और अर्थ के लिये

ध्वन्यालोकः

रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥ ९ ॥

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्तीति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते। तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनालङ्कृतं वाक्यम्।

(अनु०) काव्य में रहनेवाले रौद्र इत्यादि रस दीप्ति के द्वारा लक्षित होते हैं। उस दीप्ति को व्यक्त करने में जो शब्द और अर्थ कारण होते हैं उन्हीं का आश्रय लेकर ओजगुण व्यवस्थित होता है' ॥ ६ ॥

निस्सन्देह रौद्र इत्यादि रस बहुत बड़ी दीप्ति अर्थात् उज्ज्वलता को उत्पन्न कर देते है। अतएव लक्षणा से वे रौद्र इत्यादि ही दीप्ति होते है यह कहा जाता है। उस दीप्ति को प्रकाशित करनेवाला शब्द ऐसा वाक्य होता है जिसमे रचना दीर्घसमास से अलंकृत हो।

लोचन

रौद्रेत्यादि। आदिशब्दः प्रकारे। तेन वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्। दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा। सा च मुख्यतया ओजश्शब्दवाच्या।

रौद्र इत्यादि। आदि शब्द प्रकारवाचक है। इससे वीर और अद्भुत का भी ग्रहण हो जाता है। दीप्ति—प्रतिपत्ता के हृदय मे विकास विस्तार और प्रज्वलन-स्वभाववाली होती है और वह मुख्य रूप मे ओज-शब्दवाच्य होती है। उसके

तारावती

भी मधुर शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। (आशय यह है कि एवकार अन्य योग का व्यवच्छेदक होगा। शृंगार से भिन्न एक तो कोई दूसरा रस हो सकता है जिससे शृङ्गार का सजातीय भेद है। एक रस से भिन्न शब्द या अर्थ हो सकता है जिससे रस का विजातीय भेद है। यहाँपर आचार्य का मन्तव्य शृङ्गार के सजातीय भेद से नहीं है अपितु विजातीय भेद से है। 'शृङ्गार के अर्थ मे सामान्यतः शृंगार के समान वृत्ति रखनेवाले सभी रस सन्निविष्ट हो जाते हैं वे ही मधुर होते हैं, शब्द और अर्थ नहीं। किन्तु औपचारिक प्रयोग उनमें भी हो जाता है) वृत्तिकार ने इस कारिका का अर्थ करते हुए लिखा है कि विप्रलम्भ शृंगार और करुण मे माधुर्य ही प्रकर्षवान् होता है क्योंकि सहृदयों के हृदयों को अपनी ओर आकर्षित करने में वे अधिक निमित्त होते हैं ॥ ८ ॥

(नवीं कारिका का अर्थ यह है—'काव्य मे रहनेवाले रौद्र इत्यादि रस दीप्ति के द्वारा पहिचाने जाते हैं। उस दीप्ति गुण की अभिव्यक्ति में निमित्त शब्द और अर्थ का आश्रय लेकर ओज व्यवस्थित होता है।) इस कारिका में 'रौद्र इत्यादि'-गत इत्यादि का अर्थ है रौद्र रस के ढंग के अन्य रस। इस प्रकार इसमे वीर और

लोचन

तदास्वादमया रौद्राद्याः, तया दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपया लक्ष्यन्ते रसान्तरात्पृथक्तया। तेन कारणे कार्योपचारात् रौद्रादिरेवौजःशब्दवाच्यः। ततो लक्षितलक्षणया तत्प्रकाशनपरः शब्दो दीर्घसमासरचनावाक्यरूपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा चञ्चदित्यादि। तत्प्रकाशनपरश्चार्थः प्रसन्नैर्गमकैर्वाचकैरभिधीयमानः समासानपेक्ष्यपि दीप्तिरित्युच्यते। यथा 'यो यः' इत्यादि।

आस्वादमय रौद्र इत्यादि होते हैं। उस आस्वादात्मक कार्यरूप दीप्ति से दूसरे रसों से पृथक् रूप मे प्रतीत होते है। इससे कारण मे कार्य का उपचार होने से रौद्र इत्यादि ही ओजः शब्द वाच्य होते हैं। अतः लक्षितलक्षणा के द्वारा तत्प्रकाशन-परक दीर्घसमास-रचना वाक्यरूप शब्द दीप्ति (होता है) यह कहा जाता है। जैसे चञ्चत् इत्यादि। उसका प्रकाशन-परक अर्थ प्रसन्न और शीघ्र अर्थबोधक वाचकों के द्वारा कहा जाता हुआ समास की विना ही अपेक्षा किये हुये भी दीप्ति यह कहा जाता है। जैसे 'यो यः' इत्यादि।

तारावती

अद्भुत का समावेश हो जाता है। दीप्ति का स्वभाव ही है कि वह पाठकों दर्शकों या श्रोताओं के हृदय को विकसित विस्तृत या प्रज्वलित कर देती है। आशय यह है कि दीप्ति एक ऐसी चित्तवृत्ति को कहते है जिसमें विकास, विस्तार और प्रज्वलन तीनों मिले होते हैं। उसी दीप्ति को मुख्य रूप मे ओज कहा जाता है। उस दीप्ति-रूप चित्तवृत्तिमय रौद्र इत्यादि रस होते हैं अर्थात् रौद्र इत्यादि रस दीप्ति को उत्पन्न किया करते है। रौद्र इत्यादि रस कारण होते हैं। उनसे उत्पन्न होनेवाला आस्वादरूप कार्य ही दीप्ति नामक एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति होता है। बस इसी दीप्तिरूप चित्तवृत्ति के द्वारा रौद्र इत्यादि रस अन्य रसों से पृथक् प्रतीत होते हैं। रौद्र इत्यादि रस कारण होते हैं और ओज उनका कार्य होता है। अत-एव कारण मे कार्य का उपचार होने से रौद्र इत्यादि ही ओजःशब्द से पुकारे जाते है। (दो विभिन्न पदार्थों मे सादृश्य की अधिकता के कारण भेद का स्थगन करना उपचार कहलाता है।)

['त एव दीप्तिरित्युच्यते' इस वृत्तिग्रन्थ मे 'ते' यह विशेष्य है और 'दीप्तिः' यह विशेषण है। व्युत्पत्तिवाद के अनुसार क्रिया विशेष्य के अनुसार ही हुआ करती है। अतः उच्यते इस क्रिया मे बहुवचन का प्रयोग होना चाहिये। किन्तु इति शब्द सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोधक है और उसी इति शब्द के साथ उच्यते का सम्बन्ध है। अतः क्रिया का सामान्यार्थक एकवचन उपपन्न हो जाता है।]

इससे लक्षितलक्षणा के द्वारा उसको प्रकाशित करनेवाले ऐसे शब्द को दीप्ति

ध्वन्यालोकः

यथा—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥

(अनु०) (दीर्घ समासघटकवाक्य रूप शब्द के दीप्ति होने का उदाहरण) जैसे :—'फड़कती हुई भुजाओं द्वारा घुमाई हुई प्रचण्ड गदा के अभिघात से दुर्योधन की दोनों ऊरुओं को एक साथ चूर्णकर आर्द्र तथा गाढ़े शोणित से अपने हाथों को लालकर के हे देवि! यह भीम तुम्हारे केशों को बाँधेगा।'

लोचन

चञ्चदिति। चञ्चद्भ्यां वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चण्डा दारुणा गदा तया योऽभितः सर्वत ऊर्वोर्घातस्तेन सम्यक् चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहतं कृतमूरुयुगुलं युगपदेवोरुद्वयं यस्य तं सुयोधनमनादृत्यैव स्त्यानेनाश्यान-

'चञ्चत्' इत्यादि। चञ्चत् अर्थात् वेगपूर्वक घूमनेवाली भुजाओं से घुमाई हुई जो प्रचण्ड दारुण गदा उसके द्वारा जो सभी ओर से दोनों ऊरुओं का घात उससे ठीक रूप में चूर्ण की गई है अर्थात् न उठने के योग्य नष्ट की गई हैं दोनों ऊरु जिसकी उस सुयोधन को अनादृत कर के स्त्यान अर्थात् घने तथा आर्द्ररूप में

तारावती

कहते हैं जो कि दीर्घसमासरचना-गर्भित वाक्य के रूप में होता है। (लक्षितलक्षणा या लक्षणलक्षणा उसे कहते हैं जिसमें किसी शब्द के वाच्य अर्थ का सर्वथा परित्याग होकर तत्संबद्ध कोई अन्य अर्थ लेलिया जाता है। इसी का दूसरा नाम जहत्स्वार्था है। यहाँ पर ओज शब्द का वास्तविक वाच्य अर्थ है हृदय की दीप्ति। किन्तु इसका प्रयोग रौद्र इत्यादि रसों के लिये भी होता है क्योंकि इनमें जन्य-जनक भाव सम्बन्ध है। जैसे 'आयुर्घृतम्' इस वाक्य में जन्य-जनक भाव सम्बन्ध होने के कारण घीके लिये आयु शब्द का प्रयोग हो जाता है। इसी को उपचार कहते हैं। इसीलिये आचार्य ने रौद्रादि रसों के लिये ओजः शब्द का प्रयोग औपचारिक माना है। दूसरी लक्षणा होती है ओजस् को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द और अर्थ में। यहाँ पर लक्षणा ताटस्थ्य सम्बन्ध मे होती है। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में मञ्चपर बैठे हुये पुरुषों को मञ्च कह देते हैं। इसी प्रकार शब्दों पर और अर्थों पर आधृत दीप्ति नामक चित्तवृत्ति (ओज) का प्रयोग भी शब्दों और अर्थों के लिये हो जाता है। दीप्ति उस शब्द को कहते हैं जिसमे वाक्य के अन्दर दीर्घ समासरचना की गई हो

लोचन

तया न तु कालान्तरशुष्कतयावनद्धं हस्ताभ्यामविगलद्रूपमत्यन्तमाभ्यन्तरतया घनं न तु रसमात्रस्वभावं यच्छोणितं रुधिरं तेन शोणितौ लोहितौ पाणी यस्य सः। अत एव स भीमः कातरत्रासदायी। तवेति। यस्यास्तत्तदपमानजातं कृतं देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तंसयिष्यत्युत्तंसवतः करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणित-शकलैर्लोहितकुसुमापीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा। देवीत्यनेन कुलकलत्र खिली-

कालान्तर शुष्क रूप मे नहीं, अवनद्ध अर्थात् हाथों से न गिरते हुये रूपवाला अत्यन्त अन्दर से लेने के कारण घना रसमात्र स्वभाववाला नहीं इस प्रकार का जो शोणित अर्थात् रुधिर उससे लाल हो गये हैं हाथ जिसके। इसीलिये भीम अर्थात् कातरों को त्रास देनेवाला। 'तव' इति। जिसके वे देवी के अनुचित भी भिन्न-भिन्न बहुत से अपमान किये गये। उन तुम्हारे कचों को उत्तंसवाला कर देंगे अर्थात् चोटीवाला बना देंगे। वेणीभाव को दूर करते हुये हाथ से गिरे हुये रक्तबिन्दुओं से रक्तपुष्पो के आपीड के समान संयोजित कर देंगे यह उत्प्रेक्षा है। 'देवि'

तारावती

और वह रचना दीप्ति को व्यक्त करती हो।) जैसे 'चञ्चद्भुजभ्रमित'……इत्यादि पद्य मे दीर्घ समास के द्वारा दीप्ति की उत्पत्ति होती है।' उस दीप्ति को प्रकाशित करनेवाले अर्थ को भी दीप्ति कहते हैं जिसका एकदम अर्थ को समर्पित करनेवाले शब्दो के द्वारा अभिधान किया गया हो और जिसके लिये दीर्घसमास की भी अपेक्षा न हो जैसे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादि पद्य। अत्र 'चञ्चद्भुज भ्रमित……' इत्यादि उदाहरण को लीजिये चञ्चत् शब्द भुज का विशेषण है और भ्रमित तथा चण्ड शब्द गदा के विशेषण हैं। आशय यह है कि चञ्चत् अर्थात् वेग के साथ लहराती हुई बाहुओं के द्वारा घुमाई हुई प्रचण्ड अर्थात् दारुण गदा से जो चारों ओर से ऊरुओं के ऊपर घात है उस घात के द्वारा एक साथ सुयोधन के दोनो ऊरुदेश चूर्ण हो जावेंगे अर्थात् उनमे पुनः उठने की शक्ति नहीं रह जावेगी। इस प्रकार के सञ्चूर्णित ऊरुओंवाले सुयोधन का अपमान कर आर्द्रतापूर्वक बंधे हुये गाढे रक्त से लाल हाथोवाला भीम हे देवि तुम्हारे कचों को शृङ्गारित करेगा। स्त्यान का अर्थ है आर्द्र। भीम के हाथ आर्द्र रक्त से ही सने हुये होंगे, समय के व्यतीत होने की शुष्कता उनमें नहीं आई होगी। 'बंधे हुये' रक्त कहने का आशय यह है कि गाढ़ा होने के कारण रक्त हाथो में ही सीमित होगा; हाथों से टपक नहीं रहा होगा। गाढ़ा रक्त कहने का आशय यह है कि दुर्योधन का रक्त बिल्कुल अन्दर की नसों से निकाला गया होगा ऊपर ऊपर केवल रस के स्वभाव में ही स्थित रक्त नहीं लेलिया गया होगा। उसी रक्त से भीमके दोनों हाथ लाल हो

लोचन

कारस्मरणकारिणा क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्वं कृतमिति नात्र शृङ्गारशङ्का कर्तव्या। सुयोधनस्य चानादरणं द्वितीयगदाघातदानानुद्यमः । स च सञ्चूर्णितोरुत्वादेव। स्त्यानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रक्षालने त्वरा सूचिता । समासेन च सन्ततवेगवहन-स्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमलभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता-प्रतीतिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका। अन्ये तु सुयोधनस्य संबन्धि यत्स्त्यानावनद्धं घनं शोणितं तेन शोणपाणिरिति व्याचक्षते ।

इस सम्बोधन के द्वारा कुलवती के कलत्रत्व को व्यर्थ करने का स्मरण करानेवाले (कार्यों के) द्वारा क्रोध का ही उद्दीपनविभावत्व (सम्पादित) किया गया है । अतः यहाँपर शृङ्गार की शङ्का नहीं करनी चाहिये । सुयोधन का अनादर गदा के द्वितीय प्रहार का अनुद्यम है और ऊरुओं के चूर्ण होने से ही (होता है) । 'स्त्यान' के ग्रहण से द्रौपदीमन्यु प्रच्छालन में शीघ्रता सूचित की गई है और समास के द्वारा निरन्तर वेगपूर्ण प्रवाहित होने का स्वभाव होने से मध्य में उतने से ही विश्रान्ति को प्राप्त होते हुये चूर्ण की हुई दोनों ऊरुओंवाले सुयोधन के अनादर पर्यन्त प्रतीति एकरूप मे ही होती है इस प्रकार औद्धत्य की बहुत अधिक पोषिका है । दूसरे लोग तो सुयोधन से सम्बद्ध जो ताजे रूप में अवनद्ध घना रक्त उससे लाल हाथोंवाले यह व्याख्या करते है ।

तारावती

जावेंगे । भीम शब्द के प्रयोग से व्यञ्जना निकलती है कि भीम कातरों को त्रास देने वाले हैं अर्थात् भीम इतने अधिक भयानक हैं कि वीर से वीर व्यक्ति उनका विरोधी होकर कातर होजाता है और त्रास को अनुभव करने लगता है। 'तव' का व्यङ्ग्यार्थ है–'तुम वही हो जिसके अनेक प्रकार के ऐसे-ऐसे अपमान किये गये जो देवी पद पर अभिषिक्त किसी रमणी के लिये सर्वथा अनुचित थे । वही तुम हो, मैं तुम्हारे केशों को उत्तंसित करूँगा अर्थात् उत्तंसवाला बना दूँगा । उत्तस का अर्थ है शिरोभूषण । आशय यह है कि तुम्हारे केशो की इस एकवेणीरूपता को दूर कर मैं प्रसाधित कर दूंगा । उस समय मेरे हाथ से गिरे हुये रक्त कण ऐसे शोभित होने लगेंगे मानो केशों का संयोजन कुसुमों के गुच्छों से किया गया हो । इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षालंकार अभिव्यक्त होता है।यहाँ पर सम्बोधन मे हे देवि यह शब्द प्रयुक्त किया गया है।यह शब्द कुलवधू के कुलवधूत्व रूप को व्यर्थ करने के विभिन्न उद्यमों को स्मरण करा देता है । इस प्रकार यह क्रोध का ही उद्दीपन विभाव बन जाता है । इस प्रकार यहाँ पर शृङ्गार की शङ्का नहीं करनी चाहिये । 'सुयो-धनस्य' में षष्ठी 'षष्ठी चानादरे' इस पाणिनि सूत्र से अनादर अर्थ मे हुई है। सुयोधन

ध्वन्यालोकः

तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्न वाचकाभिधेयः ।

यथा—

यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम् ।
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवयाः गर्भशय्यां गतो वा ॥
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः ।
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम् ।

(अनु०) उस ओज को प्रकाशित करनेवाला अर्थ दीर्घ समास रचना की विना अपेक्षा किये हुये प्रसन्न (शीघ्र अर्थ समर्पक) शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता है । जैसे :—

'पाण्डवों की सेना में अपने भुजबल के अधिक अभिमान से परिपूर्ण जो-जो व्यक्ति शस्त्र धारण करता है; पाञ्चालों के वंश में जो कोई बालक है, अधिक आयु-वाला है अथवा गर्भशय्या में ही विराजमान है; जो कोई उस द्रोणवध रूप कर्म का साक्षी है अथवा मेरे युद्ध भूमि मे विराजमान होने पर जो कोई विरुद्ध रूप में आता है; चाहे वह सारे विश्व का ही संहारक क्यो न हो मैं क्रोधान्ध होकर उसका अन्त कर सकता हूँ ।'

इत्यादि उदाहरणो से दोनों (शब्द और अर्थ) ओज का रूप धारण करते हैं ।

तारावती

के अनादर का आशय यही है कि मैं एक गदा मे ही उसकी ऊरुओं को चूर्ण कर दूँगा, दूसरी बार गदा प्रहार की मुझे आवश्यकता नहीं पड़ेगी । वह इसीलिये होगा कि ऊरु 'चूर्ण' हो जावेगी । 'स्त्यान' (आर्द्र) कहने से द्रौपदी के शोक-मिश्रित क्रोध के भाव को प्रक्षालित करने की शीघ्रता अभिव्यक्त होती है । समास का स्वभाव ही होता है निरन्तर वेग में प्रवाहित होना । अतः उतने मे ही (मध्यवर्ती किसी घटना में ही) विश्रान्ति को न प्राप्त कर दोनों चूर्णित ऊरुओंवाले सुयोधन के अनादरपर्यन्त प्रतीति एकरूप में ही हो जाती है । इस प्रकार यह प्रतीति औद्धत्य की अत्यन्त परिपोषक है । कुछ लोग 'सुयोधनस्य' में सम्बन्ध मे षष्ठी मानकर यह अर्थ करते है—'दुर्योधन का जो आर्द्र और गाढा रक्त उससे लाल हाथोंवाला यह भीम ।' (किन्तु यह अर्थ लोचनकार को मान्य नहीं है क्योंकि 'शोणित' शब्द समास के अन्दर आ गया है अतः उसका 'सुयोधनस्य' से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता । व्याकरण का नियम है—'जो शब्द किसी दूसरे शब्द से सम्बद्ध हों उनका समास नहीं होता और जिनका समास हो चुका हो

लोचन

य इति। स्वभुजयोर्गुरुमदो यस्य चमूनां मध्येऽर्जुनादिरित्यर्थः पाञ्चालराजपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन द्रोणस्य व्यापादनात्तत्कुलं प्रत्यधिकः क्रोधावेशोऽश्वत्थाम्नः। तत्कर्मसाक्षीति कर्णप्रभृतिः। रणे सङ्ग्रामे कर्तव्ये यो मयि यद्विषये प्रतीपं चरति समरविघ्नमाचरति। यद्वा मयि चरति सति सङ्ग्रामे यः प्रतीप प्रतिकूलं कृत्वास्ते स एवं विधो यदि सकलजगदन्तको भवति तस्याप्ययमन्तकः किमुतान्यस्य मनुष्यस्य देवस्य वा। अत्र पृथग्भूतैरेव क्रमाद्विमृश्यमानैरर्थैः पदात्पदं क्रोधः परां धारामाश्रित इत्यसमस्ततैव दीप्तिनिबन्धनम्। एवं माधुर्यदीप्ती परस्परप्रतिद्वन्द्वितया स्थिते शृङ्गारादिरौद्रादिगते इति प्रदर्शयता तत्समावेशवैचित्र्यं हास्यभयानकबीभत्सशान्तेषु दर्शितम्। हास्यस्य शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यं प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोऽपि प्रकृष्टमिति साम्यं द्वयोः। भयानकस्य भयचित्तवृत्तिस्वभावत्वेऽपि विभावस्य दीप्ततया ओजः प्रकृष्टं माधुर्यमल्पम्। बीभत्सेऽप्येवम्। शान्ते तु विभाववैचित्र्यात्कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिन्माधुर्यमिति विभागः॥ ९॥

य इति। दोनों सेनाओं के मध्य मे अपनी भुजाओं का गुरुमद है जिसको अर्थात् अर्जुन इत्यादि। पाञ्चालराज-पुत्र धृष्टद्युम्न के द्वारा द्रोण के मारे जाने से उसके वंश के प्रति अश्वत्थामा का अधिक अधिक क्रोधावेश है।उस कर्म को देखनेवाला कर्ण इत्यादि। रण अर्थात् संग्राम मे विचरण करते हुये जो मुझमें अर्थात् मेरे विषय मे विपरीत आचरण करता है अर्थात् समर विघ्न का आचरण करता है। अथवा संग्राम में मेरे विचरण करने पर जो प्रतीप अर्थात् प्रतिकूलरूप मे वर्तमान होता है वह यदि समस्त जगत् का अन्तक होवे उसका भी मैं अन्तक हूँ किसी दूसरे मनुष्य या देव का कहना ही क्या? यहाँ पर पृथग्भूत तथा क्रमशः विमर्श किये जानेवाले अर्थो से एक पद से दूसरे पद मे क्रोध बहुत बड़ी धारा को प्राप्त हो गया है इस प्रकार असमस्तता ही दीप्ति में हेतु है।

इस प्रकार माधुर्य और दीप्ति परस्पर विरोधी रूप मे स्थित शृंगार इत्यादि और रौद्र इत्यादि में रहनेवाले (होते हैं) यह प्रदर्शित करते हुये उनके समावेश वैचित्र्य को हास्य भयानक बीभत्स और शान्त रसों मे (भी) दिखला दिया। शृंगार का अंग होने के कारण हास्य मे माधुर्य प्रकृष्ट होता है और विकाशधर्मा होने के कारण ओज भी प्रकृष्ट ही होता है। इस प्रकार दोनों का साम्य है। डूबी हुई चित्तवृत्ति के स्वभाववाला होते हुये भी भयानक मे विभाव के दीप्त होने से ओज का प्रकर्ष होता है और माधुर्य अल्प होता है। बीभत्स में भी ऐसा ही होता है। शान्त में तो विभाव के विचित्र होने से कदाचित् ओज का प्रकर्ष होता है और कदाचित् माधुर्य का। बस यही (गुणों का) विभाजन है॥ ९॥

तारावती

उनका दूसरे शब्दों से सम्बन्ध नहीं होता।' यदि किसी-न-किसी प्रकार 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' की भाँति सम्बन्ध षष्ठी का यहाँ समर्थन किया भी जावे तो भी अनादर की व्यञ्जना नहीं होगी जोकि प्रस्तुत प्रकरण के अनुकूल है।)

अब दूसरा उदाहरण लीजिये जिसमें समास की बिना अपेक्षा किये हुये अर्थ ही ओजरूप होता है—यह पद्य भी वेणीसंहार से ही लिया गया है और अश्वत्थामा का वचन है। द्रोणाचार्य के मारे जाने का समाचार सुनकर अश्वत्थामा उत्तेजना में भरकर कह रहे हैं—पाण्डवों की सेना में अपनी दोनों भुजाओं का जिसको बहुत बड़ा मद हो अर्थात् अर्जुन इत्यादि (यहाँपर प्रत्येक से 'मैं उसका अन्तक हूँ' यह वाक्य जुड़ जावेगा।) 'पाञ्चालगोत्र में जो कोई बचा हो, अधिक आयु-वाला हो अथवा अभी गर्भशय्या में ही विराजमान हो मैं उन सबका अन्त कर दूँगा।' यहाँ पर पाञ्चालगोत्र के प्रति अधिक क्रोध दिखलाया गया है। इसका कारण यही है कि पाञ्चालराजपुत्र धृष्टद्युम्न ने ही द्रोण का वध किया था। अतएव अश्वत्थामा का क्रोध उनके प्रति अधिक होना स्वाभाविक ही है। जो भी उस कर्म (द्रोणवध) का साक्षी है अर्थात् कर्ण इत्यादि। युद्ध करने में जो मेरे विषय मे अर्थात् मेरे प्रतिकूल आचरण करता है अर्थात् मेरे युद्ध करने में विघ्न डालता है। अथवा युद्ध मे मेरे विचरण करने पर जो प्रतिकूलता ग्रहण कर स्थित होता है, वह इस प्रकार का व्यक्ति यदि समस्त विश्व का अन्तक भी हो उसका भी मैं अन्तक हूँ; किसी और मनुष्य अथवा देवता का तो कहना ही क्या? यहाँ पर पृथक्-पृथक् पदों से क्रम-क्रम से अर्थात् रुक-रुक कर वक्ता के द्वारा विचारे गये अर्थों से एक पद से दूसरे पद मे क्रोध एक बहुत बड़ी धारा का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार इस उदाहरण मे समास का न होना ही दीप्ति को प्रकट करने मे हेतु है। इस प्रकार यहाँपर यह दिखलाया गया है कि परस्पर विरोधी रूप में स्थित माधुर्य और दीप्ति गुण क्रमशः श्रृङ्गार इत्यादि और रौद्र इत्यादि रसो मे रहते है। इस बात को प्रदर्शित करते हुये यह भी दिखला दिया है कि हास्य भयानक बीभत्स और शान्त मे उनका समावेश किस विलक्षणता के साथ होता है। हास्य श्रृङ्गार का अंग होता है। अतः उसमें माधुर्य का प्रकर्ष होता है। दूसरी ओर वह विकासधर्मा भी होता है। अतः ओज का भी उसमें प्रकर्ष होता है। इस प्रकार हास्य मे माधुर्य तथा ओज की समान मात्र मे स्थिति होती है। भयानक मे यद्यपि आश्रय की चित्तवृत्ति डूब जाती है तथापि उसमे विभाव (आलम्बन और उद्दीपन दोनों) प्रदीप्त रूप में होते हैं। अतः उसमें ओज प्रकृष्ट रूप में होता है और माधुर्य अल्पमात्रा मे होता है। बीभत्स मे भी यही बात

ध्वन्यालोकः

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥ १० ॥

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। स च सर्वरससाधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।

(अनु०) सब रसों के प्रति काव्य का जो एक समर्पकत्व गुण होता है, उसे ही प्रसाद कहते हैं; इसकी क्रिया सर्वसाधारण होती है ॥ १० ॥

प्रसाद का अर्थ है शब्द और अर्थ की स्वच्छता। यह गुण सर्वसाधारण रूप में रहता है और इसकी स्थिति सर्वसाधारण रूप में सभी रचनाओं मे होती है। इसको मुख्य रूप से व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही स्थित होनेवाला समझना चाहिये।

लोचन

समर्पकत्वं सम्यगर्पकत्वं हृदयसंवादेन प्रतिपत्तॄन् प्रति स्वात्मावेशेन व्यापारकत्वं शुष्ककाष्ठाग्निदृष्टान्तेन। अकलुषोदकदृष्टान्तेन च तदकालुष्यं प्रसन्नत्वं नाम सर्वरसानां गुणः। उपचारात्तु तथाविधे व्यङ्ग्येऽर्थे यच्छब्दार्थयोः समर्पकत्वं तदपि प्रसादः। तमेव व्याचष्टे-प्रसादेति।

समर्पकत्व का अर्थ है ठीक रूप में अर्पण करना अर्थात् सूखे काष्ठ मे अग्नि के दृष्टान्त से प्रतिपत्ताओं के प्रति अपने आवेश के द्वारा शीघ्र ही क्रियाशील हो जाना। और अकलुषित जल के दृष्टान्त से वह अकालुष्य अर्थात् प्रसन्नत्व सब रसों का गुण है। उपचार से तो उस प्रकार के व्यंग्य अर्थ मे जो शब्द और अर्थ का समर्पकत्व वह भी प्रसाद है। उसी की व्याख्या करते हैं—प्रसादेति।

तारावती

होती है। शान्त में विभाव विचित्र प्रकार का (भिन्न-भिन्न रूप का) होता है। अतः उसमें कभी ओज का प्रकर्ष होता है और कभी माधुर्य का। रसों मे गुणों की स्थिति का यही विषय-विभाग है ॥ ६ ॥

'काव्य का सब रसों के प्रति जो एक समर्पकत्व गुण होता है उसे ही प्रसाद कहते हैं। इसकी क्रिया सब रसों के प्रति सर्वसाधारण होती है।' यह है कारिका का अर्थ। इसमें समर्पकत्व शब्द का प्रयोग किया गया है इसका अर्थ है ठीक रूप में अर्पण करदेने का गुण। इसका आशय यह है कि परिशीलकों के प्रति उनके हृदय से मेल खा जाने के द्वारा एक दम अपने स्वरूप का आवेश करते हुये प्रभावशालितारूप क्रिया को उत्पन्न कर देना। (कहने का अभिप्राय यह है सभी प्रकार के काव्यों में एक ऐसा गुण विद्यमान होना चाहिये कि काव्य सहृदय पाठकों, दर्शकों और श्रोताओं के हृदय से मेल खा जावे और अपनी आत्मा अथवा

लोचन

ननु रसगतो गुणस्तत्कथं शब्दार्थयोः स्वच्छतेत्याशङ्क्याह—स चेति। च शब्दोऽवधारणे। सर्वरससाधारण एव गुणः। स एव च गुण एवंविधः। सर्वा येयं रचना शब्दगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारणः। मुख्यतयेति। अर्थस्य तावत्समर्पकत्वं व्यङ्ग्यं प्रत्येव संभवति नान्यथा। शब्दस्यापि स्ववाच्यार्पकत्वं नाम कियदलौकिकं येन गुणः स्यादिति भावः। एवं माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण। ते च प्रतिपत्त्रास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम् ॥१०॥

(प्रश्न) जब रसगत गुण होता है तो शब्द और अर्थ की स्वच्छता कैसी ? इस शंका का उत्तर दे रहे हैं—'स च इति'। 'च' शब्द अवधारण अर्थ में है। सर्वरससाधारण ही गुण है और वही गुण सर्वरससाधारण है। यह सभी जो रचना है वह शब्दगत और अर्थगत समस्त और असमस्त उन सब में (यह प्रसाद गुण) साधारण है। मुख्यतया इति। भाव यह है अर्थ का समर्पकत्व तो व्यंग्य के प्रति ही होता है अन्यथा नहीं। शब्द का भी अपने वाच्य का समर्पकत्व कितना अलौकिक है जो गुण माना जावे। इस प्रकार माधुर्य ओज और प्रसाद ये तीन गुण ही भामह के अभिप्राय से उपपन्न होते हैं। वे प्रतिपत्ता (सहृदय) के आस्वादमय होते हैं। उससे आस्वाद्य रस मे उपचरित होते हैं उससे उनके व्यञ्जक शब्द और अर्थ में भी (उपचरित होते हैं) यह तात्पर्य है॥ १० ॥

तारावती

स्वरूप का सञ्चार एकदम सहृदयों में कर दे। इसी गुण को प्रसाद गुण कहते हैं।) यह इसी प्रकार होता है जिस प्रकार सूखे काष्ठ मे आग एकदम व्याप्त हो जाती है अथवा जिस प्रकार साफ धुले हुये कपड़े के तार-तारको पानी एकदम पकड़ लेता है। यह अकालुष्य, अथवा स्वच्छता का ऐसा गुण जिससे काव्य हृदय को एकदम आक्रान्त कर लेता है, सभी रसों का गुण होता है। सादृश्य सम्बन्धिनी लक्षणा (उपचार) के आधार पर उस व्यंग्यार्थ को शीघ्र समर्पित करने की शब्द और अर्थ की जो विशेषता होती है उसे भी प्रसाद कहते हैं। इसीलिये वृत्तिकारने प्रसाद का अर्थ किया है शब्द और अर्थ की स्वच्छता।

(प्रश्न) जब गुण रसगत माना जाता है तब यह कहने का क्या आशय है कि स्वच्छता शब्दगत और अर्थगत होती है।

(उत्तर) 'और वह गुण सर्वरससाधारण होता है।' (वृत्ति) यहाँपर 'और' शब्द अवधारण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अवधारण का अर्थ है निश्चय करना। यह निश्चय दो प्रकार से किया गया है—(१) यह गुण सभी रसों मे ही सामान्य-

तारावती

तया रहता है (शब्द और अर्थ में नहीं ।) (२) यही गुण सभी रसों में सामान्यतया रहता है (माधुर्य और ओज नहीं ।) यह गुण सभी प्रकार की रचनाओं में भी साधारणतया रहता है । इसका आशय यह है कि यह गुण शब्द में भी रहता है, अर्थमें भी रहता है, समासगर्भित रचना में भी रहता है, समासरहित रचना मे भी रहता है । इस प्रकार यह गुण सर्वसाधारण है। 'मुख्यतया गुण व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही माने जाने चाहिये ।' इस कथन का आशय यह है कि अर्थ की समर्पकता तो व्यङ्ग्यार्थ के प्रति ही हो सकती है अन्य प्रकार से हो ही नहीं सकती। शब्द में समर्पकता का गुण वाच्यार्थ को शीघ्रातिशीघ्र समर्पित करने के रूप में भी हो सकता है । किन्तु यह कोई अलौकिक बात नहीं है अर्थात् सभी शब्दों से यह तो आशा की ही जाती है कि वे अपना अर्थ प्रकट कर दें । अतः शब्दों की इस विशेषता को गुण का नाम देदेना उचित नहीं । (अतएव शब्दगत प्रसाद गुण का भी यही आशय है कि शब्द शीघ्र ही व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करदे) इस प्रकार भामह के अभिप्रेत तीन गुण ही उपपन्न होते हैं-माधुर्य, ओज और प्रसाद । (वामन दण्डी इत्यादि के माने हुये १० गुण सिद्ध नहीं होते ।) ये गुण मुख्यतया प्रतिपत्ता की द्रुति दीप्ति तथा प्रसाद रूपिणी आस्वादमयी चित्तवृत्तियों के ही वाचक होते हैं । इसी से उनका औपचारिक प्रयोग उन-उन चित्तवृत्तियों द्वारा आस्वाद्य रस में भी होता है । फिर उन रसों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द और अर्थ में भी उनका लाक्षणिक प्रयोग ही होता है । यही प्रस्तुत प्रकरण का तात्पर्य है ॥ १० ॥

(ऊपर काव्यमे गुणों की स्थिति पर प्रकाश डाला गया है । आचार्यों ने गुणों पर अधिकतर रीतियों और वृत्तियों के सम्बन्ध में ही विचार किया है । अतः गुणों पर ठीक रूप में विचार करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि रीतियों और वृत्तियों को भी समझा जावे । ध्वनि-कार तथा उनके व्याख्याताओं ने वृत्तियों और रीतियों पर तृतीय उद्योत में विचार किया है । अतः वहीं पर गुणों के विषय में भी विस्तृत विवेचन किया जावेगा)

इस प्रकार यहाँ तक यह दिखलाया जा चुका कि विभाग-व्यवस्था के साथ गुण तथा अलङ्कार का व्यवहार हमारे पक्ष में ही ठीक हो सकता है । अब यह दिखलाया जा रहा है कि नित्यदोष और अनित्यदोष की विभाग-व्यवस्था भी रस-विषयक हमारी मान्यता के स्वीकार कर लेने पर ही सङ्गत हो सकती है । इसी मन्तव्य से यह ११ वीं कारिका लिखी गई है । (भामह ने वाणी के चार दोष माने थे-श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट :—

ध्वन्यालोकः

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥ ११ ॥

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्येऽर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किं तर्हि? ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्। एवमसंलक्ष्यक्रमद्योत्यो ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन।

(अनु०) और जो श्रुतिदुष्ट इत्यादि अनित्य दोष दिखलाये गये हैं वे ध्वन्यात्मक श्रृङ्गार में ही त्याज्य के रूप में उदाहृत किये गये हैं ॥ ११ ॥

जो श्रुतिदुष्ट इत्यादि अनित्य दोष सूचित किये गये हैं वे भी केवल वाच्यार्थ में नहीं होते, शृंगार से व्यतिरिक्त किसी अन्य व्यंग्यार्थ मे भी नहीं होते, ऐसे शृङ्गार में भी नहीं होते जो ध्वनि की आत्मा के रूप मे स्थित न हो। तो होता क्या है? यह बतलाया गया है कि ध्वन्यात्मक शृङ्गार मे ही अर्थात् अङ्ग के रूप में स्थित व्यङ्ग्य शृङ्गार मे ही उनका परित्याग किया जाना चाहिये। अन्यथा उनकी अनित्यता दोपता ही न बने। इस प्रकार सामान्य रूप से ध्वनि की आत्मा दिखलाई गई जिसका प्रकाशन अलक्ष्यक्रम रूप मे होता है।

लोचन

एवमस्मत्पक्ष एव गुणालङ्कारव्यवहारो विभागेनोपपद्यते इति प्रदर्श्य नित्यानित्यदोषविभागोऽप्यस्मत्पक्ष एव सङ्गच्छत इति दर्शयितुमाह—श्रुतिदुष्टादय इत्यादि। वान्तादयोऽसभ्यस्मृतिहेतवः श्रुतिदुष्टाः। अर्थदुष्टा वाक्यार्थबलादश्लीलार्थ-प्रतिपत्तिकारिणः। यथा—'छिद्रान्वेषी महाँस्तब्धो घातायैवोपसर्पति' इति। कल्पनादुष्टास्तु द्वयोः पदयोः कल्पनया। यथा 'कुरु रुचिम्' इति क्रमव्यत्यासे। श्रुतिकष्टस्तु अधाक्षीत् अक्षोत्सीत् तृणेढि इत्यादि। शृङ्गार इत्युचितरसोपलक्षणार्थम्। वीरशान्ताद्भुतादावपि

इस प्रकार हमारे पक्ष में ही गुण और अलङ्कार का व्यवहार विभाग के रूप मे सङ्गत होता है यह दिखलाकर नित्यानित्य दोप-विभाग भी हमारे ही पक्ष मे संगत होता है यह दिखलाने के लिये कहते हैं—श्रुतिदुष्टादय इत्यादि। वान्त इत्यादि असभ्य स्मृति में हेतु होते हैं। श्रुतिदुष्ट और अर्थदुष्ट वाक्यार्थ बल पर अश्लील अर्थ की प्रतिपत्ति करनेवाले होते हैं। जैसे—'छिद्र का अन्वेपण करनेवाला महान् स्तब्ध घात के लिये ही निकट जाता है' यह। कल्पनादुष्ट तो दोनो पदों की कल्पना से। जैसे 'कुरु रुचिम्' यहाँपर क्रम बदल देने से। श्रुतिकष्ट तो अधाक्षीत्, अक्षोत्सीत्, तृणेढि इत्यादि में। शृंगार यह उचित रस के उपलक्षण के लिये (कहा गया है)। वीर शान्त और अद्भुत में भी उनका वर्जन (उचित)

लोचन

तेषां वर्जनात्। सूचिता इति। न त्वेषां विषयविभागप्रदर्शनेनानित्यत्वं भिन्नवृत्तादिदोषेभ्यो विविक्तं प्रदर्शितम्। नापि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तत्वम्। बीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्माभिरुपगमात् शृङ्गारादौ च वर्जनादनित्यत्वं च दोषत्वं च समर्थितमेवेति भावः॥११॥

होने से। सूचिता इति। भाव यह है कि (भामह के द्वारा) इनका विषय-विभाग प्रदर्शन के द्वारा अनित्यत्व और भिन्नवृत्त इत्यादि दोषों से पृथक्त्व नहीं दिखलाया गया। गुणों से व्यतिरिक्तत्व नहीं (दिखलाया गया)। बीभत्स हास्य और रौद्र इत्यादि में इनके उपगम से और शृंगार इत्यादि में वर्जन से अनित्यत्व और दोषत्व का समर्थन हम लोगों के द्वारा किया गया॥ ११॥

तारावती

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्॥

वान्त (कै) इत्यादि असभ्य अर्थ का स्मरण कराने में जो हेतु होते हैं उन्हें श्रुतिदुष्ट दोष कहते हैं। अर्थदुष्ट उन्हें कहते हैं जो कि वाक्यार्थ के बल पर अश्लील अर्थ की प्रतिपत्ति करानेवाले हों। जैसे 'छिद्र का अन्वेषण करनेवाला महान् स्तब्ध घात के लिये ही निकट आता है।' (राजवर्णन में इसका अर्थ यह है कि शत्रु के दोषों को ढूंढनेवाला अत्यन्त दृढ व्यक्ति हत्या करने के लिये ही निकट आता है। यहाँपर छिद्र स्तब्ध और घात इन शब्दों से एक अश्लील अर्थ की ओर सङ्केत होता है। छिद्र से योनि, स्तब्ध से पुरुष के उपस्थ की कठोरता और घात से सुरतकालीन आघात की व्यञ्जना होती है। अतः यहाँपर अर्थदुष्ट दोष है।) दो पदों की कल्पना अर्थात् उलट-फेर के द्वारा जो दोष आ जाता है उसे कल्पनादुष्ट कहते हैं। जैसे 'कुरु रुचिम्' इन शब्दों के पौर्वापर्य में परिवर्तन कर लेने से 'रुचिङ्कुरु' बन जाता है। (इसमें बीच में चिङ्कु शब्द आ जाता है जो कि काश्मीरी भाषा में स्त्री के गुप्ताङ्ग के लिए प्रयुक्त होता है। अतः यह कल्पनादुष्ट दोष है।) जहाँ पर कर्णकटु वर्णों का प्रयोग हो वहाँ श्रुतिकष्ट दोष होता है जैसे अधाक्षीत्, अक्षोत्सीत्, तृणेढि इत्यादि। (वृत्तिकार ने लिखा है कि श्रुतिदुष्ट इत्यादि जो दोष सूचित किये गये है वे वहीं पर होते हैं जहाँ पर शृङ्गार रस अङ्गी हो। यदि केवल वाच्यार्थ हो या शृङ्गार से भिन्न कोई अन्य वाच्यार्थ हो अथवा शृङ्गार ही अङ्ग हो तो वहाँ पर ये दोष नहीं माने जाते।) वृत्तिकार का शृङ्गार शब्द उपलक्षण मात्र है। इसमें उन समस्त रसों का समावेश हो जाता है जिनमें श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोषों का परित्याग उचित हो। अतएव यहाँपर वीर, शान्त और अद्भुत का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि उनमें भी इन

तारावती

दोषों का वर्जन होता ही है। वृत्तिकार ने सूचित शब्द का प्रयोग किया है। इसका आशय यह है कि भामह ने नित्यदोष और अनित्यदोषों का विषय-विभाग करके स्वयं नहीं दिखलाया है। किन्तु भिन्नवृत्त इत्यादि दोष भी दिखला दिये हैं और श्रुतिदुष्ट इत्यादि दोष भी। नित्य और अनित्य का विषय-विभाजन नहीं किया है। न उन्होंने यही दिखलाया है कि ये दोष गुणों से व्यतिरिक्त होते हैं। (भामह ने यह नहीं दिखलाया है कि इनमें कौन से दोष कहाँ पर दोष रहते हैं कहाँ पर अदोष हो जाते हैं और कहाँ पर गुण हो जाते हैं।) हम लोगों ने (ध्वनि सम्प्रदाय-वादियों ने) यह बात देखी कि श्रुतिकष्ट इत्यादि का बीभत्स हास्य रौद्र इत्यादि मे उपादान किया जाता है तथा शृङ्गार शान्त और अद्भुत में इनका परित्याग किया जाता है। इस आधार पर हम ध्वनिवादियों ने ही इन दोषों की अनित्यता और दोषता का समर्थन किया है। यही वृत्तिकार का आशय है।

[इस कारिका के लिखने का आशय यह है कि दोष दो प्रकार के पाये जाते है—कुछ दोष तो सर्वदा दोष ही रहते हैं जैसे छन्दोभङ्ग इत्यादि और कुछ दोष प्रकरण के अनुसार दोष भी हो जाते हैं, गुण भी हो जाते हैं और कहीं-कहीं न दोष रहते हैं न गुण। जैसे श्रुतिकष्ट नामक दोष कोमल रसों में दोष रहता है, वही कठोर रसों में गुण हो जाता है। यह बात सहृदयहृदयसंवेद्य ही है। अतः इसका अपलाप नहीं किया जा सकता। अतएव दोषों की नित्यता तथा अनित्यता की व्यवस्था करनी होगी। यह व्यवस्था तभी सङ्गत मानी जा सकती है जब कि व्यङ्ग्य रस को उसके अङ्गी के रूप में स्थित होने पर ध्वनि की आत्मा मान लिया जावे। यदि वाच्यार्थमात्र ही स्वीकार किया जावेगा तो अर्थरूपता तो सर्वत्र एक जैसी ही होती है। अतः उसमें दोषों की नित्यानित्यव्यवस्था न बन सकेगी। इसके प्रतिकूल जब कि रस-व्यञ्जना का सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया जाता है तब यह विभाग-व्यवस्था बन जाती है। तब यह व्यवस्था ठीक हो जाती है कि कठोर वर्ण कोमल रसों में ही दोष होते हैं, कठोर रसों मे वे गुण हो जाते हैं। यही बात हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में इस प्रकार कही है—'रस के उत्कर्षहेतु गुण होते हैं और अपकर्षहेतु दोष होते हैं। ये गुण और दोष रस के ही धर्म होते हैं। उस रस के उपकारक शब्द और अर्थ में गुण और दोष का औपचारिक प्रयोग होता है। अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान करने के कारण गुण और दोष रसाश्रित ही माने जाते हैं। वह इस प्रकार — जहाँ दोष होते हैं वहीं गुण होते हैं। रस-विशेष मे ही दोष होते हैं शब्द और अर्थ में नहीं। यदि शब्द और अर्थ में दोष हों तो बीभत्स इत्यादि में कष्टत्व इत्यादि गुण न हो जावें और हास्य इत्यादि में

ध्वन्यालोकः

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥ १२ ॥

अङ्गितया व्यङ्ग्यो रसादिर्विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणा विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया निस्सीमानो विशेषास्तेषामन्योन्यपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिदन्यतमस्यापि रसस्य प्रकाराः परिसंख्यातुं न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम्।

(अनु०) उस असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के अङ्गों के जो अवान्तर भेद हैं और स्वयं उसके जो स्वगत अवान्तर भेद हैं उनके परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करने मे भेदों की संख्या अनन्त हो जाती है॥ १२ ॥

जो रस इत्यादि व्यङ्ग्य होता है और अंगी (प्रधान) रूप में भी स्थित होता हैं वह असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की एक आत्मा बतलाया गया है। उसके अंगों के अर्थात् वाच्य और वाचक के अनुसार आनेवाले अलङ्कारों के जो संख्यातीत अवान्तर भेद हैं और जो स्वगत भेद हैं अर्थात् उस अंगी अर्थ के रस भाव रसाभास भावाभास भावप्रशम नामक भेद विभाव अनुभाव व्यभिचारी भाव के प्रतिपादन के साथ अनन्त हो जाते हैं अर्थात् अपने आश्रय की अपेक्षा से (स्त्रीपुरुष की प्रकृति का विचार करते हुये) अनन्त हो जाते है। उनकी विशेषतायें सीमातीत हो जाती है। एक दूसरे से उनके सम्बन्ध की परिकल्पना करने पर रस के किसी एक भी प्रकार के भेदोपभेदों का परिसंख्यान नहीं किया जा सकता फिर सबका तो कहना ही क्या ?

लोचन

अङ्गानामित्यलङ्काराणाम्। स्वगता इति। आत्मगताः सम्भोगविप्रलम्भाद्या आत्मीयगता विभावादिगतास्तेषां लोष्टप्रस्तारेणाङ्गाङ्गिभावे का गणनेति भावः।

अंगानां का अर्थ है अलङ्कारों का। स्वगता इति। आत्मगत अर्थात् सम्भोग विप्रलम्भ इत्यादि और आत्मीयगत अर्थात् विभाव इत्यादि गत, लोष्टप्रस्तार के द्वारा उनके अंगाङ्गिभाव की क्या गणना हो सकती है यह भाव है। स्वाश्रय

तारावती

अश्लीलत्व इत्यादि गुण न हो जावें। ये दोष अनित्य होते हैं, क्योंकि जिस अङ्गी के वे दोष होते हैं उसके अङ्गी न होने पर वे दोष नहीं रहते और उसके अङ्गी होने पर दोष हो जाते हैं। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से गुण और दोष का रस ही आश्रय सिद्ध होता है।]

ध्वन्यालोकः

तथाहि शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ द्वौ भेदौ—संभोगो विप्रलम्भश्च। सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः।

(अनु०) वह इस प्रकार—अंगी शृङ्गार के दो भेद होते हैं सम्भोग और विप्रलम्भ। सम्भोग के परस्पर प्रेमपूर्वक देखना सुरत-विहरण इत्यादि लक्षणवाले बहुत से प्रकार होते हैं।

लोचन

स्वाश्रयः स्त्रीपुंसप्रकृत्यौचित्यादिः।

परस्परं प्रेम्णा दर्शनमित्युपलक्षणं सम्भाषणादेरपि। सुरतं चातुःषष्टिकमालिङ्गनादि। विहरणमुद्यानगमनम्। आदिग्रहणेन जलक्रीडापानकचन्द्रोदयक्रीडादि।

अभिलाषविप्रलम्भो द्वयोरप्यन्योन्यजीवितसर्वस्वाभिमानात्मिकायां रतावुत्पन्ना-

अर्थात् स्त्री-पुरुष के स्वभाव का औचित्य इत्यादि।

परस्पर प्रेम के द्वारा दर्शन यह उपलक्षण है सम्भाषण इत्यादि का भी। सुरत अर्थात् चौसठ प्रकार का आलिङ्गन इत्यादि। विहरण अर्थात् उद्यान गमन। आदि ग्रहण से जलक्रीडा, मदिरापान, चन्द्रोदय, क्रीडा इत्यादि।

दोनों के एक दूसरे को जीवित का सर्वस्व मानने के अभिमानरूप रति के

तारावती

(बारहवीं कारिका का आशय यह है कि रस के अङ्गों और उनके स्वगत भेदों का परिसंख्यान सर्वथा असम्भव है।) 'उसके अंगों का' इसमें 'अंगों का' का अर्थ है अलङ्कारों का। (आशय यह है कि एक तो अलङ्कारों की संख्या में ही इयत्ता नहीं है, फिर कौन अलङ्कार किस प्रकार किस सम्बन्ध से किसी विशेष रस को अलङ्कृत करता है इसका विवेचन तो और भी अशक्य है।) स्वगत शब्द के दो अर्थ होते हैं—आत्मगत और आत्मीयगत। रस के आत्मगत भेदों का आशय है किसी विशिष्ट रस के अवान्तर भेद। जैसे शृंगार के संभोग और विप्रलम्भ मे भेद। आत्मीयगत का अर्थ है विभावादिगत। जिस प्रकार छन्दों में प्रस्तार होता है उसी प्रकार यदि लोष्ट-प्रस्तार की प्रक्रिया से उन सबके अंगाङ्गी-भाव का विस्तार किया जावे (अलङ्कारों के द्वारा विभिन्न रसों का पोषण विभिन्न प्रकार के विभाव इत्यादि में विभिन्न प्रकार के भावों का मेल दिखलाया जावे) तो उनकी गणना ही क्या हो सकती है? यही इस कारिका का भाव है। 'अपने आश्रय की अपेक्षा से भेदोपभेद-संख्या सीमा-रहित हो जाती है।' इस वाक्य में आश्रय का अर्थ है स्त्री-पुरुष की प्रकृतियों का औचित्य इत्यादि। ये प्रकृतियाँ अनन्त होती हैं और इनके उचित भावो का विस्तार भी अनन्त ही हो जावेगा। सम्भोग के परस्पर प्रेम-दर्शन सुरत-विहरण इत्यादि

तारावती

लक्षणोंवाले अनेक प्रकार होते हैं।' इस वाक्य में प्रेम-दर्शन का अर्थ है प्रेमपूर्वक दर्शन। यह उपलक्षण है। इससे सम्भाषण इत्यादि का भी ग्रहण हो जाता है। (मैथुन के आठ भेद बतलाये गये है—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति। यहाँपर दर्शन को उपलक्षण मान लेने से उन सभी भेदों का ग्रहण हो जाता है।) सुरत का अर्थ है ६४ प्रकार के आलिङ्गन इत्यादि। (कामसूत्रों में वात्स्यायन मुनि ने सुरत के ६४ प्रकार बतलाये हैं। मूलरूप में सुरत के ८ प्रकार होते हैं—आलिङ्गन, चुम्बन, नखच्छेद्य, दशनच्छेद्य, संवेशन, सीत्कृत, पुरुषायित और औपरिष्टक। इन आठ प्रकारों में प्रत्येक के आठ आठ प्रकार होकर ६४ भेद हो जाते हैं। आलिङ्गन दो प्रकार का होता है असंप्रयोगकालिक और संप्रयोगकालिक। असंप्रयोगकालिक आलिङ्गन चार प्रकार का होता है—स्पृष्टक, विद्धक, उद्घृष्टक और पीडितक। संप्रयोगकालिक आलिङ्गन भी चार प्रकार का होता है—लतावेष्टितक, वृक्षाधिरूढक, तिलतंडुलक और क्षीरनीरक। इस प्रकार आलिङ्गन के भी ८ प्रकार होते हैं। चुम्बन के ८ स्थान बतलाये गये हैं। इस प्रकार चुम्बन भी ८ प्रकार का ही होता है। चुम्बन के ८ स्थान ये हैं—ललाट, केश, कपोल, नेत्र, वक्षस्थल, स्तन, ओष्ठ और मुख का आन्तरिक भाग। नखच्छेद्य भी आठ प्रकार का होता है—आच्छुरितक, अर्धचन्द्र, मण्डल, रेखा, व्याघ्रनख, मयूरपदक, शशप्लुतक और उत्पलपत्रक। दशनच्छेद्य भी ८ प्रकार का होता है—गूढक, उच्छूनक, विन्दु, विन्दुमाला, प्रवालमणि, मणिमाला, खण्डाभ्रक और वाराहचर्वितक। संवेशन भी ८ प्रकार का होता है—उत्फुल्लक, विजृम्भितक, इन्द्राणिक, सम्पुटक, पीडितक, वेष्टितक, वाडवक और समपृष्ट। सीत्कृत के आठ प्रकार ये हैं—हिङ्कार, स्तनित, कूजित, रुदित, सूत्कृत, दूत्कृत, फूत्कृत और विरुत। पुरुषायित के आठ प्रकार ये हैं—उपसृतक, मन्थन, हुलोवमर्दन, पीडितक, निर्घात, वाराहघात, वृषाघात और चटकविलसित। औपरिष्टक भी आठ प्रकार का होता है—निमित, पार्श्वतोदष्ट, वहिःसंदंश, अन्तःसंदंश, चुम्बितक, परिमृष्टक आम्रचूषितक और सङ्गर। इस प्रकार सुरत के ६४ प्रकारों का वात्स्यायनसूत्रों में वर्णन किया गया है। कामसूत्रों में इनके विस्तृत लक्षण दिखलाये गये हैं वहीं देखना चाहिये।) विरहण का अर्थ है उद्यान गमन। इत्यादि का अर्थ है जलक्रीडा, पानक, चन्द्रोदय, क्रीडा इत्यादि। (यह तो सम्भोगशृङ्गार का वर्णन हुआ। अब विप्रलम्भ शृङ्गार को लीजिये) विप्रलम्भ कई प्रकार का होता है—अभिलाष, ईर्ष्या, विरह और प्रवास इत्यादि। जहाँ दोनों की इस प्रकार की रति उत्पन्न हो गई हो कि एक दूसरे को जीवितसर्वस्व समझने लगे हों किन्तु किसी कारण एक दूसरे

ध्वन्यालोकः

विप्रलम्भस्याप्यभिलापेर्ष्याविरहप्रवासविप्रलम्भादयः। तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदाः। तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य तस्यापरिमेयत्वम्, किं पुनरङ्गप्रभेदकल्पनायाम्। ते ह्यङ्गप्रभेदाः प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति।

(अनु०) विप्रलम्भ के भी अभिलाप ईर्ष्या विरह प्रवास-विप्रलम्भ इत्यादि (भेद) होते हैं उनमे प्रत्येक के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भेद होते हैं। उनके भी देश-काल आदि आश्रय तथा अवस्था-भेद होते हैं। इस प्रकार स्वगत भेद की दृष्टि से एक ही उस (रस) की अपरिमेयता सिद्ध होती है। फिर अंगभेद कल्पना करने पर तो कहना ही क्या? जोकि अंग के अवान्तर भेद हैं उनमें प्रत्येक अंगी के अवान्तर भेदों से सम्बन्ध-परिकल्पना करने पर अनन्तता को ही प्राप्त हो जाता है।

लोचन

यामपि कुतश्चिद्धेतोरप्राप्तसमागमत्वे मन्तव्यः। यथा 'सुखयतीति किमुच्यत' इत्यतः प्रभृति वत्सराजरत्नावल्योः न तु पूर्वं रत्नावल्याः। तदा हि रत्यभावे कामावस्थामात्रं तत्। ईर्ष्याविप्रलम्भः प्रणयखण्डनया खण्डितया सह। विरहविप्रलम्भः पुनः खण्डितया प्रसाद्यमानयापि प्रसादमगृह्णन्त्या ततः पश्चात्तापपरीतत्वेन विरहोत्कण्ठितया सह मन्तव्यः। प्रवासविप्रलम्भः प्रोषितभर्तृकया सहेति विभागः। आदिग्रहणाच्छापादिकृतः। विप्रलम्भ इव विप्रलम्भः। वञ्चनायां ह्यभिलषितो विषयो न लभ्यते; एवमत्र। तेषां चेति। एकत्र संभोगादीनामपरत्र विभावादीनाम्। आश्रयो मलयादिः मारुतादीनां

उत्पन्न हो जाने पर भी किसी हेतु से समागम के प्राप्त न होने पर माना जाना चाहिये। जैसे 'सुख देती है, इस विषय में क्या कहा जावे' यहाँ से लेकर वत्सराज और रत्नावली का, पहले रत्नावली का नहीं। उस समय पर निस्सन्देह रति न होने पर वह केवल कामदेव की अवस्था ही होगी। ईर्ष्या-विप्रलम्भ प्रणय-खण्डन इत्यादि के द्वारा खण्डिता के साथ होता है। विरह—विप्रलम्भ फिर प्रसन्न की जाती हुई भी प्रसन्नता को न ग्रहण करनेवाली खण्डिता के साथ बाद में पश्चात्ताप से भर जानेपर विरहोत्कण्ठिता के साथ माना जाना चाहिये। प्रवास-विप्रलम्भ प्रोषितपतिका के साथ (होता है) यह विषय-विभाग है। आदि ग्रहण से शाप इत्यादि से उत्पन्न वियोग के समान जो वियोग होता है। वञ्चना में निस्सन्देह अभिलषित विषय प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार अन्यत्र भी। 'तेषां च' इति। एकत्र सम्भोग इत्यादि का अपरत्र विभाव इत्यादि का। मारुत इत्यादि विभावों

लोचन

विभावानामिति यदुच्यते तद्देशशब्देन गतार्थम्। तस्मादाश्रयः कारणम्। यथा ममैव—

दयितया ग्रथिता स्रगियं मया हृदयधामनि नित्यनियोजिता।
गलति शुष्कतयापि सुधारसं विरहदाहरुजां परिहारकम्॥

तस्येति शृङ्गारस्य। अङ्गिनां रसादीनां प्रभेदस्तत्सम्बन्धकल्पनेत्यर्थः॥१२॥

का मलय इत्यादि आश्रय है जो यह कहा जाता है वह देश शब्द से गतार्थ है। अतः आश्रय का अर्थ है कारण जैसे मेरा ही (उदाहरण)—'प्रियतमा के द्वारा गूंथी हुई (तथा) मेरे द्वारा नित्य हृदय-स्थल पर रखी हुई यह माला सूखी होने पर भी विरह-दाह रोग को शान्त करनेवाले अमृत रस को क्षरित करती है।'

'तस्य' का अर्थ है शृंगार का। अर्थात् अङ्गी रस इत्यादि का प्रभेद उनकी सम्बन्ध-कल्पना के द्वारा (होता है)॥ १२॥

तारावती

का समागम न प्राप्त कर सके हों वहाँ पर अभिलाष-विप्रलम्भ होता है। रति उसे कहते हैं जहाँ अभिलाषा दोनों ओर हो। अभिलाषा केवल एक ओर हो तो उसे रति नहीं कहेंगे। वह केवल काम की एक अवस्था ही होगी। जैसे रत्नावली मे चित्रदर्शन के अवसर पर—'यह कहना ही आवश्यक नहीं कि वह मुझे सुख दे रही है' इस वत्सराज की उक्ति के बाद ही रति का प्रारम्भ समझना चाहिये। इससे पहले रत्नावली का प्रेम रति की सीमा में नहीं आ सकता क्योंकि वह उभय-निष्ठ नहीं है। उस समय रति के अभाव मे वह काम की एक विशेष अवस्था ही है। ईर्ष्या-विप्रलम्भ खण्डिता नायिका के साथ प्रणय-खण्डन इत्यादि के द्वारा होता है। विरह-विप्रलम्भ तब होता है जब नायक खण्डिता को मनाने की चेष्टा करता रहे और खण्डिता उसकी प्रार्थनाओं को ठुकराती चली जावे, अन्त में नायक निराश होकर वहाँ से चला जावे और तब नायिका को पश्चात्ताप हो। उस नायिका को विरहोत्कण्ठिता कहते है और उस वियोगावस्था को विरह-विप्रलम्भ कहते हैं। प्रवास-विप्रलम्भ प्रोषितपतिका के साथ होता है। यही इन प्रकारों का विषय-विभाग है। इत्यादि का अर्थ है शाप इत्यादि के द्वारा होनेवाला विप्रलम्भ। (जैसे कादम्बरी मे पुण्डरीक की मृत्यु के उपरान्त आकाशवाणी द्वारा पुनः सम्मिलन का आश्वासन मिल जाने पर महाश्वेता का विप्रलम्भ। अथवा चन्द्रापीड की मृत्यु के बाद उसी प्रकार का आश्वासन मिल जानेपर कादम्बरी का विप्रलम्भ।) विप्रलम्भ शब्द का शाब्दिक अर्थ है वञ्चना। वञ्चना मे अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं होती वही बात वियोग में भी होती है। इसी सादृश्य के आधार पर वियोग के लिये विप्रलम्भ शब्द का प्रयोग किया जाता है इसका अर्थ होता है विप्रलम्भ

ध्वन्यालोकः

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम् ।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥ १३ ॥

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति ।

(अनु०) अतएव यहाँपर दिग्दर्शनमात्र कराया जा रहा है जिससे व्युत्पन्न रसिकों की बुद्धि प्रकाश को प्राप्तकर प्रत्येक स्थान पर तत्त्व को समझ सकेगी ॥ १३ ॥

दिग्दर्शनमात्र करा देने से व्युत्पन्न सहृदयों की बुद्धि अलङ्कारों के साथ एक भी रसभेद के अंगाङ्गिभाव को जान लेने के कारण प्रकाश को प्राप्तकर सर्वत्र प्रसार पा जावेगी ॥

लोचन

येनेति । दिङ्मात्रोक्तेनेत्यर्थः । सचेतसामिति । महाकवित्वं सहृदयत्वं च प्रेप्सूनामिति भावः । सर्वत्रेति । सर्वेषु रसादिष्वासादित आलोकोऽवगमः सम्यग्व्युत्पत्तिर्ययेति सम्बन्धः ॥१३॥

येन का अर्थ है दिग्दर्शन के द्वारा । 'सचेतसाम्' का अर्थ है जो महाकवित्व और सहृदयत्व प्राप्त करना चाहते हैं । 'सर्वत्र' इति । सभी रसादिकों में प्राप्त किया गया है । आलोक अर्थात् अवगम अर्थात् अच्छी व्युत्पत्ति जिसके द्वारा, यह सम्बन्ध है ॥ १३ ॥

तारावती

(वञ्चना) के समान विप्रलम्भ (वियोग) । 'उनकी देश काल इत्यादि और आश्रय अवस्था इत्यादि के भेद से अनेकरूपता हो जाती है ।' इस वाक्य में 'उनकी' का अर्थ है एक ओर उन सम्भोगादिकों का और दूसरी ओर विभाव इत्यादि का देश काल इत्यादि और आश्रय अवस्था इत्यादि का भेद होने पर अनेकरूपता हो जाती है । कुछ लोगों ने आश्रय शब्द का अर्थ किया है मलय इत्यादि । क्योंकि मलय उद्दीपन विभाव वायु का आश्रय है। किन्तु मलय इत्यादि, देश शब्द से ही गतार्थ हो जाते हैं । अतएव आश्रय शब्द का अर्थ है कारण । उदाहरण के लिये मेरा (अभिनव गुप्त का) ही पद्य—

'यह माला प्रियतमा की गूँथी हुई है; अतएव मैं इसे नित्य अपने वक्षस्थल पर धारण करता हूँ । यद्यपि यह बिल्कुल सूख चुकी है किन्तु फिर भी मेरे लिये अमृत-रस की वर्षा कर रही है और मेरे वियोग के दाह की पीड़ा को शान्त करनेवाली है ।'

यहाँपर माला के उद्दीपक होने में प्रियतमा द्वारा ग्रथित होना कारण है ।

ध्वन्यालोकः

तत्र—

शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥ १४ ॥

अङ्गिनो हि शृंगारस्य ये उक्ता प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रबन्धेन प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जकः । अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य शृङ्गारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह ।

(अनु०) उसमें :—

'जहाँ शृंगार अंगी हो वहाँ पर उसके सभी भेदों में प्रयत्नपूर्वक लाने के कारण एकरूप अनुबन्धवाला अनुप्रास उसका प्रकाशक नहीं होता ॥ १४ ॥

निस्सन्देह अंगी शृंगार के जो भेद बतलाये गये हैं उन सबमे एकविध अनुबन्ध के रूप में प्रवृत्त होनेवाला अनुप्रास उसका व्यञ्जक नहीं होता । अंगी कहने का आशय यह है कि यदि शृङ्गार अंग हो तो उसमे अनुप्रास का एकरूपानुबन्ध कवि की इच्छा पर निर्भर है ।

लोचन

तत्रेति । वक्तव्ये दिङ्मात्रे सतीत्यर्थः । यत्नादिति । यत्नतः क्रियमाणत्वादिति हेत्वर्थोऽभिप्रेतः । एकरूपं त्वनुबन्धं त्यक्त्वा विचित्रोऽनुप्रासो न दोषायेत्येकरूपग्रहणम् ॥ १४ ॥

तत्रेति । दिङ्मात्रवक्तव्य होने पर यह अर्थ है । यत्नादिति । यत्नपूर्वक किया जाता हुआ होने के कारण यहाँ हेतु अर्थ अभिप्रेत है । 'एकरूप' शब्द के ग्रहण का आशय यह है कि एकरूप अनुबन्ध को छोड़कर निबद्ध किया हुआ विचित्र अनुप्रास दोषपूर्ण नहीं होता ॥ १४ ॥

तारावती

'उसके असंख्य भेद हैं' मे उसके शब्द का अर्थ है शृङ्गार के । आशय यह है कि अङ्गी रसादि के अवान्तर भेद उनके सम्बधों की कल्पना रूप ही होते हैं ॥

तेरहवीं कारिका का आशय यह है—अग्रिम प्रकरण मे शृङ्गार की अङ्ग कल्पना का दिग्दर्शन मात्र कराया जावेगा । जिससे सहृदयों की बुद्धि को एक प्रकाश प्राप्त हो जावेगा और वे रस-सम्बन्धी दूसरे निगूढ़ तत्वों को भी समझ सकेंगे। यहाँपर जिससे का अर्थ है दिग्दर्शन मात्र करदेने से। सहृदय शब्द से यहाँपर दोनों का ग्रहण हो जाता है—जो महाकवित्व पद को प्राप्त करने के इच्छुक हैं तथा जो सहृदयत्व पद को प्राप्त करना चाहते हैं । 'आसादितालोका' यह बहुव्रीहि समास है और बुद्धिः का विशेषण है । इसका विग्रह इस प्रकार होगा सब रसों में प्राप्त कर

ध्वन्यालोकः

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ १५ ॥

ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन् यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम् । प्रमादित्वमित्यनेनैतद्दर्श्यते—काकतालीयेन कदाचित्कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति । 'विप्रलम्भे विशेषत' इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते। तस्मिन् द्योत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्न कर्तव्य इति ।

(अनु०) ध्वनि की आत्मा के रूप मे स्थित शृङ्गार रस की व्यञ्जना में यमक इत्यादि का निबन्धन; कवि के शक्त होने पर भी, प्रमाद ही कहा जावेगा और विप्रलम्भ में तो विशेष रूप में प्रमाद कहा जावेगा ॥ १५ ॥

ध्वनि की आत्मा के रूप मे स्थित शृङ्गार रस का जहाँ वाच्य-वाचक के द्वारा प्रकाश किया जावे उसमें यमक इत्यादि तथा वैसे ही दूसरे अलङ्कारों का, जिनमें दुष्कर सभंग शब्दश्लेष इत्यादि सम्मिलित हैं, निबन्धन शक्त होते हुए भी प्रमाद ही कहा जावेगा । प्रमाद कहने का आशय यह है कि काकतालीय न्याय से कभी किसी एक यमक इत्यादि की निष्पत्ति भले ही हो जावे किन्तु अन्य अलङ्कारों की भाँति उनका रस के अंग के रूप मे बहुलता से प्रयोग नहीं करना चाहिये । 'विप्रलम्भ में विशेषरूप से' इस कथन के द्वारा विप्रलम्भ मे सौकुमार्य की अधिकता व्यक्त की गई है । उसकी व्यञ्जना में अंग के रूप में यमक इत्यादि का प्रयोग नियमानुकूल करना ही नहीं चाहिये ।

तारावती

लिया गया है आलोक जिसके द्वारा । आलोक का अर्थ है अवगम अर्थात् व्युत्पत्ति। (आशय यह है कि यदि थोड़ा सा सङ्केत करदिया जावेगा तो सहृदयों को समझने की योग्यता उत्पन्न हो जावेगी और वे उसी आदर्श पर न बतलाई हुई बात को भी समझ जावेंगे ।) ॥ १३ ॥

चौदहवीं कारिका का उपक्रम करने के लिये आनन्द-वर्धन ने लिखा है—'तत्र' तत्र का अर्थ है उसके होनेपर अर्थात् जब हमे दिग्दर्शन मात्र के रूप मे कथन करना है तब हम (शृङ्गार रस मे अङ्गयोजना-अलङ्कारयोजना-का प्रकरण ले रहे हैं ।) इस कारिका मे कहा गया है कि यदि शृंगार अगी हो तो प्रयत्न पूर्वक लाया हुआ एकरूप अनुबन्धवाला अनुप्रास शृंगार के सभी भेदों में उसका प्रकाशक नहीं होता यहाँपर 'यत्नात्' में हेतु के अर्थ में पञ्चमी का प्रयोग हुआ है । क्योंकि प्रयत्न-

लोचन

यमकादीत्यादिशब्दः प्रकारवाची । दुष्करं मुरजवन्धादि । शब्दभङ्गो न श्लेप इति । अर्थश्लेषो न दोषाय 'रक्तस्त्वम्' इत्यादौ, शब्दभङ्गोऽपि क्लिष्ट एव दुष्टः, न त्वशोकादौ ॥ १५ ॥

'यमकादि' में आदि शब्द प्रकारवाची है । 'दुष्कर' मुरज वन्ध इत्यादि । शब्दभङ्ग श्लेप इति । 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि अर्थश्लेप मे दोप नहीं होता । भङ्ग-श्लेप भी क्लिष्ट ही दुष्ट होता है, अशोक इत्यादि में नहीं ॥ १५ ॥

तारावती

पूर्वक उसका अनुवन्धन किया जाता है अतः वह प्रकाशक नहीं होता । 'जिस का अनुवन्धन एकरूप का हो' कहने का आशय यह है कि यदि अनुवन्धन विचित्र प्रकार का हो ऐसे अनुप्रास का निवन्धन सदोप नहीं होता । (यदि एक प्रकार का ही अनुप्रास वहुत दूर तक चला जाता है तो उस काव्य में अनुप्रास ही प्रधान वन जाता है और मुख्य वस्तु अथवा रस गौण हो जाता है । यही दोप होता है।) ॥ १४ ॥

१५ वीं कारिका का आशय यह है—'यदि शृंगार रस अंगी हो तो शक्ति होते हुए भी यमक इत्यादि का निवन्धन प्रमाद ही कहा जावेगा और यह वात विप्र-लम्भ शृंगार के विपय में विशेष रूप से कही जायगी ।' यहाँपर 'यमक इत्यादि' मे इत्यादि शब्द का अर्थ है प्रकार। यमक के प्रकार (ढंग) के जो 'दुष्कर शब्द-भंग श्लेप आदि' अलङ्कार होते हैं—यहांपर दुष्कर का अर्थ है मुरजवन्ध इत्यादि । अर्थश्लेप में दोष नहीं होता । जैसे 'रक्तस्त्वं नव पल्लवैः' इत्यादि पद्य में (सभंग शब्द श्लेप भी वहीं पर दोप होता है जहाँ पर उसका प्रयोग क्लिष्ट हो । यदि उसका प्रयोग सरल हो तो दोष नहीं होता जैसे 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः.........' इत्यादि पद्य मे 'अशोक' शब्द में सभंग शब्दश्लेप होते हुये भी क्लिष्ट न होने के कारण दोप नहीं है । (इस विपय मे पण्डितराज ने लिखा है—'वैय्याकरणों को त्व प्रत्यय, यङन्त, यङ्लुगन्त इत्यादि के प्रयोग वहुत प्रिय हैं । किन्तु उनका मधुर रस में प्रयोग नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार कवि को चाहिये कि चाहे सम्भव ही क्यों न हों किन्तु ऐसे अनुप्रास के समूहों और यमक इत्यादिकों का निवन्धन न करे जिनमे व्यंग्य चर्वणा के लिये आवश्यक योजना के अतिरिक्त उनके लिये ही पृथक् योजना करनी पड़े और जो अधिक चमत्कारकारक हों । क्योंकि ऐसे अलङ्कार रस चर्वणा के वीच में आ जाते हैं और सहृदयों के हृदयों को अपनी ओर खींचते हुए इससे पराङ्मुख कर देते हैं । यह वात विप्रलम्भ के विपय मे विशेप रूप से कही जा सकती है । निस्सन्देह विप्रलम्भ निर्मल मिश्री से वने हुये

ध्वन्यालोकः

अत्र युक्तिरभिधीयते—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥ १६ ॥

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत् सोऽस्मिन्नलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।

(अनु०) इस विषय में युक्ति बतलाई जा रही है—

'रस के द्वारा आक्षिप्त होने से ही जिस अलङ्कार का बन्ध कर सकना शक्य हो और उसके लिये पृथक् यत्न न करना पड़े ध्वनि में वही अलङ्कार माना जाता है॥ १६ ॥

निष्पत्ति में आश्चर्यजनक होते हुये भी रस के द्वारा आक्षिप्त होने से ही जिस अलङ्कार का बन्धन कर सकना सम्भव हो, वह इस अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में अलङ्कार माना जाता है। उसी की रसाङ्गता मुख्य होती है।

लोचन

युक्तिरिति। सर्वव्यापकं वस्त्वित्यर्थः। रसेति। रससमवधानेन विभावादिघटनामेव कुर्वंस्तत्रान्तरीयकतया यमासादयति स एवायालङ्कारो रसमार्गे नान्यः।

'युक्तिः' इति। अर्थात् सर्वव्यापक वस्तु। 'रस' इति। रस की सन्निकटता से विभाव इत्यादि को सङ्घटित करते हुये अवश्यकर्तव्यता के रूप मे जिसको प्राप्त करता है यहाँपर मार्ग में वहाँ अलङ्कार होता है अन्य नहीं। इससे वीर और

तारावती

पानक के समान सबसे अधिक मधुर होता है। यदि उसमें कोई भी पदार्थ थोड़ी भी स्वतन्त्रता को धारण कर ले तो वह सहृदयों के हृदय को पीड़ित करनेवाला हो जाता है और सर्वथा सामानाधिकरण्य को प्राप्त नहीं हो सकता। यही बात ध्वनिकार ने 'ध्वन्यात्मभूते शृंगारे' इत्यादि कारिका लिख कर कही है। और जो अलङ्कार क्लिष्ट न हों तथा अपने कथारस की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठने की चेष्टा न कर रहे हों अपितु रसचर्वणा में ही सुन्दर सुख को प्रकट करने की शक्ति रखते हों उन अनुप्रास इत्यादि का त्याग उचित नहीं होता।') ॥ १५ ॥

(अत्र यहाँपर यह विचार किया जा रहा है कि इन अनुप्रासादिकों का प्रयोग शृंगार रस का अभिव्यञ्जक होता क्यों नहीं है ? कारिका मे कहा गया है कि ध्वनि में वही अलङ्कार माना जाता है जिसका आक्षेप रस के द्वारा ही कर सकना सम्भव हो और जिसके लिये कवि को पृथक् प्रयत्न न करना पड़े।) 'इस विषय मे

लोचन

तेन वीराद्भुतादिरसेष्वपि यमकादि कवेः प्रतिपत्तुश्च रसविघ्नकार्येव सर्वत्र । गड्डुरिकाप्रवाहोपहतसहृदयमधुराधिरोहणविहीनलोकावर्जनाभिप्रायेण तु मया शृङ्गारे विप्रलम्भे च विशेषत इत्युक्तमिति भावः । तथा च 'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते' इति सामान्येन वक्ष्यति । निष्पत्ताविति । प्रतिभानुग्रहात्स्वयमेव सम्पत्तौ निष्पादनानपेक्षायामित्यर्थः । आश्चर्यभूत इति । कथमेष निबद्ध इत्यद्भुतस्थानम् ।

अद्भुत इत्यादि रसों मे भी सर्वत्र कवि और सहृदय के लिये यमक इत्यादि रस विघ्न कारक ही होते हैं । भेड़ चाल के प्रवाह से उपहत तथा सहृदय धुरीणता के अधिरोह से रहित लोक के अनुरञ्जन के अभिप्राय से मैंने यह कह दिया है कि शृङ्गार और विप्रलम्भ में विशेष रूप से (उनका वर्जन करना चाहिये)। इस प्रकार 'अतएव रस में इनकी अङ्गता विद्यमान नहीं है' यह सामान्य रूप में कहेंगे। 'निष्पत्तौ' इति । अर्थात् प्रतिभा के अनुग्रहण से स्वयमेव निष्पत्ति हो जाने से निष्पादन की अपेक्षा नहीं होती । आश्चर्यभूत इति । यह कैसे निबद्ध हो गया यह अद्भुत का स्थान है ।

तारावती

'युक्ति' दी जा रही है' इस वाक्य में युक्ति शब्द का अर्थ है सर्वव्यापक वस्तु । आशय यह है कि उक्त अवसरों पर अनुप्रासादि के प्रयोग न करने का ऐसा हेतु बतलाया जा रहा है जो सर्वत्र लागू हो जाता है । कारिका का आशय यह है कि कवि का ध्यान प्रधानतया रस की ही ओर होता है । रसादि की अभिव्यञ्जना करने के लिये कवि विभाव इत्यादि की सङ्घटना किया करता है । उस अवसर पर यदि किसी ऐसे अलङ्कार का प्रयोग स्वतः हो जावे जिसका टाल सकना असम्भव हो और जो रसाभिव्यञ्जन के लिये अनिवार्य हो जावे, रस के मार्ग में वही अलङ्कार माना जाता है । उसके अतिरिक्त अन्य अलङ्कार ही नहीं होता । यहाँपर शृङ्गार शब्द का प्रयोग न कर सामान्य रूप से रस शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका आशय यह है कि यमक इत्यादि का प्रयोग केवल शृङ्गार रस में ही कवि और सहृदय के लिए व्याघात उत्पन्न करनेवाला नहीं होता किन्तु वीर और अद्भुत इत्यादि रसों में भी सर्वत्र विघ्न डालनेवाला होता है । अधिकतर विचारक यमक इत्यादि को शृङ्गार रस का ही विघातक मानते आये हैं । भेड़ चाल का अनुसरण करने के कारण जिनका विवेक नष्ट हो गया है और जो सहृदय-धुरीण लोगों की सीमा में नहीं आ सकते वे भी उन्हीं लोगों का अनुसरण करते हुये यही मानते हैं कि यमक इत्यादि का बहुल प्रयोग शृङ्गार रस का ही उपघातक होता है । उनके सामने झुककर उनका संग्रह करने के लिए ही मैंने (ध्वनिवादियों ने) भी शृंगार रस

ध्वन्यालोकः

यथा—

कपोले पत्त्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निश्श्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पस्तनतटीम्
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥

(अनु०) जैसे :—

कपोलों की पत्र रचना करतल के आवरण के द्वारा पोछ दी गई है। निश्श्वासों के द्वारा इस अमृत के समान हृद्य अधर रस का पान किया गया है। आँसू बार-बार कण्ठ में लगकर स्तन-तट को कँपा रहा है। बिना ही अनुरोध के मन्यु तुम्हें प्यारा हो गया किन्तु हम प्यारे नहीं हुये।

लोचन

करकिसलयन्यस्तवदना श्वासतान्ताधरा प्रवर्तमानवाष्पभरनिरुद्धकण्ठी अविच्छिन्नरुदितचञ्चत्कुचतटा रोषमपरित्यजन्ती चाटूक्त्या यावत्प्रसाद्यते तावदीर्ष्याविप्रलम्भगतानुभावचर्वणावहितचेतस एव वक्तुः श्लेपरूपकव्यतिरेकाद्या अयत्ननिष्पन्नाश्चर्वयितुरपि न रसचर्वणाविघ्नमादधतीति।

करकिसलय पर अपने मुख को रक्खे हुये श्वास को मलिन अधरवाली, प्रवृत्त होनेवाले वाष्पभार से निरुद्ध कण्ठवाली, अविच्छिन्न रोदन से चञ्चल कुचतटोंवाली, रोष को न छोड़ती हुई चाटूक्ति से जब तक प्रसन्न की जाती है तब तक ईर्ष्या-विप्रलम्भ गत अनुभाव की चर्वणा में मन लगाये हुये वक्ता के बिना यत्न के निष्पन्न श्लेष रूपक व्यतिरेक इत्यादि चर्वण करते हुये (सहृदय व्यक्ति) के भी रस चर्वणा में विघ्न नहीं करते।

तारावती

का ही उपघातक अलङ्कारों को कह दिया है। वस्तुतः अलङ्कारों का बाहुल्य सभी रसों का विघातक होता है। यही बात आनन्दवर्धन आगे चलकर स्वयं कहेंगे—'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते'। 'आश्चर्य हो जाता है' कहने का आशय यह है कि जब किसी अलङ्कार की निष्पत्ति हो जाती है—जो प्रायः स्वयं ही हुआ करती है तथा जिसके निष्पादन के लिये कवि को पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता—तब उस अलङ्कार को देखकर आश्चर्य हो जाता है कि बिना ही चेष्टा के यह अलङ्कार किस प्रकार आ गया। (इस प्रकार रस-व्यञ्जना की चेष्टा में ही जिस अलङ्कार को निबद्ध कर सकना शक्य हो, इस अलङ्कार-ध्वनि के प्रकरण मे वही अलङ्कार माना जाता है। क्योंकि वही मुख्यरूप से इसका अंग होता है।)

ध्वन्यालोकः

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति यो रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः।

(अनु०) अलङ्कार का रस के अङ्ग होने का लक्षण यह है कि कवि को अलङ्कार-योजना के लिये कोई पृथक् प्रयत्न न करना पड़े। रसबन्धन के अध्यवसाय में प्रवृत्त कवि की रसवासना का अतिक्रमण कर दूसरे प्रयत्न का सहारा लेने पर जो अलङ्कार निष्पन्न होता है वह अलङ्कार रस का अङ्ग नहीं होता। जब अविच्छिन्न रूप में यमक लाने की बुद्धि-पूर्वक चेष्टा की जाती है तब नियमतः दूसरे प्रयत्न का सहारा लेना ही पड़ता है और वह प्रयत्न होता है विशेष प्रकार के शब्दों का अन्वेषण रूप।

तारावती

(यहाँपर अलङ्कार के अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व का उदाहरण दिया गया है। मानिनी नायिका को मनाने के अवसर पर नायक ने ये शब्द कहे हैं।) नायिका कर-किसलय पर अपने मुख को रक्खे हुये है। श्वास से उसका अधर मलिन पड़ रहा है, बहनेवाले आँसुओं के भार से उसका कण्ठ रुंध गया है, निरन्तर रोने के कारण उसके कुचतट कांप रहे हैं, वह क्रोध को किसी प्रकार छोड़ नहीं रही है। उसको चाटूक्तियों के द्वारा प्रसन्न करने की चेष्टा ही मुख्य विषय है। अतः यहाँ पर ईर्ष्या-विप्रलम्भ के अनुभावों की चर्वणा मुख्य व्यंग्य है और वक्ता का ध्यान प्रधान रूप से उसी ओर है। संयोगवश निम्नलिखित अलङ्कारों का भी समावेश हो गया है—(१) रूपक—मन्यु पर प्रियतम का आरोप—प्रियतम के सहवास के अवसर पर भी कपोल की पत्र-रचना प्रियतम के हाथ से पुँछ जाती है और मन्यु में भी करतल पर कपोल रखने के कारण पत्र-रचना पुछ गई है। प्रियतम सहवास के अवसर पर अमृत के समान हृद्य अधर-रस का पान करता है और मन्यु भी निश्वासों के द्वारा अधर-रस (अधरों की आर्द्रता) को पी गया है। प्रियतम भी प्रियतमा को कण्ठ में लगाता है और मन्यु भी आँसुओं के रूप में नायिका का कण्ठ पकड़े हुये है। प्रियतम भी नायिका के स्तनतटों को तरल कर देता है और मन्यु भी स्तनों को तरल कर रहा है। इन साधारण धर्मों के आधार पर मन्यु पर प्रियतम का आरोप हुआ है। अतः रूपक अलङ्कार है (२) अधर-रस शब्द के दो अर्थ हैं—अधरामृत और अधरों की आर्द्रता। इस प्रकार श्लेषालङ्कार है। (३) मन्यु प्यारा है मैं प्यारा नहीं हूँ, इस प्रकार व्यतिरेकालङ्कार हो जाता है। ये तीनों अलङ्कार स्वाभाविक रूप में ही आ गये हैं। इनके लिये कवि को कोई अतिरिक्त

लोचन

लक्षणमिति व्यापकमित्यर्थः। 'प्रबन्धेन क्रियमाण' इति सम्बन्धः। अत एव बुद्धिपूर्वकत्वमवश्यंभावीति बुद्धिपूर्वकशब्द उपात्तः। रससमवधानादन्यो यत्नो यत्नान्तरम्। निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि। बुद्धिपूर्वं चिकीर्षितान्यपि कर्तुमशक्यानीत्यर्थः। तथा निरूप्यमाणे दुर्घटनानि कथमेतानि रचितानीत्येवं विस्मयावहानीत्यर्थः। अहं पूर्वः अग्रग इत्यर्थः। अहमादावहमादौ प्रवर्त इत्यर्थः। अहंपूर्व इत्यस्य भावोऽहंपूर्विका। अहमिति निपातो विभक्तिप्रतिरूपकोऽस्मदर्थवृत्तिः।

लक्षणमिति। अर्थात् व्यापक। सम्बन्ध यह है कि प्रबन्ध के द्वारा किया जाता हुआ। अतः बुद्धिपूर्वकत्व अवश्यभावी है इसलिये बुद्धिपूर्वक शब्द का उपादान किया गया है। यत्नान्तर का अर्थ है रस-समवधान से भिन्न यत्न। निरूपण किये जानेपर जिनकी सङ्घटना दुष्कर है। अर्थ यह है कि बुद्धिपूर्वक करने के लिये इच्छित होते हुये भी जिनका करना अशक्य है। तथा निरूपण किये जाने पर दुर्घट अर्थात् ये कैसे रच गई हैं इस प्रकार विस्मय को उत्पन्न करनेवाले। 'मैं पहले' अर्थात् आगे। अर्थात् मैं पहले आऊँगा मैं पहले आऊँगा। 'अहं पूर्व' की भाववाचक संज्ञा है अहंपूर्विका। 'अहम्' यह 'अस्मद्' के अर्थ में विभक्ति-प्रतिरूप निपात है।

तारावती

प्रयत्न करना नहीं पड़ा है। अलङ्कार बिना यत्न के निष्पन्न हुये हैं और रसचर्वणा-परायण सहृदय के हृदय में भी रस-चर्वणा मे व्याघात उत्पन्न नहीं करते।

वृत्तिकार ने लिखा है कि 'उस अलङ्कार का रस के अङ्ग होने में लक्षण है उसका पृथक् यत्न द्वारा सम्पन्न न होना।' आशय यह है कि कवि रस-निष्पत्ति के लिये जो प्रयत्न करता है उसी प्रयत्न के द्वारा अलङ्कार का प्रयोग भी हो जाता है। उसके लिये कवि को पृथक् प्रयत्न करना पड़े तो वह अलङ्कार रस का अङ्ग नहीं हो सकता। लक्षण का अर्थ है व्यापक धर्म। अलङ्कार की रसाङ्गता का व्यापक धर्म ही है पृथक् यत्न के द्वारा निर्वर्त्य न होना। इस सन्दर्भ की लोचन-कार ने विस्तृत व्याख्या नहीं की है। सम्भवतः इसे सरल समझकर छोड़ दिया है। केवल कतिपय शब्दों का अर्थ दे दिया है। उन्हीं शब्दों का अर्थ यहाँपर दिया जा रहा है। मूल स्पष्ट है अतः विषय को समझने के लिये अनुवाद को देखना चाहिये। वृत्ति में लिखा है—'प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वं क्रियमाणे' इस वाक्यखण्ड मे 'प्रबन्धेन क्रियमाणे' यह सम्बन्ध योजना होगी। (प्रबन्ध का अर्थ है अविच्छेद। अर्थात् यमक इत्यादि यदि कहीं एक बार आजावें तो उससे उतना रसविच्छेद नहीं होता। किन्तु जब यमक इत्यादि अविच्छिन्न रूप मे आते ही चले जाते है तो एक तो कवि को यमक के लिये शब्दान्वेषण का पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है

ध्वन्यालोकः

अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत्—नैवम्, अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभानवतः कवेरहं पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे। यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ। युक्तं चैतत्। यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः। तस्मान्न तेषां वहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ। यमकदुष्करमार्गेषु तु तत्स्थितमेव। यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते, तत्र रसादीनामङ्गता यमकादीनां त्वङ्गितेव। रसाभासे चाङ्गत्वमप्यविरुद्धम्। अङ्गितया तु व्यङ्ग्ये रसेनाङ्गत्वं पृथग्प्रयत्ननिर्वर्त्यत्वाद्यमकादेः।

(अनु०) (प्रश्न) जो बात यमक के विषय मे कही जाती है वही दूसरे अलङ्कारों के विषय में भी कही जा सकती है ? (उत्तर) दूसरे अलङ्कारों के विषय मे यह बात नहीं कही जा सकती। जब कोई प्रतिभाशाली कवि रसमय रचना करने मे अपना मन लगा देता है उस समय ऐसे ऐसे अलङ्कार जिनकी सङ्घटना प्रयत्न करने पर भी कठिन है स्वयं आने लगते हैं मानों पहले आने के लिये होड़ लगा रहे हों। उदाहरण के लिये (चन्द्रापीड के) कादम्बरी के दर्शन करने के अवसर पर कादम्बरी में अलङ्कार इसी प्रकार आये हैं अथवा जिस प्रकार सेतुबन्ध काव्य में माया के बने हुये राम के शिर के दर्शन के अवसर पर सीता देवी के विह्वल हो जाने पर भी अलङ्कार होड़ लगाकर आये हैं। अलङ्कारों का इस प्रकार होड़ लगाकर आना स्वाभाविक ही है। कारण यह है कि रसों का आक्षेप विशेष प्रकार के वाच्य के द्वारा ही किया जाता है। रूपक इत्यादि अलङ्कार भी और कुछ नहीं हैं केवल रस-प्रतिपादक शब्दों के द्वारा प्रकाशित होनेवाले (और रस को प्रकाशित करनेवाले विशेष प्रकार के वाच्य ही हैं। अतः इस प्रकार के अलङ्कार रसाभिव्यक्ति मे वहिरंग कभी नहीं कहे जा सकते। किन्तु यमक के दुष्कर मार्ग में वहिरंगता बनी ही रहती है। (आशय यह है कि वाच्यार्थ के द्वारा रस का आक्षेप होता है। अतः वाच्यालङ्कारों का आना स्वाभाविक ही है। किन्तु यमक इत्यादि का निरन्तर आना असाधारण बात है, उसके लिये कवि को पृथक् प्रयत्न करना ही पड़ता है। अतः उनका प्रयोग रसाभिव्यक्ति में व्याघात ही उत्पन्न करता है।) रसमय काव्यों में भी जहाँ यमक इत्यादि का प्रयोग-बाहुल्य पाया जाता है वहाँ रस इत्यादि अङ्ग (अप्रधान) होते हैं और यमक इत्यादि अंगी। हाँ रसाभास में यमक आदि का अङ्ग होना भी विरुद्ध नहीं है। किन्तु जहाँ रस अङ्गी (प्रधान रूप मे व्यङ्ग्य) हों वहाँ यमक इत्यादि अङ्ग नहीं हो सकते क्योंकि उनके लिये पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है।

ध्वन्यालोकः

अस्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकाः—

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते॥
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते॥

(अनु०) इसी अर्थ के संग्रह श्लोक :—

कतिपय रस-मय वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनमें अलंकारों का भी समावेश हो जाता है। वहाँ पर महाकवि के एक ही प्रयत्न के द्वारा रस और अलङ्कार दोनों की निष्पत्ति हो जाती है।

यमक इत्यादि की रचना मे कवि को पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। अतः समर्थ भी कवि की रसमय रचना मे यमक इत्यादि अङ्ग नहीं हो सकते।

यमक इत्यादि का रसाभास का अङ्ग होना निषिद्ध नहीं है, किन्तु ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित शृंगार में यमक इत्यादि किसी प्रकार भी अङ्ग नहीं हो सकते।'

लोचन

एतदिति। अहंपूर्विकयापरापतनमित्यर्थः। कानिचिदिति। कालिदासादिकृतानीत्यर्थः। शक्तस्यापि पृथग्यत्नो जायत इति सम्बन्धः। एषामिति। यमकादीनाम्। ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे इति यदुक्तं तत्प्राधान्येनार्धश्लोकेन सङ्गृहीते ध्वन्यात्मभूत इति॥ १६॥

'अहं' इति। अर्थात् अहंपूर्विका के साथ दौड़-दौड़कर आना। कानिचित् इति। अर्थात् कालिदास इत्यादि के किये हुये। समर्थ (कवि) का भी पृथक् यत्न हो जाता है यह सम्बन्ध है। 'इनका' अर्थात् यमक इत्यादि का। 'ध्वन्यात्मभूत शृंगार मे' जो यह कहा गया है वह प्रधानतया अर्ध श्लोक से संगृहीत 'ध्वन्यात्मभूते' इस (का संग्राहक है)॥ १६॥

तारावती

दूसरे पाठक की मनोवृत्ति यमक मे ही उलझकर रह जाती है उसे रसास्वादन का अवसर ही नहीं मिलता।) इसीलिये 'बुद्धिपूर्वक' शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि जब यमक प्रबन्ध के रूप में प्रवृत्त होगा तो उसमें बुद्धिपूर्वकता आ ही जावेगी। 'यत्नान्तर' शब्दका अर्थ है रस-समवधान के लिये जितने यत्न की आवश्यकता है उसके अतिरिक्त यत्न। 'निरूप्यमाण-दुर्घटनानि' के दो अर्थ

ध्वन्यालोकः

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते।

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते। वाच्यालङ्कारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो वक्ष्यते च कैश्चित्, अलङ्काराणामनन्तत्वात्। स सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते।

(अनु०) अब उस अलङ्कार वर्ग की व्याख्या की जा रही है जिसका ध्वन्यात्मभूत शृंगार में उपादान उचित होता है—

'ध्वन्यात्मभूत शृंगार में समीक्षापूर्वक सन्निविष्ट किया हुआ रूपक इत्यादि अलङ्कारवर्ग वास्तविक अलङ्कारता को प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

अलङ्कार निस्सन्देह बाह्यालंकार के साम्य से अङ्गी की चारुता में हेतु कहा जाता है। 'रूपक इत्यादि' मे इत्यादि के द्वारा उन सब अलङ्कारों का संग्रह हो जाता है जो कि वाच्यालङ्कार के रूप में कहे गये हैं और जो कुछ लोगों के द्वारा आगे चलकर कहे जावेंगे। क्योंकि अलङ्कार अनन्त होते हैं। वह सब अलङ्कार-प्रपञ्च यदि समीक्षापूर्वक सन्निविष्ट किया जाता है तो अङ्गी ध्वनि के रूप में स्थित सभी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रस इत्यादि की चारुता में हेतु बन जाता है।

लोचन

इदानीमिति। हेयवर्ग उक्तः। उपादेयवर्गस्तु वक्तव्य इति भावः। व्यञ्जक इति। यश्च यथा चेत्यध्याहारः। यथार्थतामिति। चारुत्वहेतुतामित्यर्थः। उक्त इति।

इदानीमिति। हेयवर्ग कह दिया गया। उपादेयवर्ग तो कहा जाना चाहिये यह भाव है। व्यञ्जक इति। 'जो और जिस प्रकार' इन शब्दों का अध्याहार (किया जाना चाहिये)। यथार्थतामिति। अर्थात् चारुत्वहेतुता को। 'कहा

तारावती

हो सकते हैं—निरूपण करने पर भी जिनकी संघटना कठिन हो अर्थात् ऐसे अलङ्कार स्वभावतः आ जाते हैं जिनकी सङ्घटना उस समय भी कठिन हो जावे। जब बुद्धिपूर्वक उनके संघटन करने की इच्छा की जावे तथा निरूपण करने पर जो दुर्घट दिखलाई दें अर्थात् जिनपर विचार करने पर स्वयं कवि को आश्चर्य हो जावे कि मैंने इन अलङ्कारों को रच कैसे दिया? 'अहंपूर्विका' शब्द 'अहंपूर्वः' से बना है जिसका अर्थ है कि 'मैं ही पहले आऊँगा' 'मैं ही पहले जाऊँगा' इस प्रकार की होड़ अलङ्कारों में लग जाती है। 'इसी अहंपूर्वः' शब्द का भावार्थक

ध्वन्यालोकः

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नाति निर्वहणैषिता ॥१८॥

(अनु०) इस (अलङ्कार) के विनिवेश में इस समीक्षा से काम लेना चाहिये—

'जिस रूपक इत्यादि की विवक्षा रसपरक हो, कभी अंगी के रूप में न हो, समय पर ग्रहण और त्याग कर दिया जावे निर्वहण की अत्यन्त इच्छा न हो ॥१८॥

लोचन

भामहादिभिरलङ्कारलक्षणकारैः। वक्ष्यते चेत्यत्र हेतुमाह अलङ्काराणामनन्तत्वादिति। प्रतिभानन्त्यादन्यैरपि भाविभिः कैश्चिदित्यर्थः ॥ १७ ॥

गया है'। अर्थात् भामह इत्यादि अलङ्कार-लक्षणकारों के द्वारा। और कहा जावेगा इस विषय मे हेतु बतलाते हैं—अलङ्कारों के अनन्त होने से। अर्थात् प्रतिभा के अनन्त होने से अन्य भी कुछ होनेवाले (अलेङ्कारों) से (अनन्तता होती है।) ॥ १७ ॥

तारावती

प्रत्यय होकर 'अहंपूर्विका' बना है। 'यह बात ठीक भी है' इस वाक्य में 'यह बात' का अर्थ है—अलङ्कारों का होड़ लगा कर आना। 'कुछ अलङ्कार रसवान् होते हैं' इस वाक्य मे 'कुछ' का अर्थ है कालिदास इत्यादि महाकवियों के बनाये हुये। इसका सम्बन्ध इससे है कि 'समर्थ भी कवि को उनके लिये पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। इनकी रस में व्यङ्ग्यना नहीं होती' इस वाक्य मे 'इनकी' का अर्थ है यमक इत्यादि की। इन संग्राहक पद्यों में 'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे' यह जो कहा गया है वह प्रधानतया आधी कारिका में आये हुये 'ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे' का ही निर्देशक है ॥१६॥

'अब ध्वन्यात्मभूत शृङ्गार के व्यञ्जक अलङ्कार वर्ग का प्रकथन किया जा रहा है' इस वाक्य में 'अब' का अर्थ यह है कि पिछले प्रकरण मे उन अलङ्कारों का दिग्दर्शन करा दिया गया जो रसमय रचना में त्याज्य होते हैं; रसमय रचना मे जिनका प्रकथन करना शेष है उनका निर्देश किया जा रहा है। 'व्यञ्जक' के साथ 'जो' और 'जिस प्रकार' का अध्याहार कर लेना चाहिये। अर्थात् यहाँपर यह भी बतलाया जा रहा है कि कौन से अलङ्कार रस के व्यञ्जक होते हैं और यह भी बतलाया जा रहा है कि वे किस प्रकार व्यञ्जक होते हैं। 'अलङ्कार यथार्थता को प्राप्त होते हैं' इस वाक्य में यथार्थता का अर्थ है चारुत्वहेतुता। अर्थात् आत्मभूत शृङ्गार में यदि विचारपूर्वक रूपक इत्यादि अलङ्कारों की योजना की जावे

ध्वन्यालोकः

निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥१९॥

(अनु०) निर्वहण के होते हुये भी प्रसन्न पूर्वक अग के रूप मे प्रतिष्ठित कर दिया जावे । इस प्रकार का रूपक इत्यादि अलङ्कार समूह के अंगत्व का साधक माना जाता है ॥ १६ ॥

लोचन

समीक्ष्येति । समीक्ष्येत्यनेन शब्देन कारिकायामुक्तेतिभावः । श्लोकपादेषु चतुर्षु श्लोकार्धे चाङ्गत्वसाधनमिदम्; रूपकादिरिति प्रत्येकं सम्बन्धः । यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति नाङ्गित्वेन, यमवसरे गृह्णाति, यमवसरे त्यजति, यं नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति, यं बलादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते, स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति विततं महावाक्यम् । तन्महावाक्यमध्ये चोदाहरणावकाशमुदाहरणस्वरूपं तद्योजनं तत्समर्थनं च निरूपयितुं ग्रन्थान्तरमिति वृत्तिग्रन्थस्य सम्बन्धः ।

भाव यह है कि 'समीक्ष्य' इस शब्द से कारिका मे कही हुई समीक्षा ली जाती है । चार श्लोक-पादों में और श्लोकार्ध में यह अङ्गत्व का सिद्ध करना है । 'रूपकादिः' इसका प्रत्येक से सम्बन्ध हो जाता है । जिस अलङ्कार को उसके अङ्गत्व के रूप में कहना चाहता है अङ्गी के रूप में नहीं, जिसको अवसर पर ग्रहण करता है, जिसको अवसर पर छोड़ देता है, जिसका अत्यन्त निर्वाह नहीं करना चाहता, प्रयत्नपूर्वक जिसकी अङ्ग के रूप मे अपेक्षा करता है, वह इस प्रकार निबद्ध किया हुआ रसाभिव्यक्ति मे हेतु हो जाता है इस प्रकार का यह वितत महावाक्य है । और उस महावाक्य के बीच मे उदाहरण का अवकाश, उदाहरण स्वरूप उसकी योजना और उसका समर्थन इनके निरूपण के लिये ग्रन्थान्तर (प्रवृत्त हुआ है) यह वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है ।

तारावती

तो वे अलङ्कार वास्तव में चारुता-हेतु हो जाते हैं । 'रूपक इत्यादि अलङ्कार वर्ग कहा गया है' इस वाक्य में 'कहा-गया-है' का अर्थ है भामह इत्यादि आलङ्कारिकों के द्वारा कहा गया है । 'आगे चलकर कहे जावेगे' का हेतु यह है कि अलङ्कार अनन्त होते हैं क्योंकि प्रतिभाये भी अनन्त होती हैं । अतः सम्भव है आगे चलकर कतिपय नये अलङ्कारों का प्रवर्तन किया जावे ॥ १७ ॥

(१७ वीं कारिका में कहा था कि कवि को समीक्षापूर्वक अलंकार योजना करनी चाहिये ।) अब यह बतलाया जा रहा है कि वहाँ पर जिस समीक्षा का निर्देश किया गया था वह समीक्षा क्या हो सकती है ? अर्थात् रसाभिनिवेश में

ध्वन्यालोकः

रसबन्धेऽत्यादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति। यथा—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥

अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः।

(अनु०) रस के बन्धनों के लिए जिस कवि के मन में अत्यन्त आदर है इस प्रकार का कवि जिस अलङ्कार को उसके अंग के रूप में कहना चाहता है (वह रूपक इत्यादि अलङ्कार-समूह को अंग सिद्ध करनेवाला होता है।) जैसे—

'हे मधुकर! तुम इस शकुन्तला की चञ्चल अपांगोंवाली कांपती हुई दृष्टि का बार बार स्पर्श कर रहे हो। कान के निकट मंडराते हुये तुम इस प्रकार का शब्द कर रहे हो मानों कोई रहस्य की बात कहना चाहते हो। यह अपने हाथों को हिला रही है और तुम इसके रति-सर्वस्व अधर का पान कर रहे हो। इस प्रकार हम तो तत्त्वान्वेषण में ही मारे गये, तुम सचमुच सफल हो गये।'

यहाँ पर भ्रमर की स्वभावोक्ति अलङ्कार रस के गुणों के अनुकूल है।

तारावती

प्रवृत्त कवि को अलङ्कार योजना में किन बातों का ध्यान रखना चाहिये। १८ वीं कारिका के प्रत्येक चरण में एक-एक और १६ वीं कारिका के प्रथम आधे श्लोक मे एक बात बतलाई गई है जो कि अलङ्कार को रस का अङ्ग (उसका पोषक) बनाने में समर्थ होती है। वे तत्त्व ये हैं—(१) जिस अलङ्कार को अङ्ग के रूप मे निबद्ध किया जावे। (२) जिसको अङ्गी के रूप में कभी निबद्ध न किया जावे। (३) जिसका ग्रहण और त्याग अवसर के अनुकूल हो अर्थात् जिसे अवसर के अनुसार ग्रहण किया जावे और अवसर के अनुसार ही छोड़ दिया जावे। (४) जिसके निर्वहण की अत्यन्त उत्कण्ठा न हो। (५) निर्वहण के होते हुये भी प्रयत्नपूर्वक जिसको अङ्ग बना देने की चेष्टा की जावे। वह इस प्रकार निबद्ध किया हुआ रूपक इत्यादि अलङ्कार रस की अभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है। यह (छोटे-छोटे अवान्तर वाक्यों से बना हुआ) एक महाकाव्य है। इस महाकाव्य के बीच में (अवान्तर वाक्यों के आधार पर) उदाहरण देने का अवकाश है, उदाहरणों का स्वरूप-विवेचन तथा उसकी प्रकृत में योजना और उसका समर्थन इन बातों का निरूपण करने के लिये अगला ग्रन्थ लिखा जा रहा है यही वृत्तिग्रन्थ का सम्बन्ध है।

लोचन

चलापाङ्गामिति। हे मधुकर ! वयमेवंविधाभिलापचाटुप्रवणा अपि तत्त्वान्वेषणाद्वस्तुवृत्तेऽन्विष्यमाणे हता आयासपात्रीभूता जाताः। त्वं खल्विति। निपातेनायत्नसिद्धं तवैव चरितार्थत्वमिति शकुन्तलां प्रत्यभिलाषिणो दुष्यन्तस्येयमुक्तिः। तथाहि कथमेतदीयकटाक्षगोचरा भूयास्म, कथमेषास्मदभिप्रायव्यञ्जकं रहोवाक्यमाकर्ण्यात्, कथं नु हठादनिच्छन्त्या अपि परिचुम्बनं विधेयास्मेति यदस्माकं मनोराज्यपदवीमधिशेते तत्तवायत्नसिद्धम्। भ्रमरो हि नीलोत्पलधिया तदाशङ्काकरीं दृष्टिं पुनः पुनः स्पृशति। श्रवणावकाशपर्यन्तत्वाच्च नेत्रयोरुत्पलशङ्कानपगमात्तत्रैव दन्ध्वन्यमान आस्ते। सहजसौकुमार्यत्रासकातरायाश्च रतिनिधानभूतं विकसितारविन्दकुवलयामोदमधुरमधरं पिबतीति भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारोऽङ्गतामेव प्रकृतरसस्योपगतः। अन्ये तु भ्रमरस्वभावे उक्तिर्यस्येति भ्रमरस्वभावोक्तिरत्र रूपकव्यतिरेक इत्याहुः।

चलपाङ्गाम् इति। हे मधुर ! इसप्रकार के अभिलाप और चाटु में प्रवण भी हम लोग तत्त्वान्वेषण से वस्तुवृत्त के अन्वेषण किये जानेपर हत होगये हैं अर्थात् आयासमात्र के ही वाचक वन गये हैं। 'त्वं खलु' इति। यहाँ निपात से अयत्न सिद्ध तुम्हारा ही चरितार्थत्व है। यह शकुन्तला के प्रति अभिलाषी दुष्यन्त की उक्ति है। वह इस प्रकार-कैसे इसके कटाक्ष का गोचर हो जाऊँ,—किस प्रकार यह हमारे अभिप्रायव्यञ्जक एकान्तवचनों को सुने; किस प्रकार न चाहनेवाली का भी हठपूर्वक पूर्ण रूप में चुम्बन करूँ; यह जो हमारे मनोराज्यपदवी मे आरूढ है तुम्हारे लिये अयत्नसिद्ध है। भ्रमर निस्सन्देह नील कमल की बुद्धि से उसकी आशङ्का उत्पन्न करनेवाली दृष्टि का बार-बार स्पर्श करता है। नेत्रों के श्रवणावकाशपर्यन्त होने का उत्पलशङ्का के नष्ट न होने के कारण वहीं पर अतिशय रूप में शब्द कर रहा है। सहज सौकुमार्य के त्रास से कातर (शकुन्तला के) रति निधानभूत विकसित अरविन्द और कुवलय जैसे आमोद से मधुर अधर को पीता है इस प्रकार भ्रमरस्वभावोक्ति अलङ्कार प्रकृत रस के अङ्गत्व को ही प्राप्त हो गया है। दूसरे लोग तो 'भ्रमरस्वभाव में उक्ति है जिसकी वह भ्रमरस्वभावोक्ति' यहाँपर रूपक व्यतिरेक है यह कहते हैं।

तारावती (१)

(अलङ्कार के रसाङ्गता-सम्पादन का प्रथम प्रयोजक यह बतलाया गया है कि जब कवि रसमय रचना करने में अपना मन पूर्णरूप से लगा दे उस समय जो अलङ्कार प्रयुक्त हो जाता है रस के अङ्ग के रूप में कहना कवि को अभीष्ट हो, वह अलङ्कार वास्तव में रस का अङ्ग कहा जाता है।) उदाहरण के लिये अभिज्ञान शाकुन्तल मे दुष्यन्त छिपकर शकुन्तला की सारी चेष्टाओं को देख रहे हैं।

ध्वन्यालोकः

नाङ्गित्वेनेति न प्राधान्येन। कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते। यथा —

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ॥

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति।

(अनु०) 'नागित्वेन' का अर्थ है प्रधानता के रूप में नहीं। कभी-कभी रस इत्यादि के तात्पर्य से कथन के लिये अभीष्ट भी अलंकार अंगी के रूप में कथन के लिये अभीष्ट दिखलाई पड़ता है। जैसे—

'जिन विष्णु भगवान् ने चक्राभिघातरूपी अपने सबल आदेश के द्वारा ही राहु की धर्मपत्नियों के सुरतोत्सव में केवल चुम्बन ही शेष रक्खा और आलिंगन के उत्कट विलास को व्यर्थ बना दिया।'

यहाँ पर रस इत्यादि के तात्पर्य होते हुये भी पर्यायोक्त की विवक्षा अंगी के रूप में की गई है।

तारावती

उसी समय एक भ्रमर, शकुन्तला के ऊपर दौड़ आता है, शकुन्तला भयभीत हो जाती है, उस समय की शकुन्तला की चेष्टाओ को देख कर दुष्यन्त भौंरे को सम्बोधित करते हुये ये शब्द कह रहे हैं। इन शब्दों का आशय यह है कि हमारी कामनायें उत्कट कोटि की हैं और हम चाटूक्तियों में भी निपुण है। किन्तु तत्त्वान्वेषण में ही हम मारे गये और आयास के अतिरिक्त हमे कोई फल नहीं मिला। यहाँपर 'खलु' यह निपातार्थक अव्यय है। 'त्वं खलु कृती' इन शब्दों से व्यक्त होता है कि जीवन धारण करना तुम्हारा ही सफल हुआ है और वह भी बिना किसी प्रयत्न के। हमारी कामना है कि किसी न किसी प्रकार शकुन्तला के कटाक्षो का विषय बन सकें, किसी न किसी उपाय से एकान्त मे यह हमारे अभिप्राय को सुने, यह निषेध कर रही हो और हम बलात् इसके अधरों का पान करें ये सब कामनाये हमारे मनोराज्य की पदवी पर ही अधिष्ठित हैं किन्तु तुम्हें बिना ही प्रयत्न के प्राप्त हो गई हैं। यहाँपर भौंरे की स्वभावोक्ति का उपादान जो अलङ्कार है, रस का परिपोष करने के लिये ही किया गया है। भौंरे का स्वभाव ही नेत्र, कान, अधर इत्यादि पर मँडराना और गुनगुनाना होता है। उसमे यह कल्पना की गई है कि शकुन्तला के नेत्र नीलोत्पल की आशङ्का उत्पन्न करते हैं और उनको नीलोत्पल ही समझ कर भौंरा टूट रहा है। नेत्र कानों तक दौड़ते हैं अतः कानों के निकट भी नीलोत्पल की शङ्का दूर नहीं हुई है। अतः भौंरा वहीं पर गुनगुना रहा

लोचन

चक्राभिघात एव प्रसभाज्ञा अलङ्घनीयो नियोगस्तया यो राहुदयितानां रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषं चकार। यत आलिङ्गनमुद्दामं प्रधानं येषु विलासेषु तैर्वन्ध्यः शून्योऽसौ रतोत्सवः। अत्राह कश्चित्—पर्यायोक्तमेवात्र कवेः प्राधान्येन विवक्षितं, नतु रसादि। तत्कथमुच्यते रसादितात्पर्ये सत्यपीति। मैवम्; वासुदेवप्रतापो ह्यत्र विवक्षितः। स चात्र चारुत्वहेतुतया न चकास्ति, अपि तु पर्यायोक्तमेव। यद्यपि चात्र काव्ये न काचिद्दोषा-

चक्राभिघात ही है प्रसभ आज्ञा अर्थात् अलंघनादि नियोग उसके द्वारा जिसने राहु की प्रियतमाओं के रतोत्सव को चुम्बनमात्र शेष कर दिया। क्योंकि आलिङ्गन ही है उद्दाम अर्थात् प्रधान जिन विलासों में उनसे वन्ध्य अर्थात् शून्य वह रतोत्सव (बनगया)। यहाँपर किसी ने कहा है यहाँ प्रधानतया पर्यायोक्त ही कवि का विवक्षित (कहने के लिये अभीष्ट) रस इत्यादि नहीं। तो यह कैसे कहा जा रहा है कि रस इत्यादि तात्पर्य के होते हुये भी ? किन्तु ऐसा नहीं। यहाँ विवक्षित है वासुदेवप्रताप। वह यहाँपर चारुता-हेतु के रूप में प्रकाशित नहीं होता किन्तु पर्यायोक्त ही चारुता-हेतु के रूप में प्रकाशित हो रहा है) यद्यपि यहाँ

तारावती

है। शकुन्तला मे स्वाभाविक कोमलता है; अतः वह भौंरे से त्रस्त हो रही है, ऐसी दशा में वह भौंरा प्रफुल्लित कमल और कुवलय के समान सुगन्धित तथा मधुर, रतिनिधानभूत, अधर का पान कर रहा है। यही भौंरे की स्वभावोक्ति है जिससे दुष्यन्त के पूर्वराग विप्रलम्भ का परिपोष होता है। यही अलङ्कार की रसाङ्गता या रस-परिपोषकता है। कतिपय विद्वानों ने यह अर्थ किया है कि यहाँ पर रूपक और व्यतिरेक अलङ्कार है क्योंकि भ्रमर पर कामुक का आरोप किया गया है। वृत्तिकार के 'भ्रमरस्वभावोक्ति' शब्द का अर्थ उन्होंने यह किया है कि जिन रूपक और व्यतिरेक अलङ्कारों की उक्ति भ्रमर के स्वभाव में है। किन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि यहाँपर भ्रमर के गुण और कार्यों के द्वारा प्रस्तुत से अप्रस्तुत की अवगति हो रही है। अतः यहाँपर समासोक्ति अलङ्कार है।

(२)

अलङ्कार को अङ्गरूपता प्रदान करनेवाला दूसरा तत्त्व है उसका अङ्गी के रूप में स्थित न होना। इसका अर्थ यह है कि जब कभी किसी अलङ्कार का प्रयोग रस के परिपोष के लिये किया जाता है वहाँ पर रस का प्रतिभास ही प्रधान रूप में होना चाहिये। अलङ्कार उसका परिपोषक ही होना चाहिये। किन्तु कहीं पर ऐसा भी हो जाता है कि रस में तात्पर्य होते हुये भी प्रधान रूप से वहाँ पर अलङ्कार का ही प्रतिभास होता है। जैसे—

ध्वन्यालोकः

अङ्गत्वेन विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे। अवसरे गृहीतिर्यथा—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणात्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

इत्यत्र उपमा श्लेषस्य।

(अनु) (३) अङ्ग के रूप मे विवक्षित भी जिस अलङ्कार का अवसर के अनुकूल ही ग्रहण करता है अवसर के प्रतिकूल नहीं।अवसर पर ग्रहण करने का उदाहरण—

'उत्कण्ठ कलिकावाली, विशेष रूप से पाण्डुवर्णवाली, क्षणभर में ही जृम्भा को आरम्भ करदेनेवाली, अविरल रूप में श्वसन के उद्गम द्वारा अपने आयासका विस्तारित करती हुई मदन से युक्त इस उद्यानलता को परस्त्री की भाँति देखते हुये मैं निस्सन्देह देवी के मुख को कोपसे लाल कर दूँगा। यहाँपर उपमा में श्लेष का अवसर के अनुकूल उपादान है।

लोचन

शङ्का, तथापि दृष्टान्तवदेतत्—यत्प्रकृतस्य पोषणीयस्य स्वरूपतिरस्कारोऽङ्गभूतोऽप्यलङ्कारः सम्पद्यते। ततश्च क्वचिदनौचित्यमागच्छतीत्ययं ग्रन्थकृत आशयः। तथा च ग्रन्थकार एवाग्रे दर्शयिष्यति। महात्मनां दूषणोद्घोषणमात्मन एव दूषणमिति नेदं दूषणोदाहरणं दत्तम्।

पर काव्य मे कोई दोष की शङ्का नहीं है तथापि यह दृष्टान्तवत् है कि पोषणीय प्रकृत का तिरस्कारक अङ्गभूत अलङ्कार भी हो जाता है। फिर कहीं अनौचित्य को भी प्राप्त हो जाता है यह ग्रन्थकार का आशय है। तथा च ग्रन्थकार इस प्रकार आगे दिखलावेंगे। महात्माओं का दोषोद्घोषण अपना ही दोष है अतएव यह दोष का उदाहरण नहीं दिया।

तारावती

'जिन विष्णु भगवान् ने चक्राभिघातरूपी अपने सबल आदेश से राहु की धर्मपत्नियों के सुरत के उत्सव मे केवल चुम्बन ही शेष रक्खा और आलिङ्गन के उत्कट विलास को व्यर्थ बना दिया।'

यहाँपर कहना यह है कि विष्णु भगवान् ने चक्र से राहु का शिर काट लिया। किन्तु कहा यह गया है कि 'राहु की पत्नियों का आलिङ्गन असम्भव बना कर उनका सुरत व्यर्थ कर दिया।' (पुराणों में लिखा है कि छलपूर्वक अमृत पान में

लोचन

उद्दामा उद्गताः कलिकाः यस्याः। उत्कलिकाश्च रुहरुहिकाः। क्षणात्तस्मिन्नेवावसरे प्रारब्धा जृम्भा विकासो यया। जृम्भा च मन्मथकृतोऽङ्गमर्दः। श्वसनोद्गमैर्वसन्तमारुतोल्लासैरात्मनो लतालक्षणस्यायासमायासनमान्दोलनयत्नमातन्वतीम्। निश्वासपरम्पराभिश्चात्मन आयासं हृदयस्थितं सन्तापमातन्वतीं प्रकटीकुर्वाणाम्। सह मदनाख्येन

उद्दाम अर्थात् निकली हुई हैं कलिकायें जिसकी और उत्कलिका का अर्थ है उत्कण्ठा। क्षणभर में अर्थात् उसीसमय प्रारम्भ कर दिया गया है जृम्भा अर्थात् विकास जिसके द्वारा। जृम्भा अर्थात् कामजन्य अङ्गमर्द। श्वसनोद्गम अर्थात् वसन्त मारुत के उल्लास के द्वारा लतारूप अपने आयास अर्थात् हिलने के प्रयत्न को विस्तारित करती हुई। निश्श्वासपरम्पराओं के द्वारा अपने आयास अर्थात् हृदयस्थित सन्ताप को प्रकट करनेवाली। मदन नाम के वृक्ष-

तारावती

प्रवृत्त राहु का शिर भगवान् ने अपने चक्र से काट लिया। अमृतपान कर चुकने के कारण उसकी मृत्यु नहीं हुई। अब केवल शिर को ही राहु कहते हैं। इस प्रकार शिर के कट जाने के बाद से राहु के लिये आलिंगन असम्भव हो गया। केवल चुम्बन ही शेष रह गया।) यहाँपर भंग्यन्तर से एक बात कही गई है। अतः पर्यायोक्त अलङ्कार है। इस विषय में किसी ने लिखा है—यहाँपर पर्यायोक्त ही कवि के लिये प्रधानतया विवक्षित है। रस की प्रधानता यहाँपर कही ही किस प्रकार जा सकती है? किन्तु यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि यहाँपर मुख्य रूप से वासुदेव के प्रताप का वर्णन ही अभिप्रेत है। किन्तु वह चारुता-हेतु के रूप में प्रतीत नहीं हो रहा है। चारुता-हेतु पर्यायोक्त ही मालूम पड़ता है। यहाँपर एक बात और समझ लेनी चाहिये—लेखक ने दोषदर्शन की दृष्टि से यह उदाहरण नहीं दिया है। इस उदाहरण के द्वारा लेखक ने केवल यह बात दिखलाई है कि कहीं कहीं पर जिस रस का परिपोष करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है उसका अंग होते हुये भी उसी का तिरस्कारक हो जाता है। यहाँपर यह भले ही दोष न हो किन्तु कभी-कभी ऐसी अवस्था दोषपूर्ण भी हो सकती है। यह बात आगे चलकर ग्रंथकार स्वयं स्वीकार करेगा कि मान्य कवियों के काव्यों में दोष दिखलाना ग्रंथकार को अभीष्ट नहीं है। क्योंकि महात्माओं के दोष की उद्घोषणा करना अपना ही दोष होता है। अतः अलङ्कार के दोष होने का उदाहरण नहीं दिया गया है।

(२) जिसका ग्रहण अवसर के अनुकूल हो। अंग के रूप में प्रयोग करने मात्र से ही अलङ्कार रस का परिपोषक नहीं हो जाता। यह भी हो सकता है कि अलङ्कार का उपादान रस के अंग के रूप में हुआ हो किन्तु अवसर के प्रतिकूल

लोचन

वृक्षविशेषेण मदनेन कामेन च। अत्रोपमाश्लेष ईर्ष्याविप्रलम्भस्य भाविनो मार्गपरिशोधकत्वेन स्थितस्तच्चर्वणाभिमुख्यं कुर्वन्नवसरे रसस्य प्रमुखीभावदशायां पुरस्सरायमाणो गृहीत इति भावः। अभिनयोऽप्यत्र प्राकरणिके प्रतिपदम्। अप्राकरणिके तु वाक्यार्थाभिनयेनोपाङ्गादिना। न तु सर्वथा नाभिनय इत्यलमवान्तरेण। ध्रुवशब्दश्च भावीर्ष्यावकाश प्रदानजीवितम्।

विशेष के साथ और मदन अर्थात् कामदेव के साथ। भाव यह है कि यहाँपर उपमा श्लेष भावी ईर्ष्याविप्रलम्भ का मार्ग-परिशोधक होने के रूप में स्थित उसकी चर्वणा के आभिमुख्य को करते हुये अवसर पर अर्थात् रस के प्रमुख होने की दशा में आगे आते हुये ग्रहण किया जाता है। यहाँपर अभिनय भी प्राकरणिक अर्थ में प्रतिपद (होता है)। अप्राकरणिक में तो वाक्यार्थाभिनय के साथ उपाङ्ग इत्यादि के द्वारा (अभिनय किया जाता है)। सर्वथा अभिनय न होता हो यह बात नहीं है। बस अधिक अवान्तर की क्या आवश्यकता ? ध्रुव शब्द भावी ईर्ष्या के अवकाश-प्रदान का जीवन है।

तारावती

प्रयोग करने के कारण वह रस का परिपोष न कर सके। अतः वही अलङ्कार रस का परिपोष कर सकता है जो अंग के रूप में विवक्षित भी हो और उसका उपादान अवसर के प्रतिकूल न होकर अवसर के अनुकूल ही हो। अवसर के अनुकूल अलङ्कार प्रयोग का उदाहरण रत्नावली से दिया गया है। वत्सराज उदयन और रानी वासवदत्ता ने अपनी-अपनी लताओं को दोहद के कृत्रिम उपायों द्वारा अकाल-कुसुमित कराने की चेष्टा की थी। संयोगवश राजा की लता कुसुमित हो गई और वासवदत्ता की लता कुसुमित न हो सकी। राजा यह समाचार सुनकर उद्यान-लता को देखने के लिये जाते हुये कह रहे हैं कि जब मैं प्रेमपूर्वक अपनी प्रफुल्लित लता को देखूँगा तो स्वभावतः अपनी असफलता के विचार से रानी को क्रोध आवेगा। इसी प्रसंग में पर-स्त्री की उपमा दी गई है। जब कोई पुरुष किसी पर-स्त्री को प्रेमपूर्वक देखता है तब उसकी पत्नी को क्रोध आ जाना स्वाभाविक ही है। लता भी स्त्री (स्त्रीलिंग) है। अतः उसे प्रेमपूर्वक देखते हुये राजा को देखकर वासवदत्ता को क्रोध अवश्य आवेगा। यहाँपर लता के जितने भी विशेषण दिये गये हैं वे सब श्लेष के कारण लता और पर-स्त्री दोनों ओर घटते हैं।) लता 'उद्यानोत्कलिका' होगी अर्थात् उसमें कलियाँ निकल आई होंगी। मानो पर-स्त्री (प्रतिनायिका) उत्कट कोटि की सम्मिलन की उत्कण्ठा से युक्त हो। लता के अन्दर उसी अवसर पर जृम्भा अर्थात् विकास आरम्भ हो गया होगा। मानो पर-

3(b)

ध्वन्यालोकः

गृहीतमपि चयमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेक्षया। यथा—

> रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियायाः गुणैः
> त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्तः सखे मामपि॥
> कान्तापादतलाहतिस्तवमुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
> सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः॥

(अनु०) (४) जिसको ग्रहण करके भी रस के अनुकूल होने के कारण दूसरे अलङ्कार की अपेक्षा करते हुये छोड़ भी दिया जावे। जैसे—हे अशोक तुम नव पल्लव से और मैं भी प्रियतमा के श्लाघ्य गुणों से रंगा हुआ हूँ ! हे मित्र ! स्मर-धनु से छूटे हुये शिलीमुख तुम पर आ रहे हैं और मुझपर भी। कान्ता के चरण तल के द्वारा ताड़न तुम्हें आनन्द देता है और उसी प्रकार मुझे भी। हे अशोक हम दोनों को सब बातें समान हैं केवल ब्रह्माजीने मुझे अशोक बनाया है।

लोचन

रक्तो लोहितः। अहमपि रक्तः प्रबुद्धानुरागः। तत्र च प्रबोधको विभावस्तदीयपल्लवराग इति मन्तव्यम्। एवं प्रतिपादमाद्योऽर्थो विभावत्वेन व्याख्येयः। अत एव हेतुश्लेषोऽयम्। सहोक्त्युपमाहेत्वलङ्काराणां हि भूयसा श्लेषानुग्राहकत्वम्। अनेनैवाभिप्रायेण भामहो न्यरूपयत्—'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधम्' इत्युक्त्या न त्वन्यालङ्कारानुग्रहचिकीर्षया।

रक्त अर्थात् लाल। मैं भी रक्त अर्थात् प्रवृद्ध अनुरागवाला हूँ। यहाँपर प्रबोधक विभाव उसका पल्लवराग माना जाना चाहिये। इस प्रकार प्रतिपद प्रथम अर्थ की व्याख्या विभाव रूप में की जानी चाहिये। इसीलिये यह हेतु-श्लेष है। सहोक्ति उपमा और हेतु अलङ्कारों का अधिकता के साथ श्लेष का अनुग्राहकत्व है। इसी अभिप्राय से भामहने निरूपण किया है—वह सहोक्ति उपमा और हेतु के निर्देश से तीन प्रकार का है—इस उक्ति से अन्य अलङ्कारों के अनुग्रह के निराकरण की इच्छा से नहीं।

तारावती

वनिता में जृम्भा अर्थात् काम-वेदना के कारण अंगों का टूटना प्रारम्भ हो गया हो। श्वसन शब्द के दो अर्थ हैं—(१) वसन्त की वायु और श्वास-वायु। श्वसन अर्थात् वसन्त की वायु से लता अपने आयास (मन्द-मन्द कम्पन) को विस्तारित कर रही होगी जैसे कोई रमणी अपने हृदय में स्थित काम-वेदनाजन्य सन्ताप को प्रकट कर रही हो। लता समदना अर्थात् मदनफल नामक वृक्ष से युक्त होगी अर्थात् मदनफल नाम के वृक्ष पर फैली हुई होगी जैसे कोई रमणी मदन अर्थात्

ध्वन्यालोकः

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रसविशेषं पुष्णाति। नात्रालङ्कारद्वयसन्निपातः, किं तर्हि? अलङ्कारान्तरमेव श्लेषव्यतिरेकलक्षणं नरसिंहवदिति चेत्—न, तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात्। यत्र हि श्लेषविषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते स तस्य विषयः। यथा—'सहरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इत्यादौ।

(अनु०) यहाँ पर प्रबन्ध मे प्रवृत्त हुआ भी श्लेष व्यतिरेक के कथन की इच्छा से त्याग दिया गया है और इसी कारण रस-विशेष (विप्रलम्भ) को पुष्ट करता है। (पूर्वपक्षी) यहाँ पर दो अलङ्कारों का मेल नहीं हैं। (उत्तरप०) तो क्या है? (पूर्व प.) नरसिंह (के मिलित स्वरूप) के समान यह श्लेष और व्यतिरेक के मेल से बना हुआ दूसरा ही अलङ्कार है। (उ. प.) नहीं यह बात नहीं है। क्यों कि उसकी व्यवस्था तो अन्य प्रकार से ही होती है। जहाँ पर श्लेष विषयभूत शब्द में ही प्रकारान्तर से व्यतिरेक की प्रतीति हो जाती है वह उसका (सङ्कर का) विषय होता है। 'जैसे वे हरि नाम के ही हैं किन्तु देव सुन्दर घोड़ों के समूह के कारण सहरि हैं।'

तारावती

कामदेव से युक्त हो।' यहाँ पर उपमा और श्लेष का उपादान अवसर के अनुकूल ही हुआ है। क्योंकि अग्रिम प्रकरण में सागरिका के प्रति राजा के प्रेम को देखकर रानी के चित्त में ईर्ष्या-विप्रलम्भ का उदय होने ही वाला है। यह उपमा उसी ईर्ष्या-विप्रलम्भ के मार्ग की शोधक है। यह सहृदयों के हृदय को रस की चर्वणा के अनुकूल बना देती है और रस के प्रमुख अवस्था को प्राप्त होने के ठीक पहले अवसर के अनुकूल ही इसका उपादान हुआ है। (इस प्रकरण का मुख्य प्रतीयमान ईर्ष्या-विप्रलम्भ है; उसका आस्वादन करने के पहले इस उपमा द्वारा सहृदयों के हृदय रसास्वादन के अनुकूल बन जाते हैं। यही इस उपमा का रसप्रवणत्व है।) नट को प्रत्येक शब्द का अभिनय प्राकरणिक अर्थ लता में ही करना चाहिये। अप्राकरणिक अर्थ मे अभिनय वाक्यार्थ के अभिनय के द्वारा उपाङ्ग इत्यादि के रूप में होता है। यह बात नहीं कहनी चाहिये कि अप्राकरणिक अर्थ में अभिनय होता ही नहीं। 'ध्रुवम्' (अवश्य ही) शब्द ही भावी ईर्ष्या को अवकाश देने में जीवन है।

(४) अवसर तथा आवश्यकता के अनुकूल किसी अलङ्कार का त्याग देना भी रस का पोषक होता है। आशय यह है कि यदि रस-परिपोष के लिये एक अलङ्कार का उपादान किया गया हो और उसके लिये उस अलङ्कार को छोड़कर

लोचन

रसविशेषमिति विप्रलम्भम्। सशोकशब्देन व्यतिरेकमानयता शोकसहभूतानां निर्वेदचिन्तादीनां व्यभिचारिणां विप्रलम्भपरिपोषकाणामवकाशो दत्तः। किं तर्हीति। सङ्करालङ्कार एक एवायं; तत्र किं त्यक्तं किं वा गृहीतमिति परस्याभिप्रायः। तस्येति सङ्करस्य। एकत्र हि विषयेऽलङ्कारद्वयप्रतिभोल्लासः सङ्करः। सहरिशब्द एको विषयः। सः हरिः यदि वा सह हरिभिः सहरिरिति।

रस-विशेष का अर्थ है विप्रलम्भ। व्यतिरेक को लानेवाले सशोक शब्द से शोक के साथ होनेवाले निर्वेद चिन्ता इत्यादि विप्रलम्भ के परिपोषक व्यभिचारियों को अवकाश दे दिया गया है। कि तर्हीति। यह एक ही सङ्करा-लङ्कार ही है। उसमे क्या छोड़ दिया गया और क्या ग्रहण किया गया है यह दूसरे का अभिप्राय है। 'तस्य' का अर्थ है सङ्कर का। एक विषय मे दो अलङ्कारों की प्रतिभा का उल्लास सङ्कर है। 'सहरि' शब्द एक विषय है। वह हरि, अथवा हरियों के साथ।

तारावती

दूसरे अलङ्कार के ग्रहण करने की आवश्यकता पड जावे तो उसे छोड़ भी देना चाहिये। जैसे हनुमान् नाटक में श्री रामचन्द्र जी भगवती सीता की वियोगावस्था में अशोक से कह रहे हैं—

'हे अशोक तुम नवीन पल्लवों से रक्त (लालरंग से रंगे हुये) हो और मैं भी प्रियतमा के श्लाघ्य गुणों से रक्त (प्रवृद्ध अनुरागवाला) हूँ। स्मर और धनु नाम के वृक्षों से छूटे हुये शिलीमुख (भ्रमर) तुम्हारे ऊपर आ रहे हैं और स्मरधनु (कामदेव के धनुष) से छूटे हुये शिलीमुख (बाण) मेरे ऊपर आ रहे हैं। कान्ता के चरणतल का प्रहार तुम्हे आनन्द देनेवाला है अर्थात् पुष्पित कर देता है और उसी प्रकार कान्ता के चरणतल का प्रहार (एक प्रकार का सुरत-बध) मुझे भी आनन्द देता है। मुझमें और तुममें सब बात तो समान हैं भेद केवल इतना ही है कि तुम अशोक हो और मैं सशोक हूँ।'

यहाँ पर रक्त, शिलीमुख, स्मर, धनुः, अशोक इन शब्दों में श्लेष है जिससे अनुग्राहक के रूप मे ३ अलङ्कारों की व्यञ्जना होती है (१) सहोक्ति—अर्थात् अशोक के साथ राम भी रक्त हैं इत्यादि रूपों में उपमागर्भित साहचर्य व्यक्त होता है। (२) उपमा—'राम अशोक के समान रक्त हैं' इत्यादि। (३) हेतु—अशोक पल्लवों से रक्त है इसी उद्दीपन के कारण राम प्रियतमा के गुणों से रक्त हो रहे हैं। अशोक पर स्मर और धनुनाम के वृक्षों से छूटे हुये भ्रमर आ रहे हैं जो उद्दीपक हैं अतः राम भी कामवाणों का लक्ष्य हो रहे हैं, अशोक प्रियतमा के चरणाघात से फूल उठता है इसी तथ्य का स्मरणकर वे अपनी प्रियतमा के स्मरण का

तारावती

आनन्द ले रहे हैं। इस प्रकार यहाँपर प्रत्येक पाद में प्रथम अर्थ (अशोक-परक अर्थ) की उद्दीपन विभाव रूप में व्याख्या की जानी चाहिये। अतएव इसे हम हेतु-श्लेष कहेंगे। सहोक्ति, उपमा और हेतु ये तीन अलङ्कार विशेष रूप से अधिकता के साथ श्लेष के ग्राहक होते हैं इसी आशय से भामह ने निरूपण किया है—'सहोक्ति, उपमा और हेतु इन तीन अलङ्कारों का निर्देश करने के कारण वह (श्लेष) तीन प्रकार का होता है।' इस उक्ति के द्वारा भामह ने यही सिद्ध किया है कि ये तीन अलङ्कार विशेष रूप से श्लेष के द्वारा अनुगृहीत होते हैं। इसका आशय यह कदापि नहीं है कि अन्य अलङ्कार श्लेष के द्वारा अनुगृहीत होते ही नहीं। 'प्रबन्धप्रवृत्त श्लेष-व्यतिरेक को अनुगृहीत करने के निमित्त परित्यक्त होकर विशेष रस को पुष्ट करता है।' इस वाक्य मे विशेष रस का अर्थ है विप्रलम्भ शृङ्गार। 'सशोक' शब्द से व्यतिरेक की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार शोक के साथ होनेवाले तथा विप्रलम्भ के परिपोषक निर्वेद चिन्ता इत्यादि व्यभिचारी भावों को भी अवकाश प्रदान कर दिया गया है। (यहाँपर मूल ग्रन्थ में एक उदाहरण अलङ्कार के अवसरानुकूल ग्रहण का दिया गया है और दूसरा उदाहरण 'रक्तस्त्वं' इत्यादि अवसरानुकूल अलङ्कार के परित्याग का दिया गया है। इस विषय में पण्डितराज ने लिखा है कि "जिस प्रकार रति इत्यादि की आवश्यकता के अनुसार किसी अंग से भूषण (वस्त्र) इत्यादि का हटाया जाना ही विशेष शोभाधायक होता है उसी प्रकार प्रकृत उदाहरण में रसानुकूल होने के कारण उपमालंकार का परित्याग ही रमणीय है व्यतिरेक नहीं। इसीलिये सहृदय-धुरन्धर ध्वनिकार ने रस के अनुसार कहीं रस का संयोग करना चाहिये कहीं वियोग यह कहकर सादृश्य के दूरीकरण में 'रक्तस्त्वम्' इस पद्य का उदाहरण दिया है।" यहाँपर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपमा और व्यतिरेक इन दोनों की यहाँपर संसृष्टि है या संकर? आनन्दवर्धन ने संसृष्टि मानी है। संसृष्टि मानने से ही ध्वनिकार का मन्तव्य भी सिद्ध होता है क्योंकि संकर में सब अलंकार मिलकर एक हो जाते हैं। अतएव उसमें किसी एक अलंकार के ग्रहण और दूसरे के त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। जब दो या अधिक अलंकार एक दूसरे से मिलते हैं और उनकी पृथक् सत्ता प्रतीत होती रहती है तब उनकी संसृष्टि कही जाती है। संसृष्टि में ही एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग उचित कहा जा सकता है। अग्रिम प्रकरण में संकर को पूर्व पक्ष में रखकर संसृष्टि की सिद्धान्तपक्षता का समर्थन किया गया है) (प्रश्न) यहाँपर दो अलंकारों का सम्मिलन नहीं है किन्तु एक दूसरा ही श्लेष-व्यतिरेक नामवाला

ध्वन्यालोकः

अत्र ह्यन्य एव शब्दः श्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य। यदि चैवंविधे विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते तत्संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात्। श्लेषमुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेर्विषय इति चेन्न, व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात्। यथा—

(अनु०) (इसके प्रतिकूल) यहाँपर श्लेष का विषय अन्य शब्द है और व्यतिरेक का विषय अन्य शब्द है । यदि इस प्रकार के विषय में अलङ्कारान्तर कल्पना की जावेगी तो संसृष्टि का तो विषयापहार ही हो जावेगा । यदि यह कहो कि 'श्लेष-मुख से ही यहाँ पर व्यतिरेक को अपना स्वरूप प्राप्त होता है । अतः यह संसृष्टि का विषय नहीं है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि व्यतिरेक प्रकारान्तर से भी देखा जाता है । जैसे:—

तारावती

अलंकार है। दो अलंकारों का एकीकरण इसी प्रकार हो सकता है जैसे मनुष्य और सिंह को मिलाकर नृसिंह की एक मूर्ति की कल्पना कर ली जाती है। फिर भी यह कहना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है कि एक अलंकार ने दूसरे को अवकाश दे दिया ? यहाँपर पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है कि संकर नाम का यह एक ही अलंकार है उसमें क्या छोड़ा गया क्या ग्रहण किया गया ? अर्थात् जब दोनों अलंकार मिलकर एक है तब कथन संगत नहीं हो सकता कि एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण किया गया । (उत्तर) यहाँपर दो अलङ्कारों का एकीकरण रूप सङ्कर नहीं है । कारण यह है कि सङ्कर के विषय में तो व्यवस्था का प्रकार ही दूसरा है । अलङ्कारों का सङ्कर वहीं पर होता है जहां एक ही विषय में दो अलङ्कारों की प्रतिभा का उल्लास हो । आशय यह है कि जहाँ दो अलङ्कारों की प्रतीति का विषय (क्षेत्र) एकही होता है वहाँ उन दोनों अलङ्कारों का सङ्कर कहा जाता है। श्लेष और व्यतिरेक का सङ्कर वहीं पर होगा जहाँ जिस शब्द में श्लेष हो उसी शब्द का दूसरा प्रकार (अर्थ) लेकर व्यतिरेक की प्रतीति होने लगे । जैसे 'सहरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन' इस वाक्य में सहरि शब्द श्लेष का भी प्रत्यायन करता है और व्यतिरेक का भी । सहरि शब्द का भगवान् के पक्ष में अर्थ होगा 'वे भगवान्' और राजा के पक्ष में अर्थ होगा-'हरि अर्थात् घोड़ों से युक्त' इस प्रकार इस पूर्ण वाक्य का अर्थ होता हैं वे भगवान् तो नाम के ही 'हरि' हैं किन्तु वास्तविक 'सहरि' शब्द राजा के पक्ष में ही ठीक घटता है क्योकि राजा घोड़ों से युक्त हैं । यहाँ पर 'सहरि' शब्द ही श्लेष का भी प्रत्यायन करा देता है और व्यतिरेक का भी । इस प्रकार यहाँ पर

लोचन

अत्र हीति। हि शब्दस्तुशब्दस्यार्थे । रक्तस्त्वमित्यत्रेत्यर्थः । अन्य इति रक्त इत्यादिः । अन्यश्च अशोकसशोकादिः । नन्वेकं वाक्यात्मकं विषयमाश्रित्यैकविषयत्वादस्तु सङ्कर इत्याशङ्क्याह—यदीति । एवंविधे वाक्यलक्षणे विषये विषय इत्येकत्वं विवक्षितं बोध्यम् । एकवाक्यापेक्षया यद्येकविषयत्वमुच्यते तत्र क्वचित् संसृष्टिः स्यात्, सङ्करेण व्याप्तत्वात्। ननूपमागर्भो व्यतिरेकः, उपमा च श्लेषमुखेनैयातेति श्लेषोऽत्र व्यतिरेकस्यानुग्राहक इति संकरस्यैवैष विषयः। यत्र

अत्र हीति । 'हि' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ मे है । अर्थात् तुम रक्त हो । अन्य का अर्थ है रक्त इत्यादि । और अन्य अशोक सशोक इत्यादि है । (प्रश्न) एक वाक्यात्मक विषय को लेकर एक विषय होने से सङ्कर होजावे? इस शङ्का का (उत्तर) देते हैं—'यदि इति' । इस प्रकार के वाक्यात्मक विषय में । विषय यह एक वचन विवक्षित समझा जाना चाहिये। एक वाक्य की अपेक्षा से यदि एकवाक्यत्व कहा जावे तो कहीं संसृष्टि हो ही नहीं सकती। क्योंकि (ऐसी दशा मे) सङ्कर से व्याप्त (हो जावेगी)। (प्रश्न) व्यतिरेक उपमागर्भित है और उपमा श्लेष के बल पर ही आई है इस प्रकार श्लेष यहाँ पर व्यतिरेक का अनुग्राहक है अतः यह सङ्कर का ही विषय है ।

तारावती

श्लेष और व्यतिरेक का सङ्कर है। इसके प्रतिकूल प्रस्तुत उदाहरण 'रक्तस्त्वं—सशोकः कृतः' में श्लेष का विषय रक्तः इत्यादि है और व्यतिरेक का विषय 'अशोक' 'सशोक' इत्यादि शब्द है । विषयभेद होने के कारण यहाँ पर सङ्कर नहीं संसृष्टि ही होगी । 'अत्र ह्यन्य एव व्यतिरेकस्य' इस वृत्तिगत वाक्य मे 'हि' शब्द का अर्थ है 'तु' अर्थात् यहाँ तो विषयभेद हो जाता है अतः सङ्कर नहीं हो सकता। (प्रश्न) यहाँ पर एक शब्द भले ही दोनों अलङ्कारों का विषय न हो किन्तु एक वाक्य तो दोनों अलङ्कारो का विषय है ही । फिर यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि विषय-भेद दोनों के कारण दोनों अलङ्कारों का सङ्कर नहीं हो सकता । (उत्तर) यदि आप वाक्य को लेकर भी दो अलङ्कारों की एकविषयता मानेगे तो संसृष्टि तो कहीं हो ही न सकेगी। सर्वत्र सङ्कर ही संसृष्टि के विषय को व्याप्त कर लेगा । अतएव एक वाक्य को लेकर अलङ्कारों की एकविषयता नहीं मानी जा सकती । यहाँ पर 'वाक्य मे' इस शब्द का एक वचन सप्रयोजन है । इसका अर्थ होता है 'एक वाक्य मे' । (प्रश्न) व्यतिरेक सर्वदा उपमा-गर्भित ही होता है । वहाँ पर उपमा श्लेष के बल पर ही आई है अतः यहाँ पर श्लेष व्यतिरेक का अनुग्राहक ही है अतएव यहाँ पर श्लेष और व्यतिरेक का सङ्कर ही होना चाहिये । संसृष्टि का विषयापहार भी नहीं होता क्योंकि संसृष्टि ऐसे स्थान पर हो सकती है जहाँ पर दो अलंकारों का अनुग्राह्यानुग्राहक भाव हो । अतः यहाँ पर संसृष्टि के विषयापहार की आड़ ली ही कैसे जा सकती

ध्वन्यालोकः

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमः कज्जलेन।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो।
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः॥

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शितः। नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वप्रतीतिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात् न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि न वाच्यम्। यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव। यथा—

(अनु०) अपने वेग से निर्दयता-पूर्वक पर्वतों को भी दिखलाकर देनेवाली कल्पान्त वायु से भी जो शान्त नहीं की जा सकती, जो दिन में उज्ज्वल कान्ति को प्रगाढ़ता के साथ उगलती रहती है, जो अन्धकार रूपी कज्जल से रहित न हो यह बात नहीं जो पतङ्ग से उत्पत्ति को प्राप्तकर उसी से हरण को नहीं प्राप्त होती। ऐसी, उष्ण कान्तिवाले समस्त द्वीपों के दीपक सूर्य की प्रभा, जो एक विलक्षण प्रकार की ही (दीपक की) बत्ती है, आप सब लोगों को सुखी करे।

यहाँपर तो समानता के (दीपवर्ति और सूर्य प्रभा में) बिना ही प्रपञ्चप्रतिपादन के व्यतिरेक दिखाया है। यहाँपर श्लेषमात्र से चारुत्वप्रतीति है इसलिये व्यतिरेक का अंग होने से उसकी विवक्षा नहीं होती। स्वतः अलंकारता नहीं है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि इस प्रकार के विषय में भलीभाँति प्रतिपादित किये हुये साम्य मात्र से ही चारुता की प्रतिपत्ति देखी जाती है। जैसे—

लोचन

त्वनुग्राह्यानुग्राहकभावो नास्ति तत्रैकवाक्यगामित्वेऽपि संसृष्टिरेव; तदेतदाह—श्लेषेति। श्लेषबलानीतोपमामुखेनेत्यर्थः। एतत्परिहरति—नेति। अयं भावः—किं सर्वत्रोपमायाः स्वशब्देनाभिधाने व्यतिरेको भवत्युत गम्यमानत्वे। तत्राद्यं पक्षं दूषयति—प्रकारान्तरेणेति। उपमाभिधानेन विनापीत्यर्थः।

जहाँ पर तो अनुग्राह्यानुग्राहक भाव नहीं होता वहाँ एकवाक्यगामी होने पर भी संसृष्टि ही होती है। अतः यही कह रहे हैं—श्लेष इति। अर्थात् श्लेष के बल पर से लाई हुई उपमा के द्वारा। इसका उत्तर देते है—नेति। आशय यह है—'क्या सर्वत्र उपमा के स्वशब्द द्वारा कहे जाने में व्यतिरेक होता है या गम्यमान होने में? उसमे प्रथम पक्ष मे दोष दिखलाते हैं—प्रकारान्तरेण इति। अर्थात् उपमा के अभिधान के बिना भी।

लोचन

शम्या शमयितुं शक्येत्यर्थः। दीपवर्तिस्तु वायुमात्रेण शमयितुं शक्यते। तम एव कज्जलं तेन। न नो रहिता अपि तु रहितैव। दीपवर्तिस्तु तमसापि युक्ता भवति। अत्यन्तमप्रकटत्वात् कज्जलेन चोपरिचरेण। पतङ्गादर्कात्। दीपवर्तिः पुनः शलभादुध्वंसते नोत्पद्यते। साम्येति। साम्यस्योपमायाः प्रपञ्चेन प्रबन्धेन यत्प्रतिपादनं स्वशब्देन तेन विनापीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—प्रतीयमानैवोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहिणी भवन्ती नाभिधानं स्वकण्ठेनापेक्षते। तस्मान्न श्लेषोपमा व्यतिरेकस्यानुग्राहित्वेनोपात्ता। ननु यद्यप्यन्यत्र नैवं तथापीह तत्प्रावण्येनैव सोपात्ता; तदप्रावण्ये स्वयं चारुत्वहेतुत्वाभावादिति श्लेषोपमात्र पृथगलङ्कारभावमेव न भजते। तदाह—नात्रेति। एतदसिद्ध स्वसंवेदनबाधितत्वादिति हृदये गृहीत्वा स्वसंवेदनमपह्नुवानं परं श्लेषं विनोपमामात्रेण चारुत्वसम्पन्नमुदाहरणान्तरं दर्शयन्निरुत्तरीकरोति—यत इत्यादिना। उदाहरणश्लोके तृतीयान्तपदेषु तुल्यशब्दोऽभिसम्बन्धनीयः अन्यत्सर्वं रक्तस्त्वमिति वद्योज्यम्।

शम्या अर्थात् शमन किये जाने में समर्थ। दीपबत्ती तो वायुमात्र से शमन की जा सकती है। अन्धकार ही कज्जल उसके द्वारा। नहीं रहित है ऐसा नहीं अपितु रहित ही है। दीपबत्ती तो अन्धकार से भी युक्त होती है क्योंकि अत्यन्त अप्रकट होती है और ऊपर मँडरानेवाले कजल के द्वारा (अन्धकार से युक्त होती है)। पतङ्ग से अर्थात् सूर्य से (उत्पन्न)। किन्तु दीप की बत्ती तो शलभ से ध्वस्त होती है उत्पन्न नहीं होती। साम्य अर्थात् उपमा के प्रपञ्च अर्थात् प्रबन्ध से जो प्रतिपादन उस स्वशब्द के बिना भी यह अर्थ है। यह कहा गया है—प्रतीयमान उपमा ही व्यतिरेक की अनुग्राहिणी होती हुई स्वकण्ठ से अभिधान की अपेक्षा नहीं करती। अतः श्लेषोपमा व्यतिरेक के अनुग्राहक के रूप में ग्रहण नहीं की गई है। (प्रश्न) यद्यपि अन्यत्र ऐसा नहीं होता तथापि यहाँपर (रक्तस्त्वं इत्यादि मे) तो तत्परक (व्यतिरेकपरक) रूप में ही वह दिखलाई गई है। तत्परक न होने पर स्वयं चारुत्व हेतु न होने के कारण श्लेषोपमा यहाँपर पृथक् अलङ्कार भाव को ही प्राप्त नहीं होती है। वही कहते हैं—नात्रेति। यह असिद्ध है क्योंकि स्वसवेदन से बाधित है यह हृदय मे रख कर स्वसवेदन को छिपानेवाले विरोधी को श्लेष के बिना केवल उपमा के द्वारा चारुता से युक्त दूसरे उदाहरण को दिखलाते हुये निरुत्तर करते है—'यत इत्यादिना।' उदाहरण के श्लोक में तृतीयान्त पदों के साथ तुल्य शब्द का सम्बन्ध कर लिया जाना चाहिये। और सब 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि के समान योजित किया जाना चाहिये।

तारावती

है ? व्यतिरेक को श्लेषमुख से ही आत्मलाभ होना है' वृत्तिकार के इस कथन का आशय यह है कि श्लेष उपमा को लाने में कारण होता है और उपमा के कारण व्यतिरेक सत्ता में आता है। अतः इनका अनुग्राह्यानुग्राहक भाव है। (उत्तर) व्यतिरेक सर्वदा उपमागर्भित ही होता है इस कथन से आपका क्या अभिप्राय है ? क्या जहाँ व्यतिरेक होता है वहाँ अनिवार्य रूप से उपमा वाच्य होती है ? अथवा अनिवार्य रूप से उपमा के वाच्य होने की आवश्यकता नहीं है। क्या व्यतिरेक में उपमा व्यङ्ग्य भी हो सकती है ? अच्छा प्रथम पक्ष को लीजिये। यह आप कह ही नहीं सकते कि जहाँ उपमा वाच्य होती है वहीं व्यतिरेक होता है। ऐसे भी स्थान देखे जाते हैं जहाँ व्यतिरेक तो होता है किन्तु उपमा वाच्य नहीं होती। जैसे सूर्यशतक का यह पद्य लीजिये—'उष्ण कान्तिवाले समस्त द्वीपों के दीपक सूर्य की प्रभा जो कि एक दूसरे ही प्रकार की दीपक की बत्ती है, आप सब लोगों को सुखी करे। दीपक की प्रभा वायु से बुझ जाती है किन्तु यह सूर्य की प्रभा निर्दय होकर वेग से पर्वतों को भी ढहा देनेवाली कल्पान्त वायु से भी नहीं बुझ सकती। इसकी प्रगाढ़ और उज्ज्वल दीप्ति सर्वदा प्रकाशित ही रहती है। दीपक की बत्ती दिनमें सर्वदा शून्य हो जाती है क्योंकि दिन में दीपक का प्रकाश बिल्कुल प्रकट नहीं होता किन्तु सूर्य की प्रभा दिन में शून्य नहीं होती। दीपक अन्धकार और कालिख से रहित नहीं होता। कज्जल सर्वदा दीपक के ऊपर ही मंडराया करता है, किन्तु सूर्य की प्रभा कज्जलरूपी अन्धकार से रहित न हो ऐसा नहीं होता। (दीधितिकार ने 'अहनि न रहिता' का एक अर्थ यह भी किया है कि दीपक की बत्ती दिनमें पुरुषों का हित नहीं करती किन्तु सूर्य की प्रभा दिन में मनुष्यों का हित करती है।) दीपप्रभा पतंग (शलभ) से शान्त हो जाती है किन्तु सूर्यप्रभा पतङ्ग (सूर्य) से उत्पन्न ही होती है, शान्त नहीं होती। यही सूर्य प्रभा की विलक्षणता है।' यहाँपर साम्य प्रपञ्च के द्वारा प्रतिपादन के विना ही व्यतिरेक दिखलाया गया है। 'साम्य' का अर्थ है उपमा और प्रपञ्च का अर्थ है प्रबन्ध। आशय यह है कि यहाँपर उपमा का स्वशब्द के द्वारा (अभिधा वृत्ति के द्वारा) प्रतिपादन नहीं किया गया है फिर भी व्यतिरेक हो जाता है। यहाँपर कहने का आशय यह है कि (कहीं-कहीं पर) प्रतीयमान उपमा ही व्यतिरेक की अनुग्राहिणी होकर कण्ठ-रव से साम्य प्रतिपादन की अपेक्षा नहीं करती। अतएव यह कहना ठीक नहीं है कि श्लेष-मूलक उपमा व्यतिरेक की अनुग्राहिणी के रूप मे ग्रहण की गई है। (प्रश्न) अन्यत्र ऐसा होना सम्भव भी हो कि विना श्लेषमूलक वाच्योपमा के व्यतिरेक सम्पन्न भी हो जावे किन्तु यहाँपर श्लेषमूलक उपमा का उपादान व्यतिरेक में एक

ध्वन्यालोकः

आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-
स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः।
अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयोः
तत्किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेवोद्यतः॥

इत्यादौ।

'हे जलधर ! मेरा करुण क्रन्दन तुम्हारे गर्जन के समान है, मेरा नेत्रजल (अश्रु) तुम्हारे विश्रामरहित प्रवाहित होनेवाले धाराजल के समान हैं और प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न हुई शोक की अग्नि विजली के विलास के समान है। मेरे हृदय मे प्रियतमा का मुख विद्यमान है और तुम्हारे अन्दर चन्द्रमा है। इस प्रकार सब बातों मे मेरी और तुम्हारी वृत्ति एक सी है। फिर हे जलधर ! तुम मुझे जलाने के लिये ही क्यों उद्यत हो। इत्यादि में।

तारावती

विशेषता उत्पन्न करने के लिये ही किया गया है। कारण यह है कि श्लेष पर आधारित उपमा यदि व्यतिरेक में विशेषता का आधान न करे तो उसमे स्वयं अपनी कोई सुन्दरता रह ही नहीं जाती। अतः यहाँपर श्लेष और उपमा पृथक् अलङ्कार ही नहीं हो सकते; फिर इनका अङ्गाङ्गि-भाव सङ्कर क्यों नहीं माना जा सकता ? (उत्तर) ऊपर प्रतिपक्षी ने जो कुछ कहा है वह वस्तुतः ठीक नहीं है और न सिद्ध ही होता है। उक्त उदाहरण में राम और अशोक का श्लेष-मूलक साम्य पृथक् चमत्कार-कारक है और उनका व्यतिरेक पृथक् चमत्कारोत्पादक है। यह बात स्वसंवेदन-सिद्ध है और पूर्वपक्षी इस बात को समझ भी रहा है, किन्तु अपने संवेदन को छिपा रहा है। अतः उसे निरुत्तर करने के लिये ऐसा उदाहरण दिया जा रहा है जहाँ श्लेष के बिना केवल उपमा से ही चारुता की निष्पत्ति हो जाती है और व्यतिरेक के परिपोष की अपेक्षा भी नहीं रह जाती। इस प्रकार के विषय में यदि केवल साम्य का प्रतिपादन ही सुचारुरूप से किया जावे तब भी चारुता देखी ही जाती है। जैसे:—

हे जलधर ! मेरा करुण क्रंदन तुम्हारे गर्जन के समान है, मेरे नेत्रजल अविराम प्रवाहित होनेवाले धाराजल के समान है और प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न हुई शोक की अग्नि विजली के विलास के समान है, मेरे अन्दर प्रियतमा का मुख विद्यमान है और तुम्हारे अन्दर चंद्रमा है, इस प्रकार सब बातों मे मेरी और तुम्हारी वृत्ति एक सी ही है। फिर भी हे जलधर ! तुम मुझे निरन्तर जला डालने पर ही क्यों तुले हुये हो ?' (तुम जलधर हो, तुम्हारा अन्तः करण शीतल है फिर तुम मुझे क्यों जला रहे हो ?)

ध्वन्यालोकः

रसनिर्वहणैकतानहृदयो यं च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति । यथा—

कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन् ॥

इत्यादौ रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं च परं रसपुष्टये ।

(अनु०) और रस के निर्वहण में अपना मन पूर्ण रूप से लगाये हुये कवि जिस (अलङ्कार) का अत्यन्त निर्वाह करना नहीं चाहता वह अलङ्कार रस पोषक होता है। जैसेः—

'प्रियतमा क्रोध मे भरकर कोमल बाहुलता रूपी पाश मे नायक को भलीभाँति जकड़ कर शाम के समय सखियों के सामने निवास स्थान पर ले जाकर उसकी दुश्चेष्टाओं की ओर संकेत करती हुई अपनी क्रोधावेश में स्खलित होती हुई सुन्दर वाणी मे (सखियों से) कह रही थी कि 'फिर कभी ऐसा मत कहना' इस प्रकार हँसते हुये अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा करनेवाला जो प्रियतम रोती हुई नायिका के द्वारा पीटा जाता है वह धन्य ही है।

यहाँ पर रूपक का आक्षेप किया जाता है जिसका निर्वाह नहीं किया गया है अत वह रस को बहुत अधिक पुष्ट करता है ।

तारावती

(यह पद्य सुभाषितावली मे आनन्दवर्धन के नाम पर पाया जाता है, कुछ लोग इसे यशोवर्मा का बतलाते है । सूक्तिमुक्तावली में यशोवर्मा के नाम पर दो पद्य दिये हुये हैं—एक तो यही है और दूसरा 'यत्त्वन्नेत्रसमानकांति ·········' इत्यादि है । महा नाटक (४–३४) पर भी यह पद्य पाया जाता है।)

इस पद्य मे तृतीयांत शब्द उपमान है और प्रथमात उपमेय । 'तुल्य' शब्द वाचक है । इस पद्य मे भी 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि के समान योजना करनी चाहिये अर्थात् यहाँ पर तृतीयांत उपमान के रूप मे भी पाये जाने चाहिये और हेतु के रूप में भी । 'बादल गरज रहे हैं इसीलिये मेरे मुख से वियोग के उद्दीप्त हो जाने के कारण रुदन का शब्द निकल रहा है । निरंतर वर्षा हो रही है अतः मेरे भी वेदना-जन्य आंसू प्रवाहित हो रहे हैं ।' इत्यादि ।

यहाँ पर केवल साम्य के बल पर ही चारुता की निष्पत्ति हो जाती है न श्लेष की अपेक्षा है न व्यतिरेक की । इसी प्रकार 'रक्तस्त्वम्········' इस पद्य मे भी उपमा-गत चारुता की निष्पत्ति पृथक् रूप में होती है और उसको छोड़ कर व्यति-

लोचन

एवं ग्रहणत्यागौ समर्थ्य 'नातिनिर्वहणैषिता' इति भागं व्याचष्टे—रसेति। चकारः समीक्षाप्रकारसमुच्चयार्थः। बाहुलतिकायाः बन्धनीयपाशत्वेन रूपणं यदि निर्वाहयेत्, दयिता व्याधवधूः वासगृहं कारागारपञ्जरादीति परमनौचित्यं स्यात्। सखीनां पुर इति। भवत्योऽनवरतं ब्रुवते नायमेवं करोतीति तत्पश्यन्त्विदानीमिति

इस प्रकार ग्रहण और त्याग का समर्थन करके 'अत्यन्त निर्वहण की इच्छा न होना' इस भाग की व्याख्या करते हैं:—रसेति! चकार समीक्षा प्रकार के समुच्चय के अर्थ में है। बाहुलतिका के बन्धनीय पाश के रूप में आरोप का यदि निर्वाह किया जावे तो दयिता व्याधवधू और वासगृह कारागार-पञ्जर इत्यादि यह परम अनौचित्य होगा। 'सखियों के सामने' कहने का भाव यह है कि 'आप सब निरन्तर कहा करती हैं कि यह ऐसा नहीं करता, इसलिये अब इस समय पर देखो।'

तारावती

रेक की निष्पत्ति पृथक् की गई है। एक को छोड़कर दूसरे का उपादान रस का परिपोषक हो रहा है।

(५) इस प्रकार अलङ्कार के ग्रहण और त्याग का समर्थन कर कारिका के 'नातिनिर्वहणैषिता' इस भाग की व्याख्या की जा रही है—वृत्तिकार ने 'यं च' शब्द का प्रयोग किया है। इसमें 'च' शब्द समुच्चयवाचक है और अलङ्कार की समीक्षा के नये प्रकार का समुच्चय कराता है। पाचवाँ प्रकार यह है कि जिस अलङ्कार के निर्वहण के लिये कवि सचेष्ट नहीं होता। आशय यह है कि जिस समय कवि रस के निर्वहण में अपना मन पूर्ण रूप से लगा देता है और संयोगवश आये हुये अलङ्कार की परिसमाप्ति के लिये अधिक प्रयत्न नहीं करता उस समय वह अलङ्कार रस का परिपोषक हो जाता है। जैसे.—

कोई नायिका सखियों से अपने प्रियतम के अपराधों का वर्णन किया करती है। सखियाँ नायक का पक्ष लेती हैं और सर्वदा यही कह दिया करती हैं कि नायक ऐसी प्रकृति का नहीं है वह ऐसा अपराध नहीं कर सकता। एक बार नायिका नायक को नखक्षत इत्यादि से विभूषित देख लेती है और पकड़कर सखियों के सामने ले आती है। इस प्रकार अपने कथन को प्रमाणित करती है। यही वर्णन करते हुये कवि कह रहा है—

'प्रियतमा सायंकाल में क्रोधावेश में भरकर अपनी कोमल और चञ्चल बाहु-लता रूपी पाश में प्रियतम को दृढ़ता पूर्वक बाँध कर अपने निवासस्थान में सखियों के सामने ले आई। अपनी कल मधुर वाणी में जो कि कोप के कारण स्खलित हो रही थी उसकी दुश्चेष्टाओं को सङ्केत के द्वारा सूचित करते हुये अर्थात् उसके

(5) ध्वन्यालोकः

निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते यथा—

> श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
> गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
> उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
> हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति॥

इत्यादौ।

(अनु) निर्वहण के लिये अभीष्ट भी जिसको प्रयत्न पूर्वक अङ्ग के रूप में देखता है। जैसे—

मैं श्यामाओं (प्रियङ्गुलताओं) में तुम्हारा अङ्ग, चकित हरिणों के अवलोकन में तुम्हारा दृष्टिपात, चन्द्रमा में कपोल सौन्दर्य, मयूरों के बर्हभार में तुम्हारा केश-पाश और नदी की कृश लहरियों में भ्रू-विलास को देखता हूँ। किन्तु खेद है कि कहीं भी एकत्र तुम्हारा सौन्दर्य दृष्टिगत नहीं होता।' इत्यादि में।

लोचन

भावः। स्खलन्ती कोपावेशेन कला मधुरा च गीर्यस्याः सा। काऽसौ गीरित्याह—भूयो नैवमित्येवं रूपा। एवमिति यदुक्तं तत्किमित्याह—दुश्चेष्टितं नखपदादि संसूच्य अङ्गुल्यादिनिर्देशेन। हन्यत एवेति न तु सख्यादिकृतोऽनुनयो रुध्यते। यतोऽसौ हसनं निमित्तीकृत्य निह्नुतिपरप्रियतमश्च तदीयं व्यलीकं का सोढुं समर्थेति।

निर्वोढुमिति। निश्शेषेण परिसमापयितुमित्यर्थः। श्यामासु सुगन्धिप्रियङ्गुलतासु पाण्डिम्ना तनिम्ना कण्टकित्वेन च योगात्। शशिनीति पाण्डुरत्वात्। उत्पश्यामीति यत्नेनोत्प्रेक्षे। जीवितसन्धारणायेत्यर्थः। हन्तेति कष्टम्। एकस्थसादृश्याभावे हि

कोप के आवेश में स्खलित होनेवाली तथा कल अर्थात् मधुर है वाणी जिसकी। यह वाणी कौन है यह कहते हैं—'फिर कभी नहीं' इस रूपवाली। इस प्रकार जो यह कहा वह क्या ? यह कहते हैं—दुश्चेष्टित अर्थात् नखक्षत इत्यादि को 'सूचित करके' अर्थात् अंगुली इत्यादि के निर्देश से। 'मारा ही जाता है' सखी इत्यादि के किये हुये अनुनय को नहीं माना जाता। क्योंकि यह हँसी को निमित्त बनाकर छिपाने का प्रयत्न करता है और है प्रियतम भी, उसके अपराध को सहने में कौन समर्थ हो सकती है ?

निर्वाह करने के लिये, अर्थात् निश्शेष रूप में समाप्त करने के लिये। 'श्यामा में' अर्थात् सुगंधित प्रियङ्गुलताओं में, पाण्डुता तनुता और कण्टकित होने के योग से। 'चन्द्रमा में' अर्थात् पाण्डु वर्ण के योग से। 'उत्पश्यामि' का अर्थ है प्रयत्न पूर्वक देखता हूँ। अर्थात् जीवन धारण करने के लिये। 'हन्त' का अर्थ है खेद

लोचन

दोलायमानोऽहं सर्वत्र स्थितो न कुत्रचिदेकस्य धृतिं लभ इतिभावः । भीरुरिति । यो हि कातरहृदयो भवति नासौ सर्वस्वमेकस्थं धारयतीत्यर्थः । अत्र ह्युत्प्रेक्षायास्तद्भावाध्यारोपरूपाया अनुप्राणकं सादृश्यं यथोपक्रान्तं, तथा निर्वाहितमपि विप्रलम्भरसपोषकमेव जातम् ।

की बात है । एक स्थान पर सादृश्य के अभाव में निस्सन्देह दोलायमान मैं सर्वत्र स्थित हुआ कहीं भी धैर्य को प्राप्त नहीं कर रहा हूँ यह भाव है । 'भीरु' इति । अर्थात् जो निस्सन्देह कातर हृदयवाला होता है वह सर्वत्र एक स्थान पर नहीं रखता । यहाँ पर निस्सन्देह उस भाव के आध्यारोप रूप उत्प्रेक्षा को अनुप्राणित करनेवाला सादृश्य जैसा उपक्रान्त किया गया है वैसा निर्वाह भी कर दिया गया (इस प्रकार) विप्रलम्भ का पोषक ही हुआ है ।

तारावती

नखक्षत इत्यादि चिन्हों की ओर हाथ से संकेत करते हुये सखियों से कहा कि देखो अब कभी ऐसा मत कहना कि यह अपराधी नहीं है । उस समय नायिका रो रही थी और प्रियतम हँसकर अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा कर रहा था । उस समय प्रियतमा उसे मारने लगी । सचमुच इस प्रकार का सौभाग्य जिसे प्राप्त हो वह धन्य ही है ।'

यहाँ पर 'बाहुलतारूपी पाश' इसमें रूपक अलङ्कार है । किन्तु उसका निर्वाह नहीं किया गया है । निर्वाह न करने के कारण ही रस का परिपोष भली भाँति हो जाता है । यदि बाहुलतारूपी पाश के रूपक का निर्वाह किया जाता तो नायिका को व्याध-वधू कहना पड़ता और वासगृह को कारागार पञ्जर, जो कि अत्यन्त अनुचित होता । 'मारती ही है' कहने का आशय यह है कि सखी इत्यादि के किये हुये अनुरोध को भी नहीं मानती । क्योंकि यह प्रियतम हंसी का बहाना लेकर अपने अपराधों को छिपाने की चेष्टा कर रहा है। भला उसके अपराध को सहने में कौन समर्थ हो सकती है । (यह पद्य अमरुशतक से लिया गया है ।)

(६) निर्वहण होते हुये भी प्रयत्नपूर्वक जिसकी अङ्ग के रूप में अपेक्षा की जावे । जहाँ पर कवि ने किसी एक अलङ्कार का पूर्ण रूप से निर्वाह कर दिया हो किन्तु ऐसी कुशलता से उसका निर्वाह किया हो कि वह पूर्ण होते हुये भी रस का अंग बन जावे वहाँ पर रस अलंकार का पोषक ही होता है । जैसे मेघदूत में यक्ष अपनी प्रियतमा को सन्देश देते हुये कह रहा है :—

'हे भीरु मैं सुगन्धित प्रियंगुलताओं मे तुम्हारे अंग की कल्पना करता हूँ । चञ्चल हरिणी के प्रेक्षण में मैं तुम्हारे दृष्टिपात की कल्पना करता हूँ । इसी प्रकार

ध्वन्यालोकः

स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति। उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः संपद्यते। लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि दृश्यते बहुशः। तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्। किन्तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये लक्षणदिग्दर्शिता तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिभमनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो भवति महीयानिति।

(अनु०) वह इस प्रकार उपनिबद्ध किया हुआ अलङ्कार कवि की रस की अभिव्यक्ति में हेतु हो जाता है। उक्त प्रकारों का अतिक्रमण करने पर तो नियमतः अलङ्कार रसभङ्ग में कारण हो जाता है। इस प्रकार के लक्ष्य (जहाँ अलङ्कार रसोपघातक हो गया है) महाकवियों के प्रबन्धों में भी प्रायः देखे जाते हैं। किन्तु उनको पृथक्-पृथक् इसलिये नहीं दिखलाया कि जिन महात्माओं की आत्मा सहस्रों सूक्तियों से प्रकाशित हो चुकी है उनके दोषों की उद्घोषणा करना अपना ही दोष हो जाता है। किन्तु रस इत्यादि के विषय मे रूपक इत्यादि अलङ्कारवर्ग की व्यञ्जकता के क्षेत्र में लक्षणों का जो यह दिग्दर्शन कराया गया है उसका अनुसरण करते हुये तथा अन्य लक्षणों की भी उत्प्रेक्षा करते हुये यदि कोई सुकवि अभी हाल में ही कहे हुये असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य की प्रतिभावाली ध्वनि की आत्मा का सावधान चित्त होकर उपनिबन्धन करता है तो उसे महत्त्वपूर्ण सुकवि का पद (अनायास ही) मिल जाता है।

तारावती

चन्द्र में कपोलों के सौन्दर्य की, मयूरों के बर्हभार मे केशों की और नदी की कृशतर लहरियों मे भ्रूविलास की कल्पना करता हूँ किन्तु खेद है कि कहीं भी तुम्हारा एकस्थ सौन्दर्य दृष्टिगत नहीं होता।' यहाँ पर प्रियंगुलताओं मे नायिका के अंग की कल्पना की गई है। क्योंकि नायिका के समान प्रियंगुलताओं में भी पाण्डुवर्णता (स्वर्णवत् गौरवर्णता) और दुबलापन होता है तथा नायिका जिस प्रकार प्रेमावेश मे रोमाञ्चित होती है उसी प्रकार प्रियंगुलताओं मे भी कटीलापन होता है। (इससे नायिका की सर्वकालिक प्रेम निर्भरता हर्ष-परवशता और रोमाञ्चित रहना अभिव्यक्त होता है।) चन्द्रमा में मुख की उत्प्रेक्षा इसीलिये की जाती है कि दोनों ही गौर वर्णवाले हैं। 'उत्पश्यामि' का अर्थ है 'प्रयत्नपूर्वक कल्पना करता हूँ' क्योंकि वियोग दशा में मेरे प्राणधारण का यही एक आश्रय है। खेद इसीलिये है कि सादृश्य की सब वस्तुयें इतस्ततः बिखरी हुई हैं, एक स्थान

लोचन

तत्तु लक्ष्यं न दर्शितमिति सम्बन्धः। प्रत्युदाहरणे अदर्शितेऽप्युदाहरणानुशीलन दिशा कृतकृत्यतेति दर्शयति—किं त्विति। अन्यल्लक्षणमिति। परीक्षाप्रकारमित्यर्थः। तद्यथावसरे त्यक्तस्यापि पुनर्ग्रहणमित्यादि यथा ममैव—

शीतांशोरमृतच्छटा यदि कराः कस्मान्मनो मे भृशं
संप्लुष्यन्त्यथ कालकूटपटलीसंवाससन्दूषिताः।
किं प्राणान्न हरन्त्युत प्रियतमासंजल्पमन्त्राक्षरैः,
रक्ष्यन्ते किमु मोहमेमि हहहा नो वेद्मि केयं गतिः॥

इत्यत्र रूपकसन्देहनिदर्शनास्त्यक्त्वा पुनरुपात्ता रसपरिपोषायेत्यलम्॥१८, १९॥

सम्बन्ध योजना इस प्रकार है कि उस तत्त्व को नहीं दिखलाया। प्रत्युदाहरण के न दिखलाये जानेपर भी उदाहरणानुशीलन की दिशा से ही कृतकृत्यता हो जाती है यह दिखलाते हैं—'किन्तु' इति।'अन्यल्लक्षणमिति' अर्थात् परीक्षा का प्रकार। वह जैसे अवसर पर छोड़े हुये को पुनः ग्रहण कर लेना इत्यादि। जैसे मेरा ही:—

'यदि शीतांशु की किरणें अमृत की शोभावाली हैं तो क्यों अत्यन्त रूप में मेरे मन को जला रही हैं? यदि कालकूट पटल के साथ रहने से दूषित हैं तो प्राणों को क्यों नहीं हर लेतीं? यदि प्रियतमा के संकथन रूपी मन्त्राक्षरों के द्वारा उनकी रक्षा की जाती है तो मैं मोह को क्यों प्राप्त हो जाता हूँ? अरे-अरे! मैं नहीं जानता कि यह क्या गति है?'

यहाँ पर रूपक सन्देह और निदर्शना को छोड़ कर रस परिपोष के लिए पुनः उपादान कर लिया गया। बस इतना पर्याप्त है॥ १८, १९॥

तारावती

पर सभी वस्तुओं का सादृश्य दिखलाई नहीं देता, अतः मेरा हृदय सर्वदा दोलायमान रहता है। मैं जहाँ कहीं स्थित होता हूँ और एक वस्तु के सादृश्य का आनन्द लेता हूँ वहाँ दूसरी वस्तु का अभाव खटकता रहता है, एक ही स्थान पर सभी वस्तुओं के सादृश्य का धैर्य हमें प्राप्त नहीं होता। 'हे भीरु' इस सम्बोधन का आशय यह है कि जो कातर हृदय होता है वह अपनी सभी चीजों को एक स्थान पर ही नहीं रखता। मालूम पड़ता है कि प्रियतमा ने भय के कारण ही अपनी समस्त सुन्दर वस्तुओं को एक स्थान पर नहीं रक्खा है। यहाँपर उत्प्रेक्षालङ्कार में किसी वस्तु पर किसी ऐसे तत्त्व का अध्यारोप किया जाता है जिसकी सत्ता वहाँ विद्यमान नहीं होती। इस उत्प्रेक्षा का अनुप्राणक (जीवनदायक) सादृश्य ही होता है। यहाँ पर सादृश्य को जिस रूप में प्रारम्भ किया गया था उसका पूरा पूरा निर्वाह कर दिया गया किन्तु फिर भी वह विप्रलम्भ का पूर्ण रूप से परिपोषक ही हो गया है।

तारावती

यदि कवि उक्त प्रकारों का आश्रय लेकर अलङ्कारों को काव्य में निबद्ध करता है तो वह अलङ्कार रस की अभिव्यक्ति मे कारण हो जाता है। इसके प्रतिकूल यदि उक्त प्रकारों का अतिक्रमण कर दिया जावे तो वह अलंकार नियमपूर्वक रसभङ्ग में कारण बन जाता है। महाकवियों के प्रबन्धों में ऐसे भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं जिनमें अलङ्कारो का अनुचित प्रयोग रस के व्याघात में कारण बन गया है। किन्तु मैं यहाँ विस्तार के साथ उनकी व्याख्या नहीं करना चाहता। कारण यह है कि जिन महात्माओं की अन्तरात्मा सहस्रों सूक्तियों से द्योतित हो रही है उनके दोषों का उद्घोष करना स्वयं अपना ही दोष हो जावेगा। किन्तु यहाँ पर रस इत्यादि के विषय में रूपक इत्यादि अलङ्कारवर्ग किस प्रकार व्यञ्जक होता है इसका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। यदि कोई अच्छा कवि इस मार्ग का अनुसरण करेगा और स्वयं इसी प्रकार के अन्य लक्षणों की कल्पना कर लेगा तथा परीक्षा के दूसरे प्रकारों को निकालेगा और उसके आधार पर सावधानता के साथ पहले बतलाये हुये असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य को निबद्ध करने की चेष्टा करेगा तो उसे सुकवि का महत्त्वपूर्ण पद सरलतापूर्वक मिल सकेगा ऐसी आनन्दवर्धन की धारणा है। परीक्षा के अन्य प्रकारों में उदाहरण के लिये एक यह हो सकता है कि जहाँ अलङ्कार को छोड़कर पुनः ग्रहण कर लिया जावे। जैसे मेरा (अभिनव गुप्त का) ही पद्य—

'यदि शीतांशु की किरणें अमृत की शोभावाली हैं तो फिर मेरे मन को बहुत अधिक जला क्यों रही हैं ? (यदि इनके जलाने में यह कारण है कि) ये कालकूट पटल के सम्पर्क से दूषित हो चुकी हैं तो मेरे प्राणों को क्यों नहीं हर लेतीं ? यदि इनके प्राणों के न हरने का कारण यह है कि उस विष के प्रभाव को मारनेवाले प्रियतमा के वचन रूपी अमृत के अक्षर मेरी रक्षा करते हैं तो मैं बार-बार मूर्छित क्यों हो जाता हूँ ? अत्यन्त दुःख की बात है कि मैं समझ ही नहीं पाता हूँ कि मेरी यह दशा क्या हो गई है ?'

यहाँ निम्नलिखित अलङ्कार प्रकट हो रहे है—(१) रूपक—किरणों पर अमृत-च्छटा का आरोप, कालकूट-सम्पर्क-दूषितत्व का आरोप और प्रियतमा के वचनों पर मन्त्राक्षरत्व का आरोप होने से रूपक अलङ्कार है। (२) सन्देह—क्या ये अमृत की शोभावाली हैं या विष के सम्पर्क से दूषित हैं अथवा प्रियतमा के वचन-रूपी मन्त्राक्षर मेरी रक्षा करते हैं—इस प्रकार सन्देह है। (३) निदर्शना—किरणों पर अमृतशोभाशालित्व और विषसम्पृक्तत्व के तथा प्रियतमा के वचनों पर मन्त्राक्षरों के ऐक्य का आरोप किया गया है इसलिये निदर्शनालङ्कार है।

ध्वन्यालोकः

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽस्यानुस्वानसन्निभः।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः॥ २०॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वादनुरणनप्रख्यो य आत्मा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः।

(अनु०) इस विवक्षितान्यपरवाच्य की जिस आत्मा का अनुस्वान के समान क्रमपूर्वक प्रतिभास होता है वह भी दो रूपों में व्यवस्थित होती है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक॥ २०॥

इस विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के व्यङ्ग्य के संल्लक्ष्यक्रम होने के कारण अनुरणन के समान जो आत्मा होती है वह भी शब्दशक्तिमूलक तथा अर्थशक्तिमूलक इन दो प्रकारों की होती है।

लोचन

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः प्रथमं भेदमलक्ष्यक्रमं विचार्य द्वितीयभेदं विभक्तुमाह—क्रमेणेत्यादि। प्रथमपादोऽनुवादभागो हेतुत्वेनोपात्तः। घण्टाया अनुरणनमभिघातजशब्दापेक्षया क्रमेणैव भाति। सोऽपीति। न केवलं मूलतो ध्वनिर्द्विविधः। नापि केवलं विवक्षितान्यपरवाच्यो द्विविधः। अयमपि द्विविध एवेत्यपि शब्दार्थः॥२०॥

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रथम भेद लक्ष्यक्रम पर विचार करके द्वितीय भेद का विभाजन करने के लिये कह रहे हैं—क्रमेण इत्यादि। अनुवाद भाग प्रथम पाद हेतु के रूप में ग्रहण किया गया है। घण्टा का अनुरणन अभिघातज शब्द की अपेक्षा क्रमशः ही शोभित होता है। सोऽपीति। केवल मूलतः ही ध्वनि दो प्रकार की नहीं होती और नहीं ही केवल विवक्षितान्यपरवाच्य दो प्रकार का होता है। यह भी दो ही प्रकार की होती है यह 'अपि' शब्द का अर्थ है॥२०॥

तारावती

यहाँ पर 'यदि..................शोभावाली हैं' में जिन अलङ्कारों का उपादान किया गया है 'तो फिर...........जला क्यों रही है' इन शब्दों के द्वारा उनका परित्याग कर दिया गया है। पुनः 'यदि ये............दूषित हो चुकी हैं' इन शब्दो के द्वारा उन्हीं अलङ्कारों का उपादान किया गया और पुनः 'तो..............हर लेती हैं' इन शब्दों में उनका परित्याग कर दिया गया। पुनः 'यदि प्रियतमा के.......करते हैं।' मे उनका उपादान किया गया और पुनः 'तो फिर.......हो जाता हूँ' मे उनका परित्याग कर दिया गया। इस प्रकार अलङ्कारों के उपादान और परित्याग से रस की अत्यन्त पुष्टि हो जाती है। यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का दिग्दर्शन किया गया॥ १८, १९॥

तारावती

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रथम भेद अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पर विचार किया जा चुका अब द्वितीय भेद का विभाजन करने के लिये ध्वनिकार ने यह बीसवीं कारिका लिखी है। इसका आशय यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि की आत्मा का प्रतिभास केवल असलक्ष्यरूप में ही नहीं होता अपितु संल्लक्ष्य रूप में क्रमबद्धता के साथ उसी प्रकार उसका प्रतिभास होता है जिस प्रकार अनुरणन की प्रतीति हुआ करती है। उसकी व्यवस्था दो प्रकार से होती है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। इसीलिये यह ध्वनि भी दो प्रकार की मानी जाती है। इस कारिका का प्रथम पाद अनुवाद रूप है। अर्थात् सिद्ध वस्तु का निर्देश करता है (किसी साधारण संयुक्त अथवा मिश्रित वाक्य के दो खण्ड होते हैं एक उद्देश्य और दूसरा प्रतिनिर्देश्य अथवा विधेय। यहाँ पर 'इस ध्वनि की अनुस्वान के समान जो आत्मा क्रम के साथ प्रतिभासित होती है' यह उद्देश्य वाक्य है और 'शब्द तथा अर्थमूलक होने के कारण उसमें दो भेद होते हैं' यह विधेय वाक्य है।) प्रथम पाद जोकि अनुवाद अथवा उद्देश्य वाक्य का एक खण्ड है उसका उपादान हेतु के रूप में हुआ है अर्थात् इस ध्वनि का प्रतिभास अनुस्वान या अनुरणन के समान हुआ करता है क्योंकि इसके आत्मा की प्रतीति क्रमपूर्वक होती है। घण्टा में जो अभिघातज शब्द होता है उसकी अपेक्षा उसके अनुरणन की प्रतीति पृथक् ही होता है। आशय यह है कि जिस प्रकार पहले-पहल घण्टा में अभिघात होने पर एक शब्द होता है; फिर उस शब्द से पृथक् ही उसका अनुरणन श्रुतिगोचर होता रहता है उसी प्रकार संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य मे पहले शब्द का प्रयोग होता है फिर उससे अभिधेयार्थ की प्रतीति होती है और उसके बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस क्रम का प्रतिभास पाठकों को होता चलता है अतः इसे संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं। (रसध्वनि मे हम पद्य को सुनते जाते हैं और हमें आनन्दानुभूति होती जाती है। उसमें हमें यह मालूम ही नहीं पड़ता कि पहले हम शब्द सुनते हैं फिर अर्थ समझते हैं और उसके बाद आनन्द की उपलब्धि होती है। इसके प्रतिकूल संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में हमें पौर्वापर्यक्रम की स्पष्ट प्रतीति होती है कि हम पहले शब्द सुनते हैं तब वाच्यार्थबोध होता है और फिर व्यङ्ग्यार्थबोध। यही संल्लक्ष्य और असंल्लक्ष्य की प्रक्रिया में अन्तर है।) मूल में कहा गया था 'वह भी दो प्रकार का होता है' इस वाक्य में 'भी' शब्द का अर्थ यह है कि इस प्रकरण में ध्वनि के सभी भेदोपभेद दो ही दो प्रकार के किये गये हैं—ध्वनि के दो भेद होते हैं अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य। अविवक्षितवाच्य के दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत-

ध्वन्यालोकः

ननु शब्दशक्त्या यत्रार्थान्तरं प्रकाशते स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते तदिदानीं श्लेषस्य विषय एवापहृतः स्यात्, नापहृत इत्याह—

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥ २१ ॥

यस्मादलङ्कारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितम् । वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः ।

(अनु०) (प्रश्न) शब्दशक्ति से जहाँ अर्थान्तर प्रकाशित होता है वह यदि ध्वनि का एक प्रकार कहा जाता है तो श्लेष के विषय का तो अपहार ही हो गया । (उत्तर) नहीं अपहार हुआ, यही बात २१वीं कारिका में कही जा रही है—

'जिसमें शब्द के द्वारा न कहा हुआ किन्तु शब्दशक्ति के द्वारा आक्षिप्त ही किया हुआ अलङ्कार प्रकाशित होता है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है ॥ २१ ॥

जिससे अलंकार ही, वस्तुमात्र नहीं, जिस काव्य में शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि होती है यह हमारा कहने का मन्तव्य है—'जहाँ दोनों वस्तुयें शब्दशक्ति से प्रकाशित होती हैं वहाँ श्लेप होता है ।'

लोचन

कारिकागतं हिशब्दं व्याचष्टे—यस्मादिति । अलङ्कारशब्दस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयति—न वस्तुमात्रमिति । वस्तुद्वये चेति । चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे ।

कारिका में आये हुये 'ही' शब्द की व्याख्या करते हैं—'यस्मादिति' । अलङ्कार शब्द का व्यवच्छेद्य दिखलाते हैं—न वस्तुमात्रमिति । 'वस्तुद्वये च' में 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है ।

तारावती

वाच्य । विवक्षितान्यपरवाच्य के भी दो ही भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य । संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के भी दो ही भेद होते हैं—शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक ॥ २० ॥

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जहाँ पर शब्द-शक्ति से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है उसे यदि ध्वनि मे अन्तर्भूत कर दिया जावेगा तो श्लेष के तो विषय का ही अपहार हो जावेगा । श्लेष कहीं हो ही न सकेगा । इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये वीसवीं कारिका लिखी गई है—कारिकाकार का आशय यह है कि जिस काव्य में किसी शब्द के बल पर केवल वस्तु की ही व्यञ्जना न हो किन्तु किसी अलंकार की भी व्यञ्जना हो उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं । यदि

ध्वन्यालोकः

यथा—

> येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
> यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
> यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
> पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥

(अनु०) जैसे—

विष्णुपरक अर्थ—अजन्मा जिस भगवान् ने शकटासुर को मारा; बलि या बलवान् राक्षसों को जीतनेवाला, गोवर्धन तथा पातालगत भूमि को धारण करनेवाला, चक्र को वलय के रूप में धारण करनेवाला है, जिसका नाम देवता लोग चन्द्रमा को दमन करनेवाले राहु के शिर को नष्ट करनेवाला बतलाते हैं, वे यादवों का आवास बनानेवाले, सबकुछ प्रदान करनेवाले भगवान् लक्ष्मीनाथ तुम्हारी रक्षा करें ।

भगवान् शंकरपरक दूसरा अर्थ—कामदेव को जीतनेवाले जिन भगवान् शंकर ने बलि को जीतनेवाले विष्णु के शरीर को पुराने समय में अस्त्रस्थ बना दिया था; उद्धत भुजङ्ग ही जिसके हार और वलय हैं, जिसने गङ्गा को धारण किया; जिसके शिर को चन्द्रमा से युक्त कहते हैं, देवता लोग जिसका 'हर' यह स्तुत्य नाम बतलाते हैं; वे अन्धक का नाश करनेवाले उमाकान्त भगवान् शंकर तुम्हारी रक्षा करें ।

तारावती

शब्दशक्ति मे दो वस्तु-परक अर्थ प्रकाशित हों तो वहाँ पर श्लेष होता है । कारिका में आये हुए हि शब्द की व्याख्या करने के लिये वृत्तिकार ने लिखा है—'क्योंकि अलंकार जिस काव्य में शब्दशक्ति से प्रकाशित होता है उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं । यहाँ पर अलंकार का व्यवच्छेद्य क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये कहा गया है—वस्तु मात्र नहीं । 'और दो वस्तुओं के शब्दशक्ति से प्रकाशित होने पर श्लेष होता है ।' यहाँ पर 'च' शब्द का प्रयोग 'तु' शब्द के अर्थ मे किया गया है । (कहने का आशय यह है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में भी शब्द के बल पर ही दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है और श्लेष में भी शब्द के बल पर ही दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है । अन्तर केवल इतना है कि दोनों मे एक अर्थ तो वस्तु-परक होता ही है किन्तु दूसरा अर्थ भी यदि केवल वस्तु-परक ही हो तो वह श्लेष कहलाता है और यदि दूसरा अर्थ अलंकार-परक हो अथवा अलंकारमिश्रित वस्तुपरक हो तो उसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते हैं ।)

तारावती

देखा तो उससे एक मूसल उत्पन्न हुआ। आनेवाली आपत्ति को बचाने के निमित्त उस मूसल का चूरा कर सागर के निकट फेंक दिया गया। एक बार जब सब मिलकर तीर्थयात्रा के लिये जा रहे थे, शराब के नशे में चूर होकर एक दूसरे को अपशब्द कहने लगे। इसके बाद एक दूसरे को मार डालने की क्रिया प्रारम्भ हो गयी। भगवान् ने समुद्र के तट पर पूर्वोक्त मूसल के चूरे को लेकर जैसे ही दूसरों को मारा वैसे ही उस चूरे से अङ्कुर बन गये और उन अङ्कुरों ने मूसल का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार परस्पर लड़ते हुवे सभी मारे गये।) यह तो इस पद्य का विष्णुपरक अर्थ हुआ। इन्हीं शब्दों से शंकरपरक अर्थ भी निकल सकता है। शंकरपरक अर्थ इस प्रकार होगा—'मनोभव को नष्ट करनेवाले जिन भगवान् शंकर ने त्रिपुरदाह के अवसर पर वलि को जीतनेवाले भगवान् विष्णु के शरीर को अस्त्र के रूप में अर्थात् वाण के रूप मे प्रयुक्त किया था। (त्रिपुरवध की कथा लिङ्ग पुराण, शिव पुराण और स्कन्द पुराण में आई है। कहा जाता है कि विद्युन्माली, तारकाक्ष और कमलाक्ष नाम के तीन राक्षस थे। इन राक्षसों ने ब्रह्मा से वरदान के रूप में काञ्चन राजत और आयस् ये तीन पुर प्राप्त किये। बाद में दर्प के वशवर्ती होकर जब उन असुरों ने विश्व को उत्पीडित करना प्रारम्भ कर दिया तब भगवान् शंकर ने देवताओं की सहायता से वाणरूपधारी भगवान् विष्णु के द्वारा उस राक्षस का वध किया।) उद्धत सर्प ही जिसके हार और वलय हैं, जिसने गङ्गा को धारण किया, ऋषि लोग जिसके शिर को चन्द्रयुक्त बतलाते हैं और जिसका 'हर' यह स्तुत्य नाम बतलाते है। स्वयं ही अन्धकासुर का विनाश करने-वाले, तथा भगवती उमा के पति वे ही भगवान् शंकर जी तुम्हारी सर्वदा रक्षा करें। (अन्धकासुर के विनाश की कथा भी लिङ्ग, शिव और स्कन्द पुराणों मे आई है। अन्धकासुर हिरण्याक्ष का पुत्र था। देवासुर-संग्राम में शुक्राचार्य जी मृत राक्षसों को मृतसञ्जीवनी विद्या के प्रभाव से पुनः प्रत्युज्जीवित कर दिया करते थे। एक बार भगवान् शंकर ने शुक्राचार्य को निगल लिया। शुक्राचार्य ने शंकर जी के पेट मे लोक-लोकान्तरो के दर्शन किये। अन्धकासुर शुक्राचार्य को छुड़ाने के निमित्त सेना लेकर चढ़ आया। सेना का कलकलनाद शुक्राचार्य जी ने भग-वान् शंकर के पेट के अन्दर से सुना और उत्तेजित होकर शंकर जी के शुक्र मार्ग से बाहर निकल आये। अन्धकासुर लडता-लड़ता मारा गया।)

यहाँ पर प्रतीतिगोचर होनेवाला दूसरा अर्थ वस्तुमात्र है। अतः यह श्लेष का ही विषय है, शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य विवक्षितान्यपरवाच्य का नहीं। क्योंकि यह बतलाया जा चुका है कि जहाँ पर दूसरे अर्थ से वस्तु-मात्र की प्रतीति हो वहाँ पर श्लेष होता है और जहाँ पर दूसरे अर्थ से अलंकार की प्रतीति हो वहाँ पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है।

ध्वन्यालोकः

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन, तत्पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाश इत्याशङ्क्य देमुक्तम् 'आक्षिप्तः' इति। तदयमर्थः—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं वाच्यं सत्प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः।

(अनु०) (प्रश्न) भट्टोद्भट ने दिखलाया है कि दूसरे अलङ्कारों की प्रतिभा मे भी श्लेप यह नाम हो जाता है; अतएव फिर भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कोई अवकाश नहीं रहा—इसी शङ्का का उत्तर देने के लिये यह कहा है कि 'अलङ्कार आक्षिप्त हो'। अतएव यह अर्थ हुआ—जहाँ शब्दशक्ति साक्षात् दूसरा अलंकार वाच्य होते हुये प्रतिभाषित होता है वह सब श्लेप का विपय है। और जहाँ पर शब्दशक्ति के द्वारा सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वाच्य से भिन्न दूसरा ही व्यङ्ग्य अलंकार प्रकाशित होता है वह ध्वनि का विपय है।

लोचन

आक्षिप्तशब्दस्य कारिकागतस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुं चोद्यनोपक्रमते—नन्वलङ्कारेत्यादिना।

कारिकागत आक्षिप्त शब्द का व्यवच्छेद्य (पृथक्करणीय) दिखलाने के लिये प्रेरणीय के रूप में उपक्रम किया जा रहा है नन्वलंकार इत्यादि से।

तारावती

कारिका मे आक्षिप्त शब्द का प्रयोग किया गया है। इसकी सङ्गति बिठाने के लिये तथा यह दिखलाने के लिये कि उस आक्षिप्त शब्द से कौन सा तत्त्व ध्वनि के क्षेत्र से वाह्य हो जाता है, पूर्वपक्ष के रूप में उसकी अवतारणा की जा रही है—(प्रश्न) भट्टोद्भट ने दिखलाया है कि जहाँ दूसरे अलंकार की प्रतीति हो रही हो वहाँ भी श्लेष नामक अलकार होता है। फिर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के लिये अवसर ही कहाँ रह गया? (उत्तर) कारिका मे आये हुये आक्षिप्त शब्द पर ध्यान देने से इस प्रश्न का उत्तर स्वतः समझ मे आ जावेगा। आक्षिप्त शब्द का आशय यह है कि जहाँ पर शब्दशक्ति से दूसरा अलंकार साक्षात् वाच्य होकर प्रकाशित हो रहा हो वह सब श्लेप का विषय होता है। इसके प्रतिकूल जहाँ पर शब्दशक्ति के सामर्थ्य से दूसरे अलंकार का आक्षेप कर लिया जावे और वह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही हो वहाँ पर ध्वनि का विपय होता है।

[इस प्रकरण में बतलाया गया है कि जहाँ शब्दशक्ति से अलंकार की प्रतीति हो वहाँ पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि होती है और जहाँ पर शब्दशक्ति से किसी

तारावती

प्रकरण मे होता ही है। यदि बिना किसी प्रयोजन एक अर्थ अभिधा से ले लिया जावे और दूसरा अर्थ व्यञ्जना से तो प्रकरण का उपयोग ही क्या हुआ? यह तो वही दशा हुई खेत सींचने के लिये जहाँ आवश्यकता है वहाँ एक नाली निकाल दो और जहाँ आवश्यकता नहीं है वहाँ दूसरी नाली निकाल दो। तो इसमें व्यवस्था ही क्या हुई। अतः मानना पड़ेगा कि किसी भी प्रकरण मे शब्दों का दूसरा अर्थ वहीं पर लिया जाता है जहाँ उसकी आवश्यकता हो। इस प्रकार दोनों अर्थ अभिधा के द्वारा ही निकलते हैं। प्राचीनों ने ऐसे प्रकरण मे जहाँ व्यञ्जना वृत्ति-मानी है वहाँ उनका अभिप्राय दूसरे अर्थ के लिये व्यञ्जना मानने में नहीं है अपितु दोनों अर्थों मे उपमानोपमेय भाव को स्थापित करने के लिये व्यञ्जना व्यापार की अपरिहार्यता बतलाई गई है।

उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि आलङ्कारिकों के दो पक्ष हैं—एक पक्ष शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि को मानता ही नहीं जिसमें आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त प्रमुख है तथा अप्पय दीक्षित का भी झुकाव उसी ओर मालूम पड़ता है। दूसरी ओर है मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि। ये लोग केवल अलङ्कार-ध्वनि को ही शब्दशक्तिमूलक नहीं मानते अपितु वस्तु-ध्वनि को भी शब्दशक्तिमूलक मानते हैं। उपभेद कल्पना मे इस बात पर ध्यान रखना होगा कि पाठकों के लिए चमत्कारविधान किस तत्त्व पर आधारित है। यदि चमत्कार विधान साम्य पर निर्भर है तो वह अलङ्कार-ध्वनि कही जावेगी यदि उसका आधार द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग है तो वह श्लेष अलङ्कार कहा जावेगा और यदि उसका आधार शब्द केवल पर निकलनेवाला दूसरा अर्थ है तो वह वस्तु-ध्वनि कहलावेगी। ऐसे स्थान देखे जाते है जहाँ शब्द के बल पर दूसरा अर्थ निकलता है और वक्ता को उस अर्थ को छिपाकर किसी अपने अन्तरंग मित्र पर प्रकट करना ही अभीष्ट होता है। ऐसे स्थान पर वस्तुतः चमत्कार में मूल कारण वह छिपाकर कहा हुआ अर्थ ही होता है। वहाँ एक तो सादृश्य की ओर पाठक का ध्यान ही नहीं जाता और यदि जाता भी है तो वह इतना उपेक्षणीय होता है कि उसके आधार पर ही पाठक के चमत्कार का पर्यवसान नहीं हो सकता। श्लिष्ट शब्दों के श्लेष की ओर यद्यपि पाठकों का ध्यान जाता है तथापि उसमे ही सौन्दर्य की विश्रान्ति नहीं हो जाती। सौन्दर्य की विश्रान्ति तब होती है जब पाठक उसे छिपाकर कहे हुये अर्थ का परिशीलन करता है। यह क्षेत्र शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि का ही है अतः उसका अपलाप नहीं हो सकता।

प्रस्तुत प्रकरण मे यह बतलाया गया है कि द्व्यर्थक शब्दों के प्रयोग में जहाँ

ध्वन्यालोकः

शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ॥

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः साक्षाद्विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासत इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः, न त्वनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः।

(अनु०) शब्दशक्ति से दूसरे अलंकार के साक्षात् प्रतिभास (प्रतीत) होने का उदाहरण—

'हार के बिना भी स्वभाव से ही हारी उसके दोनों स्तन किसके हृदय में विस्मय नहीं उत्पन्न कर रहे थे ?'

यहाँ पर शृंगार का व्यभिचारी विस्मय नाम का भाव है और विरोधालंकार भी साक्षात् प्रतिभासित होता है। अतः विरोध की छाया को अनुगृहीत करनेवाले श्लेष का यह विषय है, अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य-ध्वनि का नहीं।

लोचन

तस्या विनापीति। अपि शब्दोऽयं विरोधमाचक्षाणोऽर्थद्वयेऽप्यभिधाशक्तिं नियच्छति हरतो हृदयमवश्यमिति हारिणौ। हारो विद्यते ययोस्तौ हारिणाविति। अत एव विस्मयशब्दोऽस्यैवार्थस्योपोद्बलकः। अपिशब्दाभावे तु न तत एवार्थद्वयस्याभिधा स्यात्, स्वसौन्दर्यादेव स्तनयोर्विस्मयहेतुत्वोपपत्तेः। विस्मयाख्यो भाव इति दृष्टान्ताभिप्रायेणोपात्तम्। यथा विस्मयः शब्देन प्रतिभाति विस्मय इत्यनेन शब्देन तथा विरोधोऽपि प्रतिभात्यपीत्यनेन शब्देन।

तस्या विनापीति। यह अपिशब्द विरोध को कहते हुये दोनों अर्थों में अभिधाशक्ति को नियन्त्रित करता है—जो अवश्य हृदय को हरते हैं उन्हें हारी कहते हैं। जिनके हार विद्यमान हों उन्हें भी हारी कहते हैं। अतएव विस्मय शब्द इसी अर्थ के बोध में सहकारी है। अपि शब्द के अभाव में तो उसी से दो अर्थों की अभिधा होवे। क्योंकि स्तनों की विस्मयहेतुता तो अपने सौन्दर्य से ही (सिद्ध है)। विस्मय नामक भाव यह दृष्टान्त के अभिप्राय से ग्रहण किया गया है। जिस प्रकार विस्मय इस शब्द से विस्मय प्रतीत होता है उसीप्रकार विरोध भी 'अपि' शब्द से प्रतीत होता है।

तारावती

किसी दूसरे अलङ्कार की प्रतीति हो वहाँ वह अलङ्कार या तो श्लेषमूलक ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करता है। जहाँ अलङ्कार साक्षात् वाच्य हो वहाँ वह श्लेष-मूलक कहा

तारावती

जाता है और जहाँ व्यङ्ग्य हो वहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की संज्ञा प्राप्त करता है। पहले श्लेषमूलक साक्षात् वाच्य अलङ्कारान्तर का उदाहरण लीजिये। 'उसके दोनों पयोधर जो हार न होते हुये भी स्वभावतः हारी हैं किसके हृदय में विस्मय नहीं उत्पन्न कर रहे थे?' विस्मय उत्पन्न करने का कारण यह है कि हाररहित होते हुये भी हारी (हारवाले) हैं। 'हाररहित होते हुये भी' इस वाक्य का 'भी शब्द' विरोध का अभिधान करते हुये 'हारी' शब्द के दोनों अर्थों में अभिधा को नियन्त्रित कर देता है। 'हारी' शब्द के दो अर्थ हैं 'जो हृदय को अवश्य हरे' और 'जिनके पास हार विद्यमान है।' दूसरा अर्थ करने से विरोध की प्रतीति होती है और उस प्रतीयमान विरोध को 'अपि' शब्द वाच्य बना देता है। विस्मय भी उत्पन्न होने का कारण यही है कि पयोधर हाररहित होते हुये भी हारी हैं। अतः विस्मय शब्द भी इसी अर्थ का सहकारी तथा पोषक है। यदि यहाँ पर 'अपि' शब्द का प्रयोग न किया गया होता तो दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती थी। यदि केवल यही कहा जाता कि 'उसके पयोधर हाररहित हैं, स्वभावतः हारी हैं और किसके हृदय में विस्मय नहीं पैदा करते।' तो विस्मय का अर्थ यही होता कि उसके स्तन अपने सौन्दर्य के कारण ही विस्मय में डालनेवाले हैं। अतएव अभिधा वृत्ति से यहाँपर विरोध की प्रतीति नहीं होती।

वृत्तिकार ने लिखा है कि—'यहाँपर शृङ्गार रस का व्यभिचारी विस्मय नामक भाव और विरोधालङ्कार ये दोनों साक्षात् प्रतिभासित होते हैं।' यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है कि प्रकरण तो श्लेषालङ्कार और शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार-ध्वनि के विषय-विभाजन का चल रहा है फिर बीच में शृङ्गार रस के व्यभिचारी भाव की वाच्यता का उल्लेख क्यों कर दिया गया। इसका उत्तर यह है कि विस्मय नामक व्यभिचारी भाव का कथन दृष्टान्त के अभिप्राय से किया गया है। जिस प्रकार विस्मय शब्द का प्रयोग कर देने से शृंगार रस के व्यभिचारी भाव विस्मय की प्रतीति अभिधा-वृत्ति से ही होती है उसी प्रकार 'भी' शब्द का प्रयोग कर देने से विरोधाभास की प्रतीति भी साक्षात् अभिधा वृत्ति से ही हो जाती है। अतः यह विषय श्लेष का ही है जो विरोधालङ्कार की छाया का परिपोष करता है। यह विषय शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप अलङ्कार-ध्वनि का नहीं हो सकता क्योंकि यहाँपर विरोधाभास अलंकार वाच्य है।

किन्तु उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि जहाँ वाच्यालंकार होता है वहाँ किसी प्रकार की ध्वनि होती ही नहीं। 'वाच्य श्लेष अथवा विरोध के द्वारा व्यक्त की हुई असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि का तो यह क्षेत्र है

ध्वन्यालोकः

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव। यथा ममैव—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
स्त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः।
विभ्राणां मुखमिन्द्ररूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात्॥

(अनु०) वाच्य श्लेष अथवा विरोध के द्वारा व्यञ्जित अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का तो यह विषय (क्षेत्र) है ही। जैसे मेरा ही पद्य—

सुदर्शन-कर, चरणारविन्द के त्रिभुवनाक्रमण-क्रीडन में लोकों को आक्रान्त करनेवाले, चन्द्रात्मक नेत्र धारण करनेवाले भगवान् कृष्ण ने समस्त श्लाघनीय शरीरवाली सभी अंगों की लीला से तीनों लोकों को जीतनेवाली, चन्द्र के समान सम्पूर्ण मुख को धारण करनेवाली जिन रुक्मिणी को उचित ही अपने शरीर से अधिक समझा, वे रुक्मिणी आपलोगों की रक्षा करें।

लोचन

ननु किं सर्वथात्र ध्वनिर्नास्तीत्याशङ्क्याह—अलक्ष्येति। विरोधेन वेति। वाग्रहणेन श्लेषविरोधसङ्करालङ्कारोऽयमिति दर्शयति, अनुग्रहयोगादेकतरत्यागग्रहणनिमित्ताभावो हि वा शब्देन सूच्यते। सुदर्शनं चक्रं करे यस्य। व्यतिरेकपक्षे सुदर्शनौ श्लाघ्यौ करावेव यस्य। चरणारविन्दस्य ललितं त्रिभुवनाक्रमणक्रीडनम्। चन्द्ररूपं चक्षुर्धारयन्।

(प्रश्न) क्या यहाँ सर्वथा ध्वनि नहीं है ? यह शंका करके (उत्तर) देते हैं—अलक्ष्येति। विरोधेन वेति। वा ग्रहण से यह श्लेष और विरोध का संकरालंकार है यह दिखलाते हैं। अनुग्रह (अनुग्राह्यानुग्राहक भाव) के योग से एक के त्याग और ग्रहण के निमित्त का अभाव 'वा' शब्द से सूचित होता है। सुदर्शनचक्र है जिसके हाथ में। व्यतिरेक पक्ष में सुन्दर दर्शनवाले अर्थात् श्लाघ्य हैं हाथ ही जिसके। चरणारविन्द का ललित अर्थात् त्रिभुवन के आक्रमण की क्रीडा। चन्द्ररूप नेत्रों को धारण करते हुये।

तारावती

ही।' वृत्तिकार के इस वाक्य में 'अथवा विरोध के द्वारा' अथवा शब्द का अर्थ यह है कि आप उसे चाहे श्लेष कहें अथवा विरोध। ये दोनों मिलकर एक ही अलंकार बनाते हैं अर्थात् यहाँ पर श्लेष और विरोध का संकर बन जाता है। श्लेष और विरोध में अनुग्राह्यानुग्राहक भाव विद्यमान है, अतः एक के ग्रहण और दूसरे के त्याग का कोई निमित्त यहाँ पर विद्यमान नहीं है। यही बात 'वा' शब्द

ध्वन्यालोकः

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते। यथा च—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥

(अनु०) यहाँ पर व्यतिरेक की छाया को अनुगृहीत करनेवाला श्लेष वाच्यरूप मे ही प्रतीत होता है। एक और उदाहरण—

'मेघरूपी सर्प से उत्पन्न हुआ विष (१–जल २–गरल) वियोगिनियों के लिये बलपूर्वक, भ्रमि, अरति, हृदय में आलसीपन, प्रलय (चेष्टाशून्य होना), मूर्च्छा, अंधेरा (छा जाना), शरीर की शिथिलता और मरण, ये बातें उत्पन्न कर रहा है।

लोचन

वाच्यतयैवेति। स्वतनोरधिकामिति शब्देन व्यतिरेकस्योक्तत्वात्। भुजगशब्दार्थपर्यालोचनाबलादेव विषशब्दो जलमभिधायापि न विरन्तुमुत्सहेत, अपितु द्वितीयमर्थं हालाहललक्षणमाह। तदभिधानेन विनाभिधाया एवासमाप्तत्वात्। भ्रमिप्रभृतीनां तु मरणान्तानां साधारण एवार्थः।

वाच्यतया एवेति। क्योंकि अपने शरीर से अधिक, इन शब्दों के द्वारा व्यतिरेक कहा गया है। भुजंग शब्द के अर्थ की पर्यालोचना के बल से ही विष शब्द जल को कहकर भी विरत होना नहीं चाहता अपितु हालाहल लक्षणवाले दूसरे अर्थ को कहता है। क्योंकि उसके अभिधान के बिना अभिधा ही असमाप्त रह जाती है। भूमि से लेकर मरण पर्यन्त (शब्दों) का साधारण ही अर्थ है।

तारावती

से व्यक्त होती है। दूसरे अलंकार से संपृक्त वाच्य श्लेष का दूसरा उदाहरण आनन्दवर्धन का बनाया हुआ अपना ही पद्य है। इस पद्य में व्यतिरेक की छाया को अनुगृहीत करनेवाला श्लेष वाच्य के रूप में ही प्रतीत होता है। पद्य का अर्थ यह है—'भगवान् कृष्ण सुदर्शन-कर हैं अर्थात् उनके हाथों मे सुदर्शनचक्र है और रुक्मिणी का सारा शरीर प्रशंसनीय है।' व्यतिरेक पक्ष में इसका अर्थ यह है कि भगवान् के कर ही केवल सुन्दर दर्शनीय हैं जब कि रुक्मिणी का सारा शरीर प्रशंसनीय है। भगवान् ने चरणारविन्द की ललितगति अर्थात् त्रिभुवन के अतिक्रमण की क्रीडा के द्वारा लोकों को आक्रान्त किया, किन्तु रुक्मिणी ने अपने सब अङ्गों की लीला से तीनों लोकों को जीत लिया, भगवान् केवल चन्द्ररूपी नेत्रों को ही धारण करते हैं जब कि रुक्मिणी का पूरा मुख चन्द्रमा के समान है। इस प्रकार यह बात उचित ही थी कि भगवान् ने रुक्मिणी को अपने शरीर से अधिक

तारावती

समझा । वे रुक्मिणी आप सब लोगों की रक्षा करें ।

यहाँ पर व्यतिरेकालङ्कार है । रुक्मिणी कृष्ण से अधिक हैं क्योंकि रुक्मिणी का सारा शरीर सुन्दर है किन्तु भगवान् के केवल हाथ ही सुन्दर हैं । (वे सुदर्शनकर हैं ।) भगवान् ने केवल पैरों से ही लोकों को आक्रान्त किया किन्तु रुक्मिणी जी ने सारे शरीर की लीला से तीनों लोकों को जीत लिया । भगवान् के केवल नेत्र ही चन्द्रात्मक हैं । किन्तु रुक्मिणी का मुख चन्द्र है । किन्तु यह व्यतिरेकालङ्कार वाच्य है क्योंकि कवि ने स्वयं कह किया है कि 'भगवान् ने रुक्मिणी को अपने शरीर की अपेक्षा अधिक समझा । इस व्यतिरेक को अनुगृहीत करनेवाला 'सुदर्शनकर' इत्यादि शब्दों में श्लेष उसका पोषक है । इस प्रकार व्यतिरेक का पोषक श्लेष ही यहाँ पर माना जावेगा, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं । (हाँ रुक्मिणीविषयक कविगत रति (भक्ति-भाव) तो ध्वनि है ही ।)

अन्य उदाहरण—

'मेघरूपी सर्प से उत्पन्न हुआ विष (जल) वियोगिनी स्त्रियों के लिये बल पूर्वक भ्रमि (मस्तक का चक्कर) अरति (संसार से विरक्ति) हृदय मे आलस्य, प्रलय (चेष्टाशून्यत्व) मूर्छा, नेत्रों के सामने अन्धकार शारीरिक कष्ट और मरण ये बातें उत्पन्न कर रहा है ।'

विष के दो अर्थ हैं जल और गरल । यद्यपि प्राकरणिक होने के कारण विष शब्द जल का प्रत्यायन करा देता है तथा जब हम भुजग शब्द के अर्थ की पर्यालोचना करते हैं तब उसी कारण विष शब्द जल की बोधकता तक ही रुकने का साहस नहीं करता । अपितु हालाहलरूप द्वितीय अर्थ का प्रत्यायन कर देता है । कारण यह है कि जब तक हालाहल का अभिधान नहीं किया जावेगा तब तक अभिधा की विश्रान्ति नहीं होगी । 'भ्रमि' से लेकर 'मरण' पर्यन्त चेष्टाओं का साधारण ही अर्थ है । जिस प्रकार ये चेष्टायें सर्प के काटने में विष के सञ्चार के कारण हो जाती हैं उसी प्रकार मेघों का जल उद्दीपन होने के कारण वियोगिनियों के अन्दर भ्रमि इत्यादि विकार उत्पन्न करता है । (यहाँ पर मेघरूपी सर्प में रूपक अलङ्कार है । यही रूपक इस बात के लिये विवश कर देता है कि विष शब्द के दोनों अर्थ लिये जावें । क्योंकि जब तक गरल रूप अर्थ नहीं लिया जाता तब तक सर्प के वाच्यार्थ की पूर्ति ही नहीं होती । अतः यहाँ पर रूपकानुग्राही श्लेष ही माना जावेगा, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं ।)

एक अन्य उदाहरण—

'जिन महाराज के गजेन्द्र उनकी बाहु-परिघाओं के समान हैं जिन्होंने शत्रुओं

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

चमहिअमाणसकञ्चणपङ्कअणिम्महिअपरिमला जस्स।
अखण्डिअदाणपसारा वाहुप्पलिहा व्विअ गइन्दा॥
(खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथितपरिमला यस्य।
अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्राः॥ इति छाया)
अत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते।

(अनु०) अथवा एक और उदाहरण—

(राजा के महत्त्व का क्या कहना?) जिसके बाहुपरिघ गजेन्द्रों के समान है जिन्होंने खण्डित किये हुये शत्रुओं के मनरूपी सोने के कमलों के यशरूपी परिमल को मथ डाला और जिनके दान का प्रसार खण्डित नहीं होता।'

यहाँ रूपक-छायानुग्राही श्लेष वाच्य के रूप में ही अवभासित होता है।

लोचन

निराशीकृतत्वेन खण्डितानि यानि मानसानि शत्रुहृदयानि तान्येव काञ्चनपङ्कजानि। ससारत्वात्तैर्हेतुभूतैः। णिम्महिअपरिमला इति। प्रसृतप्रतापसारा अखण्डितवितरणप्रसरा वाहुपरिघा एव यस्य गजेन्द्रा इति। गजेन्द्रशब्दवशाच्चमहिअशब्दः परिमलशब्दो दानशब्दश्च त्रोटनसौरभमदलक्षणानर्थान् प्रतिपाद्यापि न परिसमाप्ताभिधाव्यापारा भवन्तीत्युक्तरूपं द्वितीयमप्यर्थमभिदधात्येव।

निराश किये जाने के कारण खण्डित कर दिये गये हैं जो मानस अर्थात् शत्रु हृदय वही हैं स्वर्ण कमल। ससार होने के कारण हेतुभूत उनके द्वारा। 'णिम्महिअपरिमला' इति। जिनके प्रताप का सार फैल गया है जिनका वितरण का प्रसार खण्डित नहीं होता इस प्रकार की बाहु-परिघायें ही जिसके गजेन्द्र हैं। गजेन्द्र शब्द के कारण चमहिअ शब्द, परिमल शब्द और दान शब्द, तोड़ना, सुगन्धि और मद इन अर्थों को प्राप्त होकर भी परिसमाप्त अभिधा व्यापारवाले नहीं होते हैं। इस प्रकार उक्त रूपवाले द्वितीय अर्थ को भी कहते ही है।

तारावती

के मनरूपी सोने के कमलों की परिमल को मथ डाला है और जिनके दान का प्रसार खण्डित नहीं होता।'

शत्रुओं के मन निराश कर दिये जाने के कारण खण्डित कर दिये गये है और कमल हाथियों ने तोड़ डाले हैं। राजा के हाथों के वितरण का प्रसार नहीं रुकता और हाथियों के मद की धारा का प्रसार नहीं रुकता।

ध्वन्यालोकः

स चाक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहारः । तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालङ्कारव्यवहार एव ।

(अनु०) उस आक्षिप्त अलङ्कार के स्वरूप को जहाँ पर दूसरे शब्द के द्वारा अभिहित कर दिया जावे वहाँ पर शब्दशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का व्यवहार नहीं होता । वहाँ पर वक्रोक्ति इत्यादि वाच्यालङ्कार का ही व्यवहार होता है ।

लोचन

एवमाक्षिप्तशब्दस्य व्यवच्छेद्यं प्रदर्श्यैवकारस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमाह—सचेति । उभयार्थप्रतिपादनशक्तशब्दप्रयोगे, यत्र तावदेकतरविषयनियमनकारणमभिधाया नास्ति, यथा 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इति । यत्र वा प्रत्युत द्वितीयाभिधाव्यापारसद्भावावेदकं प्रमाणमस्ति, यथा–'तस्या विना' इत्यादौ, 'चमहिअ' इत्यन्ते । तत्र तावत्सोऽर्थोऽभिधेय एवेति स्फुटमदः । यत्राप्यभिधाया एकत्र नियमहेतुः प्रकरणादिर्विद्यते तेन द्वितीयस्मिन्नर्थे नाभिधा संक्रामति, तत्र द्वितीयोऽर्थोऽसावाक्षिप्त इत्युच्यते, तत्रापि

इस प्रकार आक्षिप्त शब्द के व्यवच्छेद्य को दिखलाकर 'एवकार' के व्यवच्छेद्य को दिखलाने के लिये कहते हैं—'स च' इति । दोनों अर्थों के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के प्रयोग में जहाँ पर अभिधा के दो मे एक विषय के नियमन का कारण नहीं है जैसे 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि। अथवा जहाँ द्वितीय अभिधाव्यापार की सत्ता को बतलानेवाला प्रमाण है जैसे तस्या विनापि इत्यादि से 'चमहिअ' यहाँ तक । वहाँ पर वह अर्थ सर्वथा अभिधेय ही होता है यह स्पष्ट है । और जहाँ पर एक अर्थ में अभिधा के नियमन का हेतु प्रकरण इत्यादि विद्यमान है उससे द्वितीय अर्थ में अभिधा संक्रान्त नहीं होती । वहाँ पर यह द्वितीय अर्थ आक्षिप्त कहा जाता

तारावती

यहाँ पर खण्डित, परिमल और दान इन शब्दों के दो-दो अर्थ हैं—(अ) खण्डित—(१) निराश किये हुये और (२) तोड़े हुये। (आ) परिमल—(१) यश और (२) सुगन्धि तथा (इ) दान—(१) वितरण (२) मद । इस प्रकार इस पूरे वाक्य का यह अर्थ हो जाता है—राजा की बाहु-परिघायें उसी प्रकार शत्रुओं को विजय के लिये निराश करके उनके यश को मथ डालती हैं जिस प्रकार उनके हाथी सोने के कमलों की सुगन्धि को मथ डालते हैं, जिस प्रकार हाथियों का मद का प्रवाह कभी प्रतिहत नहीं होता उसी प्रकार बाहुओं का वितरण करने का विस्तार कहीं प्रतिहत नहीं होता ।

लोचन

यदि पुनस्तादृक्छब्दो विद्यते येनासौ नियामकः प्रकरणादिरपहृतशक्तिकः सम्पाद्यते। अत एव साभिधा शक्तिर्बाधितापि सती प्रतिप्रसूतेव तत्रापि न ध्वनेर्विषय इति तात्पर्यम्। चशब्दोऽपिशब्दार्थे भिन्नक्रमः आक्षिप्तोऽप्याक्षिप्ततया झटिति सम्भावयितुमारब्धोऽपीत्यर्थः। न त्वसावाक्षिप्तः, किन्तु शब्दान्तरेणान्येनाभिधाया प्रतिप्रसवनादभिहितस्वरूपः सम्पन्नः। पुनर्ग्रहणेन प्रतिप्रसवं व्याख्यातं सूचयति। तेनैवकार आक्षिप्ताभासं निराकरोतीत्यर्थः।

है। उसमें भी यदि पुनः ऐसा शब्द विद्यमान है जिससे यह नियामक प्रकरण इत्यादि अपहृतशक्तिवाला हो जावे अतएव वह अभिधा शक्ति बाधित होते हुये भी पुनः प्रसूत सी हो जाती है वहाँ पर भी ध्वनि का विषय नहीं है यह तात्पर्य है। 'च' शब्द 'अपि' शब्द के अर्थ में भिन्नक्रम है। आक्षिप्त भी अर्थात् आक्षिप्त के रूप में शीघ्रही सम्भावना के लिये आरम्भ किया हुआ भी। वह आक्षिप्त नहीं है किन्तु दूसरे शब्द विशेष के द्वारा अभिधा के पुनः जीवित हो जाने से अभिहित स्वरूपवाला हो गया। पुनः ग्रहण से व्याख्या किये हुये प्रतिप्रसव को सूचित करता है। इससे 'एव' का प्रयोग आक्षिप्ताभास का निराकरण करता है यह अर्थ है।

तारावती

यहाँ पर श्लेष ही रूपकच्छायानुग्राही है और उसकी प्रतीति वाच्य रूप में ही होती है। कारण यह है कि गजेन्द्र शब्द का प्रयोग प्रस्तुत वाक्य में ही कर दिया गया है। अतः जब तक दोनों अर्थ नहीं निकल आते तब तक अभिधा का व्यापार शान्त ही नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से लक्षण में आये हुये 'आक्षिप्त' का आशय व्यक्त हो जाता है कि उसके कौन से स्थान ध्वनि की सीमा में नहीं आते। अब वृत्तिकार कारिकागत 'एवकार' के द्वारा कौन कौन से स्थान ध्वनि की सीमा से बाह्य हो जाते हैं उनको दिखलाने के लिये अग्रिम प्रकरण का प्रारम्भ कर रहा है—'आक्षिप्त अलङ्कार ही' में 'ही' (एव) शब्द का आशय यह है कि जहाँ पर अलङ्कार आक्षिप्त तो हो किन्तु उसका स्वरूप दूसरे शब्द या शब्दों से अभिहित कर दिया जावे वहाँ पर शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप ध्वनि का व्यवहार नहीं होता। वहाँ पर वक्रोक्ति इत्यादि वाच्यालङ्कार का ही प्रयोग होता है। इस प्रकरण का आशय यह है— जहाँ पर किसी ऐसे शब्द का प्रयोग हो जिसके दो अर्थ निकल सकें और वहाँ पर कोई कारण उपस्थित न हो जिसके एक अर्थ में अभिधा का नियमन किया जा सके जैसा कि 'येन ध्वस्त……' इत्यादि पद्य के उदाहरण में दिखलाया जा चुका है

तारावती

अथवा वहाँ पर किसी कारण से एक अर्थ का नियमन तो हो रहा हो किन्तु कोई ऐसा भी प्रमाण उपस्थित हो जिसके कारण दूसरा अर्थ भी उसी अभिधावृत्ति की सीमा में ही सन्निविष्ट हो जावे जैसा कि 'उसके दोनों पयोधर......कर रहे थे' से लेकर 'जिन महाराज......... नहीं होता' तक दिखलाया जा चुका है, ये समस्त स्थान वाच्यश्लेष की सीमा में आते हैं। यह बात स्पष्ट ही है कि वे सब स्थान वाच्यार्थ ही कहे जावेंगे। इसके अतिरिक्त जहाँ पर प्रकरण इत्यादि के कारण एक अर्थ में अभिधा का नियमन हो जावे और इसी कारण द्वितीय अर्थ में अभिधा प्रसार न पा सके वहाँ पर जो दूसरा अर्थ प्रतीतिगोचर होने लगता है वह आक्षिप्त अलङ्कार कहा जाता है। वहाँ पर भी यदि कोई ऐसा शब्द प्राप्त हो जावे जिससे नियामक प्रकरण इत्यादि की शक्ति ही उपहत हो रही हो तथा इसी कारण दूसरे अर्थ मे बाधित हुई अभिधा शक्ति मानों पुनः प्रत्युज्जीवित हो जावे तो वहाँ पर भी ध्वनि का विषय नहीं होता। यही इस प्रकरण का तात्पर्य है। 'स च आक्षिप्तः अलङ्कारः' इस वृत्ति के वाक्य मे 'च' शब्द का अर्थ है 'अपि' और इसकी योजना भिन्नक्रम से होती है अर्थात् 'च' शब्द का प्रयोग 'सः' के बाद हुआ है किन्तु उसका अन्वय 'आक्षिप्तः' के बाद होता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा 'आक्षिप्तःअपि' अर्थात् 'आक्षिप्त के रूप में जिस अलङ्कार की सम्भावना किया जाना प्रारम्भ हो गया हो।' आशय यह है कि वह अलङ्कार वस्तुतः आक्षिप्त नहीं होता किन्तु दूसरे शब्द से अभिधा का प्रत्युज्जीवन हो जाने के कारण उसका स्वरूप अभिहित (अभिधावृत्ति-गम्य) हो जाता है। 'यत्र पुनः शब्दान्तरेण' में पुनः शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है कि वह अभिधाशक्ति उपहत होकर प्रत्युज्जीवित हो जाती है जैसी कि व्याख्या अभी की जा चुकी है। अतएव 'एव' शब्द के प्रयोग से जो कि आक्षिप्ताभास होने की सम्भावना थी उसका निराकरण हो गया। आशय यह है कि 'एवकार' का एक मन्तव्य यह भी हो सकता था कि केवल आक्षिप्त अलंकार ही ध्वनि का विषय होता है आक्षिप्ताभास नहीं। 'पुनः' शब्द के प्रयोग से इस व्याख्या का निराकरण हो गया और उसका अर्थ यह हो गया कि जहाँ पर कोई अलङ्कार आक्षिप्त होते हुये भी किसी अन्य शब्द के द्वारा अभिहित हो जावे वहाँ पर ध्वनि नहीं होतो अपितु वाच्यश्लेप होता है।

जहाँ पर व्यङ्ग्य होकर भी अलङ्कार किसी दूसरे शब्द के द्वारा अभिहित जैसा हो जाता है और अभिधा की शक्ति नियन्त्रित होकर भी प्रत्युज्जीवित हो जाती है उसका उदाहरण दिया जा रहा है—कोई गोपी किसी गोष्ठ (गायों के बाड़े) में गिर गई है। वह भगवान् कृष्ण से उठाने की प्रार्थना करते हुये कह रही है—

ध्वन्यालोकः

यथा—

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किंनाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥

(अनु०) जैसे—

हे केशव ! गोधूलि से नष्ट की हुई दृष्टि से मैंने कुछ नहीं देख पाया; इसीलिये मैं गिर गई हूँ; मुझ गिरी हुई को तुम सहारा क्यों नहीं देते ? विषम स्थानों में खिन्न-मनवाले समस्त निर्बलों की शरण तुम्हीं हो । इस प्रकार गोष्ठ में गोपी के द्वारा विशेष अभिप्राय से कहे हुये भगवान् आप लोगों की बहुत समय तक रक्षा करें ।

दूसरा अर्थ—

'हे केशव ! हे गोप ! प्रेम से आकृष्ट की हुई दृष्टि के कारण मुझे उचित-अनुचित का कुछ ज्ञान नहीं रहा; इसीलिये मैं खण्डित-चरित्रवाली बन गई हूँ। क्या कारण है कि तुम मेरे पतित्व का आश्रय नहीं लेते हो अर्थात् मेरे पति नहीं बन जाते हो ? एक-मात्र तुम्ही विषमवाण कामदेव के द्वारा खिन्न किये हुये मनवाली सब अबलाओं को शरण देते हो । इस प्रकार गोष्ठ में ....रक्षा करें ।'

लोचन

हे केशव गोधूलिहृतया दृष्ट्या न किञ्चिद् दृष्टं मया तेन कारणेन स्खलितास्मि मार्गे । तां पतितां सतीं मां किं नाम कः खलु हेतुर्यन्नालम्बसे हस्तेन । यतस्त्वमेवै-कोऽतिशयेन बलवान्निम्नोन्नतेषु सर्वेषामबलानां बालवृद्धाङ्गनादीनां खिन्नमनसां गन्तुमशक्नुवतां गतिरालम्बनाभ्युपाय इत्येवंविधेऽर्थे प्रकरणेन नियन्त्रिताभिधाशक्त-यस्तथापि द्वितीयेऽर्थे व्याख्यास्यमानेऽभिधाशक्तिर्निरुद्धा सती सलेशमित्यनेन प्रत्युज्जीविता ।

हे केशव ! गोधूलि से हरी हुई दृष्टि के द्वारा मैंने कुछ नहीं देख पाया; इस कारण से मार्ग मे स्खलित हो गई हूँ । उस गिरी हुई मुझको क्या कारण है जो हाथ से सहारा नहीं देते हो ! क्योंकि तुम्हीं अकेले अत्यन्त बलवान् ऊँचे-नीचे स्थानों में सभी निर्बल बाल, वृद्ध, अङ्गना इत्यादि दुःखी मनवालों और चलने में असमर्थ लोगों की गति अर्थात् आलम्बन का उपाय हो। इस प्रकार के अर्थ मे यद्यपि ये प्रकरण द्वारा नियन्त्रित अभिधाशक्तिवाले शब्द हैं तथापि द्वितीय अर्थ की व्याख्या किये जाने पर अभिधाशक्ति रोकी हुई होकर 'सलेश' शब्द से प्रत्युजीवित हो गई ।

लोचन

अत्र सलेशम् ससूचनमित्यर्थः, अल्पीभवनं हि सूचनमेव। हे केशव ! गोप स्वामिन् ! रागहृतया दृष्ट्येति। केशवेन उपरागेण हृतया दृष्ट्येति वा सम्बन्धः। स्खलितास्मि खण्डितचरित्रा जातास्मि। पतितामिति भर्तृभावं मां प्रति। एक इत्य-साधारणसौभाग्यशाली त्वमेव। यतः सर्वासामबलानां मदनविधुरमनसामीर्ष्या-कालुष्यनिरासेन सेव्यमानः सन् गतिजीवितरक्षोपाय इत्यर्थः।

यहाँ सलेश का अर्थ है सूचना के सहित। अल्प होना निस्संदेह सूचना ही है। अथवा हे केशव ! गोर स्वामिन् ! राग से हरी हुई दृष्टि के द्वारा यह। केशव की ओर जानेवाली उपराग के द्वारा हरी हुई दृष्टि से यह सम्बन्ध है। स्खलिता हूँ अर्थात् खण्डित चरित्रवाली हो गई हूँ। 'पतिता' अर्थात् मेरे प्रति पतिभाव को। एक अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो। क्योंकि सभी मदन विधुरमन-वाली अबलाओं के ईर्ष्या कालुष्य के निराकरण के द्वारा सेव्यमान होते हुये गति अर्थात् जीवनरक्षा का उपाय हो यह अर्थ है।

तारावती

'हे केशव ! गोधूलि से हरी हुई (नष्ट की हुई) दृष्टि के द्वारा मैंने कुछ देख नहीं पाया; इसी कारण मैं गिर गई हूँ। उसी मुझ गिरी हुई को क्या कारण है कि तुम हाथ से सहारा नहीं दे रहे हो। क्योंकि तुम्हीं केवल अत्यन्त बलवान् हो जोकि विषम अर्थात् नीचे-ऊँचे प्रदेशों में सभी अबलों (दुर्बलों) अर्थात् दुःखी मनवाले बाल-वृद्ध स्त्री इत्यादि के लिये जोकि चलने में असमर्थ है एकमात्र गति अर्थात् आलम्बन का उपाय हो। ये शब्द जिन कृष्ण से अपने अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये गोपी ने कहे वे भगवान् सर्वदा आपलोगों की रक्षा करें।) यहाँ पर प्रकरण के द्वारा उक्त अर्थ में इन शब्दों की अभिधाशक्ति नियन्त्रित कर दी गई है फिर भी कई शब्द द्व्यर्थक आये हैं जिनके बलपर एक और अर्थ निकलता है किन्तु प्रकरण न होने के कारण जब द्वितीय अर्थ की व्याख्या की जाने लगती है तब वह अभिधाशक्ति रुक जाती है। किन्तु इसके बाद जब 'सलेशम्' शब्द पर विचार किया जाता है तब वह अभिधाशक्ति पुनः प्रत्युज्जीवित हो जाती है। 'सलेशम्' का अर्थ है सूचना के साथ अर्थात् अपनी मनःकामना अभिव्यक्त करने के लिये। 'लेश' शब्द 'लिश' धातु से घञ् प्रत्यय होकर बनता है 'लिश' धातु अल्पार्थक है, अतः 'लेश' शब्द का अर्थ हुआ स्वल्प या थोड़ा। थोड़ा कहने का अभिप्राय यही है कि उसने अपने मन्तव्य को पूर्णरूप से व्यक्त नहीं किया अपितु स्वल्प-मात्रा में उसे सूचित कर दिया। 'विशेष अभिप्राय को सूचित करने के लिये' इन शब्दों का ठीक अर्थ तभी बैठ सकता है जबकि उस विशेष अर्थ की भी

तारावती

व्याख्या कर दी जावे। अतएव प्रकरण के द्वारा नियन्त्रित होकर पूर्वोक्त नायिका के गिर जाने का अर्थ एकमात्र अभिधावृत्ति के द्वारा अवगत हो रहा था और दूसरा प्रेम-प्रकाशनपरक अर्थ प्राकरणिक न होने के कारण आक्षेपगम्य ही था। किन्तु सलेश शब्द ने अभिधा को पुनः जीवित कर दिया और उसके अभिप्राय की व्याख्या के लिये यह अर्थ और निकलने लगा—(केशवगोप रागहृतया दृष्ट्या) हे केशव ! हे गोप ! राग (अनुराग) के द्वारा हरी हुई दृष्टि से अथवा केशवगत उपराग (प्रेमजन्य अवसाद) के कारण हरी हुई दृष्टि से कुछ नहीं देख पाया अर्थात् मैं प्रेमपाश में एकदम आबद्ध हो गई और कर्तव्याकर्तव्य का विचार भी न कर सकी। इसीलिये मैं स्खलित हो गई हूँ अर्थात् मेरा चरित्र खण्डित हो गया है। (पतितां किं नाम न आलम्बसे) तुम मेरे पतित्व को क्यों ग्रहण नहीं कर रहे हो अर्थात् मेरे पति क्यों नहीं बन जाते। तुम ही एक हो अर्थात् असाधारण सौभाग्यशाली तुम्हीं हो जो कि मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति इतना तीव्र राग जाग्रत हो गया है। तुम्हीं केवल अद्वितीय सौभाग्य-शाली हो क्योंकि विषमेषु (विषमबाण) अर्थात् कामदेव के खिन्न मनवाली सभी अबलाओं के द्वारा तुम्हारा ही सेवन किया जाता है और आश्चर्य की बात है कि तुम उन युवतियों के हृदयों में ईर्ष्या कालुष्य का सञ्चार भी नहीं होने देते और उन सबका स्वच्छन्दता-पूर्वक उपभोग करते हो। तुम्हीं उनको शरण देनेवाले हो अर्थात् तुम उनकी जीवनरक्षा का एकमात्र उपाय हो। आशय यह है कि मैं तुम्हारे वियोग मे मर रही हूँ, यदि तुम मेरे अनुराग को स्वीकार नहीं करोगे तो मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है, मैं अबला हूँ मेरा कोई दूसरा सहारा नहीं, जब कि तुम सभी वियोग-विधुर ललनाओं को मृत्यु के मुख से बचाते हो तब तुम मेरी ही उपेक्षा क्यों करते हो, तुम्हें मेरा प्रेम भी स्वीकार करना चाहिये। द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग होने के कारण यह अर्थ भी अभिधावृत्तिगम्य ही है। किन्तु प्रकरण पहले अर्थ का है, अतः अभिधा दूसरे अर्थ को कहने में अशक्त हो जाती है। 'सलेशम्' शब्द का प्रयोग अभिधा की उसी अशक्ति को हटा देता है जिससे पुनः अभिधा जीवित होकर दूसरे अर्थ को प्रकट कर देती है। अतएव यहाँपर वाच्यश्लेष ही है; शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि व्यङ्ग्य अलङ्कार को कभी-कभी भी कोई एक शब्द ही वाच्य बना देता है जिससे उसमे ध्वनिकाव्यत्व की योग्यता जाती रहती है (यही बात रस इत्यादि के विषय मे भी कही जा सकती है। रस तभी आस्वादयोग्यता को प्राप्त करता है जबकि उसकी अभिव्यक्ति विभाव, अनुभाव इत्यादि के द्वारा होती है। यदि विभावादि के माध्यम से रसाभिव्यक्ति हो रही हो किन्तु उसमें अभिव्यञ्जन

ध्वन्यालोकः

एवंजातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः। यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः। यथा—

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।'

(अनु०) इस प्रकार का सभी (विषय) यथेष्ट रूप में वाच्य श्लेष का विषय हो। इसके प्रतिकूल जहाँ पर सामर्थ्य के द्वारा आक्षिप्त हुआ होकर दूसरा अलङ्कार शब्दशक्ति के द्वारा प्रकाशित हो रहा हो वह सब ध्वनि का ही विषय होता है। जैसे—'इसी बीच में कुसुम समय युग का उपसंहार करते हुये अट्टों को धवलित करनेवाली फुल्ल मल्लिकाओं के विकासवाला ग्रीष्मनामक महाकाल प्रवृत्त हुआ।'

(यहाँपर दूसरे अर्थ की भी व्यञ्जना होती है—सतयुग इत्यादि सुमनोहर समय का उपसंहार कर फुल्लमल्लिका के समान श्वेत अट्टहासवाले असुरों के लिये ग्रीष्म के समान प्रचण्ड महाकाल (भगवान् शिव) का प्रादुर्भाव हुआ)।

लोचन

एवं श्लेषालङ्कारस्य विषयमवस्थाप्य ध्वनेराह—यत्र त्विति। कुसुमसमयात्मकं यद्युगं मासद्वयं तदुपसंहरन्। धवलानि हृद्यान्यट्टान्यापणा येन तादृक् फुल्लमल्लिकानां हासो विकासः सितिमा यत्र। फुल्लमल्लिका एव धवलाट्टहासोऽस्येति तु व्याख्याने 'जलदभुजगम्' इत्येतत्तुल्यमेतत्स्यात्। महांश्चासौ दिनदैर्घ्यदुरतिवाहयोगात्कालः समयः अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिताभिधाशक्तयः, अत एव अवयवप्रसिद्धेःसमुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकाल-प्रभृतयः शब्दा एतमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्।

इस प्रकार श्लेषालङ्कार के विषय को अवस्थापित कर ध्वनि का विषय बतलाते हैं—'जहाँ पर तो' इत्यादि। कुसुमसमयात्मक जो जोड़ा अर्थात् दो मास, उनको समेटते हुये। धवल अर्थात् हृद्य कर दिये गये हैं अट्ट अर्थात् आपण जिसके द्वारा उस प्रकार का फुल्लमल्लिकाओं का हास अर्थात् विकास अर्थात् श्वेत वर्ण जिसमें। 'फुल्लमल्लिकायें ही हैं धवल अट्टहास जिसकी' ऐसी व्याख्या करने पर यह 'जलदभुगजम्' इसके समान हो जावे। दिन की दीर्घता कठिनाई से व्यतीत करने के योग से यह काल महान् है। यहाँपर ऋतुवर्णन के प्रस्ताव नियन्त्रित अभिधाशक्तिवाले, अतएव 'अवयव प्रसिद्धि से समुदायप्रसिद्धि बलवान् होती हैं' इस न्याय का अपाकरण करते हुये महाकाल प्रभृति शब्द इसी अर्थ को कहकर कृतकृत्य हो जाते हैं। इसके बाद अर्थावगति शब्दशक्तिमूलक ध्वनन व्यापार से ही होती है।

तारावती

के समकक्ष रस अथवा श्रृङ्गारादि शब्द का भी प्रयोग कर दिया जावे तो रस वाच्य होकर सदोष हो जाता है। इसीलिये आचार्यों ने स्वशब्दवाच्यता को रसदोषों में सन्निविष्ट किया है।)

[यहाँ तक उन स्थानों का विवेचन कर दिया गया जहाँ श्लेष अलङ्कार वाच्य होता है (किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि भट्टोद्भट का यह कहना ठीक है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का समस्त विषय श्लेष के द्वारा व्याप्त होता है अतः शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कहीं अवकाश ही नहीं) इसी मन्तव्य से यहाँपर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के क्षेत्र का विवेचन किया जा रहा है। (जहाँ पर द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग किया जाता है वहाँ पर अविधावृत्ति से ही दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है। वहाँ पर वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है इसके निर्णायक संयोग इत्यादि होते हैं जिनका परिगणन निम्नलिखित कारिकाओं में किया गया है—

> संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
> अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥
> सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
> शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इनकी विस्तृत व्याख्या अनेकशः की गई है। वहीं देखनी चाहिये। जब वक्ता का तात्पर्य एक अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है तब दूसरे अर्थ मे अभिधा प्रसार नहीं पा सकती। ऐसी दशा में दूसरा अर्थ व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ही निकलता है। उन वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों में सादृश्य इत्यादि सम्बन्ध भी व्यङ्ग्य ही होते हैं। ऐसे स्थानों पर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कही जाती है। यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि दोनों अर्थ प्राकरणिक ही हों और संयोग इत्यादि के द्वारा किसी एक अर्थ में अभिधा शक्ति नियमित न हो रही हो तो दो अर्थ अभिधावृत्ति-गम्य ही होते हैं। वह ध्वनि का विषय नहीं होता। शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार-ध्वनि का विषय ऐसा ही स्थान होता है जहाँ श्लेष के दो या अधिक अर्थ निकलें, एक अर्थ मे प्रकरणादि के द्वारा अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जावे, तब दूसरे अर्थ के लिये व्यञ्जना का आश्रय लेना पड़े और वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों अर्थों के सम्बन्ध का निर्वाह भी व्यञ्जना के द्वारा ही हो। जहाँ किसी एक अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण न हो अथवा श्लेषमूलक दूसरा अलङ्कार वाच्य ही हो या दूसरा अलङ्कार व्यङ्ग्य होकर भी किसी विशिष्ट शब्द के कारण वाच्य होने के लिये बाध्य हो जावे वहाँ पर वाच्यश्लेष ही होता है शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं।

श्लेष का दूसरे अलङ्कारों से क्या सम्बन्ध है और श्लेष स्वतन्त्र अलङ्कार हो

तारावती

सकता है या नहीं इस विषय में विश्वनाथ ने अच्छा प्रकाश डाला है। अतः साहित्यदर्पण के उक्त प्रकरण का आशय दे देना अप्रासङ्गिक न होगा—साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—'श्लेष के विषय मे कुछ लोगों का मत है कि इस अलङ्कार का ऐसा कोई पृथग्भूत विषय नहीं होता जहाँ किसी दूसरे अलङ्कार का अवसर न हो। इस प्रकार श्लेष निरवकाश होकर दूसरे अलङ्कारों का अपवाद हो जाता है। अतएव अलङ्कारों का बाध करके ही इसकी प्रवृत्ति होती है और यह अलङ्कार दूसरे अलङ्कारों की प्रतिभा को उत्पन्न करने मे कारण हो जाता है। आशय यह है कि दूसरे अलङ्कारों की छाया के बिना श्लेष सम्भव नहीं है यह कुछ लोगों का मत है।

'इस विषय मे यहाँ पर विचार करना है कि जहाँ पर दो अर्थों की प्रतीति होती है वहाँ पर कुछ तो ऐसे स्थल होते है जिनमें द्वितीय अर्थ का संकेतमात्र मिलता है उसका अभिधान नहीं किया जाता। ऐसे स्थानोंपर समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त इत्यादि अलङ्कार होते हैं। ऐसे अलङ्कारों मे श्लेष की गन्ध भी नहीं होती क्योंकि इनमें द्वितीय अर्थ अभिधेय होता ही नहीं।

'दूसरे स्थल ऐसे होते हैं जहाँ वस्तुतः द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग रहता है। यदि वहाँ पर श्लेषमूलक रूपक हो तो रूपक श्लेष का बाधक हो जाता है क्योंकि वहाँ पर सौन्दर्य का पर्यवसान आरोप मे ही होता है द्व्यर्थकता में नहीं। यदि वहाँ पर विरोधाभास या पुनरुक्तवदाभास हो तो विरोध सूचक अर्थ की सूचना ही मिलती है वह अर्थ द्वितीय अर्थ के समकक्ष नहीं होता। अतः वहाँ पर श्लेष नहीं हो सकता। ये तो वे स्थान हुये जहाँ श्लेष न होकर कोई दूसरा ही अलङ्कार होता है।

'इनके अतिरिक्त कुछ स्थान ऐसे होते हैं जहाँ द्व्यर्थक शब्दों के बलपर कुछ तो प्राकरणिक अर्थ निकलते हैं और कुछ अप्राकरणिक। यदि दो प्राकरणिक अर्थों का एक धर्म मे सम्बन्ध हो (जैसे 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि मे विष्णु और शङ्कर का) अथवा दो अप्राकरणिक अर्थों का एकधर्म में सम्बन्ध हो तो वहाँ पर तुल्ययोगिता होती है। यदि एक प्राकरणिक और दूसरे अप्राकरणिक अर्थ का एकधर्म मे सम्बन्ध हो तो वहाँ पर दीपक होता है। यदि अप्राकरणिक अर्थ प्राकरणिक से सादृश्य सम्बन्ध स्थापित करे तो उपमा होती है। इस प्रकार श्लेष का ऐसा कोई स्थान ही शेष नहीं रह जाता जहाँ ये अलङ्कार न हो सके। इसके प्रतिकूल इन अलङ्कारों के ऐसे स्थान मिल सकते हैं जहाँ श्लेष न हो। इस प्रकार ऐसे स्थानों पर विभिन्न अलङ्कार मानने पर श्लेष अलङ्कार का सर्वथा अभाव ही हो जावेगा। किन्तु श्लेष मानने पर अलङ्कारों को दूसरे स्थान मिल जावेंगे और उन

तारावती

अलङ्कारों का विषयापहार नहीं होगा। अतएव श्लेष की सत्ता बनाये रखने के लिये ऐसे स्थानों पर श्लेष ही मानना चाहिये अन्य अलङ्कार नहीं। (यह है कुछ लोगों की मान्यता।)

इस विषय मे विश्वनाथ का कहना है कि—'यह बात ठीक नहीं है कि श्लेष का दूसरे अलङ्कारों से पृथग्भूत स्वतन्त्र कोई विषय ही नहीं रह जाता। 'येन ध्वस्त-मनोभवेन·······'इत्यादि स्थल श्लेष का स्वतन्त्र विषय है। दूसरे लोग यहाँपर तुल्य-योगिता बतलाते हैं। किन्तु तुल्ययोगिता मे यह नियम नहीं होता कि उसमे दोनों अर्थ वाच्य ही हों जब कि श्लेष मे दोनों अर्थों के वाच्य होने का नियम है। दूसरा भेद यह होता है कि तुल्ययोगिता में एक धर्म का अनेक धर्मियों से सम्बन्ध होता है किन्तु श्लेष मे धर्म भी भिन्न होते हैं और धर्मी भी। श्लेष मे विभिन्न धर्मियों का विभिन्न धर्मों से सम्बन्ध होता है।

'यह जो कहा गया था कि 'सकल कलाओंवाला यह नगर चन्द्रबिम्ब के समान बन गया।' यहाँ पर श्लेष उपमा की प्रतिभा के उत्पादन मे हेतु होता है, यहाँ पर श्लेष ही प्रधान है, उपमा की प्रतिभा के कारण उसमें सौन्दर्य का आधान हो जाता है।' किन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर पूर्णोपमा का कोई विषय ही नहीं मिलेगा। यदि 'सकल कलाओंवाला यह नगर चन्द्रबिम्ब के समान हो गया।' इस वाक्य मे 'कला' शब्द का शब्दश्लेष उपमा मे हेतु होता है तो 'मुख चन्द्र के समान मनोज है' इस वाक्य मे मनोज्ञ का अर्थ-श्लेष उपमा का प्रयो-जक होगा। इस प्रकार धर्म के प्रत्यायन मे कहीं शब्द-श्लेष आ जावेगा और कहीं अर्थ श्लेष। अतएव पूर्णोपमा का विषय ही जाता रहेगा। अतः ऐसे स्थानों पर पूर्णोपमा ही मानी जानी चाहिये श्लेष नहीं। रुद्रट ने शब्द साम्य को उपमा का प्रयोजक माना ही है। कुछ लोग कहते हैं कि गुण और क्रिया का साम्य वास्तविक होता है, अतः उनका साम्य ही उपमा का प्रयोजक होता है और उनके साम्य मे ही उपमा अङ्गीकार की जानी चाहिये शब्दसाम्य मे नहीं क्योंकि वहाँ पर सादृश्य अवास्तविक होता है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उपमा के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह वास्तविक साम्य मे ही होती है। अवास्तविक शब्दसाम्य मे भी उपमा रूपक इत्यादि अलङ्कार माने ही जाते है और यह कहना ही कि उपमा का बाध कर श्लेष हो जाता है यह सिद्ध करता है कि शब्दसाम्य में उपमा होती है। ऐसे स्थान पर उपमा ही मानी जानी चाहिये इसमे एक प्रमाण यह भी है कि श्लेष सादृश्य के निर्वाह मे सहायक होता है, सादृश्य श्लेष के निर्वाह में सहायक नहीं होता। अतएव सिद्ध हो जाता है कि सादृश्य-मूलक उपमा अङ्गी है और

तारावती

श्लेष उसका अङ्ग। 'शब्द-मूलक और अर्थ-मूलक अलङ्कारों का परस्पर अङ्गाङ्गि-भाव सङ्कर नहीं होता' यह नियम भी उन्हीं-उन्हीं शब्दालङ्कारों के विषय में लागू होता है जिनमें अर्थ की अपेक्षा नहीं होती। उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है—(१) जहाँ पर द्वितीय अर्थ की ओर सङ्केतमात्र होता है वहाँ समासोक्ति, पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा इत्यादि अलङ्कार ही होते हैं श्लेष नहीं। (२) जहाँ शब्द की द्व्यर्थकता के बलपर एक अर्थ का दूसरे पर आरोप किया जाता है वहाँ रूपक ही होता है वहाँ भी श्लेष नहीं होता। (३) जहाँ शब्द के बल पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का बोध होता है वहाँ (अ) यदि दो प्रस्तुतों का एक धर्म में संबंध हो अथवा दो अप्रस्तुतों का एक धर्म में सम्बन्ध हो वहाँ पर तुल्ययोगिता होती है। (आ) यदि एक प्रस्तुत और दूसरे अप्रस्तुत का सम्बन्ध हो वहाँ पर दीपक होता है। (४) यदि द्व्यर्थकता के बल पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत का सादृश्य विधान हो तो उपमा होती है। (५) यदि दोनों अर्थ प्रस्तुत हों, दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हों, दोनों अर्थ समान कोटि के हों और उनमे संयोग इत्यादि के द्वारा अभिधा का नियन्त्रण न हो सके तो वहाँ पर श्लेष होता है। यह तो स्वतन्त्र श्लेष तथा श्लेषमूलक दूसरे अलङ्कारों का विषय-विभाजन हो गया। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि वहाँ पर होती है जहाँ प्रयुक्त शब्दों से प्राकरणिक अर्थ की पूर्ति हो जावे, उस अर्थ को अपनी पूर्ति के लिये दूसरे अर्थ की अपेक्षा भी न हो, उस समय सहृदयों को जो दूसरे अर्थ की प्रतीति होने लगती है और वही अर्थ विशेष रूप से रमणीयता में हेतु होता है, उसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहते हैं। अन्य आचार्यों के अनुसार यह ध्वनि दो प्रकार की होती है वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि। किन्तु आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के अनुसार यह केवल एक ही प्रकार की होती है और उसे अलङ्कार-ध्वनि कहते है। अन्य आचार्यों के द्वारा मानी हुई वस्तु-ध्वनि को आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मत मे श्लेषध्वनि की संज्ञा प्रदान की जा सकती है।]

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण जैसे बाण-भट्ट लिखित हर्षचरित के द्वितीय उछ्वास में ग्रीष्मवर्णन के प्रसङ्ग में लिखा है—

'इसी बीच में कुसुम समय युग का उपसंहार करते हुए फुल्लमल्लिका धवलाट्टहास ग्रीष्म नामक महाकाल का प्रादुर्भाव हुआ।'

यहाँ पर युग, अट्टहास, महाकाल इत्यादि शब्दों के दो-दो अर्थ हैं—एक अर्थ ग्रीष्मपरक है और दूसरा भगवान् शिव-परक। कुसुमसमययुग का अर्थ है वसन्त काल के दो महीने चैत्र और वैशाख। दूसरा अर्थ है वसन्त काल के समान शोभन

लोचन

अत्र केचिन्मन्यन्ते—"यत एतेषां शब्दानां पूर्वमर्थान्तरेऽभिधान्तरं दृष्टं ततस्तथाविधेऽर्थान्तरे दृष्टतदभिधाशक्तेरेव प्रतिपत्तुर्नियन्त्रिताभिधाशक्तिकेभ्य एतेभ्यः प्रतिपत्तिर्ध्वननव्यापारादेवेति शब्दशक्तिमूलकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चेत्यविरुद्धम्" इति ।

यहाँ कुछ लोग मानते हैं—'क्योंकि पहले इन शब्दों की दूसरे अर्थ में दूसरी अभिधा देखी गई इससे उस प्रकार के अर्थान्तर में देखी हुई अभिधाशक्तिवाले ही प्रत्तिपत्ता के लिये नियन्त्रित अभिधाशक्तिवाले इन (शब्दों) से प्रतिपत्ति ध्वननव्यापार से ही होती है इस प्रकार शब्दशक्तिमूलकत्व और व्यङ्ग्यत्व विरुद्ध है ।'

तारावती

युग सतयुग त्रेता इत्यादि। उनका उपसंहार हो गया है । 'ग्रीष्म नामक महाकाल का प्रादुर्भाव हुआ' महाकाल के भी दो अर्थ हैं—रुढि के द्वारा महाकाल का अर्थ है विनाश के देवता भगवान् शङ्कर और ग्रीष्म के पक्ष में इसका अर्थ है महान् या विशाल समय। ग्रीष्म में दिन बड़े-बड़े हो जाते हैं और उनका व्यतीत करना कठिन हो जाता है इसीलिये ग्रीष्म के लिए महाकाल या विशाल समय यह विशेषण दिया गया है । 'ग्रीष्माभिधान' का भगवान् शङ्कर के पक्ष मे अर्थ है अभक्तों और असुरों के लिये ग्रीष्म की भीषणता से उपलक्षित होनेवाले और ग्रीष्म के पक्ष में अर्थ है ग्रीष्म नामवाले । 'फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहास' का भगवान् शङ्कर के पक्ष मे अर्थ है 'फूली हुई मल्लिका के समान श्वेत अट्टहासवाले' और ग्रीष्म के पक्ष मे इसका अर्थ है 'अट्टों अर्थात् अट्टालिकाओं को श्वेत बनानेवाले फूली हुई मल्लिकाओं के विकास से परिपूर्ण । यहाँ पर 'फुल्लमल्लिका धवलाट्टहास' का अर्थ किसी ने यह किया है—'फूली हुई मल्लिकाये ही हैं धवलअट्टहास जिसके' किन्तु इस अर्थ में ग्रीष्म तथा शङ्कर का रूप्यरूपक भाव वाच्य हो जावेगा और 'जलदभुजगजम्' के समान यह भी ध्वनि का उदाहरण न होकर वाच्यश्लेष का ही उदाहरण हो जावेगा । अतः पूर्वोक्त अर्थ करना ही ठीक है । इस प्रकार यहाँ पर दो अर्थ हो जाते हैं । एक ग्रीष्मपरक और दूसरा शिवपरक । यहाँ पर ऋतु वर्णन का प्रस्ताव या प्रकरण है । इससे ग्रीष्म के अर्थ में अभिधा शक्ति नियन्त्रित हो जाती है । यद्यपि महाकाल का शिव अर्थ और युग का सतयुग इत्यादि अर्थ रूढि के द्वारा प्राप्त होता है और विशाल समय तथा दो महीने यह अर्थ यौगिक है, इस प्रकार नियमानुकूल शिवपरक अर्थ ही प्रथम उपस्थित होना चाहिये क्योंकि नियम है कि योग की अपेक्षा रूढि बलवान् होती है, जैसा कि न्याय प्रसिद्ध है—अवयवप्रसिद्धि (यौगिक अर्थ) से समुदायप्रसिद्धि (रूढ अर्थ) अधिक बलवान् होता है । तथापि प्रकरण ऋतुवर्णन का है, अतएव उक्त न्याय का अतिक्रमण कर

लोचन

अन्ये तु—"सामिधैव द्वितीयार्थसामर्थ्यं ग्रीष्मस्य भीषणदेवताविशेषसादृश्यात्मकं सहकारित्वेन यतोऽवलम्बते ततोध्वननव्यापाररूपोच्यते" इति ।

एके तु—"शब्दश्लेषे तावद्भेदे सति शब्दस्य, अर्थश्लेषेऽपि शक्तिभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने द्वितीयः शब्दस्तत्रानीयते । स च कदाचिदभिधाव्यापारात् यथोभयोरुत्तरदानाय 'श्वेतो धावति' इति, प्रश्नोत्तरादौ वा तत्र वाच्यालङ्कारता। यत्र तु ध्वननव्यापारादेव शब्द आनीतः तत्र शब्दान्तरबलादपि तदर्थान्तरं प्रतिपन्नं प्रतीयमानमूलत्वात्प्रतीयमानमेव युक्तम्" इति ।

दूसरे लोग तो—'वह दूसरी अभिधा शक्ति ही क्योंकि सहकारी के रूप में भीषण देवता विशेष सादृश्यात्मक अर्थ सामर्थ्य का अवलम्बन करती है इससे ध्वनन व्यापार रूपक कही जाती है ।

कुछ लोग तो—'शब्दश्लेष में शब्द के भेद होने पर, अर्थश्लेष में भी शक्तिभेद हो जाता है इस सिद्धान्त में द्वितीय शब्द वहाँ पर ले आया जाता है । वह कभी अभिधा व्यापार से जैसे दोनों का उत्तर देने के लिये 'श्वेतो धावति' यह अथवा प्रश्नोत्तर इत्यादि में वहाँ पर वाच्यालङ्कारता होती है । जहाँ पर तो ध्वनन व्यापार से ही शब्द ले आया जाता है वहाँ शब्दान्तर के बल से भी प्रतिपन्न वह अर्थान्तर प्रतीयमानमूला होने के कारण प्रतीयमान (होना ही) ठीक है ।'

तारावती

महाकाल इत्यादि शब्दों की अभिधाशक्ति नियन्त्रित हो जाती है और ये शब्द ग्रीष्मपरक अर्थ कहकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं । उसके बाद दूसरे—शिवपरक—अर्थ की प्रतीति शब्दशक्तिमूलक ध्वनन व्यापार से ही होती है । शब्दशक्तिमूलक ध्वनन-व्यापार से दूसरे अर्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है इस विषय में कई मत हैं । प्रमुख मतों का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

(१) इस विषय में कुछ लोग कहते हैं—जब हम किसी ऐसे शब्द का किसी विशेष प्रकरण में प्रयोग करते हैं जिसकी अभिधा शक्ति किसी दूसरे अर्थ में भी देख चुके होते हैं उस समय उस दूसरे अर्थ का संस्कार हमारे अन्तःकरणों पर जमा रहता है। जैसे (यहाँपर महाकाल शब्द का प्रयोग विशाल समय के अर्थ में किया गया है किन्तु 'महाकाल' का शिव अर्थ भी दूसरे स्थानों पर अधिगत होता है और वह अर्थ हमारे अन्तःकरणों पर जमा हुआ है ।) ऐसे स्थान पर पहले संयोग इत्यादि के कारण एक अर्थ में शक्तिग्रह और शाब्दबोध हो जाता है और उसी अर्थ में अभिधा का नियमन हो जाता है । अर्थात् वहाँ पर यह सिद्ध हो जाता है कि कवि या लेखक का उसी अर्थ में तात्पर्य है, फिर उन्हीं द्व्यर्थक शब्दों

लोचन

इतरे तु—"द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्यं तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिप्रसूयते, ततश्च द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत एव न ध्वन्यते, तदनन्तरं तु तस्य द्वितीयार्थस्य प्रतिपन्नस्य प्रथमार्थेन प्राकरणिकेन साकं या रूपणा सा तावद्भात्येव, न चान्यतः शब्दादिति सा ध्वननव्यापारात्। तत्राभिधाशक्तेः कस्याश्चिदप्यनाशङ्कनीयत्वात्।

दूसरे लोग तो—द्वितीय पक्ष की व्याख्या में जो अर्थ सामर्थ्य उससे द्वितीय अभिधा ही पुनरुज्जीवित हो जाती है। इससे द्वितीय अर्थ अभिहित ही होता है ध्वनित नहीं। उसके बाद तो उस प्रतिपन्न द्वितीय अर्थ का प्राकरणिक प्रथम अर्थ के साथ जो रूपण वह तो शोभित होता ही है। वह दूसरे शब्द से नहीं अतः ध्वननव्यापार से ही होती है। उसमे किसी अभिधाशक्ति की आशङ्का की ही नहीं

तारावती

के बल पर उस प्रकार के अर्थान्तर मे देखी हुई अभिधाशक्ति के संस्कार के कारण एक और अर्थ निकल आता है। यह अर्थ अभिधेयार्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह तो पहले ही नियन्त्रित हो चुका होता है। अतएव यह अर्थ ध्वनन व्यापार से ही निकल सकता है। यह शब्दशक्तिमूलक कहलाता है क्योंकि द्व्यर्थक शब्दों के बल पर निकला होता है। व्यङ्ग्य भी कहलाता है क्योंकि अभिधाशक्ति के नियन्त्रित हो जाने के बाद इसकी प्रतीति होती है। इस प्रकार इस अर्थ का शब्द-शक्तिमूलक होना और व्यङ्ग्य होना परस्पर विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।" (इसी मत का अनुसरण काव्यप्रकाशकार इत्यादि ने किया है।)

(२) दूसरा मत—'अभिधा इत्यादि जितने भी व्यापार हैं उन सबकी आत्मा केवल शब्द की ऐसी शक्ति ही है जो कि अर्थबोध के अनुकूल हो। सभी प्रकार की अभिधा इत्यादि वृत्तियों के द्वारा अर्थबोध होना ही उनका प्रधान कार्य है। सहकारी का भेद ही उनका परस्पर भेदक होता है। आशय यह है कि वैसे तो अर्थबोधक होने के नाते सभी वृत्तियाँ एक ही हैं किन्तु अर्थबोध कराने में विभिन्न प्रकार की वृत्तियों को विभिन्न प्रकार के सहकार की आवश्यकता होती है। इन्हीं सहकारियों के भेद से वृत्तियों मे भेद हो जाता है। अभिधा-वृत्ति केवल संकेत ग्रहण का ही सहकार लेती है, लक्षणा-वृत्ति में मुख्यार्थबाध इत्यादि के सहकार की अपेक्षा होती है और ध्वनन व्यापार में प्रकरण इत्यादि के सहकार की अपेक्षा होती है उपर्युक्त उदाहरण में जो दूसरा अर्थ निकलता है वह भी एक प्रकार की अभिधा ही है किन्तु उसे ध्वनन अथवा व्यञ्जना व्यापार का नाम इसलिये दे दिया गया है कि उसमें संकेत ग्रहण के अतिरिक्त ऐसे अर्थ-सामर्थ्य का भी आश्रय लिया जाता है जिसके द्वारा ग्रीष्म तथा महाकाल नामक भीषण देवता दोनों के सादृश्य की स्थापन की जाती है।"

लोचन

तस्याञ्च द्वितीया शब्दशक्तिर्मूलम्। तया विना रूपणाया अनुत्थानात्। अत एवालङ्कारध्वनिरयमिति युक्तम्। वक्ष्यते च 'असम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीत्' इत्यादि। पूर्वत्र तु 'सलेश' पदेनैवासंबद्धता निराकृता। 'येन ध्वस्त' इत्यत्रासंबद्धता नैव भाति। 'तस्या विनापि' इत्यत्रापिशब्देन 'श्लाघ्या' इत्यत्राधिकशब्देन 'भ्रमिं' इत्यादौ च रूपकेणासंबद्धता निराकृतेति तात्पर्यम्।

जा सकती। उसमें तो द्वितीय शब्दशक्तिमूल होती है। उसके विना आरोप का उत्थान ही नहीं होता। इसलिये यह अलङ्कार-ध्वनि है, यह उचित है। कहेंगे भी— 'असम्बद्धार्थ का अभिधायित्व प्रसक्त न हो जावे' इत्यादि। पहले में तो 'सलेश' शब्द से ही असम्बद्धता का निराकरण हो गया। 'येन ध्वस्त' इत्यादि में असम्बद्धता प्रतीत नहीं होती। 'तस्याः विनापि' इसमे अपि शब्द से 'श्लाघ्याशेषतनुम्' इत्यादि में अधिक शब्द से, भ्रमिम् इत्यादि में रूपक से असम्बद्धता का निराकरण हो गया, यह तात्पर्य है।

तारावती

(३) तीसरा मत—"शब्दश्लेष वहीं पर होता है जहाँ शब्द का भेद हो। अर्थश्लेष मे भी जहाँ पर दो अर्थ होते हैं वहाँ पर शब्दभेद करना ही पड़ता है, क्योंकि एक सिद्धान्त है कि जहाँ शक्ति की अनेकता होती है वहाँ शब्द की भी अनेकता होती है। अतएव ऐसे अवसर पर दूसरे शब्द की कल्पना कर ली जाती है और उस दूसरे शब्द को वहाँ पर ले आकर दो अर्थ किये जाते हैं। (सभङ्ग शब्दश्लेप के उदाहरण 'सर्वदो माधवः' में 'सर्वदः+माधवः' और 'सर्वदा+उमाधवः ये दो शब्द पृथक् पृथक् प्रतीत होते ही हैं, अभङ्ग अर्थश्लेष के उदाहरण—'दुष्टजन और तराजू की एक सी दशा होती है कि ये थोड़े में ही ऊपर उठ जाते हैं और थोड़े में ही नीचे आ जाते हैं' मे भी दो प्रकार का 'ऊपर जाना' और नीचे आना विवक्षित है। अतः दोनों को शब्द के द्वारा आवेष्टित करने के लिये शब्दभेद की कल्पना अनिवार्य हो जाती है) कहीं कहीं पर दोनों ही अर्थ अभिधावृत्ति से ही निकलते हैं। जैसे दोनों प्रश्नों का एक साथ उत्तर देने के लिये 'श्वेतो धावति' इत्यादि और प्रश्नोत्तरालङ्कार इत्यादि। (विद्वद्गोष्ठियों में कभी-कभी मनोरञ्जन के लिये दो प्रश्नों का शब्दच्छल से एक साथ उत्तर देने की चेष्टा की जाती है। जैसे किसी ने एक साथ दो प्रश्न किये 'कौन कहाँ से दौड़ रहा है ?' और 'दौड़ने वाले का रङ्ग क्या है ?' दूसरे ने विनोद के लिये दोनों प्रश्नों का एक साथ उत्तर दे दिया 'श्वेतो धावति' इस का दो प्रकार से अर्थ किया जावेगा—'श्वा+इतो धावति' इधर से कुत्ता दौड़ रहा है और 'श्वेतः

ध्वन्यालोकः

यथा च—

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलापिणम् ॥

यथा वा—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः,
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो,
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥

(अनु०) दूसरा उदाहरण—

'उठे हुये शोभायुक्त धाराओंवाले (प्रोल्लसद्धारः) कालागुरु के समान कृष्ण वर्ण के मेघों के समूह ने (पयोधरभरः) तन्वी के विषय में किसको अभिलाषायुक्त नहीं बना दिया।' इसका दूसरा अर्थ—'तन्वी के स्तनभार ने, जो कि उठा हुआ है जिस पर हार शोभित हो रहा है और जो कालागुरु के लेप से मलिन है, किसको कामुक नहीं बनाया।'

अथवा जैसे—

'समुचित समय पर बिना ही क्लेश के विसर्जित किये हुये जल के द्वारा प्रजा को आनन्द देनेवाली, दिन के प्रथम भाग मे प्रत्येक दिशा में बिखरी हुई और दिन के विरत होने पर समेटी हुई, विशाल दुःख को उत्पन्न करनेवाले सांसारिक भयरूपी महासागर को पार करने के लिये नाव, पवित्र वस्तुओं में उत्कृष्ट सूर्य की किरणे आपके हृदय मे अपरिमित प्रेम उत्पन्न करें।' दूसरा अर्थ—'उचित समय पर बिना क्लेश के दूध को बहाकर अपने बछड़ों को आनन्द देनेवाली, दिन के प्रथम भाग में इधर-उधर विचरनेवाली दिन के विराम मे समिट कर एकत्र हो जानेवाली, संसार-सागर के निस्तार की नौका गायें आपके हृदय में प्रेम उत्पन्न करे।'

लोचन

पयोभिरिति पानीयैः क्षीरैश्च। संहारो ध्वंसः, एकत्र ढौकनं न। गावो रश्मयः सुरभयश्च।

'पयोभिः' का अर्थ है जल से और दूध से। संहार का अर्थ है ध्वंस और एक स्थान पर हटाना। गौ अर्थात् किरणें और गाये।

तारावती

दूसरा उदाहरण जैसे—वर्षा वर्णन के प्रकरण मे कहा गया है—'आकाश में उठे हुये, सुशोभित धाराओंवाले काली अगर के समान मलिन मेघो के समूह ने किसके

तारावती

हृदय में तन्वी के प्रति अभिलाषा उत्पन्न नहीं कर दी।' यहाँ पर कई शब्दों के दो दो अर्थ हैं—(१) उन्नत—(१) आकाश मे लगे हुये और (२) ऊपर को उठे हुये। (आ) प्रोल्लसद्धारः—(१) सुशोभित धाराओंवाले और (२) सुशोभित हारोंवाले। (इ) कालागुरुमलीमसः—(२) काली अगर के समान काले वर्ण के और (२) काली अगर के लेप से मलिन अथवा काली अगर के समान काले अग्रभागवाले। (ई) पयोधरभरः—(१) मेघसमूह और (२) स्तनों का भार। इस द्व्यर्थकता के वलपर इस पद्य का एक अर्थ और निकलता है—'ऊपर को उठे हुये सुशोभितहारोंवाले, कालागुरु के लेप से मलिन अथवा कालागुरु के समान कृष्ण अग्रभागवाले तन्वी के पयोधर-भार ने किसको कामना-युक्त नहीं बनाया।' नायिका के पक्ष मे 'तन्व्याः पयोधरभरम्' यह अन्वय होगा और मेघों के पक्ष में 'तन्व्या अभिलाषिणम्' यह अन्वय होगा। यहाँ पर वर्षा-वर्णन का प्रकरण है अतः इस अर्थ मे अभिधा नियन्त्रित हो जाती है। इसके वाद द्व्यर्थक शब्दों के वल पर नायिकापरक अर्थ निकलता है। दोनों अर्थों की असम्बद्धार्थकता को दूर करने के लिये इनमे उपमानोपमेय भाव की स्थापना कर दी जाती है जिससे इस पद्य का पूरा अर्थ यह हो जाता है—जिस प्रकार ऊपर को उठे हुये, अगुरु के लेप के कारण धूम्र वर्ण के किसी युवती के स्तन प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में उत्कण्ठा जागृत कर देते हैं, उसी प्रकार आकाश मे लगे हुये कालागुरु के समान काले रंग के मेघसमूह ने प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में युवतियों की कामना जागृत कर दी।'

एक और उदाहरण जैसे मयूर कवि ने सूर्यशतक में सूर्य की स्तुति करते हुये लिखा है—'पवित्रों में उच्चतम सूर्य की किरणें आप लोगों के हृदयों मे अपरिमित प्रेम उत्पन्न करें। ये सूर्य की किरणे उचित समयानुसार खींचकर विसर्जित किये हुये जलों से प्रजाओं को आनन्द देती हैं अर्थात् उचित समय पर (ग्रीष्मकाल में) जल को खींचती हैं और उचित समय पर ही (वर्षाऋतु में) उसको विसर्जित करती हैं। (यहाँ पर दो पाठ हैं 'आकृष्ट' तथा 'अक्लिष्ट'। प्रथम पाठ का अर्थ है 'समय पर जल को खींचकर' तथा दूसरे पाठ का अर्थ है 'क्लेश रहित जल प्रदान करती हैं।) दिन के पूर्व भाग मे दिशाओ-विदिशाओं मे फैल जाती हैं और जव दिन का अवसान होता है तब समेट ली जाती हैं। संसार दीर्घदुःखो को उत्पन्न करनेवाला है; उसमें भय का महासागर लहरा रहा है; उसको पार करने के लिये सूर्य की किरणें नाव का काम देती हैं।' यहाँ पर गो शब्द के दो अर्थ हैं किरणे तथा गायें, इसी आधार पर पूरे पद्य का धेनुपरक एक अर्थ और ले लिया

तारावती

जाता है कि 'गायें उचित समय पर (प्रातःकाल) खींचकर दूध से अपने बछड़ों को आनन्द देती हैं; प्रातःकाल चरने के लिये इधर-उधर बिखर जाती हैं और दिन की समाप्ति पर एक स्थान पर एकत्र हो जाती हैं; भवसागर के पार करने के लिये जो नाव का काम देती हैं अर्थात् गाय की पूँछ पकड़कर भवसागर को पार किया जाता है; वे गायें तुम्हारे हृदय में अपरिमित प्रेम उत्पन्न करें।" यहाँ पर प्रकरण सूर्यस्तुति का है अतः अभिधा का नियमन उसी अर्थ में हो जाता है। इसके बाद द्वितीय अर्थ के संस्कार से गोपरक अर्थ और निकल आता है। इनकी असम्बद्धार्थकता का निराकरण करने के लिये दोनों के उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है। 'जिस प्रकार गायें परम प्रेम उत्पन्न करें उसी प्रकार किरणें भी परम प्रेम उत्पन्न करें।' इस प्रकार ये शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के उदाहरण हैं।

[महिमभट्ट ने इन तीनों उदाहरणों का खण्डन किया है। 'इसी बीच मे ‥ महाकाल का प्रादुर्भाव हुआ' इसके लिये महिमभट्ट ने लिखा है कि यह समासोक्ति का उदाहरण है। किन्तु समासोक्ति और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में यह अन्तर है कि समासोक्ति में केवल विशेषणसाम्य होता है किन्तु उपमा-ध्वनि में श्लेपमूलक विशेष्यसाम्य भी होता है। दूसरी बात यह है कि व्यञ्जनामूलक अलङ्कारों में व्यङ्ग्यार्थ गौण स्थान का अधिकारी होता है और उससे उपस्कृत होकर वाच्यार्थ ही चमत्कार में कारण होता है। इसके प्रतिकूल उपमा ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ ही चमत्कारपर्यवसायी होता है। प्रस्तुत उदाहरण मे ग्रीष्मवर्णन चमत्कारकारक नहीं है अपितु महाकाल से उसकी सादृश्यकल्पना ही चमत्कृति में हेतु है। अतः यह उदाहरण शब्दशक्तिमूलक उपमाध्वनि का ही है; समासोक्ति का नहीं। दूसरे उदाहरण 'उन्नतः प्रोल्लसद्धारः ‥‥‥चक्रेऽभिलाषिणम्' के विषय में महिमभट्ट ने लिखा है कि 'जिस प्रकार महाकाल शब्द का द्वितीय अर्थ समासोक्ति की ओर इङ्गित करता है वैसा कोई शब्द इस पद्य में विद्यमान नहीं है जिससे इसका दूसरा अर्थ ही नहीं निकलता।' किन्तु 'पयोधरभरस्तन्व्याः' की वाक्यरचना सहसा द्वितीय अर्थ की ओर ध्यान खींच लेते हैं और प्राकरणिक वर्षा के अर्थ में द्वितीय अर्थ उपमान हो जाता है। अतः यह कहना ठीक नहीं कि यहाँपर द्वितीय अर्थ का प्रत्यायन करानेवाला कोई शब्द ही नहीं। महिमभट्ट ने तृतीय उदाहरण 'दत्तानन्दाः‥‥‥प्रीतिमुत्पादयन्तु' को लेकर बड़े विस्तार से दिखलाने की चेष्टा की है कि यहाँपर न तो विशेष्य ही दूसरे अर्थ का प्रत्यायक है न विशेषण ही और न दोनों मिलकर ही। यदि 'गो' शब्द 'गाय' के अर्थ का स्मारक है तो 'गो' शब्द

ध्वन्यालोकः

एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः।

(अनु०) इन उदाहरणों मे शब्दशक्ति से अप्राकरणिक अर्थान्तर के प्रकाशित हो जाने पर वाक्य का असम्बद्धार्थ प्रतिपादन कहीं प्रसक्त न हो जावे इसीलिये सामर्थ्य से अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थों का उपमानोपमेय भाव कल्पित कर लिया जाना चाहिये; इस प्रकार यह श्लेष अर्थ के द्वारा आक्षिप्त होता है शब्द के द्वारा उपारूढ़ नहीं होता। इस प्रकार अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि का विषय श्लेष से सर्वदा भिन्न होता है।

लोचन

असम्बद्धार्थाभिधायित्वमिति। असम्वेद्यमानमेवेत्यर्थः। उपमानोपमेय भाव इति। तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वादप्रतीतेः प्रधानं विश्रान्तिस्थानम्, न तूपमेयादीति सर्वत्रालङ्कारध्वनौ मन्तव्यम्। सामर्थ्यादिति। ध्वननव्यापारादित्यर्थः।

असम्बद्धार्थाभिधाधित्व अर्थात् असम्वेद्यमात्र। उपमानोपमेयभाव इति। उस उपमारूप से व्यतिरिक्त करना, निह्नुति करना (छिपाना) इत्यादि व्यापारमात्र रूप ही आस्वादप्रतीति में प्रधान विश्रान्तिस्थान होते हैं उपमेय इत्यादि नहीं यह सर्वत्र अलङ्कार ध्वनि मे समझा जाना चाहिये। सामर्थ्य से अर्थात् ध्वनन-व्यापार से।

तारावती

के 'वज्र' इत्यादि अनेक और अर्थ होते हैं उनका प्रत्यायक क्यों नहीं, यदि उनका भी प्रत्यायन करावे तो यह प्रत्यायन अनभिमत होगा।' किन्तु यहाँपर यह ध्यान रखना चाहिये कि काव्य मे तर्कशास्त्र के समान प्रतिपादन नहीं होता। इसमें तो व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा सहृदयसंवेद्य ही होता है। यह बात विस्तारपूर्वक लोचन में 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' इस उदाहरण की व्याख्या मे दिखलाई जा चुकी है। गो शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु बुद्धि मे सर्वप्रथम 'गाय' अर्थ ही उपारूढ होता है। 'गाय' अर्थ ही प्राकरणिक किरणों की अपेक्षा भी पहले बुद्धि मे आता है। जबकि समस्त विशेषण भी गाय के अर्थ को पुष्ट करनेवाले मिल जाते हैं तब उस अर्थ का अपलाप नहीं हो सकता और वह प्राकरणिक 'किरण' अर्थ का उपमान बन जाता है। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक उपमा-ध्वनि के इन तीनों उदाहरणों का प्रत्याख्यान अशक्य है।]

ध्वन्यालोकः

अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ सम्भवन्त्येव। तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दृश्यते। यथा स्थाण्वीश्वराख्य-जनपदवर्णने भट्टवाणस्य—

'यत्र च मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदनाः मदिरामोदिश्वसनाश्च प्रमदाः।'

(अनु०) अन्य अलङ्कार भी शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि मे सम्भव हैं। वह इस प्रकार—विरोध भी शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप देखा जाता है। जैसे स्थाण्वीश्वर नामक जनपद वर्णन में भट्टवाण का—

'जहाँ पर मातङ्गगामिनी और शीलवती, गौरी और विभवरत, श्यामा और पद्मरागिणी, धवलद्विज शुचिवदन और मदिरा से सुगन्धित श्वासवाली प्रमदायें थीं।'

लोचन

मातङ्गेति। मातङ्गवद्गच्छन्ति तान् शवरांश्च गच्छन्तीति विरोधः। विभवेषु रताः विगतमहादेवे स्थाने च रताः। पद्मरागरत्नयुक्ताः पद्मसदृश लौहित्ययुक्ताश्च। धवलैर्द्विजैर्दन्तैः शुचि निर्मलं वदनं यासां धवलद्विजवदुत्कृष्टविप्रवच्छुचिवदनं च यासाम्।

मातंगेति। मातङ्ग के समान चलती हैं उनको या शवरों के पास जाती है, यह विरोध है। विभवों मे लगी हुई और शंकर-रहित स्थान में प्रेम करनेवाली। पद्मरागयुक्त और पद्मसदृश लाली से युक्त। धवलद्विज अर्थात् दाँतों से शुचि अर्थात् निर्मल वदन है जिनका। धवलद्विजवत् अर्थात् उत्कृष्ट ब्राह्मणवत् पवित्र मुख है जिनका।

तारावती

अब उक्त प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है कि इन उदाहरणों मे शब्दशक्ति से जबकि दूसरा अप्राकरणिक अर्थ प्रकाशित हो जाता है तब कहीं यह दोष न आ जावे कि वाक्य असंबद्ध अर्थ का अभिधान करनेवाला है अर्थात् प्रकृत और अप्रकृत अर्थ सर्वथा एक दूसरे से असंबद्ध है यह बात सहृदय-संवेद्य नहीं है। सहृदयों को दोनों की असंबद्धता की प्रतीति कभी नहीं होती। इसी दोष को दूर करने के लिये तथा सहृदय-संवेद्यता का निर्वाह करने के लिये प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थो के उपमानोपमेय भाव की कल्पना कर ली जाती है। जैसे—'सूर्य की किरणें गायों के समान हैं' इत्यादि। इस प्रकार यहाँ पर सामर्थ्य से अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति के बल पर श्लेष का आक्षेप कर लिया जाता है। अतएव यहाँ पर श्लेष अर्थाक्षिप्त होता है वाच्यश्लेष के समान सर्वथा शब्द के ही आधीन

ध्वन्यालोकः

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्। साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्य प्रकाशितत्वात्। यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्।

(अनु०) यहाँ पर वाच्य विरोध या तच्छायानुग्राही श्लेष यह है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विरोध शब्द के द्वारा साक्षात् प्रकाशित नहीं किया गया है। जहाँ पर विरोधालङ्कार साक्षात् शब्द के द्वारा आवेदित हो वहाँ पर श्लिष्ट उक्ति मे वाच्यालङ्कार विरोध या श्लेष का विषय होता है।

तारावती

नहीं होता। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का विषय श्लेष से सर्वथा पृथक् होता है। यहाँ पर यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि ऐसे स्थानों पर सर्वत्र काव्य सौन्दर्य और रसास्वादन का पर्यवसान साम्यस्थापन की क्रिया मे ही होता है और उसी मे सौन्दर्य की विश्रान्ति होती है, उपमेय मे सौन्दर्य की विश्रान्ति नहीं होती। इसी प्रकार व्यतिरेक मे व्यतिरेचन अर्थात् वैषम्यप्रदर्शनात्मक व्यापार में और अपह्नुति मे निह्नुति अर्थात् छिपाने के व्यापार में ही सौन्दर्य का पर्यवसान होता है।

शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य में ध्वनि में अन्य अलङ्कार भी सम्भव हैं। उदाहरण के लिये विरोधालङ्कार को ले लीजिये। बाणभट्ट ने स्थाण्वीश्वर नामक जनपद के वर्णन के अवसर पर कहा है—"जहाँ पर प्रमदायें मातङ्गगामिनी और सुशीलता से युक्त थीं, गौरी और विभवरत थीं, श्यामा और पद्मरागिणी थीं, धवल द्विज शुचिवदन थीं और उनके मुख से निकलनेवाली श्वासवायु मदिरा से सुगन्धित थी।" यहाँ पर विरोधालङ्कार की ध्वनि होती है। (१) जो प्रमदायें मातङ्गगामिनी अर्थात् चाण्डालों के पास गमन करनेवाली हैं वे शीलवती किस प्रकार हो सकती हैं? यही विरोध है। मातङ्ग अर्थात् हाथियों के समान सुन्दर चालवाली हैं यह अर्थ कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है। (२) 'विभवरत' शब्द का अर्थ है 'ऐसे स्थान से प्रेम करनेवाली जहाँ शङ्कर जी न हों।' जो गौरी अर्थात् पार्वती हैं वे ऐसे स्थान से प्रेम करनेवाली कैसे हो सकती हैं जहाँ शङ्कर जी न हों? यह विरोध है। विरोध का परिहार इस प्रकार हो जाता है—कि वे प्रमदायें गौर वर्ण की और सम्पत्ति मे रत हैं। (३) जो श्यामा अर्थात् काली हैं वे पद्म (कमल) के समान लाल रंग की किस प्रकार हो सकती हैं? यह विरोध है। श्यामा अर्थात् षोडशी हैं और पद्मराग नामक रत्न

ध्वन्यालोकः

यथा तत्रैव—

"समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथाहि—सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः।" इत्यादौ।

(अनु०) जैसे वहीं पर 'मानों उसके बालान्धकार के सन्निहित रहते हुये भी उसकी मूर्ति प्रकाशमान थी।' इत्यादि में।

लोचन

यत्र हीति। यस्यां श्लेषोक्तौ काव्यरूपायां, तत्र यो विरोधः श्लेषो वेति सङ्करस्तस्य विषयत्वम्। स विषयो भवतीत्यर्थः। कस्य? वाच्यालङ्कारस्य वाच्यालङ्कृतेः वाच्यालङ्कृतित्वस्येत्यर्थः। तत्रैव विरोधे श्लेषे वा वाच्यालङ्कारत्वम् सुवचमितियावत्।

वालेषु केशेष्वन्धकारः कार्ष्ण्यम्, वालः प्रत्यग्रश्चान्धकारस्तमः।

यत्रहीति। जिसमें अर्थात् काव्यरूप श्लेषोक्ति मे; उसमें जो विरोध या श्लेष का सङ्कर उसका विषय होना। अर्थात् वह विषय होता है। किसका? वाच्यालङ्कार का, वाच्यालंकृति का अर्थात् वाच्यालंकृतित्व का। उसी विरोध या श्लेष मे वाच्यालंकृतित्व सरसता से कहा जा सकता है। बालों में अर्थात् केशों मे अन्धकार अर्थात् कालापन और बाल अर्थात् ताजा अन्धकार।

तारावती

धारण किये हैं, इस प्रकार विरोध का परिहार हो जाता है। (४) जो धवलद्विज अर्थात् उत्कृष्टकोटि के ब्राह्मण के समान पवित्र मुखवाली हैं उनकी निःश्वास में मदिरा की गन्ध कैसे आ सकती है? यह विरोध है। 'निर्मल द्विज अर्थात् दाँतों के कारण पवित्र मुखवाली' यह अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है। यहाँपर विरोधालङ्कार ध्वनित होता है।

यहाँपर न तो यही कहा जा सकता है कि विरोधाभास अलङ्कार ही वाच्य है और न यही कहा जा सकता है कि विरोधाभास अलङ्कार में चारुता का आधान करनेवाला श्लेष ही वाच्य है। क्योंकि यहाँपर साक्षात् शब्द के द्वारा विरोधालङ्कार का प्रकाशन नहीं हुआ है। श्लेषानुगृहीत वाच्यविरोधाभास का विषय ऐसा काव्य होता है जहाँ श्लेषोक्ति के काव्यरूपता को धारण करने पर जो विरोध अथवा श्लेष अलङ्कार हो उसका निवेदन साक्षात् शब्द के द्वारा कर दिया जावे। 'विरोध अथवा श्लेष' में अथवा शब्द का अर्थ है चाहे उसे हम विरोधालङ्कार कहें चाहे श्लेष अर्थात् जहाँ पर इन दोनों अलङ्कारों का सङ्कर अलङ्कार हो। ऐसा विषय किसका होता है? वाच्यालंकृति अर्थात् वाच्यालंकृतित्व का। आशय यह है कि विरोध-श्लेष सङ्कर की विषयता या प्रयोजकता ऐसे ही स्थान पर होती है जहाँ

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव—

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम् ।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम् ॥

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते ।

(अनु०) अथवा जैसे मेरा ही—

'सभी के एकमात्र शरण, अक्षय, अधीश, बुद्धि के स्वामी, हरि, कृष्ण, चतुर आत्मावाले, निष्क्रिय, अरिमथन चक्रधर को नमस्कार करो ।'

यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप विरोध स्पष्टरूप में ही प्रतीत हो रहा है।

लोचन

ननु मातङ्गेत्यादावपि धर्मद्वये यश्चकारः सः विरोधद्योतक एव । अन्यथा प्रतिधर्मं सर्वधर्मान्ते वा न क्वचिद्वा चकारः स्यात् , यदि समुच्चयार्थं, स्यादित्यभिप्रायेणोदाहरणान्तरमाह–यथेति । शरणं गृहमक्षयरूपमगृहं कथम् । यो न धीशः स कथं धियामीशः । यो हरिः कपिलः सः कथं कृष्णः । चतुरः पराक्रमयुक्तो यस्यात्मा स कथं निष्क्रियः । अरीणामरयुक्तानां च यो नाशयिता स कथं चक्रं बहुमानेन धारयति । विरोध इति । विरोधनमित्यर्थः । प्रतीयत इति । स्फुटं नोच्यते केनचिदिति भावः ।

(प्रश्न) मातङ्ग इत्यादि दोनों धर्मो मे ही जो चकार वह विरोध का द्योतक ही है । नहीं तो यदि समुच्चयार्थक होता तो प्रत्येक धर्म में सब धर्मों के अन्त मे (चकार होता) या कहीं न होता । इस अभिप्राय से दूसरा उदाहरण देते हैं—'यथा' इति । शरण अर्थात् गृह; वह अक्षयरूप अर्थात् अगृह कैसे ? जो धीश (धी + ईश) नहीं वह बुद्धियों का स्वामी कैसे ? जो हरि अर्थात् कपिल वह कृष्ण कैसे ? चतुर अर्थात् पराक्रमयुक्त जिसकी आत्मा वह निष्क्रिय कैसे ? अरियों का अर्थात् अरयुक्तों का नाश करनेवाला वह कैसे चक्र को बहुत आदर से धारण करता है ? विरोध इति । अर्थात् विरोध की क्रिया । 'प्रतीत होता है' अर्थात् किसी के द्वारा स्फुटरूप में नहीं कहा जाता ।

तारावती

इन दोनों अलङ्कारों का निवेदन साक्षात् शब्द के द्वारा कर दिया गया हो । ऐसे ही स्थान पर विरोध या श्लेष मे वाच्यालङ्कारता सुविधापूर्वक कही जा सकती है । जैसे भट्टबाण के ही हर्षचरितसार मे एक दूसरा उद्धरण इस प्रकार है—'वहाँपर मानों विरोधी पदार्थों का समवाय था । वह इस प्रकार-बालान्धकार के सन्निहित रहते हुये भी उसकी मूर्ति प्रकाशमान थी ।' 'उसके अन्दर बाल अर्थात् ताजा अन्धकार अर्थात् तम विद्यमान था तथापि उसकी मूर्ति प्रकाशमान थी' यह विरोध

तारावती

है । 'उसके वालों में अन्धकार अर्थात् कालिमा विद्यमान थी' यह अर्थ कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है ।

(यहाँपर भट्टबाण के दो उद्धरण दिये गये हैं—'यत्र च·······प्रमदाः' यह उदाहरण विरोधाभास ध्वनि का है और 'समवाय इव ······भास्वन्मूर्तिः' यह वाच्य विरोधाभास का है । महिम भट्ट ने ध्वनि के उदाहरण का यह कहकर खण्डन किया है कि वहाँपर 'च' का प्रयोग ही अलङ्कार को वाच्य बना देता है । इसी खण्डन को सही मानकर लोचनकार ने इसी अरुचि के आधार पर दूसरे उदाहरण की योजना की सङ्गति लगाई है ।) (प्रश्न) पूर्वोक्त उदाहरण में भी दो विरोधी धर्मों को 'और' के द्वारा जोड़ा गया है । 'मातङ्गगामिनी और सुशीलता से युक्त' 'गौरी विभव-रत' 'श्यामा और पद्मरागिणी' इत्यादि । यह और के द्वारा जोड़ना ही विरोध को वाच्य बना देता है । यदि यहाँपर 'और' का प्रयोग समुच्चयार्थक होता और यदि यहाँपर विरोध वाच्य न होता तो या तो और का प्रत्येक विशेषण के साथ अथवा एक वार अन्तिम विशेषण के पहले प्रयोग होता या कहीं पर भी प्रयोग न होता । इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरण में भी किस प्रकार विरोध व्यङ्ग्य माना जा सकता है ? (उत्तर) यदि ऐसा है तो फिर आनन्दवर्धन का ही लिखा हुआ यह श्लोक भी उदाहरण के रूप मे ले लीजिये—

'जो एकमात्र सभी को शरण देनेवाला है, जो अक्षय है, अधीश है, बुद्धि का स्वामी है, हरि है, कृष्ण है, चतुर आत्मावाला है, निष्क्रिय है, अरिमन्थन है, चक्रधर है, उसे नमस्कार करो ।'

शरण और क्षय इन दोनों शब्दों का अर्थ है घर । जो स्वयं अक्षय है अर्थात् घररहित है वह दूसरे को शरण अर्थात् घर कैसे दे सकता है ? यह विरोध है । अक्षय का अर्थ अविनाशी और शरण का अर्थ त्राण कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है । जो अधीश (अ + धी + ईश) अर्थात् बुद्धि का ईश नहीं है वह 'धियाम् ईशः' बुद्धि का स्वामी भी है यह विरोध है । अधीश का अर्थ अधिपति करलेने पर उसका परिहार हो जाता है । जो हरि (कपिश-वर्ण का) है वह कृष्ण (काला) कैसे हो सकता है ? यही विरोध है । हरि और कृष्ण दोनों भगवान् के नाम हैं इस प्रकार इस विरोध का परिहार हो जाता है । जो चतुर (पराक्रम युक्त) आत्मावाला है वह निष्क्रिय अर्थात् क्रिया-शून्य कैसे हो सकता है ? यही विरोध है । चतुर का बुद्धिमान् और निष्क्रिय का निर्लिप्त अर्थ कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है । 'अरि' (आरोंवाले रथ के चक्र) को मथन करनेवाला (तोड़नेवाला) चक्र (पहिया) धारण करनेवाला नहीं हो सकता ।

ध्वन्यालोकः

एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते । यथा ममैव—

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये ।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः ॥

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलाऽनुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः । इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः ।

(अनु०) इस प्रकार का व्यतिरेक भी देखा जाता है । जैसे मेरा ही पद्य—

'अन्धकार को नष्ट करनेवाले जो आकाश को अत्यन्त उज्ज्वल कर देते हैं या जो नखोद्भासी हैं; जो कमल की शोभा को भी पुष्ट करते हैं या जो कमल की कान्ति को तिरस्कृत करते हैं; जो पर्वतों के शिरों पर सुशोभित होते हैं या जो अमरों के शिरों को आक्रान्त करते हैं; दिनपति के दोनों प्रकार के पाद आप लोगों का कल्याण करनेवाले हों ।'

इसी प्रकार और भी शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनि के प्रकार हैं; उनका अनुसरण सहृदयों को स्वयं करना चाहिये । यहाँ पर ग्रन्थ के विस्तार के भय से उनका प्रपञ्च नहीं किया गया ।

लोचन

नखैरुद्भासन्ते येऽवश्यं खे गगने न उद्भासन्ते । उभये रश्म्यात्मानोऽङ्गुलीपार्ष्ण्याद्यवयविरूपाश्चेत्यर्थः ॥ २१ ॥

नखों से जो अवश्य उद्भासित होते हैं; ख अर्थात् आकाश में शोभित नहीं होते । दोनों ही रश्मि आत्मावाले और अङ्गुली एड़ी इत्यादि अवयवीरूप यह अर्थ है ॥ २१ ॥

तारावती

यह विरोध है । अरिमथन (शत्रुनाशक) और चक्र (शस्त्र) को धारण करनेवाला अर्थ कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है ।

यहाँपर विरोध अर्थात् विरोधनक्रिया-मूलक अलङ्कार वाच्य नहीं हो सकता किन्तु शब्दशक्तिमूलक अनुरणन रूप ध्वनि स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रही है क्योंकि यहाँपर कोई शब्द ऐसा नहीं है जो कि विरोध को साक्षात् वाच्य बना दे ।

व्यतिरेकालङ्कार की भी इसी प्रकार की ध्वनि देखी जाती है । जैसे—

"दिनपति के दोनों प्रकार के पाद (किरणें तथा चरण) आप लोगों का कल्याण करनेवाले हों । दोनों ही तम का नाश करनेवाले हों । (किरणें अन्धकार

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद्व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥ २२ ॥

यथार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः । यथा –

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्त्राणि गणयामास पार्वती ॥

(अनु०) 'अर्थशक्त्युद्भव (एक) अन्य प्रकार है जिसमें वह अर्थ प्रकाशित होता है जो स्वतः तात्पर्य से बिना ही युक्ति के दूसरी वस्तु को व्यक्त कर देता है ॥ २२ ॥

जहाँ अर्थ अपने सामर्थ्य से ही शब्द व्यापार के बिना ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त कर देता है वह अर्थशक्त्युद्भव नामक अनुरणनोपम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है । जैसे—

"देवर्षि के इस प्रकार कहते हुये (कहने के समय) पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचे को मुख किये हुये लीलाकमल पत्रों को गिनने लगी ।"

तारावती

का नाश करती हैं और चरण अज्ञान का नाश करते हैं ।) एक तो (किरणें) आकाश को अत्यन्त उज्ज्वल बना देती हैं और दूसरे (चरण) नखोद्भासी हैं । एक तो (किरणें) कमलों की कान्ति को पुष्ट करनेवाली हैं और दूसरे (चरण) कमलों की शोभा को तिरस्कृत करनेवाले हैं । एक तो (किरणें) पर्वतों के मस्तकों पर शोभित होती हैं और दूसरे (चरण) प्रणामकाल में देवताओं के शिरों को आक्रान्त कर लेते हैं ।"

यहाँपर व्यतिरेकालङ्कार की शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनि है । क्योंकि चरणों और किरणों के महत्त्व का एक दूसरे से तारतम्य बतलाया गया है । किरणे आकाश को उज्ज्वल करती हैं और चरण (न + ख + उद्भासी) आकाश मे अवश्य ही प्रकाशित न होनेवाले अथवा नखों से शोभित होनेवाले हैं । 'उभये' अर्थात् 'दोनों' का अर्थ है किरणात्मकपाद और अङ्गुली एड़ी इत्यादि अवयवीरूप पाद । यहाँ नखोद्भासी शब्द के द्व्यर्थक होने के कारण ध्वनि निकलती है इसीलिये यह शब्दशक्तिमूलक व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि है । (महिमभट्ट ने इस उदाहरण को अनुमान में गतार्थ करने की चेष्टा की है । किन्तु अनुमान से व्यञ्जना गतार्थ नहीं होती इसका वर्णन विशेष रूप से प्रथम उद्योत में किया जा चुका है । वहीं देखना चाहिये ।)

लोचन

एवं शब्दशक्त्युद्भवं ध्वनिमुक्त्वार्थशक्त्युद्भवं दर्शयति अर्थेति । अन्य इति । शब्दशक्त्युद्भवात् । स्वतस्तात्पर्येणेत्यभिधाव्यापारनिराकरणपरमिदं पदं ध्वननव्यापारमाह नतु तात्पर्यशक्तिम् । सा हि वाच्यार्थप्रतीतावेवोपक्षीणेत्युक्तम् प्राक् । अनेनैवाशयेन वृत्तौ व्याचष्टे—यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादिति। स्वत इति शब्दः स्वशब्देन व्याख्यातः।उक्तिं विनेति व्याचष्टे—शब्दव्यापारं विनैवेति । उदाहरति यथा एवमिति ।

इस प्रकार शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि को कहकर अर्थशक्त्युद्भव को दिखलाते है—अर्थेति । अन्य का अर्थ है शब्दशक्त्युद्भव से भिन्न 'स्वतः तात्पर्य से' यह अभिधा व्यापार निराकरणपरक ध्वनन व्यापार को कहता है तात्पर्य शक्ति को नहीं । वह वाक्यार्थप्रतीति मे ही उपक्षीण हो चुकी यह पहले ही कह चुके हैं । इसी आशय से वृत्ति में व्याख्या की गई है—'जहाँ अर्थ अपने सामर्थ्य से' इत्यादि । स्वतः इस शब्द की स्वशब्द से व्याख्या की गई है । 'उक्ति के बिना' इसकी व्याख्या करते है—'शब्द व्यापार के बिना ही' । उदाहरण देते हैं—जैसे 'एवम्.......' इत्यादि ।

तारावती

शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप ध्वनियों के दूसरे भी प्रकार है । सहृदयों को चाहिये कि वे उनका स्वयं अनुशीलन करें । यहाँ पर उन सबकी अधिक व्याख्या इसलिये नहीं की जावेगी कि उससे ग्रन्थ के अधिक विस्तृत हो जाने का भय है ।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि

ऊपर शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की व्याख्या की जा चुकी । अब लेखक अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि को दिखला रहा है—

'ध्वनि का एक दूसरा प्रकार है अर्थशक्तिमूलक ध्वनि । इसमे वाच्यार्थ ऐसा हुआ करता है जो स्वतः तात्पर्य के द्वारा एक ऐसे अर्थ को अभिव्यक्त कर देता है जिसका अभिधान वाक्य में किसी शब्द के द्वारा नहीं किया गया होता है ।'

'दूसरा ही' का अर्थ है—शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि से भिन्न । 'स्वयं ही तात्पर्य के द्वारा' कहना अभिधा व्यापार का निराकरण करनेवाला है । इसका आशय यह है कि दूसरा अर्थ ध्वननव्यापार के द्वारा निकलता है । यहाँ पर तात्पर्य शब्द का अर्थ तात्पर्यवृत्ति नहीं है। क्योंकि यह तो पहले ही (प्रथम उद्योत मे ही) बतलाया जा चुका है कि तात्पर्यवृत्ति वाच्यार्थप्रतीति मे ही उपक्षीण हो जाती है । इसी आशय से वृत्ति मे व्याख्या की गई है कि 'जहाँ पर अर्थ स्वसामर्थ्य से बिना ही शब्दव्यापार के अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है वह, अर्थशक्त्युद्भव नाम की अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है ।' कारिका के 'स्वतः' शब्द की व्याख्या 'स्व'

ध्वन्यालोकः

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति। न चायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः। यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यः रसादीनां प्रतीतिः, स तस्य केवलस्य मार्गः। यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दनिवेदितम्। इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः। तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः।

(अनु०) यहाँपर लीलाकमल-पत्र का गिनना अपने स्वरूप को उपसर्जन (गौण) बनाकर विना ही शब्दव्यापार के व्यभिचारी भावात्मक दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है। यह अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि का ही विषय है यह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जहाँपर साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों से रस इत्यादि की प्रतीति होती है केवल वही उसका मार्ग होता है। जैसे कुमारसम्भव में वसन्त-वर्णन के प्रसङ्ग में, वसन्त पुष्पाभरणों को धारण किये हुये देवी के आगमन इत्यादि का मनोभव-शरसन्धान पर्यन्त वर्णन तथा परिवृत्त धैर्यवाले भगवान् शिव की चेष्टा इत्यादि का वर्णन साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित किया गया है। यहाँपर तो सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारियों के द्वारा रस की प्रतीति होती है। अतः यह ध्वनि का दूसरा ही प्रकार है।

लोचन

अर्थान्तरमिति लज्जात्मकम्। साक्षादिति। व्यभिचारिणां यत्रालक्ष्यक्रमतया व्यवधिवन्ध्यैव प्रतिपत्तिः स्वविभावादिबलात्तत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितत्वम् विवक्षितमिति न पूर्वापरविरोधः। पूर्वं हि उक्तम्—व्यभिचारिणामपि भावत्वान्न स्वशब्दतः

अर्थान्तर का अर्थ है लज्जात्मक। साक्षादिति। अलक्ष्यक्रम होने के कारण जहाँ व्यभिचारियों की अपने विभाव इत्यादि के बल पर व्यवधानशून्य ही प्रतिपत्ति होती है वहाँ साक्षात् शब्दनिवेदितत्व ही विवक्षित है इस प्रकार पूर्वापर विरोध नहीं होता। पहले विस्तारपूर्वक कहा गया है कि व्यभिचारियों की भाव

तारावती

शब्द के द्वारा की गई है और कारिका के 'उक्ति विना' शब्द की व्याख्या 'शब्दव्यापार के विना ही' इन शब्दों के द्वारा की गई है। उदाहरण देते हैं—

'जिस समय देवर्षि नारद इस प्रकार (पार्वती के विवाह के विषय में) बातचीत कर रहे थे, उस समय पिता के पास बैठी हुई नीचे को मुख किये हुये पार्वती लीला-कमलपत्रों को गिन रही थीं।'

लोचन

प्रतिपत्तिरित्यादि विस्तरतः। एतदुक्तं भवति—यद्यपि रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव भवति न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावा-नुभावेभ्यः स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्तिस्तत्रा-स्त्वलक्ष्यक्रमः। यथा—

होने के कारण स्वशब्द से प्रतिपत्ति नहीं होती। यह बात कही हुई है—यद्यपि रसभाव इत्यादि अर्थ ध्वन्यमाय ही होता है कहीं भी वाच्य नहीं होता तथापि सब अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का विषय नहीं होता। जहाँ निस्सन्देह स्थायीगत और व्यभि-चारीगत पूर्ण विभावों और अनुभावों से शीघ्र ही रस की अभिव्यक्ति हो जाती है वह अलक्ष्यक्रम बना रहे। जैसे—

तारावती

यहाँ पर लीला-कमलपत्रों की गणना गौण होकर बिना ही किसी दूसरी शब्द-वृत्ति की अपेक्षा किये हुये पार्वती के लज्जा-रूप एक दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। यह लज्जा एक व्यभिचारी भाव है। (प्रश्न) यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ३३ प्रकार के व्यभिचारी भावों की ध्वनि असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का ही विषय है। फिर यहाँ पर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के प्रकरण मे यह उदाहरण देना कहाँ तक समीचीन कहा जा सकता है? (उत्तर) असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य वहाँ पर होता है जहाँ पर साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदन किये हुये विभाव अनुभाव और सञ्चारी भावो के बलपर रस इत्यादि की प्रतीति होती हो। (प्रश्न) पहले बतलाया जा चुका है कि व्यभिचारी भाव कभी स्वशब्दवाच्य नहीं होते। उससे विरोध पडता है? (उत्तर) साक्षात् शब्द के द्वारा निवेदित किये हुये होने का आशय यह है कि जहाँ पर व्यभिचारियों की प्रतीति अपने विभाव इत्यादि के बलपर हो रही हो और न तो उन दोनों के मध्य मे कोई क्रम लक्षित किया जा सके और न दोनों मे कोई व्यवधान ही दृष्टिगत हो रहा हो तथा विभावादि से व्यभिचारियों की प्रतीति एकदम हो जावे वही असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का विषय होता है और उसी का साक्षात् शब्दवाच्य कहा जाना अभिमत है। इस प्रकार पूर्वापर विरोध नहीं आता। यह विस्तारपूर्वक पहले ही दिखलाया जा चुका है कि व्यभिचारी भाव भी एक प्रकार के भाव ही होते हैं; अतः उनकी भी प्रतिपत्ति स्वशब्द से नहीं होती (जैसे स्थायी भावों और रसों की प्रतिपत्ति स्वशब्द के द्वारा नहीं हुआ करती है।) इस प्रकरण को इस प्रकार समझिये—यद्यपि रस भाव इत्यादि अर्थ सर्वदा ध्वनि (व्यञ्जना) का ही विषय होता है; यह कभी भी वाच्य नहीं हो सकता तथापि सभी रस भाव इत्यादि अर्थ असंल्लक्ष्यक्रम का ही विषय नहीं होते। जहाँ पर

लोचन

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रदाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥

इत्यादौ सम्पूर्णालम्बनोद्दीपनविभावतायोग्यस्वभाववर्णनम् ।

प्रतिगृहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमेव ।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥

इत्यनेन विभावतोपयोग उक्तः—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥

'इसके बाद लगभग बुझे हुये इनके पराक्रम को शरीर के गुण से प्रदीप्त सा करती हुई वनदेवियों द्वारा पीछे जाई जाती हुई स्थावरराजकन्या दृष्टिगत हुई ।'

इत्यादि में सम्पूर्ण आलम्बन और उद्दीपन विभावता के योग्य स्वभाव का वर्णन है ।

'प्रणयीजनों के प्रेमी होने के कारण त्रिलोचन (शङ्कर) ने उस पूजा को ग्रहण करना प्रारम्भ किया और पुष्प-धनुषधारी (कामदेव) ने सम्मोहन नाम के अमोघ वाण को धनुष पर रक्खा ।'

इससे विभावता का उपयोग बतलाया गया ।

'चन्द्रोदय के आरम्भ में अम्बुराशि के समान कुछ विचलित धैर्यवाले शङ्कर जी ने विम्बफल के समान अधरोष्ठवाले उमामुख पर विलोचनों को प्रेरित किया ।'

तारावती

विभाव अनुभाव इत्यादि समस्त वाच्यार्थ पूर्णता को प्राप्त हो गये हों और या तो वे स्थायीभाव-प्रवण हों या व्यभिचारीभाव-प्रवण हों तथा उनसे शीघ्र ही (एकदम) रसाभिव्यक्ति हो जावे वहाँ पर असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है । उदाहरण के लिये कुमारसम्भव का वसन्त-वर्णनवाला वह प्रकरण लीजिये जिसमे वसन्त पुष्पों के आभूषण धारण किये हुये देवी पार्वती का शङ्कर जी के निकट आने का वर्णन किया गया है—

'इसके उपरान्त स्थावर (जड़-जगत्) के स्वामी हिमालय की पुत्री पार्वती दृष्टिगोचर हुईं जिनके पीछे वन-देवियाँ भी आ रही थीं और जो मानों अपने शरीर-सौन्दर्य के प्रभाव से लगभग बुझे हुये कामदेव के पराक्रम को प्रज्ज्वलित कर रही थीं ।'

यहाँ पर पार्वती आलम्बन हैं; वसन्तपुष्पाभरण इत्यादि उद्दीपन है । इस प्रकार विभाव के सम्पूर्ण योग्य स्वभाव का इसमें वर्णन किया गया है ।

लोचन

अत्र हि भगवत्याः प्रथममेव तत्प्रवणत्वात्तस्य चेदानीं तदुन्मुखीभूतत्वात्प्रणयिप्रियतया च पक्षपातस्य सूचितस्य गाढीभावाद्रत्यात्मनः स्थायिभावस्यौत्सुक्यावेगचापल्यहर्षादेश्च व्यभिचारिणः साधारणीभूतोऽनुभाववर्गः प्रकाशित इति विभावानुभावचर्वणैव व्यभिचारिचर्वणायां पर्यवस्यति। व्यभिचारिणां पारतन्त्र्यादेव स्रक्सूत्रकल्पस्थायिचर्वणाविश्रान्तेरलक्ष्यक्रमत्वम्। इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं चान्यथापि कुमारीणां सम्भाव्यत इति झटिति न लज्जायां विश्रमयति हृदयम्, अपि तु प्राग्वृत्त-तपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यङ्ग्यतैव। रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षया अलक्ष्यक्रमतैव। लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्। अमुमेव भावमेवशब्दः केवलशब्दश्च सूचयति।

यहाँ पर निस्सन्देह भगवती के उनकी ओर झुके होने के कारण और इस समय उनकी ओर उन्मुख हो जाने से और प्रणयी लोगों के प्रेमी होने के कारण सूचित पक्षपात के गाढ हो जाने से अपने रत्यात्मक स्थायी भाव के और औत्सुक्य, आवेग, चापल्य, हर्ष इत्यादि व्यभिचारी का साधारणीभूत अनुभाववर्ग प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार विभाव और अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारी की चर्वणा में पर्यवसित होती है। व्यभिचारियों की परतन्त्रता से ही माला-सूत्रवत् स्थायिचर्वणा में विश्रान्त होने से अलक्ष्यक्रमत्व (माना जाता है)। यहाँ तो कमलदल गणना और नीचे मुख करना कुमारियों का दूसरी प्रकार से भी सम्भावित किया जा सकता है। इस प्रकार शीघ्र ही हृदय को लज्जा में विश्रान्त नहीं कर देता। अपितु पहले सम्पन्न हुई तपश्चर्या इत्यादि वृत्तान्त के अनुस्मरण से उसमें प्रतिपत्ति कर देता है। इस प्रकार क्रमव्यङ्ग्यता ही है। रस तो यहाँ पर भी दूर से ही व्यभिचारी के स्वरूप की पर्यालोचना करने पर शोभित होता है अतः उसकी अपेक्षा से अलक्ष्यक्रमता ही (मानी जावेगी)। लज्जा की अपेक्षा तो वहाँ पर लक्ष्यक्रमता ही (है)। रसविभाव को एवशब्द और केवल शब्द सूचित करते हैं।

तारावती

"जैसे ही त्रिलोचन शङ्कर जी ने प्रणयीजनों के प्रेमी होने के कारण उस पूजा का प्रतिग्रह करना प्रारम्भ किया वैसे ही पुष्पधनुषधारी कामदेव ने धनुष पर सम्मोहन नाम के एक अमोघ बाण को रक्खा।"

यहाँ पर पूर्वोक्त विभाव (पार्वती इत्यादि की उपस्थिति) का उपयोग बतलाया गया है।

"जिस प्रकार चन्द्रोदय के प्रारम्भ में महासागर क्षुब्ध हो उठता है। उसी प्रकार भगवान् शङ्कर का धैर्य च्युत हो गया और उन्होंने अपने समस्त नेत्रों

तारावती

को बिम्बफल के समान रक्त अधरोष्ठवाले उमा के मुख पर (सतृष्णरूप में) डाला ।"

भगवती उमा तो पहले से ही शङ्कर में अनुरक्त थीं और शङ्कर जी इस समय उमा की ओर उन्मुख हो गये हैं । दूसरी बात यह है कि शङ्कर जी प्रणयीजनों के प्रिय भी हैं । इन्हीं सब कारणों से उमा के प्रति शंकर जी का झुकाव सूचित होता है जोकि प्रगाढता को प्राप्त होनेवाली रति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । वही रतिभाव स्थायीभाव बनकर शृङ्गार रस का रूप धारण कर रहा है । इसके अतिरिक्त औत्सुक्य, आवेग, चापल्य और हर्ष इत्यादि व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति होती है । यहाँ पर वर्णन किया हुआ अनुभावों का समूह एक ओर स्थायीभाव रति से सम्बन्ध रखता है, दूसरी ओर व्यभिचारियों से भी सम्बन्ध रखता है । इस प्रकार विभाव अनुभाव की चर्वणा ही व्यभिचारीभावों की चर्वणा में परिणत हो जाती है और उसका व्यभिचारियों के आस्वादन में ही पर्यवसान हो जाता है । जिस प्रकार माला में फूल सर्वदा सूत के आधीन रहते हैं उसी प्रकार व्यभिचारीभाव सर्वदा स्थायीभाव के ही आधीन रहते हैं और व्यभिचारियों के परतन्त्र रहने से आस्वादन का विराम स्थायीभाव या रस में ही होता है । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि देवी के आगमन के वर्णन से लेकर कामदेव के शरसंधान और शंकर जी की धैर्यपरिवृत्ति तक जितना भी वर्णन किया है; उससे व्यक्त होनेवाले विभाव और अनुभाव के द्वारा व्यभिचारीभाव एकदम व्यक्त हो जाते हैं । इसीलिये इसे साक्षात् शब्द से अभिव्यक्त होनेवाला कहते हैं और इसीलिये इसे असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं । अब उपर्युक्त 'जिस समय......... गिन रही थीं ।' को लीजये । कुमारिकाओं का नीचे को मुँह कर लेना और लीलाकमल की पंखुडियों को गिनने लगना स्वाभाविक भी हो सकता है तथा अन्य भी किसी कारण से सम्भव है । अतएव इसका पर्यवसान एकदम लज्जा मे नहीं होता। किन्तु जब पार्वती की तपश्चर्या इत्यादि समस्त प्राचीन वृत्तान्त का स्मरण आ जाता है जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि पार्वती का अनुराग शंकर जी के प्रति पहले से ही विद्यमान है और नारद शंकर जी के विवाह के विषय में ही बात-चीत कर रहे हैं तब पार्वती जी के मुख नीचा करने और लीला-कमल पत्तों के गिनने का सम्बन्ध लज्जा नामक व्यभिचारीभाव से हो जाता है । इस प्रकार क्रम के लक्षित होने के कारण इसे संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ही कहते हैं । अतएव यह असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य से भिन्न ध्वनि का नया ही प्रकार है । यहाँ पर इतना ध्यान रखना चाहिये कि केवल व्यभिचारी भाव की प्रतीति विलम्ब में होती है । व्यभिचारीभाव

ध्वन्यालोकः

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः। यथा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

अत्र लीलाकमलनिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम्।

(अनु०) और जहाँ पर शब्दव्यापार सहायक अर्थ दूसरे अर्थ की व्यञ्जकता के रूप में गृहीत होता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं होता। जैसे—

'विट को सङ्केत-काल जानने की इच्छा करते हुये जानकर चतुर नायिका ने हंसते हुये नेत्रों से अभिप्राय-सूचक सङ्केत देते हुये लीला-कमल को सिकोड़ दिया।'

यहाँ लीलाकमल-निमीलन की व्यञ्जकता उक्ति के द्वारा ही निवेदित कर दी है।

लोचन

'उक्तिं विने'ति यदुक्तं तद्व्यवच्छेद्यं दर्शयितुमुपक्रमते यत्र चेति। चशब्दस्तु-शब्दस्यार्थे। अस्येति। अलक्ष्यक्रमस्तु तत्रापि स्यादेवेति भावः। उदाहरति—सङ्केतेति। व्यञ्जकत्वमिति। प्रदोषसमयं प्रतीतिशेषः। उक्त्यैवेति। आद्यपदत्रयेणेत्यर्थः। यद्यपि चात्र शब्दान्तरसन्निधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न कस्यचिदभिधाशक्तिः पदस्येति व्यञ्जकत्वं न विघटितम्, तथापि शब्देनैवोक्तमयमर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जक इति। ततश्च ध्वनेर्यद्गोप्यमानतोदितचारुत्वात्मकं प्राणितं तदपहस्तितम्। यथा कश्चिदाह—गम्भीरोऽहं न मे कृत्यं कोऽपि वेद न सूचितम्। किञ्चिद्ब्रवीमि' इति। तेन गाम्भीर्यसूचनार्थः प्रत्युत आविष्कृत एव। अत एवाह व्यञ्जकत्वमिति उक्त्यैवेति च॥ २२॥

'उक्ति के विना' जो यह कहा उसके व्यवच्छेद्य को दिखलाने के लिये उपक्रम करते हैं—'यत्र च' इत्यादि। 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है। 'अस्य' इति। भाव यह है कि अलक्ष्यक्रम तो वहाँ पर भी होगा ही। उदाहरण देते हैं—'संकेत' इति। व्यञ्जकत्वमिति। यहाँ प्रदोष समय के प्रति यह शेष है। 'उक्ति से ही'। अर्थात् प्रथम तीन पादों के द्वारा। यद्यपि यहाँ पर दूसरे शब्द के सन्निधान मे भी प्रदोष अर्थ के किसी पद की अभिधा शक्ति नहीं है, अतः व्यञ्जजत्व विघटित नहीं होता। तथापि शब्द के द्वारा कहा हुआ ही यह अर्थ दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है। इससे ध्वनि का जो गोप्यमानता के साथ प्रकट हुआ चारुत्वरूप प्राण वह समेट लिया गया। जैसे कोई कहता है—'मैं गम्भीर हूँ मेरे कार्य को कोई नहीं जानता और न सूचित को ही, अतः मैं कुछ कहता हूँ' यहाँ पर गाम्भीर्य सूचक अर्थ प्रत्युत आविष्कृत कर ही दिया गया। इसीलिये कहते हैं—'व्यञ्जकत्व' यह और 'उक्ति के द्वारा ही' यह॥ २२॥

तारावती

की पर्यालोचना करने पर रस की प्रतीति शीघ्र हो जाती है। अतएव रसकी दृष्टि से असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहेंगे और व्यभिचारीभाव की दृष्टि से संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य। इसी आशय को लेकर 'असंल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का ही विषय है' और 'केवल असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य का विषय है' इन दोनों वाक्यों में 'ही' और 'केवल' इन दो शब्दों का प्रयोग वृत्तिकार ने प्रस्तुत कारिका की व्याख्या के अवसर पर किया है।

२२वीं कारिका में कहा गया है कि 'जहाँ पर वाच्यार्थ बिना ही उक्ति के दूसरे अर्थ को व्यक्त करे वहाँ पर अर्थशक्तिमूलक संल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि होती है' यहाँ पर 'बिना ही उक्ति के' कहने का आशय क्या है? यह दिखलाया जा रहा है। 'और जहाँ पर एक अर्थ शब्द के व्यापार की सहायता से दूसरे अर्थ को व्यक्त करता है वह इस ध्वनि का विषय नहीं होता।' इस वाक्य मे 'और' का अर्थ है 'तो' अर्थात् उक्त संल्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के प्रतिकूल जहाँ पर शब्दव्यापार की सहायता से दूसरे अर्थ का बोध हो वहाँ पर ध्वनि नहीं होती। 'इस ध्वनि का' कहने का आशय यह है कि ऐसा स्थान असंल्लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य रसध्वनि का तो विषय हो ही सकता है। उदाहरण—

'विदग्ध नायिका ने विट (उपनायक) को संकेतकाल की जिज्ञासा करते हुये जानकर विकसित नेत्रों के द्वारा अपने आशय को व्यक्त करते हुये लीला-कमल को सिकोड़ लिया।'

यहाँ पर लीलाकमल के निमीलन के द्वारा यह व्यञ्जना निकलती है कि मिलने का समय रजनीमुख है जब कि कमल सिकुड़ जाते हैं। लीलाकमलनिमीलन प्रदोष समय का व्यञ्जक है। प्रथम तीन पादों के द्वारा चौथे पाद की व्यञ्जकता अभिहित कर दी गई है। यद्यपि दूसरे शब्द के निकट होते हुये भी यहाँ पर कोई ऐसा शब्द नहीं है जिससे रजनीमुख का अर्थ निकले। अतएव यहाँपर व्यञ्जना विघटित नहीं होती अर्थात् दूसरा अर्थ व्यञ्जना से ही निकलता है इसमें किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं होता। किन्तु फिर भी 'नायक सङ्केतकाल की जिज्ञासा रखता था, नायिका ने अपने अभिप्राय को व्यक्त किया इत्यादि वाक्यों के द्वारा यह कह ही दिया गया है कि लीला-कमल निमीलन में व्यञ्जना है। इस प्रकार एक अर्थ दूसरे ऐसे अर्थ को सूचित करता है जिसकी सूचना पृथक् रूप मे उक्ति के द्वारा दे दी गई है। अतएव छिपाकर कहने से उद्भूतरमणीयता जो कि ध्वनि का प्राण है यहाँ पर गले में हाथ डालकर निकाल दी गई है। यह ऐसा ही है जैसे कोई कहे—'मैं गम्भीर हूँ, न तो मेरे कार्यों को कोई जान पाता है और

ध्वन्यालोकः

तथा च—

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥ २३ ॥

शब्दशक्त्यार्थशक्त्या शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना० पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः । अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः ।

और इसी से—

'शब्दार्थशक्ति से आक्षिप्त भी व्यङ्ग्य अर्थ कवि के द्वारा जहाँ पुनः अपनी उक्ति के द्वारा ही आविष्कृत कर दिया जाता है वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही (वस्तु) अलङ्कार होता है ॥ २३ ॥

शब्दशक्ति के द्वारा, अर्थशक्ति के द्वारा अथवा शब्दार्थशक्ति के द्वारा आक्षिप्त भी व्यङ्ग्य अर्थ कवि के द्वारा जहाँ फिर से अपनी उक्ति से प्रकाशित कर दिया जाता है वह इस अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ध्वनि से और ही (वस्तु) अलङ्कार होता है । यदि सम्भव हो तो अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का वह वैसा अलंकार होता है ।

लोचन

प्रक्रान्तप्रकारद्वयोपसंहारं तृतीयप्रकारसूचनं चैकेनैव यत्नेन करोमीत्याशयेन साधारणमवतरणपदं प्रक्षिपति वृत्तिकृत्—तथा चेति । तेन चोक्तप्रकारद्वयेनायमपि तृतीयः प्रकारो मन्तव्य इत्यर्थः । शब्दश्चार्थश्च शब्दार्थौ चेत्येकशेषः । सान्यैवेति । न ध्वनिरसौ, अपि तु श्लेषादिरलङ्कार इत्यर्थः ।

प्रक्रान्त दोनों प्रकारों का उपसंहार और तृतीय प्रकार का सूचन एक ही यत्न से करूँ इस आशय से वृत्तिकार साधारण अवतरणपद का प्रक्षेप कर रहा है—तथा च इति । उन दोनों उक्त प्रकारों से यह भी तृतीय प्रकार माना जाना चाहिये यह अर्थ है । शब्द और अर्थ और शब्दार्थ इनका एकशेष है । 'सान्यैव' । अर्थात् वह ध्वनि नहीं है अपितु श्लेष इत्यादि अलङ्कार ही है ।

तारावती

मेरे इङ्गित का ही किसी को ज्ञान हो पाता है। अतः मैं कुछ कह रहा हूँ ।' वस्तुतः गम्भीरता कहने की वस्तु नहीं वह तो आकृति तथा व्यवहार से ही प्रकट होनी चाहिये, किन्तु इस व्यक्ति ने अपने मुख से ही कह दिया है कि 'मैं गम्भीर हूँ ।' अतः इस गम्भीरता का महत्त्व ही जाता रहा । इसी प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में भी 'विट सङ्केतकाल की जिज्ञासा कर रहा था और चतुर नायिका ने ऐसा किया' इन शब्दों को लिखकर

ध्वन्यालोकः

तत्र शब्दशक्त्या यथा—

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं संत्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि।
प्रत्याख्यानं सुराणामितिभयशमनच्छद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद्वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः॥

(अनु०) उनमें शब्दशक्ति का उदाहरण जैसे—

'हे पुत्री तुम विषाद को मत प्राप्त हो, तीव्र वेगवाले ऊपर को उठनेवाले श्वास का लेना छोड़ दो। यह क्या विचित्र बहुत बड़ा कम्पन तुम्हारे अन्दर हो रहा है। बल को नष्ट करनेवाले अङ्ग तोड़ने की आवश्यकता नहीं है। इधर जाओ। इस प्रकार समुद्र ने भयशमन के बहाने देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर जिन्हें लक्ष्मी प्रदान की वे भगवान् आप लोगों के पाप को जला डालें।

समुद्र के कथन का देवताओं के प्रत्याख्यान का अर्थ—

'हे देवी तुम शङ्कर के पास मत जाओ। अग्नि और वायु को छोड़ दो। वरुण और ब्रह्मा जी तो तुम्हारे गुरु ही हैं। अभिमानी इन्द्र की आवश्यकता नहीं है। इधर (विष्णु की ओर) जाओ।

लोचन

अथवा ध्वनिशब्देनालक्ष्यक्रमः तस्यालङ्कार्यस्याङ्गिनः स व्यङ्ग्योऽर्थोऽन्यो वाच्यमात्रालङ्कारापेक्षया द्वितीयो लोकोत्तरश्चालङ्कार इत्यर्थः। एवमेव वृत्तौ द्विधा व्याख्यास्यति। विषमत्तीति विषादः। ऊर्ध्वप्रवृत्तमग्निमित्यत्र चार्थो मन्तव्यः। कम्पोऽपां पतिः को ब्रह्मा वा तव गुरुः। बलभिदा इन्द्रेण जृम्भितेन ऐश्वर्यमदमत्तेनेत्यर्थः। जृम्भितं च गात्रसंमर्दनात्मकं बलं भिनत्ति आयासकारित्वात्।

अथवा ध्वनि शब्द से अलक्ष्यक्रम (लिया जाता है।) उस अङ्गी अलङ्कार्य का वह दूसरा अर्थात् वाच्यालङ्कार की अपेक्षा अन्य व्यङ्ग्य और लोकोत्तर अलङ्कार होता है। इसी प्रकार वृत्ति में दो प्रकार की व्याख्या करेंगे। विष को जो खाता है वह विषाद (कहलाता है)। 'ऊर्ध्वप्रवृत्त' यहाँपर अग्नि यह और अर्थ माना जाना चाहिये। 'कम्प' अर्थात् जल के पति और 'कः' अर्थात् ब्रह्मा तुम्हारे गुरु हैं। जृम्भित अर्थात् ऐश्वर्यमदमत्त बलभिद् अर्थात् इन्द्र से क्या। जृम्भित अर्थात् गात्रसम्मर्दनात्मक (चेष्टा) आयासकारी होने के कारण बल को नष्ट कर देती है।

तारावती

कवि ने व्यङ्ग्यार्थ को स्वयं ही वाच्य बना दिया। इसीलिये वृत्तिकार ने 'लीलाकमलनिमीलन व्यञ्जक है' तथा 'उक्ति के द्वारा ही निवेदित कर दिया।' ये शब्द लिखे हैं॥२२॥

तारावती

तेईसवीं कारिका का अवतरण वृत्तिकार ने 'तथा च' शब्द के द्वारा दिया है। 'तथा च' शब्द का अर्थ है 'पिछली बातें तथा कुछ और' इस प्रकार 'तथा च' शब्द से वृत्तिकार का मन्तव्य यह है कि जिन दो प्रकारों (शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक) का प्रकरण चल रहा है उनका उपसंहार भी इसी कारिका में हो जावेगा और नये प्रकार (शब्दार्थशक्तिमूलक) की सूचना भी इसी कारिका के द्वारा मिल जावेगी। इस प्रकार एक ही यत्न से तीनों कार्य हो जावेंगे इसी मन्तव्य से वृत्तिकार ने 'तथा च' इस सर्वसाधारण अवतरण पद का उपक्षेप किया है। इसका आशय यह है कि उक्त दोनों प्रकारों के द्वारा इस तृतीय प्रकार को भी समझ लेना चाहिये। शब्दार्थ शब्द मे एकशेष द्वन्द्व है इसका विग्रह इस प्रकार होगा—शब्द, अर्थ और शब्दार्थ। 'ध्वनेः सा अन्या अलंकृतिः' कारिका के इन शब्दों मे 'ध्वनेः' यह रूप पञ्चमी और षष्ठी इन दो विभक्तियों में बनेगा। यदि यहाँ पर पञ्चमी विभक्ति मानी जावे तो इसका अर्थ होगा—'वह ध्वनि से भिन्न अन्य ही अलङ्कार होता है।' अर्थात् वह ध्वनि नहीं होती अपितु श्लेष इत्यादि अलङ्कार होता है। यदि षष्ठी मानी जावे तो उसका अर्थ होगा—'वहाँ पर अलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि अलङ्कार्य के रूप में स्थित होती है और उसका अलङ्कार वह द्वयर्थक शब्दों के बल पर आनेवाला व्यङ्ग्यार्थ होता है। वह व्यङ्ग्यार्थ यद्यपि अलङ्कार होता है तथापि वाच्यालङ्कारों की अपेक्षा वह भिन्न ही होता है क्योंकि उसमे लोकोत्तर चमत्कार का आधिक्य होता है। इसी भाँति दो रूपो में व्याख्या वृत्ति में आगे चलकर की जावेगी।

अब शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार को लीजिये—समुद्र-मन्थन के अवसर पर जब लक्ष्मी जी प्रोद्भूत हुई तब वे अत्यन्त त्रस्त थीं और यह निश्चय नहीं कर पा रहीं थीं कि किधर जावें किधर न जावें। उस समय समुद्र ने इन शब्दों के द्वारा लक्ष्मी को विष्णु की ओर प्रेरित कर दिया। समुद्र प्रकट रूप में तो कह नहीं सकता था कि तुम विष्णु के पास जाओ क्योंकि इससे अन्य देवताओं के रुष्ट हो जाने का भय था। अतः उसने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जिससे प्रकट रूप मे तो यह प्रतीत हो रहा था कि मानों समुद्र लक्ष्मी जी के त्रास का अपनोदन करना चाहता है किन्तु अप्रकट रूप में उसका अर्थ देवताओं की ओर से पृथक् करना था। समुद्र ने कहा—'हे बेटी तुम विषाद को मत प्राप्त होओ।' इसका दूसरा अर्थ है 'तुम विष-पान करनेवाले शङ्कर जी का वरण मत करो क्योंकि जो विषपान करनेवाला है उसकी पत्नी बनकर तुम्हें सुख नहीं मिल सकेगा।' 'तुम ऊपर को प्रवृत्त होनेवाले अत्यन्त वेगशाली श्वसन (श्वास-प्रश्वास की क्रिया) को छोड़ दो।'

लोचन

प्रत्याख्यानमिति वचसैवात्र द्वितीयोऽर्थोऽभिधीयत इति निवेदितम् । सा हि कमला पुण्डरीकाक्षमेव हृदये निधायोत्थितेति स्वयमेव देवान्तराणां प्रत्याख्यानं करोति । स्वभावसुकुमारतया तु मन्दरान्दोलितजलधितरङ्गभङ्गपर्याकुलीकृतां तेन प्रतिबोधयता तत्समर्थाचरणमन्यत्र दोषोद्घाटनेन अत्र याहीति चाभिनयविशेषेण सकलगुणादरदर्शकेन कृतम् । अत एव मन्थमूढामित्याह । इत्युक्तप्रकारेण भयनिवारणव्याजेन सुराणां प्रत्याख्यानं लक्ष्मीं कारयित्वा पयोधिर्यस्यै तामदात्स वो युष्माकं दुरितं दहत्विति सम्बन्धः ।

'प्रत्याख्यान करवाकर' इन वचनों से ही दूसरा अर्थ कहा जाता है यह निवेदन कर दिया । वह लक्ष्मी निस्सन्देह पुण्डरीक को ही हृदय में धारण कर उठी थी इस प्रकार स्वयं ही दूसरे देवताओं का प्रत्याख्यान कर देती । स्वभावसुकुमार होने के कारण मन्दराचल के आन्दोलन से (उठी हुई) समुद्र की तरङ्गों के भङ्ग से व्याकुल की हुई (लक्ष्मी) को प्रतिबोधित करनेवाले समुद्र ने उसका समर्थन का आचरण अन्यत्र दोषोद्घाटन और 'इधर जाओ' इस विशेष प्रकार के अभिनय के द्वारा समस्त गुणों का आदर दिखलाते हुये कर दिया । इसीलिये मन्थन के कारण मूढ यह कहा । इस प्रकार उक्तप्रकार से भय निवारण के बहाने देवताओं का प्रत्याख्यान मन्थन के कारण मूढ लक्ष्मी को करवाकर समुद्र ने जिसको वह लक्ष्मी प्रदान कर दी वह आप सब के पापों को जला डाले यह सम्बन्ध है ।

तारावती

इसका दूसरा अर्थ है 'तुम्हें ऊर्ध्वप्रवृत्तिवाले अग्निदेव और अत्यन्त वेगगामी वायुदेव का परित्याग कर देना चाहिये । क्योंकि अग्निदेव सर्वदा ऊपर को ही जाते हैं जो नीचे देखता ही नहीं वह तुम्हारे सौन्दर्य को क्या समझ सकेगा और जो निरन्तर तीव्रगति से भागता ही रहता है उससे भी तुम्हे एक अच्छे पति प्राप्त होने की आशा नहीं रखनी चाहिये ।' 'तुम्हारे अन्दर यह गुरु कम्पन कैसा हो रहा है ? (कः कम्पः ते गुरुः) 'कः' का दूसरा अर्थ है ब्रह्मा और 'कम्प' का अर्थ है 'जल के देवता' अर्थात् वरुण । ये दोनों तो तुम्हारे गुरु ही हैं, ब्रह्मा जी तो पितामह कहे ही जाते हैं और लक्ष्मी जी का जन्म ही जल देवता (वरुण) से हुआ है अतः ये देवता तो लक्ष्मी के लिये पिता ही हैं; अतः इनसे विवाह की बात चलाना भी अधार्मिक है तथा अनुचित है । 'बल को भेदनेवाले अर्थात् आयास उत्पन्न करनेवाले जृम्भित अर्थात् अंगों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं है । दूसरा अर्थ है 'जृम्भित' अर्थात् ऐश्वर्यमदमत्त 'बलभिद्' अर्थात् इन्द्र को वरण करने की आवश्यकता नहीं है ।' इस प्रकार भय के प्रशमन के बहाने से देवताओं का प्रत्याख्यान करवाकर समुद्र ने मन्थन के

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्त्या यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निश्शेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र।
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृति व्याजपूर्वम्॥

(अनु०) अर्थशक्ति से जैसे—

'यहाँ वृद्धा माँ सोती है; परिणत आयुवालों में अग्रणी पिता जी यहाँ सोते हैं; समस्त गृहकर्म के श्रम से शिथिल शरीरवाली कुम्भदासी यहाँ रहती है; मैं अभागिनी इसमें रहती हूँ, जिसके प्राणनाथ कुछ ही दिनों से बाहर चले गये हैं।' इस प्रकार तरुणी ने पथिक से अवसर कथन के बहाने के साथ सब बातें कही।

लोचन

अम्बेति। अत्रैकैकस्य पदस्य व्यञ्जकत्वं सहृदयैः सुकल्प्यमिति स्वकण्ठेन नोक्तम्। व्याजशब्दोऽत्र स्वोक्तिः।

'अम्बा' इति। यहाँपर एक-एक पद का व्यञ्जकत्व सहृदयों द्वारा स्वयं कल्पित किया जाना चाहिये अतः स्वकण्ठ से नहीं कहा। व्याजशब्द का प्रयोग अपनी उक्ति है।

तारावती

कारण मूढ लक्ष्मी जिन भगवान् को प्रदान कर दी वे भगवान् तुम्हारे पापों को जला डालें।' 'देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर' इन शब्दों के 'कराकर' में ण्यन्त प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। ण्यन्त का अर्थ यह होता है जहाँ एक व्यक्ति कोई एक कार्य स्वतः करे और उस कार्य के करने में प्रेरणा कोई दूसरा दे; इस अवस्था में जो प्रेरक कर्ता होता है उसी अर्थ में ण्यन्त प्रत्यय हो जाता है। यहाँ पर ण्यन्त प्रत्यय से व्यञ्जना निकलती है कि वह कमला पुण्डरीकाक्ष भगवान् विष्णु को ही हृदय में रखकर समुद्र से निकली थी और स्वयं भगवान् का ही वरण करना चाहती थी। वह तो स्वयं ही भगवान् का वरणकर अन्य देवों का प्रत्याख्यान कर देती। किन्तु एक तो वह स्वयं सुकुमार स्वभाव की थी उधर मन्दराचल ने समुद्र के जल को भलीभाँति अलोडित-विलोडित कर डाला था। इससे समुद्र में भयानक लहरें उठीं और टूट-टूट कर पुनः पुनः आने लगी जिससे लक्ष्मी जी अत्यन्त व्याकुल हो गईं। अतः वे सरलतापूर्वक अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर सकतीं थीं। इसीलिये समुद्र ने उसको प्रतिबोधित कर शिव इत्यादि में दोष दिखलाकर लक्ष्मीजी के अभीष्ट का समर्थन कर दिया। 'इधर को जाओ'

तारावती

इन शब्दों के विशेषप्रकार के अभिनय के द्वारा उसने भगवान् विष्णु की ओर सङ्केत किया जो कि समस्त गुणों के प्रति आदर दर्शक अभिनय था। इस अभिनय के द्वारा यही व्यक्त होता था कि इनमें कोई दोष नहीं है प्रत्युत गुण भरे हुये हैं और तुम्हारे योग्य वर यही हो सकते हैं। इसीलिये लक्ष्मी जी का विशेषण दिया है 'मन्थमूढां'। यहाँ पर शब्दों की सम्बन्ध-योजना इस प्रकार होगी—'इस भाँति अर्थात् उक्त प्रकार से भय निवारण के बहाने से देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर मन्थन के कारण मूढ़ लक्ष्मी को समुद्र ने जिन भगवान् को प्रदान कर दिया वे भगवान् आप लोगों के समस्त पापों को जला डालें।' यह कहकर कवि ने शब्द-शक्ति के बलपर आई हुई व्यञ्जना को स्वयं अभिहित कर दिया। अतएव यहाँ पर अलङ्कार ही है ध्वनि नहीं।

अब अर्थशक्ति के बल पर अधिगत व्यङ्ग्यार्थ के अलङ्कार होने का एक उदाहरण लीजिये—कोई पथिक रात्रि में निवासस्थान प्राप्त करने की आशंका प्रगट कर रहा है। उसका उत्तर देते हुये स्वयंदूतिका नायिका कह रही है—

'यहाँ पर मेरी माँ सोती है जोकि बिल्कुल वृद्धा है, यहाँ पर पिता जी सोते हैं जो इतने वृद्ध हैं कि वृद्ध लोगों में उनका नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। यहाँ पर मेरी दासी सोती है जो घर का समस्त कार्य करते-करते थक जाती है और जिसका शरीर पूर्णतया शिथिल पड़ जाता है। इस (कमरे) में पापिनी मैं अकेली ही सोती हूँ क्योंकि मेरे प्राणनाथ कुछ ही दिन से परदेश गये हुये हैं। इस प्रकार तरुणी ने अवसर की उक्ति के बहाने से अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया।'

यहाँ पर प्रत्येक पद की व्यञ्जकता स्पष्ट है और सहृदयों के द्वारा सरलतापूर्वक उनकी कल्पना की जा सकती है, अतः स्वकण्ठ से उनका कथन नहीं किया जा रहा है। [यहाँ पर शब्दों की व्यञ्जकता इस प्रकार होगी—'मेरी माँ और मेरे पिता जी' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि 'ये मेरे माता पिता हैं, मैं इनकी प्यारी पुत्री हूँ, यदि ये लोग मेरा अपराध जान भी लेंगे तो भी मुझ से प्रेमवश कुछ नहीं कहेगे अतः तुम्हे इनसे भय करने की आवश्यकता नहीं है।' 'वृद्ध और वृद्धों में अग्रणी' कहने का व्यङ्ग्यार्थ यह है—'एक तो ये ऐसे सोते हैं कि इनको होश ही नहीं रहता दूसरे यदि इन्हे कुछ आहट मालुम भी पड़े तब भी ये सरलता से देख-सुन नहीं सकते और उठ तो ये तभी सकते हैं जब कोई दूसरा इन्हे उठावे।' 'घर का समस्त काम करने में थकी हुई शिथिल' का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि वह बेचारी तो इतनी थक जाती है कि जब से सोती है तब से उसे होश ही नहीं रहता कि कहाँ है और बाहर क्या होरहा है।' तथा का व्यङ्ग्यार्थ यह है यही तीन व्यक्ति मेरे घर में हैं और इनसे डरने की तुम्हे कोई आवश्यकता नहीं।' 'इस में' का व्यङ्ग्यार्थ यह है

ध्वन्यालोकः

उभयशक्त्या यथा—'दृष्ट्या केशवगोपरागहृतये'त्यादौ ।

(अनु०) उभय शक्ति से जैसे 'दृष्टया केशव गोपराग' इत्यादि पद्य के उदाहरण मे ।

लोचन

एवमुपसंहारव्याजेन प्रकारद्वयं सोदाहरणं निरूप्य तृतीयं प्रकारमाह—उभयेति । शब्दशक्तिस्तावद् गोपरागादि शब्दश्लेषवशात् । अर्थशक्तिस्तु प्रकरणवशात् । यावदत्र राधारमणस्याखिलतरुणीजनच्छन्नानुरागगरिमास्पदत्वं न विदितं तावदर्थान्तरस्याप्रतीतेः, सलेशमिति चात्र स्वोक्तिः ॥ २३ ॥

इस प्रकार उपसंहार के वहाने दोनों प्रकारों को उदाहरण के वहाने निरूपित कर के तृतीय प्रकार को कहते हैं—उभयेति । शब्दशक्ति तो गोपराग इत्यादि शब्दश्लेष के कारण है । अर्थशक्ति तो प्रकरणवश है क्योंकि जबतक राधारमण का समस्त तरुणीजनविषयक प्रच्छन्न अनुराग विदित न हो तबतक दूसरे अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती । 'सलेश' शब्द अपनी उक्ति है ॥ २३ ॥

तारावती

कि मैं इस कमरे में अकेली रहती हूँ जहाँ किसी को पता भी नहीं चल सकता कि क्या हो रहा है। 'पापिनी' या अभागिनी कहने का व्यङ्ग्यार्थ यह है कि 'मैं इतनी मन्दभागिनी हूँ कि मुझे अब तक मन भरकर सुरत करने का अवसर नहीं मिला आज तुम्हें देख कर मैं कामदेव के बाणों से अत्यन्त पीडित हो गई हूँ।' 'मैं अकेली' कहने का व्यङ्ग्य यह है कि यहाँ कोई और नहीं आता ।' 'प्राणनाथ' का व्यङ्ग्य यह है कि मैं उनको अपना स्वामी ही मानती हूँ, वस्तुतः मेरा उनसे प्रेम नहीं है।' 'कुछ दिनों से परदेश गये हैं' कहने से व्यक्त होता है कि वे अभी हाल में ही बाहर गये हैं, उनके शीघ्र लौटने की आशा नहीं है ।' यहाँ पर वक्तृ-वैशिष्ट्य से व्यक्त होता है कि हम लोगों के विस्रम्भ-विहार को यहाँ कोई नहीं जान सकेगा। मैं तुम्हें देखकर काम पीड़ित हो गई हूँ । अत एव मुझे रमण के द्वारा आनन्द दो ।] यहाँ पर 'अवसर दिखलाने के बहाने से' इसमें बहाने शब्द के द्वारा कवि ने व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य बना दिया है (यहाँ पर कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसके बदलने से व्यञ्जना जाती रहे । अतः यह शब्दशक्तिमूलक न होकर अर्थशक्तिमूलक कही जावेगी ।) इस प्रकार उपसंहार के बहाने दो प्रकारों (शब्द-शक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक) का निरूपण उदाहरणों के साथ कर दिया अब तृतीय प्रकार बतला रहे हैं—उभयशक्तिमूलक का उदाहरण जैसे 'दृष्टया केशव गोप रागहृतया......गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्' वाला पहले दिया हुआ उदाहरण । यहाँ पर गोप

ध्वन्यालोकः

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥ २४ ॥

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ—कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः—प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतः सम्भवी च द्वितीयः।

(अनु०) 'अन्य वस्तु का व्यञ्जक अर्थ भी दो प्रकार का समझा जाना चाहिये-एक तो जिसका कलेवर केवल कविप्रौढोक्ति से ही निष्पन्न हुआ हो दूसरे जो स्वतः सम्भव हो ॥ २४ ॥

अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि में जो व्यञ्जक अर्थ कहा गया है उसके भी दो प्रकार होते हैं—एक तो कवि या कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति के द्वारा ही जिसके कलेवर की रचना हुई हो और दूसरा जो स्वतः सम्भव हो।

लोचन

एवमर्थशक्त्युद्भवस्य सामान्यलक्षणं कृतम्। श्लेषाद्यलङ्कारेभ्यश्चास्य विभक्तो विषय उक्तः। अधुनास्य प्रभेदनिरूपणं करोति—प्रौढोक्तीत्यादिना। योऽर्थान्तरस्य दीपको व्यञ्जक उक्तः सोऽपि द्विविधः। न केवलमनुस्वानोपमो द्विविधः, यावत्तद्भेदो यो द्वितीयः सोऽपि व्यञ्जकार्थद्वैविध्यद्वारेण द्विविध इत्यपिशब्दार्थः। प्रौढोक्तेरप्य-

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव का सामान्य लक्षण कर दिया। श्लेष इत्यादि अलङ्कारों से इसका विभक्त विषय बतला दिया। अब इसके प्रभेद का निरूपण करते हैं—प्रौढोक्ति इत्यादि के द्वारा जो अर्थान्तर का व्यञ्जक दूसरा अर्थ बतलाया गया है वह भी दो प्रकार का होता है। केवल अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ही दो प्रकार का नहीं होता, उसका जो दूसरा भेद है वह भी व्यञ्जकार्थ की द्विविधिता के द्वारा दो प्रकार का होता है यह अपि शब्द का अर्थ है। प्रौढोक्ति का भी अवान्तर

तारावती

राग इत्यादि शब्दों का शब्दश्लेष इसे शब्दशक्तिमूलक बना देता है और अर्थशक्तिमूलकता प्रकरणवश आ जाती है। क्योंकि जबतक राधारमण भगवान् कृष्ण का अखिल तरुणीजनविषयक प्रच्छन्न अनुराग का गौरवास्पद होना विदित न हो तब तक अर्थान्तर की प्रतीति हो ही नहीं सकती। यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ को कवि ने 'सलेशम्' यह क्रियाविशेषण देकर वाच्य कल्प बना दिया है जिसका विस्तृत विवेचन पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। (यहाँ पर अभिनव गुप्त ने अर्थशक्तिमूलकता का प्रयोजक तत्त्व प्रकरण का ज्ञान माना है। किन्तु प्रकरण का ज्ञान तो सामान्यतया सभी प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों का प्रयोजक होता है। अतः यहाँ पर उभय-

लोचन

वान्तरभेदमाह—कवेरिति। तेनैते त्रयो भेदा भवन्ति। प्रकर्षेण ऊढः सम्पादयितव्येन वस्तुना प्राप्तस्तत्कुशलः प्रौढः। उक्तिरपि समर्पयितव्यवस्त्वर्पणोचिता प्रौढेत्युच्यते।
भेद बतलाते हैं—'कवेः इति' इससे ये तीन भेद हो जाते हैं। प्रकर्ष के द्वारा रूढ अर्थात् सम्पादनीय वस्तु के द्वारा प्राप्त उसमें कुशल प्रौढ (कहलाता है) समर्पणीय वस्तु के अर्पण के योग्य उक्ति भी प्रौढा कही जाती है।

तारावती

शक्तित्व की सम्पादकता इसी तथ्य पर आधारित मानी जानी चाहिये कि इस पद्य में दृष्टम् इत्यादि कतिपय द्व्यर्थक शब्द ऐसे हैं जो कि पर्याय में बदले जा सकते हैं और इस परिवर्तन से व्यञ्जकता में कोई कमी नहीं आती। इसके प्रतिकूल 'गोपराग' इत्यादि द्व्यर्थक शब्दों के पर्याय में बदल देने से व्यङ्ग्यार्थ का अवगमन व्याहत हो जाता है। प्रथम प्रकार के शब्दों के कारण इसे हम अर्थशक्तिमूलक कह सकते हैं और दूसरे प्रकार के कारण शब्दशक्तिमूलक। अत एव यह उभय शक्तिमूलक ध्वनि है।)॥ २३॥

ऊपर अर्थशक्तिमूलक का सामान्य लक्षण बना दिया गया और यह भी दिखला दिया गया कि श्लेष इत्यादि अलङ्कारों से इसका विषय-विभाजन किस प्रकार होता है। अब इसके उपभेदों का निरूपण चौबीसवीं कारिका के द्वारा किया जा रहा है। कारिका में 'अर्थोऽपि' इस में 'अपि' शब्द का प्रयोग किया गया है इसका आशय यह है कि अर्थान्तर का दीपक अर्थात् व्यञ्जक जो कि अर्थ (वाच्यार्थ) बतलाया गया है वह भी दो प्रकार का होता है केवल अनुस्वानोपम व्यङ्ग्य ही दो प्रकार का नहीं होता उसका जो अवान्तर अर्थशक्तिमूलक नामवाला दूसरा भेद है वह भी व्यञ्जकार्थ की द्विविधता के बल पर दो प्रकार का हो जाता है। (एक तो वह होता है जिसका कलेवर केवल कविप्रौढोक्ति के द्वारा ही निष्पन्न हुआ हो और दूसरा भेद वह होता है जोकि लोक में भी स्वतः सम्भव हो।) कविप्रौढोक्ति निष्पन्न शरीरवाले दूसरे प्रभेद के भी अवान्तर भेद होते हैं। एक तो कविप्रौढोक्तिसिद्ध और दूसरा कविनिबद्धवक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध। इस प्रकार इसके तीन भेद हो जाते हैं (१) कविप्रौढोक्तिसिद्ध (२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध और (३) स्वतः सम्भव। प्रौढ शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'प्र + ऊढ' ऊढ शब्द वह धातु का 'क्त' प्रत्ययान्त रूप है। अतः इसका अर्थ होता है प्राप्त किया हुआ अर्थात् ऐसी वस्तु के द्वारा प्राप्त किया हुआ जिसका सम्पादन करना कवि को अभीष्ट हो। 'प्र' का अर्थ है प्रकर्ष के साथ सम्पादनीय वस्तु के द्वारा जिसकी प्राप्ति हुई हो। अत एव सम्पादनीय वस्तु में जो कुशल हो उसे प्रौढ कहते हैं। जब इस 'प्रौढ' शब्द का उक्ति

तारावती

शब्द के साथ समास होकर 'प्रौढोक्ति' शब्द बन जाता है तब इसका अर्थ हो जाता है ऐसी उक्ति जो कि प्रतिपादनीय वस्तु के समर्पण में उचित हो।

(प्रस्तुत कारिका में अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के भेद व्यञ्जक अर्थ के आधार पर किये गये हैं। यहाँ पर आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। सर्वप्रथम मतभेद तो ध्वनिकार, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त में ही प्रतीत होता है। ध्वनिकार व्यञ्जक अर्थ के स्पष्ट रूप में दो भेद मानते हैं—प्रौढ़ोक्ति सिद्ध और स्वतः सम्भव। ध्वनिकार के 'द्विविध' शब्द से ही इस आशङ्का का उन्मूलन हो जाता है कि ध्वनिकार के मत मे एक तीसरा भेद भी सम्भव है। आनन्दवर्धन ने 'कवि-प्रौढ़ोक्ति सिद्ध' शब्द की व्याख्या करते हुये लिखा है—'कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता की प्रौढ़ोक्ति के द्वारा सिद्ध एक भेद है और दूसरा है स्वतः सम्भव। आनन्दवर्धन का स्पष्ट आशय यही है कि चाहे अर्थ कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध हो अथवा कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति सिद्ध हो, हम दोनों को एक ही भेद के अन्तर्गत रखकर एक ही नाम से पुकार सकते है और वह है प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थ। यद्यपि आनन्द-वर्धन ने कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध दोनों प्रकार के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये है तथापि यहाँ पर 'एक' तथा 'वा' शब्द के प्रयोगों से स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन भी ध्वनिकार के समान दो ही भेदों को मानने के पक्षपाती हैं। इसके प्रतिकूल लोचनकार ने कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध भेदों को पृथक्-पृथक् मानकर अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के तीन भेद कर दिये हैं। हेमचन्द्र को यह भेदोपभेद सङ्गत प्रतीत नहीं होता। उनका कहना है कि यह भेदोपभेद कल्पनान्याय्य नहीं है क्योंकि सभी भेदों का समाहार 'कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु' में ही हो जाता है। यदि स्वतः सम्भवी अर्थ मे भी कवि प्रौढोक्ति का समावेश नहीं होगा तो स्वतः सम्भवी वस्तु न तो काव्यत्व की प्रयोजक हो सकेगी और न व्यङ्ग्यार्थ का ही अभिव्यञ्जन कर सकेगी। इसी प्रकार कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति भी कविप्रौढ़ोक्ति मे ही सन्निविष्ट हो जाती है। अतः इन दोनों को पृथक् न मानकर कविप्रौढ़ोक्ति को ही व्यञ्जकता का प्रधान तत्त्व मानना चाहिये। माणिक्यचन्द्र ने भी हेमचन्द्र का ही पदानुसरण कर इस भेदोपभेद कल्पना का प्रत्याख्यान किया है। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट अभिनव गुप्त से पूर्णतया सहमत हैं; उन्होंने व्यञ्जक अर्थ को तीन भेदों में विभाजित कर उसके औचित्य की परीक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं समझी। रसगङ्गाधरकार ने ध्वनि का अनुसरण करते हुये केवल दो भेद माने है प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध और स्वतः सम्भव। उनका कहना है कि कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध तथा कवि-

तारावती

निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध दोनों प्रकार की वस्तुओं का निर्माण प्रतिभा के द्वारा ही होता है, अतः दोनों को एक ही मानना चाहिये। यदि इनके पृथक्त्व को माना जावे तो कविनिबद्धवक्तृ-निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु को भी व्यञ्जना का एक भेद मानना पड़ेगा। यदि उसे भी कविनिबद्धवक्तृ की उक्ति के अन्दर ही लाना है तो कविनिबद्धवक्ता की उक्ति भी तो कवि के लोकोत्तरवर्णनानिपुणत्व से ही प्रादुर्भूत हुई है अतः वह भी कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु ही मानी जा सकती है; अतएव उसे पृथक् भेद के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिये। इसपर नागेश भट्ट का कहना है कि जिस प्रकार वृद्धोक्ति के विषय की अपेक्षा शिशूक्ति के विषय में कुछ नवीनता होती है उसी प्रकार कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु की अपेक्षा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु में विलक्षणता होती ही है। अतः इन दोनों भेदों को पृथक्-पृथक् मानना ही चाहिये। इसके बाद वक्तृनिबद्धवक्ता की उक्ति भी प्रतिनिधित्व के रूप में ही प्रतीति उत्पन्न करती है। अतः उसमे चमत्कार का स्थगन हो जाता है। अतएव उसे पृथक् भेद के रूप में स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये।

वस्तुतः अभिनवगुप्त और आचार्य मम्मट की भेदोपभेद-कल्पना ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। कवि कुछ तो ऐसे अर्थों का उपादान करता है जो लोक मे भी विद्यमान होते हैं और कुछ अपनी कल्पना से उद्भूत कर लेता है। यद्यपि प्रथम प्रकार में भी कवित्व का चमत्कार विद्यमान रहता है तथापि दोनों प्रकारों में चमत्कार का तारतम्य अवश्य रहता है। चमत्कार की नवीनता ही भेद की प्रयोजिका होती है। इसीप्रकार कवि की कही हुई बात में और कवि द्वारा किसी वक्ता के माध्यम से कहलाई हुई बात में भी चमत्कार की नवीनता होती ही है। तुलसी भी रावण की गर्हणा करते हैं; किन्तु अङ्गद के द्वारा की हुई गर्हणा में चमत्कार का वैचित्र्य होता ही है। अतः इन दोनों का भेद माना ही जाना चाहिये। अब अङ्गद कविनिबद्धवक्ता हैं और राम भी कविनिबद्ध दूसरे वक्ता हैं। अङ्गद राम के द्वारा नियुक्त हों या स्वयं बोल रहे हों इससे चमत्कार-विधान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि यदि कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु को व्यञ्जक माना जावेगा तो कविनिबद्धवक्तृनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु को भी व्यञ्जक कोटि में लाना पड़ेगा। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का व्यञ्जक अर्थ तीन ही प्रकार का होता है।]

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के ऐसे व्यञ्जक का उदाहरण जिसका कलेवर लोक में सम्भव न हो केवल कवि द्वारा कल्पित कर लिया गया हो:—

ध्वन्यालोकः

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा—

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।
अहिणअसहआरमुहे णवपल्लअपत्तले अणङ्गस्स शरे॥

(अनु०) कविप्रौढोक्तिमात्र-निष्पन्न शरीरवाली वस्तु से व्यञ्जना का उदाहरण—
'वसन्तमास अभिनव सहकार इत्यादि नवीन पल्लव और पत्तों को देनेवाले तथा युवतीजनों को लक्ष्यकारक मुखोंवाले कामदेव के वाणों को तैय्यार ही कर रहा है उसे दे नहीं रहा है।'

लोचन

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपत्त्रलाननङ्गस्य शरान्॥

अत्र वसन्तश्चेतनोऽनङ्गस्य सखा सज्जयति केवलं न तावदर्पयतीत्येवंविधया समर्पयितव्यवस्त्वर्पणकुशलयोक्त्या सहकारोद्भेदिनी वसन्तदशा यत उक्ता अतो ध्वन्यमानं मन्मथोन्माथस्यारम्भं क्रमेण गाढगाढीभविष्यन्तं व्यनक्ति। अन्यथा वसन्ते सपल्लवसहकारोद्गम इति वस्तुमात्रं न व्यञ्जकं स्यात्। एषा च कवेरेवोक्तिः प्रौढा।

'सुरभिमास, युवतीजन ही हैं जिनके लक्ष्य इस प्रकार के मुख है जिनके इस प्रकार के अभिनव सहकार इत्यादि नवीन पल्लव पत्रो को ग्रहण करनेवाले काम बाणों को तैय्यार करता है किन्तु प्रदान नहीं करता।

यहाँपर क्योंकि काम का मित्र चेतन वसन्त केवल तैय्यार करता है किन्तु अर्पित नहीं करता इस प्रकार की समर्पणीय वस्तु के अर्पण में कुशल उक्ति के द्वारा सहकार की उद्भेदिनी वसन्त की दशा कही गई है अतः ध्वनित होनेवाले तथा क्रमशः अधिक गाढ होनेवाले कामोत्पीडन को व्यक्त करता है। अन्यथा वसन्त मे पल्लव सहित सहकार का उद्गम होता है यह वस्तुमात्र व्यञ्जक न होती। यह कवि की प्रौढ उक्ति है।

तारावती

'वसन्तमास कामदेव के बाणों को तैय्यार तो कर रहा है परन्तु उसे अर्पित नहीं कर रहा। इन वाणों के अग्रभागों का लक्ष्य युवतियों का समूह है। वाण अभिनव आम्रमञ्जरी प्रभृति अनेक प्रकार के है और ये नवीन पल्लवों तथा पत्रों या नवपल्लवरूपी पत्रों को प्रदान करनेवाले हैं।'

यहाँ पर कविकल्पना के द्वारा ही अचेतन वसन्त को चेतन माना गया है, उसे कामदेव का मित्र कहा गया है; वह कामदेव के वाणों को तैय्यार करता है

ध्वन्यालोकः

कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव—'शिखरिणि' इत्यादि।

(अनु०) कविनिवद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर वस्तु से व्यञ्जना जैसे पहले दिया हुआ उदाहरण—'शिखरिणि क्व नु नाम.......' इत्यादि।

लोचन

शिखरिणीति। अत्र लोहितं विम्वफलं शुको दशतीति न व्यञ्जकता काचित्। यदा तु कविनिवद्धस्य साभिलापस्य तरुणस्य वक्तुरित्थं प्रौढोक्तिस्तदा व्यञ्जकत्वम्।

शिखरिणि इति। यहाँ पर लाल बिम्बफल का दशन शुक करता है इसमें कोई व्यञ्जकता नहीं आती। जबकि कविनिवद्ध साभिलाष तरुणवक्ता की यह प्रौढोक्ति है तब व्यञ्जकता (आती है।)

तारावती

किन्तु उसे प्रदान नहीं करता, यह भी कवि-कल्पना ही है। (सहकार के नव-पल्लवों पर बाण के पत्रों का आरोप भी कविकल्पनाप्रसूत ही है। इस उक्ति मे एक कुशलता, जो कि अर्पण करने योग्य वस्तु के वर्णन में कवि को सहायता प्रदान करती है। इस उक्ति से वसन्त की उस प्रारम्भिक अवस्था का प्रकथन किया गया है जिसमें सहकार का उद्भेद प्रारम्भ हो जाता है। इससे व्यञ्जना निकलती है कि कामदेव का उन्मथन अभी प्रारम्भ ही हुआ है, यह धीरे-धीरे प्रगाढ होता जावेगा और आगे चलकर कामदेव अत्यन्त प्रवृद्ध हो जावेगा। यहाँ हृदय को विशेष आह्लाद देने के कारण व्यङ्ग्यार्थ ही प्रधान है अतः यह अर्थशक्तिमूलक ध्वनि है। यह ध्वनि कवि-कल्पना-प्रसूत वाच्यार्थ से ही निकलती है; अतएव कवि की उक्ति ही प्रौढ है। अन्यथा यहाँ पर लोकसम्भव अर्थ इतना ही है कि वसन्त में पल्लवों के साथ आम्रमञ्जरियों का उद्गम प्रारम्भ हो जाता है। इतनी वस्तु उक्त अर्थ की व्यञ्जना कर ही कैसे सकती है? यह केवल कवि की प्रौढोक्ति है।

अब ऐसी ध्वनि (अर्थशक्तिमूलक ध्वनि) का उदाहरण लीजिये जिसमे व्यञ्जक (वाच्यार्थ) के कलेवर का निर्माण कविनिवद्धवक्ता की प्रौढोक्ति ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में कारण हो। इसका उदाहरण जैसा कि पहले ही 'शिखरिणि क्व नु नाम.......शुक शावकः' इस पद्य के रूप में दिया जा चुका है। यहाँ पर कामुक की संभोगेच्छा व्यक्त होती है। लोकसम्भव अर्थ केवल इतना ही है कि शुक लाल विम्ब-फल का दशन कर रहा है। उसकी पूर्वजन्म की तपस्या

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिम् ।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्स दिण्णं तुह थणेहिम् ॥

स्वतः सम्भवी य औचित्येन वहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवलं भणितिवशेनैवाभिनिष्पन्नशरीरः । यथोदाहृतम्—'एवंवादिनि' इत्यादि ।

(अनु०) अथवा दूसरा उदाहरण—

'आदर पूर्वक दिये हुये यौवन के हाथ के अवलम्ब को लेकर उठे हुये तुम्हारे स्तनों ने मानों मन्मथ को अभ्युत्थान प्रदान किया ।'

स्वतःसम्भवी का अर्थ है औचित्य के साथ जिसकी सद्भावना (सत्ता) की संभावना बाहर भी की जा सके और जिसका कलेवर केवल कवि की उक्ति के बलपर ही निष्पन्न न हुआ हो । जैसा कि पहले 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि पद्य के रूप में उदाहरण दिया जा चुका है ।

लोचन

सादरवितीर्णयौवनहस्तालम्बं समुन्नमद्भ्याम् ।
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम् ॥

स्तनौ तावदिह प्रधानभूतौ ततोऽपि गौरवितः कामस्ताभ्यामभ्युत्थानेनोपचर्यते । यौवनं चानयोः परिचारकभावेन स्थितमित्येवं विधेनोक्तिवैचित्र्येण त्वदीयस्तनावलोकनप्रवृद्धमन्मथावस्थः को न भवतीति भङ्ग्या स्वाभिप्रायध्वननं कृतम् । तव

'आदरपूर्वक दिये हुये यौवन के हाथ के सहारे को लेकर उठे हुए तुम्हारे स्तनों ने कामदेव को मानो अभ्युत्थान प्रदान कर दिया।' यहाँ पर प्रधानभूत स्तन हैं, उससे भी गौरव से युक्त है कामदेव (अतः) उन (स्तनों) के द्वारा उठकर उसका स्वागत किया जाता है । यौवन इन दोनों के परिचारकभाव के साथ स्थित है । इस प्रकार के उक्तिवैचित्र्य के द्वारा तुम्हारे स्तनों के अवलोकन से प्रवृद्ध मदनावस्थावाला कौन नहीं हो जाता, इस भङ्गिमा के साथ अपने अभिप्राय का ध्वनन

तारावती

इत्यादि की कल्पना प्रौढोक्तिमात्र है । किन्तु यदि यह प्रौढोक्ति कवि की ही मानी जावे और कविकल्पना को ही व्यञ्जक कहा जावे तो सम्भोगेच्छा प्रकाशन का व्यङ्ग्यार्थ कभी न निकलेगा । उसकी विश्रान्ति तो कविकल्पना में ही हो जावेगी । जब कि कवि-निबद्ध साभिलाष तरुण वक्ता की यह प्रौढोक्ति मानी जाती है तभी वह सम्भोगेच्छा की व्यञ्जिका होती है ।

लोचन

तारुण्येनोन्नतौ स्तनाविति हि वचने न व्यञ्जकता। न केवलमिति। उक्तिवैचित्र्यं तावत्सर्वथोपयोगि भवतीति भावः।

किया गया है। तुम्हारे तारुण्य से स्तन उन्नत हैं इस वचन में व्यञ्जकता नहीं होती। न केवल मिति। उक्तिवैचित्र्य तो सर्वथा उपयोगी होता है यह भाव है।

तारावती

अथवा दूसरा उदाहरण लीजिये—

'यौवन ने आदरपूर्वक हाथ का सहारा देकर तुम्हारे स्तनों को उठाया और उठकर तुम्हारे स्तनों ने मानों कामदेव का अभ्युत्थानपूर्वक स्वागत किया।'

जब कभी किसी बड़े अदमी के यहाँ कोई दूसरा उससे भी बड़ा प्रधान पुरुष आ जाता है तब वह बड़ा आदमी हड़बड़ाकर उसके स्वागत के लिये उठ नहीं पाता और उसका कोई सेवक उसे चटपट हाथ पकड़कर उठा देता है तब वह अभ्यागत का अभिनन्दन करता है। यहाँ पर कामदेव का आगमन हुआ है नायिका के स्तन अभ्युत्थान के द्वारा उसका स्वागत करना चाहते हैं और यौवन उन्हें उठ खड़े होने मे सहायता देता है। (इस प्रकार यहाँ पर समासोक्ति और उत्प्रेक्षा का सङ्कर है।) आशय यह है कि स्तन तो प्रधान हैं और उनसे भी प्रधान॰ भूत है कामदेव। स्तन अभ्युत्थान के द्वारा कामदेव का उपचार करते हैं। यौवन इन दोनों के परिचारक के रूप मे स्थित है। यह है उक्तिवैचित्र्य या प्रौढोक्ति। क्योंकि लोक में न तो स्तन अधिकारी ही हैं न कामदेव के आने पर वे उठना ही चाहते हैं और न यौवन उन्हें सहारा देकर उठाता ही है। यह सब प्रौढोक्ति मात्र है। यदि यह केवल कवि की प्रौढोक्ति मानी जावे तो इस प्रौढोक्ति में ही चमत्कार का पर्यवसान हो जावेगा और उससे कोई व्यञ्जना न निकल सकेगी। जब कि यह प्रौढोक्ति किसी विदग्ध रसिक की मानी जाती है तब उससे व्यञ्जना निकलती है कि 'तुम्हारे स्तनों को देखकर किसका कामदेव अत्यन्त मात्रा में बढ़ नहीं जाता? मैं भी अत्यन्त कामपीडित हो गया हूँ और मैं तुम्हारा सहवास चाहता हूँ।' यह अभिप्राय की व्यञ्जना चमत्कारपर्यवसायी होने के कारण ध्वनिरूपता को प्राप्त हो गई है। यदि यहाँ पर केवल लोकसम्भव वस्तु कही जाती कि जवानी से तुम्हारे स्तन बढ गये हैं तो व्यञ्जना होती ही क्या?

स्वतःसम्भवी का अर्थ है जिसकी सत्ता की संभावना बाहर भी अर्थात् लोक में भी की जा सके और जिसका शरीर केवल उक्ति के कारण ही अभिनिष्पन्न न हुआ हो। केवल का अर्थ यह है कि उक्ति-वैचित्र्य तो सर्वत्र उपयोगी होता ही

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

सिहिपिच्छकण्णपूरा जाआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम् ॥

(अनु०) अथवा दूसरा उदाहरण—

मयूर पिच्छ को कर्णपूर के रूप मे धारण किये हुये गर्व से भरी हुई व्याध की पत्नी मुक्ताफलों से अपने प्रसाधनो को विशेष रूप से सजाई हुई सपत्नियों के बीच मे घूम रही है ।

लोचन

शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥

शिखिमात्रमारणमेव तदासक्तस्य कृत्यम् । अन्यासु त्वासक्तो हस्तिनोऽप्यमारयदिति हि वचनेनोक्तमुत्तमसौभाग्यम् । रचितानि विविधभङ्गीभिः प्रसाधनानीति तासां सम्भोगव्यग्रिमाभावात्तद्विरचनशिल्पकौशलमेव परमिति दौर्भाग्यातिशय

'मयूरपिच्छ को कर्णपूर बनाये हुये व्याध की स्त्री मुक्ताफलों से रचित प्रसाधनोंवाली अपनी सौतों के मध्यमें गर्व के साथ घूम रही है ।'

उसमे आसक्त का कृत्य मयूरमारण मात्र है, अन्यों मे आसक्त ने तो हाथियो को भी मारा, इस प्रकार इस वचन से उत्तम सौभाग्य कहा गया। विविध भङ्गिमाओं से प्रसाधन रचे गये इस प्रकार उनकी सम्भोगव्यग्रता के अभाव से उनके विरचन का शिल्प-कौशल ही सर्वाधिक है इस प्रकार इस समय दौर्भाग्य की अधिकता

तारावती

है । (किन्तु उक्तिवैचित्र्य के साथ जहाँ वस्तु लोकसम्भव भी हो वहाँ पर जो व्यञ्जना होती है उसका व्यञ्जक लोकसम्भव वस्तु को ही माना जाता है ।) पहले आया हुआ उदाहरण 'एवंवादिनि देवर्षौ....' इत्यादि पद्य इसका भी उदाहरण हो सकता है ।

इसका दूसरा उदाहरण—

'व्याध की वहू केवल मयूरपिच्छ को ही कर्णपूर के रूप मे धारण किये हुये हैं; उसके पास और अभूषण नहीं हैं । किन्तु उसकी सपत्नियाँ गजमुक्ताओं से अपने शरीर को भलीभाँति सजाये हुये हैं । तथापि व्याधवधू अपनी सपत्नियों के बीच मे गर्व के साथ घूम रही है ।'

यह वस्तु लोकसम्भव है । इससे व्यञ्जना निकलती है कि व्याधवधू में आसक्त व्याध रातदिन कामोन्मत्त रहता है और सुरतव्यापार में लगा रहता है, न उसे

लोचन

इदानीमिति प्रकाशितम् । गर्वश्च बाल्याविवेकादिनापि भवतीति नात्र स्वोक्तिसद्भावः शङ्क्यः । एष चार्थो यथा यथा वर्ण्यते आस्तां वा वर्णना, बहिरपि यदि प्रत्यक्षादिनावलोक्यते तथा तथा सौभाग्यातिशयं व्याधवध्वा द्योतयति ॥ २४ ॥

प्रकाशित की गई । गर्व तो बाल्य और अविवेक इत्यादि से भी हो सकता है अतः यहाँ पर 'स्वोक्ति' के होने की शङ्का नहीं करनी चाहिये । और यह अर्थ जैसे-जैसे वर्णन किया जाता है अथवा वर्णन को जाने दीजिये बाहर भी प्रत्यक्ष इत्यादि के द्वारा यदि अवलोकन किया जाता है वैसे-वैसे व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता को व्यक्त करता है ॥ २४ ॥

तारावती

शिकार में जाने की इच्छा ही होती है और अधिक सम्भोग करने के कारण वह इतना अशक्त भी हो गया है कि बलवान् सिंहों और हाथियों का शिकार कर ही नहीं सकता । यदि कहीं निकट कोई मयूर आ जाता है तो अपनी प्रियतमा के विनोद के लिये वह उस मयूर को ही मार लेता है और व्याधवधू मयूरपिच्छ का कर्णपूर धारण करके ही सन्तोष करती है । इसके प्रतिकूल दूसरी सपत्नियों में जब प्रियतम पहले आसक्त था तब वह सुरतव्यापार में इतना आसक्त नहीं हो जाता था कि शिकार खेलने न जा सकता । वह शिकार खेलने जाता था और मदोन्मत्त हाथियों का शिकार करने मे सारा दिन लगा देता था तथा हाथियों को मारकर गजमुक्ता लाकर अपनी प्रियतमाओं (नायिका की सौतों) को देता था । इस प्रकार नायिका का उत्तम सौभाग्य व्यक्त होता है। जिन सौतों ने अनेक भङ्गिमाओं के साथ अपने प्रसाधनों को सजाया है वे वस्तुतः सम्भोग में व्यग्र रहती ही नहीं । उनका सबसे बड़ा कार्य यही है कि वे अपने प्रसाधनो के रचनाशिल्प का कौशल दिखलाती रहें । इस प्रकार इस समय पर उनके दौर्भाग्य की अधिकता ही अभिव्यक्त होती है । यहाँ पर यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि नायिका के गर्व की बात कहकर कवि ने व्यङ्ग्यार्थ को वाच्य बना दिया है । क्योंकि गर्व तो अल्हड़पन के कारण भी हो सकता है और अविवेक से भी हो सकता है । (महिम भट्ट ने गर्व को हेतु मानकर नायिका के सौभाग्य की साध्यसिद्धि मानी है और इस उदाहरण को अनुमान मे अन्तर्भूत करने की चेष्टा की है । किन्तु गर्व बाल्य के कारण या अविवेक के कारण अथवा सन्तोषशील होने के कारण भी हो सकता है । अतः यहाँ पर अनैकान्तिक हेत्वाभास है और इसका समावेश अनुमान में नहीं किया जा सकता ।) इस अर्थ का जितना-जितना वर्णन किया जाता है,

ध्वन्यालोकः

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः सप्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥२५॥

वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात् प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः ।

(अनु०) 'जहाँ पर अर्थशक्ति से अन्य अलङ्कार भी प्रतीत होता है वह ध्वनि का अनुरणन रूप व्यङ्ग्य दूसरा प्रकार होता है ॥ २५ ॥

वाच्य अलङ्कार से भिन्न जहाँ दूसरा अलङ्कार अर्थसामर्थ्य से प्रतीत होता है वह अर्थशक्त्युद्भव नामक अनुरणन रूप व्यङ्ग्य दूसरी ध्वनि होती है ।

लोचन

एवमर्थशक्त्युद्भवो द्विभेदो वस्तुमात्रस्य व्यञ्जनीयत्वे वस्तुध्वनिरूपतया निरूपितः । इदानीं तस्यैवालङ्काररूपे व्यञ्जनीयेऽलङ्कारध्वनित्वमपि भवतीत्याह—अर्थेत्यादि । न केवलं शब्दशक्तेरलङ्कारः प्रतीयते पूर्वोक्तनीत्या यावदर्थशक्तेरपि । यदि वा न केवलं यत्र वस्तुमात्रं प्रतीयते यावदलङ्कारोऽपीत्यपिशब्दार्थः । अन्यशब्दं व्याचष्टे- वाच्येति ॥ २५ ॥

इस प्रकार दो भेदोंवाला अर्थशक्त्युद्भव वस्तुमात्र के व्यञ्जनीय होने पर वस्तुध्वनि के रूप में निरूपित कर दिया गया । इस समय उसी के अलकाररूप व्यञ्जनीय होने पर अलंकारध्वनित्व भी होता है यह कहते हैं—अर्थेत्यादि । केवल शब्दशक्ति से ही अलंकार की प्रतीति नहीं होती पूर्वोक्त नीति से अर्थशक्ति से भी (होती है) अथवा जहाँ केवल वस्तु की प्रतीति नहीं होती अपितु अलंकार की भी प्रतीति होती है यह अपि शब्द का अर्थ है । अन्य शब्द की व्याख्या करते हैं 'वाच्य' इत्यादि ॥ २५ ॥

तारावती

या वर्णन की भी बात जाने दीजिये, बाह्यरूप में यदि प्रत्यक्ष इत्यादि के रूप में ही इसका अवलोकन किया जाता है, उतनी ही उतनी व्याधवधू के सौभाग्य की अधिकता अभिव्यक्त होती है ॥ २४ ॥

ऊपर अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के व्यञ्जक की दृष्टि से दो भेद किये गये थे। प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्न व्यञ्जकार्थ और स्वतःसम्भवी व्यञ्जकार्थ । (प्रथम प्रकार के दो भेद कर इस उपभेद गणना की संख्या तीन करदी गई थी ।) इन तीनों भेदों मे यदि केवल वस्तु की व्यञ्जना करनी हो तो उसे अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि कहते हैं । इस वस्तुध्वनि का निरूपण (तथा उदाहरणों में उनकी संयोजना) विस्तार पूर्वक किया जा चुका है । अब प्रस्तुत कारिका मे यह दिखला रहे हैं कि अर्थशक्तिमूलक

तारावती

ध्वनि के क्षेत्र में केवल वस्तु ही व्यञ्जनीय नहीं होती अपितु उसमें व्यञ्जनीय तत्त्व अलङ्कार भी होता है। ऐसी दशा में उसे अर्थशक्तिमूलक अलङ्कार-ध्वनि भी कहते हैं। यही बात इस कारिका में कही गई है कि 'और जहाँ पर अर्थशक्ति से एक दूसरा (वाच्यालङ्कार से भिन्न) अलङ्कार भी प्रतीतिगोचर होता है वह अनुस्वानोपमव्यङ्ग्य ध्वनि अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलकध्वनि का एक दूसरा प्रकार होता है।' यहाँ पर 'यत्राप्यन्यः' में 'अपि' शब्द 'यत्र' शब्द के साथ आया है, किन्तु उसकी योजना भिन्नक्रम से 'अर्थशक्तेः' तथा 'अलङ्कारः' के साथ होती है। 'अर्थशक्तेः' के साथ 'अपि' शब्द के रखने का आशय यह है कि केवल शब्द-शक्ति से ही पहले बतलाये हुये रूपमें अलङ्कार की प्रतीति नहीं होती अपितु अर्थ-शक्ति से भी अलङ्कार की प्रतीति होती है। अथवा 'अपि' शब्द को 'अलङ्कारः' के साथ रक्खा जा सकता है, तब उसका अर्थ होगा—'अर्थशक्ति से केवल वस्तु ही प्रतीत नहीं होती किन्तु अलङ्कार भी प्रतीत होता है।' कारिका में अन्यः शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी का अर्थ बतलाने के लिये वृत्तिकारने लिखा है—'जहाँ अर्थसामर्थ्य से वाच्यालङ्कार से व्यतिरिक्त एक दूसरा अलङ्कार अवभासित होता है वह अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्य ध्वनि का दूसरा प्रकार है।

[यहाँ पर अर्थशक्तिमूलकध्वनि के भेदोपभेदों के निरूपण में ग्रन्थकार ने सङ्केतमात्र दिया है, विस्तार के साथ विवेचन नहीं किया। अर्थशक्तिमूलकध्वनि की भेदोपभेदकल्पना इस प्रकार होगी—उपभेदों की कल्पना के दो आधार हो सकते हैं व्यञ्जक तथा व्यङ्ग्य। दोनों के दो-दो प्रकार होते है वस्तु तथा अलङ्कार। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलकध्वनि के चार भेद हो गये। इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—स्वतः सम्भव व्यञ्जक, कविकल्पित व्यञ्जक और कविनिबद्धवक्तृ-कल्पित व्यञ्जक। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के १२ भेद हो गये—(१) स्वतःसम्भव वस्तु से वस्तुध्वनि, (२) कविकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि, (३) कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से वस्तुध्वनि, (४) स्वतः सम्भव अलङ्कार से वस्तुध्वनि (५) कविकल्पित अलङ्कार से वस्तुध्वनि, (६) कविनिबद्धवक्तृकल्पित अलङ्कार से वस्तुध्वनि। ये वस्तुध्वनि के ६ भेद हैं। इसी प्रकार अलङ्कारध्वनि के भी ६ भेद हो जाते हैं—(७) स्वतः सम्भव वस्तु से अलङ्कारध्वनि, (८) कविकल्पित वस्तु से अलङ्कारध्वनि, (९) कविनिबद्धवक्तृकल्पित वस्तु से अलङ्कारध्वनि (१०) स्वतः सम्भव अलंकार से अलङ्कारध्वनि, (११) कविकल्पित अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि और (१२) कविनिबद्धवक्तृकल्पित अलङ्कार से अलङ्कारध्वनि। इन बारह भेदों में प्रथम तीन का निरूपण ग्रन्थकार ने स्वयं करदिया। शेष भेद भी अप्रत्यक्ष रूप में

ध्वन्यालोकः

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते—

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद्भूम्ना प्रदर्शितः॥ २६ ॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। तथा च ससन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम्।

(अनु०) उसके विषय के अत्यन्त विरल होने की आशंकाकर यह कहा जा रहा है—

'रूपक इत्यादि जो अलंकारवर्ग वाच्यता के आश्रित होता है वह समस्त (अलंकारवर्ग) प्रतीयमानत्व को धारण करते हुये पर्याप्त मात्रा मे दिखलाया गया है।' ॥ २६ ॥

दूसरे स्थानों पर वाच्यता के रूप मे प्रसिद्ध जो कि रूपक इत्यादि अलंकारवर्ग है वह दूसरे स्थानों पर प्रतीयमानता के रूप में पूज्य आचार्य भट्टोद्भट इत्यादि ने बहुलता के साथ दिखला दिया है। वह इस प्रकार कि ससन्देह इत्यादि मे उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति इत्यादि का प्रतीयमान होना दिखलाया है इस प्रकार दूसरे अलंकार का दूसरे अलंकार में प्रतीयमान होना सिद्ध करने के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा।

लोचन

आशङ्क्येति। शब्दशक्त्या श्लेषाद्यलङ्कारो भासत इति संभाव्यमेतत्। अर्थशक्त्या तु कोऽलङ्कारो भातीत्याशङ्काबीजम्। सर्व इति प्रदर्शित इति च पदेनासम्भावनात्र मिथ्यैवेत्याह।

'आशङ्क्य' इति। शब्द-शक्ति से श्लेष इत्यादि अलंकार भासित होता है इसकी सम्भावना की जासकती है। अर्थ-शक्ति से तो कौन अलंकार शोभित होता है यह शङ्का का बीज है।' 'सर्व' शब्द और 'प्रदर्शित' शब्द इस पद से असम्भावना यहाँ पर मिथ्या ही है यह कहते है।

तारावती

यत्र-तत्र पाये जाते है। किन्तु इनका विशद रूप मे निरूपण काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास मे हुआ है। वहीं देखना चाहिये। ग्रन्थ-विस्तार भय से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है]॥ २५॥

लोचन

उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा॥ इति।
'तस्याः पाणिरयं नु मारुतचलत्पत्रांगुलिः पल्लवः।'

'प्रशंसा के लिये उपमान से भेद और अभेद को कहते हुये सन्देहपूर्ण वचन को विद्वान् लोग ससन्देह अलंकार कहते हैं।'

जैसे—'क्या यह उसका हाथ है, अथवा मारुत से हिलाये हुये पत्ररूपी अंगुलियोंवाला पल्लव है।'

तारावती

अब यहाँ पर एक शङ्का यह उत्पन्न होती है कि इसकी तो सम्भावना की जा सकती है कि शब्दशक्ति के बलपर श्लेष इत्यादि अलङ्कारों की ध्वनि हो किन्तु अर्थशक्ति के भी अलङ्कारों की ध्वनि हो सकती है यह किस प्रकार सम्भव है और यह हो ही कैसे सकता है? यदि किसी प्रकार यह सम्भव भी मान लिया जावे तो भी इस प्रकार की ध्वनि का विषय बहुत ही स्वल्प रहेगा, इसके विषय को व्यापक और विस्तृत बनाने के लिये आप क्या करेंगे? यहाँ पर शङ्का का बीज यही है कि अर्थशक्ति से अलङ्कारध्वनि सम्भव किस प्रकार है? इसी प्रश्न का उत्तर २६ वीं कारिका में दिया गया है। कारिका का अर्थ यह है—'रूपक इत्यादि अलङ्कारों का जो समूह वाच्य वृत्ति का सहारा लेनेवाला बतलाया गया है वह अधिकतर गम्यमानता को धारण करनेवाला दिखलाया गया है।'

रूपक इत्यादि अलङ्कार वाच्य तो होते ही हैं इसके अतिरिक्त व्यङ्ग्य भी हो सकते हैं। भट्टा उद्भट इत्यादि आचार्यों ने एक स्थान पर इनको वाच्य लिखा है और दूसरे स्थान पर व्यङ्ग्य के रूप में प्रदर्शित किया है। कारिकागत 'सभी' तथा 'दिखलाये हैं' इन शब्दों का आशय यह है कि अर्थशक्ति से अलङ्कार व्यङ्ग्य नहीं हो सकते यह आशङ्का मिथ्या ही है। (एक अलंकार मे दूसरा अलंकार प्रायः व्यङ्ग्य होता है। उदाहरण के लिये सादृश्यमूलक समस्त अलंकारों मे उपमा व्यङ्ग्य होती है। अप्पय दीक्षित ने लिखा है—'उपमा एक नटी के समान होती है जो कि विचित्र प्रकार की भूमिकाओं (रूपकादिकों) के भेदों को प्राप्तकर काव्यरूपी रङ्गमञ्च पर नाचती हुई रसज्ञों के चित्तों को अनुरञ्जित करती है।' इसी प्रकार भामह ने वक्रोक्ति को समस्त अलंकारों का बीज मानकर सभी अलंकारों मे वक्रोक्ति की व्यङ्ग्यता स्वीकार की है। दण्डी ने सभी अलंकारों में अतिशयोक्ति को व्यङ्ग्य माना है।)। भट्टोद्भट इत्यादि का आशय यह है कि जहाँ एक अलंकार वाच्य होता है वहाँ दूसरा अलंकार प्रायः व्यङ्ग्य होता है। उदाहरण के

लोचन

इत्यादावुपमा रूपकं वा ध्वन्यते। अतिशयोक्तेश्च प्रायशः सर्वालङ्कारेषु ध्वन्यमानत्वम्। अलङ्कारान्तरस्येति। यत्रालङ्कारोऽप्यलङ्कारान्तरं ध्वनति तत्र वस्तुमात्रेणालङ्कारो ध्वन्यत इति कियदिदमसंभाव्यमिति तात्पर्येणालङ्कारान्तरशब्दो वृत्तिकृता प्रयुक्तो न तु प्रकृतोपयोगी, न ह्यलङ्कारेणालङ्कारो ध्वन्यत इति प्रकृतमदः, अर्थशक्त्युद्भवे ध्वनौ वस्त्विवालङ्कारोऽपि व्यङ्ग्य इत्येतावतः प्रकृतत्वात्।

यहाँ पर उपमा और रूपक ध्वनित होते हैं। अतिशयोक्ति का तो प्रायः सभी अलंकारों में ध्वनन होता है। 'अलंकारन्तरस्य इति।' जहाँ अलंकार भी दूसरे अलंकार को ध्वनित करता है वहाँ वस्तुमात्र से अलंकार ध्वनित होता है यह कितना असम्भव है ! इस अभिप्राय से वृत्तिकार ने अलंकारान्तर शब्द का प्रयोग किया है, वह प्रकृत में उपयोगी नहीं है। अलंकार से अलंकार ध्वनित होता है यह प्रकृत नही है। क्योंकि प्रकृत इतना ही है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि में वस्तु के समान अलंकार भी ध्वनित होता है।

तारावती

लिये ससन्देहालङ्कार जहाँ पर वाच्य होता है वहाँ पर उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति व्यङ्गय बतलाई गई हैं। उद्भट ने ससन्देह अलङ्कार का लक्षण इस प्रकार किया है—'जहाँ पर वर्णन करनेवाले व्यक्ति के वचन प्रशंसापरक होने के कारण सन्देह से युक्त हों और उपमान के साथ भेद भी हो और अभेद भी, उसे ससन्देह अलङ्कार कहते हैं।' जैसे 'यह उसका हाथ है या कि पल्लव-जिससे मानों वायु के कारण पत्ररूपी उँगलियाँ नाच रही हैं।' यहाँ पर ससन्देहालङ्कार वाच्य है और 'हाथ पल्लव के समान है' यह उपमा तथा 'हाथ पल्लव ही है' यह रूपक में दोनों अलंकार व्यङ्गय हैं। अतिशयोक्ति तो प्रायः सभी अलंकारों में व्यङ्गय होती है यह बात आगे चलकर तृतीय उद्योत में सिद्ध की जावेगी। अतएव इस बात के सिद्ध करने में अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा कि दूसरा अलंकार दूसरे अलंकार में व्यङ्गय होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अर्थशक्ति से व्यक्त होनेवाले अलंकारों का क्षेत्र या तो बहुत कम है या बिल्कुल नहीं है।

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि अलंकार-व्यञ्जना दो रूपों में होती है—वस्तु से अलंकार व्यञ्जना और अलंकार से अलंकार-व्यञ्जना। आलोककारने एक अलंकार से दूसरे अलंकार की व्यञ्जना की जो बात कही है उसका आशय यह नहीं है कि अलंकार का व्यञ्जक केवल अलंकार ही होता है। उसका आशय यही है कि जब एक अलंकार भी दूसरे अलंकार को व्यक्त कर सकता है तो वस्तु से अलकारध्वनि को कोई भी असम्भव नहीं मान सकता। वस्तु से अलंकार-

लोचन

तथा चोपसंहारग्रन्थे 'तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः' इत्यत्र श्लोके वृत्तिकृत् 'ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां' इत्युपक्रम्य 'तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्' इति वक्ष्यति। अन्तरशब्दो वोभयत्रापि विशेषपर्यायः, वैषयिकी सप्तमी न तु प्राग्व्याख्यायामियं निमित्तसप्तमी। तदयमर्थः—वाच्यालङ्कारविशेषविषये व्यङ्ग्यालङ्कारविशेषो भातीत्युद्भटादिभिरुक्तमेवेत्यर्थशक्त्यालङ्कारो व्यज्यत इति तैरुपगतमेव। केवलं तेऽलङ्कारलक्षणकारत्वाद्वाच्यालङ्कारविशेषविषयत्वेनाहुरिति भावः॥ २६॥

अतएव उपसंहार ग्रन्थ में 'वे अलंकार ध्वनि की अङ्गता को प्राप्त होकर परा छाया को प्राप्त होते हैं' इस कारिका पर वृत्तिकार 'ध्वन्यङ्गता दोनों प्रकारों से होती है' यह उपक्रम करके 'उसमें इस प्रकरण में 'व्यङ्ग्यत्व के रूप मे यह समझना चाहिये।' यह कहेंगे। अथवा अन्तर शब्द उभय विशेष का पर्यायवाचक है; विषय में सप्तमी अर्थ होता है—वाच्यालङ्कार विशेष के विषय में व्यङ्ग्य अलङ्कार विशेष शोभित होता है। यह उद्भट इत्यादि ने कहा ही है। इस प्रकार अर्थशक्ति से अलङ्कार से अलङ्कार व्यक्त होता है यह उन्होंने स्वीकृत ही कर लिया। केवल वे अलङ्कार-लक्षणकार होने के कारण वाच्यालङ्कार विशेष के विषय मे ही कहते हैं यह भाव है॥

तारावती

ध्वनि तो एक साधारण सी बात रह जाती है। यहाँ पर यह बात सर्वथा ध्यान रखनी चाहिये कि प्रकरण यहाँ पर अलंकार के व्यङ्ग्य होने का ही है व्यञ्जक होने का नहीं। यहाँपर ग्रन्थकार को केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि वस्तु के समान अलङ्कार भी व्यङ्ग्य हो जाते हैं। (ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के इस प्रतिपादन को देखकर कि एक अलङ्कार दूसरे का व्यञ्जक होता है कोई भी व्यक्ति इस भ्रम में पड़ सकता है कि ये आचार्य वस्तु से अलङ्कार-ध्वनि नहीं मानते अपितु अलङ्कार से ही अलङ्कार-ध्वनि मानते हैं। इसी भ्रम का निवारण करने के मन्तव्य से लोचनकार ने लिखा है कि प्रस्तुत प्रकरण का मन्तव्य अलङ्कार की व्यञ्जकता का निरूपण करना नहीं है अपितु उसकी व्यङ्ग्यता का निरूपण करना है।) इसी अभिप्राय से अलङ्कार शब्द का प्रयोग वृत्तिकार ने किया है। प्रकृत में इसका उपयोग नहीं अर्थात् यह नहीं समझा जाना चाहिये कि अलङ्कार ही अलङ्कार के व्यञ्जक होते हैं। यह बात प्राकरणिक नहीं है कि एक अलङ्कार दूसरे अलङ्कार के द्वारा ध्वनित किया जाता है। क्योंकि यहाँ पर प्रकृत अर्थ इतना ही है कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में वस्तु के समान अलङ्कार भी व्यङ्ग्य होते हैं। इसमें प्रमाण यही है कि उपसंहार ग्रन्थ में जहाँ पर यह प्रकरण आवेगा कि 'वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनकर एक

ध्वन्यालोकः

इयत्पुनरुच्यत एव—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥ २७ ॥

अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्य-प्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकादावलङ्कारे उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः ।

(अनु०) इतना तो मुझे कहना है—

अलंकारान्तर की प्रतीति में भी जहाँ पर वाच्यार्थ उस व्यङ्ग्य अलंकार परक अवभासित नहीं होता वह ध्वनि का मार्ग नहीं माना जाता ॥ २७ ॥

यदि दूसरे अलंकारों में अनुरणन रूप अलंकार की प्रतीति हो भी रही हो फिर भी जहाँ वाच्यार्थ व्यङ्ग्य प्रतिपादन की ओर उन्मुख होकर चारुता को प्रकाशित न करे वह ध्वनि का मार्ग नहीं होता । जैसा कि दीपक इत्यादि अलंकारों में उपमा के प्रतीयमान होते हुये भी चारुता की व्यवस्था उपमापरक नहीं होती अतः उसे ध्वनि नहीं कहते ।

लोचन

ननु पूर्वैरेव यदीदमुक्तं किमर्थं तत्र यत्न इत्याशङ्क्याह—इयदिति । अस्माभिरितिवाक्यशेषः । पुनः शब्दस्तदुक्ताद्विशेषद्योतकः ।

यहाँ पर यह शङ्का करके कि 'जब पहले के लोगों ने ही यह कह दिया तब तुम्हारा यह यत्न किस लिये है ?' कहते हैं—'इतना' यह । इसमे 'हमलोगों के द्वारा' यह वाक्य का शेष है । पुनः शब्द उस कहे हुये से विशेषता को बतलानेवाला है ।

तारावती

बहुत बड़ी छाया को धारण करते हैं' इस श्लोक की व्याख्या करने के अवसर पर उपक्रम में लिखेंगे कि 'दोनों प्रकारों से अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनते हैं। व्यञ्जक होकर भी और व्यग्य होकर भी।' यह लिखकर फिर लिखा है 'यहाँ पर अलङ्कारों की ध्वन्यङ्गता व्यङ्ग्य के रूप में ही मानी जानी चाहिये क्योंकि यहाँपर प्रकरण व्यङ्ग्य का ही है।' इससे सिद्ध होता है कि यहाँ पर अलङ्कार की व्यञ्जकता मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है किन्तु अलङ्कार व्यङ्ग्य हो सकते हैं इस बात को सिद्ध करने के लिये यह दिखला दिया है कि एक अलङ्कार से दूसरा अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है । अथवा इस बात को हम दूसरी भाँति भी सिद्ध कर सकते हैं—अलङ्कारान्तरस्य अलङ्कारान्तरे

ध्वन्यालोकः

यथा—

चन्दमयूएहिं णिसा णलिनी कमलेहिं कुसुमगुच्छेहिं लआ।
हंसेहिं सरअसोहा कव्वकहा सज्जनाह करइ गरुई॥
(चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियत गुर्वी॥ इति छाया।)

इत्यादिपूपमागर्भत्वे सति वाच्यालङ्कारसुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यङ्गयालङ्कारतात्पर्येण। तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः।

(अनु०) जैसे—

'चन्द्र किरणों से निशा, कमलों से नलिनी, पुष्प गुच्छों से लता, हंसों से शरत्कालीन शोभा और सज्जनों से काव्यकथा गुरु बनाई जाती है।'

इत्यादि उदाहरणों में उपमागर्भित होने पर भी वाच्यालंकार के द्वारा ही चारुता व्यवस्थित होती है व्यङ्गयालंकार के तात्पर्य से नहीं। अतएव वहाँ पर वाच्यालंकार के द्वारा काव्य का नामकरण न्याय्य है।

तारावती

व्यङ्गयम्' इस वाक्य का अर्थ करने मे 'अलङ्कारान्तरे' इस शब्द के अन्तर शब्द का अर्थ किया गया था 'दूसरा' और सप्तमी का अर्थ किया गया था 'निमित्त'। इस प्रकार यह अर्थ हो गया था कि अन्य अलङ्कार की व्यञ्जना में दूसरा अलङ्कार निमित्त होता है। अब 'अन्तर' शब्द का दोनों स्थानों पर 'विशेष' अर्थ कर लिया जावे और सप्तमी को पहले के समान निमित्त सप्तमी न मानकर विषय सप्तमी मान लिया जावे। अब इसका अर्थ हो जावेगा एक विशेष वाच्यालङ्कार के विषय मे एक विशेष प्रकार का व्यङ्गयालङ्कार शोभित हुआ करता है यह उद्भट इत्यादि ने कहा है, अतएव उन्होंने यह स्वीकार ही कर लिया कि अर्थशक्ति से अलकार उपगत होता है (अर्थशक्ति में वस्तु तथा अलङ्कार दोनों आ जाते हैं।) किन्तु उद्भट इत्यादि केवल अलङ्कारों का लक्षण करनेवाले थे अतः उन्होंने वाच्यालङ्कार विशेष के विषय में व्यङ्गयालङ्कारों का प्रतिपादन किया। यही अर्थ करना ठीक है।

(प्रश्न) जब पुराने आचार्यों ने इस बात को स्वीकार ही कर लिया फिर आप व्यर्थ मे पिष्ट-पेषण क्यों कर रहे हैं? (उत्तर) इस विषय मे मुझे फिर इतना और कहना है—फिर का अर्थ है जितना कहा चुका है उसके अतिरिक्त 'जहाँ पर वाच्यालङ्कार से भिन्न व्यङ्गय अलङ्कार की प्रतीति तो हो रही हो किन्तु वहाँ पर वाच्यालङ्कार व्यङ्गयालङ्कारपरक न हो वह ध्वनि का मार्ग नहीं माना जाता।'

लोचन

चन्द्रमऊ इति। चन्द्रमयूखादीनां न निशादिना विना कोऽपि परभागलाभः। सज्जनानामपि काव्यकथां विना कीदृशी साधुजनता। चन्द्रमयूखैश्च निशायाः गुरुकीकरणं भास्वरत्वसेव्यत्वादि यत्क्रियते, कमलैर्नलिन्याः शोभापरिमललक्ष्म्यादि, कुसुमगुच्छैर्लतायाः अभिगम्यत्वमनोहरत्वादि, तत्सर्वं काव्यकथायाः सज्जनैरित्येतावानयमर्थो गुरुः क्रियत इति दीपकवलाच्चकास्ति। कथाशब्द इदमाह—आसतां तावत्काव्यस्य केचन सूक्ष्मा विशेषाः, सज्जनैर्विना काव्यमित्येष शब्दोऽपि न ध्वंसते। तेषु तु सत्स्वास्ते सुभगं काव्यशब्दव्यपदेशभागपि शब्दसन्दर्भमात्रम्। तथा तैः क्रियते यथादरणीयतां प्रतिपद्यत इति दीपकस्यैव प्राधान्येनोपमायाः।

'चन्द्रमऊ' इति। चन्द्रमयूख इत्यादि का निशा इत्यादि के बिना कोई भी परम सौभाग्य प्राप्त नहीं होता सज्जनों की भी काव्यकथा के विना कैसी सज्जनता? भास्वरत्व और सेव्यत्व इत्यादि जो किया जाता है उससे चन्द्रकिरणों से निशा का गुरुत्वसम्पादन, कमलों से नलिनी की शोभा परिमललक्ष्मी इत्यादि। पुष्पगुच्छों से लता का अभिगम्यत्व मनोहरत्व इत्यादि हंसों से शरत्काल की शोभा का श्रुतिसुखकरत्व और मनोहरत्व इत्यादि वह सब काव्यकथा से सज्जनों के द्वारा गुरु किया जाता है इतना यह अर्थ दीपक के बलपर प्रकाशित होता है। कथा शब्द यह बतलाता है—काव्य की कुछ सूक्ष्म विशेषतायें बनी रहें, सज्जनों के विना तो 'काव्य' यह शब्द ही ध्वस्त हो जाता है। उनके होते हुये तो काव्य शब्द का नाम धारण करनेवाला शब्दसन्दर्भ मात्र भी सुभग बन जाता है। उनके द्वारा ऐसा किया जाता है जिससे आदरणीयता को प्राप्त हो जाता है इस प्रकार दीपक का ही प्राधान्य है उपमा का नहीं।

तारावती

ध्वनि वहीं पर होती है जहाँ व्यङ्ग्य की प्रधानता हो और वाच्य अर्थ व्यङ्ग्य के सौन्दर्य-पोषक के रूप में ही अवस्थित हो। वह ध्वनि का मार्ग नहीं हो सकता जहाँ पर दूसरे अलङ्कारों के होने पर किसी एक अलङ्कार की अनुरणनात्मक व्यञ्जना तो हो किन्तु वाच्यालङ्कार की सुन्दरता व्यङ्ग्य का प्रतिपादन करने के ही कारण न प्रतीत हो रही हो। उदाहरण के लिये दीपक इत्यादि अलङ्कारों में उपमा की व्यञ्जना तो अवश्य होती है किन्तु काव्यसौन्दर्य की व्यवस्था उस उपमा के ही कारण नहीं। अतएव वहाँ पर उपमा की ध्वनि नहीं कही जा सकती। जैसे—'चन्द्र किरणों से निशा, कमलों से कमलिनी, पुष्प गुच्छों से लता, हंसों से शरत्काल की शोभा और सज्जनों से काव्यकथा गौरवमय बनाई जाती है।'

तारावती

यहाँ पर कर्ता के रूप में चन्द्रमयूख इत्यादि अप्रस्तुतों और प्रस्तुत सज्जनों तथा कर्म के रूप में अप्रस्तुत निशा इत्यादिकों और प्रस्तुत काव्यकथा का 'गौरवशाली बनाना' रूप एकधर्म में अभिसम्बन्ध होने के कारण दीपक अलङ्कार वाच्य है और उससे 'सज्जन चन्द्रमयूख इत्यादि के समान हैं और काव्यकथा निशा इत्यादि के समान है' इस उपमा की व्यञ्जना होती है। यहाँ काव्यसौन्दर्य की व्यवस्था वाच्यालङ्कार दीपक के ही कारण होती है व्यङ्ग्यालङ्कार उपमा के कारण नहीं। इसको इस प्रकार समझिये—चन्द्रकिरणों के द्वारा तो निशा की शोभा होती है, चन्द्रकिरणों को भी विना रात्रि के कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। यही बात कमल और कमलिनी इत्यादि के विषय में कहीं जा सकती है। यह तो हुई उपमान अंश की बात। उपमेय अंश के विषय में भी यही कहा जा सकता है। सज्जनों से काव्यकथा की शोभा बढ़ती है। किन्तु सज्जन भी विना काव्यकथा के सज्जन कैसे हो सकते हैं? अतएव उपमापरक यहाँ पर वाच्य नहीं है और न उपमा के द्वारा काव्य-सौन्दर्य व्यवस्थित ही होता है। अब दीपक को ले लीजिये जो कि वाच्यालङ्कार है—चन्द्रकिरणों के द्वारा रात्रि में गुरुता उत्पन्न की जाती है क्योंकि चन्द्रकिरणों के द्वारा रात्रि को प्रकाशमान तथा सेवन करने योग्य बनाया जाता है। इसी प्रकार शोभा और सुगन्धि प्रदान करने के कारण कमल कमलिनी को गौरव प्रदान करते हैं, पुष्पगुच्छों से लताओं का गौरव बढ़ जाता है क्योंकि उनसे लताओं में मनोहरता आ जाती है और वे निकट जाने का आकर्षण उत्पन्न करनेवाली बन जाती हैं। हंस शरत्काल की शोभा बढ़ाते हैं क्योंकि उनके स्वर से कानों को तृप्ति प्राप्त होती है और मनोहरता बढ़ जाती है। ये समस्त गुण सज्जन की उपस्थिति से काव्यकथा में उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त गुणों का समन्वय दीपक के द्वारा ही प्रकट होता है उपमाद्वारा नहीं। सज्जनों से केवल काव्य की शोभा नहीं बढ़ती किन्तु कथा की शोभा बढ़ती है। कथा का अर्थ है 'कथन करना'। कथा शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि सज्जनों की अनुपस्थिति मे काव्य का कथन करना (नामलेना) भी ध्वस्त हो जाता है। भले ही किसी काव्य में ध्वनि इत्यादि महत्त्वपूर्ण गुण बने हैं किन्तु सज्जनों के अभाव में उन्हें कोई नहीं पूछता। सज्जनों की उपस्थिति मे समस्त काव्य सन्दर्भ काव्य-कथन (काव्य का नाम) प्राप्त कर लेता है। सज्जन काव्य को ऐसा बना देते हैं जिससे वह आदर का पात्र बन जाता है। इस प्रकार यहाँ पर वाच्यालङ्कार दीपक की ही प्रधानता है अतएव उसी के द्वारा काव्यसंज्ञा प्रदान करना उचित है। ऐसे स्थानों पर व्यङ्ग्य अलङ्कारों के होते हुये भी ध्वनि काव्य नहीं कहा जाता।

ध्वन्यालोकः

यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः। यथा—

प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव संभावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातः
त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः॥

(अनु०) किन्तु जहाँ पर वाच्य की अवस्थिति व्यङ्ग्यपरक के रूप में ही होती है वहाँ पर व्यङ्ग्य के द्वारा ही नामकरण उचित होता है। जैसे—

"इनको तो लक्ष्मी प्राप्त हो गई है फिर क्यों ये पुनः मन्थन का कष्ट उठावेंगे? आलस्य रहित मनवाले इनको पूर्व परिचित निद्रा की भी मैं सम्भावना नहीं करता हूँ। समस्त द्वीपों के स्वामियों के द्वारा अनुगमन किये हुये ये पुनः सेतु क्यों बाँधेंगे?, तुम्हारे निकट आने पर समुद्र का कम्पन इन विकल्पों को करता हुआ सा प्रतीत होता है।"

लोचन

एवं तु कारिकार्थमुदाहरणेन प्रदर्श्यास्या एव कारिकायांव्यवच्छेद्यबलेन योऽर्थोऽभिमतो यत्र तत्परत्वं स ध्वनेर्मार्ग इत्येवं रूपस्तं व्याचष्टे—यत्र त्विति। तत्र च वाच्यालङ्कारेण कदाचिद्व्यङ्ग्यमलङ्कारान्तरं, यदि वा वाच्यालङ्कारस्य सद्भावमात्रं न व्यञ्जकता, वाच्यालङ्कारस्याभाव एव वेति त्रिधा विकल्पः। एतच्च यथायोगमुदाहरणेषु योज्यम्। उदाहरति—प्राप्तेति। कस्मिंश्चिदनन्तबलसमुदायवति नरपतौ समुद्रपरिसरवर्तिनि पूर्णचन्द्रोदयतदीयबलावगाहनादिना निमित्तेन पयोधेस्तावत्कम्पो जातः। सोऽनेन सन्देहेनोत्प्रेक्ष्यते इति स सन्देहोत्प्रेक्षयोः सङ्करात्सङ्करालङ्कारो वाच्यः। तेन च

इस प्रकार उदाहरण के द्वारा कारिका के अर्थ को दिखलाकर इसी कारिका के व्यवच्छेद्य के बलपर जो अर्थ अभिमत है 'जहाँ तत्परत्व हो वह ध्वनि का मार्ग होता है' इस रूपवाला, उसकी व्याख्या की जा रही है—'जहाँ तो' इत्यादि। वहाँ पर कभी वाच्यालङ्कार से व्यङ्ग्य अलङ्कारान्तर, अथवा वाच्यालङ्कार की सत्तामात्र व्यञ्जना नहीं अर्थात् वाच्यालङ्कार का अभाव ही ये तीन प्रकार के विकल्प हैं। यह तो यथायोग उदाहरणों में मिला लेना चाहिये उदाहरण देते हैं—'प्राप्त' इति। किसी अनन्तबलसमुदायवाले राजा के समुद्र परिसर के निकटवर्ती होने पर पूर्णचन्द्रोदय तथा उसकी सेना के अवगाहन इत्यादि के द्वारा समुद्र का कम्पन उत्पन्न हो गया। उसकी इस सन्देह के द्वारा उत्प्रेक्षा की गई है इस प्रकार सन्देह और उत्प्रेक्षा के सङ्कर से सङ्करालङ्कार वाच्य है। उसे उसस राजा की वासुदेव-

लोचन

वासुदेवरूपता तस्य नृपतेर्ध्वन्यते। यद्यपि चात्र व्यतिरेको भाति तथापि स पूर्ववासुदेवस्वरूपात् नाद्यतनात्। अद्यतनत्वे भगवतोऽपि प्राप्तश्रीकत्वेनानालस्येन सकलद्वीपाधिपतिविजयित्वेन च वर्तमानत्वात्।

रूपता ध्वनित होती है। यद्यपि यहाँ पर व्यतिरेकालङ्कार शोभित होता है तथापि वह पहले के वासुदेवस्वरूप से है आजकल के नहीं। क्योंकि आजकल के तो वासुदेव के भी लक्ष्मी को प्राप्त किये हुये होने के कारण तथा समस्तद्वीपाधिपतियों के रूप में वर्तमान होने से (व्यतिरेक नहीं हो सकता)।

तारावती

प्रस्तुत कारिका का अर्थ यह है कि जहाँ पर व्यङ्ग्यालङ्कार की प्रधानता नहीं होती वहाँ ध्वनि काव्य नहीं होता। इस प्रकार ध्वनि-निरूपण के प्रकरण में यह कारिका ध्वनि के अभाव का निर्देश करती है। यहाँ तक कारिका के अभावपरक अर्थ की उदाहरण के द्वारा व्याख्या की जा चुकी। इस कारिका में जो ध्वनि सिद्धान्त का व्यवच्छेद्य दिखलाया गया है उसके बलपर ध्वनि के लिये जो अभिमत विषय होता है उसका निष्कर्ष यह निकलता है कि जहाँ पर वाच्यालङ्कार व्यङ्ग्यालङ्कार के आधीन हो वहाँ पर ध्वनि काव्य कहा जाता है। अब इसी सिद्धान्त की उदाहरणों के द्वारा व्याख्या की जावेगी। व्यङ्ग्यालङ्कार की प्रधानता होने पर वाच्यालङ्कार की स्थिति के विषय में तीन विकल्प हो सकते हैं—(१) वाच्यालङ्कार के द्वारा कभी-कभी दूसरा व्यङ्ग्य अलङ्कार प्रतीतिगोचर होता है, (२) अथवा वाच्यालङ्कार की केवल सत्ता तो होती है किन्तु वह अभिव्यञ्जना की केवल सत्ता तो होती है वह किन्तु वह अभिव्यञ्जना की क्रिया मे सहायक नहीं होता, अथवा (३) वहाँ पर वाच्यालङ्कार होता ही नहीं। इन तीनों विकल्पों की यथास्थान उदाहरणों मे योजना कर लेनी चाहिये। अब उदाहरण के लिये रूपक ध्वनि को लीजिये—

कोई चारण कह रहा है—'हे राजन् आपके निकट आने पर जो कि समुद्र काँपने लगता है उससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों वह सङ्कल्प-विकल्प करने लगता है कि इन्हें तो लक्ष्मी प्राप्त हो गई है फिर ये मथने का कष्ट क्यों करेंगे? अब इनके मन में आलस्य भी नहीं है अतः मैं इनकी पहलेवाली निद्रा की भी सम्भावना नहीं कर सकता। जब समस्त द्वीपों के स्वामी इनके पीछे चलते है तब ये दुबारा सेतु क्यों बाँधेंगे?' मानों यही सङ्कल्प-विकल्प समुद्र के मन मे उठते हैं।'

सेना के एक विशाल समुदाय को लेकर जब राजा समुद्र तट पर आया उस

लोचन

न च सन्देहोत्प्रेक्षानुपपत्तिवलाद्रूपकस्याक्षेपः, येन वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्वं व्यङ्ग्यस्य भवेत्। यो योऽसम्प्राप्तलक्ष्मीको निर्व्याजविजिगीषाक्रान्तः स मां मथ्नीयादित्याद्यर्थसम्भावनात्। न च पुनरपीति पूर्वामिति भूय इति च शब्दैरयमाकृष्टोऽर्थः। पुनरर्थस्य भूयोऽर्थस्य च कर्तृभेदेऽपि समुद्रैक्यमात्रेणाप्युपपत्तेः। यथा पृथ्वी पूर्वं कार्तवीर्येण जिता पुनरपि जामदग्न्येनेति। पूर्वा निद्रा च सिद्धा राजपुत्राद्यवस्थायामपीति सिद्धं रूपकध्वनिरेवायमिति। शब्दव्यापारं विनैवार्थसौन्दर्यबलाद्रूपणाप्रतिपत्तेः।

सन्देह और उत्प्रेक्षा की अनुपपत्ति के बल पर रूपक का आक्षेप नहीं होता जिससे व्यङ्ग्य का वाच्यालङ्कारोपस्कारकत्व हो। क्योंकि (यहाँपर) इस अर्थ की सम्भावना की जा सकती है कि जो जो लक्ष्मी को प्राप्त किये हुये नहीं होता अथवा विना बहाने विजय की इच्छा से आक्रान्त होता है वह मुझे मथ सकता है। यह भी नहीं (कहा जा सकता है) कि 'पुनरपि' 'पूर्वाम्' और 'भूयः' इन शब्दों से यह अर्थ आकृष्ट कर लिया जाता है। क्योंकि कर्ता के भेद में भी 'पुनः' अर्थ की और 'भूयः' अर्थ की समुद्र की एकतामात्र से ही उत्पत्ति हो जाती है जैसे पृथ्वी पहले कार्तवीर्य के द्वारा जीती गई फिर जमदग्निपुत्र परशुराम के द्वारा। (और पहले की निद्रा राजपुत्र इत्यादि अवस्था मे भी हो सकती है) अतः सिद्ध हो जाता है कि यह रूपकध्वनि ही है क्योंकि शब्दसौन्दर्य के विना ही अर्थ-सौन्दर्य के बलपर ही आरोप की प्रतिपत्ति नहीं होती।

तारावती

समय पूर्ण चन्द्रोदय के प्रभाव से अथवा सैनिकों के समुद्रजलावगाहन के कारण समुद्र मे ज्वार भाटे आने लगे। उनको देखकर कोई कवि कल्पना कर रहा है कि ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों समुद्र यह समझकर भयभीत हो जाता है और काँपने लगता है कि क्या यह लक्ष्मी के निमित्त मुझे मथन के लिये आया है? किन्तु लक्ष्मी तो इन्हें पहले ही प्राप्त हो चुकीं, फिर से मथने का कष्ट ये क्यों उठावेंगे? न इन्हें आलस्य ही मालूम पड़ रहा है जो ये सोने के लिये आये हों। न इनका कोई शत्रु ही है जो कि उस पर आक्रमण करने के लिये इन्हें सेतुबन्धन की आवश्यकता पड़ी हो। यह सन्देह वाच्य है क्योंकि कवि ने स्वयं कहा है कि समुद्र सङ्कल्प-विकल्प मे पड़ जाता है। 'मानों वह सङ्कल्प-विकल्प मे पड़ जाता है' यह उत्प्रेक्षा है जो कि पूर्वोक्त सन्देह के द्वारा पुष्ट हो जाती है। इस प्रकार सन्देह और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभावसङ्कर वाच्य है। इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि 'प्रस्तुत राजा विष्णुरूप है।' यही वास्तव में कवि का प्रतिपाद्य है और उसके लिये वह उपर्युक्त सन्देह और उत्प्रेक्षा का अभिधान करता है। वाच्यालङ्कार व्यङ्ग्यपरक है, इसलिये यहाँ पर रूपकध्वनि है।

तारावती

(प्रश्न) यहाँ व्यतिरेक की भी तो अभिव्यक्ति होती है, विष्णु को लक्ष्मी प्राप्त नहीं हुई थीं प्रस्तुत राजा को प्राप्त हो गई हैं। विष्णु को आलस्य था प्रस्तुत राजा को नहीं है, विष्णु का शत्रु रावण लङ्का मे रहता था, प्रस्तुत राजा का कोई शत्रु नहीं है प्रत्युत सभी द्वीपाधिपति इनके पीछे चलते है। अतएव विष्णु की अपेक्षा ये अधिक महान् हैं। इस प्रकार व्यतिरेक के अभिव्यक्त होने के कारण व्यतिरेक-ध्वनि ही होनी चाहिये रूपक-ध्वनि किस प्रकार हो सकती है ? (कुन्तक ने तृतीय उन्मेष में इसे प्रतीयमान व्यतिरेक माना है। संभवतः यह प्रश्न कुन्तक की मान्यता को पूर्वपक्ष बनाने के लिये ही हो।) (उत्तर) यद्यपि यहाँ पर व्यतिरेक प्रतीत होता है तथापि वह पुराने विष्णु के स्वरूप से ही व्यतिरेक कहा जा सकता है वर्तमान विष्णु के स्वरूप से नहीं। अब तो विष्णु को भी लक्ष्मी प्राप्त हो चुकी हैं, आलस्य भी दूर हो चुका है और रावण इत्यादि द्वीपाधिपतियों पर विजय भी प्राप्त हो चुकी है। अतः वर्तमान विष्णु के साथ तो प्रस्तुत राजा का अभेद ही हो सकता है। अतएव इसे रूपक-ध्वनि मानना ही उचित है।

(प्रश्न) यहाँ पर रूपक सन्देह और उत्प्रेक्षा का पोषक अथवा साधकमात्र है। अतएव रूपक की प्रधानता नहीं हो सकती। जबतक राजा पर विष्णु के अभेद का आरोप न कर दिया जावे तब तक न समुद्र के विकल्प ही सङ्गत हो सकते हैं जो कि सन्देहालङ्कार में बीज हैं और न समुद्र के कम्पन के हेतु की कल्पना ही ठीक हो सकती है जिससे उत्प्रेक्षा सिद्ध हो सके। इस प्रकार रूपक जब कि वाच्यालङ्कारों का उपस्कारक मात्र है तब रूपकध्वनि किस प्रकार कही जा सकती है ? (उत्तर) 'यह विष्णु है' यही जानकर समुद्र मे वितर्क और कम्पन की उत्पत्ति नहीं हो सकती किन्तु यह जान करके भी हो सकती है कि जिस किसी को लक्ष्मी की कामना होगी वही मुझे मथेगा, जिस किसी को आलस्य का अनुभव होता है वह मुझे शय्या बनाने की चेष्टा करता है, जिसको शत्रुओं पर बिना किसी बहाने विजय प्राप्त करने की कामना होती है वही सेतु बाँधना चाहता है, विष्णु भगवान् को भी इन चीजों की आवश्यकता थी अतः वे भी मेरे निकट आये थे और ज्ञात होता है इन महाराज को भी इन्हीं वस्तुओं की कामना है अतः ये भी मेरे निकट आ रहे हैं। इस कल्पना से भी वितर्क और भय उत्पन्न हो सकते है। अतः 'ये विष्णु है' यह बात सर्वथा व्यङ्ग्य ही है जो कि समुद्र के वितर्क और भय से पुष्ट होती है। अतएव यहाँ पर रूपक की ध्वनि ही कही जावेगी वाच्य-सिद्धयङ्ग गुणीभूत नहीं। (प्रश्न) ये पुनः मथने का कष्ट क्यों करेंगे ? में 'पुनः' शब्द यह प्रकट करता है कि ये विष्णु है जो एक बार तो मथ चुके थे अब दूसरी

लोचन

यथा च—

ज्योत्स्नापूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन् सरय्वा
वादद्यूतं सुचिरमभवत्सिद्धयूनोः कयोश्चित् ॥
एकोऽवादीत्प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यो
मत्वा तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम् ॥

इति केचिदुदाहरणमत्र पठन्ति, तदसत्; भवतेत्यनेन शब्दबलेन वासुदेव इत्यर्थस्य स्फुटीकृतत्वात् ।

और जैसे —

'ज्योत्स्ना-पूरके प्रवाह से धवल सरयू के इस तटपर किन्हीं दो सिद्ध युवकों का बड़ी देर तक विवादरूपी द्यूत होता रहा—एक केशी को प्रथम मारा हुआ कहता था दूसरा कंस को, तत्त्व को समझकर बतलाइये कि आपने किसको पहले मारा ?'

इसको कुछ लोग यहाँ पर उदाहरण के रूप मे पढ़ते है, वह ठीक नहीं है । 'आप के द्वारा' इस शब्द के वलपर यहाँ पर तुम वासुदेव हो यह अर्थ स्फुट कर दिया गया है ।

तारावती

बार फिर मथना चाहते है । यही बात 'पहलेवाली' निद्रा और 'दुबारा सेतु-बन्धन क्यो करेंगे ?' मे पहलेवाली और दुबारा शब्द से भी सिद्ध होती है । इस प्रकार विष्णुरूपता वाच्य है व्यङ्ग्य नहीं हो सकती फिर यहाँ पर रूपकध्वनि किस प्रकार कही जा सकती है ? (उत्तर) मथनेवाले, सोनेवाले और सेतु बाँधनेवाले में भेद होने पर भी समुद्र तो एक ही है, वह यह सोच सकता है कि पहले मैं विष्णु के द्वारा मथा गया था अब की बार पुनः इन राजा के द्वारा मथा जाऊँगा । पहले मुझे विष्णु ने शय्या बनाया था अब की बार इनके द्वारा बनाया जाऊँगा, पहले मुझे विष्णु ने बाँधा था अब की बार इनके द्वारा बाँधा जाऊँगा । भेद मे भी 'पुनः' 'भूयः' इत्यादि शब्द देखे जाते है जैसे पहले पृथ्वी कार्तवीर्य के द्वारा जीती गई पुनः परशुराम के द्वारा । राजपुत्र इत्यादि की अवस्था मे भी नीद का पुरानापन सिद्ध हो सकता है । अर्थात् जब ये महाराज राजपुत्र की अवस्था मे थे तब बडे आराम से सोते थे इन्हे कोई चिन्ता ही नहीं थी । अब जब से ये महाराज पद पर प्रतिष्ठित हो गये है तब से इनका आलस्य जाता रहा । अतएव यहाँ पर बिना ही शब्दव्यापार के केवल अर्थ के बलपर राजा पर विष्णु के अभेद का आरोप हो जाता है । अतः यह रूपकध्वनि ही है । (पण्डितराज ने यहाँ पर भ्रान्तिमान्

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः॥

(अनु०) अथवा मेरा ही पद्य—

'हे तरल और आयत नेत्रोंवाली ! तुम्हारे इस मुख के लावण्य और कान्ति से दिशाओं के मुख को भर देने पर तथा मुस्कुराहट के होने पर इस समय जो कि यह समुद्र कुछ भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हो रहा है अतः मैं समझता हूँ कि स्पष्ट ही जलराशि है।'

तारावती

की ध्वनि मानी है। उनका कहना है कि समुद्र को भय या वितर्क तभी उत्पन्न हो सकता है जब कि समुद्र राजा को विष्णु ही समझ जावे। यदि आरोपमात्र माना जावेगा तो समुद्र को भय उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः यह भ्रान्तिमान् ध्वनि ही है रूपकध्वनि नहीं। किन्तु रूपक में भेद का सर्वथा स्थगन न हो जाता हो ऐसी बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि भ्रान्ति समुद्र को हो सकती है किन्तु चारण को भ्रान्ति नहीं है, यहाँ पर राजा और विष्णु में भेद का स्थगन चारण ने ही किया है। वही वक्ता है। अतः यहाँ पर रूपकध्वनि मानना ही ठीक है। यहाँ पर वाच्यालङ्कार सन्देह और उत्प्रेक्षा का सङ्कर व्यङ्ग्यअलङ्कार रूपक की प्रतीति में सहायक हो रहा है।)

कुछ पुस्तकों में रूपकध्वनि के रूप में निम्नलिखित एक उदाहरण और पाया जाता है—'चन्द्रिका-प्रवाह के विस्तार के कारण श्वेतिमा को प्राप्त हुये समुद्र के इस तट पर किन्हीं दो सिद्ध युवकों में बड़ी देरतक विवाद होता रहा। उनमें एक कहता था कि केशी पहले मारा गया और दूसरा कहता था कि पहले कंस-मारा गया। आप,समझकर तत्त्व की बात बतलाइये कि आपने पहले किसको मारा ?'

यह उदाहरण प्रक्षिप्त है। यह ध्वनि का उदाहरण हो ही नहीं सकता। क्योंकि 'आपने पहले किसको मारा' इस वाक्य से यह बात उक्त हो जाती है कि आप विष्णु हैं। अतः यह रूपक वाच्य ही है व्यङ्ग्य नहीं।

रूपकध्वनि का दूसरा उदाहरण जैसे आनन्दवर्धन का पद्य 'हे तरल और आयत (प्रसन्नता के कारण चञ्चल और विशाल) नेत्रोंवाली ! इस समय जबकि

ध्वन्यालोकः

इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद्रूपकध्वनि-रितिव्यपदेशो न्याय्यः।

उपमाध्वनिर्यथा—

वीराणं रमइ घुसिणरूणम्मि ण तहा पिआथणुच्छङ्गे।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे॥

(अनु०) इस प्रकार के विषय में अनुरणन रूपक का आश्रय लेने से ही काव्य के चारुत्व की व्यवस्था होती है। अतः इसको रूपक-ध्वनि कहना ही ठीक है।

उपमाध्वनि का उदाहरण जैसे—

'केसर से अरुण प्रियतमा के स्तनोत्सङ्ग में वीरों की दृष्टि उतनी नहीं रमती जितनी कि शत्रु के हाथियों के घने सिन्दूरवाले कुम्भस्थलों में रमती है।'

लोचन

तुल्ययोजनत्वादुपमाध्वन्युदाहरणयोर्लक्षणं स्वकण्ठेन न योजितम्।

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे॥

तुल्ययोजना के कारण उपमाध्वनि के दोनों उदाहरणों के लक्षण अपने कण्ठ से नहीं कहे हैं।

'वीरों की दृष्टि केसर से अरुण प्रियास्तनों के उत्संग में उतनी नहीं रमती जितनी घने सेंदुरवाले शत्रु के हाथियों के कुम्भस्थल पर रमती है।'

तारावती

अतः जलराशि शब्द का श्लेष व्यञ्जक नहीं है। पहले व्यञ्जक अलङ्कार की तीन अवस्थायें बतलाई गई थीं। प्रथम अवस्था में अलङ्कार स्वयं दूसरे अलङ्कार का व्यञ्जक होता है। इसका उदाहरण पहला पद्य है जिससे सन्देह और उत्प्रेक्षा का सङ्कररूपका व्यञ्जक हो गया है। दूसरी अवस्था के अनुसार अलङ्कार बना तो रहता है किन्तु वह व्यञ्जक नहीं होता। उसका यह उदाहरण है।) यहाँ पर जो अर्थशक्ति के द्वारा व्यक्त होनेवाला अनुरणनरूप रूपक है उसी के सहारे से काव्य की चारुता व्यवस्थित होती है। अतः नामकरण उसी के द्वारा किया जाना चाहिये यही मूल की योजना है।

(२) अब इसके बाद उपमाध्वनि के दो उदाहरण दिये जावेंगे आनन्दवर्धन ने उदाहरण तो दे दिये हैं किन्तु उनकी योजना लक्षण के साथ नहीं की है। इसका कारण यह है कि इनकी योजना रूपक के समान ही की जा सकती है।

लोचन

प्रसाधितप्रियतमाश्वासनपरतया समनन्तरीभूतयुद्धत्वरितमनस्कतया च दोलायमानदृष्टित्वेऽपि युद्धे त्वरातिशय इति व्यतिरेको वाच्यालङ्कारः। तत्र तु येयं ध्वन्यमानोपमा प्रियाकुचकुड्मलाभ्यां सकलजनत्रासकरेष्वपि शात्रवेषु मर्दनोद्यतेषु गजकुम्भस्थलेषु तद्वशेन रतिमाददानामिव बहुमान इति सैव वीरतातिशयचमत्कारं विधत्त इत्युपमायाः प्राधान्यम्।

शृङ्गार की हुई प्रियतमा की आश्वासनपरता और शीघ्र ही होनेवाले युद्ध के विषय मे मन मे त्वरा होने के कारण दृष्टि के दोलायमान होते हुये भी युद्ध मे त्वरा की अतिशयता है इस प्रकार व्यतिरेक वाच्यालंकार है। उसमें तो जो यह प्रियतमा के कुच-कलियों से ध्वन्यमान उपमा है वह सभी जनों के अन्दर त्रास उत्पन्न करनेवाले भी मर्दन में उद्यत शत्रुओं के गजकुम्भस्थलो मे उपमा के कारण रति को ग्रहण करनेवालों के समान बहुत आदर है, इस प्रकार वह (उपमा) ही वीरता के अतिशय के चमत्कार को उत्पन्न करती है अतः उपमा का ही प्राधान्य है।

तारावती

(अ) उपमाध्वनि का प्रथम उदाहरण—

वीरों की दृष्टि केसर के रंग से लालिमा को प्राप्त होनेवाले अपनी प्रियतमा के स्तनमण्डल पर पड़कर उतने आनन्द को प्राप्त नहीं होती जितनी घने सिन्दूर से रंगे हुये शत्रु के हाथियों के मस्तक पर पड़कर आनन्दित होती है।

एक ओर तो प्रियतमा शृङ्गार किये हुये बैठी है, उसके शृङ्गार का सन्तोष करना है। दूसरी ओर मन मे युद्ध के लिये त्वरा उत्पन्न हो रही है, किन्तु फिर भी युद्ध के लिये उत्कण्ठा की अधिकता है। अतएव व्यतिरेक अलङ्कार वाच्य है। इससे इस उपमालङ्कार की व्यञ्जना होती है कि हाथियों के सिन्दूर से रंगे हुये मस्तक प्रियतमा के सिन्दूर लिप्त स्तनों की कलियों के समान है। यहाँ पर काव्य के सौन्दर्य का पर्यवसान उपमा मे ही होता है। यद्यपि शत्रुओं के हाथियो का समूह समस्त व्यक्तियों में त्रास उत्पन्न कर रहा है और वह समस्त जनसमूह का भेदन करने के लिये उद्यत हो रहा है किन्तु फिर भी वीरों को उन हाथियों के मस्तकों का मर्दन करने में इतना अधिक आनन्द आता है जितना किसी साधारण व्यक्ति को अपनी प्रियतमा के कुचकुम्भों के मर्दन में आया करता है। इस प्रकार उपमा के द्वारा वीरों की युद्ध-विषयक रति अभिव्यक्त होती है जो कि वीरता की अधिकता को द्योतित करते हुये चमत्कार उत्पन्न करती है। अतएव उपमा की प्रधानता होने के कारण यह काव्य उपमाध्वनि की ही सीमा मे आता है। आशय यह है कि व्यतिरेक मे उपमा तो व्यङ्ग्य होती ही है, जहाँ पर

ध्वन्यालोकः

यथा वा ममैव विषमवाणलीलायामसुरपराक्रमणे कामदेवस्य—

तं ताण सिरिसहोअर रअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमवाणेन ॥
(तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमवाणेन ॥) इति छाया

(अनु०) अथवा जैसे मेरा ही विषमवाणलीला मे असुर-पराक्रम के अवसर पर कामदेव के विषय मे कहा हुआ पद्य—

'श्री-सहोदर रत्नों के हरण में एकरसवाला उनका वह हृदय, कुसुमवाण के द्वारा प्रियतमाओं के विम्बाधरों में निविष्ट कर दिया गया ।'

लोचन

असुरपराक्रमेण इति। त्रैलोक्यविजयो हि तत्रास्य वर्ण्यते । तेषामसुराणां पातालवासिनां यैः पुनः पुनरिन्द्रपुरावमर्दनादि किं किं न कृतं तद्धृदयमिति यत्तेभ्यस्तेभ्योऽतिदुष्करेभ्योऽप्यकम्पनीयव्यवसायं तच्च । श्रीसहोदराणामत एवानिर्वाच्योत्कर्षाणामित्यर्थः। तेषां रत्नानामासमन्ताद्धरणे एकरसं तत्परं यद् हृदयं तत्कुसुमवाणेन सुकुमारतरोपकरणसम्भारेण प्रियाणां विम्बाधरे निवेशितम् , तदवलोकनपरिचुम्बनदर्शनमात्रकृतकृत्यताभिमानयोगि तेन कामदेवेन कृतम् । तेषां हृदयं यदत्यन्तं विजिगीषाज्वलनजाज्वल्यमानमभूदिति यावत् । अत्रातिशयोक्तिर्वाच्यालङ्कारः । प्रतीयमाना चोपमा । सकलरत्नसारतुल्यो बिम्बाधर इति हि तेषां बहुमानो वास्तव एव । अत एव न रूपकध्वनिः । रूपकस्यारोप्यमाणत्वेनावास्तवत्वात् । तेषामसुराणां

'असुरों के पराक्रम करने मे' यह । वहाँ पर इनके (कामदेव के) त्रैलोक्य विजय का वर्णन किया गया है । उन पातालवासी असुरो का जिन्होंने बार-बार इन्द्रपुरी का अवमर्दन इत्यादि क्या-क्या कार्य नहीं किया, उनके उस हृदय को जोकि भिन्न-भिन्न अत्यन्त दुष्कर कार्यो से भी अकम्पनीय व्यवसायवाला है वह । श्रीसहोदर अर्थात् इसीलिये अनिर्वाच्य उत्कर्षवाले उन रत्नों के सभी ओर से हरण करने मे एकरस तत्परक जो हृदय उसको कुसुमवाण ने सुकुमारतर उपकरणों के सम्भार से प्रियतमाओं के बिम्बाधर में निविष्ट कर दिया, उस कामदेव ने उनके अवलोकन परिचुम्बन और दर्शनमात्र से कृतकृत्यता के अभिमान से युक्त बना दिया । आशय यह है कि जो उसका हृदय विजय की इच्छारूपी अग्नि से अत्यन्त जाज्वल्यमान था । यहाँ पर अतिशयोक्ति वाच्यालङ्कार है । उपमा प्रतीयमान है । समस्त रत्नों के सार के तुल्य बिम्बाधर यह उनका बहुमान वास्तविक ही है । इसीलिये रूपकध्वनि नहीं होती क्योंकि आरोप्यमाण होने के कारण रूपक वास्तविक

लोचन

वस्तुवृत्त्यैव सादृश्यं स्फुरति तदेव च सादृश्यं चमत्कारहेतुः प्राधान्येन।

नहीं है। वस्तुवृत्ति से ही उन असुरों का सादृश्य स्फुरित होता है। वही सादृश्य प्रधानरूप से चमत्कार में हेतु है।

तारावती

व्यतिरेक की अपेक्षा उपमा में चमत्कार की अधिकता होती है वहाँ पर उपमाध्वनि कही जाती है। यहाँ पर हाथियों के लिये प्रियतमाओं के कुचकुम्भों से उपमा व्यक्त होती है जोकि नायक में युद्ध-विषयक रतिभाव को व्यक्त करते हुये उसकी वीरता की अधिकता को ध्वनित करती है। अतएव यहाँ पर उपमाध्वनि है। वीरों को प्रियतमाओं के सम्पर्क की अपेक्षा युद्ध में अधिक आनन्द आता है यह वाच्य व्यतिरेक एक सीधी सी बात है वीर रस का परिपोष व्यतिरेक के कारण नहीं किन्तु युद्ध के हाथियों के लिये प्रियतमा के कुच-कुम्भों की उपमा के द्वारा ही होता है। अतएव यहाँ पर उपमाध्वनि ही है।

(आ) उपमाध्वनि का दूसरा उदाहरण—जैसे आनन्दवर्धन की लिखी हुई विषमवाणलीला में कामदेव के असुरों पर पराक्रम दिखलाने के अवसर पर एक पद्य आया है—वहाँ पर कामदेव के त्रैलोक्यविजय का वर्णन किया गया है। पद्य का अर्थ यह है—

'कामदेव ने अपने पुष्प-बाण के द्वारा उनके उस हृदय को जोकि लक्ष्मीजी के सहोदर रत्नों के आहरण करने में पूर्णरूप से आनन्द से भरा हुआ था उनकी प्रियतमाओं के बिम्बाधरों में ही निविष्ट कर दिया।'

'उनके कहने का आशय यह है कि उन असुरों का पराक्रम प्रसिद्ध है। जिन असुरों ने पातालपुर में रहते हुये भी इन्द्रपुर का मर्दन इत्यादि न जाने क्या-क्या नहीं करडाला उनको कौन नहीं जानता होगा। 'उस हृदय को' कहने का आशय यह है कि उन समस्त दुष्कर कर्मों के करने के अवसर पर भी कभी कम्पित नहीं हुआ उससे बढ़कर साहस और शौर्य किसमें हो सकता है? 'लक्ष्मीजी के सहोदर रत्नों' के कहने का आशय यह है कि वे रत्न अत्यन्त उत्कृष्ट थे। उनके उत्कर्ष का इससे बढ़कर परिचय और क्या दिया जा सकता है कि वे रत्न लक्ष्मीजी के सहोदर थे? 'आहरण' कहने का आशय यह है कि वे असुर थोड़े बहुत रत्नों से ही सन्तोष करने-वाले नहीं थे, किन्तु पूर्णरूप से चारों ओर से वे उन रत्नों पर अपना सर्वतो-भावेन अधिकार चाहते थे। 'पुष्पबाण के द्वारा' कहने का आशय यह है कि काम-देव को अपने कठोर अस्त्रों के सन्धान की आवश्यकता ही न पड़ी, उसने फूल के केवल एक बाण से जो कि उसका एक अत्यन्त सुकुमार उपकरण है असुरों पर विजय

ध्वन्यालोकः

आक्षेप ध्वनिर्यथा—

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः ॥

अत्रातिशयोक्त्या हयग्रीवगुणानामवर्णनीयताप्रतिपादनरूपस्यासाधारणतद्विशेषप्रकाशपरस्याक्षेपस्य प्रकाशनम्।

(अनु०) आक्षेपध्वनि का उदाहरण जैसे—

'हयग्रीव के आश्रित समस्त गुणों को कहने में वह समर्थ हो सकता है जो कि जल के घड़ों से महासागर का परिमाण जानने में समर्थ हो सकता है।'

यहाँ पर अतिशयोक्ति के द्वारा हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता के प्रतिपादनरूप उनकी असाधारण विशेषताओं के प्रकाशनपरक आक्षेप की व्यञ्जना होती है।

तारावती

प्राप्त करली। यदि कहीं कठोर अस्त्रों का प्रयोग किया होता तो न जाने क्या हो जाता ? 'बिम्बाधरो मे निविष्ट कर दिया' कहने का आशय यह है कि उन राक्षसों के हृदयों को ऐसा बना दिया कि वे अपनी प्रियतमाओं के बिम्बाधरों के अवलोकन चुम्बन दर्शन इत्यादि मे ही अपने को कृतकृत्य समझने लगे। आशय यह है कि उनका जो हृदय विजय की कामनारूप अग्निसे जाज्वल्यमान हो रहा था वही प्रियतमाओं के बिम्बाधरों तक ही सीमित हो कर रह गया।

यहाँ पर वस्तुतः रत्नों के आहरण करने की मनोवृत्ति और है तथा अपनी प्रियतमाओं के बिम्बाधर-दशन की मनोवृत्ति दूसरी। इस प्रकार दोनों में भेद है। किन्तु 'उसी हृदय को निविष्ट कर दिया' कहकर अभेद का आरोप किया गया है।

अतएव यहाँ पर अभेदातिशयोक्ति अलङ्कार वाच्य है। अथवा हृदय का अधरों पर निविष्ट करने का सम्बन्ध नहीं हो सकता। किन्तु सम्बन्ध का आरोप किया गया है। अतएव यहाँ पर सम्बन्धातिशयोक्ति वाच्य अलङ्कार है। इससे यह व्यञ्जना निकलती है कि उन ललनाओ का बिम्बाधर समस्त रत्नो के सार के समान है। उन लोगों की दृष्टि में बिम्बाधर का समस्त रत्नो के सार के समान होने का बहुत बड़ा मान वास्तविक है। अतएव यहाँ पर रूपकध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि रूपक मे आरोप होता है अतः उसमे वास्तविकता नही होती। यह व्यङ्ग्यार्थ असुरों की वस्तुवृत्ति से ही स्फुरित होता है—'जो असुर सिन्धु-सारभूत रत्नों के ग्रहण करने मे आनन्द लेते थे वे प्रियतमाओं के बिम्बाधरों से ही सन्तुष्ट हो गये' इस वस्तुवृत्ति से 'बिम्बाधर रत्नों के सार के समान हैं' यह उपमा व्यक्त होती है और

लोचन

अतिशयोक्त्येति। वाच्यालङ्कार रूपयेत्यर्थः। अवर्णनीयता प्रतिपादनमेवाक्षेपस्य रूपमिष्टप्रतिषेधात्मकत्वात्। तस्य प्राधान्यं तद्विशेषणद्वारेणाह—असाधारणेति।

'अतिशयोक्ति के द्वारा' यह। अर्थात् वाच्यालङ्काररूपिणी। अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप का रूप है क्योंकि उसकी आत्मा है इष्टप्रतिषेध। उसकी प्रधानता उसके विशेषणों के द्वारा कहते हैं—'असाधारण इति।'

तारावती

चमत्कार का पर्यवसान प्रधानतया इसी अभिव्यक्ति में होता है अतः यहाँ पर उपमाध्वनि है।

(३) आक्षेपध्वनि का उदाहरण—

'हयग्रीव में रहनेवाले समस्त गुणों को कहने में वह व्यक्ति समर्थ है जो महासागर के परिमाण को जल के घड़ों के द्वारा जान सकता है।'

घड़ों के द्वारा समुद्र के परिमाण को जानने का सम्बन्ध न होते हुये भी सम्बन्ध की कल्पना की गई है। अतः यहाँ पर सम्भावनामूलक सम्बन्धातिशयोक्ति वाच्य है। उससे यह ध्वनि निकलती है कि 'हयग्रीव के गुणों का वर्णन नहीं हो सकता। गुणों का वर्णन करना इष्ट है जिसका प्रतिषेध व्यङ्ग्य है। इष्टप्रतिषेध होने के कारण आक्षेपालंकार व्यङ्ग्य है। यहाँ पर आक्षेप की ही प्रधानता है क्योंकि इसी से यह व्यक्त होता है कि हयग्रीव के गुण असाधारण हैं और क्योंकि इसी से हयग्रीव के गुणों की विशेषता भी प्रकाशित होती है। अतएव यहाँ पर आक्षेपालंकार की ध्वनि है। अवर्णनीयता का प्रतिपादन ही आक्षेप का रूप है क्योंकि आक्षेप इष्टप्रतिषेधात्मक ही होता है। 'असाधारण विशेष गुणों का प्रकाशन होता है' इस विशेषण के द्वारा लेखक ने आक्षेप की प्रधानता सिद्ध की है।

(रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व में इस उदाहरण का प्रत्याख्यान किया है। उनका कहना है कि आक्षेप अलंकार वहीं पर होता हैं जहाँ पर निषेधाभास हो वास्तविक निषेध नहीं। यहाँ पर हयग्रीव के गुणों की अवर्णनीयता तो वास्तविक निषेध है निषेधाभास नहीं। अतः यहाँ पर आक्षेपध्वनि नहीं हो सकती। रुय्यक के इस कथन का पण्डितराज ने बड़े ही मनोरञ्जक शब्दों में खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है—'इस पद्य में आक्षेपध्वनि का अभाव अलंकारसर्वस्वकार ने इसीलिये बतलाया है कि जैसा आक्षेप अलंकारसर्वस्वकार मानते हैं वैसा आक्षेप यहाँ पर नहीं है। यह कोई वेद की आज्ञा नही है कि आक्षेप अलंकार वहीं पर होता है जहाँ निषेध आभासरूप हो। पुराने आचार्यों ने भी आक्षेप का यह लक्षण नहीं बनाया है। ऐसी कोई युक्ति भी नहीं है जिससे ध्वनिकार की उक्ति की उपेक्षा कर हम तुम्हारी बात पर श्रद्धा करने लगें। इसके प्रतिकूल इससे विपरीत बात

ध्वन्यालोकः

अर्थान्तरन्यासध्वनिः शब्दशक्तिमूलानुरणरूपव्यङ्ग्योऽर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्यश्च सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणम्—

देवाएत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणा भणिओ।
कङ्किल्लपल्लवाः पल्लवाणं अण्णाणं ण सरिच्छा॥

पदप्रकाशश्चायं ध्वनिरिति वाक्यस्यार्थान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः।

(अनु०) अर्थान्तरन्यासध्वनि शब्दशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग और अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य (दो प्रकार की) सम्भव है। उनमें प्रथम का उदाहरण—

'फल के दैवायत्त होने के कारण क्या किया जावे, फिर भी इतना हम कहते हैं कि रक्ताशोक के पल्लव अन्य पल्लवों के समान नहीं हैं।'

यह ध्वनि पद के द्वारा प्रकाशित होती है, अतः यदि वाक्य का दूसरे अर्थ मे भी तात्पर्य हो तो भी विरोध नहीं है।

लोचन

सम्भवतीत्यनेन प्रसङ्गाच्छब्दशक्तिमूलस्यात्र विचार इति दर्शयति।

दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत्पुनर्भणामः।
रक्ताशोकपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृशाः॥

'सम्भव है' इससे प्रसङ्गवश यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक का विचार किया गया है यह दिखलाया है।

'दैवायत्त फल के विषय मे क्या किया जावे, फिर इतना तो हम कहते हैं कि रक्ताशोक के पल्लव अन्य पल्लवों के सदृश नहीं हैं।'

तारावती

अधिक उचित होगी कि हम तुम्हारी बात छोड़कर ध्वनिकार की बात मानें। ध्वनिकार ने अलंकार-शास्त्र की सरणि का व्यवस्थापन किया है। प्राचीन आचार्यों के वचनों को छोड़कर इस शास्त्र में आक्षेप इत्यादि शब्दों के संकेत का ग्राहक और कोई प्रमाण है ही नहीं। यदि ध्वनिकार जैसे मान्य आचार्यों की बात को इस प्रकार टाला जाने लगेगा तो सभी कुछ अस्त-व्यस्त हो जावेगा और कोई व्यवस्था तो रहेगी ही नहीं।' वस्तुतः भामह इत्यादि आचार्यों ने भी कथन के लिये अभीष्ट वस्तु के निषेध को ही आक्षेप माना है जिसका मन्तव्य विशेषता के साथ कथन करना हो। 'निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषा भिधित्सया।' यहाँ पर हयग्रीव के गुणों का वर्णन करना अभीष्ट है उसका निषेध किया गया है जिससे हयग्रीव के गुणों का विशेषता के साथ कथन हो जाता है। अतः ध्वनिकार का बतलाया हुआ आक्षेप अलंकार ठीक ही है।)

लोचन

अशोकस्य फलमाम्रादिवन्नास्ति किं क्रियतां पल्लवास्त्वतीव हृद्या इतीयताभिधा समाप्तैव। तत्र फलशब्दस्य शक्तिवशात् समर्थकमस्य वस्तुनः पूर्वमेव प्रतीयते। लोकोत्तरजिगीषातदुपायप्रवृत्तस्यापि हि फलं सम्पल्लक्षणं दैवायत्तं कदाचिन्न भवेदपीत्येवं सामान्यात्मकम्। नन्वस्य सर्ववाक्यस्याप्रस्तुतप्रशंसा प्राधान्येन व्यङ्ग्या तत्कथमर्थान्तरन्यासस्य व्यङ्ग्यता? द्वयोर्युगपदेकत्र प्राधान्यायोगादित्याशङ्क्याह—पदप्रकाशेति। सर्वो हि ध्वनिप्रपञ्चः पदप्रकाशो वाक्यप्रकाशश्चेति वक्ष्यते। तत्र फलपदेऽर्थान्तरन्यासध्वनिः प्राधान्येन। वाक्ये त्वप्रस्तुतप्रशंसा। तत्रापि पुनः फलपदोपात्तसामर्थ्यसमर्थकभावप्राधान्यमेव भातीत्यर्थान्तरन्यासध्वनिरेवायमिति भावः।

अशोक का फल आम्र इत्यादि के समान नहीं है, क्या किया जावे? पल्लव तो अत्यन्त हृद्य हैं, इतने से ही अभिधा समाप्त हो जाती है। यहाँपर फल शब्द की शक्ति के कारण इस वस्तु का समर्थन पहले ही प्रतीत होता है। 'लोकोत्तर को विजय करने की इच्छा और उसके उपाय में प्रवृत्त का भी सम्पत्तिरूप फल दैवायत्त (है) कभी न भी हो' इस प्रकार का सामान्यरूप है। 'इस पूरे वाक्य की अप्रस्तुतप्रशंसा प्रधानतया व्यङ्ग्य है तो अर्थान्तरन्यास की व्यङ्ग्यता कैसे? क्योंकि दोनों का एक साथ प्राधान्य हो ही नहीं सकता।' यह शङ्का करके कहते हैं—पदप्रकाशेति। यह कहेंगे कि समस्त ध्वनिप्रपञ्च पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश होता है। उसमे फल शब्द में अर्थान्तरन्यासध्वनि प्रधानरूप में है। वाक्य में तो अप्रस्तुतप्रशंसा ही है। उसमे भी फिर 'फल' शब्द के द्वारा उपात्त सामर्थ्य के समर्थक भाव की प्रधानता से ही शोभित होती है, इस प्रकार यह अर्थान्तरन्यास की ध्वनि ही है, यह भाव है।

तारावती

(४) अर्थान्तरन्यासध्वनि दो प्रकार की सम्भव है (अ) शब्दशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य और (आ) अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप व्यङ्ग्य। सम्भव है कहने का आशय यह है कि यद्यपि यहाँ पर प्रकरण अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का ही है किन्तु सम्भव शब्दशक्तिमूलक भी है। अतएव उसका भी उदाहरण यहाँ पर दिया जा रहा है—

'फल दैव के आधीन होता है उसके लिये किया ही क्या जावे? हाँ इतना हम कहते हैं कि रक्त अशोक के पल्लव अन्य पल्लवों जैसे नहीं होते।'

'अशोक के पल्लव हृदय को सर्वाधिक प्रिय होते हैं। किन्तु आम इत्यादि के समान उसमें फल नहीं होते उसके लिये किया ही क्या जा सकता है?' बस अभिधेयार्थ इतने में ही समाप्त हो जाता है। यहाँ पर फल शब्द की शक्ति से एक

ध्वन्यालोकः

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

हिअअट्ठाविअ मण्णुं अवरुण्णमुहं हि मं पसाअन्त।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहु जाणअ रोसिउं सक्कम्॥
(हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन्।
अपराद्धस्यापि न खलु ते वहुज्ञ रोपितुं शक्यम्॥) इति छाया।

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराद्धस्यापि वहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते।

(अनु०) द्वितीय का उदाहरण जैसे—

'हृदय में स्थापित क्रोधवाली तथा रोषरहित मुखवाली मुझको प्रसन्न करते हुये हे वहुज्ञ ! अपराध से युक्त भी तुम पर क्रोध करना शक्य नहीं है।'

यहाँ पर वाच्यविशेष के द्वारा सापराध भी वहुज्ञ पर कोप करना असम्भव है यह समर्थक वाच्यसम्बद्ध (किन्तु) वाच्य से भिन्न अर्थ तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित होता है।

तारावती

दूसरे अर्थ की ओर संकेत होता है—'जिसके अन्दर सबसे अधिक विजय की इच्छा हो और जो उपाय में भी लगा हुआ हो उसके लिये सम्पत्तिरूपी फल तो भाग्य के अधीन ही होता है। वह कभी नहीं भी हो सकता है।' यह अर्थ पहले ही अर्थात् फल शब्द के सुनते ही प्रतीत होने लगता है। यह अर्थ सामान्यात्मक है; इससे पूर्वोक्त वाच्यार्थ (अशोकपल्लवपरक अर्थ) का समर्थन होता है। अतः सामान्य से विशेष का समर्थन होने के कारण यहाँ पर अर्थान्तरन्यासध्वनि है।

(प्रश्न) इस उक्ति के द्वारा किसी ऐसे निराशा से भरे हुए निर्वेदपूर्ण व्यक्ति की प्रशंसा की जा रही है जो यद्यपि उपाय में लगा हुआ है किन्तु उसे फल प्राप्त नहीं हो रहा है। इस प्रकार यहाँ पर अप्रस्तुत (अशोक) से प्रस्तुत व्यक्ति की अवगति होती है। अतएव यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार की ध्वनि होती है। प्रथम उद्योत में बतलाया जा चुका है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत अर्थ सर्वदा व्यङ्ग्य होता है और वह कहीं-कहीं पर प्रधान भी होता है। इस प्रकार यहाँ पर सम्पूर्ण वाक्य के द्वारा अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कार की ध्वनि होती है। वाक्यगम्य होने के कारण वही प्रधान है। दो ध्वनियाँ एक साथ प्रधान नहीं हो सकतीं। अतएव यहाँ पर अर्थान्तरन्यासध्वनि कहना किस प्रकार सङ्गत हो सकता है ? (उत्तर) यह बात आगे चलकर बतलाई जावेगी कि जितना ध्वनिकाव्य का विस्तार है वह पद के द्वारा भी प्रकाशित होता है और वाक्य के द्वारा भी। अर्थान्तरन्यासध्वनि

लोचन

हृदये स्थापितो न तु बहिः प्रकटितो मन्युर्यया। अत एवाप्रदर्शितरोषमुखमपि मां प्रसादयन् हे बहुज्ञ, अपराद्धस्यापि तव न खलु रोषकरणं शक्यम्। अत्र बहुज्ञेत्यामन्त्रणार्थो विशेषे पर्यवसितः। अनन्तरं तु तदर्थपर्यालोचनाद्यत्सामान्यरूपं समर्थकं प्रतीयते तदेव चमत्कारकारि। सा हि खण्डिता सती वैदग्ध्यानुनीता तं प्रत्यसूयां दर्शयन्तीत्थमाह। यः कश्चिद्बहुज्ञो धूर्तः स एवं सापराधोऽपि स्वापराधावकाशमाच्छादयतीति मा त्वमात्मनि बहुमानं मिथ्या ग्रहीरिति। अन्वितमिति। विशेषे सामान्यस्य संबद्धत्वादिति भावः।

हृदय में स्थापित कर लिया है किन्तु बाहर प्रकट नहीं किया जा रहा है मन्यु जिसके द्वारा। अतएव मुख को रोष से युक्त न दर्शित करनेवाली भी मुझे प्रसन्न करते हुये हे बहुज्ञ! अपराधी भी तुम्हारे प्रति रोष करना शक्य नहीं है। यहाँ पर बहुज्ञ यह आमन्त्रणार्थ विशेष में पर्यवसित होता है। बाद में तो उसके अर्थ की पर्यालोचना के कारण जो समर्थक सामान्य रूप प्रतीत होता है वही चमत्कारकारक है। वह खण्डिता होती हुई वैदग्ध्य से मनाई जाकर उसके प्रति असूया दिखलाती हुई यह कहती है। 'जो कोई बहुज्ञ धूर्त (होता है) वही इस प्रकार सापराध होते हुये भी अपने अपराध के अवकाश को छिपाता है इस प्रकार तुम अपने प्रति मिथ्या बहुमान को मत ग्रहण करो।' यह। 'अन्वित' यह। भाव यह है कि विशेष मे सामान्य के सम्बद्ध होने के कारण।

तारावती

'फल' पद के द्वारा प्रकाशित हो रही है और अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनि वाक्य के द्वारा प्रकाशित हो रही है। इस प्रकार प्रकाशक के भेद होने के कारण दोनो ध्वनियों की प्रधानता में कोई विरोध नहीं आता। दूसरी बात यह है कि फल पद के सहकार से दोनों अर्थों के समर्थक-समर्थ्य भाव की प्रधानता सहृदयों को प्रतीत होती है। अतएव इसे अर्थान्तरन्यासध्वनि कहना ही ठीक होगा।

(आ) अर्थशक्तिमूलानुरणनरूप व्यङ्ग्य अर्थान्तरन्यास ध्वनि का उदाहरण—

किसी नायक ने अपराध किया है। नायिका उसके अपराध को जान गई है किन्तु उसने ऊपर से अपना रोष नहीं प्रकट होने दिया है। प्रियतम फिर भी उससे अनुनय विनय कर रहा है। इसपर नायिका कहती है—

'मैंने मन्यु को अपने हृदय में ही रख लिया है। मेरे मुख पर रोष का किसी प्रकार का कोई चिह्न प्रकट नहीं हो रहा है, फिर भी तुम मुझे प्रसन्न करने की चेष्टा कर रहे हो। हे बहुज्ञ! यद्यपि तुम अपराधी हो फिर भी तुम्हारे ऊपर रोष नहीं किया जा सकता।'

ध्वन्यालोकः

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयतः सम्भवति। तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक्प्रदर्शितमेव। द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

जाएज्ज वणुद्देशे खुज्ज च्चिअ पाअवो गडिअवत्तो।
मा माणुसम्मि लोए ता एक्करसो दरिद्दो अ॥
(जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्रः।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च॥ इति छाया।)

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनं त्रुटितपत्रकुब्जपादपजन्माभिनन्दनं च साक्षाच्छब्दवाच्यम्। तथाविधादपि पादपात्तादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकं शोच्यतायामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति।

(अनु०) व्यतिरेक ध्वनि भी दोनो रूपों में सम्भव है। उसमे प्रथम का उदाहरण पहले दिखला दिया गया है। द्वितीय का उदाहरण जैसे—

'वन के प्रदेश में गलित पत्तोंवाला कुबड़ा वृक्ष मैं बन जाऊँ। किन्तु मानव लोक में त्याग में ही एकमात्र आनन्द लेनेवाला दरिद्र बनकर जन्म न लूं।'

यहाँपर त्याग मे ही एकमात्र आनन्द लेनेवाले दरिद्र के जन्म का अभिनन्दन न करना और टूटे हुये पत्तोंवाले कुब्ज वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन करना साक्षात् शब्द वाच्य है। इस प्रकार के वृक्ष की अपेक्षा भी उस प्रकार के पुरुष की उपमानोपमेय भाव की प्रतीति के साथ अधिक शोचनीयता तात्पर्य के द्वारा प्रकाशित होती है।

तारावती

यहाँ पर 'बहुज्ञ' इस सम्बोधन के वाच्य अर्थ का पर्यवसान विशेष मे होता है अर्थात् नायिका नायक को बहुज्ञ कहती है, उसका आशय यही है कि मैंने अपना रोष अभी प्रकट तो किया नहीं, फिर भी तुम जान गये कि मेरे हृदय मे रोष विद्यमान है; इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि तुम अपराधी हो और अपने अपराध को समझ करके ही मुझे मनाने की चेष्टा कर रहे हो। यही विशेषपरक (नायक-परक) अर्थ है। यहीं पर वाच्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है। बाद मे जब इस विशेष अर्थ की पर्यालोचना की जाती है और इस परिस्थिति की मीमासा की जाती है कि यह नायिका खण्डिता है और इसको वैदग्ध्य के साथ मनाया जा रहा है तब वह ये शब्द कह रही है, तब उससे एक सामान्य अर्थ और निकलता है—'जो कोई बहुत वाचाल और धूर्त होता है वह चाहे अपराधी ही क्यों न हो अपने अपराध को छिपाने मे समर्थ हो जाता है। इस सामान्य का विशेष में अन्वय हो जाता है क्योंकि सामान्य सर्वदा विशेष से ही सम्बद्ध होता है। इस प्रकार सामान्य के द्वारा

लोचन

व्यतिरेकध्वनिरपीति। अपिशब्देनार्थान्तरन्यासवदेव द्विप्रकारत्वमाह। प्रागिति। 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति' इति। 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' इति। जायेय, वनोद्देश एव वनस्यैकान्ते गहने यत्र स्फुटतरबहुवृक्षसम्पत्त्या प्रेक्षतेऽपि न कश्चित्। कुब्ज इति रूपघटनादावनुपयोगी। गलितपत्र इति। छायामपि न करोति तस्य का पुष्पफलवत्तेत्यभिप्रायः। तादृशोऽपि कदाचिदाङ्गारिकस्योपयोगीभवेदुलूकादीनां वा निवासायेति भावः। मानुष इति। सुलभार्थिजन इति भावः। लोक इति। यत्र लोक्यते सोऽर्थिभिस्तेन

'व्यतिरेक ध्वनि भी'। 'भी' शब्द से अर्थान्तरन्यास के समान ही दो प्रकार का होना कहते हैं। 'पहले' यह। 'खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति—' यह। 'रक्तस्त्वं नवपल्लवैः' यह। उत्पन्न होऊँ वन के उद्देश में ही वन के गहन एकान्त में जहाँ अधिक स्पष्ट बहुत से वृक्षों की सम्पत्ति से कोई देखता भी नहीं। कुब्ज यह। अर्थात् (किसी) रूप की सङ्घटना में अनुपयोगी। गलितपत्र इति। जो छाया भी नहीं करता उसके पुष्पफलशाली होने की क्या सम्भावना? यह अभिप्राय है। भाव यह है कि कदाचित् उस प्रकार का भी कोला बनानेवाले का उपयोगी होवे या उलूक इत्यादि के निवास के लिये हो। मानुष इति। अर्थात् जिसको याचक लोग सुलभ हैं। लोक इति। भाव यह है कि जहाँ वह प्रार्थियों के

तारावती

विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास की व्यञ्जना होती है। यह अर्थान्तर न्यास ही प्रधान है क्योंकि इसी से इस अर्थ की परिसमाप्ति होती है कि मैं तुम्हारे अपराध को खूब समझती हूँ। तुम्हें यह नहीं समझना चाहिये कि तुम मुझे धोखा देने में सफल हो गये हो और न तुम्हें अपने ऊपर अभिमान करना चाहिये। अतएव यहाँ पर अर्थान्तरन्यासध्वनि है। 'अन्वित' शब्द के प्रयोग का आशय यह है कि विशेष से सामान्य सम्बन्धित रहता ही है।

(५) व्यतिरेकध्वनि—व्यतिरेकध्वनि भी दो प्रकार की संभव है शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। 'भी' का अर्थ है जिस प्रकार अर्थान्तरन्यासध्वनि के दो भेद होते हैं उसी प्रकार व्यतिरेकध्वनि के भी दो भेद सम्भव हैं। प्रथम भेद के उदाहरण पहले ही दिखलाये जा चुके हैं—वे ये हैं-खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति'''''' सन्तु वः' और 'रक्तस्त्वम्''''''धात्रा सशोकः कृतः।' अब अर्थशक्तिमूलक व्यतिरेक ध्वनि का उदाहरण लीजिये—

'मैं वन के एक प्रदेश में नष्टपत्तोंवाला कुबड़ा वृक्ष बन जाऊँ किन्तु मनुष्य-संसार में एकमात्र त्याग में ही आनन्द लेनेवाला दरिद्र व्यक्ति कभी न बनूँ।'

'वन के प्रदेश में जन्म लूँ' कहने का आशय यह है कि जहाँ पर सैकड़ो

ध्वन्यालोकः

उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्तभुजगनिश्वासानिलमूर्छितः ।
मूर्च्छयत्येप पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्छाकारित्वं मन्मथोन्माथदायित्वेनैव । तत्तु चन्दनासक्तभुजगनिश्वासानिलमूर्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थसामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते । न चैवंविधे विपये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासम्बद्धतैवेति शक्यते वक्तुम् । गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगतिदर्शनात् ।

(अनु०) उत्प्रेक्षा ध्वनि का उदाहरण जैसे—

'चन्दन में लिपटे हुये भुजङ्गों की निःश्वास वायु से मूर्छित हुआ यह मलयपवन वसन्त मे पथिकों को मूर्छित करता है ।

यहाँपर वसन्त में मलय-पवन का पथिकों को मूर्छाकारक होना कामदेव सम्बन्धी उन्मथन प्रदान करने के द्वारा ही है । और उसकी चन्दन में लिपटे हुये भुजङ्गों के निःश्वास वायु के द्वारा मूर्छित होने के रूप में उत्प्रेक्षा की गई है । इस प्रकार साक्षात् न कही हुई भी उत्प्रेक्षा वाक्यार्थ सामर्थ्य से अनुरणन रूप में प्रतीत होती है । यहाँपर यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार के विषय में 'इव' इत्यादि शब्द के प्रयोग के विना असंबद्धता ही रहती है । प्रमाण की सत्ता होनेपर अन्यत्र भी उसके प्रयोग न होनेपर उसके अर्थ का अवगमन देखा जाता है ।

लोचन

चार्थिजनो न च किञ्चिच्छक्यते कर्तुं तन्महद्वैशसमिति भावः । अत्र वाच्यालङ्कारो न कश्चित् । उपमानेत्यनेन व्यतिरेकस्य मार्गपरिशुद्धिं करोति । आधिक्यमिति । व्यतिरेकमित्यर्थः ।

उत्प्रेक्षितमिति । विपवातेन हि मूर्छितो । बृंहित उपचितो मोहं करोति । एकश्च मूर्छितः पथिकमध्येऽन्येषामपि धैर्यच्युतिं विदधन्मूर्छां करोतीत्युभयथोत्प्रेक्षा ।

द्वारा देखा जाता है और उसके द्वारा प्रार्थी लोग देखे जाते हैं तथा कुछ किया नहीं जा सकता।यह बहुत बड़ी मार डालनेवाली बात (कष्ट कारक वात) है। यहाँ कोई वाच्यालङ्कार नहीं है । उपमान इत्यादि (शब्दों) से व्यतिरेक की मार्गपरिशुद्धि की जाती है । 'आधिक्य' अर्थात् व्यतिरेक ।

उत्प्रेक्षितमिति । विषवात से मूर्छित अर्थात् बढ़ाया हुआ अर्थात् उपचय को प्राप्त मोह को उत्पन्न कर देता है । पथिकों के मध्य मे एक मूर्छित दूसरों का भी धैर्यच्युत करते हुये मूर्छा उत्पन्न कर देता है इस प्रकार उभयथा उत्प्रेक्षा है ।

लोचन

नन्वत्र विशेषणमधिकीभवद्धेतुतयैव सङ्गच्छते। ततः किम्? न हि हेतुता परमार्थतः। तथापि तु हेतुता उत्प्रेक्ष्यत इति यत्किञ्चिदेतत्। तदिति। तस्येवादेरप्रयोगेऽपि तस्यार्थस्येत्युत्प्रेक्षारूपस्यावगतेः प्रतीतेर्दर्शनात्।

(प्रश्न) यहाँ पर विशेषण अधिक होते हुये हेतुता के रूप मे ही सङ्गत होता है ? (उत्तर) उस से क्या ? वास्तव में तो हेतुता नहीं है। तथापि हेतुता की उत्प्रेक्षा की जाती है यह बहुत कुछ छोटी बात है। तत् इति। क्योंकि उस 'इव' इत्यादि शब्द के प्रयोग न होने मे भी उस उत्प्रेक्षारूप अर्थावगति की प्रतीति के दर्शन होते हैं।

तारावती

समृद्ध वृक्षों की सम्पत्ति स्फुट रूप मे प्रतीत हो रही हो वहाँ एक कुबड़े वृक्ष की ओर कोई दृष्टि भी न डालेगा। 'कुबड़ा' कहने का आशय यह है कि जिससे लकड़ी के उपयोग की कोई आकृति भी न बनाई जा सके। 'नष्ट पत्तोंवाला' कहने का आशय यह है कि मैं वृक्ष के रूप में छाया भी न दे सकूं फल और पुष्पों की तो बात ही क्या ? ऐसा वृक्ष भी कभी या तो कोला बनानेवाले के काम मे आ जाता है या उलूक इत्यादि के निवास के लिये भी कदाचित् उसका उपयोग हो जाता है। 'मनुष्य-लोक मे' मनुष्य का आशय यह है कि जहाँ याचक लोग सुलभ हों। लोक शब्द 'लोकृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। अतः लोक शब्द का आशय यह है कि जहाँ पर अर्थी लोगों के द्वारा मे देखा जाऊँ और मैं अर्थियों को देखूं। याचक सहायता की प्रार्थना भी करें और उनकी सहायता की कामना भी हृदय मे विद्यमान हो, किन्तु दरिद्रता के कारण कुछ किया न जा सके तो इससे बढकर दुःखदायक बात और क्या होगी ?

यहाँ पर केवल दान में ही आनन्द लेनेवाले दरिद्रव्यक्ति के जन्म की निन्दा की गई है और नष्ट पत्तोंवाले कुबड़े वृक्ष के जन्म का अभिनन्दन किया गया है। यहाँ पर कोई वाच्यालङ्कार नहीं है। पहले तो 'दान मे आनन्द लेनेवाला दरिद्र व्यक्ति टूटे हुये पत्तोंवाले कुबड़े वृक्ष के समान होता है' यह उपमा व्यक्त होती है। यह उपमा व्यतिरेक की मार्गपरिशोधिका है। फिर तात्पर्य के द्वारा अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से यह प्रकट होता है कि एक ठूँठ कुबडे वृक्ष की अपेक्षा एक दान के प्रेमी दरिद्र व्यक्ति का जन्म अधिक घृणास्पद है और उसको शोक भी अधिक होता है।' आधिक्य का अर्थ है व्यतिरेक। अर्थ का पर्यवसान इसी में होता है अतएव यह व्यतिरेकालङ्कार ध्वनि है।

ध्वन्यालोकः

यथा—

ईसाकलुसस्स वि तुह मुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्गे विअ ण माइ॥
(ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः।
अद्य सदृशत्वं प्राप्याङ्ग एव न माति॥) इति छाया।

(अनु०) जैसे—

निस्सन्देह यह पूर्णिमा का चन्द्रमा ईर्ष्या-कलुषित भी तुम्हारे मुख के सादृश्य को प्राप्तकर आज अपने अङ्ग मे ही नहीं समा रहा है।

तारावती

(६) उत्प्रेक्षाध्वनि जैसे—

'वसन्त काल में मलयपवन चन्दन में लपटे हुये सर्पों के निःश्वास वायु से मूर्छित हो गया है तथा पथिकों को मूर्छित कर रहा है।'

मूर्छित शब्द के दो अर्थ हैं—बढा हुआ और मूर्छा को प्राप्त। सर्पों के निःश्वास में विष का सम्पर्क रहता है। अतएव विष-वायु से जो बढा हुआ है वह दूसरों पर अपना विष का प्रभाव अवश्य जमावेगा। इसीलिये मलय-पवन विष-वायु से वृद्धि को प्राप्त होकर दूसरों को मूर्छित कर रहा है। अथवा मलय-पवन मानों एक पथिक है जो कि विषवायु से मूर्छित हो गया है पथिकों मे यदि एक मूर्छित हो जाता है तो वह दूसरों के भी धैर्य को च्युत कर देता है और दूसरे पथिक भी मूर्छित हो जाते हैं। अतएव यहाँ पर दोनों रूपों में उत्प्रेक्षा होती है। वसन्तकाल मे मलयपवन का कामोद्दीपक होने के कारण पथिकों को मूर्छित करनेवाला होता है; किन्तु उसकी उत्प्रेक्षा चन्दन में लिपटे हुए सर्पों के निःश्वास वायु से मूर्छित होने के रूप में व्यक्त होती हैं। 'मानों' सर्पों के विषयुक्त श्वासवायु से बढकर मलय-पवन पथिकों को मूर्छित कर रहा है अथवा 'सर्पों की विषैली श्वासवायु से मूर्छा को प्राप्त होकर मलय-पवन पथिकों को भी मूर्छित कर रहा है।' यहाँ पर उत्प्रेक्षा यद्यपि साक्षात् शब्दोपात्त नहीं है किन्तु फिर भी वाक्यार्थसामर्थ्य से अनुरणन रूप मे व्यक्त होती है।

(प्रश्न) यहाँ पर 'चन्दन मे लिपटे हुये सर्पों के श्वासवायु से मूर्छित' यह मलयपवन का विशेषण है जो कि प्रकृत अर्थ की अपेक्षा अधिक प्रतीत होता है। कवि को कहना केवल इतना ही है कि मलय-पवन पथिकों को मूर्छित कर देता है, उपर्युक्त विशेषण प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अतएव यह पथिकों को मूर्छित करने मे हेतु ही क्यों न माना जावे? इसे आप उत्प्रेक्षा किस प्रकार कह सकते हैं? (उत्तर) यदि आप इसे हेतु मानेगे तो इससे क्या हो जावेगा? यह

लोचन

एतदेवोदाहरति—यथेति । ईर्ष्याकलुषस्यापीषदरुणच्छायाकस्य । यदि तु प्रसन्नस्य मुखस्य सादृश्यमुद्वहेत् सर्वदा वा तत्किंकुर्यात्त्वन्मुखं त्वेतद्भवतीति मनोरथानामप्यपथमिदमित्यपिशब्दस्याभिप्रायः । अङ्गे स्वदेहे न मात्येव दशदिशः पूरयति यतः । अद्येयताकालेनैकं, दिवसमात्रमित्यर्थः । अत्र पूर्णचन्द्रेण दिशां पूरणं स्वरससिद्धमेवमुत्प्रेक्ष्यते ।

इसी का उदाहरण देते हैं–'यथा' इति । 'ईर्ष्या कलुष का भी' अर्थात् उसका भी जिसकी चमक कुछ लाल हो गई है । यदि प्रसन्न मुख की समानता धारण करे अथवा सर्वदा (समान रहे) तो क्या करे ? तुम्हारा मुख यह हो जावेगा यह तो मनोरथों के भी मार्ग से दूर है यह अपि शब्द का अभिप्राय है । अङ्ग में अर्थात् अपने शरीर में ही नहीं समा रहा है क्योंकि दस दिशाओं को भर रहा है । 'आज' अर्थात् इतने समय मे केवल एक दिन के लिये । यहाँपर पूर्ण चन्द्र के द्वारा दिशाओं का भरा जाना स्वतः सिद्ध है जिसकी इस प्रकार उत्प्रेक्षा की जा रही है ।

तारावती

कोई वास्तविक हेतु तो है नहीं । यह तो सभी जानते हैं कि सर्पों के विष के सम्पर्क से पथिकों को मूर्छा नहीं आती । केवल हेतु के रूप मे उत्प्रेक्षा कर ली गई है । अतएव इसे आप हेतूत्प्रेक्षा कह सकते हैं।

यहाँ पर आप यह बात नहीं कह सकते कि इस प्रकार के विषय मे 'इव' (मानों) इत्यादि शब्द के प्रयोग के अभाव मे वाक्य असम्बद्ध मालूम पड़ने लगता है । काव्य का अनुशीलन करनेवाले की प्रतिभा इत्यादि के सहकार से उपर्युक्त विशेषण स्वतः इस प्रकार के अर्थ के बोधक हो जाते हैं । दूसरे स्थानों पर भी देखा जाता है कि इव इत्यादि शब्दों के प्रयोग न होने पर भी उत्प्रेक्षा की प्रतीति हो जाती है । उदाहरण—

'निस्सन्देह यह पूर्णिमा का चन्द्रमा आज ईर्ष्या से कलुषित भी तुम्हारे मुख की समानता को प्राप्तकर अपने अङ्ग में नहीं समा रहा है' ।

जब मुख ईर्ष्या से कलुषित हो गया है और कुछ अरुणिमा को धारण कर रहा है तब चन्द्र उसकी तुलना को प्राप्त होकर प्रसन्नता के कारण अपने अङ्ग में ही नहीं समा रहा है; फिर यदि वह प्रसन्न मुख-मण्डल की तुलना को धारण कर ले तो न मालूम क्या-क्या करे ? आशय यह है कि यह कहना कि चन्द्रमा तुम्हारे मुख का रूप धारण कर सकेगा यह कहने का साहस करना तो मनोरथों के भी दूर है; यही 'ईर्ष्या से कलुषित भी' में भी शब्द का अर्थ है। 'आज' का अर्थ है केवल एक दिन

ध्वन्यालोकः

यथा वा—

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्
पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि ।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि-
राकर्णपूर्णनयनेषु हतेक्षणश्रीः ॥

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् ।

(अनु०) अथवा जैसे—

'मृग त्रास से व्याकुल होकर चारों ओर घरों की ओर दौड़ते हुये धनुर्धारी किन्हीं पुरुषों के द्वारा पीछा नहीं किया गया । तथापि अङ्गनाओं के कानों तक खींचे हुये नेत्र बाणों के द्वारा पराजित की हुई नेत्रकान्तिवाला होकर कहीं स्थित न हुआ ।' शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि ही प्रमाण है ।

लोचन

ननु ननुशब्देन वितर्कोत्प्रेक्षारूपमाचक्षाणेनासम्बद्धता निराकृतेति सम्भावयमान उदाहरणान्तरमाह—यथा वेति । परितः सर्वतः निकेतान् परिपतन्नाक्रामन् न कैश्चिदपि चापपाणिभिरसौ मृगोऽनुबद्धस्तथापि न क्वचित्तस्थौ । त्रासचापलयोगात्स्वाभाविकादेव । तत्र चोत्प्रेक्षा ध्वन्यते—अङ्गनाभिराकर्णपूर्णैर्नेत्रशरैर्हृता ईक्षणश्रीः सर्वस्वभूता यस्य यतोऽतो न तस्थौ । नन्वेतदप्यसम्बद्धमस्त्वित्याशङ्क्याह-शब्दार्थेति ।

यहाँपर यह सम्भावना करते हुये कि 'वितर्क तथा उत्प्रेक्षा के रूप को कहनेवाले 'ननु' शब्द मे असम्बद्धता का निराकरण हो गया' दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'अथवा जैसे'—'परितः' अर्थात् चारों ओर घरों की ओर दौड़कर आता हुआ मृग किन्हीं भी धनुषधारी (पुरुषों) से अनुबद्ध नहीं किया गया (मारा नहीं गया) तथापि कहीं स्थित नहीं हुआ क्योंकि उसका त्रास और चञ्चलता का योग स्वाभाविक है ही । वहाँपर उत्प्रेक्षा ध्वनित होती है—क्योंकि 'अङ्गनाओं के आकर्णपूर्ण नेत्र-बाणों से उनकी सर्वस्वभूत नेत्रकान्ति नष्ट कर दी गई थी अतः वे स्थित नहीं हो सके । (प्रश्न) यह भी असम्बद्ध ही हो यह शङ्का करके (उत्तर देते हुये) कहते हैं—शब्दार्थ इति ।

तारावती

अर्थात् पूर्णिमा के दिन । 'अङ्ग मे नहीं समा रहा है' कहने का आशय यह है कि दसो दिशाओं मे भर रहा है। वस्तुतः चन्द्र का दसो दिशाओं को प्रपूरित कर देना स्वयं सिद्ध है किन्तु उसके लिये कल्पना की गई है कि 'मानों ईर्ष्या के कारण नायिका के मुख के कलुषित हो जाने पर चन्द्रमा उसकी तुलना करने में समर्थ हो गया है

तारावती

इसीलिये वह प्रसन्नता के कारण आपे से बाहर होकर दसों दिशाओं में फैल रहा है। यह उत्प्रेक्षा है। इसकी भी प्रतीति विना ही इव इत्यादि शब्द के प्रयोग के होती है।

(प्रश्न) ऊपर निस्सन्देह (ननु) शब्द का प्रयोग किया गया है। यह शब्द वितर्क का वाचक है और इसीलिये उत्प्रेक्षा के स्वरूप को प्रकट करता है। फिर आप यह कैसे कह रहे हैं कि 'यहाँ पर बिना ही इव इत्यादि शब्द के प्रयोग के उत्प्रेक्षा अवगत हो जाती है और अर्थों की असम्बद्धार्थकता जाती रहती है'?

(उत्तर) तो फिर दूसरा उदाहरण लीजिये—

'एक मृग त्रास से व्याकुल होकर चारों ओर भवनों के सामने दौड़ रहा था किन्तु किन्हीं भी धनुर्धर पुरुषों ने उसका पीछा नहीं किया। तथापि अङ्गनाओं के कान तक ताने हुये नेत्रबाणों से नष्ट-नेत्रकान्तिवाला होकर वह कहीं रुका नहीं।'

मृगों का स्वभाव ही होता है कि या तो त्रास के कारण या अपनी स्वाभाविक चञ्चलता से वे कहीं रुकते नहीं। उसके लिये उत्प्रेक्षा ध्वनित होती है कि मानो अङ्गनाओं के नेत्र-बाणों से अपने नेत्रों की शोभा के उपहत हो जाने के कारण वे कहीं रुके नहीं। यहाँ पर कोई शब्द ऐसा नहीं जो उत्प्रेक्षा को प्रकट करे फिर भी उत्प्रेक्षा प्रकट हो जाती है और किसी प्रकार की असम्बद्धार्थकता नहीं रहती। इसी प्रकार 'चन्दन में लिपटे हुये'''' '''मूर्छित कर रहा है।' इस वाक्य में भी असम्बद्धार्थकता नहीं मानी जानी चाहिये।

(प्रश्न) जिस प्रकार आप इस वाक्य के अनुसार उसे संबद्ध वाक्य मान लेते हैं उसीप्रकार उस वाक्य के अनुसार इसे आप असंबद्ध क्यों नहीं मान लेते? (उत्तर) शब्द और अर्थ के व्यवहार में प्रसिद्धि ही प्रमाण होती है। जहाँ पर सहृदयों को असंबद्धार्थकता का भान होता है वहाँ पर असंबद्धार्थकता मानी जाती है और जहाँ पर उसका भान नहीं होता वहाँ असंबद्धार्थकता नहीं मानी जाती। यहाँ पर सहृदयों को असंबद्धार्थकता का भान नहीं होता अतः असंबद्धार्थकता नहीं मानी जाती।

[यहाँ पर इतना और समझ लेना चाहिये कि उत्प्रेक्षा की तीन स्थितियाँ होती है—वाच्योत्प्रेक्षा, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और ध्वन्यमानोत्प्रेक्षा। उत्प्रेक्षण तत्त्व विद्यमान हो और उत्प्रेक्षा को प्रकट करने के लिये 'इव' इत्यादि शब्दों मे किसी का प्रयोग किया हो वहाँ पर वाच्योत्प्रेक्षा होती है। जहाँ पर 'इव' इत्यादि किसी वाचक शब्द का प्रयोग न किया गया हो किन्तु विना उत्प्रेक्षा के अर्थ की पूर्ति हो जावे, बाद मे उत्प्रेक्षा अभिव्यक्त हो जावे और काव्य-सौन्दर्य तन्निष्ठ ही हो वहाँ पर

ध्वन्यालोकः

श्लेषध्वनिर्यथा—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्तनमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः॥

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इव वलभ्य इति प्रतीतिरशब्दाऽप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन वर्तते।

(अनु०) श्लेष की ध्वनि जैसे—

'(जिस द्वारका पुरी मे) रमणीयता के कारण पताका को प्राप्त करनेवाली, एकान्त के कारण राग को बढ़ानेवाली, झुकी हुई वलीका (छादनाधार) वाली वलभियों का सेवन युवक लोग अपनी वधुओं के साथ करते थे।'

यहाँ पर 'वधुओं के साथ वलभियों का सेवन करते थे' इस वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद 'वधुयें वलभियों के समान थीं' यह श्लेष की प्रतीति बिना ही शब्द के अर्थसामर्थ्य से मुख्य रूप में वर्तमान है।

लोचन

पताका ध्वजपटान् प्राप्तवतीः। रम्या इति हेतोः। पताकाः प्रसिद्धीः प्राप्तवतीः। किमाकाराः प्रसिद्धीः रम्या इत्येवमाकाराः। विविक्ता जनसङ्कुलत्वाभावादित्यतो रागं सम्भोगाभिलाषं वर्धयन्तीः। अन्ये तु रागं चित्रशोभामिति। तथा रागमनुरागं वर्धयन्तीः। यतो हेतोः विविक्ताः विभक्ताङ्ग्यो लटभा याः। नमन्ति वलीकानि छदिपर्यन्तभागा यासु। नमन्त्यो वल्लयस्त्रिवलीलक्षणा यासाम्। सममिति सहेत्यर्थः। ननु-समशब्दात्तुल्यार्थोऽपि प्रतीतः। सत्य सोऽपि श्लेषबलात्। श्लेषश्च नाभिधावृत्तेराक्षिप्तः, अपि त्वर्थसौन्दर्यबलादेवेति सर्वथा ध्वन्यमान एव श्लेषः। अत एव वध्व इव वलभ्य इत्यभिदधतापि वृत्तिकृतोपमाध्वनिरितिनोक्तम्। श्लेषस्यैवा-

पताका अर्थात् ध्वजपटों को प्राप्त करनेवाली क्यों रमणीय हैं इस हेतु से। पताका अर्थात् प्रसिद्धि को प्राप्त करती हुई। किस प्रकार की प्रसिद्धि? रमणीय हैं इसी प्रकार की। विविक्त अर्थात् जनसङ्कुलत्व के अभाव में इसी हेतु से राग अर्थात् सम्भोगाभिलाप को बढ़ाती हुई। जिस कारण से विविक्त अर्थात् विभक्त अङ्गोंवाली अर्थात् सुन्दरियाँ। वलीक अर्थात् छदपर्यन्त भाग जिसमे झुक रहे है, झुक रही है त्रिवली नाम की वलियाँ जिनकी। 'समम्' यह साथ के अर्थ मे है। (प्रश्न) सम शब्द से तुल्य अर्थ भी प्रतीत होता है। (उत्तर) ठीक है, किन्तु वह भी श्लेष के बल से ही और श्लेष अभिधावृत्ति से आक्षिप्त नहीं (किया गया) है। अपितु अर्थसौन्दर्य बल से श्लेष सर्वथा ध्वन्यमान ही है। अतएव वधुओं के समान वलभियाँ यह कहते हुये भी वृत्तिकार ने उपमाध्वनि यह नहीं कहा! क्योंकि

लोचन

मूलत्वात् । समा इति हि यदि स्पष्टं भवेत्तदोपमाया एव स्पष्टत्वाच्छ्लेषस्तदाक्षिप्तः स्यात् । सममिति निपातोऽञ्जसा सहार्थवृत्तिर्व्यञ्जकत्वबलेनैव क्रियाविशेषणत्वेन शब्दश्लेषतामेति । न च तेन विनामिधाया अपरिपुष्टता काचित् । अत एव समाप्तायामेवाभिधायां सहृदयैरेव स द्वितीयोऽर्थोऽपृथग्यत्नेनैवावगम्यः । यथोक्तं प्राक्—'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव' इत्यादि । एतच्च सर्वोदाहरणेष्वनुसर्तव्यम् । 'पीनश्चैत्रो दिवा नात्ति' इत्यत्राभिधैवापर्यवसितेति सैव स्वार्थनिर्वाहायार्थान्तरं वाक्यप्रतीत्यनुमानस्य श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तार्किकमीमांसकयोर्न ध्वनिप्रसङ्ग इत्यलं बहुना । तदाह—अशब्दापीति ।

यहाँ मूल तो श्लेष ही है । 'समाः' यह यदि स्पष्ट होता तो उपमा के ही स्पष्ट होने से श्लेष उसके द्वारा आक्षिप्त हो जाता । 'समम्' यह साथ के अर्थ में विद्यमान निपात क्रियाविशेषण होने के कारण व्यञ्जकत्व के बल से ही शीघ्र ही शब्दश्लेषता को प्राप्त हो जाता है । उसके बिना अभिधा की कोई अपरिपुष्टता नहीं है । अतएव अभिधा के समाप्त हो जानेपर ही सहृदयों के द्वारा ही वह दूसरा अर्थ अपृथक् यत्न से अवगत करने योग्य हो जाता है । जैसा पहले कहा गया—'केवल शब्दार्थशासन ज्ञान मात्र से ही....' इत्यादि । इसका तो अनुसरण सभी उदाहरणों में किया जाना चाहिये । 'पीन चैत्र दिन मे नहीं खाता है' यहाँ पर अभिधा ही पर्यवसित नहीं हुई है; इस प्रकार वही स्वार्थ निर्वाह के लिये अर्थान्तर और शब्दान्तर का आकर्षण करती है । इस प्रकार तार्किक और मीमासक के अनुमान और श्रुतार्थापत्ति का ध्वनिप्रसङ्ग नहीं है। बस, बहुत कहने की क्या आवश्यकता ? वही कहते हैं—'शब्दरहित भी' ।

तारावती

ध्वन्यमान उत्प्रेक्षा होती है । इनके उदाहरण विभिन्न ग्रन्थों मे दिये गये हैं वहीं देखने चाहिये ।]

श्लेषध्वनि का उदाहरण जैसे शिशुपालवध मे माघ कवि ने द्वारका के वर्णन के अवसर पर लिखा है—

'रमणीय होने के कारण पताका प्राप्त करनेवाली, एकान्त (विविक्त) होने के कारण राग को बढानेवाली, झुकी हुई वलीकाओंवाली वलभियों को युवक लोग वधुओं के साथ सेवन कर रहे थे ।'

यहाँ पर सामान्य वाच्यार्थ यही है कि युवक लोग अपने साथ अपनी प्रियतमाओं को लिये हुये अपने गुप्त विलास-गृहों का सेवन करते थे । किन्तु यहाँ पर वलभियों (कूटागारों) के लिये जो विशेषण दिये गये है वे द्व्यर्थक हैं जो एक ओर वलभियों के साथ लगते हैं और दूसरी ओर वधुओं के साथ । इससे एक प्रतीति

तारावती

यह उत्पन्न होती है कि वलभियाँ वधुओं के समान थीं। 'रमणीयता के कारण पताका प्राप्त करनेवाली थीं।' वलभी के पक्ष में इसका अर्थ होगा—उनपर ध्वजपट फहरा रहे थे, क्योंकि वे रमणीय थीं। ध्वजायें उन्हीं भवनों पर बाँधी जाती हैं जो रमणीय होते हैं। वधू के पक्ष मे 'वे पताका अर्थात् प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुकी थीं। किस प्रकार की प्रसिद्धि ? रमणीय या रूपवती होने की प्रसिद्धि। वलभिया विविक्त अर्थात् जन समूह से घिरे न होने के कारण राग अर्थात् सम्भोग की अभिलापा बढ़ा रहीं थीं। कुछ लोग यहाँ पर यह अर्थ करते हैं कि वलभियां जनसमूह से घिरे न होने के कारण राग अर्थात् चित्र-शोभा को बढ़ा रही थीं। आशय यह है कि उन वलभियों में चित्रकला पूर्णरूप से चमक रही थी क्योंकि लोग वहाँ आते जाते नहीं थे जिससे उस चित्रकला में मलिनता आ जाती। वधुयें भी राग अर्थात् अनुराग को बढ़ा रही थीं क्योंकि वे विविक्त अर्थात् विभक्त अङ्गोंवाली बहुत ही सुन्दरी थीं। वलभियों की वलीकायें अर्थात् छादनाधार काष्ठ झुके हुये थे। दूसरी ओर वधुओं की उदरस्थ वलियाँ (त्रिवली) झुकी हुई थीं। इस प्रकार वलभियाँ वधुओं के समान थीं। समम् शब्द का अर्थ है साथ में। (प्रश्न) 'समम्' शब्द से तुल्य अर्थ की भी तो प्रतीति होती है। यदि समम् का तुल्य अर्थ मान लिया जावे तो उपमा वाच्य हो गई। उपमा की उस वाच्यता को पूरा करने के लिये सभी विशेपणों का दूसरा अर्थ करना ही पड़ेगा अन्यथा साधारण धर्म की एकता सिद्ध नहीं होगी। इस प्रकार श्लेप यहाँ पर वाच्य ही है व्यङ्ग्य नहीं। फिर आप यहाँ पर श्लेपध्वनि किस प्रकार मानते हैं ? (उत्तर) यहाँ पर 'समम्' का उपमापरक अर्थ तभी निकल सकता है जब कि श्लिष्ट अर्थ की व्यञ्जना हो जाती है। श्लिष्ट अर्थ व्यञ्जनावृत्ति से ही निकल सकता है अभिधावृत्ति से नहीं। कारण यह है कि अभिधावृत्ति की विश्रान्ति बिना ही श्लिष्ट अर्थ के हो जाती है। अर्थसौन्दर्य के कारण ही श्लिष्ट अर्थ की ध्वनि होती है। अतएव श्लेप की ध्वनि ही मानी जावेगी अभिधा नहीं। इसीलिये यद्यपि वृत्तिकारने यह लिखा है कि 'वधुओं के समान वलभियां थीं' फिर भी उपमाध्वनि नहीं मानी। क्योंकि यहाँ पर उपमा का मूल श्लेप ही है। यदि 'समम्' इस क्रियाविशेपण के स्थानपर 'समा.' यह वधुओं या वलभियों का विशेषण रक्खा गया होता तो उपमा स्पष्ट (वाच्य) होती और उसके बल पर श्लेष का आक्षेप किया जाता। 'समम्' यह निपातार्थक अव्यय है और शीघ्र ही 'वधुओं के साथ मे' इस अर्थ का अभिधायक हो जाता है। क्योंकि यह क्रियाविशेषण है अतः वधुओं का विशेषण एकदम नहीं हो जाता। फिर व्यञ्जना के बलपर ही शब्द-श्लेप का रूप धारण करता है। यदि यहाँ पर विशेषणों को वधुओं के साथ न जोड़ा

तारावती

जावे और यह अर्थ न किया जावे कि 'वलभिया वधुओं के समान थीं' तो भी अर्थ की पूर्ति में कोई कमी नहीं रह जाती और न उसके विना अभिधा की किसी प्रकार की अपरिपुष्टता शेष रह जाती है। अतएव जब अभिधा समाप्त हो जाती है तभी केवल सहृदय व्यक्ति तो द्वितीय अर्थ को जान पाते हैं और उसके लिये कवि को कोई पृथक् यत्न करना नहीं ही पड़ता। यहाँ पर इस पूरे विवरण का आशय यही है कि जब हम इस पद्य को सुनते हैं तब हमे एकदम अर्थ का अवगमन होने लगता है कि युवक लोग वधुओं के साथ अपने कूटागारों का सेवन करते थे। बाद मे सहृदय व्यक्तियों का ध्यान जब इस ओर जाता है कि इस पद्य मे जितने भी विशेषण वलभियों के लिये दिये गये हैं वे तो वधुओं के लिये भी लागू हो सकते हैं और उससे एक अधिक सुन्दर अर्थ निकल सकता है, तब 'समम्' का अर्थ समान भी हो सकता है इस ओर सहृदयों का ध्यान जाता है। अत. यहाँ पर श्लेष व्यङ्ग्य ही है और चमत्कार का पर्यवसान उसी में होने के कारण श्लेषध्वनि यहाँ पर कही जावेगी। इसका निष्कर्ष यही है कि जहाँ पर वाच्यार्थ की पूर्णतया पूर्ति हो जावे; उसमें किसी प्रकार की कमी शेष न रह जावे उसके बाद सहृदय व्यक्तियों को चमत्कारपूर्ण एक दूसरा अर्थ प्रतीत होने लगता है वही ध्वनि का रूप धारण करता है।

यही बात पहले भी कही जा चुकी है कि—'वह प्रधानीभूत काव्यार्थ केवल शब्दानुशासन और केवल अर्थानुशासन ही नहीं जाना जा सकता उसको केवल काव्यार्थ-तत्त्ववेत्ता ही जान पाते हैं। यह बात सभी उदाहरणों मे समझी जानी चाहिये। इस बात को समझ लेने से मीमांसकों और तार्किको का स्वतः समाधान हो जाता है। मीमांसक लोग उपर्युक्त व्यञ्जना के विषय में श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति मानते हैं। आक्षेप के विषय में ममांसकों के दो मत हैं। प्रथम है कुमारिल भट्ट का और दूसरा है प्रभाकर गुरु का। प्रथम मत को श्रुतार्थापत्ति कहा जाता है और दूसरे को अर्थापत्ति। प्रथम मत के अनुसार आकांक्षा की पूर्ति के लिये शब्द का आक्षेप करलिया जाता है। जैसे—'स्थूल देवदत्त दिनमे नहीं खाता है' यहाँ पर 'रात मे खाता है' का आक्षेप करलिया जाता है। दूसरे मत के अनुसार शब्द के अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है जैसे उसी उदाहरण मे रात्रिभोजन के अर्थ का आक्षेप किया जाता है। तार्किक लोग इस प्रकार के आक्षेप को अनुमान द्वारा गतार्थ करते है। किन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार की श्रुतार्थापत्ति अर्थापत्ति या अनुमान के विना अभिधेयार्थ की ही पूर्ति नहीं होती। अभिधा ही अपर्यवसित होकर ऐसे स्थान पर स्वार्थ-निर्वाह के लिये अर्थान्तर या शब्दान्तर को अपनी ओर खींच लेती है।

ध्वन्यालोकः

यथासङ्ख्यध्वनिर्यथा—

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः ।
अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः ॥

अत्र हि यथोद्देशमनूद्देशे यच्चारुत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषणभूताङ्कुरितादिशब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुच्चयलक्षणाद्वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्यते । एवमन्येऽप्यलङ्काराः यथायोगं योजनीयाः ।

(अनु०) यथासंख्यध्वनि का उदाहरण—

'आम का वृक्ष अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ और हृदय में कामदेव भी अङ्कुरित, पल्लवित, कोरकित और पुष्पित हुआ ।'

यहाँपर निस्सन्देह उच्चारण के प्रथम क्रम के अनुसार ही जो बाद में भी उच्चारण किया गया है उससे मदन के विशेषणभूत अङ्कुरित इत्यादि शब्दों के अन्दर अनुरणन रूप जो चारुता प्रतीत होती है वह तुल्ययोगिता और समुच्चयरूप वाच्य से भिन्न ही प्रतीतिगोचर होती है ।

लोचन

एवमन्येऽपीति । सर्वेषामेवार्थालङ्काराणां ध्वन्यमानता दृश्यते । यथा च दीपकध्वनिः—

'इस प्रकार दूसरे भी' सभी अर्थालङ्कारों की ध्वन्यमानता देखी जाती है ।

तारावती

किन्तु व्यञ्जना सदा अभिधेयार्थ की पूर्ति हो जाने पर ही कार्य कर सकती है । अतएव व्यञ्जना का अन्तर्भाव तार्किकों और मीमांसकों के अनुमान, श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति में नहीं हो सकता । इसीलिये मूल में कहा गया है कि यहाँ पर श्लेष विना ही शब्द के प्रतीत होता है ।

(८) यथासंख्यध्वनि का उदाहरण—

'आम अङ्कुरित हुआ, पल्लवित हुआ, कोरकित हुआ और पुष्पित हुआ । हृदय में कामदेव अङ्कुरित हुआ, पल्लवित हुआ, कोरकित हुआ और पुष्पित हुआ ।'

यहाँ पर आम के अङ्कुरित होने इत्यादि का जोकि अप्रस्तुत हैं एक धर्म आम में सम्बन्ध होता है और काम के अङ्कुरित होने इत्यादि का जो प्रस्तुत हैं, एक धर्म कामदेव में सम्बन्ध होता है । अतएव यहाँ पर तुल्ययोगिता अलङ्कार है । आम उद्दीपन विभाव है और उसका अङ्कुरित होना ही कामोद्दीपन के लिये पर्याप्त है; पल्लवित होना इत्यादि उसी कार्य को करनेवाले हैं। अतएव यहाँ पर समुच्चयालङ्कार है । अथवा जैसे ही आम अङ्कुरित इत्यादि हुआ वैसे ही काम भी अङ्कुरित इत्यादि

तारावती

हो गया । इस प्रकार भी समुच्चयालङ्कार ही है । ये दोनों वाच्यालङ्कार हैं । कारण यह है कि समस्त प्रस्तुतों और समस्त अप्रस्तुतों को एक में जोड़ने के लिये यहाँ पर 'और' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव जब तक समस्त प्रस्तुतों और समस्त अप्रस्तुतों का एक साथ योग नहीं हो जाता तब तक और के वाच्यार्थ की पूर्ति ही नहीं होती । इसी प्रकार आम और कामदेव के एक साथ अङ्कुरित होने इत्यादि का बोध भी 'और' इस शब्द के प्रयोग के कारण ही होता है । और इस शब्द का प्रयोग भी 'जैसे ही' के अर्थ में देखा जाता है। जैसे 'मैंने उसे देखा और मुझे क्रोध आगया।' इसका आशय यही है कि उसको देखना और क्रोध का आना एक साथ हुआ । इस प्रकार यहाँ पर समुच्चय और तुल्ययोगिता दोनों ही वाच्यालङ्कार हैं । अर्थ की परिसमाप्ति यहीं पर हो जाती है । बाद में 'पश्चात् निर्देश होने पर क्रमशः सम्बन्ध हुआ करता है' इस सिद्धान्त को लेकर यह आशय निकल आता है कि जैसे ही आम अङ्कुरित हुआ काम अङ्कुरित होगया, आम के पल्लवित होते ही काम पल्लवित होगया, आम के कोरकित होते ही काम कोरकित होगया और आम के पुष्पित होते ही काम भी पुष्पित हो गया । यह यथासंख्य अलङ्कार वाच्य की सीमा के बाहर है और केवल ध्वनित ही हो रहा है । यथासम्भव अलङ्कार वाच्य वहाँ पर होता है जहाँ क्रमानुसार अन्वय के न होने पर वाच्य की परिसमाप्ति ही न हो । जैसे काव्य-प्रकाश का उदाहरण—'हे राजन् यह बड़ी विचित्र बात है कि आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों और मृगनयनियों के अन्तःकरणों में तीन प्रकार से निवास करते है और अपनी प्रतापाग्नि, विनय और विलास के द्वारा उनके अन्तःकरणों में सन्ताप, आनन्द और रति को पुष्ट करते हैं ।' इस उदाहरण में क्रमशः प्रतापाग्नि से शत्रुओं में सन्ताप उत्पन्न किया जाता है, विनय के द्वारा विद्वानों में आनन्द की सृष्टि की जाती है और विलास के द्वारा रमणियों मे रति का परिपोष किया जाता है । न तो शत्रुओं में आनन्द या रति हो सकती है; न विद्वानों या रमणियों में सन्ताप ही हो सकता है । जब तक यहाँ पर क्रमशः अर्थ नहीं किया जाता तब तक वाच्यार्थ की परिसमाप्ति होती ही नहीं । किन्तु यह बात प्रस्तुत उदाहरण में नहीं है । यहाँ पर आम के पुष्पित होने से काम कोरकित भी हो सकता है अङ्कुरित भी हो सकता है और पुष्पित भी हो सकता है । इसी प्रकार आम के कोरकित होने से भी ये सभी बातें हो सकती हैं । इसीलिये यहाँ पर यथासंख्य व्यङ्ग्य है वाच्य नहीं ।)

ऊपर कतिपय अलङ्कारों की ध्वनि का निरूपण किया गया है । सभी प्रकार के अर्थालङ्कार प्रायः ध्वनित होते हुये देखे जाते हैं । अन्य अलङ्कारों की ध्वनि को भी यथासम्भव समझ लेना चाहिये । कतिपय उदाहरण और लीजिये—

लोचन

अपह्नुतिध्वनिर्यथाऽस्मदुपाध्यायभट्टेन्दुराजस्य—

यः कालागुरुपत्त्रभङ्गरचना वासैकसारायते
गौराङ्गीकुचकुम्भभूरिसुभगाभोगे सुधाधामनि ॥
विच्छेदानलदीपितोत्कवनिताचेतोऽधिवासोद्भवं
सन्तापं विनिनीषुरेष विततैरङ्गैर्नताङ्गि स्मरः ॥

अत्र चन्द्रमण्डलमध्यवर्तिनो लक्ष्मणो वियोगाग्निपरिचितवनिताहृदयोदित-प्लोषमलीमसच्छविमन्मथाकारतयापह्नवो ध्वन्यते । अत्रैव सन्देहध्वनिः—यतश्चन्द्र-

अपह्नुति की ध्वनि जैसे हमारे उपाध्याय भट्टेन्दुराज का—

'जो गौराङ्गी वनिताओं के कुचकुम्भ के समान विशाल तथा सुभग आभोग-वाले सुधाकर मे काले अगर के बड़े पत्ते की रचना के निवास के समान सारवान् हो रहा है, हे नताङ्गि वह वियोगाग्नि से प्रदीप्त उत्कण्ठित वनिताओं के चित्त में निवास करने से उत्पन्न सन्ताप को दूर करने की इच्छा करते हुये यह कामदेव अपने विस्तृत (फैले हुये) अंगों से (विराजमान है) ।

यहाँ पर चन्द्रमण्डल मध्यवर्ती चिन्ह का वियोगाग्नि से परिचित वनिताओं के हृदय मे उत्पन्न जलन के कारण मलिन कान्तिवाले कामदेव के आकार के रूप मे अपह्नव (छिपाना) ध्वनित होता है । यहीं पर सन्देहध्वनि-क्योंकि चन्द्रवर्ती

तारावती

पर्यवसान यहीं पर हो जाता है । बाद मे वाच्यार्थ के बल पर एक दूसरा अर्थ और निकलता है—'कुलवती प्रियतमा सौभाग्य के अभिमान से भरी हुई है और वह परिमलयुक्त मालती के पुष्प के समान सुकुमार है । वह सदा विना किसी छल के शुद्ध प्रेम का पालन करती रहती है । दूसरी ओर प्रियतम वेश्याओं के समूह मे निन्दनीय रूप में स्वेच्छापूर्वक इधर-उधर घूमता रहता है, वेश्याओं के समूह ने बनावटी निपुणता के कारण अधिक ख्याति प्राप्त कर रक्खी है । अतएव वे ऐसी मालूम पडती हैं जैसे मानों दूर से आमोद को बगरानेवाले केतकी के समूह हो । जिस प्रकार केतकी में काटे भरे रहते है उसी प्रकार वेश्या के पास भी कुट्टिनी रहती है । नायिका का अभिप्राय यह है कि हे प्रियतम तुम चाहे जितना वेश्याओं के समूह मे घूमो तुम्हे वह आनन्द अन्यत्र कहीं नहीं आ सकता जो मुझसे प्राप्त हो सकता है ।

(इ) अपह्नुतिध्वनि—जैसे मेरे (अभिनवगुप्त के) उपाध्याय भट्टेन्दुराज ने लिखा है—

' हे नताङ्गि ? गौराङ्गी ललना के कुचकुम्भ के समान विशाल और सुभग

लोचन

वर्तिनस्तस्य नामापि न गृहीतम् । अपितु गौराङ्गीस्तनाभोगस्थानीये चन्द्रमसि कालागुरुपत्त्रभङ्गविच्छित्त्यास्पदत्वेन यः सारतामुत्कृष्टतामाचरतीति तन्न जानीमः किमेतद्वस्त्विति ससन्देहोऽपि ध्वन्यते । पूर्वमनङ्गीकृतप्रणयामनुतप्तां विरहोत्कण्ठितां वल्लभागमनप्रतीक्षापरत्वेन कृतप्रसाधनादिविधितया वासकसज्जीभूतां पूर्णचन्द्रोदयावसरे दूतीमुखानीतः प्रियतमस्त्वदीयकुचकलशन्यस्तकालागुरुपत्त्रभङ्गरचना मन्मथोद्दीपनकारिणीति चाटुकं कुर्वाणश्चन्द्रवर्तिनी चेयं कुवलयदलश्यामलकान्तिरेवमेव

उसका नाम भी नहीं लिया अपितु गौराङ्गीस्तनाभोग के समान चन्द्रमा में काले अगर के पत्रभङ्ग की विच्छित्ति के योग से जो सारता अर्थात् उत्कृष्टता को धारण करता है वह हम नहीं जानते कि क्या वस्तु है ? इस प्रकार सन्देह भी ध्वनित होता है । पहले प्रणय को अङ्गीकार न करने के कारण अनुतप्त, (अतः) विरहोत्कण्ठिता, वल्लभ के आगमन की प्रतीक्षा में लगे होने के कारण प्रसाधन इत्यादि विधि के सम्पादन कर लेने से वासकसज्जा बनी हुई (नायिका से) दूतीमुख से बुलाया हुआ प्रियतम 'तुम्हारे कुचकलश मे लगी हुई कालागुरुपत्रभङ्गरचना कामोद्दीपनकारिणी है' यह चाटुकारिता करते हुये 'यह चन्द्रवर्तिनी कुवलयदलश्यामल कान्ति (भी)

तारावती

विस्तारवाले सुधाकर मे जो काले अगर की पत्र-रचना के रूप मे निवास करने के ही कारण सुन्दरता को प्राप्त हो रहा है, यह कामदेव अपने विस्तृत अङ्गों के द्वारा वियोगाग्नि से प्रज्वलित उत्कण्ठित वनिताओं के चित्तों में निवास करने से उत्पन्न हुये सन्ताप को दूर करना चाहता है ।'

यहाँ पर चन्द्रमा में जो काले धब्बे पड़े हुये हैं उनके लिये कहा गया है कि वह कामदेव है जो कि वियोगिनी स्त्रियों के अन्तःकरणों मे रहा है । वियोगिनियों के अन्तःकरण वियोगाग्नि से प्रदीप्त थे अतएव उनमे निवास करने के कारण कामदेव के अङ्ग भी काले पड़ गये । उन सन्तप्त अङ्गों के सन्ताप को शान्त करने के लिये कामदेव अपने अङ्गों को फैला कर चन्द्रमा में लेट रहा है । इस प्रकार यहाँ पर अपह्नुति की ध्वनि निकलती है—'यह चन्द्रमा मे कलङ्क नहीं है किन्तु कामदेव अपने अङ्गों के सन्ताप को शान्त करने के लिये लेटा हुआ है।' यहाँ पर निषेध शब्दवाच्य नहीं है इसीलिये अपह्नुति वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही कही जा सकती है ।

अपह्नुति के अतिरिक्त इसमें कई एक अन्य अलङ्कारों की भी ध्वनि है—

(१) सन्देहध्वनि—यहाँ पर चन्द्रमण्डलमध्यवर्ती कलङ्क का नाम भी नहीं लिया गया । किन्तु गौराङ्गी के स्तनाभोग के समान चन्द्रमण्डल मे कालागुरु की पत्ररचना की समता के कारण जो उत्कृष्टता को प्राप्त हो रहा है वह हमें नहीं मालूम कि क्या वस्तु है ? इस प्रकार सन्देह की भी ध्वनि होती है ।

लोचन

अत्र हि मधुमासमदनासवानां त्रैलोक्ये सुभगतान्योन्यं परिपोषकत्वेन। ते तु त्वयि लोकोत्तरेण वपुषा सम्भूय स्थिताः इत्यतिशयोक्तिर्ध्वन्यते। आपातेऽपि विकारकारणमित्यास्वादपरम्परा क्रिययापि विना विकारात्मनः फलस्य सम्पत्तिरिति विभावनाध्वनिरपि। विभ्रममधोर्धुर्यमिति तुल्ययोगिताध्वनिरपि। एवं सर्वालङ्काराणां ध्वन्यमानत्वमस्तीति मन्तव्यम्। न तु यथा कैश्चिन्नियतविषयीकृतम्। यथायोगमिति। क्वचिदलङ्कारः क्वचिद्वस्तु व्यञ्जकमित्यर्थो योजनीय इति ॥ २७ ॥

यहाँ पर निस्सन्देह मधुमास, मदन और आसवों की तीनों लोकों में सुभगता एक दूसरे के परिपोषक के रूप में है। 'वे तो तुम्हारे अन्दर शरीर से एकत्र होकर स्थिर हुये हैं' इस प्रकार अतिशयोक्ति ध्वनित होती है। 'आपात में ही विकार कारण' यह आस्वाद-परम्परा की क्रिया के विना ही विकारात्मक फल की उत्पत्ति (हो जाती है) अतः विभावनाध्वनि भी है। इस प्रकार समस्त अलङ्कारों की ध्वन्यमानता (हो सकती) है यह मानना चाहिये। ऐसा नहीं जैसा कि कुछ लोगों ने उसे नियतविषयवाला बना दिया है। 'यथायोग' यह। कहीं अलङ्कार कहीं वस्तु व्यञ्जक होती है यह अर्थ योजित कर लिया जाना चाहिये ॥ २७ ॥

तारावती

प्रवेश सङ्कर है। इत्यादि स्वयं यथोचित रूप मे समझ लेना चाहिये।)

(ई) अतिशयोक्तिध्वनि का उदाहरण जैसे मेरा (अभिनवगुप्त का) लिखा हुआ पद्य :—

'तुम्हारे दोनों नेत्र क्रीडा के नवाङ्कुर के समान स्थित विलासमय वसन्त का अग्रगण्य शरीर है, भौंहों के लीलामय विलास का कार्यक्रम भङ्गिमा के साथ झुकनेवाला यह धनुप है; कुछ ही आस्वाद लेनेपर मुख कमल की मदिरा आश्चर्यजनक रूप मे विकार को उत्पन्न करनेवाली है। हे सुन्दरी! सचमुच ब्रह्माजी की एक अनुपम रचना तुम इन तीनों लोकों का सार हो।'

मधु, मदन और मदिरा इन तीनों मे लोकोत्तर सौन्दर्य है। इसका कारण एक यह है कि ये तीनों एक दूसरे के पोपक होते है। वे तीनों मिलकर नायिका के शरीर मे विद्यमान है। मधु नेत्रों के रूप में और मदिरा मुख-कमल के अधरामृत के रूप में विद्यमान है ही, भौह के रूप मे काम-कार्मुक की भी सत्ता पाई ही जाती है। जव कामदेव का धनुष उपस्थित ही है तव कामदेव की उपस्थिति मे भी कोई शङ्का की वात नहीं रह जाती। यहाँ पर मधु, मदन और मदिरा के नायिका के शरीर के रूप में स्थित होने का सम्बन्ध होते हुये भी सम्वन्ध की कल्पना की गई है; अतः यहाँ पर सम्वन्धातिशयोक्ति अलंकार ध्वनित है। इसके अतिरिक्त मधु तथा नेत्र,

ध्वन्यालोकः

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां ख्यापयितुमिदमुच्यते—

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वेन व्यवस्थितम्।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः ॥ २८ ॥

(अनु०) इस प्रकार अलङ्कारों की ध्वनि के मार्ग का व्युत्पादन कर उसकी प्रयोजनवत्ता को ख्यापित करने के लिये यह कहा जा रहा है—

'वाच्यत्व की दशा में जिन अलङ्कारों का शरीरीकरण व्यवस्थित नहीं है वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनकर बहुत बड़ी छाया को प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥

लोचन

ननूक्तास्तावच्चिरन्तनैरलङ्कारास्तेषां तु भवता यदि व्यङ्ग्यत्वं प्रदर्शितं किमियतेत्याशङ्क्याह—एवमित्यादि। येषामलङ्काराणां वाच्यत्वेन शरीरीकरणं शरीरभूताप्रस्तुतादर्थान्तरभूततया अशरीराणां कटकादिस्थानीयानां शरीरतापादनं व्यवस्थितं

(प्रश्न) प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कार बतलाये थे उनका यदि आपके द्वारा व्यङ्ग्यत्व दिखलाया गया इससे क्या ? (इसमें क्या नवीनता आ गई ?) यह शङ्काकर (उत्तर में) कहते हैं—'एवम् इत्यादि।' जिन अलङ्कारों का वाच्यत्व के रूप में शरीरीकरण—अर्थात् शरीरस्थानीय प्रस्तुत से (भिन्न) दूसरा अर्थ होने के कारण अशरीर कटक इत्यादि स्थानीय (अलङ्कारों का) शरीरता-सम्पादन

तारावती

मुखासव तथा मदिरा, भ्रू तथा काम-कार्मुक में भेद होते हुये भी अभेद की कल्पना की गई है, अतएव यहाँ पर अभेदातिशयोक्ति की ध्वनि है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित अलंकारों की ध्वनि भी यहाँ हो सकती है:—

(१) विभावनाध्वनि-वास्तव में मदिरा तभी मस्तीरूप विकार उत्पन्न कर सकती है जब कि उसके पीने के बाद कुछ विलम्ब हो जावे। कोई भी मदिरा पीते ही मस्ती उत्पन्न नहीं कर सकती। अतएव मस्तीरूप कार्य में आस्वाद-परम्परा कारण है। किन्तु यहाँ पर मुख-मदिरा बिना ही आस्वाद-परम्परा के आपातमात्र से ही विकार उत्पन्न कर देती है। अतएव बिना ही कारण के कार्य उत्पत्ति हो जाने से विभावना अलंकारध्वनि है।

(२) तुल्ययोगिताध्वनि—दोनों नेत्र और वसन्त ये दोनों विलासों का शरीर बतलाये गये हैं। इस प्रकार अधिक वसन्त के साथ समानता स्थापित कर न्यून (नेत्रों) का एक धर्म (विलासों) में सम्बन्ध किया गया है। उद्भट के अनुसार विशिष्ट के साथ न्यून की समता स्थापित कर जहाँ एक धर्म में सम्बन्ध किया जाता है वहाँ पर तुल्ययोगिता होती है। इस प्रकार यहाँ पर तुल्ययोगिता की ध्वनि है।

ध्वन्यालोकः

ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च। तत्रेह प्रकरणाद्व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम्। व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः। इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयिष्यते।

(अनु०) ध्वन्यङ्गता दोनो प्रकार से होती है व्यञ्जकत्व के रूप मे भी और व्यङ्ग्यत्व के रूप में भी। उनमें यहाँ पर प्रकरण होने के कारण व्यङ्ग्यत्व के रूप में ही ध्वन्यङ्गता समझी जानी चाहिये। व्यङ्ग्यता होने पर भी अलङ्कारों की प्राधान्य विवक्षा होने पर ही ध्वनि मे अन्तःपात (समावेश) होता है। अन्यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व का प्रतिपादन किया जावेगा।

लोचन

सुकवीनामयत्नसम्पाद्यतया। यदि वा वाच्यत्वे सति येषां शरीरतापादनमपि न व्यवस्थितं दुर्घटमिति यावत्। तेऽलङ्काराः ध्वनेर्व्यापारस्य काव्यस्य वाङ्गतां व्यङ्ग्यरूपतया गताः सन्तः परां दुर्लभां छायां कान्तिमात्मरूपतां यान्ति। एतदुक्तं भवति—

व्यवस्थित है क्योंकि सुकवियो के लिये अयत्नसम्पाद्य (हो जाता है)। अथवा वाच्यत्व के होने पर जिनका शरीरता-सम्पादन भी व्यवस्थित नहीं है अर्थात् दुर्घट है। वे अलङ्कार ध्वनि व्यापार या काव्य की अङ्गता को व्यङ्ग्यरूप मे प्राप्त होकर परा अर्थात् दुर्लभ छाया अर्थात् कान्ति को आत्मरूपता प्रदान कर देते हैं। यह

तारावती

आशय है कि जितने भी अलंकार होते हैं सभी की ध्वनि हो सकती है। केवल नियत विषय में ही अलंकारों की ध्वनि नहीं होती जैसा कि कुछ लोगों का विचार है। ऊपर कुछ उदाहरण दिये गये है। अवसर और औचित्य के अनुसार अन्य अलङ्कारों की ध्वनि भी समझ ली जानी चाहिये। अवसर और औचित्य का आशय यह है कि कहीं तो अलङ्कार मे दूसरा अलङ्कार व्यञ्जक होता है और कहीं केवल वस्तु व्यञ्जक होती है। जहाँ जैसा अवसर हो वहाँ वैसी ही व्यञ्जना समझ ली जानी चाहिये ॥ २७ ॥

अलङ्कारध्वनि का मार्ग यहाँ तक बतलाया जा चुका। अब प्रश्न आता है कि जब पुराने आचार्यो ने अलङ्कारों का निरूपण कर ही दिया तब आपने उनकी व्यञ्जना बतलाकर कौन-सी नई बात कही? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उसका प्रयोजन २८ वीं कारिका मे बतलाया जा रहा है—

(इस कारिका मे दो प्रकार की योजना की जा सकती है एक तो 'वाच्यत्वेन' को एक तृतीयान्त शब्द मानकर और दूसरे 'वाच्यत्वे + न' इस प्रकार एक सप्तम्यन्त शब्द से न को पृथक् मानकर। शरीरीकरण शब्द में च्विप्रत्यय है जिसका अर्थ

लोचन

सुकविर्विदग्धपुरन्ध्रीवद्भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसम्पाद्या कुङ्कुमपीतिकाया इव। आत्मतायास्तु का सम्भावनापि। एवम्भूता चेयं व्यङ्ग्यता या अप्रधानभूतापि वाच्यमात्रालङ्कारेभ्य उत्कर्षमलङ्काराणां वितरति। बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्यमुमर्थं मनसि कृत्वाह—इतरथात्विति॥ २८॥

कहा गया है—सुकवि यद्यपि विदग्ध तथा बहुत बड़े परिवारवाली स्त्री के समान अलङ्कार को अत्यन्त श्लिष्टता के साथ जोड़ता है तथापि कुंकुम की पीलिमा के समान उसको शरीरता प्रदान करना ही कष्टसम्पाद्य है। आत्मरूपता प्रदान करने की तो सम्भावना ही क्या? वह व्यङ्ग्यता इस प्रकार की है जो अप्रधान होते हुये भी वाच्यमात्र अलंकारों से (व्यङ्ग्य) अलंकारों को उत्कर्ष प्रदान कर देती है जैसे बालक्रीडा में भी राजत्व (उत्कर्ष देनेवाला होता है।) इस अर्थ को मन मे रखकर कहते हैं—'अन्यथा तो'॥ २८॥

तारावती

होता है-जो शरीर नहीं हैं उनको शरीर बना दिया जावे।)?—प्रस्तुत अर्थ काव्य का शरीर-स्थानीय होता है। अलङ्कार उससे भिन्न एक दूसरा ही अर्थ होते हैं, अतएव वे वाच्य होते हुये काव्य के शरीर उसी प्रकार नहीं होते जैसे शरीर से पृथग्भूत कटक-कुण्डल इत्यादि शरीर की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकते। उन अलङ्कारों को शरीर बना देना व्यवस्थित है क्योंकि अच्छे कवियों के लिये यह बात विना प्रयत्न के हो जाती है। अथवा दूसरी योजना के अनुसार इसका अर्थ होगा—वाच्य होने पर जिनके अन्दर शरीरत्व धर्म का सम्पादन करना भी व्यवस्थित नहीं होता अर्थात् अत्यन्त दुष्कर होता है। वे अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग बनकर अर्थात् व्यङ्ग्य के रूप में ध्वनि-व्यापार का अङ्ग बनकर या ध्वनिकाव्य का अङ्ग बनकर बहुत बड़ी दुर्लभ छाया अर्थात् कान्ति को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ पर कहने का आशय यह है कि यद्यपि एक सुकवि विदग्धललना के समान आभूपणों को बड़ी ही निपुणता से सजाता है जोकि बिलकुल ही ठीक बैठ जाते हैं किन्तु फिर भी वे अलङ्कार कभी भी शरीर का अवयव नहीं बन सकते। कुङ्कुम कितनी ही कुशलता से लगाया जावे किन्तु वह शरीर के स्वाभाविक सुनहले रंग का रूप कभी धारण नहीं कर सकता। जब अलङ्कार शरीर ही नहीं बन सकता तब आत्मा का रूप धारण कर सकेगा इसकी तो सम्भावना ही नहीं की जा सकती। यह व्यङ्ग्य होना ही एक ऐसा तत्त्व है जो अप्रधानभूत होते हुये भी केवल वाच्य अलङ्कारों की अपेक्षा अलङ्कारों को उत्कर्ष प्रदान करदेती है। जिस प्रकार बालक्रीडा मे कोई राजा बनजाता है। इसी बात को मन में रखकर वृत्तिकार ने कहा है कि अन्यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व का प्रतिपादन आगे चल

ध्वन्यालोकः

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि अलङ्काराणां द्वयी गतिः—कदाचिद्वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलङ्कारेण। तत्र—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां
अत्र हेतुः—
काव्यवृत्तिस्तदाश्रया ॥ २९ ॥

यस्मात्तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेनैव काव्यं प्रवृत्तम्। अन्यथा तु तद्वाक्यमात्रमेव स्यात्।

(अनु०) अङ्गी के रूप में व्यङ्ग्य होने पर भी अलङ्कारों की गति दो प्रकार की होती है—कभी वस्तुमात्र से व्यक्त होते हैं कभी अलङ्कार से। उनमें—

'जब वस्तुमात्र से अलङ्कार व्यक्त होते हैं तब वे निस्सन्देह ध्वनि का अङ्ग बन जाते हैं।

इसमें कारण यह है—

काव्यवृत्ति उन्हीं के आधीन रहती है ॥ २६ ॥

क्योंकि वहाँ पर उस प्रकार के व्यङ्ग्य-अलङ्कार-परक होकर ही काव्य प्रवृत्त हुआ है। अन्यथा वह वाक्यमात्र ही रह जाता।

तारावती

कर किया जावेगा (अभिनवगुप्त के 'अप्रधान होते हुये' शब्द का आशय यह है कि अभिनवगुप्त रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। अतः प्रधानतया तो रसध्वनि ही काव्य की आत्मा हुआ करती है किन्तु जिस प्रकार बच्चे खेल मे किसी एक बच्चे को राजा बना दिया करते हैं। वह बच्चा यद्यपि राजा होता नहीं है फिर भी अन्य बच्चों की अपेक्षा उसे कुछ अधिक महत्त्व मिल जाता है। उसी प्रकार जब अलङ्कार व्यङ्ग्य होते हैं तब यद्यपि वे रसध्वनि के समान काव्य का प्रधानीभूत आत्मा तो नहीं बन जाते तथापि उन्हें अन्य वाच्यालङ्कारों की अपेक्षा कुछ अधिक महत्त्व अवश्य मिल जाता है।) अलङ्कार ध्वनि का अङ्ग दो रूपों में हो सकता है एक व्यञ्जक के रूप में एक व्यङ्ग्य के रूप में। अतएव प्रस्तुत प्रकरण मे जहाँ-कहीं भी अलङ्कारध्वनि शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ पर व्यङ्ग्य अलङ्कार का ही अभिप्राय समझना चाहिये। एक बात और ध्यान रखनी चाहिये कि अलङ्कार के व्यङ्ग्य होने पर भी जहाँ उसकी प्रधानता होगी वहीं उसकी प्रधानता ध्वनि के अन्दर होगी यदि व्यङ्ग्य अलंकार की प्रधानता नहीं होगी तो उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहेंगे जिसका विस्तृत विवेचन आगे चलकर किया जावेगा ॥ २८ ॥

ध्वन्यालोकः

तासामेवालङ्कृतीनां—

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे

पुनः

ध्वन्यङ्गता भवेत् ।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥ ३० ॥

उक्तं ह्येतत्—'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' इति। वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्काराणामनन्तरोपदर्शितेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः। तदेवमर्थमात्रेणालङ्कारविशेषरूपेण वार्थेनार्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्षनिबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः।

(अनु०) उन्हीं अलङ्कारों के—

'दूसरे अलङ्कारों द्वारा व्यङ्ग्य होने पर तो

उनकी ध्वन्यङ्गता हो जाती है अर्थात् वे ध्वनि का अङ्ग बन जाते हैं, यदि चारुत्व के उत्कर्ष के कारण व्यङ्ग्य की प्रधानता लक्षित हो रही हो ॥ ३० ॥'

यह बात कही जा चुकी है कि वाच्य और व्यङ्ग्य की प्राधान्य विवक्षा चारुता के उत्कर्ष के आधीन होती है। यदि अलङ्कार केवल वस्तु के द्वारा व्यङ्ग्य हो तो अभी दिखलाये हुये उदाहरणों से उनका विषय समझ लेना चाहिये। अतः इस प्रकार अर्थमात्र से अथवा दूसरे अलङ्कार-विशेषरूप अर्थ से अर्थान्तर के अथवा अलङ्कार के प्रकाशित होने पर चारुत्व के उत्कर्ष के आधीन प्राधान्य के होने पर अर्थशक्त्युद्भव अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि समझी जानी चाहिये।

लोचन

तत्रेति द्वय्यां गतौ सत्याम्। अत्र हेतुरित्ययं वृत्तिग्रन्थः। काव्यस्य कविव्यापारस्य वृत्तिस्तदाश्रयालङ्कारप्रवणा यतः। अन्यथेति। यदि न तत्परत्वमित्यर्थः। तेन तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यता नैव शङ्क्येति तात्पर्यम्।

तासामेवालङ्कृतीनामिति पठिष्यमाणकारिकोपस्कारः। पुनरिति कारिकामध्य

'उसमे यह'। दो गतियों के होनेपर। 'अत्र हेतुः' यह वृत्ति ग्रन्थ है (कारिका भाग नहीं)। क्योंकि काव्य की अर्थात् कविव्यापार की वृत्ति तदाश्रय अर्थात् अलंकारोन्मुख होती है। 'अन्यथा' अर्थात् यदि तत्परत्व न हो। इससे तात्पर्य यह है कि वहाँ पर गुणीभूत व्यङ्ग्य होने की आशंका करनी चाहिये।

'तासामेव अलंकृतीनाम्' यह आगे आनेवाली कारिका का उपस्कार है।

तारावती

पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य। अलक्ष्यक्रम का प्रकाशन वर्ण, पद, वाक्य-संघटना और प्रबन्ध के द्वारा होता है। अतएव ध्वनि के ३५ भेद होते हैं।

[काव्यप्रकाशकार ने ध्वनि के ५१ भेद बतलाये हैं। उनका परिगणन इस प्रकार है—लक्षणामूलक ध्वनि दो प्रकार की होती हैं-अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि। इन दोनों में प्रत्येक के दो दो भेद किये जा सकते हैं-१-वाक्यगत और २-पद गत। इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के कुल चार भेद हुये। अभिधामूलक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि ६ प्रकार की होती है १-वाक्य-गत, २-पदगत, ३-पदांशगत, ४-वर्णगत, ५-रचनागत और ६-प्रबन्धगत। इस प्रकार कुल मिलाकर १० भेद हुये। अभिधा-मूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के दो भेद होते हैं—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि। इनमें प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं (१) वाक्यगत, (२) पदगत। इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के चार भेद हुये। पूर्वोक्त १० भेदों को मिलाकर १४ भेद हो गये। अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तुध्वनि इत्यादि १२ भेद बतलाये जा चुके हैं। उनमे प्रत्येक के तीन तीन भेद होते है। (१) पदगत, (२) वाक्यगत और (३) प्रबन्धगत। इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के ३६ भेद हो गये। पूर्वोक्त १४ भेदों को मिलाकर कुल ५० भेद हुये। एक उभय शक्तिमूलक ध्वनि होती है। इस प्रकार कुल ५१ भेद हो गये।

प्रतिहारेन्दुराज ने गणना का क्रम कुछ भिन्न ही रक्खा है। उन्होंने लघुवृत्ति मे लिखा है—'ध्वनि दो प्रकार की होती है—वाचकशक्तिमूलक (शब्दशक्ति-मूलक) और वाच्यशक्तिमूलक (अर्थशक्तिमूलक) वाचकशक्तिमूलक ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि। इन तीनों भेदों की एकता का स्थापित करनेवाला तत्त्व है वाच्यार्थ का विवक्षित होना। वस्तु और अलङ्कारध्वनि की दृष्टि से व्यञ्जक वाच्य दो प्रकार का होता है—विवक्षित और अविवक्षित। अतएव इन भेदो का आश्रय लेने से तीनों प्रकार के प्रतीयमान अर्थों में रहनेवाले व्यञ्जकतत्त्व के छः प्रकार होते है। इन छः प्रकारों मे दो भेदों में वाच्य अविक्षित बतलाया गया है। चार से विवक्षित बतलाया गया है। जहाँ पर वाच्य विवक्षित होता है वहाँ वाच्य दो प्रकार का होता है—स्वतः सम्भवी और प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न। इस प्रकार उसके ८ भेद हो जाते है। ये ८ भेद अविवक्षित वाच्य के दो भेदो को मिलाकर १० हो जाते हैं। इनमे प्रत्येक के पद-गत और वाक्यगत ये दो दो भेद करके २० हो जाते है। वर्णसंघटना प्रबन्ध इत्यादि भेद पद और वाक्य मे ही सन्निविष्ट हो जाते है। इस प्रकार ध्वनि के २० ही मूल भेद होते है और इतने ही यथा सम्भव गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद होते हैं।]

ध्वन्यालोकः

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥ ३१ ॥

(अनु०) इस प्रकार ध्वनि के भेदोपभेदों का प्रतिपादन करके उनके आभास का विवेक करने के लिये कहा जा रहा है—

'जहाँ प्रतीयमान अर्थ मलिनता के साथ भासित हो अथवा वाच्य के अङ्ग के रूप में भासित हो वह इस ध्वनि का गोचर नहीं होता ॥ ३१ ॥

लोचन

एवमिति । अविविक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्य इति द्वौ मूलभेदौ । आद्यस्य द्वौ भेदौ—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यश्च । द्वितीयस्य द्वौ भेदौ–अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च । प्रथमोऽनन्तभेदः । द्वितीयो द्विविधः—शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च । पश्चिमस्त्रिविधः–कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः, स्वतः सम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः । आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः । ते च पदवाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते । अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसङ्घटनाप्रबन्धप्रकाशत्वेन पञ्चत्रिंशद्भेदाः । तदाभासेभ्यो ध्वन्याभासेभ्यो विवेको विभागः ।

'इस प्रकार इति' । अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य ये दो मूल भेद हैं । प्रथम के दो भेद–अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य । द्वितीय के दो भेद अलक्ष्यक्रम और अनुरणनरूप।प्रथम के अनन्त भेद हैं । द्वितीय दो प्रकार का होता है—शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक। अन्तिम तीन प्रकार का (होता) है—कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीर और स्वतः सम्भवी। वे प्रत्येक व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के उक्त भेदों की नीति से चार प्रकार के होते हैं इस प्रकार १२ प्रकार का अर्थशक्तिमूल होता है । प्रारम्भ के चार भेद इस प्रकार १६ मुख्य भेद होते हैं । वे पद और वाक्य के रूप में प्रत्येक दो प्रकार के कहे जावेंगे । अलक्ष्यक्रम के तो वर्ण, पद, वाक्य, संघटना और प्रबन्ध प्रकाश्य होने रूप मे ३५ भेद होते हैं । उनके आभासों से अर्थात् ध्वन्याभासों से विवेक अर्थात् विभाग ।

तारावती

इस प्रकार ध्वनि के भेदोपभेदों का प्रतिपादन कर अब उनके आभास का विवेक करने के लिये कहा जा रहा है । उनके आभास का अर्थ है ध्वनि का आभास और विवेक का अर्थ है विभाग । कारिका का अर्थ इस प्रकार है—'ऐसा

ध्वन्यालोकः

द्विविधोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च। तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्त्याऽर्थशक्त्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेर्मार्गो नेतरः। स्फुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः। यथा—

कमलाअराणं मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा।
केण वि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम्॥

(अनु०) प्रतीयमान निस्सन्देह दो प्रकार का होता है—स्फुट और अस्फुट। उनमे जो स्फुट प्रतीयमान शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्ति से प्रकाशित होता है वही ध्वनि का मार्ग है दूसरा नहीं। स्फुट भी जो प्रतीयमान अभिमेय के अंग के रूप में अवभासित होता है वह इस अनुरणनरूप व्यंग्य ध्वनि का गोचर नहीं होता। जैसे—

'कमलों के आकर मलिन नहीं हुये; हंस भी सहसा उड़े नहीं; किसी ने मेघ-मण्डल को ऊपर उठाकर गाँव के तालाब में फेंक दिया।'

लोचन

अस्येत्यात्मभूतस्य ध्वनेरसौ काव्यविशेषो न गोचरः।

कमलाकरा न मलिना हंसा उड्डायिता न च सहसा।
केनापि ग्रामतडागेऽभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम्॥ इतिच्छाया।

अन्ये तु पिउच्छा पितृश्वसः इत्यमामन्त्रयते। केनापि अति निपुणेन।

इसका अर्थात् आत्मभूत ध्वनि का यह काव्यविशेप गोचर (विपय) नहीं होता।

'कमलों का समूह मलिन नहीं पड़ा, हंस सहसा उड़ नहीं गये, किसी ने आकाश को उठाया और गाँव के तालाव में डाल दिया।'

दूसरे लोग तो 'पिउच्छा' का (संस्कृत में अनुवाद) 'पितृस्वसः' यह सम्बोधन मे करते हैं, अर्थात् हे पिता की वहन। 'किसी ने' अर्थात् अत्यन्त निपुण ने।

तारावती

स्थान ध्वनि के क्षेत्र मे नहीं आता जिसमे प्रतीयमान अर्थ या तो मलिनता के साथ भासित हो या वाच्य का अङ्ग बन जावे।' कारिका में कहा गया है कि 'इस ध्वनि का वह गोचर नहीं होता।' यहाँ पर 'इस' का अर्थ है जो ध्वनि आत्मा के रूप मे स्थित है। 'वह' का अर्थ है उस प्रकार का काव्य जिसमे प्रतीयमान अर्थ या तो मलिन हो या वाच्य का अङ्ग हो। आशय यह है कि प्रतीयमान अर्थ दो प्रकार का होता है—स्फुट और अस्फुट। उनमे जो स्फुट प्रतीयमान अर्थ शब्दशक्ति और अर्थशक्ति से प्रकाशित होता है वही ध्वनि का विषय होता है और कोई नहीं। स्फुट भी जो प्रतीयमान अर्थ अभिधेय के अङ्ग के रूप मे अवभासित होता है वह इस ध्वनि के क्षेत्र मे नहीं आता। जैसे—

ध्वन्यालोकः

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधर प्रतिविम्बदर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव। एवं विधेविपयेऽन्यत्रादि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाचस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीते ध्वनेरविपयत्वम्।

(अनु०) यहाँ पर प्रतीयमान मुग्धवधू द्वारा जलधर प्रतिविम्ब दर्शन की वाच्यांगता ही है। इस प्रकार के विषय में अन्यत्र भी जहॉ पर व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य की चारुत्वोकर्ष की प्रतीति से प्रधानता का निश्चय किया जाता है, वहॉ पर व्यंग्य की अंग के रूप मे प्रतीति होने के कारण ध्वनि की विपयता नहीं होती।

लोचन

वाच्याङ्गत्वमेवेति। वाच्येनैव हि विस्मयविभावरूपेण मुग्धिमातिशयः प्रतीयत इति वाच्यादेव चारुत्वसम्पत्। वाच्यं तु स्वात्मोपपत्तयेऽर्थान्तरं स्वोपकारवान्छया व्यनक्ति।

'वाच्यांगत्व ही' अर्थात् विस्मय के विभावरूप वाच्य के साथ ही मुग्धता की अधिकता प्रतीत होती है; इस प्रकार वाच्य से ही चारुता की सम्पत्ति (प्रकट होती है)। वाच्य तो अपनी आत्मा की उपपत्ति के लिये दूसरे अर्थ को अपने उपकार की कामना से व्यक्त कर लेता है।

तारावती

'किसी ने आकाश को निपुणता के साथ उठाकर गाँव के तालाव में एकदम डाल दिया। आश्चर्य है कि फिर भी न तो कमलों का समूह ही मलिन पड़ा और न सहसा हंस उड़ गये।'

यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ यह है कि किसी मुग्धवधू ने गाँव के तालाव मे आकाश का प्रतिविम्ब देखकर ये शब्द कहे है। यहाँ पर चमत्कार वाच्यार्थ के द्वारा ही होता है क्योंकि वाच्यार्थ ही विस्मय का विभाव है और उसी के द्वारा मुग्धता की अधिकता प्रतीत होती है। अतः चारुता वाच्यार्थ के ही कारण है। व्यङ्ग्यार्थ केवल वाच्यार्थ की पूर्ति के लिये ही उपस्थित हो जाता है। वाच्य तो अपनी सिद्धि के लिये अपने उपकार की इच्छा से दूसरे अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) को अभिव्यक्त करता है। अतः यह ध्वनिकाव्य नहीं हो सकता। इस प्रकार के विषय में जहाँ अन्यत्र भी व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य में ही चारुता की अधिकता की प्रतीति होने से वाच्य की ही प्रधानता मालूम पड़े, वहॉ पर व्यङ्ग्यार्थ अङ्ग के रूप मे ही प्रतीत होता है। अतः वह ध्वनि का विपय नहीं हो सकता। जैसे—

'वेतस-कुञ्ज से उड़नेवाले पक्षी का कोलाहल सुनते हुये घर के काम मे लगी हुई वहू के अङ्ग सहमे जा रहे हैं।'

ध्वन्यालोकः

यथा—

वाणीरकुडङ्गोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्म वावडाए वहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देश्यते ।

(अनु०) जैसे—

'वानीर अर्थात् वेतस लता के कुञ्ज से उड़नेवाले पक्षियों के कोलाहल को सुनते हुये घर के काम में लगी हुई बहू के अंग सहमे जाते हैं ।'

इस प्रकार का विषय प्रायः गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण के रूप में निर्दिष्ट किया जावेगा ।

लोचन

वेतसलतागहनोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति छाया ।

अत्र दत्तसङ्केतचौर्यकामुकरतसमुचितस्थानप्राप्तिर्ध्वन्यमाना वाच्यमेवोपस्कुरुते । तथा हि गृहकर्मव्यापृताया इत्यन्यपराया अपि, वध्वा इति सातिशयलज्जापारतन्त्र्य-यद्धाया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न तादृगङ्गं यद् गाम्भीर्यावहित्थवशेन संवरीतुं पारितम्, सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादनं स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्तीति । गृहकर्मयोगेन स्फुटं तथा लक्ष्यमाणानीति । अस्मादेव वाच्यात्सातिशयमदनपरवशताप्रतीतेश्चारुत्वनिष्पत्तिः ।

'वेतसलता-गहन से उड़े हुये पक्षियों के कोलाहल को सुननेवाली घर के काम में लगी हुई बहू के अंग सहमे जाते हैं ।

यहाँ पर दिये हुये सङ्केतवाले चौर्य-कामुक के समुचित स्थान की प्राप्ति ध्वनित होकर वाच्योपस्कारक हो होती है । वह इस प्रकार—'गृहकर्म में लगी हुई अर्थात् अन्यपरायण भी, 'वधू के' अतिशय लज्जा की पराधीनता में बंधी हुई भी । 'अंगानि' अर्थात् एक भी इस प्रकार का अंग नहीं है जो गाम्भीर्य-युक्त अवहित्थ के वश में छिपाये जाने मे समर्थ हुआ हो । 'सहमे जा रहे हैं' अर्थात् गृहकर्म-सम्पादन की बात तो दूर रही अपने को भी धारण करने में समर्थ नहीं हो रहे हैं । गृहकर्म के योग से स्फुटरूप में उस प्रकार के दिखलाई पड़नेवाले । इसी वाच्य से सातिशय मदन-पारवश्य की प्रतीति होने से चारुता की निष्पत्ति होती है ।

तारावती

किसी नायक और नायिका ने वेतस-लतागृह में एकान्तस्थान पर मिलने का सङ्केत किया है । नायिका घर के काम में लगी हुई है अतः वह नियत समय पर सङ्केतस्थान पर जा नहीं सकी है । नायक वहाँ पर ठीक समय पर पहुँच गया है।

तारावती

नायक के पहुँच जाने पर उस वेतसलता के पक्षी उड़ने लगे और कोलाहल करने लगे। उन पक्षियों के उस कोलाहल को सुनकर घर के काम में लगी हुई नायिका को अत्यन्त कष्ट का अनुभव हुआ। यहाँ पर प्रतीयमान अर्थ है सङ्केत का देना और चौर्य-कामुकरत के योग्य स्थान का प्राप्त करना। यह प्रतीयमान अर्थ 'अङ्ग सहमे जा रहे हैं, इस वाच्यार्थ की पूर्ति के लिये ही आया है। यहाँपर व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक सुन्दर है। वह इस प्रकार (१) घर के काम में लगी हुई कहने का आशय यह है कि नायिका की भावना इतनी उत्कण्ठ कोटि की है कि यद्यपि वह दूसरे काम में लगी हुई है तथापि उसका ध्यान निरन्तर नायक और सङ्केत की ही ओर है। (२) 'वहू' कहने का आशय यह है कि यद्यपि वह नवपरिणीता है और वहुत वड़ी लज्जा की परतन्त्रता से वँधी हुई है तथापि भावना की तीव्रता के कारण वह भाव संवरण करने में समर्थ नहीं हो रही है। (३) 'अग सहमे जा रहे हैं' मे वहुवचन के निर्देश का आशय यह है कि उसका एक भी अंग ऐसा नहीं है जो कि गम्भीरता के साथ भावगोपन की क्रिया (अवहित्था) के द्वारा अपने भावों को संवृत करने में समर्थ हो सके। (४) 'सहमे जा रहे हैं' कहने का आशय यह है कि घर के काम करना तो दूर रहा उसके अंग स्वयं अपने को ही धारण करने मे समर्थ नहीं हैं। घर के काम में लगे होने के कारण उनकी भावनायें स्फुट रूप में प्रकट होती हैं और इसी से चारुता की निष्पत्ति भी होती है। अतएव वाच्यार्थ की प्रधानता होने के कारण यह ध्वनिकाव्य नहीं हो सकता (यहाँ पर काव्यप्रकाशकार ने असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य माना है। उसकी व्याख्या करते हुये उद्योतकार ने लिखा है कि यहाँ पर सङ्केत देना इत्यादि व्यङ्ग्यार्थों की अपेक्षा 'अङ्ग सहमे जा रहे हैं' इस उक्ति में अधिक रमणीयता है। क्योंकि अंगों का सहमना एक अनुभाव है जोकि औत्सुक्य आवेग इत्यादि सञ्चारी भावों के साथ अनुराग के उद्रेक से उत्पन्न कामपरवशता अभिव्यक्त होती है। विश्वनाथ ने निर्णय दिया है कि वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य को वाधकर यहाँ पर असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग हो जाता है। यहाँ पर कुछ लोगों को भ्रम हो गया है कि लोचनकार इसे केवल वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य मानते है असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं मानते। उन्हे लोचनकार के इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिये-'अस्मादेव वाच्यात् सातिशयमदनपरवशता प्रतीतेश्चारुत्वसम्पत्तिः।' आनन्द-वर्धन ने भी लिखा है—'व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्यमवसीयते।' इससे स्पष्ट है कि ये दोनों आचार्य भी यहाँ पर असुन्दर गुणीभूत व्यङ्ग्य मानने के विरोधी नहीं हैं। इस प्रकरण का पूरा विश्लेषण करने पर दो वातें प्रकट होती हैं—एक तो यह

ध्वन्यालोकः

यत्र तु प्रकरणादि प्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्मार्गः ।

(अनु०) जहाँ पर तो प्रकरण इत्यादि की प्रतिपत्ति से विशेषता को निर्धारित किया हुआ वाच्यार्थ पुनः प्रतीयमान के अंग के रूप में ही अवभासित होता है वह इसी अनुरणन रूप व्यंग्यध्वनि का मार्ग है ।

लोचन

यत्रत्विति । प्रकरणमादिर्यस्य शब्दान्तरसन्निधानसामर्थ्यलिङ्गादेस्तदवगमादेव यत्रार्थो निश्चितसमस्तस्वभावः । पुनर्वाच्यः पुनरपि स्वशब्देनोक्तोऽत एव स्वात्मावगतेः सम्पन्नपूर्वत्वादेव तावन्मात्रपर्यवसायी न भवति । तथाविधश्च प्रतीयमानस्याङ्गतामेतीति सोऽस्य ध्वनेर्विषय इत्यनेन व्यङ्ग्यतात्पर्यनिबन्धनं स्फुटं वदता व्यङ्ग्यगुणीभावे त्वेतद्विपरीतमेव निबन्धनं मन्तव्यमित्युक्तं भवति ।

'जहाँ पर तो'। प्रकरण जिसके आदि मे है अर्थात् शब्दान्तर सन्निधि, सामर्थ्य, लिंग इत्यादि। उनके अवगम से ही जहाँ पर अर्थ के समस्त स्वभाव का निश्चय कर लिया गया हो । फिर भी वाच्य अर्थात् फिर भी स्वशब्द द्वारा कहा हुआ, अतएव अपनी स्वरूप की अवगति के पहले ही सम्पन्न हो जाने से उसका पर्यवसान उतने में ही नहीं होता, उस प्रकार का प्रतीयमान की अंगता को प्राप्त कर लेता है इस प्रकार वह इस ध्वनि का विषय है, इस कथन के द्वारा व्यंग्य तात्पर्य के निबन्धन को स्फुट रूप में कहते हुये व्यंग्य के गुणीभाव में तो इससे विपरीत ही निबन्धन माना जाना चाहिये यह कहा हुआ हो जाता है ।

तारावती

कि जहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभाव हो वहाँ भी ये आचार्य व्यङ्ग्य को अङ्ग मानते हैं और जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ असुन्दर हो उसे भी ये आचार्य प्रधान का विरोधी अंग ही मानते हैं । दूसरी बात यह है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य की संसृष्टि और सङ्कर भी आचार्यों ने माना है । यहाँ पर अभिनवगुप्त ने वाच्यसिद्ध्यङ्ग और असुन्दर इन दोनों गुणीभावों को दिखलाकर इनकी संसृष्टि की ओर सङ्केत किया है । इस प्रकार यहाँ पर आचार्यों की मान्यता में कोई विरोध नहीं है ।)

ऊपर यह बतलाया जा चुका कि ध्वनि होती कहाँ पर नहीं है । यह यहाँ पर केवल दिग्दर्शन कराया गया है । इस प्रकार का विषय प्रमुख रूप में गुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप में निर्दिष्ट किया जावेगा । इसके प्रतिकूल जहाँ पर प्रकरण आदि की प्रतिपत्ति से वाच्यार्थ की विशेषताओं का निर्धारण किया जा चुके और पुनः वह वाच्यार्थ प्रतीयमान के अङ्ग के रूप में अवभासित होने लगे वह इसी अनुरणन रूप व्यङ्ग्यध्वनि का मार्ग होता है । 'प्रकरण आदि' का अर्थ है वाक्यार्थ

ध्वन्यालोकः

यथा—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुह्णे ।
अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो ॥

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी बहिः श्रुतवलयकलकलया सख्या प्रतिबोध्यते । एतदपेक्षणीयं वाच्यार्थप्रतिपत्तये । प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वात्पुनर्व्यङ्ग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्ननुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनावन्तर्भावः ।

(अनु०) जैसे—

'हे हालिक की वहू ! गिरे हुये पुष्पों को बीन लो । शेफालिका को मत हिलाओ । यह तुम्हारा वलय शब्द, तुम्हारे ससुर ने सुन लिया है जिसका परिणाम बुरा होगा ।'

यहाँ पर अविनीत के साथ रमण करती हुई कोई सखी वलय-कल कल को सुननेवाली सखी के द्वारा सजग की जा रही है । वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये इसकी अपेक्षा है । वाच्यार्थ के प्रतिपन्न हो जाने पर उसके अविनय के प्रच्छादन के तात्पर्य से कहे हुये होने के कारण पुनः व्यंग्य का अंग ही हो जाता है अतः इसका इस अनुरणनरूप व्यंग्यध्वनि में ही अन्तर्भाव हो जावेगा ।

तारावती

में नियन्त्रित करनेवाले संयोग इत्यादि समस्त हेतु । उनमे प्रकरण प्रधान होता है इसीलिये संयोगादि न कहकर प्रकरणादि कहा है । इस प्रकरण इत्यादि मे शब्दान्तर सन्निधान सामर्थ्य लिङ्ग इत्यादि सभी कुछ आ जाता है । जब किसी वाक्य का प्रयोग किया जाता है तब प्रकरण इत्यादि के आधार पर उसका अर्थबोध होता है । यद्यपि प्रकरण इत्यादि शब्दोपात्त न होने से व्यंग्य ही कहे जा सकते हैं तथापि वाच्यार्थबोध मे ही उनकी शक्ति प्रक्षीण हो जाती है।उन प्रकरण इत्यादिकों के द्वारा ही वाच्यार्थ के समस्त स्वभाव का निश्चय कर लिया जाता है। फिर भी वाच्यार्थ स्वशब्द के द्वारा कहा जा चुका होता है और उसके स्वरूप का अवगमन पहले ही सम्पन्न हो जाता है अतएव वह स्वमात्रपर्यवसायी नहीं हो सकता और इस प्रकार का वाच्यार्थ प्रतीयमान अर्थ का अंग बन जाता है । वही इस ध्वनि का विषय होता है।यहाँ पर आशय यह है कि प्रकरण इत्यादि के सहकार से वाच्यार्थ का निर्णय होजाने के बाद जो एक दूसरा व्यंग्य प्रतीत होता है वहाँ पर वाच्यार्थ का पर्यवसान अपने मे ही नहीं हो सकता अपितु वह प्रतीयमान का अंग हो जाता है । ऐसा ही स्थान ध्वनि का विषय होता हैं । यहाँ पर स्फुट रूप में यह कहा

लोचन

उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे ।

एष ते विषमविपाकः श्वसुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥ इति छाया ।

यतः श्वसुरः शेफालिकालतिकां प्रयत्ने रक्षंस्तस्या आकर्षण–धूननादिना कुप्यति । तेनात्र विषमपरिपाकत्वं मन्तव्यम् । अन्यथा स्वोक्त्यैव व्यङ्ग्याक्षेपः स्यात् । अत्र च 'कस्स वा ण होइ रोसो' इत्येतदनुसारेण व्याख्या कर्तव्या । वाच्यार्थस्य प्रतिपत्तये लाभाय एतद्व्यङ्ग्यमपेक्षणीयम् । अन्यथा वाच्योऽर्थो न लभ्यते । स्वतःसिद्धतया अवचनीय एव सोऽर्थः स्यादिति यावत् । नन्वेवं व्यङ्ग्यस्योपस्कारता प्रत्युतोक्ता भवेदित्याशङ्क्याह—प्रतिपन्ने चेति । शब्देनोक्त इति यावत् ॥ ३१ ॥

'हे हलवाले की पुत्रवधू! गिरे हुये पुष्पों को बीन लो, शेफालिका को मत हिलाओ। यह अनिष्टकर परिणामवाला तुम्हारा वलय-शब्द तुम्हारे ससुर ने सुन लिया ।'

क्योंकि ससुर शेफालिका की लता की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करते हुये उसके खींचने कँपाने इत्यादि से कुपित हो जाता है ।

इसी से विषमविपाकत्व माना जाना चाहिये।अन्यथा अपनी उक्ति से ही व्यंग्य आक्षेप होजावे। यहाँ पर 'कस्स वा ण होइ रोसो' के समान व्याख्या की जानी चाहिये । वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति अर्थात् लाभ के लिये इस व्यंग्य की अपेक्षा की जानी चाहिये। अन्यथा वाच्य अर्थ प्राप्त ही न होवे। आशय यह है कि स्वतः सिद्ध होने कारण वह अर्थ कहने के अयोग्य ही होजावे। 'इस प्रकार प्रत्युत व्यंग्य की उपस्कारता कही हुई हो जावेगी' यह शंका करके कहते हैं—'और प्रतिपन्न हो जाने पर' इत्यादि । आशय यह है कि शब्द के द्वारा कहे जाने पर ॥ ३१ ॥

तारावती

गया है कि ध्वनिकाव्य में तात्पर्य व्यंग्योन्मुख होता है। इससे यह समझ लेना चाहिये कि गुणीभूत व्यंग्य में तात्पर्य का निबन्धन उससे विपरीत ही होता है ।

ध्वनिकाव्य का उदाहरण—

'हे हालिक (हल जोतनेवाले) की पुत्रवधू! गिरे हुये फूलों को बीन लो, शेफालिका को हिलाओ नहीं । तुम्हारे ससुर ने तुम्हारे इस वलय शब्द को सुन लिया है जिसका परिणाम बहुत बुरा हो सकता है ।

कोई नायिका शेफालिका-कुञ्ज में अपने अविनीत प्रियतम (जार) के साथ रमण कर रही है जिससे उसके वलय का कलकल शब्द बाहर से सुनाई पड़ रहा है । सखी ने उस शब्द को बाहर से सुना है और वह उपर्युक्त शब्दों में नायिका को सजग कर रही है । बाह्यरूप में उसके कहने का आशय यह है कि 'तुम्हारा ससुर शेफालिका-कुञ्ज की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करता है। अतएव उसके हिलाने-कँपाने

तारावती

इत्यादि से उसे क्रोध आ जाता है। अतएव तुम लता को मत हिलाओ केवल गिरे हुये फूल बीन लो। नहीं तो तुम्हारा ससुर रुष्ट हो जावेगा और उसका परिणाम बुरा होगा।' यहाँ पर परिणाम के बुरे होने का कारण यही समझना चाहिये कि नायिका का ससुर प्रयत्न से शेफालिका-लता की रक्षा करता है और उसके हिलाने इत्यादि से रुष्ट हो जाता है। नहीं तो—विषमविपाक का दूसरा अर्थ समझने पर व्यङ्ग्य का आक्षेप अपनी उक्ति से ही हो जावेगा और वह ध्वनिकाव्य नहीं रहेगा। यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ की व्याख्या 'कस्य वा न भवेद्रोषो' इत्यादि पद्य के अनुसार करनी चाहिये। (अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों के प्रति इसकी व्यञ्जना विभिन्न प्रकार की होगी। (अ) जार के प्रति इन शब्दों की व्यञ्जना होगी—'तुम्हें सावधान होकर कार्य करना चाहिये, ध्यान रक्खो कि आभूषणों की झनकार न हो नहीं तो भय है कि कहीं रहस्योद्घाटन न हो जावे। (आ) नायिका के प्रति इसका व्यङ्ग्यार्थ होगा—'इस वार तो मैंने वात बना ली, तुम्हे सर्वदा सोच-समझकर ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिये।' (इ) तटस्थ व्यक्तियों के प्रति इसका सीधा सा अर्थ होगा कि 'नायिका शेफालिका-कुञ्ज में पुष्पावचय कर रही है।' (ई) सखियों के प्रति इसका अर्थ होगा—'देखो मैं कितनी निपुण हूँ मैंने नायिका के दुराचार को कितनी निपुणता से छिपाया है।' (उ) ससुर के प्रति इसका अर्थ होगा—'मैं तुम्हारा स्वभाव जानती हूँ, तुम्हें शेफालिका का हिलाना अच्छा नहीं लगता, नायिका केवल मुग्धता-वश लता से फूल तोड़ रही है, मैंने उसे मना कर दिया है अब तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये। इत्यादि विभिन्न व्यक्तियों के प्रति विभिन्न व्यञ्जनायें होंगी।) यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ के दो भाग हैं—एक तो इस प्रकरण का ज्ञान होना कि नायिका उपपति से कुञ्ज में विहार कर रही है और उसके वलयों का कलकल शब्द वाहर जा रहा है। वाच्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिये तथा उसके निराकांक्ष सफल वोध के लिये इस व्यङ्ग्य की अपेक्षा है। अन्यथा वाच्यार्थ की ही प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि शेफालिका का हिलाना ससुर को रुष्ट कर देता है यह वात तो स्वतः सिद्ध है और नायिका भी इसे जानती है। अतएव सखी को इस वात के कहने की आवश्यकता ही क्या है? अतः प्रकरणादि का ज्ञान, जो व्यङ्ग्यार्थ से ही अधिगत होता है, वाच्यार्थ की पूर्ति के लिये आवश्यक है। (प्रश्न) फिर तो ध्वनि के उदाहरण के प्रतिकूल व्यङ्ग्यार्थ की वाच्योपस्कारकता सिद्ध हो जावेगी। (उत्तर) जब प्रकरणादि के ज्ञान के साथ एक अर्थ—शेफालिका के हिलाने से ससुर के रुष्ट हो जाने के अर्थ—के प्रतिपन्न हो जाने पर अर्थात् शब्द के द्वारा अभिहित कर दिये जाने पर दूसरा व्यङ्ग्यार्थ यह निकलता

ध्वन्यालोकः

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह—

(अनु०) इस प्रकार अविवक्षितवाच्यध्वनि के उसके आभास-विवेक के प्रस्तुत होने पर अविवक्षितवाच्य का भी आभास-विवेक करने के लिये कह रहे हैं—

लोचन

तदाभासविवेके प्रस्तुत इति सप्तमी हेतौ। तदाभासविवेकलक्षणात् प्रसङ्गादिति यावत्। कस्य तदाभास इत्यपेक्षायामाह—विवक्षितवाच्यस्येति। स्पष्टे तु व्याख्याने प्रस्तुत इत्यसङ्गतम्। परिसमाप्तौ हि विवक्षिताभिधेयस्य तदाभासविवेकः। न त्वधुना प्रस्तुतः। नाप्युत्तरकालमनुबध्नाति।

'उसके आभास-विवेक के प्रस्तुत होने पर' यह हेतु में सप्तमी है अर्थात् उसके आभास-विवेकरूप प्रसंग से। 'किसका तदाभास?' इस अपेक्षा में कहते हैं—'विवक्षितवाच्य का।' स्पष्ट व्याख्यान में तो प्रस्तुत यह असंगत हो जावेगा। विवक्षितवाच्य की परिसमाप्ति में उसके आभास का विवेक होता है। (वह) इस समय प्रस्तुत नहीं है और न उत्तरकाल का अनुबन्धन करता है।

तारावती

है कि उपपति के अविनय को छिपाने के लिये ही सखी ने ये वचन कहे हैं। तब वह वाच्यार्थ इस व्यङ्ग्यार्थ का अंग बन जाता है। अतः इसका अनुरणनरूप व्यङ्ग्यध्वनि में अन्तर्भाव होगा॥ ३१॥

'इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उसके आभासविवेक के प्रस्तुत होने पर अविवक्षितवाच्य का भी आभासविवेक करने के लिये कहा जा रहा है।' यह वृत्तिकार का ३२ वीं कारिका का उपक्रम है। 'उसके आभासविवेक के प्रस्तुत होने पर' इसमें सप्तमी हेतु में है। अर्थात् क्योंकि उसके आभासविवेकरूप का प्रस्तावरूप प्रकरण चल रहा है अतः अविवक्षितवाच्य की भी वही बात (आभास विवेक) बतलाया जा रहा है। प्रश्न उपस्थित होता है कि किसके आभासविवेक का प्रकरण चल रहा है। इसका उत्तर देने के लिये कहा गया है विवक्षितवाच्य ध्वनि का। यही व्याख्या इस अवतरण की की जानी चाहिये। जो व्याख्या स्पष्ट है वही कर देने पर प्रस्तुत शब्द असगत हो जावेगा। क्योंकि विवक्षितवाच्य की परिसमाप्ति हो जाने पर ही उसके आभास का विवेक किया जा सकता है। वह इस समय प्रस्तुत नहीं है और न उत्तर काल का ही अनुबन्धन हो सकती है। (लोचनकार की यह टिप्पणी कुछ जटिल है। अतः इसको समझ लेना चाहिये। वृत्तिकार ने लिखा है कि 'विवक्षितवाच्य के आभासविवेक प्रस्तुत होने पर।'

ध्वन्यालोकः

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः ॥ ३२ ॥

(अनु०) 'बाधित अर्थवाले शब्द का निबन्धन जो कि अव्युत्पत्ति या अशक्ति से किया जाता है उसे विद्वान् लोग ध्वनि का विषय न समझें ।' ॥ ३२ ॥

लोचन

स्खलद्गतेरिति । गौणस्य लाक्षणिकस्य वा शब्दस्येत्यर्थः । अव्युत्पत्तिरनुप्रासादिनिबन्धनतात्पर्यप्रवृत्तिः । यथा—

प्रेङ्खत्प्रेमप्रबन्धप्रचुरपरिचये प्रौढसीमन्तिनीनाम् ।
चिन्ताकाशावकाशे विहरति सततं यः स सौभाग्यभूमिः ॥

अत्रानुप्रासरसिकतया प्रेङ्खदितिलाक्षणिकः, चित्ताकाश इति गौणः प्रयोगः कविना कृतोऽपि न ध्वन्यमानरूपसुन्दरप्रयोजनांशपर्यवसायी ।

'स्खलद्गति का' अर्थात् गौण अथवा लाक्षणिक शब्द का । अव्युत्पत्ति अर्थात् अनुप्रास इत्यादि निबन्ध के तात्पर्य से प्रवृत्ति । जैसे—

'प्रौढ़ सीमन्तिनियों के चलायमान प्रेमप्रबन्ध के प्रचुर परिचयवाले चित्ताकाश के अवकाश मे जो निरन्तर विहार करता है वह सौभाग्यशाली है ।'

यहाँ अनुप्रास की रसिकता से 'प्रेङ्खत्' इस लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया गया है । चित्ताकाश यह गौण प्रयोग कवि द्वारा किया हुआ भी ध्वन्यमान रूपवाले सुन्दर प्रयोजनाश का पर्यवसायी नहीं है ।

तारावती

किसी विषय के निरूपण में प्रस्तुत उसे कहते हैं जहाँ किसी एक विषय का निरूपण किया जा रहा हो और वह समाप्त हो जावे तथा उसी से सम्बन्धित कोई दूसरा विषय निरूपण के निमित्त प्रारम्भ किया जावे । यदि वृत्तिकार के अवतरण का सीधा अर्थ किया जावे तो उसका आशय यह होगा कि विवक्षितवाच्य ध्वनि का निरूपण समाप्त हो गया है और अब विवक्षितवाच्य ध्वनि के आभास पर विचार करना प्रारम्भ किया जा रहा है । किन्तु ऐसा है नही । न तो अव्यवहित रूप में समाप्त हुये प्रकरण में अर्थात् ३१ वीं कारिका मे विवक्षितवाच्य का प्रकरण ही समाप्त किया गया है और न अगले प्रकरण मे उसके आभास पर ही विचार किया जावेगा । अतः विवक्षितवाच्य के आभास के प्रकरण को प्रस्तुत मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है । अतएव इस अवतरण मे 'तदाभासे प्रस्तुते' इस सप्तमी को हेतु मे मानना चाहिये । इस प्रकार इसका अर्थ हो जावेगा कि 'यहाँ पर अविवक्षितवाच्य के आभासविवेक पर विचार इसलिये किया जा रहा है कि विवक्षितवाच्य ध्वनि के आभासविवेक का प्रकरण चल ही रहा है (३१ वीं कारिका में विवक्षितवाच्य

तारावती

के आभास का निरूपण किया गया है।) और इसीलिये अविवक्षितवाच्य के आभास पर भी विचार कर लेना उचित है।' इस विषय में दीधितिकार ने लिखा है कि यहाँ पर आचार्य का वचन ठीक नहीं है क्योंकि संयोग और समवाय सम्बन्ध के न होने के कारण सप्तमी हो ही नहीं सकती। प्रस्तुत का सम्पन्न अर्थ कर लेने पर प्रस्तुत शब्द संगत भी हो जाता है।)

कारिका के 'स्खलद्गतेः' शब्द का अर्थ है—'जहाँ शब्द वाच्यार्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो गया हो अर्थात् बाधित शब्द' यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि अभिधावृत्ति को छोड़कर लक्षणा को अवकाश देने के लिये बाधित शब्द का प्रयोग इसलिये किया जाता है कि उससे कोई न कोई प्रयोजन सिद्ध हो सके। जब अभिधा अभीष्टार्थ के प्रत्यायन में कुण्ठित हो जाती है तब बाधित शब्द का प्रयोग किया जाता है जिससे लक्ष्यार्थ के साथ प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ का भी अवगमन होता है। ऐसे ही स्थान पर अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। यहाँ पर 'स्खलद्गतेः' शब्द से गौणी का भी बोध होता है और लक्षणा का भी। इसके प्रतिकूल जहाँ कवि अपनी अव्युत्पत्ति या अशक्ति के कारण बाधित शब्दों का प्रयोग करता है वह ध्वनि का विषय नहीं होता। (लाक्षणिकता कवि की अयोग्यता छिपाने का साधन नहीं है वह काव्य में नई तड़प पैदा कर देने से ही चरितार्थ हो सकती है।) अव्युत्पत्ति का अर्थ यह है कि जहाँ पर लाक्षणिक शब्द की प्रवृत्ति में अनुप्रास का निबन्धन ही निमित्त हो। जैसे—'प्रेङ्खत्……भूमिः' यह पद्य—'वह व्यक्ति सौभाग्य-शाली है जो निरन्तर प्रौढ़ ललनाओं के ऐसे चित्ताकाश के अवकाश में विहार किया करता है जो काँपनेवाले (प्रेङ्खत्) प्रेम के उत्कृष्ट बन्धन में प्रचुर परिचय प्राप्त कर चुके होते हैं।'

वस्तुतः काँपती कोई स्थूल वस्तु है। प्रेम सूक्ष्म होने के कारण काँप नहीं सकता। अतएव यहाँ पर मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और उससे लक्ष्यार्थ निक-लता है अस्थिर प्रेम। इस लक्षणा का अनुप्रास की सिद्धि के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। चित्त को आकाश बतलाया गया है जो एक गौण प्रयोग है क्योंकि अप्रत्यक्षत्व सूक्ष्मत्व इत्यादि गुणसाम्य के बलपर ही चित्त को आकाश कहा गया है। इसका भी अनुप्रास-निष्पत्ति के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। अतएव सुन्दरता के साथ किसी प्रयोजन के व्यक्त न करने के कारण यह ध्वनि-काव्य नहीं कहा जा सकता।

अशक्ति का अर्थ है ऐसे शब्द का प्रयोग जिसका प्रयोजन केवल छन्द की पूर्ति ही हो। जैसे—

लोचन

अशक्तिर्वृत्तपरिपूरणाद्यसामर्थ्यम्। यथा—

विषमकाण्डकुटुम्बकसञ्चयप्रवरवारिनिधौ पतता त्वया।
चलतरङ्गविघूर्णितभाजने विचलतात्मनि कुड्यमये कृता॥

अत्र प्रवरान्तमाद्यपदं चन्द्रमस्युपचरितम्। भाजनमित्याशये। कुड्यमय इत्यविचले। अत्रैतत्कामपि कान्तिं न पुष्यति, ऋते वृत्तपूरणात्।

अशक्ति अर्थात् वृत्तपरिपूरण इत्यादि मे असामर्थ्य। जैसे—

'हे विपमवाण के कुटुम्ब सञ्चय मे श्रेष्ठ! (चन्द्र) वारिनिधि मे गिरते हुये तुमने चञ्चल तरंगों से विघूर्णित पात्रवाली कुड्यमय (पाषाणमय) अपनी आत्मा मे चञ्चलता (उत्पन्न) कर ली।'

यहाँ पर प्रवर पर्यन्त आद्य पद चन्द्रमा मे औपचारिक है, 'भाजन' यह आशय में और 'कुड्यमय' यह अविचल मे। यहाँ यह पादपूर्ति के अतिरिक्त और किसी कान्ति को पुष्ट नहीं करता।

तारावती

'हे विषमवाण के कुटुम्बियों के समूह मे श्रेष्ठ? समुद्र मे गिरकर तुमने अपनी कुड्यमय (स्थिर) आत्मा में जिसका भाजन (मध्यभाग) चञ्चल तरङ्गों से काँप रहा है, चञ्चलता उत्पन्न कर ली।'

यहाँ पर चन्द्र के लिये 'विषमवाण के कुटुम्बियो में श्रेष्ठ' कहा गया है, यह प्रथम पद है जिसका प्रयोजन छन्दःपूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी प्रकार 'भाजन' का अन्तरात्मा के लिये प्रयोग किया गया है क्योंकि भाजन (पात्र) भी वस्तुओं का अधिकरण होता है और आत्मा भी अधिकरण होता है। कुड्य-(पाषाण) स्थिर होता है इसी साम्य के वल पर स्थिर के लिये 'कुड्यमय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इन प्रयोगों का छन्दःपूर्ति के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं। अतएव यहाँ पर ध्वनि नहीं हो सकती।

प्रथम उल्लास मे बतलाया गया था कि जहाँ पर व्यङ्ग्य के कारण बहुत अधिक सौन्दर्य नहीं भी होता वहाँ पर भी कवि लोग प्रसिद्धि के अनुरोध से लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। जैसे 'वदति विसिनीपत्रशयनम्' में वदति का प्रयोग। इसी प्रकार लावण्य इत्यादि शब्दों को भी समझना चाहिये। इस प्रकार के शब्द ध्वनि की सीमा में नहीं आते। इसके अतिरिक्त ऐसे भी लाक्षणिक शब्द ध्वनिकाव्य के क्षेत्र में नहीं आते जिनका अव्युत्पत्ति या अशक्ति के कारण प्रयोग कर दिया गया हो। यही इस कारिका के 'स च' में 'च' शब्द का अर्थ है।

यद्यपि ध्वनि का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका, तथापि ध्वन्याभास के

ध्वन्यालोकः

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्याव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः। यतः—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम्।
यद्व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥३३॥

तच्चोदाहृतविषयमेव।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्योतः।

(अनु०) स्खलद्गति अर्थात् उपचरित शब्द का अव्युत्पत्ति या अशक्ति से जो निबन्धन होता है वह भी ध्वनि का विषय नहीं होता। क्योंकि—

'जो कि सभी भेदों में अंगीभूत व्यंग्य का स्फुट रूप में अवभासित होना है वह ध्वनि का पूर्ण लक्षण है' ॥३३॥

इसके विषय के उदाहरण दिये ही जा चुके हैं।

इस प्रकार श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा लिखे हुये ध्वन्यालोक का द्वितीय उद्योत समाप्त हो गया।

तारावती

विवेक में ध्वनि का स्वरूप कारण अवश्य है। इसीलिये कारिकाकार ने ३३वीं कारिका का अवतरण देते हुये लिखा है 'यतः'—'क्योंकि'। कारिका का अर्थ यह है—

'सभी प्रकार के ध्वनि के अवान्तर भेदों मे अङ्गीभूत व्यङ्ग्य का जो स्फुट रूप में अवभासित होना है वह ध्वनि का पूर्ण लक्षण है।'

(आशय यह है कि ध्वनि मे तीन बाते अनिवार्य रूप से होती हैं (१) व्यङ्ग्य होना, (२) अङ्गी होना और (३) स्फुट रूप मे अवभासित होना। यदि तीनों मे एक की भी न्यूनता होती है तो उसे ध्वनि न कहकर ध्वन्याभास कहते हैं। और प्रथम के न होने पर तो ध्वन्याभास भी नहीं हो सकता।) इस कारिका की तीन प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—(१) अवभासन का अर्थ है अवभासित होनेवाली वस्तु। क्योंकि सत्ता के उपस्थित होने पर वस्तु स्वयं उपस्थित हो जाती है। लक्षण का अर्थ है स्वरूप। अतएव इसका आशय हुआ 'अङ्गी के रूप मे अवभासित होनेवाला व्यङ्ग्य अर्थ ही ध्वनि का पूर्ण स्वरूप है।' (२) अवभासन का अर्थ है ज्ञान और लक्षण का अर्थ है प्रमाण। आशय यह है कि 'अङ्गी व्यङ्ग्य का ज्ञान ही ध्वनि का पूरा प्रमाण है क्योंकि उसी से ध्वनि का पूरा स्वरूप प्रकट होता है। (३) अवभासन का अर्थ है ज्ञान और लक्षण का अर्थ है परिभाषा। आशय यह है कि 'अङ्गी व्यंग्य

लोचन

स चेति। प्रथमोद्योते यः प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवय इत्यत्र 'वदति-विसिनीपत्रशयनम्' इत्यादि भाक्त उक्तः। स न केवलं ध्वनेर्न विषयो यावदयमन्योऽपीति चशब्दार्थः। उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवदतीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृत् उपस्कारं ददाति—यत इति। अवभासनमिति। भावानयने द्रव्यानयनमिति न्यायादवभासमानं व्यङ्ग्यम्। ध्वनिलक्षणं ध्वनेः स्वरूपं पूर्णम् अवभासमानं वा ज्ञानं तद्ध्वनेर्लक्षणं प्रमाणम्, तच्च पूर्णम्, पूर्णध्वनिस्वरूपनिवेदकत्वात्। अथवा ज्ञानमेव ध्वनिलक्षणम्, लक्षणस्य ज्ञानपरिच्छेद्यत्वात्। वृत्तावेवकारेण ततोऽन्यस्य चाभासरूपत्वमेवेति सूचयता तदाभासविवेकहेतुभावो यः प्रक्रान्तः स निर्वाहित इति शिवम्।

प्राज्यं प्रोल्लासमात्रं सद्भेदेनासूत्र्यते यया।
वन्देऽभिनवगुप्तोऽहं पश्यन्तीं तामिदं जगत्॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदया-
लोकलोचने ध्वनिसङ्केते द्वितीय उद्योतः।

'और वह' इत्यादि। प्रथम उद्योत में 'प्रसिद्धि के अनुरोध से प्रवर्तित व्यवहार-वाले कवि देखे जाते है' यहाँ पर 'विसिनीपत्र पर शयन को कहता है' यह जो भाक्त कहा था। च शब्द का अर्थ है कि केवल वही ध्वनि का विषय न हो ऐसा नहीं है अपितु अन्य भी। उक्त ध्वनिस्वरूप का ही उसके आभास के विवेक मे हेतु होने के कारण कारिकाकार अनुवाद करता है इस अभिप्राय से वृत्तिकार उपस्कार देता है।

'क्योंकि'। 'अवभासन' 'भाव के आनयन में द्रव्य का आनयन' इस न्याय से अवभासन अर्थात् व्यङ्ग्य। (वही) ध्वनिलक्षण अर्थात् ध्वनि का पूर्ण स्वरूप है। अथवा अवभासन का अर्थ है ज्ञान, वह ध्वनि का लक्षण अर्थात् प्रमाण है और वह पूर्ण है क्योंकि ध्वनि के पूर्ण स्वरूप का निवेदन करता है। अथवा ज्ञान ही ध्वनि का लक्षण है क्योंकि लक्षण ज्ञान के द्वारा परिच्छेद्य (विज्ञेय) होता है। वृत्ति मे 'एवकार' (अर्थात् 'ही') के द्वारा उससे भिन्न की आभासरूपता होती है यह सूचित करते हुये उसके आभासविवेक के जो कारण प्रक्रान्त था उसका ही निर्वाह कर दिया गया। बस कल्याण हो।

'जिसके द्वारा प्रभूत तथा प्रतीतिमात्र सत्तावाला यह (जगत्) भेद के रूप मे प्रकाशित किया जाता है उस पश्यन्ती की मैं अभिनव गुप्त बन्दना करता हूँ।'

यह है श्री महामहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उन्मीलित सहृदया-
लोकलोचनध्वनि-सकेत मे द्वितीय उद्योत।

तारावती

का ज्ञान ही ध्वनि की पूरी-परिभाषा है। क्योंकि लक्षण का निर्णय लक्ष्य के ज्ञान से ही होता है।

वृत्तिकार ने लिखा है 'ध्वनि के विषय का उदाहरण दिया ही जा चुका।' यहाँ पर 'ही' का अर्थ है कि वृत्तिकार यहाँ पर यह सूचित कर रहे हैं कि 'उससे भिन्न जितना भी उसका क्षेत्र है वह ध्वन्याभास रूप ही है।' इस प्रकार ध्वनि के आभास विवेक के कारण पर प्रकाश डालने का जो प्रकरण उठाया था उसी का निर्वाह कर दिया। इस प्रकार सभी का कल्याण हो।

'यह जगत् विस्तृत तथा प्रभूत रूप में है। किन्तु है यह प्रतीतिमात्र ही। जो मायारूपिणी परमेश्वरी इस ब्रह्म से भिन्न के रूप में प्रकाशित करती हैं, इस जगत् को देखनेवाली उन भगवती परमेश्वरी की, अभिनवगुप्त नामवाला मैं वन्दना कर रहा हूँ।'

आशय यह है कि संसार वास्तव में वस्तु सत् नहीं है अर्थात् इसमें विद्यमान वस्तुओं की वाह्य सत्ता नहीं है। यह ब्रह्म से अभिन्न जगत् है। किन्तु इसकी प्रतीति हमें होती ही है जिसमें एक मात्र कारण मायारूपिणी भगवती हैं जिन्हें हम आदिशक्ति दुर्गा या पार्वती के नाम से पुकार सकते हैं। वेदान्त के अनुसार विश्व की वाह्य-सत्ता की प्रतीति माया के कारण ही होती है वैसे यह विश्व ब्रह्म से अभिन्न है।

यहाँ पर भगवती के लिये 'पश्यन्ती' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस से एक अर्थ की ओर और संकेत होता है। वाणी चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परा वाणी मे सभी शब्द और सभी अर्थ अभिन्न रहते हैं। जिस प्रकार घट-पट इत्यादि का वाह्यभेद ब्रह्म मे नहीं होता उसी प्रकार परा वाणी में भी सर्वथा अभेद होता है। दूसरी वाणी है पश्यन्ती। इसका ग्रहण बुद्धि के द्वारा होता है और इसमे आकर बुद्धि भेद को ग्रहण करने लगती है। मध्यमा का आभास स्वयं कान वन्द करने पर एक नाद के रूप में होता है। इसमें भी पूर्ण भेद नहीं हो पाता। फिर मुख-गह्वर मे आकर स्थान-प्रयत्न इत्यादि के संयोग से 'क' और 'ख' इत्यादि में भेद हो जाता है। आशय यह है कि परा वाणी के रूप में सभी कुछ अभिन्न होता है, किन्तु पश्यन्ती वाणी बुद्धि के क्षेत्र मे आकर इस विस्तृत विश्व को भेद के रूप में प्रकाशित किया करती है। भेद वास्तविक नहीं है किन्तु उसकी केवल प्रतीति होती है। इतने वड़े विश्व का आभास करा देना भगवती आदि शक्ति का ही काम है जिसे माया के रूप मे पुकारा जाता है। इसी आधार पर आदिशक्ति की पूजा की जाती है और ब्रह्म को शब्द ब्रह्म के रूप में माना जाता है।

॥ यह तारावती का दूसरा उद्योत समाप्त हुआ ॥